धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा

# धर्मकोशः

## व्यवहारकाण्डम्

### उत्तरार्धः

### विवादपदानि

संपादकः
लक्ष्मणशास्त्री जोशी, तर्कतीर्थः
अध्यक्षः प्राज्ञपाठशालामण्डलस्य

संवत् १९९७

# DHARMAKOSA

## VYAVAHĀRAKĀṆḌA

VOL. I) VIVĀDAPADĀNI (PART III

[ *Titles of Law* ]

1941

EDITED BY

**Laxmanshastri Joshi,** *Tarkateerth.*

President, Prājna Pāthashālā Maṇḍala.

# TABLE OF CONTENTS

# Introductory Notes

**A. Purāṇas:-**

It was not possible to include in the Dharmakos'a extracts from the eighteen Purāṇas bearing on Vyavahāra. It will involve a good deal of expense and intellectual drudgery to go through all the Purāṇas and to index them. The work has accordingly been postponed for a time, but in order to avoid an important lacuna in the Dhdrmakos'a all the Purāṇa passages cited by the authors of Nibandhas have been included here.

**B. Bibliographical Notes:-**

(1) The three editions of the Mahābhārata that have been used are: (a) The Bombay edition, cited as भा. (B); (b) the Kumbhakoṇum edition, cited as भा.(कुम्भ.) and (c) the Bhāndārkar Institute edition, cited as भा. (भाण्डा.)

(2) Works on Jain law such as the Bhadrabāhusaṃhita, the Vardhamānanīti and the Arhannīti are in the main adoptions of the Smṛtis of Manu, Yājñavalkya etc. and therefore have not been cited independently.

(3) The Nepāl Recension of the Nāradasmṛti has been omitted and the stanzas peculiar to it have been included in this part.

(4) Extracts from the S'rīmūlā commentary on the Arthas'āstra by the late MM. Gaṇapatis'āstri, being a late and voluminous work, were not included in the earlier parts of Dharmakos'a, but in the third part this has been done in view of the difficulty of the Arthas'āstra and the need one feels of the commentary on it.

(5) The Ānandās'rama edition of the Baudhāyana-dharma-sūtra is referred to as (क) and the one edited by MM. Cinnaswāmis'āstri as (ख).

(6) References to the texts and variants from the Vis'ṇusmṛti were to the Calcutta edition of Jivānanda in part I and II. In this part the editions of both Jivānand and Jolly have been utilised and the references are to Jolly's edition. Jolly's edition is styled as (क) and Jivānanda's as (ख).

(7) No references were made in part I and II to the variants noted by MM. Dr. Gangānāth Jhā in his notes on the Manusmṛti; the present part has noted them.

(8) The Nirṇayasāgar edition of the Yājñavalkya-smṛti is styled as (क) and that by Ghārpure as (ख).

(9) A copy of the Vyavahāranirṇaya of Varadarāja in *grantha* characters was procured and transliterated into *Devanagari*; but the copyist not having given references to the pagination of the original manuscript, no such references could be given in the first and second Part.

(10) In the Parts I and II references to variants of the Vyavarahānirṇaya and the references to texts and variants of

Nṛsiṃhaprasāda were to the manuscripts of these two works. Both these works having now been printed, references have been made in this part to the printed works in respect of the texts and variants quoted.

**C. Typographical conventions:-**

(1) In the Index of passages half-s'lokas are indexed separately, the first five syllables of each half-s'loka being given; a variant, if any, is indicated by an asterisk ( * ) before it.

(2) Each complete sentence of the prose passages is indexed separately and here also the first five syllables only are given.

**D. Index of the Important Sanskrit words:**

(1) The Index of the important sanskrit words refers only to words in the s'lokas, Sūtras etc., printed in bold type.

(2) The words noted in this index belong ordinarily to the following categories; proper-names; names of rivers and mountains; names referring to grains, animals etc.; words referring to gods; technical terms; ordinary words used in a technical sense such as सम, विषम, दत्त; and obscure words.

(3) Ordinarily words from the commentaries have not been noted; if any have been noted on account of their special importance, they have been marked with an asterisk [ * ].

[ 4 ] References to pages have been given in the following manner for reasons of economy of space: the first figure is given in full; in the following figure the hundreds or thousands have been dropped, until a new figure is reached for them when again a full figure is given, followed again by abridged figures; to illustrate: 725, 726, 738, 890, 1030, 1036, 1765, 1769, is noted as 725, 26, 38, 890, 1030, 36, 1765, 69.

**E. An Errata:**

The Āpastamba passages printed by oversight in the section पैतृकद्रव्ये भगिनीनां भागः should be read in the section पैतृकद्रव्ये पत्नीनां मातॄणां च भागः।

The Nirukta passages have been printed in ordinary type in some places in Part I and II. They should have been printed in bold type. In the Index of half-s'lokas and in the Index of the important Sanskrit words the Nirukta passages and words have been referred to in serial order.

**F. Acknowledgement:-**

The Editor thankfully acknowledges his indebtedness to the University of Bombay for the financial help it has granted towards the cost of the publication of this part of the Dharmakos'a.

**Prājña-Pātha-S'ālā, Wai ( Satara ). 12–6–1941**

**Laxmanshastri Joshi**
Tarkateertha.
Editor-in-chief.

# *Appendix 1

| पृष्ठं | स्तम्भः | पंक्तिः | धर्मकोशः | §आदर्शपुस्तकम् | म. म. गंगानाथ झा |
|---|---|---|---|---|---|
| १६२२ | २ | ६ | नाशात्म | नाशात्म | नाशनात्म |
| ,, | ,, | ९-१० | मिव इच्छ | मिव गच्छ | मिच्छ |
| ,, | ,, | १२ | द्वैधविशेष्य | द्वैधविशेष्य | द्वे विशेष्ये द्वे ( as in S. ) |
| १६२३ | ,, | २२ | कार्यकालकारिते | शवकालकारिते | कार्यकारिते |
| १६२४ | १ | २ | यदुप | यदुप | यद्युप |
| ,, | ,, | ,, | प्रवृत्ते | प्रवृत्ते | प्रवृत्तो (as in S.) |
| ,, | ,, | ३ | षाणामभ्यवपत्तिः | षाणामभ्यवपत्ति | षाणां स्त्रीविप्राणामभ्यवपत्तिः |
| ,, | ,, | ६ | असति | असति | न पुनरत्र पशुहननं असति ( as in N. ) |
| १६२५ | ,, | २७ | इत्यनेनोक्तः | इति नोक्तम् | इत्यनेनोक्तम् |
| १६२६ | २ | ११ | मामेव | मामेव | ममैव |
| १६२८ | १ | १२ | प्रदीर्घ | प्राग्दीर्घ | आदि |
| ,, | ,, | १३ | वसन्, तौ | वसन् तौ | वसन्नुच्यते । यतश्च श्रोत्रियाणामपि प्रतिवेश्यव्यपदेशोऽस्त्येव सर्वथा । अथवा आधानेन गृहान्तिके निवसन्तावाभ्यां शब्दाभ्यामुच्येते । तौ ( as in I. O. ) |
| ,, | २ | १० | उभयं | उभयं | दातव्यं |
| १६३० | ,, | १९ | ताप्रत्यापत्तिं | ताप्रत्यापत्तिं | तत्प्रत्यासत्तिं ( as in Mad. ) |
| १६३१ | १ | ६-७ | अत्र वेधतिर्भेदने वियते | अत्र वेधतिर्भेदने वियते | अवेधितप्रदेशेन विध्यते |
| ,, | ,, | ७ | वेधते | विधते | विध्यते |
| ,, | २ | ९ | भूतवियादिषु | भूताद्याधराः | भूतविद्याः ( as in F. N., as in Mad. ) |
| १६३२ | ,, | १७ | संबन्धिशा | संबाधशा | संबन्धेन शा |
| १६९१ | ,, | ४ | वस्तूत्गा | वस्तूत्पा | वस्त्रोत्पा ( as in S. ) |
| ,, | ,, | ११ | संधिच्छेदे सत्य | मन्विच्छेदसत्य | संधिच्छेदेऽसत्य |

* मेधातिथिभाष्ये येऽस्माकमभिमताः म. म. गंगानाथ झा महोदयैः कृताः शोधनविशेषास्तेऽस्माभिः ग्रन्थे संगृहीताः । येऽस्माकं नाभिमता अथवा येषामर्थे विवादः स्यात् तेऽत्र समुध्दृताः ।

§ जे. आर्. घारपुरे ( मुंबई ) महोदयैः संपादितं ( खिस्ताब्दः १९२० ) पुस्तकं सर्वत्र आदर्शत्वेन स्वीकृतम् ।

| पृष्ठं | स्तम्भः | पंक्तिः | धर्मकोशः | आदर्शपुस्तकम् | म. म. गंगानाथ झा |
|---|---|---|---|---|---|
| १६९२ | १ | २० | आर्यवृत्तं | आर्यवृत्तं | आर्यं |
| ,, | ,, | २१ | कर्तव्येतरानु | कर्तव्योऽनु | कर्तव्यं इतरानु |
| १६९३ | २ | ३ | तुलादिना | तुलादिना | तुलाविशेषेण |
| १६९४ | १ | १-२ | उपधिः। वञ्चकाः कितवा धनग्रह | उपधावनग्रह | उपधिः। कितवा धनग्रह |
| ,, | ,, | ४ | नान्येऽत्रस्था | नान्यत्रस्था | नान्यत्रोव्यथा |
| ,, | ,, | ५ | नानाकारैर्ना | नानाकारणना | नाकारिणो ना |
| ,, | ,, | ७ | शान्त्युप | यान्त्युप | ये ह्युप |
| १६९७ | २ | १५ | प्रीतिदाया अपि गृह्यन्ते | प्रीत्यादायापि गृह्यन्ते | प्रीत्या द्रायादि गृह्यते |
| ,, | ,, | १६ | थैव | थैव | थैववृत्ति |
| १६९८ | ,, | ७ | निर्वास्येना | निर्वास्येना | निर्वास्य ना ( as in S. ) |
| १७०० | १ | ९ | क्षिणा। वत्सगवा | क्षिणया वत्सगवा | क्षिणावत् सा च गत्रा ( as in S ) |
| ,, | ,, | २५ | तान् निगृह्णतां | तानि निगृह्णतः | ताननिगृह्णन्तः |
| ,, | २ | १ | परिव्रजि | परिव्रजि | व्रजि |
| १७०१ | ,, | ५ | पूर्वस्य शेषोऽयं | पूर्वस्य शेषोऽयं | श्लोकोऽयं |
| ,, | ,, | १५ | धर्मो, द्वितीयो वस्तुविपरीतनिश्चयः | धर्मो वस्तुविप-रीतोऽतिनिश्चयः | धर्मो नास्ति विपरीताभिनिवेशः (as in S.) |
| १७०३ | १ | १०-१२ | इयं तु शासनविमोक्षणवचनात् न हि नाम प्रतिषिद्धा उक्ते सति विधौ | इयं तु शासनविमोक्षण-वञ्चना। न हि नाम प्रति-षिद्धायुक्तौ सति विधौ | इदं तु शासनविमोक्षवचनं न नाम प्रतिषिद्धं सति विधौ |
| ,, | २ | ५ | तेन राजा | न राजा | राजा ( as in S. ) |
| १७०४ | १ | २-३ | सर्वेष्वन्यत्र विधि-रस्तीति नासिद्धि | सर्वेष्वन्यत्र विधि-रस्तीति नाशुद्धि | सर्वेष्वत्र विधि-रस्तीति न बुद्धि |
| ,, | २ | २ | हणं तु प्र | हणानुप्र | हणान्नप्र ( as in S. ) |
| ,, | ,, | ६ | हिंसा | हिंसा | हि सा ( as in S. ) |
| ,, | ,, | ,, | हिंसायां | हिंसायां | हिंसायां न |
| ,, | ,, | १२ | न रक्षानिवृत्तिर्य | न रक्षानिवृत्तिर्य | रक्षार्थं नासिद्धिः ( as in S.) |
| ,, | ,, | १३-४ | तन्निरोधनादपि | तन्निबोधनादपि | तान्निरोधनादिनापि |
| ,, | ,, | १९ | दण्ड्येऽट | दण्डयेऽट | दण्डयेष्वेवाट |
| १७०७ | १ | १५ | न्तरावि | न्तरावि | न्तरावि |
| १७०८ | ,, | ९ | क्षयकय | क्रयविक्रय | क्षयव्ययक्रय |
| ,, | ,, | १० | गतस्य दे | गतस्यान्यदे | नीतस्य दे |
| १७०९ | ,, | १६ | न प्रयच्छेत्, व | प्रयच्छन्व | प्रयच्छेत्। मूल्येन व ( as in S. ) |
| १७११ | २ | ९ | त्राहेत्यर्थो | त्राहेत्यर्थो | त्रावध्यर्थो ( as in I. O.) |
| १७१२ | १ | ७ | संदाने | संजाते | संजने |

| पृष्ठं | स्तम्भः | पंक्तिः | धर्मकोशः | आदर्शपुस्तकम् | म. म. गंगानाथ झा |
|---|---|---|---|---|---|
| १७१३ | १ | १ | क्षन्तव्यं | क्षन्तव्यं | क्षन्तव्या |
| ,, | २ | ,, | अवश्यमयं | अवश्यमयं | प्रतोदेन वाहने एवायं ( as in S. ) |
| ,, | ,, | ३ | याः पालोऽर्धं | याः पालोऽर्धं | यां पालोऽन्यो वा भिन्दन्नर्धं ( as in S. ) |
| १७१९ | १ | २१ | नां द्रव्य | नां द्रव्य | नानाद्रव्य |
| १७२० | २ | ४ | च ताव | च ताव | स ताव |
| १७२१ | ,, | १२ | रक्षा | रक्षा | यतो रक्षा |
| ,, | ,, | २० | तुल्यबलस्यैव विषयस्या | तुल्यबलस्यैव विषयस्या | तुल्यबलस्य विकल्पस्य पर-विषयाश्रयस्या (as in I. O.) |
| ,, | ,, | २६ | अर्थवादाच्चात्र | अर्थवादाच्चात्र | अर्थवत्त्वात् |
| १७२२ | १ | १ | स चाधिक्यविधौ लब्धालम्बन इति | स चाधिक्यविधौ लब्धालम्बन इति | आधिक्याविधौ लघीयसीति ( as in I. O.) |
| ,, | २ | २२ | नात्स्वाप | नात्स्वाप | नाच्चाप ( as in S. ) |
| १७२३ | ,, | १७ | वैश्या | वैश्या | हिरण्या |
| ,, | ,, | २१ | ह्याह | ह्याह | ह्याहुः |
| १७२४ | १ | ३ | ( हीनक्रतुरित्युपलक्षणार्थं ) कुतः | कुतः | हीनक्रतुः |
| ,, | २ | २७ | सा | सा | शास्त्राद् या चैवतिचेत्ययमेव (?) |
| १७७३ | १ | २८ | संक्षेपो | संक्षेपो | पदसंक्षेपो |
| ,, | ,, | ३० | योगात् व्यस्तक्र | योगात् व्यस्तक्र | योगादक्र |
| ,, | २ | २ | रम्भो | रम्भो | रम्भे |
| ,, | ,, | ,, | र्थितः | र्थितः | र्थितम् |
| ,, | ,, | १९ | असता दुःखोत्पादनं | असतां दुःखोत्पादनं | असत उपन्यसनं ( as in I. O. ) |
| ,, | ,, | २० | कैर्यो | कैर्यां | कयोर्यो (as in N. and S.) |
| १७७४ | ,, | २ | दन्यः । तत्र | दन्यः । तत्र | दन्यत्र सूत्रे ( as in S.) |
| १७७५ | १ | १-२ | द्वादश व्यतिक्रमे परस्पराक्रोशे | द्वादश व्यतिक्रमे परस्परा-क्रोशे | व्यतिक्रमे परस्पराक्रोशे द्वादश ( as in S. ) |
| ,, | ,, | २ | साम्यं ुच | सं च | साम्ये च |
| ,, | ,, | ५ | णातिगु | णानिर्गु | णेति गु |
| १७७६ | ,, | २ | एवमन्यदपि | एवमन्यदपि | एवं तान्यपि ( as in I.O.) |
| १७७७ | ,, | २३ | चिपटं | विटपं | चिपिटनासः (as in I.O.) |
| ,, | ,, | ,, | नासत्ये | नासत्ये | सत्ये ( as in S. ) |
| ,, | ,, | २६ | पणोऽव | पणोऽव | पणाव ( as in S. ) |
| ,, | २ | २४ | स्यान्न | स्यान्न | स्यान्न तु ( as in S. ) |
| १८०१ | १ | १३ | पूर्व | पूर्व | पूर्वोत्तर |
| १८०३ | ,, | १ | मुखं वा | मुखं वा | मुखं च |
| १८०४ | ,, | २ | मन्यते | मन्यते | उच्यते( ( as in. S. ) |

| पृष्ठं | स्तम्भः | पंक्तिः | धर्मकोशः | आदर्शपुस्तकम् | म. म. गंगानाथ झा |
|---|---|---|---|---|---|
| १८०४ | २ | ८-१० | तथा...दुष्प्रापता | तथा...दुष्प्रापता | omit ( not in I. O. ) |
| १८०५ | १ | १० | महद्ग्रहणं | महद्ग्रहणा | महद्ग्रहणा ( as in S. ) |
| ,, | ,, | १२ | दे तु | दस्तु | दतस्तु |
| ,, | २ | ३ | णसंधि | णसंबन्धि | णं संधि |
| ,, | ,, | ५-६ | एवं...अथवा | एवं ... अथवा | ( omitted in I. O. ) |
| १८०६ | ,, | ४ | हिंसता | हिंसता | हिंसनात् |
| १८०८ | १ | ६ | यानं गच्छेत् | यानं गच्छेत् | यानगच्छत् ( as in S. ) |
| ,, | ,, | ८ | मानस्य | मानस्य | मानं ( as in S. ) |
| ,, | ,, | ९ | रक्षितुं | राक्षितुं | रक्षतु ( as in S. ) |
| ,, | ,, | १४ | वध्रिः | वध्रि | वध्र |
| ,, | २ | १३ | सहसा अपवर्तते | सहसा अपवर्तते | यानमपवर्तेत (as in N. and S.) |
| १८११ | १ | १२ | च्छेदो न | च्छेदो न | च्छेदनं |
| १८१२ | ,, | ८ | नीतिभ्रंशः | नीतिभ्रंशः | ( omitted in I. O. ) |
| ,, | ,, | ११ | यस्य | यस्य | या यस्य ( as in S. ) |
| ,, | २ | १० | ताडन | ताडन | ताडनदेश ( as in S. ) |
| १८५१ | ,, | १५ | वनं वृक्षसंततिः | वनवृक्षसंततो | वनवृक्षसंततानां |
| १८५२ | ,, | १३ | तत्र खलु | खलं | ( not in I. O. ) |
| १८५३ | १ | ६ | तत्स्त्रिया आलापं | तमालपितुं | तमालापं योजयन् |
| १८५४ | २ | ५ | उत्कृष्टमाकारं | उत्कृष्टमाकारं | उपपतिक्षमकाः ( as in S. ) |
| ,, | ,, | ६ | चारणपुरुषेण | चारणपुरुषेण | चारणाः परपुरुषेण ( as in S.) |
| ,, | ,, | ,, | प्रतिष्ठन्ते | प्रतिष्ठन्ते | न तिष्ठन्ति ( as in S. ) |
| ,, | ,, | ८ | ता मै | ता मै | ते मै ( as in S. ) |
| ,, | ,, | १० | अन्याश्च स्त्रीभिः | अन्याश्च स्त्रीभिः | योजयन्ति अन्याश्च स्वस्त्रीभिः (as in S.) |
| ,, | ,, | ११ | स्वदाराणां | सुधाराणां | स्वनारीणां ( as in S.) |
| १८५५ | १ | २६ | प्रणयन्ते | प्रणयन्ते | पल्यायन्ते ( as in S. ) |
| १८५६ | ,, | ५ | अयमर्थः | यमर्थ | तेनायमर्थः ( as in S. ) |
| ,, | २ | ८ | मूल | मूल | मूलं |
| १८५७ | ,, | १० | ज्ञातं | ज्ञातं | ज्ञातं न |
| ,, | ,, | १२ | न सर्वत्र | न सर्वत्र | सर्वत्र मारणम् (as in S.) |
| १८५८ | १ | १६ | ने चाधिके | नेनाधिके | नेऽधिके |
| १८६१ | २ | ६ | बहु | बहु | व्रात्य |
| ,, | ,, | १२ | व्रात | व्रात | व्रत ( as in Mad. ) |
| १८६३ | १ | ६ | धानन्तरमे | धानन्तरमे | धितमे |
| १८६४ | २ | १८ | विप्राशूद्र | विप्रशूद्र | शूद्र |
| १८६५ | १ | १५ | दर्पण | दर्पण | ज्ञातिदर्पण |

| पृष्ठं | स्तम्भः | पंक्तिः | धर्मकोशः | आदर्शपुस्तकम् | म. म. गंगानाथ झा |
|---|---|---|---|---|---|
| १८६६ | २ | २० | अकामायाः | अकामायाः | अकामायाः कन्यायाः ( as in Mad. ) |
| १९०७ | ,, | ७ | प्रत्ययो | प्रत्ययः | प्रत्ययसिद्धानि |
| १९२८ | १ | २१ | स्थानानि वाहनानि | स्थानादपवाहनम्। | स्थानादयः वाहनं |
| १९३१ | २ | १८ | न केवलं | न केवलं | अयं च केवलं ( as in S, ) |
| ,, | ,, | १९ | तद्धि हित्वा | तद्धिदित्वा | तद्धत्वा ( as in S. ) |
| १९४५ | १ | २६ | परि | परि | अपरि |
| १९५१ | २ | १६ | तासां च तदु | तासां च तदु | तासामेतदु ( as in S. ) |
| १९५२ | ,, | १० | अचौर्यांश | अचौराश | अचौरश ( as in S. ) |
| ,, | ,, | १६ | द्विशेषेण | द्विशेषेण | द्विशेषतो |
| १९५३ | १ | ६ | स्वां | स्वां | omit |
| १९५५ | २ | २२ | अर्वाचीनां | अर्थादीनां | अस्यार्थादीनां (as in N. ) |
| १९५७ | ,, | २०-२१ | चौरैः समा | चौरैः समा | चौरैर्यस्त्वं आ |
| १९८६ | ,, | २४ | तस्मादागतं | दायागतं | तदा तस्मादागतं |

## * Appendix II

| पृष्ठं | स्तम्भः | पंक्तिः | धर्मकोशः | आदर्शपुस्तकम् |
|---|---|---|---|---|
| १६२२ | २ | ६ | त्वाद्धिंसैवे | त्वात्सिद्धैवे |
| १६२३ | १ | १४ | नोपे | नापे |
| ,, | २ | १५ | मत्र | मात्रं |
| ,, | ,, | १९ | भिहिते | भिहते |
| १६२५ | १ | १६ | अन्यस्त्वा | तस्त्वा |
| ,, | ,, | २४ | दुष्टौ चेति | सृष्टश्चेदिति |
| १६२६ | २ | ८-९ | योः, अयं | योरर्थ |
| १६२७ | ,, | २७ | करणे | कारणे |
| १६२८ | १ | १ | निषेधश्च | निषेधः |
| ,, | ,, | १२ | गृहा | पृष्ठगृहा |
| ,, | २ | ११ | माषकं वा | माषको वा |
| १६२९ | ,, | ४ | दकहरणेऽप्य | दकेऽप्य |
| १६३१ | ,, | ,, | दण्डश्च | दण्डः स |
| ,, | ,, | ७ | पितृ | पौत्र |

| पृष्ठं | स्तम्भः | पंक्तिः | धर्मकोशः | आदर्शपुस्तकम् |
|---|---|---|---|---|
| १६३१ | २ | ८-९ | कुलद्वेषविचित्ती | कुलाद्धि विचित्री |
| ,, | ,, | २५ | मानेन नो | मानेनो |
| १६३२ | १ | ६ | धनलाभोद्दे | हलल्लेशोद्दे |
| ,, | ,, | १३ | दर्शनादि | दर्शितादि |
| ,, | ,, | १६ | सभ्याना | सत्याना |
| ,, | २ | १ | वाल्लभ्याद्ध | वल्लेल्याद्ध |
| १६९१ | १ | ,, | निर्णयो | ( ० ) |
| ,, | ,, | १० | व्यत्वेन | व्येन |
| ,, | २ | ४ | कर्म | अपहुत्य यत्तेन मया कृतमित्याह कर्म |
| ,, | ,, | ८ | लक्षणं | लक्षणं ' स्तेयं |
| १६९२ | १ | ७ | च | ( ० ) |
| ,, | ,, | २१ | चोदितं | नोदितं |
| ,, | ,, | ,, | षेधौ त | षेधस्त |

* पं. जे. आर्. घारपुरेमहोदयमुद्रितमेधातिथिभाष्यपादटिप्पणीपाठानालोच्य स्वकल्पनया च स्वीकृता ये शोधनविशेषा आदर्शपुस्तकापेक्षया इष्टतरा मतास्तेऽत्र अस्माभिः संगृहीताः।

| पृष्ठं | स्तम्भः | पंक्तिः | धर्मकोशः | आदर्शपुस्तकम् |
|---|---|---|---|---|
| १६९२ | १ | २५ | रक्षणे तु | रक्षानु |
| ,, | ,, | २८ | अन्ये तु | अन्येषां तु |
| ,, | ,, | ,, | त्वद्दर्शनादर्थ | त्वादर्शनमर्थ |
| ,, | ,, | ३० | यास्ते राज्ञः | यस्य तद्राज्ञः |
| ,, | २ | १६ | निग्रहो रक्षा च | निग्रहरक्षा |
| ,, | ,, | २७ | वधविधिशेष | धर्मविशेष |
| १६९३ | १ | ६ | युक्ताऽप्र | योरप्र |
| ,, | ,, | १३ | न | ( ० ) |
| ,, | ,, | २० | शतस्क | शस्तस्क |
| ,, | ,, | २१ | नास्ति | नाति |
| ,, | ,, | २२ | मस्ति तैः | मात्तस्तैः |
| ,, | २ | ४ | नाक्षेपं | नापेक्षार्थं |
| ,, | ,, | १६ | त्कार्ये क | त्कार्येण क |
| ,, | ,, | १७ | प्रवृत्तौ अर्थ-ग्रहणेन | प्रवृत्तो ग्रहणाति |
| ,, | ,, | ,, | वर्तन्ते | वर्तते |
| १६९४ | १ | ३ | पदं व | पादव |
| ,, | ,, | ४ | कुर्वन्ति | कुर्वत |
| ,, | ,, | ६ | उपजीवन्ति | जीवन्ति |
| ,, | ,, | ९ | तवास्त्वि | तथाऽस्त्वि |
| ,, | ,, | १०-११ | अभद्रा भद्राः। प्रेक्षणिकाः सर्वस्य करदर्शनेन प्रशंसन्ति पुरुष-लक्षणानि। | सर्वस्य करवर्धने अभद्रा भद्राप्रेक्ष-णकाः प्रशंसि-पुरुषलक्षणाः |
| ,, | २ | १८ | हारिणां | हाराणां |
| ,, | ,, | १९ | ह्यासक्तं | ह्यशक्यं |
| ,, | ,, | २० | धरिय | धारय |
| ,, | ,, | ,, | तथाऽभृत्यो | तथा भृत्यो |
| १६९५ | १ | ५ | तत्कर्मकारिभिः | ( ० ) |
| ,, | ,, | ८ | न्यैरपि चारैर | वैरपि चारैस्तत्क-र्मकारिभिर |
| १६९७ | ,, | १२ | मोषस्य संनिधा-तारः | मोक्षस्य संनिधा-तारः कर्तारः |
| १६९९ | ,, | ३-४ | मजाविकाश्वा | माजानेयाश्वा |
| ,, | २ | २ | दण्डोऽनु | शब्दोऽनु |
| ,, | ,, | १९ | भिरति | भिरिति |
| ,, | ,, | २६ | न्तदे | न्ते दे |

| पृष्ठं | स्तम्भः | पंक्तिः | धर्मकोशः | आदर्शपुस्तकम् |
|---|---|---|---|---|
| १७०० | १ | २० | सका | प्रका |
| ,, | ,, | २१ | द्धर्मं | द्धर्मात् |
| ,, | ,, | २४ | चौरभा | चौर्यभा |
| ,, | ,, | २६ | रक्षणे | रक्षैव तत्र |
| ,, | २ | २ | पालने च न काप्यनु | पालेन कानु |
| ,, | ,, | १७-८ | न च | ( ० ) |
| ,, | ,, | १८ | नात् क | नं क |
| ,, | ,, | ,, | शाः | शात् |
| १७०१ | १ | १२-३ | देषु यानि | दे सूपे |
| ,, | ,, | १५ | फला | फल |
| ,, | २ | ८ | मलं | बलं |
| १७०२ | १ | १२ | मात्रं | मगमनस्यात्र |
| ,, | ,, | ,, | व्यमिति | व्यम् |
| ,, | २ | १६ | तपसि | तप |
| ,, | ,, | १९ | क्षणात् | क्षण |
| १७०३ | १ | २१ | तत एव | तत्र |
| ,, | ,, | २७ | श्येनाम्नी | स्यान्नाम्नी |
| ,, | ,, | ,, | न विशे | विशे |
| ,, | ,, | २८ | चैषां | चैष |
| ,, | २ | २३ | रस्यति | न्यस्यति |
| ,, | ,, | २६ | ब्रह्मघ्नो नश्यति | ब्रध्नो विशिष्यति |
| १७०४ | १ | २५ | पातितो | पातिते |
| ,, | ,, | २७-८ | रोहकं | रोहिकं |
| ,, | २ | १८ | कर | कार |
| ,, | ,, | २४ | च | ( ० ) |
| १७०५ | १ | २० | मोक्त्या | मोक्तौ |
| १७०६ | ,, | २ | प्रोक्षि | प्रोषि |
| ,, | २ | २३ | दण्डं | दण्डो |
| ,, | ,, | २६ | क्रयी इ | क्रय इ |
| १७०७ | ,, | १७ | सिद्धा, मा | सिद्धमा |
| ,, | ,, | १८ | सर्वं | सर्वतोभागे |
| १७०८ | १ | ७ | भिश्च | भिः स्व |
| ,, | ,, | १० | रे नीय | रानीय |
| ,, | ,, | १४ | शाट | साट |
| १७०९ | २ | ९ | शाटका | शाकटका |
| ,, | ,, | ११ | वयन्नै | यं नै |
| १७११ | ,, | १० | विशि | वशि |
| ,, | ,, | ,, | हरणे | विशेषे |

| पृष्ठं | स्तम्भः | पंक्तिः | धर्मकोशः | आदर्शपुस्तकम् |
|---|---|---|---|---|
| १७१२ | १ | ११-१२ | यत एव तत्रैव कुलीनानामित्युक्तं | यद्येवं तत्रैव कुलीनमुक्तं |
| ,, | ,, | १३ | तच्च बला | तत्र प्रबला |
| ,, | २ | २८ | राजा | राज्या |
| १७१३ | १ | २३ | तेन स्तेनार्धे | तेनार्धे |
| १७१४ | ,, | १४ | त्स्वकृतः | त्स्वकृते |
| ,, | ,, | ,, | निदाघे | निदानं |
| ,, | ,, | १९ | क्षेत्रिक | क्षेत्रक |
| ,, | २ | २८ | प्रस्थान् | प्रस्थाः |
| १७१५ | १ | २ | तत्तस्य | तस्य |
| १७१८ | ,, | १७ | सा मरु | स मरु |
| ,, | २ | १२ | कृतेर्वि | कृतिर्वि |
| ,, | ,, | १३ | प्रकृर्ति | ( ० ) |
| ,, | ,, | १६ | चेति अथ | चेत्त्वथ |
| १७१९ | १ | १५ | हरितं | हरन्ति |
| ,, | ,, | १९ | पलाश | पलाशे |
| ,, | ,, | ,, | न परि | परि |
| ,, | २ | १५ | मूलं इक्षुः, फलं द्रा | मूलमिक्षुद्रा |
| १७२० | १ | २० | त्यादेः | त्यादि |
| ,, | ,, | २२ | अग्निं गृ | अभिगृ |
| ,, | ,, | ,, | त्याद्यर्थं | त्यादिकं |
| ,, | ,, | २४ | काले शी | कालः शी |
| ,, | ,, | ,, | काले । | कालः |
| ,, | ,, | २६ | न | ( ० ) |
| १७२१ | ,, | ६ | ज्ञोऽहमिति | ज्ञोऽहं |
| ,, | २ | २ | खलु | खल |
| ,, | ,, | ३ | गुणं अ | गुणाम |
| ,, | ,, | ८ | श्रितस्त | श्रितत |
| ,, | ,, | १०-११ | ष्टिः शतमष्टविंशाधिकश | ष्टिशतमष्टविंशं वा श |
| ,, | ,, | १४ | हतं ज | हन्त ज |
| ,, | ,, | १७ | मात्र | मात्रा |
| ,, | ,, | २६ | अष्टा | नष्टा |
| १७२२ | ,, | १७ | स्पतिरेव | स्पत एव |
| १७२३ | ,, | २ | न प्र | नाप्र |
| ,, | ,, | १६ | ग्रहणा | हरणा |
| ,, | ,, | १९ | ण वा | णैवा |
| ,, | ,, | २६ | न | कः |

| पृष्ठं | स्तम्भः | पंक्तिः | धर्मकोशः | आदर्शपुस्तकम् |
|---|---|---|---|---|
| १७२४ | १ | १ | विहित | विहत |
| १७२५ | २ | २५ | किमर्थम् | कर्मार्थम् |
| १७२७ | ,, | १२ | त्वात् | त्वाच्च |
| ,, | ,, | २० | नानन्त | नान्त |
| १७२८ | १ | २४ | किञ्चनं | किञ्चन |
| १७७३ | ,, | २९ | त्युक्तौ | त्युक्त्वा |
| ,, | २ | १८-९ | अकारणं 'हन्त वृषलो भूयाः' | अकरणहन्ता वृषलभूयाः |
| ,, | ,, | २० | णाक्रो | णक्रो |
| ,, | ,, | २१ | त्रिया | त्रिय |
| १७७६ | १ | ४ | गर्हा | गर्भः |
| ,, | ,, | १९ | ज्ञत | ज्ञानत |
| ,, | ,, | २२ | मय | मयति |
| ,, | २ | १० | बाह्य | वाह्य |
| ,, | ,, | १३ | रमव्य | रेऽव्य |
| १७७९ | १ | ७ | तीयं प्र | तीयप्र |
| ,, | ,, | ८ | हणं | हण |
| १८०१ | ,, | ११ | परुष | पुरुष |
| ,, | ,, | १३ | हारापरो | हारो |
| ,, | २ | ५ | विज्ञायीति | विज्ञापि |
| ,, | ,, | ६ | देशः, म | देशोप |
| ,, | ,, | ७ | त्यर्थम् | त्यर्थः |
| १८०२ | १ | २ | तोऽप्यस्य | तोऽस्य |
| १८०३ | २ | ३ | करणे | कर |
| १८०४ | ,, | ७ | नाशे दमः | नाशमाह |
| १८०५ | ,, | ५ | दसौ पि | दपी |
| ,, | ,, | ६ | नाया | नाना |
| ,, | ,, | १० | युत्पत्तौ | युपपत्तौ |
| १८०६ | ,, | २७ | चार्मिक | धार्मिक |
| १८०८ | १ | ८ | शक्तो | ( ० ) |
| ,, | ,, | १८ | मन्तं यदि | मन्यदि |
| १८०९ | २ | १६ | पथि स्थि | पथितो न स्थि |
| ,, | ,, | ,, | विध्रियमाणः | न विध्रियमाणोऽथवा |
| ,, | ,, | १७ | इतिवत् | इति चेत् |
| १८१० | १ | २२ | मनु | मानु |
| ,, | ,, | २३ | वधस | वधः स |
| ,, | २ | १३ | काचि | कदाचि |
| ,, | ,, | १४ | पचेत | पचते |
| १८११ | १ | ६ | लूकश्च | लूकश्च |

| पृष्ठं | स्तम्भः | पंक्तिः | धर्मकोशः | आदर्शपुस्तकम् |
|---|---|---|---|---|
| १८११ | १ | ८ | यानविधि | या न विधि |
| १८५१ | २ | १२ | यतीति | यन्निति |
| ,, | ,, | २१ | प्रकाशे | प्रकाश्ये |
| १८५२ | ,, | ६ | स्पर्शस्तु | स्पर्शस्य |
| ,, | ,, | १०-११ | कश्चित्सहते, 'भवति मा | कस्तत्सहते भवेन्न |
| ,, | ,, | १४ | तः । शुष्के | त्ताशुल्के |
| १८५३ | १ | ६ | संभाषा | संभाषः |
| ,, | ,, | ८ | अन्यत्र | अमुत्र |
| १८५४ | २ | ९ | ज्ञाताः । | ज्ञानां |
| ,, | ,, | ,, | चारणं | दारणं |
| १८५५ | १ | २४ | र्णादत्य | र्णायत्य |
| ,, | ,, | २४-५ | गादिकं | गिकं |
| १८५६ | ,, | २ | नादार | नार |
| ,, | ,, | ४ | न्निर्वृ | न्निवृ |
| ,, | २ | ३ | मूलमस्य | मूलस्य |
| १८५७ | १ | ११ | विशेषज | विशेषे ज |
| ,, | ,, | २० | दारोपचारादौ | दस्त्वनुकारादौ |
| ,, | ,, | १६ | दुच्येत | दुच्यते |
| ,, | ,, | ,, | तच्छब्देनाभि | गन्धेनायाभि |
| ,, | २ | २ | दिभिः व्या | दिभूतेनान्येनाभिवसता व्या |
| १८५८ | १ | १७ | नोच्येत | नोच्यते |
| ,, | ,, | १८ | न मुच्येत | मुच्यते |
| १८५९ | ,, | १० | यां ब्राह्मण्यां | या ब्राह्मण्या |
| १८६० | ,, | १ | अस्यास्ति | दण्डोऽस्ति |
| ,, | ,, | ,, | दण्डोऽन्य | दण्डोऽत्र |
| ,, | ,, | १६ | गच्छतः | गच्छति |
| ,, | २ | १० | अगुप्ता | गुप्ता |
| १८६१ | १ | २० | चराति | चरितं |
| ,, | ,, | २१ | अथवा | अथ |
| ,, | ,, | २७ | विवाहश्च | विवाहस्य |
| ,, | २ | १५-६ | ज्ञातमेव | ज्ञात एव |
| ,, | ,, | १६ | इति | ( ० ) |
| १८६५ | १ | १४ | षे गम | षागम |
| ,, | ,, | १७ | त्येवं | त्येव |
| १८६६ | २ | २२ | जात्यादि | जात्या |
| १८६७ | ,, | १७ | वधार्थ | वध्यर्थ |
| ,, | ,, | १८ | द्वधार्थः, तत्र समां | द्वध्यर्थस्तत्रेमां |
| १८६८ | १ | २१ | पूर्वंद | पूर्वं द |
| १८७० | ,, | २ | निग्रह | संग्रह |
| ,, | ,, | २१ | वित्तस्वा | यित्तास्वा |
| ,, | ,, | २२ | समानेषु मूर्धनि | समानस्पर्धिनो |
| ,, | ,, | २४ | ख्यातिमुत्पादयति | इत्युत्पादयन्ति |
| ,, | ,, | २५ | इति न | इति |
| १९०६ | २ | १९ | अन्यः | ( ० ) |
| १९०७ | ,, | १३ | विप्रति | प्रति |
| १९३१ | १ | ३० | परे अस्या | परे स्व |
| ,, | २ | १ | राष्ट्रीयाः | राष्ट्रे या |
| ,, | ,, | ,, | शोच्यमा | षेण्यमा |
| ,, | ,, | ७ | द्विष्ठ | द्विष्ट |
| १९४५ | १ | ४ | तरे पणं | तरेण पादं |
| ,, | ,, | ११ | तरणे | तरेण |
| ,, | ,, | २४ | सारेण | चारेण |
| ,, | २ | २९ | स्तरो | स्तरे |
| १९४६ | ,, | १२ | बन्धनेन | बन्धन |
| १९४७ | १ | २ | द्दिष्टया | दृष्टया |
| १९५१ | २ | २६ | कुलटां | कुटिलां |
| ,, | ,, | ३० | ता रक्ष्यधनाः । | सा रक्ष्यधना । |
| १९५२ | ,, | ९ | पधिभि | पधाभि |
| १९५७ | १ | २५ | भागा | भाग |
| १९८७ | ,, | २ | न | ( ० ) |
| ,, | ,, | २२ | यातृत | यात्रत |
| ,, | ,, | २४ | यत्र | यतो |
| ,, | ,, | २५ | असत्य | त्वसत्य |
| ,, | ,, | २८ | नुत्पत्या | नुत्पत्ति |
| ,, | ,, | ,, | गः कृतः | गकृतां |

# विवादपदानां विषयानुक्रमणिका

## साहसम्

( पृ. १५९१--१६३५ )

वेदाः— ( १५९१–१६०३ ) अपराधविशेषाः अपराधकारणानि च; सप्तमर्यादाभङ्गापराधाः; कतिपय-दोषाणां दोषत्वतारतम्यम् ( १५९१ ); कतिपयदोषाः; पञ्च महापातकानि ( १५९२ ); अभिशंसनम्-अभि-शस्तिः ( १५९३ ); अभिशस्तत्यागः; अभिशस्तस्य आर्त्विज्यानधिकारः; स्तेयानृताभिशंसनयोरपराधत्वम्; अभिशस्तनिष्कृतिः अभिशस्तत्यागश्च १५९४; वीरहत्या– वीरहत्या, तद्दण्डश्च [ मनुष्यहत्या तद्दण्डश्च] १५९५; ब्रह्महत्या–ब्रह्महत्या, तदपनोदश्च १५९७; भ्रूणहत्या, अन्ये च महादोषाः १६०१. निरुक्तम्— (१६०३)सप्तमर्यादाव्याख्यानम्. गौतमः–(१६०४-५) निमित्तविशेषे साहसानुज्ञा; साहसिका महान्तोऽपि नानु-सरणीयाः १६०४; स्वधर्मातिक्रमसाहसदण्डः १६०५. आपस्तम्बः— ( १६०५-६ ) ब्राह्मणस्य शस्त्रग्रहण-निषेधप्रतिप्रसवौ; निमित्तविशेषे साहसानुज्ञा; साहसिका महान्तोऽपि नानुसरणीयाः १६०५; महासाहसिक-शूद्रादिदण्डः, ब्राह्मणे विशेषश्च १६०६. बौधायनः– ( १६०६–८ ) वधसाहसं तद्दण्डश्च १६०६; निमित्त-विशेषे साहसानुज्ञा १६०७. वसिष्ठः— ( १६०८ ) निमित्तविशेषे साहसानुज्ञा; आततायिनः. विष्णुः— ( १६०८–१२ ) साहसप्रकाराः १६०८; महापातक-साहसदण्डविधिः; कूटशासन-विषाग्निदान-प्रसह्यतास्कर्य-स्त्रीबालपुरुषघात - धान्यापहार - कन्यानृत - साहसदण्ड-विधिः; पशुपक्षिकीटतृणवनस्पतिघात — विमांसविक्रय-साहसेषु दण्डविधिः; अधिकृतानामपथदान-आसनाप्र-दान-अपूजासु भोजननिमन्त्रणसंबन्ध्यतिक्रमेषु च दण्डविधिः १६०९; चतुर्वर्णानां अभक्ष्यापेयादिना दूषणे उद्यानभूम्यादिदूषणे च दण्डविधिः; गृहभूकुड्या-दिभेदन - गृहपीडाकरद्रव्यक्षेप-साधारण्यापलाप - प्रेषिता-प्रदान-पितृपुत्रादित्यागादिदोषेषु दण्डविधिः १६१०; पितापुत्रविरोधे साक्ष्यादीनां दण्डविधिः; तुलामानकूटत्व-विक्रयदोष-शुल्कग्रहणदोषेषु दण्डविधिः; जातिभ्रंशकर-भक्षणे दण्डविधिः; अभक्ष्याविक्रेयविक्रय-देवमूर्तिभेदनयो-र्दण्डविधिः; कूटसाक्षि-उत्कोचजीविसभ्य-दण्ड्यमोचयितृ-अदण्ड्यदण्डयितॄणां दण्डविधिः १६११; राज्याङ्गदूषण-साहसदण्डविधिः; निमित्तविशेषे साहसानुज्ञा; आतता-यिनः १६१२. शङ्खः शङ्खलिखितौ च–(१६१२–३) साहसप्रकाराः; मातापितापुत्राद्यन्योन्यत्यागादौ माता-पितागुर्वतिक्रमे च दण्डविधिः १६१२; प्रतिमाराम-कूपादिभङ्गे कूटशासनतुलामानप्रतिमानकरणे वापी-कूपादिदूषणेऽदासीदासदानादौ च दण्डविधिः; पितापुत्र-विरोधसाक्ष्यादिदण्डविधिः १६१३. कौटिलीयमर्थ-शास्त्रम्— ( १६१३–२२ ) साहसम् १६१३; आशुमृतकपरीक्षा १६१५; एकाङ्गवधनिष्क्रयः १६१७; शुद्धश्चित्रश्च दण्डकल्पः १६१८; अतिचारदण्डः १६२०. मनुः— ( १६२२–३२ ) स्तेय-साहसयोर्निरुक्तिः; साहसिकः पापकृत्तमः, तस्योपेक्षा राज्ञा नैव कर्तव्या १६२२; निमित्तविशेषे साहसानुज्ञा १६२३; महापातकिसाहसिकदण्डविधिः; मातापितास्त्री-पुत्राणामन्योन्यत्यागे दण्डः १६२७; निमित्तविशेषेषु प्रातिवेश्यब्राह्मणाद्यभोजने दण्डविधिः; पितापुत्र-विरोधसाक्ष्यादिदण्डविधिः; अभक्ष्यापेयादिप्राशयितृ-ग्रसितृदण्डविधिः १६२८; धर्मोपजीविनो धर्मच्युतस्य दण्डविधिः; उत्कृष्टकर्माभिर्जीवन् अधमजातीयो दण्ड्यः; तडाग-कोष्ठागार–देवतागार–जलमार्गादिभेदनाद्यपराधेषु

दण्डविधिः १६२९; विविधद्रव्यनाशापराधेषु दण्डविधिः; संक्रमध्वजप्रतिमादिद्रव्यभेदनदूषणादौ दण्डविधिः १६३०; राजमार्गदूषणे दण्डविधिः; अभिचारमूलक्रियाकृत्यासु दण्डविधिः; राजपुरुषाणां धनलोभादिदोषेषु दण्डविधिः १६३१. **याज्ञवल्क्यः**— ( १६३३–४१ ) साहसनिरुक्तिस्तद्दण्डश्च; साहसकारयितृदण्डः १६३३; पूज्यातिक्रम-भ्रातृभार्याप्रहार-प्रतिश्रुताप्रदान-मुद्रासहित-गृहभङ्ग-सामन्तादिपीडाकरणापराधेषु दण्डविधिः; विधवागमन-परभयानिवारण-वृथाक्रोश-चाण्डालकृत-स्पृश्यस्पर्श-शूद्रप्रव्रजितादिभोजन-अयुक्तशपथ-अयोग्य-कर्मकरण-पशुपुंस्त्वोपघात-साधारणापलाप-दासीगर्भपात-पितृपुत्राद्यन्योन्यत्यागेषु दण्डविधिः १६३४; तरिकेण स्थलजशुल्कग्रहणे प्रातिवेश्यब्राह्मणानिमन्त्रणे च दण्डः; पितापुत्रविरोधसाक्ष्यादिदण्डविधिः १६३५; अभक्ष्यापेयादिना चातुर्वर्ण्यदूषणे दण्डविधिः; जारप्रच्छादन-शववस्तुविक्रय-गुरुताडन-राजयानाद्यारोहण-द्विनेत्रभेदन-राजद्विडुपजीवन-शूद्रकृतविप्रत्वोपजीवनेषु अपराधेषु दण्डविधिः १६३६; शस्त्राघात-गर्भपात-स्त्रीपुंवध-दुष्टस्त्रीकृतपुंवधादिदोषेषु दण्डविधिः १६३७; क्षेत्रवेश्मादिदाहराजपत्नीगमनापराधेषु दण्डविधिः; राजपुरुषकृतापराधेषु दण्डविधिः १६३९; अविज्ञातहन्तुरन्वेषणविधिः १६४०. **नारदः**— ( १६४१–४५ ) साहसनिरुक्तिः; त्रयश्चत्वारश्च साहसप्रकाराः. तत्र दण्डविधिश्च १६४१; अपराधविषयकपश्चात्तापे सति असति च कर्तव्यता १६४४; अविक्रेयविक्रये ब्राह्मणदण्डः; राजधृतवस्तुनि आक्रममाणो वधदण्डार्हः १६४५. **बृहस्पतिः**— ( १६४५–८ ) साहसनिरुक्तिः; पञ्च त्रयश्च साहसप्रकाराः, तत्र दण्डविधिश्च; साहसस्तेयं तत्र दण्डश्च १६४५; साहसिकवधदण्डविचारः; साहसिका राज्ञा नोपेक्षणीयाः; साहसिकघातकतत्सहायाः तद्दण्डश्च १६४६; अविज्ञातघातकाद्यन्वेषणविधिः १६४७; आत्महत्यादोषः; निमित्तविशेषे साहसानुज्ञा; साहसकल्पदोषाः १६४८. **कात्यायनः**— ( १६४८-५१ ) साहसनिरुक्तिः १६४८; द्रव्यनाशादिप्रथममध्यमोत्तमसाहसानि तद्दण्डविधिश्च १६४९; साहसकृदन्वेषणविधिः; आततायिनः; निमित्तविशेषे साहसानुज्ञा १६५०. **व्यासः**— ( १६५१ ) वधसाहसकर्तुर्दण्डः; मिथ्याभैषज्यापराधः. **देवलः**— ( १६५१ ) आत्महत्यादोषः; निमित्तविशेषे साहसानुज्ञा. **उशना**— ( १६५२ ) गर्भपातनसाहसे दण्डः; निमित्तविशेषे साहसानुज्ञा. **यमः**— ( १६५२ ) विषाग्निद-चौर-वधकारि-तडागभेदकादिसाहसिकेषु दण्डविधिः; साहसिकस्तेयादिकृद्ब्राह्मणदण्डविधिः; आत्महत्यायत्नकरणे दण्डः. **संवर्तः**— ( १६५३ ) निमित्तविशेषे साहसानुज्ञा. **वृद्धहारीतः**— ( १६५३ ) निमित्तविशेषे साहसानुज्ञा; साहसिकानां दण्डविधिः, तत्र ब्राह्मणे विशेषश्च. **सुमन्तुः**— ( १६५३ ) निमित्तविशेषे साहसानुज्ञा. **पैठीनसिः**— ( १६५३ ) घातकसहायादिसाहसिकदण्डविधिः. **गालवः**— ( १६५४ ) निमित्तविशेषे साहसानुज्ञा. **अग्निपुराणम्**— ( १६५४ ) मर्यादाभेदकादिषु दण्डविधिः; निमित्तविशेषे साहसानुज्ञा; राजपुरुषाणां धनलोभादिदोषेषु दण्डविधिः; प्रतिमादिभेदने अभक्ष्यभक्षणे च दण्डः. **ब्रह्मपुराणम्**— ( १६५४ ) आततायिविशेषः. **मत्स्यपुराणम्**— ( १६५५ ) राजप्रतिकूलसाहसिकदण्डविधिः; ब्राह्मणामन्त्रणसंबन्धिदोषे दण्डः; निमित्तविशेषे साहसानुज्ञा; आततायिनः. **भविष्यपुराणम्**— ( १६५५ ) निमित्तविशेषे साहसानुज्ञा. **संग्रहकारः** (स्मृतिसंग्रहः)— ( १६५५ ) साहसनिरुक्तिः; निमित्तविशेषे साहसानुज्ञा.

## स्तेयम्

( पृ. १६५६-१७६७ )

**वेदाः**— ( १६५६ ) राजा स्तेनं बध्नाति; स्तेनत्वापवादः; स्तेयस्य दुष्टत्वं शपथविभाव्यत्वं च; स्तेनो हन्तव्यः. **गौतमः**— ( १६५६–६३ ) वर्णभेदेन स्तेयदण्डः १६५६; दण्डानर्हस्तेयम् १६५७; स्तेयमहापातकदण्डविधिः; दण्ड्योत्सर्गे राज्ञो दोषः; ब्राह्मणे विशेषः १६५८; चौरसाहाय्ये अधर्मसंयुक्तप्रतिग्रहे च दण्डः; स्तेयदोषप्रतिप्रसवः १६५९; प्रकाशचौर्यप्रसङ्गात् करशुल्कस्थापनाविधिः १६६१; चौरहृतं राज्ञा स्वामिने प्रदेयमलब्धेऽपि चौरे १६६३. **हारीतः**— ( १६६३ )

प्रसङ्गेन शिल्पिनां विविधभृतिविचारश्च.

## वाक्पारुष्यम्

( पृ. १७६८–१७९२ )

वेदाः—( १७६८ ) ब्राह्मणं प्रति अकुशलोक्तिनिषेधः. गौतमः—( १७६८–९ ) शूद्रकृतवाग्दण्डपारुष्यदण्डसामान्यविधिः; वेदाध्यायिशूद्रदण्डः १७६८; त्रैवर्णिककृतवाक्पारुष्ये दण्डः १७६९. हारीतः—( १७६९ ) असमवर्णकृतवाक्पारुष्यदण्डसामान्यविधिः; वेदाध्यायिशूद्रदण्डः; मिथ्यावाक्पारुष्ये दण्डसामान्यविधिः. आपस्तम्बः— ( १७६९ ) शूद्रकृतवाक्पारुष्ये दण्डः. वसिष्ठः—( १७७० ) पातकाभिशंसने दण्डः. विष्णुः—( १७७०–७१ ) हीनवर्णकृतवाक्पारुष्ये दण्डः; वाक्पारुष्यविशेषाः, तत्र दण्डाश्च १७७०; समासमवर्णाक्रोशक्षेपादिषु दण्डाः १७७१. शंखः शंखलिखितौ च—( १७७१ ) समासमवर्णाक्षेपातिक्रमादिषु दण्डाः; वर्णभेदेन आक्रोशदण्डाः; अधिकृतविप्रगुरुभर्त्सने दण्डाः. कौटिलीयमर्थशास्त्रम्—( १७७१–३ ) वाक्पारुष्यम् १७७१. मनुः—( १७७३–९ ) समासमवर्णानां परस्पराक्रोशे दण्डाः १७७३; समवर्णाक्रोशे तदत्यन्तनिन्दायां च दण्डः १७७४; शूद्रकृते उच्चवर्णक्षेपे धर्मोपदेशे च दण्डाः १७७५; मिथ्याक्षेपे अङ्गवैकल्योक्तौ गुर्वाद्याक्षारणे च दण्डः १७७६; ब्राह्मणक्षत्रिययोः परस्पराक्रोशे विट्शूद्रयोः स्वजात्याक्रोशे च दण्डाः १७७८. याज्ञवल्क्यः—( १७७९–८४ ) वाक्पारुष्यलक्षणविभागौ; समगुणेषु सवर्णेषु निष्ठुराक्षेपे दण्डः १७७९; समगुणेषु सवर्णेषु अश्लीलाक्षेपे दण्डः; विषमगुणेषु सवर्णेषु निष्ठुराश्लीलाक्षेपेषु दण्डः १७८०; इन्द्रियनाशप्रतिज्ञयाक्षेपे पापाक्षेपे त्रैविद्यनृपदेवजातिपूगग्रामदेशाक्षेपे च दण्डाः १७८१; असमवर्णेषु क्षेपे दण्डाः १७८३. नारदः—(१७८४–८) वाक्पारुष्यनिरुक्तिः, तत्प्रकाराश्च १७८४; पातकाभिशंसने दण्डः १७८६; सवर्णक्षेपादौ दण्डाः १७८७; असवर्णक्षेपाभिशंसनादौ दण्डाः; शूद्रकृते ब्राह्मणराजन्याद्याक्षेपादौ दण्डाः; राज्ञः क्षेपे दण्डः १७८८. बृहस्पतिः—( १७८८–९० ) पारुष्यभेदाः; वाक्पारुष्यप्रकाराः १७८८; समासमजातिगुणकृतवाक्पारुष्येषु दण्डाः १७८९; असमवर्णकृतवाक्पारुष्ये दण्डाः; शूद्रकृतद्विजक्षेपधर्मोपदेशादौ दण्डाः; वाक्पारुष्यप्रकरणोपसंहारः १७९०. कात्यायनः—( १७९१–२ ) वाक्पारुष्यप्रकाराः; वाक्पारुष्यदोषाल्पत्वे अर्धो दण्डः; वाक्पारुष्यदोषतदपवादौ, तत्साधनं च १७९१. व्यासः—( १७९२ ) पातकाभिशंसने दण्डाः. उशना—( १७९२ ) असवर्णकृतवाक्पारुष्ये दण्डाः; वाक्पारुष्यदोषाल्पत्वे अर्धो दण्डः; अनाम्नाते दण्डे विधिः. यमः—( १७९२ ) वेदाध्यायिशूद्रदण्डः. जमदग्निः—( १७९२ ) असवर्णेषु वाक्पारुष्ये दण्डाः. अग्निपुराणम्—( १७९२ ) वैश्यशूद्रकृते उच्चवर्णक्षेपे धर्मोपदेशे च दण्डाः.

## दण्डपारुष्यम्

( पृ. १७९३–१८३५ )

वेदाः— ( १७९३ ) ब्राह्मणविषयकदण्डपारुष्ये दण्डविधिः. गौतमः— ( १७९४ ) शूद्रकृते द्विजातिविषयके वाग्दण्डपारुष्ये दण्डविधिः; आर्यसाम्यप्रेप्सुशूद्रस्य दण्डः; शिष्यशासनरूपे दण्डपारुष्ये दण्डः. हारीतः— ( १७९४-५ ) हीनवर्णकृतेषु उत्तमवर्णकृतेषु च वाग्दण्डपारुष्येषु दण्डविधिः १७९४. आपस्तम्बः– ( १७९५ ) दण्डपारुष्यानन्तर्भावविशिष्यशासनम्; आर्यसाम्यप्रेप्सुशूद्रस्य दण्डः. वसिष्ठः– ( १७९५ ) वाग्दण्डपारुष्येषु दण्डसामान्यविधिः; वृक्षच्छेदनिषेधः. विष्णुः— ( १७९६-८ ) हीनवर्णकृतेषु उत्तमवर्णकृतेषु च दण्डपारुष्येषु दण्डविधिः; आर्यसाम्यप्रेप्सुशूद्रस्य दण्डः; प्रहारोद्यमन-पादादिलुण्ठन-करादिभङ्ग-चेष्टादिरोधप्रहारादिषु दण्डविधिः १७९६; एकं बहूनां प्रहरतां दण्डः; पुरुषपीडायां पशुपीडायां पशुपक्षिकीटघातादिषु च दण्डः १७९७; वृक्षवल्लीतृणादिच्छेदे दण्डविधिः १७९८. शंखलिखितौ–(१७९८) प्रहारोद्यमने निपातने च दण्डः. कौटिलीयमर्थशास्त्रम्— ( १७९८-१८०१ ) दण्डपारुष्यम् १७९८. मनुः— ( १८०१-१२ ) शूद्रकृतेषु त्रैवर्णिकविषयकदण्डपारुष्येषु दण्डविधिः; आर्यसाम्यप्रेप्सुशूद्रस्य दण्डः १८०१; सवर्णविषयकदण्डपारुष्ये दण्डविधिः १८०३; वनस्पतिच्छेदने दण्डविधिः १८०४; प्राणि-

## स्त्रीसंग्रहणम्

( पृ. १८३६–१८५२ )

दण्डः १८४५; आर्यस्त्रीणां शूद्रदूषितानां शुद्धिविधिः १८४६. विष्णुः— (१८४६-७) स्त्रीसंग्रहणलक्षणानि; वर्णानुसारेण परस्त्रीगमने दण्डविधिः १८४६; गुरुतल्पगमने दण्डः; सकामहीनस्त्रीगमने न उच्चपुरुषो दुष्यति; कन्यादूषणे दण्डः; पशुगमने दण्डः १८४७. शङ्खः शङ्खलिखितौ च— (१८४७-८) स्वदारनियमाद्यतिक्रमे दण्डविधिः; वर्णानुसारेण परस्त्रीगमने दण्डविधिः १८४७; कन्यादूषणे वर्णानुसारेण दण्डविधिः; स्त्रीकृतकन्यादूषणे दण्डः १८४८. कौटिलीयमर्थशास्त्रम्— (१८४८-५१) कन्याप्रकर्म १८४८; अतिचारदण्डः १८५०. मनुः— (१८५१-७०) संग्रहणलक्षणानि १८५१; परस्त्रीसंभाषायां दोषविचारः १८५३; चारणदारादिस्त्रीभिः सह संभाषणे उपकारादौ च दोषविचारः १८५४; परदाराभिमर्शदोषेषु दण्डः तत्प्रयोजनं च १८५५; वर्णभेदेन परदाराभिमर्शेषु दण्डविधिः; तत्र अब्राह्मणस्यैव शारीरदण्डः; ब्राह्मणस्य तु मौण्ड्यप्रवसनादि: १८५६; भर्तारं विलङ्घ्य अन्यपुरुषगामिन्याः स्त्रियाः तल्लग्नपुरुषस्य च दण्डः १८६५; सवर्णासवर्णादिकृते कन्यादूषणे दण्डविधिः १८६६; साहसादीनां परस्त्रीसंग्रहणान्तानां दण्डनिबन्धनानां पदानां उपसंहारः १८६९. याज्ञवल्क्यः— (१८७०-८०) स्त्रीसंग्रहणस्वरूपम्; संग्रहणलक्षणानि, परस्त्रीपुरुषसंभाषायां दण्डविधिः, वर्णभेदेन संग्रहणे दण्डविधिश्च १८७०; कन्याहरणे कन्यादूषणे च वर्णभेदेन दण्डविधिः १८७५; कन्यादोषख्यापनपशुगमनहीनस्त्रीगमनादौ दण्डविधिः १८७६; दास्यादिसाधारणस्त्रीगमने दण्डविधिः, प्रसङ्गविशेषेषु वेश्यावेतनविचारश्च १८७७; अयोनिपुरुषप्रव्रजितान्यतमगमने दण्डविधिः १८७९. नारदः— (१८८०-८४) संग्रहणलक्षणानि १८८०; संग्रहणदोषप्रतिप्रसवः १८८१; वर्णभेदेन संग्रहणे दण्डविधिः १८८२; कन्यादूषणे वर्णभेदेन दण्डविधिः; दास्यादिसाधारणस्त्रीगमने दोषविचारः १८८३; अन्त्यजपशुवेश्यागमने दण्डविधिः; अगम्यागमने प्रायश्चित्तं राजदण्डो वा १८८४. बृहस्पतिः— (१८८४-७) संग्रहणप्रकाराः, तल्लक्षणानि च १८८४; वर्णभेदेन संग्रहणे दण्डविधिः १८८५; स्त्रीसंग्रहणे स्त्रीणां दण्डविधिः १८८६. कात्यायनः— (१८८७-८) संग्रहणलक्षणानि १८८७; संग्रहणदोषप्रतिप्रसवः; स्त्रीपुरुषयोः संग्रहणे दण्डविधिः; स्वैरिणीगमनविचारः १८८८. व्यासः— (१८८९-९०) संग्रहणलक्षणानि; स्त्रीसंग्रहणे दण्डविधिः; साधारणस्त्रीगमने दण्डविधिः १८८९. यमः— (१८९०) मातृश्वस्रादिगमने पातित्यम्; वर्णभेदेन स्त्रीसंग्रहणे दण्डविधिः; बन्धकीगमने दण्डविधिः; साहसिकादिदुष्टरहितराज्यस्तुतिः. संवर्तः— (१८९०-९१) स्त्रीसंग्रहणलक्षणानि; स्त्रीसंग्रहणनिर्णयश्च १८९०. वृद्धहारीतः— (१८९१) परस्त्रीगमने दण्डविधिः. स्मृत्यन्तरम्— (१८९१) वर्णभेदेन परस्त्रीगमने दंडविधिः. अग्निपुराणम्— (१८९१) संग्रहणोपक्रमनिषेधः; स्वयंवरानुज्ञा; वर्णभेदेन स्त्रियाः व्यभिचारदण्डः; वर्णानुलोम्येन व्यभिचारे दण्डः. मत्स्यपुराणम्— (१८९२) प्रतिषिद्धानां परस्त्रियाः अगारप्रवेशे दण्डः; परस्त्रीसंग्रहणे दण्डविधिः; कन्यादूषणे दण्डविधिः; पशुगमनदण्डः. विष्णुपुराणम्— (१८९२) पशुगमनायोनिगमननिषेधः.

## द्यूतसमाह्वयम्

(पृ. १८९३–१९१५)

वेदाः— (१८९३–१९०३) द्यूतानुमतिः; अक्षक्रीडा दोषः; अक्षक्रीडायामनृतकरणे दोषः; अक्षक्रीडा निषेधः १८९३; द्यूतविधिः १८९६; द्यूतनिन्दा; द्यूतपरिभाषा १८९७; द्यूते जयार्थं देवताह्वानं जयकर्म च १८९८; द्यूतकृतर्णदोषः १९०२. आपस्तम्बः— (१९०३) राजाधिकृतसभैवाधिदेवनार्हा. विष्णुः— (१९०३) द्यूतसमाह्वययोर्मध्ये सभिक-जयि-राजभिर्ग्राह्याः पणांशाः, राजसभिकजयिजितानां कृत्यं च; द्यूतसमाह्वययोः मिथ्याचारिणां दण्डविधिः. कौटिलीयमर्थशास्त्रम्— (१९०४-५) द्यूतसमाह्वयम् १९०४. मनुः— (१९०५-७) द्यूतसमाह्वयप्रतिज्ञा; द्यूतसमाह्वययोर्लक्षणम्; द्यूतोपकरणानि; द्यूतसमाह्वयनिषेधः; द्यूतसमाह्वयकारिणां दण्डः, इतरकण्टकदण्डश्च १९०५; अष्टादशपदोपसंहारः १९०७. याज्ञवल्क्यः— (१९०७–१०) द्यूतसमाह्वयस्वरूपम् १९०७; सभिकेन द्यूते वृत्त्यर्थं ग्राह्याः पणांशाः; सभिककृत्यं राज्ञे जेत्रे च

## प्रकीर्णकम्

( पृ. १९१६–१९६२ )

### प्रकीर्णकम्

( पृ. १९१६–४३ )

श्रितो व्यवहारः—कुलजातिश्रेणिगणजानपदात्मको लोकः स्वकर्मणि स्थाप्यः प्रतिषिद्धाच्च वारणीयः; प्रकीर्णकत्वेन संगृहीताः केचिद्व्यवहाराः १९३२. नारदः—(१९३३-४०) प्रकीर्णकपदस्य लक्षणं, तद्भेदाश्च १९३३; राज्ञा चतुर्वर्णाश्रमो लोकः स्वकर्मणि स्थाप्यः प्रतिषिद्धाच्च निवारणीयः; श्रुतिस्मृतिन्यायाविरोधिराजशासनं प्रवर्तननिवर्तनात्मकम्; कारुशिल्पिप्रभृतीनां वृत्तिसाधनानि न हरणीयानि १९३५; राजशासनं लोकैर्नातिक्रमणीयम्; राजदण्डप्रयोजनम्; राजशासनप्रामाण्यम्; देवकार्यकरणात् देवतामयो राजा, तस्य कर्तव्यानि; ब्राह्मणसेवा राजधर्मः; ब्राह्मणस्य विशेषाधिकाराः १९३६; आपदि ब्राह्मणवृत्तिः १९३७; ब्राह्मणस्य वृत्तिः राजप्रतिग्रहेण प्रशस्ता; राजधनप्रशंसा १९३९; अष्टौ मङ्गलानि १९४०. बृहस्पतिः—(१९४०-४१) प्रकीर्णकपदस्य लक्षणं तद्भेदाश्च १९४०; देशादिधर्मपालनम् १९४१. कात्यायनः—(१९४१-२) प्रकीर्णकपदस्य लक्षणं तद्भेदाश्च १९४१; नृपाश्रितो व्यवहारः—राजोपजीविनां राजक्रीडासक्तानां राज्ञ अप्रियवक्तुश्च दण्डः; देशादिधर्मपालनम् १९४२. पितामहः—(१९४२) देशधर्मपालनम्. व्यासः—(१९४२) नृपाश्रितो व्यवहारः—उत्कोचजीविराजपुरुषाणां दण्डः. देवलः—(१९४२) नृपाश्रितो व्यवहारः—प्रायश्चित्तनिर्देशो राज्ञा कार्यः; देशादिधर्मपालनम्. उशना—(१९४२) नृपाश्रितो व्यवहारः—राज्ञा करः कल्पनीयः; राजप्रशंसा. यमः—(१९४३) नृपाश्रितो व्यवहारः—पौराणिकधर्मप्रवर्तनम्; प्रकीर्णकप्रकरणोपसंहारः; पतितधनव्यवस्था. संवर्तः—(१९४३) नृपाश्रितो व्यवहारः—आमात्यपैशुन्ये पुरमानप्रभेदने च दण्डः. वृद्धहारीतः—(१९४३) नृपाश्रितो व्यवहारः—राज्ञा करः कल्पनीयः. अनिर्दिष्टकर्तृकवचनानि—(१९४३) देशधर्मपालनम्. अग्निपुराणम्—(१९४३) संकीर्णदण्डाः. देवीपुराणम्—(१९४३) नृपाश्रितो व्यवहारः—चतुर्वर्णाश्रमधर्मरक्षणार्थं चारनियोजनम्.

## नौयायिव्यवहारः। विशेषतस्तत्र तरशुल्कविचारः।

(पृ. १९४४–४७)

वसिष्ठः, विष्णुः, मनुः, याज्ञवल्क्यः—(१९४४-७) नौयायिव्यवहारः, विशेषतस्तत्र तरशुल्कविचारः.

## बालानाथधननिधिनष्टापहृतव्यवस्था

(पृ. १९४७–६२)

गौतमः—(१९४७–९) प्रनष्टास्वामिकधनव्यवस्था १९४७; निधिव्यवस्था; बालधनव्यवस्था १९४८; धने चोरहृते व्यवस्था १९४९. बौधायनः—(१९४९) प्रनष्टास्वामिकधनव्यवस्था; बालधनव्यवस्था. वसिष्ठः—(१९४९) बालधनव्यवस्था; प्रनष्टस्वामिकधनं राजगामि; निधिव्यवस्था. विष्णुः—(१९४९–५०) निधिव्यवस्था १९४९; बालानाथस्त्रीधनव्यवस्था; धने चौरहृते व्यवस्था १९५०. शंखः शंखलिखितौ च—(१९५०) बालानाथस्त्रीधनव्यवस्था. कौटिलीयमर्थशास्त्रम्—(१९५०) बालादिधनव्यवस्था. मनुः—(१९५१–८) बालानाथधनव्यवस्था १९५१; प्रनष्टास्वामिकधनव्यवस्था १९५३; निधिव्यस्था १९५५; धने चौरहृते व्यवस्था १९५७. याज्ञवल्क्यः—(१९५८–६१) प्रनष्टास्वामिकधनव्यवस्था १९५८; निधिव्यवस्था; धने चौरहृते व्यवस्था १९६०. नारदः—(१९६१) निधिव्यवस्था; प्रनष्टास्वामिकधनव्यवस्था; धने चोरहृते व्यवस्था. बृहस्पतिः—(१९६१–२) प्रनष्टास्वामिकधनव्यवस्था १९६१. व्यासः—(१९६२) धने चोरहृते व्यवस्था. उशना—(१९६२) निधिव्यवस्था. अग्निपुराणम्—(१९६२) निधिव्यवस्था; प्रनष्टास्वामिकधनव्यवस्था; बालानाथधनव्यवस्था; धने चोरहृते व्यवस्था.

# परिशिष्टम्

(पृ. १९६३–१९८९)

## व्यवहारस्वरूपम्

(पृ. १९६३)

गौतमः—(१९६३) व्यवहारविभागाः.

## सभा

(पृ. १९६३)

महाभारतम्—(१९६३) सभ्यैः सत्यमेव वक्तव्यम्.

## साक्षी

(पृ. १९६४)

महाभारतम्—(१९६४) मृषासाक्ष्यनिन्दा;

भारद्वाजः—(१९७५) परिवृत्तेः परिवर्तनावधिः. अग्नि-पुराणम्— ( १९७५ ) क्रयविक्रयः—कन्याविषयानुशये दण्डविधिः. मत्स्यपुराणम्— ( १९७५ ) कन्या-विषयानुशये दण्डविधिः.

## स्वामिपालविवादः

( पृ. १९७६ )

महाभारतम्— ( १९७६ ) पशुपालनभृतिः. नारदः–( १९७६ ) पशुनाशे व्यवस्था. व्यासः–( १९७६ ) द्विजबान्धवगोकृतसस्यभक्षणं क्षम्यम्. स्मृत्यन्तरम्–( १९७६ ) सस्यनाशे दण्डः. अनिर्दिष्ट-कर्तृकवचनम्–( १९७६ ) सस्यनाशे दण्डः. अग्नि-पुराणम्– ( १९७६ ) पालधर्माः सस्यरक्षा च.

## सीमाविवादः

( पृ. १९७६ )

नारदः—( १९७६ ) बलाद्भूमिर्न हर्तव्या. अग्निपुराणम्–( १९७६ ) गृहाद्याहरणे दण्डः.

## स्त्रीपुंधर्माः

( पृ. १९७७–७९ )

वेदाः— ( १९७७ ) एका द्वयोः पत्नी; वेश्या. वसिष्ठः— ( १९७७ ) स्त्रीरक्षा, रजस्वलाधर्माश्च. महाभारतम्— ( १९७८ ) स्त्रीणां भर्तृशुश्रूषा धर्मः; भार्यामहिमा; स्त्री अवध्या; बहुपत्नीकता नाधर्मः; स्त्री त्याज्या. याज्ञवल्क्यः— ( १९७८ ) व्यवहार-प्रकरणे स्त्रीपुंधर्मपदव्यवस्था. नारदः— ( १९७८ ) कन्यादानकालः; चतुःस्वैरिणीदोषतारतम्यम् ; प्रोषितभर्तृ-कशूद्रावृत्तम्. उशना— ( १९७८ ) ज्येष्ठपूर्वं यवीयसः विवाहः. स्मृत्यन्तरम्— ( १९७९ ) पतिप्रीणनं धर्मः; कन्याविक्रयनिन्दा. अग्निपुराणम्—(१९७९ ) विविधाः स्त्रीपुंधर्माः.

## दायभागः

( पृ. १९७९–८८ )

वेदाः— (१९७९–८२) पितुः कन्यायां संततिः; यावज्जीवं भर्तृरहिताः कन्याः, तासां तत्पुत्राणां च भागः १९७९; पुत्रप्रतिग्रहः ( दत्तकलिङ्गम् ); कानीनः १९८०; स्वयंदत्तः; ज्येष्ठत्वं पुत्रत्वं दायादत्वं च पितुः संकेताधीनम्; पितुः दायादिसर्वस्वहरः पुत्रः; पुत्रस्य गृहे पितुर्वासः; विद्यापणलब्धं द्रव्यम् १९८१; द्विमा-तृकः—मातृद्वारा द्व्यामुष्यायणः; पुत्रप्रकाराः; ज्येष्ठपुत्रांशे पितुः अस्वाम्यम्; मिश्रद्रौ अदेयौ १९८२. गौतमः—( १९८२ ) स्त्रीधनमविभाज्यम्. हारीतः– ( १९८२ ) एकेनोद्धृतापि भूर्विभाज्या; अविभाज्यम्. वसिष्ठः–( १९८२ ) पुत्रप्रशंसा. विष्णुः–( १९८२–३ ) धनागमविचारः तत्प्रकाराश्च १९८२; पित्रा कृतः पुत्रो भागहरः, अकृतः स्वस्थानानुसारेण; विभाज्याविभाज्य-विवेकः १९८३. महाभारतम्–(१९८३–६) विभाग-निन्दा; पितृपुत्रोरविभागप्रशंसा; ज्येष्ठकनिष्ठवृत्तिः; भ्रातॄणां सहवासविधिः; भागानर्हः; भ्रातॄणां भागः; विभाज्याविभाज्ये; मातरि तत्समासु च वृत्तिः १९८३; ज्येष्ठमहिमा; व्यङ्गो ज्येष्ठः राज्यानर्हः; गुणश्रेष्ठ एव राज्यार्हः तत्पुत्रादयश्च; पुत्रमहिमा १९८४; पुत्रमहिमा; पुत्रप्रकाराः; पुत्रिका १९८५; दौहित्रमहिमा; नियोगेन त्रिभ्योऽधिका नोत्पाद्याः; पुत्रपुत्रीपरिग्रहः; पुत्रेषु मातृ-पितृस्वाम्यं समम्; दत्तककन्या; राज्याधिकारः १९८६. कौटिलीयमर्थशास्त्रम्–( १९८६ ) वानप्रस्थाद्या-श्रमिरिक्थविभागः. मनुः–( १९८६–७ ) धनागमाः १९८६; ज्येष्ठमहिमा; अविभाज्यद्रव्यविशेषाः, स्त्रियोऽ-विभाज्याः १९८७. बृहस्पतिः– ( १९८७ ) पुत्रमहिमा; गुणाधिक्ये भागाधिक्यम्. कात्यायनः—( १९८७ ) विषमविभागहेतुः कर्मानुष्ठानतारतम्यम्. वृद्धहारीतः–( १९८८ ) स्त्रीधनविभागः; अनेक-पितृकाणां द्वैमातृकाणां च भागविधिः. लघु-हारीतः– ( १९८८ ) अविभाज्यम्; पितृप्रसाद-लब्धमपि स्थावरं न भोक्तव्यम्; सर्वानुमत्या एव स्थावर-द्विपदानां व्यवहारः. अग्निपुराणम्–( १९८८ ) गुण-ज्येष्ठ एव ज्येष्ठांशभाक्; पतितस्त्रीणां वृत्तिः. शुक्रनीतिः—( १९८८ ) गुणज्येष्ठ एव ज्येष्ठांशभाक्; पतितस्त्रीणां वृत्तिः. शुक्रनीतिः–(१९८८) स्थावरे न पितुः पिता-महस्य वा प्रभुत्वम्; स्वत्वार्थागमयोर्विचारः; पितृकृतो विभागः; अपुत्रमृतरिक्थहराः क्रमेण; अविभाज्यम्.

### साहसम्
(पृ. १९८९)

स्मृत्यन्तरम्—(१९८९) शूद्रस्य विप्रवद्द्वेषधारणे दण्डः; गर्भघातिनी तद्गन्तारश्च दण्ड्याः.

### दण्डपारुष्यम्
(पृ. १९८९)

वेदाः—(१९८९) याननिमित्तकहिंसा.

# ऋषिक्रमेण विषयानुक्रमणिका

[ विवादपदेषु क्रमेण ये ऋषयः संगृहीताः तेषु निर्दिष्टानां विषयानां प्रकरणानुपूर्व्या संग्रहः ]

स्त्रीपुंधर्माः—

एका द्वयोः पत्नी; वेश्या १९७७.

दायभागः—

पितुः कन्यायां संततिः; यावज्जीवं भर्तृरहिताः कन्याः, तासां तत्पुत्राणां च भागः १९७९-८०. पुत्रप्रतिग्रहः (दत्तकलिङ्गम्); कानीनः १९८०. स्वयंदत्तः; ज्येष्ठत्वं, पुत्रत्वं, दायादत्वं च पितुः संकेताधीनम्; पितुः दायादिसर्वस्वहरः पुत्रः; पुत्रस्य गृहे पितुर्वासः; विद्यापणलब्धं द्रव्यम् १९८१-२. द्विमातृकः—पुत्रद्वारा द्व्यामुष्यायणः; पुत्रप्रकाराः; ज्येष्ठपुत्रांशे पितुः अस्वाम्यम्; भूमिशूद्रौ अदेयौ १९८२.

दण्डपारुष्यम्—

याननिमित्तकहिंसा १९८९.

## निरुक्तम्

साहसम्—

सप्तमर्यादाव्याख्यानम् १६०३.

## परिशिष्टम्

ऋणादानम्—

कुसीदीनः १९७१.

क्रयविक्रयानुशयः—

स्त्रीपुरुषविक्रयविचारः १९७५.

## गौतमः

साहसम्—

निमित्तविशेषे साहसानुज्ञा; साहसिका महान्तोऽपि नानुसरणीयाः १६०४. स्वधर्मातिक्रमसाहसदण्डः १६०५.

स्तेयम्—

वर्णभेदेन स्तेयदण्डः १६५६—७. दण्डानर्हस्तेयम् १६५७. स्तेयमहापातकदण्डविधिः; दण्ड्योत्सर्गे राज्ञो दोषः; ब्राह्मणे विशेषः १६५८-९. चोरसाहाय्ये अधर्मसंयुक्तप्रतिग्रहे च दण्डः; स्तेयदोषप्रतिप्रसवः १६५९-६१. प्रकाशचौर्यप्रसङ्गात् करशुल्कस्थापनाविधिः १६६१-३. चोरहृतं राज्ञा स्वामिने प्रदेयमलब्धेऽपि चौरे १६६३.

वाक्पारुष्यम्—

शूद्रकृतवाग्दण्डपारुष्यदण्डसामान्यविधिः; वेदाध्यायिशूद्रदण्डः १७६८. त्रैवर्णिककृतवाक्पारुष्ये दण्डः १७६९.

दण्डपारुष्यम्—

शूद्रकृते द्विजातिविषयके वाग्दण्डपारुष्ये दण्डविधिः; आर्यसाम्यप्रेप्सुशूद्रस्य दण्डः; शिष्यशासनरूपे दण्डपारुष्ये दण्डः १७९४.

स्त्रीसंग्रहणम्—

परदाराभिमर्शे दण्डसामान्यविधिः; आर्यस्त्र्यभिगामिशूद्रदण्डः १८४१-२. हीनपुरुषस्य उच्चस्त्रियाश्च व्यभिचारे दण्डः १८४२-३. कन्याकृतकन्यादूषणदण्डः १८४३.

प्रकीर्णकम्—

नृपाश्रितो व्यवहारः - राजब्राह्मणाभ्यां दण्डोपदेशाभ्यां चतुर्वर्णाश्रमो लोकः पालनीयः प्रतिषिद्धाद्वारणीयः संकराच्च रक्षणीयः १९१६-८. देशादिधर्माः १९१८.

बालानाथधननिधिनष्टापहृतव्यवस्था

प्रनष्टास्वामिकधनव्यवस्था १९४७-८. निधिव्यवस्था; बालधनव्यवस्था १९४८. धने चोरहृते व्यवस्था १९४९.

## परिशिष्टम्

व्यवहारस्वरूपम्—

व्यवहारविभागाः १९६३.

दत्ताप्रदानिकम्—

दानाङ्गनियमः १९७२-३.

दायभागः—

स्त्रीधनमविभाज्यम् १९८२.

## हारीतः

स्तेयम्—

राज्ये चौरदोषः १६६३.

वाक्पारुष्यम्—

असमवर्णकृतवाक्पारुष्यदण्डसामान्यविधिः; वेदाध्यायिशूद्रदण्डः; मिथ्यावाक्पारुष्ये दण्डसामान्यविधिः १७६९.

दण्डपारुष्यम्—

हीनवर्णकृतेषु उत्तमवर्णकृतेषु च वाग्दण्डपारुष्येषु दण्डविधिः १७९४.

स्त्रीसंग्रहणम्—

हीनपुरुषस्य उच्चस्त्रियाश्च व्यभिचारे दण्डः १८४३.

## परिशिष्टम्

दायभागः—

एकेनोद्धृतापि भूर्विभाज्या; अविभाज्यम् १९८२.

## आपस्तम्बः

साहसम्—

ब्राह्मणस्य शस्त्रग्रहणनिषेधप्रतिप्रसवौ; निमित्तविशेषे साहसानुज्ञा; साहसिका महान्तोऽपि नानुसरणीयाः १६०५-६. महासाहसिकशूद्रादिदण्डः, ब्राह्मणे विशेषश्च १६०६.

स्तेयम्—

तस्करभयरहितराज्यरक्षणं मुख्यो राजधर्मः; शूद्रादीनां स्तेयादिमहापातकदण्डविधिः, ब्राह्मणे विशेषश्च १६६४-५. दण्डार्हानर्हस्तेयविचारः; दण्ड्योत्सर्गे राज्ञो दोषः; स्तेयदोषे आपदनापत्कालद्रव्यविशेषादिविचारः १६६५-६. दण्ड्यादण्डने दोषः; शुल्कस्थापना १६६६-७.

वाक्पारुष्यम्—

शूद्रकृतवाक्पारुष्ये दण्डः १७६९-७०.

दण्डपारुष्यम्—

दण्डपारुष्यानन्तर्भाविशिष्यशासनम्; आर्यसाम्यप्रेप्सुशूद्रस्य दण्डः १७९५.

स्त्रीसंग्रहणम्—

कन्यापरदारसंनिकर्षकरणे दण्डः; परदारमैथुने दण्डः १८४३. कन्यादूषणे दण्डः; कन्यादूषणे परदारदूषणे च राज्ञः कर्तव्यम्; प्रायश्चित्तोत्तरं कन्या परदाराश्च धर्मार्हसंबन्धाः; आर्यस्य शूद्रागमने दण्डः; आर्यस्त्र्यभिगामिशूद्रदण्डः; परभुक्तस्त्रियाः प्रायश्चित्तम् १८४४.

द्यूतसमाह्वयम्—

राजाधिकृतसभैवाधिदेवनार्हा १९०३.

प्रकीर्णकम्—

नृपाश्रितो व्यवहारः— शास्तृराजपुरोहितैः चतुर्वर्णाश्रमो लोकः स्वकर्मणि स्थाप्यः प्रतिषिद्धाद्वारणीयश्च; देशादिधर्माः १९१८.

## परिशिष्टम्

दत्ताप्रदानिकम्—

दानाङ्गनियमः १९७३.

अभ्युपेत्याशुश्रूषा—

अन्तेवासिगुरुवृत्तिः १९७३-४.

## बौधायनः

साहसम्—

वधसाहसं तद्दण्डश्च १६०६. निमित्तविशेषे साहसानुज्ञा १६०७-८.

स्तेयम्—

स्तेयमहापातकदण्डविधिः; दण्ड्योत्सर्गे राज्ञो दोषः; शुल्कस्थापना १६६७.

स्त्रीसंग्रहणम्—

शूद्रादीना उच्चवर्णस्त्रीगमने दण्डः १८४४-५. चारणदाररङ्गावतारस्त्रीषु गमने दण्डाभावः; स्त्रीणां परपुरुषदूषितानां अदुष्टत्वम् १८४५.

प्रकीर्णकम्—

नृपाश्रितो व्यवहारः— राज्ञा चतुर्वर्णाश्रमो लोकः स्वधर्मे स्थापयित्वा रक्षणीयः १९१८. देशादिधर्मपालनम् १९१९-२०.

बालानाथधननिधिनष्टापहृतव्यवस्था

प्रनष्टास्वामिकधनव्यवस्था; बालधनव्यवस्था १९४९.

## परिशिष्टम्

अभ्युपेत्याशुश्रूषा—

अध्याप्यः शिष्यः १९७४.

## वसिष्ठः

साहसम्—

निमित्तविशेषे साहसानुज्ञा; आततायिनः १६०८.

स्तेयम—

स्तेयदुष्टलक्षणानि १६६७. स्तेयमहापातकदण्डविधिः; दण्ड्योत्सर्गे राज्ञो दोषः; अर्घस्थापना शुल्कस्थापना च १६६८.

वाक्पारुष्यम्—

पातकाभिशंसने दण्डः १७७०.

दण्डपारुष्यम्—

वाग्दण्डपारुष्येषु दण्डसामान्यविधिः; वृक्षच्छेदनिषेधः १७९५.

स्त्रीसंग्रहणम्—

शूद्रादीनां उच्चवर्णस्त्रीगमने दण्डः १८४५. आर्यस्त्रीणां शूद्रदूषितानां शुद्धिविधिः १८४६.

प्रकीर्णकम्—

नृपाश्रितो व्यवहारः— ब्राह्मणेन राज्ञा च उपदेश-

दण्डाभ्यां चतुर्वर्णाश्रमो लोकः पालनीयः स्वकर्मणि स्थाप्यः प्रतिषिद्धाद्वारणीयश्च १९२०-२१. राज्ञा विवाहव्यवस्था कार्या; देशादिधर्मपालनम् १९२१.

नौयायिव्यवहारः। विशेषतस्तत्र तरशुल्कविचारः।

नौयायिव्यवहारः। विशेषतस्तत्र तरशुल्कविचारः १९४४.

बालानाथधननिधिनष्टापहृतव्यवस्था

बालधनव्यवस्था; प्रनष्टस्वामिकधनं राजगामि; निधिव्यवस्था १९४९.

## परिशिष्टम्

अभ्युपेत्याशुश्रूषा—

अध्याप्यः शिष्यः १९७४.

स्त्रीपुंधर्माः—

स्त्रीरक्षा, रजस्वलाधर्माश्च १९७७-८.

दायभागः—

पुत्रप्रशंसा १९८२.

## विष्णुः

साहसम्—

साहसप्रकाराः १६०८. महापातकसाहसदण्डविधिः; कूटशासनविषाग्निदान-प्रसह्यतास्कर्य-स्त्रीबालपुरुषघात-धान्यापहार-कन्यानृत-साहसदण्डविधिः; पशुपक्षिकीटतृणवनस्पतिघात-विमांसविक्रयसाहसेषु दण्डविधिः; अधिकृतानामपथदान-आसनाप्रदान-अपूजासु भोजननिमन्त्रणसंबन्धव्यतिक्रमेषु च दण्डविधिः १६०९. चतुर्वर्णानां अभक्ष्यापेयादिना दूषणे उद्यानभूम्यादिदूषणे च दण्डविधिः; गृहभूकुड्यादिभेदन-गृहपीडाकरद्रव्यक्षेप साधारण्यापलाप-प्रेषिताप्रदान - पितृपुत्रादित्यागादिदोषेषु दण्डविधिः १६१०. पितापुत्रविरोधे साक्ष्यादीनां दण्डविधिः; तुलामानकूटत्व - विक्रयदोष-शुल्कग्रहणदोषेषु दण्डविधिः; जातिभ्रंशकरभक्षणे दण्डविधिः; अभक्ष्याविक्रेयविक्रय-देवमूर्तिभेदनयोर्दण्डविधिः; कूटसाक्षि-उत्कोचजीवि-सभ्य-दण्ड्यमोचयितृ-अदण्ड्यदण्डयितॄणां दण्डविधिः १६११. राज्याङ्गदूषणसाहसदण्डविधिः; निमित्तविशेषे साहसानुज्ञा; आततायिनः १६१२.

स्तेयम्—

प्रकाशवञ्चकानां शुल्कपरिहर्तृकूटतुलामानकर्त्रादीनां दण्डः १६६८-९. अप्रकाशतस्कराणां पशुधान्यवस्त्रभक्ष्यपेयरत्नादिद्रव्यहारिणां दण्डविधिः १६६९-७१. करशुल्कस्थापना; चौरहृतं चौरेऽलब्धेऽपि स्वामिने प्रत्यर्पणीयम् १६७१.

वाक्पारुष्यम्—

हीनवर्णकृतवाक्पारुष्ये दण्डः; वाक्पारुष्यविशेषाः, तत्र दण्डाश्च १७७०-७१. समासमवर्णाक्रोशाक्षेपादिषु दण्डाः १७७१.

दण्डपारुष्यम्—

हीनवर्णकृतेषु उत्तमवर्णकृतेषु च दण्डपारुष्येषु दण्डविधिः; आर्यसाम्यप्रेप्सुशूद्रस्य दण्डः; प्रहारोद्यमनपादादिलुण्ठनकरादिभङ्गचेष्टादिरोधप्रहारादिषु दण्डविधिः १७९६. एकं बहूनां प्रहरतां दण्डः; पुरुषपीडायां पशुपक्षिकीटघातादिषु च दण्डः १७९७. वृक्षवल्लीतृणादिच्छेदे दण्डविधिः १७९८.

स्त्रीसंग्रहणम्—

स्त्रीसंग्रहणलक्षणानि; वर्णानुसारेण परस्त्रीगमने दण्डविधिः १८४६-७. गुरुतल्पगमने दण्डः; सकामहीनस्त्रीगमने न उच्चपुरुषो दुष्यति; कन्यादूषणे दण्डः; पशुगमने दण्डः १८४७.

द्यूतसमाह्वयम्—

द्यूतसमाह्वययोर्मध्ये सभिक-जयि-राजभिर्ग्राह्याः पणांशाः, राजसभिकजयिजितानां कृत्यं च; द्यूतसमाह्वययोः मिथ्याचारिणां दण्डविधिः १९०३-४.

प्रकीर्णकम्—

नृपाश्रितो व्यवहारः-राज्ञा चतुर्वर्णाश्रमो लोकः स्वकर्मणि स्थाप्यः प्रतिषिद्धान्निवारणीयश्च; नृपाश्रिताः केचिद्व्यवहाराः १९२१. देशादिधर्मपालनम् १९२२.

नौयायिव्यवहारः। विशेषतस्तत्र तरशुल्कविचारः।

नौयायिव्यवहारः। विशेषतस्तत्र तरशुल्कविचारः १९४४.

बालानाथधननिधिनष्टापहृतव्यवस्था

निधिव्यवस्था १९४९-५०. बालानाथस्त्रीधनव्यवस्था; धने चौरहृते व्यवस्था १९५०.

## परिशिष्टम्

क्रयविक्रयानुशयः—

कन्याविषयानुशयादौ दण्डविधिः १९७५.

दण्डपारुष्यम्—

दण्डपारुष्यम् १७९८–१८०१.

स्त्रीसंग्रहणम्—

कन्याप्रकर्म १८४९–५०. अतिचारदण्डः १८५०-५१.

द्यूतसमाह्वयम्—

द्यूतसमाह्वयम् १९०४–५.

प्रकीर्णकम्—

प्रकीर्णकानि १९२२–३. आचार्यशिष्यधर्मभ्रातृसमानतीर्थ्यानां वानप्रस्थयतिब्रह्मचारिविषये अन्यथा वा व्यतिक्रमे दण्डविधिः १९२३. उपनिपातप्रतीकारः १९२४–६.

बालानाथधननिधिनष्टापहृतव्यवस्था

बालादिधनव्यवस्था १९५०.

## परिशिष्टम्

दायभागः—

वानप्रस्थाद्याश्रमिरिक्थविभागः १९८६.

## मनुः

साहसम्—

स्तेयसाहसयोर्निरुक्तिः; साहसिकः पापकृत्तमः, तस्योपेक्षा राज्ञा नैव कर्तव्या १६२२-३. निमित्तविशेषे साहसानुज्ञा १६२३-७. महापातकिसाहसिकदण्डविधिः; मातापितास्त्रीपुत्राणामन्योन्यत्यागे दण्डः१६२७. निमित्तविशेषेषु प्रातिवेश्यब्राह्मणाद्यभोजने दण्डविधिः; पितापुत्रविरोधसाक्ष्यादिदण्डविधिः; अभक्ष्यापेयादिप्राशयितृग्रसितृदण्डविधिः १६२८. धर्मोपजीविनो धर्मच्युतस्य दण्डविधिः; उत्कृष्टकर्मभिर्जीवन् अधमजातीयो दण्ड्यः; तडाग- कोष्ठागार- देवतागार- जलमार्गादिभेदनाद्यपराधेषु दण्डविधिः १६२९–३०. विविधद्रव्यनाशापराधेषु दण्डविधिः; संक्रमध्वजप्रतिमादिद्रव्यभेदनदूषणादौ दण्डविधिः १६३०. राजमार्गदूषणे दण्डविधिः; आभिचारमूलक्रियाकृत्यासु दण्डविधिः; राजपुरुषाणां धनलोभादिदोषेषु दण्डविधिः १६३१-२.

स्तेयम्—

स्तेयविवादपदप्रतिज्ञा १६९०. स्तेयसाहसयोर्निरुक्तिः १६९१. राज्यकण्टकाः प्रकाशाप्रकाशतस्कराः; कण्टकशुद्धिः, तदर्थं चाराद्यन्वेषकविधिः १६९२-५. तस्करादिकण्टकान्वेषणविधिः १६९५-६. स्तेनातिदेशः १६९७-९. चौरादिकण्टकनिग्रहो राज्ञो धर्मः १६९९-१७०२. स्तेयमहापातकदण्डविधिः; दण्ड्यस्य मोक्षे राजा दोषभाक् १७०२-४. चौरस्य पापस्य च दण्डेन प्रायश्चित्तवच्छुद्धिः १७०४. प्रकाशतस्करदण्डाः १७०५-६. प्रकाशतस्करप्रकरणे प्रसङ्गात् अर्घमानादिव्यवस्थाविधिः १७०७-८. प्रकाशतस्करदण्डाः (पूर्वतोऽनुवृत्ताः) १७०८-१०. अप्रकाशतस्करदण्डाः १७११-२०. अप्रकाशचौर्याभ्यासे शारीरो दण्डः १७२०. वर्णतः स्तेयदोषतारतम्यम् १७२१-२२. स्तेयदोषप्रतिप्रसवः १७२२-७. स्तेनप्रकरणोपसंहारः; करग्रहणविचारः १७२७-८.

वाक्पारुष्यम्—

समासमवर्णानां परस्पराक्रोशे दण्डाः १७७३-४. समवर्णाक्रोशे तदत्यन्तनिन्दायां च दण्डः १७७४-५. शूद्रकृते उच्चवर्णक्षेपे धर्मोपदेशे च दण्डाः १७७५–६. मिथ्याक्षेपे अङ्गवैकल्योक्तौ गुर्वाद्याक्षारणे च दण्डः १७७६-८. ब्राह्मणक्षत्रिययोः परस्पराक्रोशे विट्शूद्रयोः स्वजात्याक्रोशे च दण्डाः १७७८-९.

दण्डपारुष्यम्—

शूद्रकृतेषु त्रैवर्णिकविषयकदण्डपारुष्येषु दण्डविधिः; आर्यसाम्यप्रेप्सुशूद्रस्य दण्डः १८०१-३. सवर्णविषयकदण्डपारुष्ये दण्डविधिः १८०३. वनस्पतिच्छेदने दण्डविधिः १८०४. प्राणिपीडने दण्डविधिः १८०५. गृहोपकरणादिद्रव्यभाण्डपुष्पमूलफलादिनाशने दण्डविधिः १८०६. यानसंबन्धिनिमित्तेषु प्राणिहिंसाद्रव्यनाशेषु स्वाम्यादीनां दण्डविचारः १८०७-१०. प्राणिविशेषहिंसाभेदेन दण्डभेदाः १८१०-११. भार्यापुत्रदासशिष्यादीनां ताडने कृते दण्डविचारः १८१२.

स्त्रीसंग्रहणम्—

संग्रहणलक्षणानि १८५१-३. परस्त्रीसंभाषायां दोषविचारः १८५३-४. चारणदारादिस्त्रीभिः सह संभाषणे उपकारादौ च दोषविचारः १८५४-५. परदाराभिमर्शेषु दण्डः तत्प्रयोजनं च १८५५–६. वर्णभेदेन परदाराभिमर्शेषु दण्डविधिः, तत्र अब्राह्मणस्यैव शारीरदण्डः, ब्राह्मणस्य तु मौण्ड्यप्रवसनादिः १८५६-६५. भर्तारं

## परिशिष्टम्



## याज्ञवल्क्यः

## परिशिष्टम्



## बृहस्पतिः

काशदण्डपारुष्ये परीक्षाविधिः १८३२.

स्त्रीसंग्रहणम्—

संग्रहणप्रकाराः, तल्लक्षणानि च १८८४-५. वर्णभेदेन संग्रहणे दण्डविधिः १८८५-६. स्त्रीसंग्रहणे स्त्रीणां दण्डविधिः १८८६-७.

द्यूतसमाह्वयम्—

समाह्वयलक्षणम्; द्यूतस्य निषेधोऽभ्यनुज्ञानं च; द्यूते सभिकराजजयिभिः ग्राह्याः पणांशाः १९१३. द्यूतसमाह्वययोः मिथ्याचारिणां दण्डविधिः; द्यूते जयपराजयनिर्णयोपायः; अष्टादशपदोपसंहारः.

प्रकीर्णकम्—

प्रकीर्णकपदस्य लक्षणं तद्भेदाश्च १९४०-४१. देशादिधर्मपालनम् १९४१.

बालानाथधननिधिनष्टापहृतव्यवस्था

प्रनष्टास्वामिकधनव्यवस्था १९६१-२.

## परिशिष्टम्

दायभागः—

पुत्रमहिमा; गुणाधिक्ये भागाधिक्यम् १९८७.

## कात्यायनः

साहसम्—

साहसनिरुक्तिः १६४८. द्रव्यनाशादिप्रथममध्यमोत्तमसाहसानि तद्दण्डविधिश्च १६४९-५०. साहसकृदन्वेषणविधिः; आततायिनः; निमित्तविशेषे साहसानुज्ञा १६५०-५१.

स्तेयम्—

स्तेयसाहसयोर्लक्षणम्; प्रकाशतस्करदण्डाः; अप्रकाशतस्करदण्डाः १७६१-२. चौरान्वेषणम्; स्तेनातिदेशः; स्तेनालाभे हृतदानम् १७६२—३. स्तेयदोषप्रतिप्रसवः १७६३.

वाक्पारुष्यम्—

वाक्पारुष्यप्रकाराः; वाक्पारुष्यदोषाल्पत्वे अर्धो दण्डः; वाक्पारुष्यदोषतदपवादौ, तत्साधनं च १७९१-२.

दण्डपारुष्यम्—

सजातीयेषु दण्डपारुष्ये दण्डविधिः १८३२—३. दण्डपारुष्ये प्रतिलोमानुलोमनीचेषु दण्डविधिः; पीडिताय पीडापरिहारव्ययहृतभग्नादिदानविधिः १८३३-४. पशुपक्षिवनस्पतिषु दण्डपारुष्ये दण्डविधिः; अप्रकाशदण्डपारुष्ये परीक्षाविधिः १८३४.

स्त्रीसंग्रहणम्—

संग्रहणलक्षणानि १८८७-८. संग्रहणदोषप्रतिप्रसवः; स्त्रीपुरुषयोः संग्रहणे दण्डविधिः; स्वैरिणीगमनविचारः १८८८.

द्यूतसमाह्वयम्—

द्यूतस्य निषेधोऽभ्यनुज्ञानं च; द्यूते सभिकराजजयिभिः ग्राह्याः पणांशाः १९१४. अक्षद्यूते जयपराजयलक्षणम्; द्यूते जयपराजयनिर्णयोपायः १९१५.

प्रकीर्णकम्—

प्रकीर्णकपदस्य लक्षणं तद्भेदाश्च १९४१. नृपाश्रितो व्यवहारः—राजोपजीविनां राजक्रीडासक्तानां राज्ञ अप्रियवक्तुश्च दण्डः; देशादिधर्मपालनम् १९४२.

## परिशिष्टम्

वेतनानपाकर्म—

भाण्डवाहकधर्मः १९७५.

दायभागः—

विषमविभागहेतुः कर्मानुष्ठानतारतम्यम् १९८७.

## पितामहः

प्रकीर्णकम्—

देशधर्मपालनम् १९४२.

## व्यासः

साहसम्—

वधसाहसकर्तुर्दण्डः; मिथ्याभैषज्यापराधः १६५१.

स्तेयम—

स्तेनप्रकाराः १७६३-४. प्रकाशतस्करदण्डाः १७६४. अप्रकाशतस्करदण्डाः; चौरान्वेषणम्; स्तेनालाभे हृतदानम्; स्तेयदोषप्रतिप्रसवः १७६५.

वाक्पारुष्यम्—

पातकाभिशंसने दण्डाः १७९२.

दण्डपारुष्यम्—

दण्डपारुष्यलक्षणम् १८३४.

स्त्रीसंग्रहणम्—

संग्रहणलक्षणानि; स्त्रीसंग्रहणे दण्डविधिः; साधारणस्त्रीगमने दण्डविधिः १८८९-९०.

प्रकीर्णकम्—

नृपाश्रितो व्यवहारः— उत्कोचजीविराजपुरुषाणां

प्रकीर्णकम्—

नृपाश्रितो व्यवहारः—राज्ञां करः कल्पनीयः १९४३.

## परिशिष्टम्

दायभागः—

स्त्रीधनविभागः; अनेकपितृकाणां द्वैमातृकाणां च भागविधिः १९८८.

## लघुहारीतः

## परिशिष्टम्

वेतनानपाकर्म—

भाटकम् १९७५.

दायभागः—

अविभाज्यम्; पितृप्रसादलब्धमपि स्थावरं न भोक्तव्यम्; सर्वानुमत्या एव स्थावरद्विपदानां व्यवहारः १९८८.

## सुमन्तुः

साहसम्—

निमित्तविशेषे साहसानुज्ञा १६५३.

दण्डपारुष्यम्—

परस्परं पारुष्ये दण्डविधिः १८३५.

## कण्वः

स्तेयम्—

अप्रकाशतस्करदण्डः १७६६.

## पैठीनसिः

साहसम्—

घातकसहायादिसाहसिकदण्डविधिः १६५३.

## वृद्धमनुः

स्तेयम्—

अप्रकाशतस्करदण्डः; स्तेनालाभे हृतदानम् १७६६.

## वृद्धकात्यायनः

दण्डपारुष्यम्—

दण्डपारुष्ये स्वयं प्राणत्यागे न दण्डः १८३५.

## गालवः

साहसम्—

निमित्तविशेषे साहसानुज्ञा १६५४.

## जमदग्निः

वाक्पारुष्यम्—

असवर्णेषु वाक्पारुष्ये दण्डाः १७९२.

## विष्णुगुप्तः

## परिशिष्टम्

मानसंज्ञा:—

मानसंज्ञाः १९६८.

## परिशिष्टकारः

दण्डपारुष्यम्—

दण्डपारुष्यलक्षणम् १८३५.

## स्मृत्यन्तरम्

स्त्रीसंग्रहणम्—

वर्णभेदेन परस्त्रीगमने दण्डविधिः १८९१.

## परिशिष्टम्

दत्ताप्रदानिकम्—

दानाङ्गनियमः १९७३.

स्वामिपालविवादः—

सस्यनाशे दण्डः १९७६.

स्त्रीपुंधर्माः—

पतिप्रीणनं धर्मः; कन्याविक्रयनिन्दा १९७९.

साहसम्—

शूद्रस्य विप्रवद्वेषधारणे दण्डः; गर्भघातिनी तद्धन्तारश्च दण्ड्याः १९८९.

## अनिर्दिष्टकर्तृकवचनानि

प्रकीर्णकम्—

देशधर्मपालनम् १९४३.

## परिशिष्टम्

मानसंज्ञाः—

मानसंज्ञाः १९६७-८. पाञ्चरात्रवैखानसानुसारि निष्कप्रमाणम् १९६८.

दण्डमातृका—

दण्डप्रयोजनम्; दण्डाङ्गचिन्ता १९६९.

स्वामिपालविवादः—

सस्यनाशे दण्डः १९७६.

## अग्निपुराणम्



## परिशिष्टम्



## ब्रह्मपुराणम्



## स्कन्दपुराणम्

## परिशिष्टम्



## मत्स्यपुराणम्

संग्रहणे दण्डविधिः; कन्यादूषणे दण्डविधिः; पशुगमन-दण्डः १८९२.

## परिशिष्टम्

क्रयविक्रयानुशयः—

कन्याविषयानुशये दण्डविधिः १९७५.

## विष्णुपुराणम्

स्त्रीसंग्रहणम्—

पशुगमनायोनिगमननिषेधः १८९२.

## देवीपुराणम्

प्रकीर्णकम्—

नृपाश्रितो व्यवहारः—चतुर्वर्णाश्रमधर्मरक्षणार्थे चार-नियोजनम् १९४३.

## भविष्यपुराणम्

साहसम्—

निमित्तविशेषे साहसानुज्ञा १६५५.

## शुक्रनीतिः

स्तेयम्—

कूटपण्यविक्रेतृदण्डः, स्तेयप्रसङ्गेन शिल्पिनां विविध-भृतिविचारश्च १७६७.

## परिशिष्टम्

दायभागः—

स्थावरे न पितुः पितामहस्य वा प्रभुत्वम्; स्वत्वार्थागमयोर्विचारः; पितृकृतो विभागः; अपुत्रमृतरिक्थ-हराः क्रमेण; अविभाज्यम् १९८८.

## संग्रहकारः ( स्मृतिसंग्रहः )

साहसम्—

साहसनिरुक्तिः; निमित्तविशेषे साहसानुज्ञा १६५५.

## मानसोल्लासः

## परिशिष्टम्

दण्डमातृका—

अपराधकृत्सर्वो दण्ड्यः; क्लेशदण्डप्रकाराः; अर्थदण्ड-प्रकाराः; दण्डप्रयोजनम्; सप्तविंशतिः राज्यस्थैर्य-निमित्तानि १९७०.

# धर्मकोशः

## व्यवहारकाण्डम्

### *साहसम्

#### वेदाः

अपराधविशेषाः अपराधकारणानि च

[1]**न स स्वो दक्षो वरुण ध्रुतिः सा सुरा मन्युर्विभीदको अचित्तिः । अस्ति ज्यायान् कनीयस उपारे स्वप्नश्चनेदनृतस्य प्रयोता ॥**

हे वरुण स स्वो दक्षः पुरुषस्य स्वभूतं तद्बलं पापप्रवृत्तौ कारणं न भवति । किं तर्हि ध्रुतिः स्थिरोत्पत्तिसमय एव निर्मिता दैवगतिः कारणम् । ध्रु गतिस्थैर्ययोरिति धातुः । सा च ध्रुतिर्वक्ष्यमाणरूपा । सुरा प्रमादकारिणी मन्युः क्रोधश्च गुर्वादिविषयः सन्ननर्थहेतुः । विभीदको द्यूतसाधनोऽक्षः । स च द्यूतेषु पुरुषं प्रेरयन्ननर्थहेतुर्भवति । अचित्तिः अज्ञानं अविवेककारणम् । अत ईदृशी दैवक्लृप्तिरेव पुरुषस्य पापप्रवृत्तौ कारणम् । अपि च कनीयसोऽल्पस्य हीनस्य पुरुषस्य पापप्रवृत्तौ उपारे उपागते समीपे नियन्तृत्वेन स्थितो ज्यायानधिक ईश्वरोऽस्ति । स एव तं पापे प्रवर्तयति । तथा चाम्नातम् — 'एष ह्येवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते' (कौउ. ३।८) इति । एवं च सति स्वप्नश्चन स्वप्नोऽप्यनृतस्य पापस्य प्रयोता प्रकर्षेण मिश्रयिता भवति । इदिति पूरकः । स्वप्ने कृतैरपि कर्मभिर्बहूनि पापानि जायन्ते किमु वक्तव्यं जाग्रति कृतैः कर्मभिः पापान्युत्पद्यन्त इति । अतो ममापराधो दैवागत इति हे वरुण त्वया क्षन्तव्य इति भावः । **ऋसा.**

सप्तमर्यादाभङ्गापराधाः

[1]**सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरो गात् । आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीळे पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ ॥**

कवयो मेधाविन ऋषयः सप्त मर्यादाः । कामजेभ्यः क्रोधजेभ्यश्चोद्धृताः पानमक्षाः स्त्रियो मृगया दण्डः पारुष्यमन्यदूषणमिति सप्त मर्यादाः । यद्वा — 'स्तेयं गुरुतल्पारोहणं ब्रह्महत्यां भ्रूणहत्यां सुरापानं दुष्कृतकर्मणः पुनः पुनः सेवां पातकेऽनृतोद्यम्' इति (नि. ६।२७) निरुक्ते निर्दिष्टाः सप्त मर्यादाः । अवस्थितास्ततक्षुः । तक्षतिः करोतिकर्मा । सुष्ठु लङ्घनीयाश्चक्रुः त्यक्तवन्त इत्यर्थः । तासां मर्यादानामेकामिदेकामेवांहुरः पापवान् पुरुषोऽभिगात् अभिगच्छति । यस्त्वेवं करोति स पापवान् भवतीत्यर्थः । किञ्चायोस्तस्य मनुष्यस्य स्कम्भः स्कम्भयिता निरोधकोऽग्निरुपमस्य समीपभूतस्यायोर्नीळे स्थाने पथामादित्यरूपस्य स्वस्य रश्मीनां विसर्गे विसर्जनस्थानेऽन्तरिक्षमध्ये वर्तमानेषु धरुणेषूदकेषु तस्थौ विद्युदात्मना तिष्ठति । अनेन लोकत्रयवर्तित्वमिति । **ऋसा.**

कतिपयदोषाणां दोषत्वतारतम्यम्

[2]**तेऽतिमृजाना आयन् सूर्याभ्युदिते तेऽमृजत सूर्याभ्युदितः सूर्याभिनिम्रुक्ते सूर्याभिनिम्रुक्तः कुनखिनि कुनखी श्यावदति श्यावदन् परि-**

---

* गौतमापस्तम्बादिभिः चतुर्वर्णहत्यासु विविधो दण्डः प्रायश्चित्तप्रकरणे उक्तः, स प्रायश्चित्तरूपत्वात् नात्र संगृहीतः ।

(१) ऋसं. ७।८६।६; बृदे. १।५६.

(१) ऋसं. १०।५।६; असं. ५।१।६; नि. ६।२७; कौसू. ७६।२१, ७९।१.

(२) कासं. ३१।७; कसं. ४७।७.

वित्ते परिवित्तः परिविविदाने परिविविदानोऽग्रेदिधिषौ अग्रेदिधिषुर्दिधिषूपतौ दिधिषूपतिर्वीरहणि वीरहा ब्रह्महणि ब्रह्महा भ्रूणहनि भ्रूणहनमेनो नात्येति ।

[१]ते देवा अतिमृजाना आयन् सूर्याभ्युदिते तेऽमृजत यँ सुप्तँ सूर्योऽभ्युदेति सूर्याभ्युदितः सूर्याभिनिम्रुक्ते सूर्याभिनिम्रुक्तः श्यावदति श्यावदन् कुनखिनि कुनख्यग्रेदधुष्यग्रेदधुः परिवित्ते परिवित्तः परिविविदाने परिविविदानो वीरहणि वीरहा भ्रूणहनि भ्रूणहनमेनो नात्येति ।

[२]ते देवा आप्त्येष्वमृजत । आप्त्या अमृजत सूर्याभ्युदिते । सूर्याभ्युदितः सूर्याभिनिम्रुक्ते । सूर्याभिनिम्रुक्तः कुनखिनि । कुनखी श्यावदति । श्यावदन्नग्रदिधिषौ । अग्रदिधिषुः परिवित्ते । परिवित्तो वीरहणि । वीरहा ब्रह्महणि । तद्ब्रह्महणं नात्यच्यवत ।

आप्त्या एकतादयः । उदयास्तमयकालयोः सुप्तौ पुरुषावभ्युदिताभिनिम्रुक्तौ । तथा चोक्तम्—'सुप्ते यस्मिन्नस्तमेति सुप्ते यस्मिन्नुदेति च । अंशुमानभिनिम्रुक्ताभ्युदितौ तौ यथाक्रमम् ॥' इति । नखवक्रत्वं दन्तमालिन्यं चात्र रोगविशेषकृतम् । ज्येष्ठायामनूढायां कनिष्ठामूढ्वा अवस्थितोऽग्रदिधिषुः । ऊढवति कनिष्ठे सति विवाहरहितो ज्येष्ठः परिवित्तः । वीरस्य क्षत्रियस्य हन्ता वीरहा । ब्राह्मणस्य हन्ता ब्रह्महा । एतेष्वाप्त्यानामेकतादीनां देवानां पापलेपमार्जनायैव सृष्टत्वात्तेषु तन्मार्जनमुचितम् । सूर्याभ्युदितादीनां ब्रह्महान्तानां पापप्रवणत्वान्निम्नगामिनो जलस्येव लेपस्यापि तेषु प्रवाहो युक्तः । ब्रह्महत्यायाः पापाधिक्यतारतम्यविश्रान्तिभूमित्वाल्लेपो ब्रह्महणं नातिक्रामति ।

तैब्रासा. [ तैसा. ११।८।१ (पृ. ११३-४)]

कतिपयदोषाः

[३]चोरस्यान्नं नवश्राद्धं ब्रह्महा गुरुतल्पगः । गोस्तेयँ सुरापानं भ्रूणहत्या तिला शान्तिँ शमयन्तु स्वाहा ॥

चोरस्येति । हे परमात्मन् त्वदाज्ञया तिला एतन्मन्त्रोक्तानां पापानां शान्तिं विनाशं शमयन्तु कुर्वन्तु । तदर्थमिदं हविस्तुभ्यं स्वाहा । नवश्राद्धमेकोद्दिष्टाद्यन्नभोजनम् । भ्रूणो गर्भः शिशुर्वीरो वा । स्पष्टमन्यत् ।

तैआसा.

पञ्च महापातकानि

[१]तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा ।

अथैतयोः पथोर्न कतरेणचन तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयँ स्थानं तेनासौ लोको न संपूर्यते तस्माज्जुगुप्सेत तदेष श्लोकः ॥

स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबँश्च गुरोस्तल्पमावसन् ब्रह्महा च एते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्चाचरँस्तैरिति ॥

तत् तत्र तेष्वनुशयिनां ये इह लोके रमणीयं शोभनं चरणं शीलं येषां ते रमणीयचरणेनोपलक्षिताः शोभनोऽनुशयः पुण्यं कर्म येषां ते रमणीयचरणा उच्यन्ते । क्रौर्यानृतमायावर्जितानां हि शक्य उपलक्षयितुं शुभानुशयसद्भावः । तेनानुशयेन पुण्येन कर्मणा चन्द्रमण्डले भुक्तशेषेण अभ्याशो ह क्षिप्रमेव, यदिति क्रियाविशेषणं, ते रमणीयां क्रौर्यादिवर्जितां योनिमापद्येरन् प्राप्नुयुः ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा स्वकर्मानुरूपेण । अथ पुनर्ये तद्विपरीताः कपूयचरणोपलक्षितकर्माणः अशुभानुशया अभ्याशो ह यत्ते कपूयां यथाकर्म योनिमापद्येरन् कपूयामेव धर्मसंबन्धवर्जितां जुगुप्सितां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा स्वकर्मानुरूपेणैव ।

(१) मैसं. ४।१।७. (२) तैब्रा. ३।२।८।११,१२. (३) तैआ. १०।६४; मङ. १९।१; बौध. ३।६।५; विस्मृ. ४८।२१.

(१) छाउ. ५।१०.

ये तु रमणीयचरणा द्विजातयः, ते स्वकर्मस्था इष्टादिकारिणः, ते धूमादिगत्या गच्छन्त्यागच्छन्ति च पुनः पुनः, घटीयन्त्रवत्। विद्यां चेत्प्राप्नुयुः, तदा अर्चिरादिना गच्छन्ति; यदा तु न विद्यासेविनो नापि इष्टादिकर्म सेवन्ते, तदा अथैतयोः पथोः यथोक्तयोरर्चिर्धूमादिलक्षणयोः न कतरेण अन्यतरेण चनापि यन्ति। तानीमानि भूतानि क्षुद्राणि दंशमशककीटादीन्यसकृदावर्तीनि भवन्ति। अतः उभयमार्गपरिभ्रष्टा हि असकृज्जायन्ते म्रियन्ते च इत्यर्थः। तेषां जननमरणसंततेरनुकरणमिदमुच्यते। जायस्व म्रियस्व इति ईश्वरनिमित्तचेष्टा उच्यते। जननमरणलक्षणेनैव कालयापना भवति, न तु क्रियासु शोभनेषु भोगेषु वा कालोऽस्तीत्यर्थः। एतत् क्षुद्रजन्तुलक्षणं तृतीयं पूर्वोक्तौ पन्थानावपेक्ष्य स्थानं संसरतां, येनैवं दक्षिणमार्गगा अपि पुनरागच्छन्ति, अनधिकृतानां ज्ञानकर्मणोरगमनमेव दक्षिणेन पथेति, तेनासौ लोको न संपूर्यते। पञ्चमस्तु प्रश्नः पञ्चाग्निविद्यया व्याख्यातः। प्रथमो दक्षिणोत्तरमार्गाभ्यामपाकृतः। दक्षिणोत्तरयोः यथोर्व्यावर्तनापि — मृतानामग्नौ प्रक्षेपः समानः, ततो व्यावर्त्य अन्येऽर्चिरादिना यन्ति, अन्ये धूमादिना, पुनरुत्तरदक्षिणायने षण्मासान्प्राप्नुवन्तः संयुज्य पुनर्व्यावर्तन्ते, अन्ये संवत्सरमन्ये मासेभ्यः पितृलोकं —इति व्याख्याता। पुनरावृत्तिरपि क्षीणानुशयानां चन्द्रमण्डलादाकाशादिक्रमेण उक्ता। अमुष्य लोकस्यापूरणं स्वशब्देनैवोक्तं —तेनासौ लोको न संपूर्यत इति। यस्मादेवं कष्टा संसारगतिः, तस्माज्जुगुप्सेत। यस्माच्च जन्ममरणजनितवेदनानुभवकृतक्षणाः क्षुद्रजन्तवो ध्वान्ते च घोरे दुस्तरे प्रवेशिताः—सागर इव अगाधेऽप्लवे निराशाश्चोत्तरणं प्रति, तस्माच्चैवंविधां संसारगतिं जुगुप्सेत बीभत्सेत घृणी भवेत् — मा भूदेवंविधे संसारमहोदधौ घोरे पात इति। तदेतस्मिन्नर्थे एष श्लोकः पञ्चाग्निविद्यास्तुतये।

स्तेनो हिरण्यस्य ब्राह्मणसुवर्णस्य हर्ता, सुरां पिबन् ब्राह्मणः सन्, गुरोश्च तल्पं दारानावसन्, ब्रह्महा ब्राह्मणस्य हन्ता चेत्येते पतन्ति चत्वारः। पञ्चमश्च तैः सह आचरन्निति।

छाशाम्भा.

स ह प्रातः संजिहान उवाच —
—न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो
नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥[1]

स ह अन्येद्युः राजा प्रातः संजिहान उवाच विनयेन उपगम्य — एतद्धनं मत्त उपादध्वमिति। तैः प्रत्याख्यातो मयि दोषं पश्यन्ति नूनं, यतो न प्रतिगृह्णन्ति मत्तो धनं इति मन्वानः आत्मनः सद्वृत्ततां प्रतिपिपादयिषन्नाह — न मे मम जनपदे स्तेनः परस्वहर्ता विद्यते; न कदर्यः अदाता सति विभवे; न मद्यपः द्विजोत्तमः सन्; न अनाहिताग्निः शतगुः; न अविद्वान् अधिकारानुरूपं; न स्वैरी परदारेषु गन्ता; अत एव स्वैरिणी कुतः दुष्टचारिणी न संभवतीत्यर्थः।

छाशाम्भा.

*अभिशंसनम्— अभिशस्तिः

[2]यो न आगो अभ्येनो भरात्यधीदघमघशंसे दधात। जही चिकित्वो अभिशस्तिमेतामग्ने यो नो मर्चयति द्वयेन॥

यो मर्त्य आगोऽपराधमेनः पापं च नोऽस्मभ्यमभि भराति अभितः करोति। तस्मिन्नघशंसेऽघं पापमधि दधात ददात्वग्निः। इदिति पूरणः। आगोऽपराधं यो मह्यमिदं करोति तस्मा एवाग्निस्तत्करोत्वित्यर्थः। अथ प्रत्यक्षेणोच्यते। हे अग्ने एतामभिशस्तिं जहि। उत्तरत्र यच्छब्दश्रवणात्तदानुगुण्येनैनमभिशंसकमिति व्याख्येयम्। योऽभिशस्ता नोऽस्मान् द्वयेनोक्तेनागसा एनसा वा मर्चयति बाधते, तमिति।

ऋसा.

---

* अभिशस्ति, अभिशस्तिपावन्, अभिशस्तिपा, अभिशस्तिचातन इत्येतानि पदानि वेदेषु बहुस्थलेषु दृश्यन्ते, तत्र वीरहत्यादिहिंसारूपदोषारोपरूपाया अभिशस्तेः प्राप्तौ त्यागदण्डप्रायश्चित्तादेरंशस्य प्रकृतोपयोगिनः अदर्शनात् तेषां संग्रहोऽत्र न कृतः। परमेतदत्रावधार्यं अभिशस्तिपदं हिंसारूपमहादोषारोपरूपार्थे एवाभिधया वेदेषु बहुशः दृश्यते, अभिशस्तिभयात्तद्वारणार्थं देवताश्च प्राय्थ्यन्ते इत्यपि तत्रावगम्यते। अभिशस्तिः साहसारोप इत्यर्थोऽवसीयते।

(१) छाउ. ५।११.     (२) ऋसं. ५।३।७.

### अभिशस्तत्यागः

**वायव्यं गोमृगमालभेत यमजघ्निवाँ समभिशँसेयुरपूता वा एतं वागृच्छति यमजघ्निवाँ समभिशँसन्ति नैष ग्राम्यः पशुर्नाऽऽरण्यो यद्गोमृगो नेवैष ग्रामे नारण्ये यमजघ्निवाँ समभिशँसन्ति वायुर्वै देवानां पवित्रं वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति स एवैनं पवयति।**[1]

गोभिः सहारण्ये चरितुं गताद्वृषभात् कस्यांचिन्मृग्यामुत्पन्नो गोमृगः। उभयलक्षणदर्शनात्तथात्वं निश्चेयम्। कश्चित्पुरुषो ब्राह्मणं न हतवांस्तथापि शङ्कया तादृशं यं पुरुषं जना ब्रह्महेत्यपवदेयुस्तस्यायं पशुः। यद्यप्यस्य पुरुषस्य ब्रह्महत्याप्रयुक्तो नरको नास्ति तथाप्यपूता वागृच्छति एतं निन्दारूपा वाक् शङ्कितैर्जनैः क्रियमाणा प्राप्नोत्येव। तामेव निन्दां निमित्तीकृत्यैष विहितो गोमृगो मुख्यो ग्राम्यो न भवति मृग्यामुत्पन्नत्वात्। नापि मुख्य आरण्यो वृषभादुत्पन्नत्वात्। अभिशस्तस्य ग्रामे नास्ति वासो बन्धुभिः सह व्यवहाराभावात्, नापि वानप्रस्थादिवदरण्ये ग्रामवासित्वात्। देवानां मध्ये वायोः पवित्रत्वं द्रव्यशुद्धिहेतुत्वादवगम्यते। तच्च याज्ञवल्क्येन स्मर्यते — 'रथ्याकर्दमतोयानि स्पृष्टान्यन्त्यश्ववायसैः। मरुतार्केण शुध्यन्ति पक्वेष्टकचितानि च॥' इति (यास्मृ. १।१९७)। अनुष्ठितेऽप्यस्मिन् पशौ निन्दां केचिल्लौकिका न परित्यजन्तीति चेत्तर्हि निन्दन्तु नाम ते, तथाप्यसौ अभिज्ञैः शिष्टैर्व्यवहार्य एव। तैसा.

### अभिशस्तस्य आर्त्विज्यानधिकारः

**अथ हैतदेव गीर्णं यद्बिभ्यदार्त्विज्यं कारयत उत वा मा न बाधेतोत वा मे न यज्ञवेशसं कुर्यादिति तद्ध तत्पराङेव यथा गीर्णं न हैव तद्यजमानं भुनक्ति।**[2]

गीर्णमुदाहृत्य निषेधति — अथ हैतदेवेति। यजमानो यस्मिन् ग्रामे यजते तत्र कश्चिद् ब्राह्मणो ग्रामणीः प्रभुर्भूत्वा प्रयोगकौशलरहितोऽवतिष्ठते। तेनार्त्विज्यं वर्जयितुमयं यजमानो बिभेति। केनाभिप्रायेणेति, तदुच्यते। अयमत्र प्रभुर्मयि द्वेषं कृत्वा कालान्तरे मां बाधेत। अथवेदानीमेव यज्ञवेशसं यज्ञविघातं कुर्यात्। तदुभयं मा भूदित्यनेनाभिप्रायेण तस्माद्भीतिं प्राप्नुवन् आर्त्विज्यं तेन प्रभुणा कारयत इति यदस्ति तदेतद्गीर्णम्। यथा लोके गीर्णमुदरस्थं पुनर्भोगयोग्यं न भवति तथा तद्ध तास्मिन् यागे तद्भीतिमात्रप्रयुक्तमार्त्विज्यं पराङेव निकृष्टमेव। तत्तादृशं प्रयोगकौशलरहितेन प्रभुणा कृतमार्त्विज्यं यजमानं न पालयति। ऐब्रासा.

### स्तेयानृताभिशंसनयोरपराधत्वम्

**अनेनसंमेनसा सोऽभिशस्तादेनस्वतो वाऽपहरादेनः। एकातिथिमप सायं रुणद्धि बिसानि स्तेनो अप सो जहारेति*॥**

### अभिशस्तनिष्कृतिः अभिशस्तत्यागश्च

**एतामेवाभिशस्यमानाय कुर्यात् शमलं वा एतमृच्छति यमश्लीला वागृच्छति यैवैनमसावश्लीलं वाग्वदति तामस्य त्रिवृतौ निष्टपतस्तेजस्वी भवति य एतया स्तुते।**[1]

एतामेव सूर्याख्यां विष्टुतिं अभिशस्यमानाय परैर्निन्द्यमानाय यजमानायोद्गाता कुर्यात्, यं यजमानमश्लीला निन्दारूपा वाक् ऋच्छति प्राप्नोति, एनं यजमानं शमलं पापमेव ऋच्छति प्राप्नोति। यैव सा वाक् एनमश्लीलं अश्रीकरं निन्दारूपं वदति अस्य यजमानस्य अश्लीलवादिनीं वाचं अस्यां विष्टुतौ प्रयुज्यमानौ उभयतस्त्रिवृतौ निष्टपतो निर्दहतः अश्लीलवादिन्यो वाचो निर्दहो यजमानो निर्दोषो जायते इत्यर्थः। अन्योऽपि यो यजमान एतया स्तुते स्तावयति सोऽपि तेजस्वी भवतीति। तासा.

**अपघ्नन् पवते मृधोपसोमो अराव्ण इत्यनृतमभिशस्यमानाय प्रतिपदं कुर्यात्।**[2]

**अरावाणो वा एते येऽनृतमभिशँसन्ति तानेवास्मादपहन्ति।**

---

*सायणभाष्यं स्थलनिर्देशश्च दिव्यप्रकरणे (पृ. ४२९) द्रष्टव्यः।

(१) तैसं. २।१।१०।२,३. (२) ऐब्रा. ३।४६.

(१) ताब्रा. २।१७।४. (२) ताब्रा. ६।१०।६,७.

कथमनेन स्तोत्रेण यजमानस्याभिशंसनमपहतं भवतीत्यत्राह– अरावाणो वेति। अनृताभिशंसका एवारावाणो अरावतः अरान्नः अपघ्नन् पवते मृधोपसोम इति श्रूयमाणप्रतिपत्तित्वं प्रयुञ्जान उद्गाता अस्माद्यजमानात् तानेवारातीनेवापहन्ति। तासा.

[1]इन्द्रो यतीन् सालावृकेयेभ्यः प्रायच्छत्तमश्लीला वागभ्यवदत् स प्रजापतिमुपाधावत्तस्मा एतमुपहव्यं प्रायच्छत्तं विश्वे देवा उपाह्वयन्त यदुपाह्वयन्त तस्मादुपहव्यः।

अथोपहव्यशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयितुमाह– इन्द्रो यतीनिति। पूर्वमिन्द्रः यतीन् ज्योतिष्टोमाद्यकृत्वा प्रकारान्तरेण वर्तमानान् ब्राह्मणान् सालावृकेयेभ्य अरण्यश्वभ्यः प्रायच्छत्। तं ब्राह्मणहन्तारं इन्द्रं अश्लीला निन्दिता वाक् अभ्यवदत् सर्वे एनं निनिन्दुरित्यर्थः। स इन्द्रः तत्प्रमार्ष्टुं प्रजापतिमुपागच्छत्। तस्मै एतमुपहव्यं एकाहं प्रायच्छत्। स इन्द्रस्तमन्वतिष्ठदित्यर्थः। तेन विश्वे देवा एनमिन्द्रमुपाह्वयन्त, एहि निर्दुष्टस्त्वमसीत्यब्रुवन्। यस्मादनेनोपाह्वयन्त अत उपाह्वानसाधनत्वादस्योपहव्यमिति नाम। तासा.

[2]अभिशस्यमानं याजयेत्।

अथेन्द्रस्याभिशंसनपरिहारप्रसङ्गेनात्राधिकारिणमाह– अभिशस्यमानमिति। अभिशस्यमानं अन्यैर्दोषारोपणेन निन्द्यमानम्। तासा.

[3]देवता वा एतं परिवृञ्जन्ति यमनृतमभिशँसन्ति देवता एवास्यान्नमादयन्ति।

अभिशस्याय अयमुपहव्य उचित इत्याह – देवता वेति। यं यजमानं अनृतमाभिशंसन्ति जनाः एतं देवताः परिवृञ्जन्ति वर्जयन्ति न तस्य हविराददत इत्यर्थः। अत एतदनुष्ठानेन देवता एवास्यान्नमादयन्ति याजका एनं यजमानं देवतार्हहविष्कं कारयन्तीत्यर्थः। तासा.

[4]तस्य पूतस्य स्वदितस्य मनुष्या अन्नमदन्ति।

(१) ताब्रा. १८।१।९. (२) ताब्रा. १८।१।१०.
(३) ताब्रा. १८।१।११. (४) ताब्रा. १८।१।१२.

न केवलं देवार्ह एवासौ किन्तु मनुष्यैरपि संव्यवहार्य इत्यत आह–तस्येति। स्वदितस्य स्वशब्दितस्य अनिन्दित इति सर्वैर्व्यवहृतस्य अथवा भाव्यपेक्षायां निर्देशः, स्वर्गप्राप्तियोग्यस्येत्यर्थः। तासा.

वीरहत्या–वीरहत्या, तद्दण्डश्च [मनुष्यहत्या, तद्दण्डश्च]

[1]राकामहं सुहवां सुष्टुती हुवे शृणोतु नः सुभगा बोधतु त्मना। सीव्यत्वपः सूच्याच्छिद्यमानया ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यम्॥

संपूर्णचन्द्रा पौर्णमासी राका। तां देवीं सुहवां स्वाह्वानामाह्वानप्रयोजनकारिणीं सुष्टुती शोभनया स्तुत्याऽहं हुवे आह्वयामि। सा च सुभगा शोभनधना नोऽस्माकमाह्वानं शृणोतु। श्रुत्वा च त्मना आत्मना स्वयमेव बोधतु अस्मदभिप्रायं बुध्यताम्। बुद्ध्वा चापः कर्म पुत्रोत्पादनलक्षणं सूच्या सूचीस्थानीयया आच्छिद्यमानया अविच्छिन्नया अनुग्रहबुद्ध्या सीव्यतु संतनोतु। यथा वस्त्रादिकं सूच्या स्यूतं चिरं तिष्ठति एवमिदं करोतु। कृत्वा च वीरं विक्रान्तं शतदायं बहुधनं बहुप्रदं वा उक्थ्यं प्रशस्यं पुत्रं ददातु। ऋसा.

[2]उत घा नेमो अस्तुतः पुमाँ इति ब्रुवे पणिः। स वैरदेय इत्समः॥

उत घ अपि च। घेति पूरणः। नेमः। 'त्वो नेम इत्यर्धस्य' इति निरुक्तम् (नि. ३।२०)। नेमोऽर्धः। जायापत्योर्मिलित्वैककार्यकर्तृत्वादेक एव पदार्थः। 'अर्धं शरीरस्य भार्या' इत्यादिस्मृतेः। शशीयस्या अर्धभूतस्तरन्तः पुमानस्तुतः इति ब्रुवे। बहुधा स्तुतोऽपि गुणस्यातिबाहुल्यादस्तुत एवेति ब्रुवे पणिः स्तोताहम्। स च तरन्तो वैरदेये। वीरा धनानां प्रेरयितारो दानशीलाः। तैर्दातव्यं धनं देयम्। तस्मिन् धने समः सर्वेभ्यो दातेत्यर्थः। इदिति पूरणः। ऋसा.

(१) ऋसं. २।३२।४; तैसं. ३।३।११।५; कासं. १३।१६; मैसं. ४।१२।६, ४।१३।१०; असं. ७।४८।१; सामब्रा. १।५।३; आपगृ. ६।१४।३; नि. ११।३१; आपश्रौ. ११।०।७, ५।२०।६; शाश्रौ. ११।१५।४, ८।६।१०; वैसू. १।१६; आगृ. १।१४।३; शागृ. १।२२।१२; गोगृ. २।७।७; हिगृ. २।१।३; ऋविं. १।३०।३.
(२) ऋसं. ५।६१।८.

[1]वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्वासयते न वा एतस्य ब्राह्मणा ऋतायवः पुराऽन्नमक्षन् पङ्क्त्यो याज्यानुवाक्या भवन्ति पाङ्क्तो यज्ञः पाङ्क्तः पुरुषो देवानेव वीरं निरवदायाग्निं पुनरा धत्ते ।

देवानां मध्ये वीरोऽग्निः । तद्वधकारिणो यजमानस्यान्नमृतायवः सत्यमिच्छन्तो ब्राह्मणाः पुरा नैवाक्षन्नैव भुक्तवन्तः । 'अश भोजने' इत्यस्य रूपम् । 'अग्ने तमद्याश्वं न' इत्यादयश्चतस्र ऋचः पङ्क्तयः । तासु प्रधानहविषो द्वे स्विष्टकृतो द्वे । ताश्चाग्निकाण्डे —अग्निर्मूर्धेत्यनुवाक इष्टकोपधानार्थत्वेनाम्नाताः । इह तु वाचनिकस्तद्विधिः । शाखान्तरे तु याज्याप्रस्तावे समाम्नाताः । पुरुषस्य हस्तद्वयपादद्वयशिरोभिः पञ्चभिः पाङ्क्तत्वम् । देवानेव देवानामेव मध्ये वीरमग्निं निरवदायोत्सर्जनलक्षणवधभयान्निष्कृष्य । तैसा.

[2]वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्वासयते न वा एतस्य ब्राह्मणा ऋतायवः पुराऽन्नमक्षन्नाग्नेयमष्टाकपालं निर्वपेद्वैश्वानरं द्वादशकपालमग्निमुद्वासयिष्यन् ।

[3]वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुत्सादयते शतदायो वीरो यदेताश्शताक्षरा अक्षरपङ्क्तयो वीरमेवैतद्देवानामवदयतेऽन्यस्यै वै प्रमाया आधेयोऽन्यस्यै पुनराधेयो न वै तामाधेयेन स्पृणोति यस्यै पुनराधेयः पुनराधेयेन वाव ताँ स्पृणोति जरा वै देवहितमायुस्तावतीर्हि समा जीवति तस्मादाहुः शतदायो वीर इति यदेताः शताक्षरा अक्षरपङ्क्तयो भवन्ति यावदेव वीर्यं तदाप्नोति तत्स्पृणोत्यायुषा वा एष वीर्येण व्यृध्यते योऽग्निमुत्सादयते शतायुर्वै पुरुषः शतवीर्य आयुर्वीर्यं हिरण्यं यावद्धिरण्यं शतमानँ ददात्यायुरेव वीर्यं पुनरालभते ।

(१) तैसं. १।५।२।१. (२) तैसं. २।२।५।५.
(३) कासं. ९।१२; कसं. ८।५; मैसं. १।७।५.

[1]देवा वा असुरान् हत्वा वैरदेयादीषमाणास्ते दिशोऽमोहयन्नेन्न इदमन्योऽनु प्रजानादिति ।

[2]देवा वा असुरान् हत्वा वैरदेयादीषमाणास्त ऋतून् संवत्सरममोहयन् ।

[3]देवा वा असुरान् हत्वा वैरदेयादीषमाणास्ते यज्ञं मध्यतः प्राविशन्नेतां वाव तद्दृचं प्राविशन् विराजमेव यद्विराजा यजति देवतानामभीष्ट्या ।

[4]आदित्या वा असुरान् हत्वा वैरदेयादीषमाणास्ते देवान् प्राविशन् द्विदेवत्यान्वाव तत्प्राविशन्नेते हि देवानाँ सह भूयिष्ठाः ।

[5]नारकाय वीरहणम् ।

(१) नारकाय वीरहणं नष्टाग्निं शूरं वा । शुम.

(२) नरकस्वामिने वीरहणमग्न्युद्वासिनम् । 'वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्वासयते' इति हि ब्राह्मणम् । तैब्रासा. ३।४।१।१

[6]वैरहत्याय पिशुनम् ।

(१) वैरहत्याय पिशुनं परवृत्तसूचकम् । शुम.

(२) वैरहत्याय वीरहत्याभिमानिने, पिशुनं प्रभोः कर्णे परदोषसूचकम् । तैब्रासा. ३।४।७।१

[7]उग्रं वचो अपावधीं त्वेषं वचो अपावधीँ स्वाहेति । अशनयापिपासे ह वा उग्रं वचः । एनश्च वैरहत्यं च त्वेषं वचः । एतँ ह वाव तच्चतुर्धा विहितं पाप्मानं देवा अपजघ्निरे ।

(१) कासं. २३।८. (२) कासं. २८।२.
(३) कासं. २८।३. (४) कासं. २८।६.
(५) शुमा. ३०।५; तैब्रा. ३।४।१।१.
(६) शुमा. ३०।१३; तैब्रा. ३।४।७।१.
(७) तैब्रा. १।५।९।५; तैसं. १।२।११।२; कासं. २।८; मैसं. १।२।७; शुमा. ५।८; सासं. १।३५३; शब्रा. ३।४।४।२३,२४,२५. (तैत्तिरीयब्राह्मणं परित्यज्य अन्येषु ग्रन्थेषु केवलं 'उग्रं वचो अपावधीं त्वेषं वचो अपावधीं' इति मन्त्र एव समुपलभ्यते.)

क्षुत्पिपासे एवोग्रं वच उच्यते। क्षुधिताः स्मः पिपासिताः स्मो नास्माकमन्नपाने विद्येते, इत्येतद्वाक्यं घोरं कृपालवः श्रोतुं न सहन्ते। तदेतदुग्रत्वं यदेतद्वीवधादिरूपमुपपातकं, यच्च वीरहत्यादिरूपं महापातकं तदेतत्त्वेषं वच इत्यनेनाभिधीयते। त्वेषशब्देन दीप्तिवाचिना चित्तक्लेशरूपा ज्वालोपचर्यते। उपपातकं महापातकं च निष्पन्नमिति श्रुतवतश्चित्ते महान् क्लेशो भवति। क्षुत्पिपासे महापातकोपपातके इत्येवं फलरूपेण तत्साधनरूपेण चावस्थितं चतुर्विधं पाप्मानं देवा उपसद्धोमेन विनाशितवन्तः।

तैब्रासा.

**[1]अशनयापिपासे ह वा उग्रं वचः। एनश्च वैरहत्यं च त्वेषं वचः। एतमेव तच्चतुर्धा विहितं पाप्मानं यजमानो अपहते।**

**[2]इन्द्रश्च वै नमुचिश्चासुरः समदधातां न नौ नक्तं न दिवा हनन्नार्द्रेण न शुष्केणेति तस्य व्युष्टायामनुदित आदित्येऽपां फेनेन शिरोऽच्छिनदेतद्वै न नक्तं न दिवा यत् व्युष्टायामनुदित आदित्य एतन्नार्द्रं न शुष्कं यदपां फेनस्तदेनं पापीयं वाचं वदन्वर्तत वीरहन्न-द्रुहो द्रुह इति तं नर्चा न साम्नाऽपहन्तुमशक्नोत्।**

इन्द्रश्च नमुचिर्नामासुरश्च पुरा समदधातां संधानमकुर्वातां, नावावयोरन्यतरोऽपि नक्तं रात्रौ न हनत् न हन्तव्यः दिवा अहन्यपि मा हन्तु तथा आर्द्रेण च न हन्तु नापि शुष्केण च नीरसेन वज्रादिनेति। एतत् उक्तं भवति, इन्द्रः सर्वानसुरान् जित्वा सर्वेभ्योऽसुरेभ्योऽधिकं नमुच्याख्यमासुरं बलात् जग्राह। स चासुरः इन्द्रादधिकबलः सन् तमेव जग्राह, गृहीत्वा च त्वां विसृजामि, यदि त्वं मां अहोरात्रयोः आर्द्रेण शुष्केण न हन्यादिति एवमात्मकं संधायकं वाक्यमिन्द्रं प्रत्युक्तवानिति, तमिन्द्रः ऋचा तथा साम्ना गानविशिष्टेन मन्त्रेण अपहन्तुं विनाशयितुं नाशक्नोत्।

तासा.

**[3]वीरहा वा एष देवानां यः सोममभिषुणोति याः शतं वैरं तद्देवानवदयतेऽथ या दशदशप्राणाः प्राणाँस्ताभिस्स्पृणोति यैकादश्यात्मानं तया या द्वादशी सैव दक्षिणा।**

यो यजमानः सोममभिषुणोति एष देवानां मध्ये वीरहा वै वीरो वीर्यवान् यः सोमः तस्य हन्ता खलु, तस्मादस्य वीरहन्तृतालक्षणो दोषो जायत इत्यर्थः। तत्र याः शतं शतसंख्याभावः तत्तेन शतेन वैरं वीरहननलक्षणं पापं देवान् प्रत्यनवदयते निरस्यति। अथ शतादधिकात् दश या गावः ताभिः प्राणान् स्पृणोति प्रीणयति, 'दशसंख्या हि प्राणा नव वै पुरुषे प्राणाः नाभिर्दशमी'ति हि ब्राह्मणं, अथ या एकादशी गौः तयात्मानं स्पृणोति, अथ या द्वादशी द्वादशसंख्यापूरणी सैव यज्ञस्य दक्षिणा। तासा.

**[1]वीरहत्यां वा एते घ्नन्ति। ये ब्राह्मणास्त्रिसुपर्णं पठन्ति। ते सोमं प्राप्नुवन्ति। आसहस्रात्पङ्क्तिं पुनन्ति।**

वेदशास्त्रतदनुष्ठानपरो ब्राह्मणोऽभिषिक्तो राजा वा वीरः।

तैआसा.

ब्रह्महत्या—ब्रह्महत्या, तदपनोदश्च

**[2]विश्वरूपो वै त्वाष्ट्रः पुरोहितो देवानामासीत्स्वस्रीयोऽसुराणां तस्य त्रीणि शीर्षाण्यासन्त्सोमपानँ सुरापानमन्नादनँ स प्रत्यक्षं देवेभ्यो भागमवदत्परोक्षमसुरेभ्यः सर्वस्मै वै प्रत्यक्षं भागं वदन्ति यस्मा एव परोक्षं वदन्ति तस्य भाग उदितस्तस्मादिन्द्रोऽबिभेदीदृङ्वै राष्ट्रं वि पर्यावर्तयतीति तस्य वज्रमादाय शीर्षाण्यच्छिनद्यत्सोमपानमासीत्स कपिञ्जलोऽभवद्यत्सुरापानँ स कलविङ्को यदन्नादनँ स तित्तिरिः।**

विश्वानि बहुविधानि रूपाणि यस्यासौ विश्वरूपः। त्रिभिः शिरोभिः उपेतत्वाद्विश्वरूपत्वम्। यो विश्वरूपनामकः त्वष्टुः पुत्रः स देवानां पुरोहितो न तु शरीरसंबन्धी, असुराणां तु भागिनेयः। स च सात्त्विकेन शिरसा सोमं पिबति। राजसेन अन्नमत्ति। तामसेन सुरां पिबति। स च यज्ञमण्डपेषु गत्वा सर्वेषां श्रोत्रप्रत्यक्षं यथा भवति

(१) तैब्रा. १।५।९।६. (२) ताब्रा. १२।६।८.
(३) ताब्रा. १६।१।१२.

(१) तैआ. १०।५०।१. (२) तैसं. २।५।१।१.

तथा देवेभ्यो हविर्भागो युक्त इति वदति। सर्वेषां परोक्षं यथा भवति तथा रहस्य ऋत्विग्भिः सहायं हविर्भागोऽसुरेभ्यो युक्तोऽतस्तानेवोद्दिश्य प्रयच्छतेति स एवं वदति। तेषामृत्विजां तस्मिन्परोक्षवादे विश्वास उत्पन्नः। तस्य परोक्षवादस्य हृदयपूर्वकत्वात्। लोकेऽपि तवायं भाग इति सर्वस्मै पुरुषाय प्रीतिमुत्पादयितुं तत्समीपे सर्वे वदन्ति। हृदयपूर्वकत्वाभावान्न स उदितो भवति। परोक्षं यदर्थं तु भाग उच्यते तस्यैव भागो हृदयपूर्वकत्वादुदितो भवति। एवं वृत्तान्तं श्रुत्वा तस्माद्विश्वरूपादिन्द्रोऽबिभेत्। किमिति, ईदृक् स्वामिद्रोहं सर्वथा कृत्वा राष्ट्रं विपर्यावर्तयतीति। अस्मत्तोऽपनीयासुरेभ्यः समर्पणं विपर्यावृत्तिः। ततस्तस्य द्रोहिणः शिरस्सु छिन्नेषु तानि शिरांसि पक्षित्रयरूपेणोत्पन्नानि। तैसा.

**तस्याञ्जलिना ब्रह्महत्यामुपागृह्णात्ताꣳ संवत्सरमबिभस्तं भूतान्यभ्यक्रोशन्ब्रह्महन्निति।**

तस्येन्द्रस्य प्रत्यवायं जनापवादं च दर्शयति—तस्येति। तस्यासुरस्य वधेन निष्पन्ना या ब्रह्महत्या तामञ्जलिना स्वी चकार। पापिनां शिक्षायां ईश्वरेण नियुक्तानां यमचित्रगुप्तादीनां पुरतोऽञ्जलिं कृत्वा निर्भयः सन् ब्रह्महत्या मया बुद्धिपूर्वकमेव कृतेत्येवमङ्गी चकारेत्यर्थः। प्रायश्चित्तमकृत्वा संवत्सरं निरन्तरं ब्रह्महत्यामङ्गीकृत्यैव तस्थौ। आत्मतत्त्वज्ञानेन पापलेशाभावात् भीत्यभावस्तस्य युक्तः। अत एव कौषीतकिन इन्द्रवाक्यमेतदामनन्ति—'यन्मां हि विजानीयास्त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रमहन्नरुन्मुखान् यतीन्सालावृकेभ्यः प्रायच्छम्' इत्यादि। दुरिताभावेऽपि सर्वप्राणिनस्तमिन्द्रं ब्रह्महन्नित्येवं संबोध्य अभितस्तस्य आक्रोशं कृतवन्तः। तैसा.

**स[1] पृथिवीमुपासीदस्यै ब्रह्महत्यायै तृतीयं प्रति गृहाणेति साऽब्रवीद्वरं वृणै खातात्पराभविष्यन्ती मन्ये ततो मा परा भूवमिति पुरा ते संवत्सरादपि रोहादित्यब्रवीत्तस्मात्पुरा संवत्सरात् पृथिव्यै खातमपि रोहति वारेवृतꣳ ह्यस्यै तृतीयं ब्रह्महत्यायै प्रत्यगृह्णात्तत् स्वकृतमिरिणमभवत्तस्मादाहिताग्निः श्रद्धादेवः स्वकृत इरिणे नाव स्येद्ब्रह्महत्यायै ह्येष वर्णः।**

ततस्तस्य जनापवादस्य परिहाराय इन्द्रेणानुष्ठितं उपायविशेषं दर्शयति—स पृथिवीमिति। उपासीदद्पेत्य प्रार्थितवान्। खातात्पराभविष्यन्ती मन्ये, जनाः स्वेच्छया तत्र तत्र भूमिं खनन्ति तदुपद्रवात्पराभूता पीडिता भविष्यामीति मनसा चिन्तयामि। खातप्रदेशः संपूरणमन्तरेण पांसुप्रक्षेपणात्तृणाद्युत्पत्तेर्वाऽपि रोहात्पूरितो भूयादिति वरः। तदिदमस्यै वारेवृतमस्याः पृथिव्याः खातपूरणं वरेण लब्धम्। पृथिव्याः स्वीकृतः तृतीयो ब्रह्महत्याया भागः स्वकृतमिरिणमभवत्। इतस्तत आनीय प्रक्षिप्तं न भवतीति स्वतःसिद्धमूषरक्षेत्रमासीत्। यस्मादिरिणं ब्रह्महत्यायाः स्वरूपं तस्मादाहिताग्निः श्रद्धादेवः तस्मिन्निरिणे कदाचिदपि न तिष्ठेत्। यद्वा, देवयजनत्वेन नाध्यवस्येत्। श्रद्धैव देवो यस्यासौ श्रद्धावानित्यर्थः। तैसा.

**स[1] वनस्पतीनुपासीददस्यै ब्रह्महत्यायै तृतीयं प्रति गृह्णीतेति तेऽब्रुवन् वरं वृणामहै वृक्णात्पराभविष्यन्तो मन्यामहे ततो मा परा भूमेत्याव्रश्चनाद्वो भूयाꣳस उत्तिष्ठानित्यब्रवीत्तस्मादाव्रश्चनाद् वृक्षाणां भूयाꣳस उत्तिष्ठन्ति वारेवृतꣳ ह्येषां तृतीयं ब्रह्महत्यायै प्रत्यगृह्णन्त्स निर्यासोऽभवत्तस्मान्निर्यासस्य न आश्यं ब्रह्महत्यायै ह्येष वर्णोऽथो खलु य एव लोहितो यो वा आव्रश्चनान्निर्येषति तस्य न आश्यं काममन्यस्य इति।**

एकस्य ब्रह्महत्याभागस्य परिहारोपायमुक्त्वा अपरस्य तं दर्शयति—स इति। वृक्णात् छेदनात्। आव्रश्चनाच्छिन्नप्रदेशाद्भूयांसो बह्वङ्कुरा उत्तिष्ठन्त्विति वरः। वृक्षान्निर्गत्य घनीभूतो रसो निर्यासः। ब्रह्महत्यायाः स्वरूपत्वान्निर्यासस्य स्वरूपं न भोज्यं भवति। अपि च पक्षान्तरमस्ति, न सर्वोऽपि निर्यासो निषिद्धः किन्तु यो लोहितवर्णो यश्च छिन्नवृक्षप्रदेशान्निर्गतस्तदेवोभयं निषिद्धम्। अन्यस्य तु निर्यासस्य स्वरूपमाद्यं इच्छायां सत्यां अशितुं योग्यम्। तैसा.

(१) तैसं. २।५।१।१. (२) तैसं. २।५।१।१.

(१) तैसं. २।५।१।१.

स स्त्रीषꣳसादमुपासीद्दस्यै ब्रह्महत्यायै तृतीयं प्रति गृह्णीतेति ता अब्रुवन् वरं वृणामहा ऋत्वियात्प्रजां विन्दामहै काममा विजनितोः सं भवामेति तस्मादृत्वियात्स्त्रियः प्रजां विन्दन्ते काममा विजनितोः सं भवन्ति वारेवृतꣳ ह्यासां तृतीयं ब्रह्महत्यायै प्रत्यगृह्णन्त्सा मलवद्वासा अभवत्तस्मान्मलवद्वाससा न सं वदेत न सह आसीत नास्या अन्नमद्यात् ब्रह्महत्यायै ह्येषा वर्णं प्रतिमुच्य आस्तेऽथो खल्वाहुरभ्यञ्जनं वाव स्त्रिया अन्नमभ्यञ्जनमेव न प्रतिगृह्यं काममन्यदिति ।

त्रिषु ब्रह्महत्याभागेषु द्वयोः परिहारमुक्त्वा तृतीयस्यावशिष्टस्य परिहारं दर्शयति —— स इति । स्त्रियः सम्यक् सीदन्ति विश्रम्भेणोपविशन्ति यस्यां सभायामिति स्त्रीसभाविशेषः स्त्रीषंसादः । ऋत्वियादृतुसंबन्धाद्वीर्यात् प्रथमसंभोगादेव गर्भे जातेऽपि काममुद्दिश्य आ विजनितोरा प्रसवात्पुरुषेण संगच्छेमहि । गर्भोपद्रवः प्रत्यवायश्च निषिद्धादिनकृतोऽस्माकं मा भूदिति वरः । अत एव याज्ञवल्क्यस्मृतिः—— ‘ यथाकामी भवेद्वापि स्त्रीणां वरमनुस्मरन् ’ । इति । यो ब्रह्महत्यायाः तृतीयो भागः सा मलवद्वासा रजस्वला योषिदभवत् । यस्मादियं ब्रह्महत्याया रूपं शरीरे कञ्चुकवत् प्रतिमुच्य आस्ते तस्मात्तया सह संभाषणं न कुर्यात् । तया सहैकस्मिन् गृहे वासो न कर्तव्यः । तत्स्वामिकं तत्स्पृष्टं वाऽन्नं नाश्नीयात् । अपि च अभिज्ञाः केचिदेवमाहुः— स्त्रियाः शृङ्गारोपयोगित्वेनाभ्यञ्जनमेवान्नस्थानीयं , तदीयं तैलादिकमेव न गृह्णीयात् । तया वा स्वशरीराभ्यञ्जनं न कारयेत् । अन्यदन्नं सत्यामिच्छायां भोक्तव्यमिति । तैसा.

यां मलवद्वाससꣳ संभवन्ति यस्ततो जायते सोऽभिशस्तो, यामरण्ये तस्यै स्तेनो, यां पराचीं तस्यै ह्रीतमुख्यपगल्भो, या स्नाति तस्या अप्सु मारुको, या अभ्यङ्क्ते तस्यै दुश्चर्मा, या प्रलिखते तस्यै खलतिरपमारी, या आङ्क्ते तस्यै काणो, या दतो धावते तस्यै श्यावदन्, या नखानि निकृन्तते तस्यै कुनखी, या कृणत्ति तस्यै क्लीबो, या रज्जुं सृजति तस्या उद्बन्धुको, या पर्णेन पिबति तस्या उन्मादुको, या खर्वेण पिबति तस्यै खर्वः, तिस्रो रात्रीर्व्रतं चरेदञ्जलिना वा पिबेदखर्वेण वा पात्रेण प्रजायै गोपीथाय ।

प्रसङ्गाद्रजस्वलाव्रतानि विधत्ते — यामिति । अभिशस्तो मिथ्यापवादयुक्तः । यामरण्ये, मलवद्वाससꣳ संभवन्तीत्यनुवर्तते । पराचीमुच्चारणभीत्या लज्जया वा पराङ्मुखीम् । सभायामवाङ्मुखो वक्तुमशक्तो ह्रीतमुख्यपगल्भ इत्युच्यते । मारुको मरणशीलः । दुश्चर्मा कुष्ठी । प्रलिखते भित्तौ चित्रादिकं करोति । खलतिः केशशून्यः । अपमारी दुर्मरणयुक्तः । काणः कुण्ठिताक्षः । श्यावदन्मालिनदन्तः । कृणत्ति तृणादि छिनत्ति । उद्बन्धुको रज्जुं बद्ध्वा मरणशीलः । खर्वेण वह्निपक्केन शरावादिना । खर्वो वामनः । यस्मादुक्ता दोषा वर्तन्ते तस्मात्तत्परिहाराय रजस्वलाव्रतं संभवादिवर्जनरूपं नियममाचरेत् । भोजनेऽञ्जलिरदग्धशरावादिर्वा साधनमस्तु । व्रताचरणमुत्पत्स्यमानायाः प्रजाया रक्षणार्थं भवति । अत्र मीमांसा । तृतीयाध्यायस्य चतुर्थे पादे चिन्तितम् —— ‘न संवदेत मलवद्वाससेत्यपि पूर्ववत् । पुमर्थः स्यात्क्रतौ क्वापि संवादस्याप्रसक्तितः ॥’ दर्शपूर्णमासप्रकरणे श्रूयते —— ‘ मलवद्वाससा न संवदेत ’ इति । अस्य निषेधस्य प्रकरणात् क्रत्वङ्गत्वमिति चेन्न । अप्रसक्तप्रतिषेधप्रसङ्गात् । ‘ यस्य व्रत्येऽहन् पत्न्यनालम्भुका भवति । तामुपरुध्य यजेत । ’ इति रजस्वलाया निःसारणान्न क्रतौ संवादप्रसक्तिः । तस्मात्केवलपुरुषार्थस्यास्य प्रकरणादुत्कर्षः । तैसा.

सर्वस्य वा एषा प्रायश्चित्तिः सर्वस्य भेषजꣳ सर्वं वा एतेन पाप्मानं देवा अतरन्नपि वा एतेन ब्रह्महत्यामतरन् सर्वं पाप्मानं तरति तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते य उ चैनमेवं वेद ।

येयमश्वमेधानुष्ठितिः सैषा सर्वस्य पाप्मन उपघातक-

(१) तैसं. २।५।१।१. (२) तैसं. २।५।१।१.

(१) तैसं. ५।३।१२।१,२.

रूपस्य महापातकरूपस्य च प्रायश्चित्तिर्भवति। किं च सर्वस्य व्याधिजातस्य तद्धेतुपापक्षयद्वारेणाश्वमेधानुष्ठानं भेषजम्। अत एवेदानीन्तना देवाः पूर्वस्मिन् मनुष्यजन्मनि एतेनाश्वमेधेन गोवधादिरूपमुपपातकं ब्रह्महत्यादिरूपं महापातकं च परिहृतवन्तः। तस्मादिदानीमपि योऽश्वमेधक्रतुना यजते सोऽयमुपपातकमहापातके तरति। योऽपि च पुरुष एनमश्वमेधं शास्त्रोक्तप्रकारेण जानाति। ज्ञानं च द्विविधं अर्थनिर्णय उपासनं च। तत्रार्थनिर्णयः पदवाक्यप्रमाणपर्यालोचनया संपद्यते। उपासनाप्रकारस्तु सप्तमकाण्डस्यान्तिमानुवाके 'यो वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरो वेद' इत्यस्मिन्नभिधास्यते। तेसा.

[1]गर्भेणाविज्ञातेन ब्रह्महाऽवभृथमव यन्ति॥

[2]ब्रह्महत्यायै स्वाहा॥

[3]नैतां ते देवा अददुस्तुभ्यं नृपते अत्तवे।
मा ब्राह्मणस्य राजन्य गां जिघत्सो अनाद्याम्॥
अक्षद्रुग्धो राजन्यः पाप आत्मपराजितः।
स ब्राह्मणस्य गामद्यादद्य जीवानि मा श्वः॥
आविष्टिताघविषा पृदाकूरिव चर्मणा।
सा ब्राह्मणस्य राजन्य तृष्टैषा गौरनाद्या॥

निर्वै क्षत्रं नयति हन्ति वर्चोग्निरिवारब्धो वि दुनोति सर्वम्। यो ब्राह्मणं मन्यते अन्नमेव स विषस्य पिबति तैमातस्य॥

य एनं हन्ति मृदुं मन्यमानो देवपीयुर्धनकामो न चित्तात्। सं तस्येन्द्रो हृदयेऽग्निमिन्ध उभे एनं द्विष्टो नभसी चरन्तम्॥
न ब्राह्मणो हिंसितव्योऽग्निः प्रियतनोरिव।
सोमो ह्यस्य दायाद इन्द्रो अस्याभिशस्तिपाः॥
शतापाष्ठां नि गिरति तां न शक्नोति निःखिदन्।
अन्नं यो ब्रह्मणां मल्वः स्वाद्वद्मीति मन्यते॥

जिह्वा ज्या भवति कुल्मलं वाङ्नाडीका दन्तास्तपसाभिदिग्धाः। तेभिर्ब्रह्मा विध्यति देवपीयून् हृद्बलैर्धनुर्भिर्देवजूतैः॥

तीक्ष्णेषवो ब्राह्मणा हेतिमन्तो यामस्यन्ति शरव्यां न सा मृषा। अनुहाय तपसा मन्युना चोत दूरादव भिन्दन्त्येनम्॥
ये सहस्रमराजन्नासन् दशशता उत।
ते ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा वैतहव्याः पराभवन्॥
गौरेव तान् हन्यमाना वैतहव्याँ अवातिरत्।
ये केसरप्राबन्धायाश्चरमाजामपेचिरन्॥
एकशतं ता जनता या भूमिर्व्यधूनुत।
प्रजां हिंसित्वा ब्राह्मणीमसंभव्यं पराभवन्॥

देवपीयुश्चरति मर्त्येषु गरगीर्णो भवत्यस्थिभूयान्। यो ब्राह्मणं देवबन्धुं हिनस्ति न स पितृयाणमप्येति लोकम्॥
अग्निर्वै नः पदवायः सोमो दायाद उच्यते।
हन्ताभिशस्तेन्द्रस्तथा तद् वेधसो विदुः॥
इषुरिव दिग्धा नृपते पृदाकूरिव गोपते।
सा ब्राह्मणस्येषुर्घोरा तया विध्यति पीयतः॥
अतिमात्रमवर्धन्त नोदिव दिवमस्पृशन्।
भृगुं हिंसित्वा सृञ्जया वैतहव्याः पराभवन्॥
ये बृहत्सामानमाङ्गिरसमार्पयन् ब्राह्मणं जनाः।
पेत्वस्तेषामुभयादमविस्तोकान्यावयत्॥
ये ब्राह्मणं प्रत्यष्ठीवन् ये वास्मिञ्छुल्कमीषिरे।
अस्नस्ते मध्ये कुल्यायाः केशान् खादन्त आसते॥
ब्रह्मगवी पच्यमाना यावत् साभि विजङ्गहे।
तेजो राष्ट्रस्य निर्हन्ति न वीरो जायते वृषा॥
क्रूरमस्या आशसनं तृष्टं पिशितमस्यते।
क्षीरं यदस्याः पीयते तद्वै पितृषु किल्बिषम्॥
उग्रो राजा मन्यमानो ब्राह्मणं यो जिघत्सति।
परा तत् सिच्यते राष्ट्रं ब्राह्मणो यत्र जीयते॥
अष्टापदी चतुरक्षी चतुःश्रोत्रा चतुर्हनुः। द्व्यास्या द्विजिह्वा भूत्वा सा राष्ट्रमव धूनुते ब्रह्मज्यस्य॥
तद्वै राष्ट्रमा स्रवति नावं भिन्नामिवोदकम्।
ब्रह्माणं यत्र हिंसन्ति तद्राष्ट्रं हन्ति दुच्छुना॥
तं वृक्षा अप सेधन्ति छायां नो मोपगा इति।
यो ब्राह्मणस्य सद्धनमभि नारद मन्यते॥

---

(१) तेसं. ६।५।१०।३.

(२) शुमा. ३९।१३; तैसं. १।४।३५।१; शब्रा. १३।३।५।३; तैआ. ३।२०।१; माश्रौ. ९।२।५.

(३) असं. ५।१८,१९.

विषमेतद्देवकृतं राजा वरुणोऽब्रवीत् ।
न ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा राष्ट्रे जागार कश्चन ॥
नवैव ता नवतयो या भूमिर्व्यधूनुत ।
प्रजां हिंसित्वा ब्राह्मणीमसंभव्यं पराभवन् ॥
यां मृतायानुबध्नन्ति कूद्यं पदयोपनीम् ।
तद्वै ब्रह्मज्य ते देवा उपस्तरणमब्रुवन् ॥
अश्रूणि कृपमाणस्य यानि जीतस्य वावृतुः ।
तं वै ब्रह्मज्य ते देवा अपां भागमधारयन् ॥
येन मृतं स्नपयन्ती श्मश्रूणि येनोन्दते ।
तं वै ब्रह्मज्य ते देवा अपां भागमधारयन् ॥
न वर्षं मैत्रावरुणं ब्रह्मज्यमभि वर्षति ।
नास्मै समितिः कल्पते न मित्रं नयते वशम् ॥
[1]अपहतं ब्रह्मज्यस्य ।

ब्रह्मज्यस्य ब्राह्मणानां मन्त्राणां वा क्षपयितुर्दुरात्मनो राक्षसस्यापहतमपघातं विनाशं कृतवन्त इति शेषः ।

तैब्रासा.

[2]प्रजापतेरक्ष्यश्वयत् । तत्परापतत्ततोऽश्वः समभवद्यदश्वयत्तदश्वस्याश्वत्वं तद्देवा अश्वमेधेनैव प्रत्यदधुरेष ह वै प्रजापतिँ सर्वं करोति योऽश्वमेधेन यजते सर्व एव भवति सर्वस्य वा एषा प्रायश्चित्तिः सर्वस्य भेषजँ सर्वं वा एतेन पाप्मानं देवा अतरन्नपि वा एतेन ब्रह्महत्यामतरंस्तरति सर्वं पाप्मानं तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते ।

[3]ब्रह्महत्यायै स्वाहेति द्वितीयामाहुतिं जुहोति । अमृत्युर्ह वा अन्यो ब्रह्महत्यायै मृत्युरेष ह वै साक्षान्मृत्युर्यद्ब्रह्महत्या साक्षादेव मृत्युमपजयति । एताँ ह वै मुण्डिभ औदन्यः । ब्रह्महत्यायै प्रायश्चित्तिं विदां चकार यद्ब्रह्महत्याया आहुतिं जुहोति मृत्युमेवाहुत्या तर्पयित्वा परिपाणं कृत्वा ब्रह्मघ्ने भेषजं करोति तस्माद्यस्यैषाश्वमेध आहुतिर्हूयतेऽपि योऽस्यापरीषु प्रजायां ब्राह्मणँ हन्ति तस्मै भेषजं करोति ।

(१) तैब्रा. ३।७।९।२. (२) शब्रा. १३।३।१।१.
(३) शब्रा. १३।३।५।३,४.

[1]एतेन हेन्द्रोतो दैवापः शौनकः । जनमेजयं पारिक्षितं याजयां चकार तेनेष्ट्वा सर्वां पापकृत्याँ सर्वां ब्रह्महत्यामपजघान सर्वाँ ह वै पापकृत्याँ सर्वां ब्रह्महत्यामपहन्ति योऽश्वमेधेन यजते ।

[2]श्रेष्ठो ह वेदस्तपसोऽधिजातो ब्रह्मज्यानां क्षितये संबभूव ऋज्यद् भूतं यदसृज्यतेदं निवेशनमनृणं दूरमस्येति ।

[3]ब्रह्महत्यां वा एते घ्नन्ति । ये ब्राह्मणास्त्रिसुपर्णं पठन्ति । ते सोमं प्राप्नुवान्ति । आसहस्रात्पङ्क्तिं पुनन्ति ।

ये ब्राह्मणास्त्रिसुपर्णं पठन्ति त्रिसुपर्णमन्त्रं सर्वदा जपन्ति, एते पुरुषा ब्रह्महत्यां विनाशयन्ति । ततस्ते निष्पापाः सन्तः सोमयागं प्राप्नुवन्ति । ते यस्यां ब्राह्मणपङ्क्तौ भोजनार्थमुपविशन्ति तां पङ्क्तिं सहस्रब्राह्मणपर्यन्तां पुनन्ति शुद्धां कुर्वन्ति ।

तैआसा.

**भ्रूणहत्या, अन्ये च महादोषाः**

[4]येभिः पाशैः परिवित्तो विबद्धोऽङ्गेअङ्ग आर्पित उत्सितश्च । वि ते मुच्यन्तां विमुचो हि सन्ति भ्रूणघ्नि पूषन् दुरितानि मृक्ष्व ॥

येभिः यैः पापरूपैः पाशैः, परिवित्तः ज्येष्ठे अकृतदारपरिग्रहे पूर्वं गृहीतदारः पुरुषः, अङ्गेअङ्गे अवयवेऽवयवे, विबद्धः विविधं बद्धः, आर्पितः आर्तिं प्रापितः, [उत्थितः] उत्क्रान्तावस्थितिश्च भवति, ते तथाविधाः पाशा वि मुच्यन्तां विसृज्यन्ताम् । हि यस्माद्, विमुचः विमोक्तारो देवाः सन्ति विद्यन्ते । तस्माद् विमुच्यन्तां इति संबन्धः । हे पूषन् पोषक देव, भ्रूणघ्नि भ्रूणहनि । भ्रूणशब्दो गर्भवचनः । 'गर्भो भ्रूण इमौ समौ' इत्यभिधानात् । यद्वा 'कल्पप्रवचनाध्यायी भ्रूणः' इति बोधायनस्मरणात् कल्पप्रवचनसहितसाङ्गवेदाध्यायी भ्रूणः । तं हतवान् भ्रूणहा । तस्मिन् भ्रूणघ्नि दुरितानि परिवेदनोद्भवानि पापानि मृक्ष्व मार्जय । भ्रूणहा पूर्वमेव पापी तत्रैव पापायतने इदमपि पापं निवेशयेत्यर्थः ।

असा.

(१) शब्रा. १३।५।४।१. (२) गोब्रा. १।१।९.
(३) तैआ. १०।४८।१. (४) असं. ६।११२।३.

**[१]मरीचीर्धूमान् प्र विशानु पाप्मन्नुदारान् गच्छोत वा नीहारान्। नदीनां फेनाँ अनु तान् वि नश्य भ्रूणघ्नि पूषन् दुरितानि मृक्ष्व ॥**

हे पाप्मन् परिवेदनजनितपाप मरीचीः अग्निसूर्यादिप्रभाविशेषान् अनु प्र विश। परिवित्तं विसृज्य प्रगच्छेत्यर्थः। अथवा धूमान् अग्नेरुत्पन्नान् अनु प्र विश। यद्वा उदारान् ऊर्ध्वं गतान् मेघात्मना परिणतांस्तान् गच्छ प्रविश। उत वा अपि वा तज्जन्यान् नीहारान् अवश्यायान् गच्छ। तथा च तैत्तिरीये सृष्टिं प्रक्रम्य आम्नायते — 'तस्मात् तेपानाद् धूमोऽजायत। तद् भूयोऽतप्यत। तस्मात्तेपानान्मरीचयोऽजायन्त। तस्मात् तेपानाद् उदारा अजायन्त। तद् भूयोऽतप्यत। तद् अभ्रमिव समहन्यत' इति (तैब्रा. २।२।९।२)। हे पाप्मन् नदीनां सरितः तान् प्रसिद्धान् फेनान् फेनिलान् प्रवाहान् अनु वि विश्य अनुप्रविश्य विविधं गच्छ। असा.

**[२]रज्जुदालमग्निष्ठं मिनोति। भ्रूणहत्याया अपहत्यै। पौतुद्रवावभितो भवतः। पुण्यस्य गन्धस्यावरुद्ध्यै। भ्रूणहत्यामेवास्मादपहत्य। पुण्येन गन्धेनोभयतः परिगृह्णाति।**

योऽयं श्लेष्मातकवृक्षजन्यो यूपस्तमेनमग्निष्ठं मिनोत्यग्निसमीपे यथा स्थितो भवति तथा प्रक्षिपेत्। तत्प्रक्षेपेण भ्रूणहत्या गर्भादिवधदोषो विनाशितो भवति। देवदारुवृक्षस्य गन्धः सुरभिः। अतस्ताभ्यां यूपाभ्यां पुण्यगन्धप्राप्तिः। अग्निष्ठयूपप्रक्षेपेणास्माद्यजमानाद् भ्रूणहत्यादिदोषमपहत्य देवदारुयूपद्वयेन यजमानस्योभयतः सुरभिगन्धपरिग्रहो भवति। तैब्रासा.

**[३]भ्रूणहत्यायै स्वाहेत्यवभृथ आहुतिं जुहोति। भ्रूणहत्यामेवावयजते। तदाहुः। यद्भ्रूणहत्याऽपात्र्याऽथ। कस्माद्यज्ञेऽपि क्रियत इति। अमृत्युर्वा अन्यो भ्रूणहत्याया इत्याहुः। भ्रूणहत्या वाव मृत्युरिति। यद्भ्रूणहत्यायै स्वाहेत्यवभृथ आहुतिं जुहोति। मृत्युमेव आहुत्या तर्पयित्वा परिपाणं कृत्वा। भ्रूणघ्ने भेषजं करोति। एताँ ह वै मुण्डिभ औदन्यवः। भ्रूणहत्यायै प्रायश्चित्तिं विदांचकार। यो हास्यापि प्रजायां ब्राह्मणँ हन्ति। सर्वस्मै तस्मै भेषजं करोति।**

त्रिवेदिब्राह्मणः कल्पसहितः स्वशाखाध्यायी वा गर्भो वा भ्रूणः। तस्य हत्याभिमानिन्यै स्वाहुतमिदमस्तु। अनया आहुत्या दोषं विनाशयति। तत्र भ्रूणहत्याविषये चोद्यवादिन एवमाद्याहुः। यद्यस्मात्कारणाद्या भ्रूणहत्या सेयमपात्र्या पुरुषस्यापात्रीकरणमर्हति। कर्मानुष्ठानादिषु पात्रं योग्यं सन्तं पुरुषमयोग्यं करोति। अथैवं सति कस्मात्कारणादस्मिन्यज्ञमध्येऽपि तस्या भ्रूणहत्याया आहुतिः क्रियते। न त्वियं कर्तुं युक्ता, किं त्वधिकारसिद्धये कूष्माण्डादिहोमवत् कर्मादावेव आहुतिः कर्तव्येति चोद्यम्। अत्र शास्त्रार्थरहस्याभिज्ञा एवमाहुः — भ्रूणहत्याया इतरो यः पापविशेष एतामपेक्ष्य स सर्वोऽपि अमृत्युरेव पापान्तरेणेदृशबाधाभावात्। तस्मादतिबाधकत्वाद् भ्रूणहत्यैव मृत्युरिति तेषां वचनम्। एवं सति अवभृथाहुतिव्यतिरेकेण तस्य प्रतीकारो नास्ति। तस्मात् कर्ममध्येऽपि अवभृथे यद्येतामाहुतिं जुहुयात्तदानीं अनया आहुत्या मृत्युदेवतामेव तृप्तां कृत्वा यजमानं च परिपाणं सर्वतः पात्रं कृत्वा भ्रूणघ्ने भ्रूणहत्यारूपाय पाप्मने भेषजं शमनं करोति। उदकमात्मन इच्छतीत्युदन्युर्जलमात्राहारः कश्चित्तपस्वी मुनिस्तस्य पुत्र औदन्यवः। तस्य च मुण्डिभ इति नामधेयम्। स चाश्वमेधावभृथमन्तरेण केवलामप्येतामाहुतिं भ्रूणहत्यायाः प्रायश्चित्तं मन्यते। तिष्ठतु मुण्डिभो वयं त्वेवं मन्यामहे। अस्याश्वमेधयाजिनः प्रजायां पुत्रभृत्यादिरूपायामपि यः कश्चिद् ब्राह्मणं हन्ति तस्मै सर्वस्मै ब्रह्मवधदोषायेमामाहुतिं भेषजं करोति। किमु वक्तव्यमवभृथेऽनुष्ठीयमानेऽश्वमेधयाजिनो भ्रूणहत्यां नाशयतीति। तैब्रासा.

**[१]तद्वा अस्यैतत्। अतिच्छन्दोऽपहतपाप्माभयँ रूपमशोकान्तरमत्र पितापिता भवति मातामाता लोका अलोका देवा अदेवा वेदा अवेदा यज्ञा अयज्ञा अत्र स्तेनोऽस्तेनो भवति**

(१) असं. ६।११३।२. (२) तैब्रा. ३।८।२०।१.
(३) तैब्रा. ३।९।१५।२-३.

(१) शब्रा. १४।७।१।२२; बृउ. ४।३।२२.

भ्रूणहाभ्रूणहा पौल्कसोऽपौल्कसश्चाण्डालोऽचाण्डालः श्रमणोऽश्रमणस्तापसोऽतापसोऽनन्वागतः पुण्येनान्वागतः पापेन तीर्णो हि तदा सर्वाच्छोकान् हृदयस्य भवति ।

यदर्वाचीनमेनो भ्रूणहत्यायास्तस्मान्मोक्ष्यध्व इति । त एतैरजुहवुस्तेऽरेपसोऽभवन् ।

वेदत्रयविद्ब्राह्मणो भ्रूणः तदीयहत्याया अर्वाचीनं यत्पापं तस्मात्सर्वस्मान्मुक्ता भविष्यथेति । अरेपसः पापरहिताः । तैआसा.

कूश्माण्डैर्जुहुयाद्योऽपूत इव मन्येत । यथा स्तेनो यथा भ्रूणहैवमेष भवति योऽयोनौ रेतः सिञ्चति । यदर्वाचीनमेनो भ्रूणहत्यायास्तस्मात् मुच्यते ।

यः पुमान् संदिग्धेन पापेन स्वस्य पूतत्वं नास्तीति मनसि शङ्कते स पुमान् कूश्मा(ष्मा)ण्डहोमेन पूतो भवति । अयोनौ प्रतिषिद्धयोनौ यो रेतः सिञ्चति, एष सुवर्णस्तेयकारिणा भ्रूणहत्याकारिणा च समो भवति, सोऽपि कूष्माण्डैर्जुहुयात् । भ्रूणहत्यासमस्यापि मुख्यभ्रूणहत्याया अर्वाचीनत्वात्तेन होमेन निवृत्तिर्युज्यते । तैआसा.

अकार्यकार्यवकीर्णी स्तेनो भ्रूणहा
गुरुतल्पगः ।
वरुणोऽपामघमर्षणस्तस्मात्पापात्प्रमुच्यते ॥

अकार्यं शास्त्रप्रतिषिद्धं कलञ्जभक्षणादिकं तत्कर्तुं शीलं यस्यासावकार्यकारी,प्रतिषिद्धस्त्रीगमनवानवकीर्णी । ब्राह्मणसुवर्णहर्ता स्तेनः । वेदवेदाङ्गविद्ब्राह्मणो गर्भो वा भ्रूणस्तं हन्तीति भ्रूणहा । गुरुदारगामी तु गुरुतल्पगः । एतादृशपापकारिणमपि मामघमर्षणः पापविनाशकोऽपां स्वामी वरुणस्तस्मात्सर्वस्मात्पापात्प्रमुच्यते मोचयति । तैआसा.

भ्रूणहत्यां वा एते घ्नन्ति । ये ब्राह्मणास्त्रिसुपर्णं पठन्ति । ते सोमं प्राप्नुवन्ति । आसहस्रात्पङ्क्तिं पुनन्ति ।

ब्राह्मणगर्भस्य राजगर्भस्य वा वधो भ्रूणहत्या । तैआसा.

प्रतर्दनो ह वै दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम युद्धेन च पौरुषेण च तं हेन्द्र उवाच प्रतर्दन वरं वृणीष्वेति स होवाच प्रतर्दनस्त्वमेव वृणीष्व यं त्वं मनुष्याय हिततमं मन्यस इति तं हेन्द्र उवाच न वै वरोऽवरस्मै वृणीते त्वमेव वृणीष्वेत्यवरो वै किल म इति होवाच प्रतर्दनोऽथो खल्विन्द्रः सत्यादेव नेयाय सत्यं हीन्द्रस्तं हेन्द्र उवाच मामेव विजानीह्येतदेवाहं मनुष्याय हिततमं मन्ये यन्मां विजानीयात्त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रमहनमरुन्मुखान् यतीन् सालावृकेभ्यः प्रायच्छं बह्वीः संधा अतिक्रम्य दिवि प्रल्हादीनतृणमहमन्तरिक्षे पौलोमान्पृथिव्यां कालखञ्जांस्तस्य मे तत्र न लोम च नामीयते स यो मां वेद न ह वै तस्य केन च कर्मणा लोको मीयते न स्तेयेन न भ्रूणहत्यया न मातृवधेन न पितृवधेन नास्य पापं च न चकृषो मुखान्नीलं वेतीति ।

## निरुक्तम्

सप्तमर्यादाव्याख्यानम्

सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरो गात् । सप्त एव मर्यादाः कवयश्चक्रुः । तासामेकामपि अभिगच्छन् अंहस्वान् भवति । स्तेयं तल्पारोहणं ब्रह्महत्यां भ्रूणहत्यां सुरापानं दुष्कृतस्य कर्मणः पुनः पुनः सेवां पातकेऽनृतोद्यमिति ।

सप्त मर्यादाः सप्त स्थितीः कवयः मेधाविनः हिरण्यगर्भमनुप्रभृतयः ततक्षुः कृतवन्तः । नित्या एव हि ताः, तैस्तु तत्प्रख्यायिकानुस्मरणार्थं ग्रन्थसंदर्भोऽभिव्याञ्जतः, एतदेव करणमित्युपचर्यते । तासामेकामिदभ्यंहुरो गात् । इत् इत्यनर्थकः, अप्यर्थे वा । तासां मर्यादानां एकां अभिगच्छन् अभिक्रामन् अंहस्वान्

(१) तैआ. २।७।१. (२) तैआ. २।८।१.
(३) तैआ. १०।१।१५; मंड. ५।११.
(४) तैआ. १०।४९.

(१) शाआ. ५।१; कौउ. ३।१. (२) नि. ६।२७.

भवति। गात् इत्येतत् अभेः समीपमाकृष्य एकामप्यभिगच्छन् इति । कतमाः पुनस्ताः मर्यादाः ? इति । स्तेयं, तल्पारोहणं इत्येवमाद्याः। दुभा.

## * गौतमः

निमित्तविशेषे साहसानुज्ञा

**प्राणसंशये ब्राह्मणोऽपि शस्त्रमाददीत + ।**

(१) प्राणग्रहणेन पुत्रदारहिरण्यादेरपि ग्रहणं, 'प्राणा ह्येते बहिश्चराः' इति दर्शनात् । अपिशब्दाद्वैश्यशूद्रावपि । क्षत्रियस्यार्थसिद्धत्वात् रक्षणादौ प्रवृत्तेः । यद्वा क्षत्रियस्यापि । मभा.

(२) प्राणसंशये सति ब्राह्मणोऽपि रक्षार्थं शस्त्रमाददीत । 'तदलाभे क्षत्रवृत्तिरि' ति शस्त्रग्रहणे सिद्धे पुनरुपादानं ब्राह्मणवृत्तेः सतोऽप्यनिषेधार्थम् । अपिशब्दात् किं पुनर्वैश्यशूद्रौ । गौमि.

(३) ब्राह्मणग्रहणं वैश्यस्यापि प्रदर्शनार्थम् । स्मृच. ३१३

**दुर्बलहिंसायां चाविमोचने शक्तश्चेत् × ।**

यत्र दुर्बलस्य हिंसा विनाशो भवति तत्र तद्विमोचने विमोक्षणे शक्तश्चेत् तदविमोचने यावान् हन्तुर्दोषस्तावानस्यापि भवति । चशब्दात् क्षुद्व्याध्यादिपीडितस्यापि भक्तौषधाच्छादनाद्यदाने शक्तौ सत्यां तद्धनने यावान् दोषस्तावान् एवास्यापि भवति । ननु चाहारार्थं यः प्रमापयति तद्विच्छेदेऽपि दोषः प्राप्नोतीति । उच्यते, अतुल्यत्वादाहारप्राणविच्छेदयोः । आहारविच्छेदे मूलादिभिरपि क्षुन्निवृत्तिः शक्या कर्तुं, प्राणविच्छेदे तु न कश्चिदस्ति प्रतीकार इति । *मभा.

साहसिका महान्तोऽपि नानुसरणीयाः

**दृष्टो धर्मव्यतिक्रमः । साहसं च महताम् ।**

(१) इदानीं पूर्वपक्षीकरोति वेदविदां शीलं धर्ममूलं न भवति यतः — दृष्ट इति । धर्ममूलत्वं न प्राप्नोतीति शेषः । यथा प्रजापतिः स्वां दुहितरमभ्यध्यायत्, यथेन्द्रस्याहल्यागमनादि, यथा व्यासभीष्मादीनामनाश्रमावस्थानम् । किञ्च — साहसमिति । अत्रापि धर्ममूलत्वं न प्राप्नोतीति शेषः, चशब्दोपादानात् । सहश्शब्देन बलमुच्यते । यथा च नारदः— 'सहो बलमिहोच्यते' इति । तेन शास्त्रं लोकसंव्यवहारं चानवेक्ष्य यत् क्रियते तत् साहसम् । महतां लोकविख्यातानामित्यर्थः । यथा रामस्य ताटकादिस्त्रीवधः, जामदग्न्यस्य मातुः शिरश्छेदः, वसिष्ठस्य जलप्रवेश इत्यादि । तेन अयुक्तं शीलस्य धर्ममूलत्वमिति । कथं पुनर्धर्मव्यतिक्रमसाहसयोः भेदः ? विषयाभिलाषेण यदयुक्तमाचर्यते स धर्मव्यतिक्रमः, क्रोधाद्यभिभवेन यत् क्रियते तत् साहसम् । मभा.

(२) यदि शीलं प्रमाणं, अतिप्रसङ्गः स्यात् । कथं ? कतकभरद्वाजौ व्यत्यस्य भार्ये जग्मतुः । वसिष्ठः चण्डालीमक्षमालाम् । प्रजापतिः स्वां दुहितरम् । रामेण पितृवचनादविचारेण मातुः शिरश्छिन्नमित्यादिसाहसमपि प्रमाणं स्यान्नेत्याह— दृष्ट इति । महतामेतादृशं साहसमपि धर्मव्यतिक्रम एव दृष्टो, न तु धर्मः । रागद्वेषनिबन्धनत्वात् । गौमि.

**न तु दृष्टार्थेऽवरदौर्बल्यात् ।**

(१) अत्रोत्तरमाह—न त्विति । तुशब्दः पक्षनिवृ-

---

*निबन्धकृद्भिः गौतम - आपस्तम्ब - बौधायन - वसिष्ठ - वचनानि अन्यप्रकरणगतानि साहसप्रकरणे समुद्धृतानि । तानि न साक्षात्साहसानुगतानि । यानि तु सूत्राणि स्तेयवाग्दण्डपारुष्यस्त्रीसंग्रहणविषयाणि साहसप्रतिपादकानि तानि तत्तत्पदेषु द्रष्टव्यानि ।

+ इदं वचनं आपद्वृत्तिप्रकरणगतमाततायिप्रतीकाराभ्यनुज्ञानार्थं अत्रोद्धृतं निबन्धकृद्भिः ।

× गौतमधर्मसूत्रे इदं वाक्यं प्रायश्चित्तप्रकरणे पठितम् । मेधा. व्याख्यानं 'आत्मनश्च परित्राणे' इति मनुवचने द्रष्टव्यम् ।

(१) गौध. ७।२५; मभा.; गौमि. ७।२५; स्मृच. ३१३; रत्न. १२७; विता. ७५६; समु. १४७.

(२) गौध. २१।१९; मेधा. ८।३४८ चा (च); मभा.; गौमि. २१।१९; स्मृच. ३१३ (चा०); रत्न. १२७ मेधावत्; विता. ७५६ मेधावत्; समु. १४७ स्मृचवत्.

* गौमि. मभावत् ।

(१) गौध. १।३-४; मभा.; गौमि. १।३.

(२) गौध. १।५; मभा.; गौमि. १।४ 'अवरदौर्बल्यात्' एतावदेव.

स्यर्थः । दृष्टार्थो दृष्टप्रयोजनः तस्मिन् दृष्टप्रयोजने शीलं धर्ममूलं न भवति। तथा च वसिष्ठः—'अगृह्यमाणकारणो धर्मः' इति । नैतद्द्विवचनं, दृष्टार्थे धर्मव्यतिक्रमसाहसे इति। तस्मिन् गृह्यमाणे 'ईदूदेत्' इत्यादिना प्रगृह्यसंज्ञायां सत्यां 'दृष्टार्थे अवरदौर्बल्यात्' इति पाठः प्राप्नोति । अवरदौर्बल्यात्, न वरः अवरो निकृष्टः द्वेषाद्यभिभूतः अपरमार्थज्ञान इत्यर्थः, तस्य दौर्बल्यात् धर्माधर्मपरिज्ञानाशक्तेरित्यर्थः । एतच्चानेन ज्ञापितं भवति— महतामपि तद्विदां कदाचिदभिभवोऽस्तीति, शरीरवतः प्रियाप्रिययोरवश्यंभावित्वात् । तस्माद्यावदेतेषां रागादिदोषेणाभिभवः, तावत्तेषां आचारोऽपि न ग्राह्यः। तथा च वसिष्ठः — 'शिष्टः पुनरकामात्मा' इति । अथवा—अवरशब्देनेदानीन्तनाः कलियुगपुरुषा उच्यन्ते, तेषां दौर्बल्यात् असामर्थ्यात् । मभा.

(२) न च तेषामेवंविधं दृष्टमित्येतावताऽस्मदादीनामपि प्रसङ्गः । कुतः — अवरेति । अवरेषामस्मदादीनां दुर्बलत्वात् । तथा च श्रूयते— 'तेषां तेजोविशेषेण प्रत्यवायो न विद्यते । तदन्वीक्ष्य प्रयुञ्जानः सीदत्यवरको जनः ॥' इति । गौमि.

स्वधर्मातिक्रमसाहसदण्डः

**[1]शिष्टाकरणे प्रतिषिद्धसेवायां च नित्यं चेलपिण्डादूर्ध्वं स्वहरणम् ।**

(१) नित्यं शिष्टाकरणे नित्यं विहितस्याननुष्ठाने, न सकृत्, प्रतिषिद्धस्याभक्ष्यभक्षणादेरासेवने, न प्रमादात्, चेलपिण्डाद्भक्ताच्छादनमात्राद्यदन्यत्तस्यापहारः कर्तव्यः । भक्ताच्छादनं तु यावदन्यस्य द्रव्यस्यागमनकालस्तावदस्य मोक्तव्यम् । ततोऽपि यद्यतिक्रामति पुनरस्य स्वमपहर्तव्यमेवेति । एवंकृते दण्डभयात् स्वकर्मण्येव प्रवर्तत इति । चकारात्प्रायश्चित्तं च कारयितव्यम् । मभा.

(२) शिष्टं विहितम् । नित्यं शिष्टस्याकरणे नित्यं च प्रतिषिद्धसेवायां, चैलपिण्डादूर्ध्वं चैलमाच्छादनं पिण्डो ग्रासस्ताभ्यामूर्ध्वं यावता तयोर्निवृत्तिस्ततोऽधिकं यत्स्वं तस्य हरणं कार्यम्। आच्छादनासनार्थं यत्किञ्चित्परिहाप्यावशिष्टमस्य स्वं हर्तव्यमित्येवमतो निवृत्तः। गौमि.

(१) गौध. १२।२४; मभा.; गौमि. १२।२४.

## आपस्तम्बः

ब्राह्मणस्य शस्त्रग्रहणनिषेधप्रतिप्रसवौ । निमित्तविशेषे साहसानुज्ञा ।

**[1]परीक्षार्थोऽपि ब्राह्मण आयुधं नाऽऽददीत ❀।**

गुणदोषज्ञानं परीक्षा । तया अर्थः प्रयोजनं यस्य सः । एवंभूतोऽपि ब्राह्मण आयुधं न गृह्णीयात् किं पुनः हिंसार्थ इत्यपिशब्दार्थः । उ.

**[2]यो हिंसार्थमभिक्रान्तं हन्ति मन्युरेव मन्युं स्पृशति न तस्मिन् दोष इति पुराणे ।**

अस्य (पूर्वसूत्रस्य) प्रतिप्रसवः— यो हिंसार्थमिति। यस्तु हिंसार्थं मारणार्थमभिक्रान्तमभिपतितं हन्ति न तस्मिन् दोषो विद्यत इति पुराणे श्रुतम् । दोषाभावे हेतुः—यस्मान्मन्युरेव मन्युं स्पृशति न पुनः पुरुषः पुरुषम् । उ.

साहसिका महान्तोऽपि नानुसरणीयाः

**[3]दृष्टो धर्मव्यतिक्रमः साहसं च पूर्वेषाम् ।**

यदि पूर्ववत्यादिषु मैथुने दोषः, कथं तर्हि उतथ्यभारद्वाजौ व्यत्यस्य भार्ये जग्मतुः, वसिष्ठश्चण्डालीमक्षमालां, प्रजापतिश्च स्वां दुहितरम् । तत्राह— दृष्ट इति । सत्यं, दृष्टोऽयमाचारः पूर्वेषाम् । स तु धर्मव्यतिक्रमः, न धर्मः, गृह्यमाणकारणत्वात् । न चैतावदेव, साहसं च पूर्वेषां दृष्टम् । यथा जामदग्न्येन रामेण पितृवचनादविचारेण मातुः शिरश्छिन्नम् । उ.

**[4]तेषां तेजोविशेषेण प्रत्यवायो न विद्यते ।**

किमिदानीं तेषामपि दोषः? नेत्याह—तेषामिति ।

❀ मेधा., स्मृच. व्याख्यानं 'शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं' इति मनुवचने द्रष्टव्यम् ।

(१) आध. १।२९।६; हिध. १।२७; मेधा. ८।३४८ (न ब्राह्मणः परीक्षार्थमपि शस्त्रमाददीत); मिता. २।२८६ (=) (ब्राह्मणः परीक्षार्थमपि शस्त्रं नाददीत); स्मृच. ३१३; पमा. ४६६ (=) मितावत्; रत्न. १२७ थोंऽपि (र्थमपि); दवि. ८ (ब्राह्मणः परीक्षार्थमपि न शस्त्रमुपाददीत) बौधायनः; व्यप्र. ४०० (=) मितावत्; व्यउ. १३३ रत्नवत्; विता. ७५६ रत्नवत्; समु. १४७.

(२) आध. १।२९।७; हिध. १।२७.

(३) आध. २।१३।७. (४) आध. २।१३।८.

तादृशं हि तेषां तेजः यदेवंविधैरपि पाप्मभिर्न प्रत्यवयन्ति। 'तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हाऽस्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते' इति श्रुतेः (छाउ. ५।२४)। उ.

तदन्वीक्ष्य प्रयुञ्जानः सीदत्यवरः।

न चैतावताऽर्वाचीनानामपि तथा प्रसङ्ग इत्याह—तदन्वीक्ष्येति। तदिति 'नपुंसकमनपुंसकेन' इत्येकशेष एकवद्भावश्च। तं व्यतिक्रमं तच्च साहसमन्वीक्ष्य दृष्ट्वा स्वयमपि तथा प्रयुञ्जानोऽवर इदानीन्तनः सीदति प्रत्यवैति। न ह्यग्निः सर्वं दहतीत्यस्माकमपि तथा शक्तिरिति। उ.

महासाहसिकशूद्रादिदण्डः, ब्राह्मणे विशेषश्च

❀पुरुषवधे स्तेये भूम्यादान इति स्वान्यादाय वध्यः।

चक्षुर्निरोधस्त्वेतेषु ब्राह्मणस्य।

नियमातिक्रमिणमन्यं वा रहसि बन्धयेत्।

आसमापत्तेः।

असमापत्तौ नाश्यः।

आचार्य ऋत्विक् स्नातको राजेति त्राणं स्युरन्यत्र वध्यात्।

## बौधायनः

वधसाहसं तद्दण्डश्च

अवध्यो वै ब्राह्मणः सर्वापराधेषु। ब्राह्मणस्य ब्रह्महत्यागुरुतल्पगमनसुवर्णस्तेयसुरापानेषु कुसिन्धभगसृगालसुराध्वजांस्तप्तेनायसा ललाटेऽङ्कयित्वा विषयान्निर्धमनम् ×।

+ [2]क्षत्रियादीनां ब्राह्मणवधे वधः सर्वस्वहरणं च।

[1]तेषामेव तुल्यापकृष्टवधे यथाबलमनुरूपान् दण्डान् प्रकल्पयेत्।

क्षत्रियवधे गोसहस्रमृषभैकाधिकं राज्ञ उत्सृजेद्वैरनिर्यातनार्थम्।

शतं वैश्ये दश शूद्र ऋषभश्चात्राधिकः।

[3]शूद्रवधेन स्त्रीवधो गोवधश्च व्याख्यातोऽन्यत्राऽऽत्रेय्या वधात्।

धेन्वनडुहोश्च वधे धेन्वनडुहोरन्ते चान्द्रायणं चरेत्।

आत्रेय्या वधः क्षत्रियवधेन व्याख्यातः।

हंसभासबर्हिणचक्रवाकप्रचलाककाकोलूककण्टकडिड्डिकमण्डूकडेरिकाश्वबभ्रुनकुलादीनां वधे शूद्रवत्।

---

❀ एषां सूत्राणां व्याख्यासंग्रहः स्थलादिनिर्देशश्च स्तेयप्रकरणे द्रष्टव्यः।

× व्याख्यानं स्थलादिनिर्देशश्च दण्डमातृकायां (पृ. ५७०) द्रष्टव्यः।

+ इमानि वचनानि वस्तुतो दण्डपारुष्यसंबन्धीन्यपि निबन्धकारानुसारेणात्र संगृहीतानि।

(१) आध. २।१३।९.

(२) बौध. १।१०।२०; अप. २।२७७; व्यक. १२२; स्मृच. ३१२, ३२५; विर. ३७२; पमा. ४५४; रत्न. १२६; विचि. १६४; दवि. ७०; सवि. ४७४; व्यप्र. ३९४ णवधे (णस्य च) (च०); व्यउ. १३३ णवधे (णस्य वधे); विता. ७५१ दीनां (णां) शेषं व्यउवत्; समु. १४६.

(१) बौध. १।१०।२१; अप. २।२७७ पकृ (वकृ) (यथा ... ल्पयेत्०); व्यक. १२२ पकृ (वकृ) पान् (पं) ण्डान् (ण्डं); स्मृच. ३१२ मेव + (तु) पान् (पं) ण्डान् (ण्डं) : ३२५ मेव + (तु) तुल्याप (बला) पान् (पं) ण्डान् (ण्डं); विर. ३७२ पकृ (वकृ) पान् (पं च) ण्डान् (ण्डं) (प्र०); पमा. ४५४ पान् (पं) ण्डान् (ण्डं); रत्न. १२६ प्रकल्प (च कल्प) शेषं व्यकवत्; विचि. १६४ पान् दण्डान् (पं च दण्डं); दवि. ७० प्रक (क) शेषं विचिवत्; व्यप्र. ३९४ पान् दण्डान् प्र (पं दण्डं च); व्यउ. १३३ व्यप्रवत्; विता. ७५१ मेव+(च) यथा ... प्र (अनुरूपं दण्डं); समु. १४६ पमावत्.

(२) बौध. १।१०।२२-४; अप. २।२७७ क्षत्रिय ... काधिकं (गोसहस्रमृषभाधिकं) शतं (शतशतं) द्र ऋ (द्रे वृ); व्यक. १२२ ऋषभैका (वृषा) द्र ऋ (द्रे वृ); स्मृच. ३२५ भैका (भा); विर. ३७२ भैका (भा) द्र ऋ (द्रे वृ) श्चात्रा (श्चा); विचि. १६४-५ ऋषभैका (वृषभा) द्वैर (द्वैरि) द्र ऋ (द्रे वृ) श्चात्रा (श्चा); दवि. ७० (ऋषभैकाधिकं०) द्र ऋ (द्रे वृ); समु. १४६ स्मृचवत्.

(३) बौध. १।१०।२५-८; अप. २।२७७ ख्यातोऽ ख्यातौ। अ) (वधात् ... श्च वधे०) डुहोरन्ते (डुहोश्चान्ते) प्रचलाक (बलाका) कण्टक ... काश्व (नकुलमण्डूकहिण्डिकाभेरीकश्व); व्यक. १२२-३; स्मृच. ३२५ (अन्यत्रा ... शूद्रवत्०); विर. ३७२ स्त्रीवधो गो (गोवधः स्त्री) (वधात् ... श्च वधे०) प्रचलाक (बलाका) कण्टक ... ... वधे (मूषिकभेकतैलीकबभ्रुनकुलादीनां वधः); विचि. १६५ (वधात् ... श्च वधे०) रन्ते (श्चान्ते) ख्यातः + (अतो) बर्हिण(बर्हि) प्रचलाक (बलाका) कण्टक ... ... काश्व (मण्डूकनकुलभेरीक) वधे (वधः); व्यनि. ५१९ (शूद्र ... ... व्याख्यातः०) प्रचला (बला) कण्टक ... दीनां (मण्डूकश्वनकुलडैरिकबभ्रुकोकिलादीनां); दवि. ७०-७१ (वधात् ... श्च वधे०) प्रचलाक (बलाका)

(१) यत्तु बृहस्पतिनोक्तम्—'प्रकाशवधकाराश्च तथा चोपांशुघातकाः। ज्ञात्वा सम्यक् धनं हृत्वा हन्तव्या विविधैर्वधैः॥' इति, तत् ब्रह्मक्षत्रियादिविषयम्। यदाह बौधायनः—क्षत्रियादीनामित्यादि। स्मृच. ३१२

(२) क्षत्रियादीनामिति। सर्वत्र निकृष्टजातीयेनोत्कृष्टजातीयवधे वधः सर्वस्वहरणं च दण्डो द्रष्टव्यः। तेषामेवेति। तुल्यापकृष्टता चात्र जातितोऽभिजनधनवर्तनादिभिः। यथाबलं यथास्वशक्ति। तथा स्मृत्यन्तरम्—'देशकालवयश्शक्तिबलं संचिन्त्य कर्माणि। तथाऽपराधं वाऽवेक्ष्य दण्डं दण्ड्येषु पातयेत्॥' इति। क्षत्रियवध इति। दण्डः प्रायश्चित्तं चैतत्। यथा 'श्वभिः खादयेद्राजा निहीनवर्णगमने स्त्रियं प्रकाशम्' इति। राज्ञे पालयित्रे त्यजेत्। एवं च वैरनिर्यातनमपि कृतं भवति। वैरस्य पापस्य निर्यातनमपयातनं नाश इत्यनर्थान्तरम्। यद्वा—स्वजातीयनिमित्तकोपप्रशमनम्। यथा—'द्रव्याणि हिंस्याद्यो यस्य ज्ञानतोऽज्ञानतोऽपि वा। स तस्योत्पादयेत्तुष्टिम्॥' इति। शतमिति। सर्वत्र प्रायश्चित्तार्थ इति शेषः। एषोऽपि राज्ञे त्यागः। शूद्रवधेनेति। ऋषभैकादशगोत्यजनमत्रातिदिश्यते। इह चान्द्रायणस्याऽभ्युपचयो द्रष्टव्यः। आह च मनुः—'स्त्रीशूद्रविट्क्षत्रवधो नास्तिक्यं चोपपातकम्।' इति प्रस्तुत्य, 'उपपातकसंयुक्तो गोघ्नो मासं यवान् पिबेत्।' इति। 'एतदेव व्रतं कुर्युरुपपातकिनो द्विजाः। अवकीर्णिवर्जं शुद्ध्यर्थं चान्द्रायणमथापि वा॥' इति। अन्यत्रेति। तस्या वधे वक्ष्यति—'आत्रेय्या वधः क्षत्रियवधेन व्याख्यातः' इति। अनात्रेयीस्त्रीवधे ऋषभैकादशदानमित्यर्थः।

धेन्वनडुहोश्चेति। वध इति शेषः। धेनुः पयस्विनी, अनड्वान् अनोवहनक्षमः पुङ्गवः। अयमपि ऋषभैकादशगोदानातिदेशः। वधे इति। ऋषभैकादशगोदानस्यान्ते तु नात्र दानतस्सोः समुच्चयः। अत एवैतत् ज्ञापितं भवति—धेन्वनडुहावत्र विशिष्टपुरुषसंबन्धिनावग्निहोत्रादिविशिष्टोपयोगार्थौ। दुर्भिक्षादिषु च बहुदोग्धृत्वेन बहुवोढृत्वेन प्रजासंरक्षणार्थौ वेति। अन्यथा शूद्रहत्यातः तस्य प्रायश्चित्तं गुरुतरं न स्यादिति। आत्रेय्या इति। 'रजस्वलामृतुस्नातामात्रेयीमाहुरत्र ह्येष्यदपत्यं भवति' इति। गोवधे इत्यन्ये। क्षत्रियवधदण्डप्रायश्चित्तयोरुभयोरयमतिदेशः। हंसेति। शूद्रं हत्वा यत्प्रायश्चित्तं तत्प्रायश्चित्तमेतेषां वधे भवति। सर्वत्र चातिदेशे मानाधीनता। इह मण्डूकग्रहणं मार्जारादीनामपि प्रदर्शनार्थम्। आह च मनुः—'मार्जारनकुलौ हत्वा चाषं मण्डूकमेव च। श्वगोधोलूककाकांश्च शूद्रहत्याव्रतं चरेत्॥' इति। प्रचलाको डिम्बः। डिड्डिकः चुचुन्दरी। आदिग्रहणात् क्रुञ्चक्रौञ्चादेरपि ग्रहणम्। 'क्रुञ्चक्रौञ्चौ शूद्रहत्यावत् प्रायश्चित्तम्' इति स्मृत्यन्तरात्। एवं तावत् 'शास्ता राजा दुरात्मनाम्' इति मत्वा प्रायश्चित्तान्यपि राज्ञा कारयितव्यानीत्यर्थः। तानि दिङ्मात्रेण दर्शितानि। बौवि. (पृ. ९२–४)

निमित्तविशेषे साहसानुज्ञा

**[१]ब्राह्मणार्थे गवार्थे वा वर्णानां वाऽपि संकरे।**
**गृह्णीयातां विप्रविशौ शस्त्रं धर्मव्यतिक्रमे॥**

अथेदानीं विप्रविशोश्च शस्त्रग्रहणे कारणमाह—गवार्थे इति। अर्थशब्दश्चात्र रक्षणप्रयोजनवचनः। वर्णानां संकरः, अनर्हस्त्रीपुंसलक्षणः। शस्त्रग्रहणे हेतुः—धर्मव्यपेक्षयेति। धर्मबुद्ध्येति यावत्। बौवि. (पृ. १४०–४१)

**[२]भार्यार्थमपि ब्राह्मण आयुधं नाददीत।**
**[३]षट्स्वनभिचरन् पतति।**
**[४]भीतमत्तोन्मत्तप्रमत्तविसन्नाहस्त्रीबालवृद्धब्राह्मणैर्न युध्येत। अन्यत्राऽऽततायिनः।**

भीतः त्रस्तः। मत्तः सुरादिपानी। उन्मत्तो विरुद्धचेष्टः। प्रमत्तो विगतचेताः। विसन्नाहो विगलित-

कण्टक ... काश्च (मण्डूकनकुलाहिखञ्जरीट) वधे (वधः); समु. १४६ स्मृचवत्: १६३ (शूद्रवधेन ... व्याख्यातः०) प्रचलाक (वलाका) कण्टक ... शूद्रवत् (मण्डूकनकुलभैरिकवभ्रुकोकिलादीनां वधे क्षुद्रपशुवत्).

(१) **बौध.** २।२।८० ब्राह्मणार्थे गवार्थे (गवार्थे ब्राह्मणार्थे) तिक्रमे (पेक्षया); **स्मृच.** ३१३; **रत्न.** १२७ विशौ (वैश्यौ); **व्यप्र.** ३९५-६ र्थे वा (मर्थे) वाऽपि (चापि) संक (सङ्ग); **व्यउ.** १३३ र्थे वा (र्थे च) नां वाऽ (नाम); **विता.** ७५५-६; **समु.** १४७.

(२) **स्मृच.** ३१३; **व्यप्र.** ३९६ भार्या (हास्या) ब्राह्मण (ब्रह्म); **समु.** १४७.

(३) **स्मृच.** ३१५; **समु.** १४७.

(४) **बौध.** १।१०।११-१२.

कवचादिबन्धः विगतव्यापारो वा। शेषाः प्रसिद्धाः। तैर्न युध्येत तान् न हिंस्यादित्यर्थः। तथा च गौतमः— 'न दोषो हिंसायामाहवे। अन्यत्र व्यश्वसारथ्यायुधकृताञ्जलिप्रकीर्णकेशपराङ्मुखोपविष्टस्थलवृक्षारूढदूतगोब्राह्मणवादिभ्यः' इति (गौध. १०।१६-७)। व्यश्वसारथीत्यत्र व्यश्वो विसारथिरिति योजना। व्यश्वादिशब्दो दूतादिभिः प्रत्येकं संबन्धनीयः। अदूतोऽपि दूतोऽहमिति यो वदति गौरहं ब्राह्मणोऽहमिति। पूर्वोक्तान् विशिनष्टि— अन्यत्राऽऽततायिन इति। आततायी साहसकारी। गौवि. (पृ. ९०—९१)

अथाऽप्युदाहरन्ति—

**अध्यापकं कुले जातं यो हन्यादाततायिनम्।**
**न तेन भ्रूणहा भवति मन्युस्तं मन्युमृच्छतीति॥**

तद्धिंसायां दोषाभावं परकीयमतेनोपन्यस्यति— अथेति। भ्रूणहा यज्ञसाधनवधकारी। भ्रूणो यज्ञः, बिभर्ति सर्वमिति। एवं ब्रुवतैतदभिप्रेतम्— आततायिविषयेऽपि ब्राह्मणवधे दोषोऽस्तीति। इतरथा 'न तेन भ्रूणहा भवति' इति नाऽवक्ष्यत्। गौवि. (पृ. ९१)

## वसिष्ठः

निमित्तविशेषे साहसानुज्ञा। आततायिनः।

**आततायिनं हत्वा नात्र प्राणच्छेत्तुः किञ्चित्किल्बिषमाहुः। षड्विधा ह्याततायिनः। अथाऽप्युदाहरन्ति —**

**अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः।**
**क्षेत्रदारहरश्चैव षडेते आततायिनः॥**
**आततायिनमायान्तमपि वेदान्तपारगम्।**
**जिघांसन्तं जिघांसीयान्न तेन ब्रह्महा भवेत्॥**

**स्वाध्यायिनं कुले जातं यो हन्यादाततायिनम्।**
**न तेन भ्रूणहा स स्यान्मन्युस्तं मृत्युमृच्छति॥**

यत्तु बौधायनेनोक्तम्— 'षट्स्वनभिचरन् पतति' इति। षट्सु आततायिष्विति शेषः। के पुनस्त इत्यपेक्षिते वसिष्ठः—अग्निद इति। उदाहरणभूतानां अत्यन्तप्रसिद्धानां षड्विधत्वादुभयत्र षड्ग्रहणं, न पुनः परिसंख्यार्थं, विधान्तरेणाततायिनां लोके विद्यमानत्वात्। ×स्मृच. ३१५

**आत्मत्राणे वर्णसंकरे वा ब्राह्मणवैश्यौ शस्त्रमाददीयाताम्।**

**क्षत्रियस्य तु तन्नित्यमेव रक्षणाधिकारात्।**

## विष्णुः

साहसप्रकाराः

**परदाराभिमर्शः स्तेयमुभयं पारुष्यं परहिंसा च।**

अत्र कात्यायनः 'सहसा यत्कृतं कर्म तत्साहसमुदाहृतम्' इति। एतदेवाह नारदः—'सहसा क्रियते कर्म यत्किञ्चिद्बलदर्पितैः। तत्साहसमिति प्रोक्तं सहो बलमिहोच्यते॥' इति। साधारणपरधनयोर्हरणं बलावष्टम्भेन क्रियमाणं साहसमित्यर्थः। अत एवाह याज्ञवल्क्यः 'सामान्यद्रव्यप्रसभहरणात्साहसं स्मृतम्' इति। एतच्चतुर्विधमित्याह विष्णुः 'परदाराभिमर्शः स्तेयमुभयं पारुष्यं परहिंसा च' इति। बृहस्पतिस्तु–'मनुष्यहरणं चौर्यं परदाराभिमर्शनम्। पारुष्यमुभयं चेति साहसं तु चतुर्विधम्॥' इति वचनद्वये क्रमस्य प्रयोजनाभावादविवक्षितत्वमिति मन्तव्यम्। यत्तु शङ्खलिखितोक्तम्—'चौर्यपारुष्यहिंसाः साहसपदवाच्याः' इति, तत्र स्त्रीसंग्रहणस्य चौर्यानतिरेकात् स्त्रीसंग्रहणस्तेये चौर्यपदेन संगृहीते इति मन्तव्यम्। सवि. ४५१—५२

---

(१) बौध. १।१०।१३-४.

(२) वस्मृ. ३।१६-८ (ख) प्राणच्छेत्तुः (त्राणमिच्छोः) ह्या (त्वा).

(३) वस्मृ. ३।१९; गोरा. ८।३५० रहरश्चैव (रापहारी च); स्मृच. ३१५; रत्न. १२८; दवि. २३४ गोरावत्, मनुवसिष्ठौ; विता. ४९१ (=) क्षेत्रदारहरश्चैव (स्त्रीहारी धनहारी च) उत्त.: ७६१; समु. १४७.

(४) वस्मृ. ३।२०; स्मृच. ३१४ पारगम् (गं रणे)

× अधिकं स्मृच. व्याख्यानं 'गुरुं वा बालवृद्धौ वा' इति मनुवचने द्रष्टव्यम्। अन्ये आततायिनः कात्यायने द्रष्टव्याः। ब्रह्म (भ्रूण); रत्न. १२७ पारगम् (गं रणे) ब्रह्म (भ्रूण); विता. ७५८ पारगम् (गं रणे); समु. १४७ स्मृचवत्.

(१) वस्मृ. ३।२१ (ख) स्तं मृत्यु (स्तन्मन्यु).

(२) वस्मृ. ३।२६; स्मृच. ३१३ विष्णुः; रत्न. १२७ संकरे (संसर्गे) विष्णुः; समु. १४७ विष्णुः.

(३) वस्मृ. ३।२७. (४) सवि. ४५२.

महापातकसाहसदण्डविधिः

अथ महापातकिनो ब्राह्मणवर्जं सर्वे वध्याः। न शारीरो ब्राह्मणस्य दण्डः। स्वदेशाद् ब्राह्मणं कृताङ्कं विवासयेत्। तस्य च ब्रह्महत्यायामशिरस्कं पुरुषं ललाटे कुर्यात्। सुराध्वजं सुरापाने। श्वपदं स्तेये। भगं गुरुतल्पगमने। अन्यत्रापि वध्यकर्मणि तिष्ठन्तं समग्रधनमक्षतं विवासयेत्।

कूटशासन—विषाग्निदान—प्रसह्यतास्कर्य—स्त्रीबालपुरुषघात—धान्यापहार—कन्यानृत—साहसदण्डविधिः

[2]कूटशासनकर्तृंश्च राजा हन्यात्। कूटलेख्यकारांश्च। [3]गरदाग्निदप्रसह्यतस्करान् स्त्रीबालपुरुषघातिनश्च। [4]ये च धान्यं दशभ्यः कुम्भेभ्योऽधिकमपहरेयुः। धरिममेयानां शतादभ्यधिकम्। [5]ये चाकुलीना राज्यमभिकामयेयुः। [6]सेतुभेदकांश्च। [7]प्रसह्यतस्कराणां चावकाशभक्तप्रदांश्च। अन्यत्र राजाशक्तेः।

स्त्रियमशक्तभर्तृकां तदतिक्रमणीं च*।

सेत्विति। शङ्खलिखितवाक्यस्थसेतुभङ्गापेक्षयातिशायितसेतुभङ्गोऽत्र विवक्षित इति दण्डविकल्पोपपत्तिः। विर. ३६५

अकुलीना राज्ञो यत्कुलं तदप्रसूताः। विर. ३६९

[1]दोषमनाख्याय कन्यां प्रयच्छंश्च। तां च बिभृयात्। अदुष्टां दुष्टामिति ब्रुवन्नुत्तमसाहसम्।

पशुपक्षिकीटतृणवनस्पतिघात—विमांसविक्रयसाहसेषु दण्डविधिः

*गजाश्वोष्ट्रगोघाती त्वेककरपादः कार्यः। विमांसविक्रयी च। ग्राम्यपशुघाती कार्षापणशतं दण्ड्यः। पशुस्वामिने तन्मूल्यं दद्यात्। आरण्यपशुघाती पञ्चाशतं कार्षापणान्। पक्षिघाती मत्स्यघाती च दश कार्षापणान्। कीटोपघाती च कार्षापणम्। फलोपगमद्रुमच्छेदी तूत्तमसाहसम्। पुष्पोपगमद्रुमच्छेदी मध्यमम्। वल्लीगुल्मलताच्छेदी कार्षापणशतम्। तृणच्छेद्येकम्। सर्वे च तत्स्वामिनां तदुत्पत्तिम्।

अधिकृतानामपथदान— आसनाप्रदान— अपूजासु भोजननिमन्त्रणसंबन्ध्यतिक्रमेषु च दण्डविधिः

[2]येषां देयः पन्थास्तेषामपथदायी कार्षापणानां पञ्चविंशतिं दण्ड्यः। आसनार्हस्यासनमदद्च। पूजार्हमपूजयंश्च। प्रातिवेश्यब्राह्मणनिमन्त्रणातिक्रामी च। निमन्त्रयित्वा भोजनादायी च। निमन्त्रितस्तथेत्युक्त्वा चाभुञ्जानः सुवर्णमाषकं, निमन्त्रयितुश्च द्विगुणमन्नम्।

येषामिति, येषां पन्था देयो भवति, तेषामपथदायी पथदायी न भवतीत्यर्थः। निकेतयितुर्निमन्त्रयितुः। प्राति-

---

* स्थलादिनिर्देशः स्त्रीसंग्रहणप्रकरणे द्रष्टव्यः।

(१) विस्मृ. ५।१-८.

(२) विस्मृ. ५।९-१०; अप. २।२९४ राजा हन्यात् (राजन्यात्) का (क); व्यक. १२२ का (क).

(३) विस्मृ. ५।११; व्यक. १२२; स्मृच. ३२४ (गर...रान्०); समु. १५७ स्मृचवत्.

(४) विस्मृ. ५।१२-३.

(५) विस्मृ. ५।१४; व्यक. १२२ चा (वा); विर. ३६९; विचि. १६२; दवि. २६५; सेतु. ३०७.

(६) विस्मृ. ५।१५; व्यक. १२१ कांश्च (कृतश्च); विर. ३६५ व्यकवत्; विचि. १५८ कांश्च (कृतः); दवि. ३१२ व्यकवत्; सेतु. २५७ व्यकवत्.

(७) विस्मृ. ५।१६-७; व्यक. ११७ चाव (अव); विर. ३४० व्यकवत्; विचि. १४६ व्यकवत्; दवि. ८२ चाव (अव) प्रदां (दां) राजा (राज); वीमि. २।२७९ (प्रस......दांश्च०); सेतु. २४९ व्यकवत्.

* व्याख्यासंग्रहः स्थलादिनिर्देशश्च दण्डपारुष्यप्रकरणे द्रष्टव्यः।

(१) विस्मृ. ५।४५-७.

(२) विस्मृ. ५।९१-७ (क) णानां (ण) णनि (णे नि) क्रामी (क्रमे) दायी च (दायिनश्च): (ख) णनि (णे नि) क्रामी (क्रमे) दायी च (दायिनश्च) त्युक्त्वा चा (त्युक्तवान); अप. २।२६३ पामपथ (पां सु.[त्व] पथ) णानां (ण) दद्च्च (दत्त्वा) (णनिमन्त्र०) त्युक्त्वा चा (युक्तवान) निमन्त्र (निकेत); व्यक. १२० मपथदा (मदा) णानां (ण) तिं द (तिर्द) क्रामी (क्रमी) दायी च (दायी) त्युक्त्वा चा (युक्तवान) निमन्त्र (निकेत); ममु. ८।३९२ (प्रातिवेश्यब्राह्मणातिक्रमकारी च) एतावदेव; विर. ३५८ पञ्च (च) चाभु (अभु) निमन्त्र (निकेत) (अन्नम्०); दवि. ३०४ णानां (ण) विंशतिं (विंशतिपणान्) दद्च (दत्) णनि (णे नि) क्रामी (क्रमे) निमन्त्र (निकेत); सेतु. ३०४ (पञ्च०) चाभु (अभु) निमन्त्र (निकेत).

वैश्यब्राह्मणनिमन्त्रणातिक्रामी असत्यपि दोषे प्राप्ते निमन्त्रणावसरे निरन्तरगृहवासिब्राह्मणनिमन्त्रणास्वीकारी । विर. ३५८

चतुर्वर्णानां अभक्ष्यापेयादिना दूषणे उद्यानभूम्यादिदूषणे च दण्डविधिः

**(१)अभक्ष्येण ब्राह्मणदूषयिता षोडश सुवर्णान् । जात्यपहारिणा शतम् । सुरया वध्यः । क्षत्रियं दूषयितुस्तदर्धम् । वैश्यं दूषयितुस्तदर्धमपि । शूद्रं दूषयितुः प्रथमसाहसम् ।**

**(२)अस्पृश्यः कामचारेण स्पृशन् स्पृश्यान् वध्यः । रजस्वलां शिफाभिस्ताडयेत् ।**

**पथ्युद्यानोदकसमीपेऽप्यशुचिकारी पणशतम् । तच्चापास्यात् × ।**

कामचारेण स्वेच्छया । रजस्वलां स्पृशन्तीमिति शेषः । शिफाभिर्वृक्षनेत्रैः । विर. ३५५

अभक्ष्यं विण्मूत्रादि । जात्यपहारि सुराव्यतिरिक्तं लशुनादि, सुरायाः पृथगुक्तत्वात् । शूद्रस्याभक्ष्यं कपिलादुग्धादि, निषिद्धं पञ्चनखमांसादि, तदर्धे तदर्धे इत्यत्राव्यवहितस्तत्पदार्थः । विर. ३६१

गृहभूकुड्यादिभेदन—गृहपीडाकरद्रव्यक्षेप—साधारण्यापलाप—प्रेषिताप्रदान—पितृपुत्रादित्यागादिदोषेषु दण्डविधिः

**(१)गृहकुडयादिभेत्ता मध्यमसाहसं, तच्च योजयेत् । गृहपीडाकरं द्रव्यं प्रक्षिपन् पणशतम् ।**

**(२)साधारण्यापलापी च । प्रेषितस्याप्रदाता च । पितृपुत्राचार्ययाज्यर्त्विजामन्योन्यापतितत्यागी च । न च तान् जह्यात् । शूद्रप्रव्रजितानां दैवे पित्र्ये भोजकश्च । अयोग्यकर्मकारी च । समुद्रगृहभेदकश्च । अनियुक्तः शपथकारी । पशूनां पुंस्त्वोपघातकारी च ।**

(१) तत् गृहकुड्यादिभेत्ता योजयेत् प्रतिसंस्कुर्यात् । पूर्वं याज्ञवल्क्येन कुड्यमात्रसंबन्धिनि भेदमात्रे दशपणात्मको दण्ड उक्तः, इह च गृहसहितकुड्यादिगते प्रौढविदारणे मध्यमसाहसमित्यविरोधः ।

अत्र (गृहपीडेत्यत्र) पीडाकरद्रव्यस्य गृहे क्षेपं कुर्वतः षोडशपणदण्डाभिधानं याज्ञवल्क्यस्य, विष्णोश्च तत्रैव पणशतदण्डाभिधानम् । तदत्र पीडातिशयहेतुत्वाहेतुत्वाभ्यां व्यवस्था । विर. ३५४

प्रव्रजितशब्दोऽत्र बौद्धादिशब्दपरः । समुद्रगृहभेदकः मुद्रितगृहमुद्रामोचकः । अग्रे वर्तमानमनियुक्तमिति

---

× व्याख्यानं स्थलादिनिर्देशश्च सीमाविवादप्रकरणे (पृ. ९२५) द्रष्टव्यः ।

(१) **विस्मृ.** ५।९८-१०३; **अप.** २।२९५ णदू (णस्य दू); **व्यक.** १२१; **विर.** ३६०-६१ णदूषयिता (णस्य दूषयित्वा) र्धमपि (र्धम्); **दीक.** ५६ (अभक्ष्येण ब्राह्मणस्य दूषयिता षोडश सुवर्णान् दण्ड्यः) एतावदेव; **विचि.** १५५ णदूषयिता (णं दूषयित्वा) तुस्त (त्वा त) र्धमपि (र्धम्) (शूद्रं...साहसम्०); **दवि.** ३०८ णदू (णस्य दू) यं दू (यदू) र्धमपि (र्धम्) द्रं दू (द्रदू); **सेतु.** २९६ णदूषयिता (णं दूषयित्वा) सुरया+ (ब्राह्मणं दूषयित्वा) र्धमपि (र्धम्).

(२) **विस्मृ.** ५।१०४ (क) स्पृशन् स्पृश्यान् (स्पृश्यं स्पृशन्) : (ख) अस्पृश्यः ...... वध्यः (कामकारेणास्पृश्यस्त्रैवर्णिकं स्पृशन् वध्यः); **व्यक.** १२० चा (का); **विर.** ३५५ स्पृश्यान् (अस्पृश्यान्); **दवि.** ३०२ स्पृशन् स्पृश्यान् (अस्पृश्यान् स्पृशन्).

(१) **विस्मृ.** ५।१०८-१० (क) कुड्यादिभेत्ता (भूकुड्याद्युपभेत्ता) साहसं+ (दण्ड्यः) गृहपी (गृहे पी) : (ख) तच्च (तं च) शेषं पूर्ववत्; **व्यक.** १२० कुड्यादि (भङ्गाद्युप); **विर.** ३५४ दिभेत्ता (द्युपघ्नो) प्रक्षिपन् (क्षिपन् दण्ड्यः); **विचि.** १५२-३; **दवि.** २९६ ह (हे) (गृहकु ... येत्०) : २९८ दिभे (द्युपभे) (गृहपी ... शतम्०); **सेतु.** २५५ त्ता (त्तारं) (गृहपी ... शतम्०) : २५३ प्रक्षिपन् (क्षिपन् दण्ड्यः) (गृहकु ... येत्०).

(२) **विस्मृ.** ५।१११-९; **व्यक.** १२० ण्याप (णाप) दाता च (दानाच्च) न्याप (न्यमप) जितानां (जितान्) पित्र्ये भोजकश्च (पैत्र्ये च भोजकस्य) क्तः श (क्तश) पशूनां+ (च) (च०); **विर.** ३५४-५ ण्याप (णाप) न्याप (न्यमप) जह्या (यज्या) त्र्ये (त्रे) क्तः श (क्तश) थकारी + (च) स्त्वोप (स्त्वाभि); **दवि.** ३०१ (अनियुक्तः शपथकारी) एतावदेव : ३०३ (पितृपुत्राचार्ययाज्यर्त्विजामन्योन्यापतितत्यागी । न च तान् जह्यात्) एतावदेव. 'पशूनां पुंस्त्वोपघातकारी च' इति वचनस्य अधिकाः पाठभेदाः दण्डपारुष्यप्रकरणे द्रष्टव्याः.

पदमत्रापि योज्यम्। विर. ३५५

(२) तान् पतितान् इति शेषः। त्यागो विहितसत्काराद्यनाचरणम्। अत्यागश्च निषिद्धसंभाषणाद्याचरणम्। अयं शतदण्डो विदुषोरन्योन्यत्यागे।

दवि. ३०३-४

पितापुत्रविरोधे साक्ष्यादीनां दण्डविधिः

**[1]पितापुत्रविरोधे तु साक्षिणां दशपणो दण्डः। यस्तयोश्चान्तरे स्यात्तस्योत्तमसाहसम्।**

(१) निर्बन्धातिशय एतत्। अप. २।२३९

(२) सान्तरीयः स्यादिति तयोर्मध्यगो भूत्वा विरोधमुत्पादयतीत्यर्थः। कामधेनौ यस्तयोरन्तरे स्यादिति पठितम्। दवि. २६९

तुलामानकूटत्व—विक्रयदोष—शुल्कग्रहणदोषेषु दण्डविधिः

**[2]तुलामानकूटकर्तुश्च। तदकूटे कूटवादिनश्च। द्रव्याणां प्रतिरूपविक्रयिकस्य च। संभूयवणिजां पण्यमनर्घेणावरुन्धताम्। प्रत्येकं विक्रीणतां च।**

**गृहीतमूल्यं पण्यं यः क्रेतुर्नैव दद्यात्तस्यासौ सोदयं दाप्यः। राज्ञा च पणशतं दण्ड्यः*। क्रीतमक्रीणतो या हानिः सा क्रेतुरेव स्यात्+। [3]राजविनिषिद्धं विक्रीणतस्तदपहारः।**

**तारिकः स्थलजं शुल्कं गृह्णन् दश पणान् दण्ड्यः। ब्रह्मचारिवानप्रस्थभिक्षुगुर्विणीतीर्थानुसारिणां नाविकः शौल्किकः शुल्कमाददानश्च। तच्च तेषां दद्यात्÷।**

---

* व्याख्यानं स्थलादिनिर्देशश्च क्रयविक्रयानुशये (पृ. ८७८) द्रष्टव्यः।

\+ स्थलादिनिर्देशः क्रयविक्रयानुशये (पृ. ८९०) द्रष्टव्यः।

÷ स्थलादिनिर्देशः प्रकीर्णके द्रष्टव्यः।

(१) **विस्मृ.** ५।१२०-२१ (ख) रे (रः); **अप.** २।२३९ ता (तृ) धे तु (ध) श्चान्त (रन्त) (स्यात्०) सम् (सः); **व्यक.** १२०; **दवि.** २६९ (तु०) योश्चान्तरे (योः सान्तरीयः); **सेतु.** २९५-६ योश्चान्तरे (योः सान्तरः).

(२) **विस्मृ.** ५।१२२-६ (ख) मानकूट + (कर्म); **व्यक.** १११ प्रत्येकं (प्रत्येकस्य); **विर.** २९९ मान (नाणक) तदकूटे (तद) क्रयिक (क्रायक) प्रत्येकं (प्रत्येकस्य).

(३) **विस्मृ.** ५।१३०; **अप.** २।२६१ विनि (नि).

**ग्रन्थिभेदकानां उत्क्षेपकाणां च करच्छेदः।**

वस्त्राञ्चलबद्धद्रव्यं उत्कृत्यापहरतां ग्रन्थिभेदकानाम्। ये वस्त्रपात्राद्युत्क्षिप्यापहरन्ति ते उत्क्षेपकाः। वै.

जातिभ्रंशकरभक्षणे दण्डविधिः

**[2]जातिभ्रंशकरस्याभक्ष्यस्य भक्षयिता विवास्यः।**

भक्षयिता भोक्ता कामादिति शेषः। 'ग्रसितारः स्वयं कार्या राज्ञा निर्विषयास्तु ते' इति मनुदर्शनात्। दवि. ३०९

अभक्ष्याविक्रेयविक्रय—देवमूर्तिभेदनयोर्दण्डविधिः

**[3]अभक्ष्यस्याविक्रेयस्य च विक्रयी। देवप्रतिमाभेदकश्चोत्तमसाहसं दण्डनीयः।**

(१) अत्र प्रथमादिसाहसानां विकल्पः प्रतिमापकर्षोत्कर्षाभ्यां परिस्थाप्यः। विर. ३६४

(२) (अभक्ष्यस्य) इत्यपरं विष्णुवचनम्। सर्वत्रात्र विक्रयो न दूषणपरः। अन्यथा औषधत्वेनापि तद्विक्रये दोषः स्यात्। एवं चामीषां वाक्यानां उत्तमानुत्तमविषयतया वा व्यवस्था द्रष्टव्या। दवि. ३०९

कूटसाक्षि—उत्कोचजीविसभ्य—दण्ड्यमोचयितृ— अदण्ड्यदण्डयितॄणां दण्डविधिः

**कूटसाक्षिणां सर्वस्वापहारः कार्यः। उत्कोचजीविनां सभ्यानां च*।**

---

* व्याख्यानं स्थलादिनिर्देशश्च सभाप्रकरणे (पृ. २६) साक्षिप्रकरणे च (पृ. २४५) द्रष्टव्यः।

(१) **विस्मृ.** ५।१३६.

(२) **विस्मृ.** ५।१७३; **अप.** २।२३३ विवा (निर्वा): २।२९५; **व्यक.** १२१; **विर.** ३६२; **विचि.** १५६ क्ष्य (क्ष); **दवि.** ३०९ क्ष्यस्य+(च); **सेतु.** २९७.

(३) **विस्मृ.** ५।१७४ (क) स्य च (स्य); **अप.** २।२२३ स्य च (स्य); **व्यक.** १२१; **विर.** ३६४ स्या (स्य चा) स्य च (स्य) दण्डनीयः (दण्ड्यः); **विचि.** १५८ क्रेय (क्रय्य) दण्डनीयः (दण्ड्यः); **दवि.** ३०९ दण्डनीयः (दण्ड्यः): ३१२ (अभ......क्रयी०) दण्डनीयः (दण्ड्यः); **सेतु.** २५६ स्य च (स्य) दण्डनीयः (दण्ड्यः) : ३०६ विरवत्.

[१]दण्ड्यमुन्मोचयन् दण्डाद् द्विगुणं दण्डमावहेत् ।
नियुक्तश्चाप्यदण्ड्यानां दण्डकारी नराधमः ॥

दण्डादवरुद्धस्य यो दण्डस्तस्मात्, नियुक्तो राजपुरुषः । 'आलम्बकं रक्षेदर्थिप्रत्यर्थिनामि'ति वचनात् । यश्च दण्डनाधिकृतो दण्डानर्हाद्दण्डत्वेन यावद्गृह्णाति स तद्द्विगुणं दाप्य इत्यर्थः । अत्र वध्योन्मोचने वधदण्डस्य द्वैगुण्यासंभवाद्वधप्रतिनिषिद्धेन सुवर्णशतग्रहणानन्तरं वध इति प्रतिभाति । दवि. ३३५–६

राज्याङ्गदूषणसाहसदण्डविधिः

[२]स्वाम्यमात्यदुर्गकोषदण्डराष्ट्रमित्राणि प्रकृतयः । तद्दूषकांश्च हन्यात् ।

अमात्यशब्देन प्रधानशिष्टोऽत्र विवक्षितः । स्वराष्ट्रपरराष्ट्रयोश्चारचक्षुः स्याद् दुष्टांश्च हन्यात् । विर. ३७०

निमित्तविशेषे साहसानुज्ञा । आततायिनः ।

आत्मत्राणे वर्णसंकरे वा ब्राह्मणवैश्यौ शस्त्रमाददीयाताम् × ।

[३]नखिनां शृङ्गिणां चैव दंष्ट्रिणामाततायिनाम् ।
हस्त्यश्वानां तथाऽन्येषां वधे हन्ता न दोषभाक् ॥
[४]गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् ।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥
[५]नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ।
प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा मन्युस्तं मन्युमृच्छति ॥
[६]उद्यतासिविषाग्निं च शापोद्यतकरं तथा ।
आथर्वणेन हन्तारं पिशुनं चैव राजसु ॥
भार्यातिक्रमिणं चैव विद्यात्सप्ताततायिनः ।
यशोवित्तहरानन्यानाहुर्धर्मार्थहारकान् ॥

परदाराभिमर्शकः परक्षेत्रापहारी उद्यतासिः अग्निदो गरदः परद्रव्यापहारी महाभियोगेषु कूटसाक्षी मिथ्यामहाभियोगी चेत्याततायिनः ।

अत्र परशब्देन ब्राह्मण उच्यते । ब्राह्मणदाराभिमर्शी, ब्राह्मणक्षेत्रापहारी, ब्राह्मणधनापहारी, ब्राह्मणे महापातकाभियोक्ता, शस्त्रपाणिः ब्राह्मणे, ब्राह्मणे महाभियोगे कूटसाक्षी, ब्रह्मगृहेष्वग्निदः, ब्राह्मणे गरदश्चेति । अत्र गरदत्वं औषध्यादिना निवृत्ते विषे । अन्यथा महापातकित्वप्रसङ्गात् । सवि. १५२-३

उद्यतासिः प्रियाधर्षी धनहर्ता गरप्रदः ।
अथर्वहन्ता तेजोघ्नः षडेते आततायिनः ॥

तेजोघ्नश्चात्र यो मद्यदानेन ब्राह्मं तेजो हन्ति सोऽभिप्रेतः । दवि. २३५

## शङ्खः शङ्खलिखितौ च

साहसप्रकाराः

[४]चौर्यपारुष्यहिंसाः साहसपदवाच्याः ÷ ।

मातापितापुत्राद्यन्योन्यत्यागादौ मातापितागुर्वतिक्रमे च दण्डविधिः

[५]न मातापित्रोरन्तरं इच्छेत्पुत्रः । कामं मातुरेव यत् सा हि साधारणी पोषणीया च । न

---

× स्थलादिनिर्देशः वसिष्ठे (पृ. १६०८) द्रष्टव्यः ।

(१) विस्मृ. ५।१९५ (क) ण्ड्यमुन्मो (ण्ड्यं प्रमो) ण्डाद् (ण्ड्याद्): (ख) ण्ड्यमुन्मो (ण्ड्यं प्रमो); अप. २।२४३ ण्ड्यमु (ण्डमु) ण्डाद् (ण्ड्याद्); व्यक. १२२ ण्ड्यमु (ण्डमु); विर. ३६८; विचि. १६१ ण्ड्यमु (ण्ड्यान्); दवि. ३३५ वहे (हरे); सेतु. २५८ द्विगुणं (द्विशतं) वहे (हरे).

(२) विस्मृ. ३।३३-४; व्यक. १२२; स्मृच. ३२४; विर. ३७० दुर्ग... त्राणि (सुहृत्कोषराष्ट्रदुर्गबलानि राज्याङ्गानि); विचि. १६३ दुर्ग (सुहृत्) मित्रा (दुर्गा) कांश्च (कान्); दवि. २१३ दुर्ग (सुहृत्) : ३१७; समु. १५७.

(३) विस्मृ. ५।१८८ (ख) शृङ्गि (दंष्ट्रि) दंष्ट्रि (शृङ्गि).

(४) विस्मृ. ५।१८९; सेतु. १००. (५) विस्मृ. ५।१९०.

(६) विस्मृ. ५।१९१; व्यनि. ५२० सिवि (सिं वि) शा (चा) सुमन्तुः ; दवि. २३४ सिविषा (सिं करा) चैव (चापि) सु (नि).

÷ सवि. व्याख्यानं 'परदाराभिमर्शी' इति विष्णुवचने द्रष्टव्यम् ।

(१) विस्मृ. ५।१९२; व्यनि. ५२० पू., समन्तुः ; दवि. २३४ पू.

(२) सवि. १५२. (३) दवि. २३४ बृहद्विष्णुः.

(४) सवि. ४५२.

(५) अप. २।२३७ (अत्याज्या माता तथा पिता सपिण्डा गुणवन्तः सर्वे वाऽत्याज्याः, यस्त्यजेत्कामादपतितान् स दण्डं प्राप्नुयात् द्विगुणं शतम्) एतावदेव; व्यक. १२० इच्छे (गच्छे); विर. ३५७; विचि. १५४ (पुत्रादीन् यस्त्यजेत्कामात्स द्विशतं दण्डं प्राप्नुयात्) शंखः, एतावदेव; व्यनि. ५१०; वीमि. २।२३७ (यस्त्यजेत्कामादपतितान् स हि शतं दण्डं प्राप्नुयात्) शंखः, एतावदेव; सेतु. ३०४ विचिवत्, शंखः.

पुत्रः प्रतिमुच्येतान्यत्र सौत्रामणीयागाज्जीवन्नृणान्मातुः। एवमत्याज्या माता तथा पिता सपिण्डा गुणवन्तः सर्वे एवात्याज्याः। यस्त्यजेत्कामादपतितान् स दण्डं प्राप्नुयाद् द्विशतम्।

अत्र विष्णुयाज्ञवल्क्ययोः शतदण्डो विदुषोरन्योन्यत्यागे, मनूक्तस्तु षट्शतदण्डो विदुषा कामादेकतरत्यागे, शङ्खलिखितयोर्द्विशतदण्डस्तु कामादविद्वत्तया एकतरेण त्यागे। एवं च विदुषोरन्योन्यत्यागेऽप्यनयैव दिशा दण्ड ऊह्यः। विर. ३५७

¹न मातापितरावतिक्रामेन्न गुरुं, त्रयाणामतिक्रमेऽङ्गच्छेदः।

अतिक्रमोऽत्र पदाभिघातः। अभिघातकरणस्यैवाङ्गस्य छेदनम्। विर. ३५८

प्रतिमारामकूपादिभङ्गे कूटशासनतुलामानप्रतिमानकरणे वापीकूपादिदूषणेऽदासीदासदानादौ च दण्डविधिः

²प्रतिमारामकूपसंक्रमध्वजसेतुनिपानभङ्गेषु तत्समुत्थापनं प्रतिसंस्कारोऽष्टशतं च।

(१) दण्ड इति शेषः। निपानं गवादिजलपानार्थं कूपसमीपकृतजलाधारः, प्रतिसंस्कारः पुनः सज्जीकरणम्। उत्कृष्टप्रतिमादिभङ्गेष्वयं दण्डः। अनुत्कृष्टप्रतिमादिभङ्गे तु मानव इत्यविरोधः। विर. ३६४

(२) सर्वभङ्गे समुत्थापनं तज्जातीयस्य करणम्। एकदेशभङ्गे तस्यैव संस्कारः। हन्यादित्यनुवृत्तौ विष्णुः 'सेतुभेदकृतश्च'। याज्ञवल्क्यः 'सेतुभेदकरं चाप्सु शिलां बद्ध्वा प्रवेशयेत्'। अत्र प्रतिमाभङ्गे तदुत्कर्षापकर्षतारतम्यात् तद्भञ्जकस्य धनिकाधनिकत्वाभ्यां चोत्तमादिसाहसदण्डः पणशतात्मकदण्डश्च व्यवस्थाप्यः। सेतुभङ्गे तु यद्यसावाधिकं तद्भङ्गं कुर्यात् यथोक्तो वधः। अन्यत्र शङ्खोक्तो दण्ड इति व्यवस्था। दवि. ३१२

³वापीतडागोदपानभेदमार्गरसद्रव्यदूषणेऽदासीदाससंप्रदानकरणे।

तीक्ष्णशलाकादिना मार्गदूषणे विषादिना रसद्रव्यदूषणे अदास्याश्च दासाय दाने शारीरो वधात्मको दण्डः, स्वल्पे तस्मिन् अङ्गच्छेदमात्रं वा। विर. ३६५-६

²कूटशासनप्रयोगे राजशासनप्रतिषेधे कूटतुलामानप्रतिमानव्यवहारे शारीरोऽङ्गच्छेदो वा।

(१) कूटशासनप्रयोगे कूटराजाज्ञादेरनुष्ठाने, राजशासनप्रतिषेधे राजाज्ञालङ्घने, मानं प्रस्थादि, शारीरो मरणरूपः, अङ्गं येन तत्कुरुते, विकल्पस्त्वपराधोत्कर्षापकर्षाभ्यां व्यवस्थितः। विर. ३६९-७०

(२) यत्तु प्रकाशतस्करप्रकरणे शारीरो मुण्डनादिरूप इति तत्रैव व्याख्यात तत्कूटतुलादिव्यवहारमात्रविषयम्। + दवि. २६४

पितापुत्रविरोधसाक्ष्यादिदण्डविधिः

³पितापुत्रयोर्विरोधे साक्षी न तिष्ठेत्। यस्तिष्ठेत् स दण्ड्यस्त्रीन् कार्षापणान्। यश्चान्तरे तिष्ठेत् सोऽप्यष्टशतं दाप्यः।

मध्यमापराधविषयमेतत्। अप. २।२३९

## × कौटिलीयमर्थशास्त्रम्

साहसम्

⁴साहसम्। साहसमन्वयवत्प्रसभकर्म। निरन्वये स्तेयमपव्ययने च।

---

(१) अप. २।२३७ णामतिक्रमेऽङ्ग (णां व्यतिक्रमादङ्ग); विर. ३५८; विचि. १५५ न...च्छेदः (मातापित्रोर्गुरोश्चातिक्रमेऽङ्गच्छेदः) शंखः; दवि. २५५ विष्णुः; सेतु. २५८ विचिवत्, शंखः.

(२) व्यक. १२१; विर. ३६४; विचि. १५८ प्रतिमाराम (आरामप्रतिमा) पनं (न) शंखः; दवि. ३१२ च+ (दण्डः); सेतु. २५६ प्रतिमाराम (आरामप्रपा) पनं (नं) शंखः; समु. १५८.

+ शेषं विरवत्।

× स्मृतिषु साहसे संगृहीताः अन्येऽपि अपराधाः सन्ति, ते अर्थशास्त्रकारेण प्रकीर्णके निविष्टास्तत्र द्रष्टव्याः।

(१) व्यक. १२१; विर. ३६५; विचि. १५८ वापी+ (कूप) रणे + (च) शंखः; दवि. २९६ (मार्गरसद्रव्यदूषणे) एतावदेव : ३१७ (अदासीदाससंप्रदानकरणे) एतावदेव; सेतु. ३०६ विचिवत्, शंखः.

(२) अप. २।२९४; व्यक. १२२; विर. ३६९; विचि. १६२ (प्रतिमान०) रे+ (च) शंखः; व्यनि. ५०२ शारीरो (शारीरे) दो (दे) : ५०४ (कूटशासनप्रयोगराजशासनप्रतिषेधकूटतुलामानप्रतिमाने व्यवहारेण) : ५१८ षेधे (क्षेपे) शारी ...... वा (शरीराङ्गच्छेदौ); दवि. २६४ राज ... ... षेधे (राजाज्ञाप्रतिघाते); सेतु. ३०७ विचिवत्.

(३) अप. २।२३९. (४) कौ. ३।१७.

साहसमिति सूत्रम्। बलात् क्रियमाणं परस्वहरणादि साहसम्। यदाह नारदः— 'सहसा क्रियते कर्म यत् किञ्चिद् बलदर्पितैः। तत् साहसमिति प्रोक्तं सहो बलमिहोच्यते ॥' तदुच्यत इति सूत्रार्थः। तद् गताध्याये प्रस्तुतम्। तस्य स्वरूपं दण्डश्चात्राभिधीयते। साहसमिति। अन्वयवत्प्रसभकर्म, अन्वयः अनेकसाधारण्यं तद्वतोऽनेकसाधारणस्य द्रव्यस्य प्रसभकर्म एकेनानेकान्तर्गतेन बलादपहरणं, साहसम्। निरन्वये असाधारणद्रव्ये परकीयद्रव्य इति यावत्। स्तेयं स्तेयव्यपदेश्यं अर्थात् प्रसभहरणं प्रच्छन्नहरणं वा। अपव्ययने च परकीयं गृहीत्वा न गृहीतमित्यपलापे च विषये, स्तेयं भवति।

श्रीमू.

**रत्नसारफल्गुकुप्यानां साहसे मूल्यसमो दण्ड इति मानवाः। मूल्यद्विगुण इत्यौशनसाः। यथापराध इति कौटल्यः। पुष्पफलशाकमूलकन्दपक्वान्नचर्मवेणुमृद्भाण्डादीनां क्षुद्रकद्रव्याणां द्वादशपणावरश्चतुर्विंशतिपणपरो दण्डः।**

**कालायसकाष्ठरज्जुद्रव्यक्षुद्रपशुपटादीनां स्थूलकद्रव्याणां चतुर्विंशतिपणावरोऽष्टचत्वारिंशत्पणपरो दण्डः। ताम्रवृत्तकंसकाचदन्तभाण्डादीनां स्थूलकद्रव्याणां अष्टचत्वारिंशत्पणावरः षण्णवतिपरः पूर्वः साहसदण्डः। महापशुमनुष्यक्षेत्रगृहहिरण्यसुवर्णसूक्ष्मवस्त्रादीनां स्थूलकद्रव्याणां द्विशतावरः पञ्चशतपरः मध्यमः साहसदण्डः।**

**स्त्रियं पुरुषं वाऽभिषह्य बध्नतो बन्धयतो बन्धं वा मोक्षयतः पञ्चशतावरः सहस्रपर उत्तमः साहसदण्ड इत्याचार्याः।**

रत्नसारफल्गुकुप्यानामित्यादि। मूल्यसमः रत्नादितत्तन्मूल्यतुल्यः। यथापराधः अपराधानुरूपः। शेषं सुगमम्। पुष्पफलेत्यादि। पुष्पादिषट्कं प्रतीतं चर्मभाण्डं वेणुभाण्डं मृद्भाण्डं चेति त्रिकं एतदादीनां क्षुद्रकद्रव्याणां, साहसे, द्वादशपणावरश्चतुर्विंशतिपणपरो दण्डः, द्वादशपणोऽधमदण्डः चतुर्विंशतिपण उत्तमदण्डः।

स्थूलकद्रव्याणां दण्डमाह—कालायसेत्यादि। ताम्रवृत्तेत्यादि। ताम्रभाण्डवृत्तभाण्डकंसभाण्डकाचभाण्डगजदन्तभाण्डादीनां स्थूलकद्रव्याणां, साहसे, अष्टचत्वारिंशत्पणावरः षण्णवतिपरः, दण्ड इति वर्तते, तत्र षण्णवतिपणदण्डः, पूर्वः साहसदण्डः पूर्वसाहसाख्यः। महापशुमनुष्येत्यादि। महापशुमनुष्यक्षेत्रप्रभृतीनां स्थूलकद्रव्याणां, साहसे, द्विशतावरः द्विशतपणाधमः पञ्चशतपरः पञ्चशतपणोत्तमः दण्डः। स च पञ्चशतपणः मध्यमः साहसदण्डः।

स्त्रियमित्यादि। तां, पुरुषं वा, अभिषह्य प्रसह्य बध्नतः, बन्धयतः, बन्धं वा मोक्षयतः, पञ्चशतावरः पञ्चशतपणाधमः सहस्रपरः सहस्रपणोत्तमः दण्डः। स च उत्तमः साहसदण्डो नाम्ना। इत्याचार्या मन्यन्त इति शेषः।

श्रीमू.

**यः साहसं प्रतिपत्तेति कारयति स द्विगुणं दद्यात्। यावद्धिरण्यमुपयोक्ष्यते तावद् दास्यामीति स चतुर्गुणं दण्डं दद्यात्। य एतावद्धिरण्यं दास्यामीति प्रमाणमुद्दिश्य कारयति स यथोक्तं हिरण्यं दण्डं च दद्याद् इति बार्हस्पत्याः।**

**स चेत् कोपं मदं मोहं वाऽपदिशेत्, यथोक्तवद्दण्डमेनं कुर्यादिति कौटल्यः।**

**दण्डकर्मसु सर्वेषु रूपमष्टपणं शतम्।**
**शतावरेषु व्याजीं च विद्यात् पञ्चपणं शतम्॥**
**प्रजानां दोषबाहुल्याद् राज्ञां वा भावदोषतः।**
**रूपव्याज्यावधर्मिष्ठे धर्म्या तु प्रकृतिः स्मृता॥**

य इति। यः, साहसं, प्रतिपत्तेति 'अहमभ्युपगन्ता' इत्युक्त्वा, कारयति, स द्विगुणं साहसार्थद्विगुणं दण्डं दद्यात्। 'यावद्धिरण्यमुपयोक्ष्यते साहसकरणार्थे तावद् दास्यामि' इत्युक्त्वा यः साहसं कारयति, स चतुर्गुणं साहसार्थचतुर्गुणं, दण्डं दद्यात्। य इति। 'एतावद् हिरण्यं दास्यामि' इति प्रमाणं साहसार्थदेयद्रव्येयत्तां, उद्दिश्य निर्दिश्य, कारयति, स यथोक्तं हिरण्यं, दण्डं च दद्यात्। इति बार्हस्पत्याः।

स्वमतमाह—स इति। स कारयिता, कोपं, मदं चित्तविभ्रमं, मोहं अज्ञानं वा, अपदिशेचेत् कारणायां हेतुं कथयेचेद्, एनं कारयितारं, यथोक्तवद्दण्डे कर्तृसमानदण्डं कुर्यात्। इति कौटल्यः।

(१) कौ. ३।१७.

(१) कौ. ३।१७.

दण्डकर्मस्वित्यादि। सर्वेषु दण्डकर्मसु दण्डविधिषु, रूपं तत्संज्ञं दण्डादुपरि नियतग्राह्यं द्रव्यं, विद्यात् जानीयात्। रूपं कियद्, अष्टपणं शते दण्डपणशतेऽष्टपणात्मकम्। शतावरेषु शतन्यूनेषु दण्डकर्मसु, व्याजीं तत्संज्ञं दण्डद्रव्यादुपरि नियतग्राह्यं द्रव्यं, विद्यात्। व्याजीं किमात्मिकां, पञ्चपणं शते शते पञ्चपणात्मिकाम्। शतमिति मान्तपाठश्चिन्त्यः।

प्रजानामिति। तासां, दोषबाहुल्यान्निमित्ताद्, राज्ञां वा भावदोषतः तासामदुष्टत्वेऽपि राज्ञां धनलिप्सालक्षणचित्तवृत्तिदोषान्निमित्ताद् वा, कल्प्यमाने इति शेषः, रूपव्याज्यौ अधर्मिष्ठे धर्मिष्ठे न भवतः। अतस्तदकल्पनानुकूलं राजभिः प्रजाभिश्चाचरितव्यमित्यभिप्रायः। अत एवाह—धर्म्या तु प्रकृतिः स्मृतेति। यथाविहितो दण्ड एव तु धर्म्यः स्मृतिषु कथितः। श्रीमू.

आशुमृतकपरीक्षा

[1]आशुमृतकपरीक्षा। तैलाभ्यक्तमाशुमृतकं परीक्षेत। निष्कीर्णमूत्रपुरीषं वातपूर्णकोष्ठत्वक्कं शूनपादपाणिमुन्मीलिताक्षं सव्यञ्जनकण्ठं पीडननिरुद्धोच्छ्वासहतं विद्यात्।

तमेव संकुचितबाहुसक्थिमुद्बन्धहतं विद्यात्। शूनपाणिपादोदरमपगताक्षमुद्वृत्तनाभिमवरोपितं विद्यात्। निस्तब्धगुदाक्षं संदष्टजिह्वमाध्मातोदरमुदकहतं विद्यात्। शोणितानुसिक्तं भग्नभिन्नगात्रं काष्ठै रश्मिभिर्वा हतं विद्यात्। संभग्नस्फुटितगात्रमवक्षिप्तं विद्यात्। श्यावपाणिपाददन्तनखं शिथिलमांसरोमचर्माणं फेनोपदिग्धमुखं विषहतं विद्यात्। तमेव सशोणितदंशं सर्पकीटहतं विद्यात्। विक्षिप्तवस्त्रगात्रमतिवान्तविरिक्तं मदनयोगहतं विद्यात्। अतोऽन्यतमेन कारणेन हतं हत्वा वा दण्डभयादुद्बन्धनिकृत्तकण्ठं विद्यात्।

आशुमृतकपरीक्षेति सूत्रम्। अन्तरेण व्रणाभिघातादिकमकाण्डे मृत आशुमृतकः तस्य परीक्षाऽभिधीयत इति सूत्रार्थः। द्रव्यापहारिणः कण्टकाः प्रागुक्ताः, प्राणापहारिण इदानीमुच्यन्ते। तैलेत्यादि। आशुमृतकं, तैलाभ्यक्तं परीक्षेत तस्य कायमखिलं तैलेनाभ्यक्तं कृत्वा परीक्षेत। तैलाभ्यञ्जने हि कृते गूढाः प्रहारा व्यक्तीभवन्तीति तद्व्यक्तीभावानुरूपा परीक्षा प्रवर्तत इति। निष्कीर्णमूत्रपुरीषमिति। निःसृतकीर्णमूत्रपुरीषं, वातपूर्णकोष्ठत्वक्कं वातपूर्णमुदरं त्वक् च यस्य तं, शूनपादपाणिं प्रवृद्धपादपाणिं, उन्मीलिताक्षं अमीलितनेत्रं, सव्यञ्जनकण्ठं सचिह्नः पतितत्वरूपचिह्नयुक्तः कण्ठो यस्य तं, इत्थम्भूतं जनं, पीडननिरुद्धोच्छ्वासहतं कण्ठपीडनकृतेनोच्छ्वासनिरोधेन हतं विद्यात्।

तमेवेति। उक्तलक्षणमेव, संकुचितबाहुसक्थिं प्राप्तसंकोचभुजोरुं, उद्बन्धहतं उल्लम्बनहतं, विद्यात्। शूनेत्यादि। शूनपाणिपादोदरं, अपगताक्षं अन्तर्मग्नचक्षुष्कं, उद्वृत्तनाभिं उद्गतनाभिं, अवरोपितं शूलारोपितं, विद्यात्। निस्तब्धगुदाक्षमिति। गुदमक्षि च निर्गतं यस्य तं, संदष्टजिह्वं, आध्मातोदरं शूनोदरं, उदकहतं विद्यात्। शोणितानुसिक्तमित्यादि। स्फुटार्थम्। संभग्नेत्यादि। अवक्षिप्तं प्रासादादिपातितम्। श्यावपाणीत्यादि। श्यावशब्दः कपिशार्थः। विषहतं वत्सनाभादिस्थावरविषहतम्। तमेवेति। श्यावपाणिपाददन्तनखत्वादियुक्तमेव। विक्षिप्तेत्यादि। विक्षिप्तवस्त्रगात्रं वस्त्रं गात्रं च तत इतो विसारितं येन तम्। मदनयोगहतं मदकररसदानहतं विद्यात्। निष्कीर्णेत्यादिनोक्तेषु कारणेषु अन्यतमदर्शनेन हतमनुमिनुयात्, हन्त्रा वा स्वदण्डभयादुल्लम्बनच्छिन्नकण्ठमनुमिनुयादित्याह—अत इत्यादि। श्रीमू.

[1]विषहतस्य भोजनशेषं पयोभिः परीक्षेत। हृदयादुद्धृत्याग्नौ प्रक्षिप्तं चिटचिटायदिन्द्रधनुर्वर्णं वा विषयुक्तं विद्यात्। दग्धस्य हृदयमदग्धं दृष्ट्वा वा।

तस्य परिचारकजनं वाग्दण्डपारुष्यातिलब्धं मार्गेत। दुःखोपहतमन्यप्रसक्तं वा स्त्रीजनं, दायनिवृत्तिस्त्रीजनाभिमन्तारं वा बन्धुम्। तदेव हतोद्बद्धस्य परीक्षेत। स्वयमुद्बद्धस्य वा विप्रकारमयुक्तं मार्गेत।

सर्वेषां वा स्त्रीदायाद्यदोषः कर्मस्पर्धा प्रतिपक्षद्वेषः पण्यसंस्था समवायो वा विवादपदा-

(१) कौ. ४।७.

(१) कौ. ४।७.

नामन्यतमं वा रोषस्थानम्। रोषनिमित्तो घातः।

विषहतस्येत्यादि। हृदयादुद्धृत्य हृदयदेशात् खण्डमवदाय। चिटचिटायत् चिटचिटाशब्दं कुर्वत्।

विषदपरिज्ञानोपायमाह—तस्येति। विषहतस्य, परिचारकजनं, वाग्दण्डपारुष्यातिलब्धं वाक्पारुष्यदण्डपारुष्याभ्यां पीडितं, मार्गेत अन्विष्येत्, तथाभूतो हि परिजनः स्वामिनो विषदायी संभाव्यत इति। दुःखोपहतमिति। तथाभूतं, स्त्रीजनम्। अन्यप्रसक्तं वा पुरुषान्तरसक्तं वा स्त्रीजनं, मार्गेतेति वर्तते। दायनिवृत्तिस्त्रीजनाभिमन्तारं वा 'अमुकेन विभक्तव्यो दायस्तस्य मरणे निवृत्तो मामभिगमिष्यती'त्यभिमानवन्तं तस्य स्त्रीजनो मद्भोग्यो भविष्यतीत्यभिमानवन्तं च वा, बन्धुं मार्गेत। तदेव यथोक्तमेव, हतोद्बद्धस्य हत्वोल्लम्बितस्य, परीक्षेत। स्वयमुद्बद्धस्य वेति। स्वयमुल्लम्बनमृतस्य, विप्रकारं अयुक्तं मात्रातिगं पीडनं, मार्गेत केन कीदृशमुत्पादितमित्यन्विष्येत्।

सामान्यतः परमारणनिमित्तान्याह— सर्वेषां वेति। जनसामान्यस्य, रोषस्थानं कोपहेतुः, स्त्रीदायाद्यदोषः स्त्रीनिमित्तो दायादत्वनिमित्तश्च दोषः, कर्मस्पर्धा राजकुलनियोगापचारादिकृतः संघर्षः, प्रतिपक्षद्वेषः शत्रुवैरं, पण्यसंस्था वाणिज्यं अपचारादिद्वारेण, समवायो वा समूहो वा प्राधान्यभङ्गद्वारेण, विवादपदानां अन्यतमं वा पूर्वोक्तानां विवाहसंयुक्तादीनामेकतमं वा, भवतीति शेषः। रोषनिमित्तो, घातः वधः। श्रीमू.

स्वयमादिष्टपुरुषैर्वा चोरैरर्थनिमित्तं सादृश्यादन्यवैरिभिर्वा हतस्य घातमासन्नेभ्यः परीक्षेत। येनाहूतः सहस्थितः प्रस्थितो हतभूमिमानीतो वा, तमनुयुञ्जीत। ये चास्य हतभूमावासन्नचरास्तानेकैकशः पृच्छेत्—केनायमिहानीतो हतो वा कः सशस्त्रः संगूहमान उद्विग्नो वा युष्माभिर्दृष्ट इति। ते यथा ब्रूयुस्तथानुयुञ्जीत।

अनाथस्य शरीरस्थमुपभोगं परिच्छदम्।
वस्त्रं वेषं विभूषां वा दृष्ट्वा तद्व्यवहारिणः॥

(१) कौ. ४।७.

अनुयुञ्जीत संयोगं निवासं वासकारणम्।
कर्म च व्यवहारं च ततो मार्गणमाचरेत्॥
रज्जुशस्त्रविषैर्वाऽपि कामक्रोधवशेन यः।
घातयेत् स्वयमात्मानं स्त्री वा पापेन मोहिता॥
रज्जुना राजमार्गे तां चण्डालेनापकर्षयेत्।
न श्मशानविधिस्तेषां न संबन्धिक्रियास्तथा॥
बन्धुस्तेषां तु यः कुर्यात् प्रेतकार्यक्रियाविधिम्।
तद्गतिं स चरेत् पश्चात् स्वजनाद् वा प्रमुच्यते॥
संवत्सरेण पतति पतितेन समाचरन्।
याजनाध्यापनाद् यौनात् तैश्चान्योऽपि समाचरन्॥

स्वयमिति। आत्मना हतस्य, आदिष्टपुरुषैः स्वनियुक्तपुरुषैर्वा हतस्य, चोरैः अर्थनिमित्तं धनार्थं हतस्य, सादृश्यादन्यवैरिभिर्वा हतस्य हतादन्यस्मिन् वैरवद्भिः 'स एवायमि'ति सादृश्याद् मिथ्याबुद्धिं कृत्वा हतस्य, घातं, आसन्नेभ्यः हतप्रत्यासन्नजनेभ्यः, परीक्षेत अन्विष्य जानीयात्। येनाहूत इत्यादि। संगूहमानः छन्नचरः। उद्विग्नः भीतः। शेषं सुबोधम्।

अनाथस्येत्यादिश्लोकद्वयमेकान्वयम्। अनाथस्य मृतस्य, शरीरस्थं, उपभोगं माल्यादि, परिच्छदं छत्रोपानहादि, वस्त्रं, वेषं जटिलमुण्डितत्वादि, विभूषां वा, दृष्ट्वा, तद्व्यवहारिणः माल्याद्युपभोगव्यवहर्तॄन् मालाकारादीन्, अनुयुञ्जीत पृच्छेत्, किं किं, संयोगं सख्यं, निवासं, वासकारणं, कर्म च वृत्तिं च, व्यवहारं च दानादानक्रियानुष्ठानं च, अर्थाद्धतस्य। ततो मार्गणं घातकान्वेषणं, आचरेत्।

रज्जुशस्त्रेत्यादि। श्लोकद्वयमेकान्वयम्। रज्जुना गुणेन, पुंस्त्वमार्षं, 'रज्ज्वा वे'ति पाठ एव वा प्रमादाद् विरूपितः। संबन्धिक्रियाः ज्ञातिकार्याणि निवपनानि। शेषं सुगमम्। रज्जुवस्त्रेति क्वापि पाठः।

बन्धुस्तेषामित्यादि। तेषां आत्मघातिनाम्। स पश्चात् तद्गतिं चरेत् आत्मघातिप्रेतक्रियाकर्ता देहान्ते आत्मघातिगतिं प्राप्नुयात्। स्वजनाद् वा प्रमुच्यते स्वजनपरित्यक्तश्च भवति, अर्थात् पतितत्वेन हेतुना।

संवत्सरेणेति । पतितेन सह, याजनाध्यापनात्, यौनाद् विवाहसंबन्धाच्च, समाचरन् व्यवहरन्, संवत्सरेण वर्षेणैकेन, पतति । तैश्च पतितसंसर्गपतितैश्च, समाचरन् व्यवहरन्, अन्योऽपि, संवत्सरेण पतति । श्रीमू.

एकाङ्गवधनिष्क्रयः

एकाङ्गवधनिष्क्रयः । तीर्थघातग्रन्थिभेदोर्ध्वकराणां प्रथमेऽपराधे संदंशच्छेदनं चतुष्पञ्चाशत्पणो वा दण्डः । द्वितीये छेदनं पणस्य शत्यो वा दण्डः । तृतीये दक्षिणहस्तवधश्चतुःशतो वा दण्डः । चतुर्थे यथाकामी वधः ।

पञ्चविंशतिपणावरेषु कुक्कुटनकुलमार्जारश्वसूकरस्तेयेषु हिंसायां वा चतुष्पञ्चाशत्पणो दण्डः, नासाग्रच्छेदनं वा । चण्डालारण्यचराणामर्धदण्डाः । पाशजालकूटावपातेषु बद्धानां मृगपशुपक्षिव्यालमत्स्यानामादाने तच्च तावच्च दण्डः ।

मृगद्रव्यवनान्मृगद्रव्यापहारे शत्यो दण्डः । बिम्बविहारमृगपक्षिस्तेये हिंसायां वा द्विगुणो दण्डः ।

कारुशिल्पिकुशीलवतपस्विनां क्षुद्रकद्रव्यापहारे शत्यो दण्डः । स्थूलकद्रव्यापहारे द्विशतः । कृषिद्रव्यापहारे च ।

एकाङ्गवधनिष्क्रय इति सूत्रम् । एकाङ्गं हस्तः पादः अङ्गुलिः कर्ण इत्येवमादि तस्य वधः छेदनं एकाङ्गवधः तद्युक्तो निष्क्रयः तत्प्रतिनिधिर्धनदण्डः एकाङ्गवधनिष्क्रयः सोऽभिधीयत इति सूत्रार्थः । पूर्वाध्याये 'शारीरमेव दण्डं भजेत, निष्क्रयद्विगुणं वा' इत्युक्तम् । कस्मिन्नपराधे शारीरदण्डः, स कस्याङ्गस्य, कियान् वा तस्य निष्क्रय इत्येतत्तु नोक्तम् । तदिह प्रतिपाद्यत इति संगतिः ।

तीर्थघातग्रन्थिभेदोर्ध्वकराणामिति । तीर्थघातः तीर्थे वस्त्राद्यपहर्ता ग्रन्थिभेदः बन्धच्छेत्ता संधिच्छेदको वा ऊर्ध्वकरः पुटच्छेदकः गृहोर्ध्वपटलादौ प्रवेशद्वारकृद् वा एषां त्रयाणां, प्रथमे, अपराधे, संदंशच्छेदनं कनिष्ठिकाङ्गुष्ठयोश्छेदनं, दण्डः । वा अथवा संदंशच्छेदाभावपक्षे, चतुष्पञ्चाशत्पणो दण्डः । द्वितीये अपराधे, पणस्य छेदनं पणशब्देन व्यवहारसाधनाङ्गुलिलक्षणात् सर्वाङ्गुलिच्छेदनं, शत्यो वा दण्डः शतपणो वा निष्क्रयः । तृतीये अपराधे, दक्षिणहस्तवधः, चतुःशतो वा दण्डः निष्क्रयरूपः । चतुर्थेऽपराधे, यथाकामी वधः शुद्धश्चित्रो वा यथेच्छम् ।

पञ्चविंशतीत्यादि । पञ्चविंशतिपणावरेषु पञ्चविंशतिपणाधस्तनमूल्येषु । हिंसायां वा अर्थात् कुक्कुटादीनाम् । अर्धदण्डाः सप्तविंशतिपणात्मकाः । पाशजालकूटावपातेष्वित्यादि । पाशः कर्णिका, जालं आनायः, कूटावपातः तृणादिच्छन्नो मृगपातनार्थो गर्तः, इत्येतेषु । तच्च तावच्च दण्डः अपहृतं च अपहृतसममन्यच्चेति द्वितयं दण्डः ।

मृगद्रव्यवनादित्यादि । मृगवनात् चन्दनादिपण्यद्रव्यवनाच्च । बिम्बविहारमृगपक्षिस्तेये, बिम्बो नानावर्णः कृकलासः, विहारमृगः क्रीडामृगः कृष्णसारादिः, विहारपक्षी शुकादिः, तेषां स्तेये ।

कारुशिल्पिकुशीलवतपस्विनामित्यादि । कारुः स्थूलशिल्पकारी, शिल्पी सूक्ष्मशिल्पकर्ता, कुशीलवः चारणः, तपस्वी तापसः, एतेषाम् । कृषिद्रव्यापहारे हलादिचौर्ये । श्रीमू.

दुर्गमकृतप्रवेशस्य प्रविशतः प्राकारच्छिद्राद् वा निक्षेपं गृहीत्वाऽपसरतः कन्धरावधो, द्विशतो वा दण्डः । चक्रयुक्तां नावं क्षुद्रपशुं वाऽपहरत एकपादवधः त्रिशतो वा दण्डः । कूटकाकण्यक्षारलाशलाकाहस्तविषमकारिण एकहस्तवधः, चतुःशतो वा दण्डः ।

स्तेनपारदारिकयोः साचिव्यकर्मणि स्त्रियाः संगृहीतायाश्च कर्णनासाच्छेदनं, पञ्चशतो वा दण्डः । पुंसो द्विगुणः ।

महापशुमेकं दासं दासीं वाऽपहरतः प्रेतभाण्डं वा विक्रीणानस्य द्विपादवधः, षट्छतो वा दण्डः ।

(१) कौ. ४।१०.

(१) कौ. ४।१०.

**वर्णोत्तमानां गुरूणां च हस्तपादलङ्घने राजयानवाहनाद्यारोहणे चैकहस्तपादवधः सप्तशतो वा दण्डः ।**

**शूद्रस्य ब्राह्मणवादिनो देवद्रव्यमवस्तृणतो राजद्विष्टमादिशतो द्विनेत्रभेदिनश्च योगाञ्जनेनान्धत्वमष्टशतो वा दण्डः ।**

**चोरं पारदारिकं वा मोक्षयतो राजशासनमूनमतिरिक्तं वा लिखतः कन्यां दासीं वा सहिरण्यमपहरतः कूटव्यवहारिणो विमांसविक्रयिणश्च वामहस्तद्विपादवधो नवशतो वा दण्डः । मानुषमांसविक्रये वधः ।**

**देवपशुप्रतिमामनुष्यक्षेत्रगृहहिरण्यसुवर्णरत्नसस्यापहारिण उत्तमो दण्डः शुद्धवधो वा ।**
**पुरुषं चापराधं च कारणं गुरुलाघवम् ।**
**अनुबन्धं तदात्वं च देशकालौ समीक्ष्य च ।।**
**उत्तमावरमध्यत्वं प्रदेष्टा दण्डकर्मणि ।**
**राज्ञश्च प्रकृतीनां च कल्पयेदन्तरास्थितः ।।**

अननुज्ञातप्रवेशस्य दुर्गं प्रविशतः, प्राकारच्छिद्रान्निक्षेपमपहृत्यापसरत इत्यनयोः, कन्धरावधः अर्थात् पादपश्चाद्भागगतसिराद्वयच्छेदनं दण्डः द्विशतपणो वा निष्क्रय इत्याह—दुर्गमित्यादि । चक्रयुक्तामित्यादि । धनयुक्तां शस्त्रयुक्तां वा । कूटकाकण्यक्षारलाशलाकाहस्तविषमकारिण इत्यादि । काकण्यक्षादयो द्यूतसमाह्वये उक्ताः । कूटकाकण्यक्षादिकारिणः हस्तविषमं हस्तकौशलात् काकण्यक्षादिचारवैषम्यकरणं तत्कारिणश्च ।

स्तेनपारदारिकयोरिति । साचिव्यकर्मणि साहाय्यकरणे । स्त्रियाः संगृहीतायाश्चेति चकारात् साचिव्यकर्तुर्जनस्य च । द्विगुणः सहस्रपणः ।

महापशुमित्यादि । महापशुर्गवाश्वमहिषादिः । प्रेतभाण्डं शवमुखपटादिकम् । द्विपादवधः चरणद्वयच्छेदनम् ।

वर्णोत्तमानामित्यादि । हस्तपादलङ्घने हस्तेन पादेन वा ताडने । एकहस्तपादवधः एकस्य हस्तस्य पादस्य च छेदनम् ।

शूद्रस्य ब्राह्मणवादिन इति । ब्राह्मणोऽहमिति वादिनः शूद्रस्य, देवद्रव्यं अवस्तृणतः अवच्छाद्यापहरतः, राजद्विष्टं आदिशतः राज्ञोऽनिष्टं मरणपरचक्राक्रमणादिकं भविष्यत् कथयतो दैवज्ञादेः, द्विनेत्रभेदिनश्च, योगाञ्जनेनान्धत्वं अन्धङ्करणौषधयुक्ताञ्जनलेपेनान्ध्यजननं, अष्टशतो वा दण्डः निष्क्रयार्थः ।

चोरमित्यादि । मोक्षयतः बन्धनान्मोचयतः । सहिरण्यं अपहरतः अलङ्कारेण सहितं यथा भवति तथा हरतः । कूटव्यवहारिणः धूपितरञ्जितादिकपटस्वर्णव्यवहर्तुः । विमांसविक्रयिणश्च अभक्ष्यं सृगालादिमांसं विक्रेतुश्च । वामहस्तद्विपादवधः सव्यहस्तच्छेदनं पादद्वयच्छेदनं च ।

देवेत्यादि । देवसंबन्धिपश्वादिनवकहर्तुः, उत्तमो दण्डः । शुद्धवधो वा अक्लेशमारणं वा ।

प्रान्ते श्लोकावाह — पुरुषमित्यादि । प्रदेष्टा, राज्ञश्च, प्रकृतीनां अमात्यादीनां च, अन्तरास्थितः मध्यस्थः सन्, पुरुषं च, अपराधं च, कारणं च, गुरुलाघवं पुरुषादिगौरवलाघवं, अनुबन्धं आयतिं, तदात्वं च तत्कालफलं च, देशकालौ च, समीक्ष्य पर्यालोच्य, दण्डकर्मणि उत्तमावरमध्यत्वं उत्तमत्वं प्रथमत्वं मध्यमत्वं च कल्पयेत् ।

श्रीमू.

### शुद्धश्चित्रश्च दण्डकल्पः

**शुद्धश्चित्रश्च दण्डकल्पः[1] । कलहे घ्नतः पुरुषं चित्रो घातः । सप्तरात्रस्यान्तः मृते शुद्धवधः पक्षस्यान्तरुत्तमः । मासस्यान्तः पञ्चशतः समुत्थानव्ययश्च ।**

**शस्त्रेण प्रहरत उत्तमो दण्डः । मदेन हस्तवधः । मोहेन द्विशतः । वधे वधः । प्रहारेण गर्भं पातयत उत्तमो दण्डः । भैषज्येन मध्यमः । परिक्लेशेन पूर्वः साहसदण्डः ।**

**प्रसभस्त्रीपुरुषघातकाभिसारकनिग्राहकावघोषकावस्कन्दकोपवेधकान् पथिवेश्मप्रतिरोधकान् राजहस्त्यश्वरथानां हिंसकान् स्तेनान् वा शूलानारोहयेयुः । यश्चैनान् दहेद् अपनयेद्वा स तमेव दण्डं लभेत, साहसमुत्तमं वा ।**

शुद्धश्चित्रश्च दण्डकल्प इति सूत्रम् । शुद्धः अक्लेशमारणं चित्रः क्लेशमारणं इति द्विप्रकारो दण्डविधिरुच्यत

(१) कौ. ४।११.

इति सूत्रार्थः। पूर्वाध्याये वधः प्रस्तुतः। स कस्मिन्नपराधे कीदृशः कर्तव्य इत्येतदिहाभिधीयते। कलहे घ्नत इत्यादि। मृते अर्थाच्छस्त्रादिप्रहृते।, समुत्थानव्ययश्च चिकित्सनादिव्ययश्च।

शस्त्रेणेति। तेन प्रहरतः, उत्तमो दण्डः। मदेन बलदर्पेण, प्रहरतः, हस्तवधः। मोहेन क्रोधेन, प्रहरतः, द्विशतः पणशतद्वयदण्डः। वधे कृते सति, वधः हन्तुः। प्रहारेणेत्यादि। भैषज्येन औषधेन, गर्भं पातयत इति संबध्यते। परिक्लेशेन कृच्छ्रकर्मानुष्ठापनेन।

प्रसभेत्यादि। प्रसभस्त्रीपुरुषघातकः बलात्कारेण स्त्रियाः पुरुषस्य वा घातकः प्रसभाभिसारकः स्त्रीहठाभिसरणकर्ता प्रसभनिग्राहकः बलाज्जानपदकर्णनासादिच्छेदकर्ता अवघोषकः 'हरिष्यामि हनिष्यामि' इत्येवमवघोषणकर्ता अवस्कन्दकः बलान्नगरग्रामादेर्द्रव्यापहारकः उपवेधकः भित्तिसंधिच्छेदनेन चौर्यकर्ता इत्येतान्, पथिवेश्मप्रतिरोधकान् पान्थविश्रमशालापानीयशालयोश्चौर्यकारकान्, राजहस्त्यश्वरथानां राजसंबन्धिनां गजाश्वसहितानां रथानां हिंसकान्, स्तेनान् वा तेषामेव चोरान् वा, शूलान् वध्यारोपणशस्त्रविशेषान् आरोहयेयुः। आरोपयेयुरिति क्वचित् पाठः। यश्चैनानित्यादि। एतान् शूलारोपणमारितान्।

श्रीमू.

[1]**हिंस्रस्तेनानां भक्तवासोपकरणाग्निमन्त्रदानवैयापृत्यकर्मसूत्तमो दण्डः। परिभाषणमविज्ञाने। हिंस्रस्तेनानां पुत्रदारमसमन्त्रं विसृजेत्, समन्त्रमाददीत। राज्यकामुकमन्तःपुरप्रधर्षकमटव्यमित्रोत्साहकं दुर्गराष्ट्रदण्डकोपकं वा शिरोहस्तप्रादीपिकं घातयेत्। ब्राह्मणं तमः प्रवेशयेत्।**

**मातृपितृपुत्रभ्रात्राचार्यतपस्विघातकं वा त्वक्छिरःप्रादीपिकं घातयेत्। तेषामाक्रोशे जिह्वाच्छेदः। अङ्गाभिरदने तदङ्गान्मोच्यः। यदृच्छाघाते पुंसः, पशुयूथस्तेये च शुद्धवधः। दशावरं च यूथं विद्यात्।**

हिंस्रस्तेनानामिति। हिंस्राणां स्तेनानां च, भक्तवासोपकरणाग्निमन्त्रदानवैयापृत्यकर्मसु भक्तदाने वासस्थानदाने उपकरणदाने अग्निदाने मन्त्रदाने वैयापृत्यकर्मणि कैङ्कर्यकरणे च, उत्तमो दण्डः। परिभाषणमविज्ञाने। हिंस्रस्तेना इत्यपरिज्ञानाद् भक्तदानादौ उपालम्भः दण्डः। हिंस्रस्तेनानां असमन्त्रं पुत्रदारं सहमन्त्रणरहितान् पुत्रान् दारांश्च, विसृजेद् निरपराधत्वात्। समन्त्रं पुत्रदारं, आददीत अपराधित्वेन गृहीत्वा दण्डयेत्। राज्यकामुकमित्यादि। अटव्यमित्रोत्साहकं अटवीचराणां पुलिन्दादीनां अमित्राणां उत्साहजनकम्। दुर्गराष्ट्रदण्डकोपकं दुर्गराष्ट्रवासिनां सेनायाश्च कोपोत्पादकम्। शिरोहस्तप्रादीपिकं घातयेत् शिरसि हस्ते च दीपितप्रदीपं कृत्वा मारयेत्। ब्राह्मणं तमः प्रवेशयेदिति। राज्यकामुकादिश्चेद् ब्राह्मणः तं तमोगृहं प्रवेशयेदपुनर्निर्गमाय।

मातृपित्रित्यादि। त्वक्शिरःप्रादीपिकं घातयेत् त्वग्वियोजिते शिरस्यग्निं दीपयित्वा मारयेत्। तेषामाक्रोशे मात्रादीनां निन्दने। अङ्गाभिरदने नखादिना मात्राद्यङ्गविलेखने, तदङ्गाद् मोच्यः करादिकमङ्गं यत् तेषां विलिखितं तेनाङ्गेन विलेखनकर्ता वियोज्यः। यदृच्छया पुरुषवधे पशुयूथचौर्ये चाक्लेशमारणं दण्ड इत्याह—यदृच्छाघात इत्यादि। यूथमानमाह—दशावरमित्यादि।

श्रीमू.

**उदकधारणं सेतुं भिन्दतस्तत्रैवाप्सु निमज्जनम्। अनुदकमुत्तमः साहसदण्डः। भग्नोत्सृष्टकं मध्यमः। विषदायकं पुरुषं स्त्रियं च पुरुषघ्नीमपः प्रवेशयेदगर्भिणीम्। गर्भिणीं मासावरप्रजाताम्। पतिगुरुप्रजाघातिकां अग्निविषदां संधिच्छेदिकां वा गोभिः पादयेत्।**

**विवीतक्षेत्रखलवेश्मद्रव्यहस्तिवनादीपिकमग्निना दाहयेत्। राजाक्रोशकमन्त्रभेदकयोरनिष्टप्रवृत्तिकस्य ब्राह्मणमहानसावलेहिनश्च जिह्वामुत्पाटयेत्। प्रहरणावरणस्तेनमनायुधीयमिषुभिर्घातयेत्। आयुधीयस्योत्तमः। मेढ्रफलोपघातिनस्तदेव छेदयेत्। जिह्वानासोपघाते संदंशवधः।**

**एते शास्त्रेष्वनुगताः क्लेशदण्डा महात्मनाम्।**
**अक्लिष्टानां तु पापानां धर्म्यः शुद्धवधः स्मृतः॥**

(१) कौ. ४।११.

(१) कौ. ४।११.

उदकधारणमिति। जलं धारयन्तं, सेतुं, भिन्दतः, तत्रैव सेतौ, अप्सु निमज्जनं दण्डः। अनुदकं सेतुं, भिन्दतः, उत्तमः साहसदण्डः। भग्नोत्सृष्टकं, स्वयं भग्नम-संस्कृतविसृष्टं, सेतुं भिन्दतः, मध्यमः साहसदण्डः। विषदायकमिति। तादृशं, पुरुषं, स्त्रियं च, पुरुषघ्नीं पुरुषघातिनीं, अपः प्रवेशयेद्, अगर्भिणीं, सा चेद् गर्भिणी न भवति। गर्भिणीं मासावरप्रजातामिति। सा चेद् गर्भिणी, प्रसवानन्तरमेकमासेऽतीते तामप्सु प्रवेशयेत्। पतिगुरुप्रजाघातिकामित्यादि। संधिच्छेदिकां, संधिं छित्त्वा चौर्यकारिणीम्। गोभिः, पादयेत् पादाघातेन मारयेत्। 'प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे' इत्यादिना पादशब्दात् पादाघात-वृत्तेर्णिच्।

विवीतक्षेत्रेत्यादि। विवीतक्षेत्राद्यादीपनकर्तारम्। राजाक्रोशकमन्त्रभेदकयोरिति। तयोः, अनिष्टप्रवृत्तिकस्य राजमरणाद्यनिष्टवार्ताप्रसारकस्य, ब्राह्मणमहानसावलेहिनश्च ब्राह्मणमहानसादन्नमपहृत्य भुञ्जानस्य च, जिह्वां, उत्पाटयेत् छिन्द्यात्। प्रहरणावरणस्तेनमिति। आयुधस्यावरणस्य च चोरं, अनायुधीयं अनस्त्रजीविनं, इषुभिः घातयेत्। आयुधीयस्योत्तमः स चेदायुधादिचोर आयुधजीवी तस्योत्तमसाहसः। मेढ्रफलोपघातिन इति। लिङ्गाण्डयोः रतिसामर्थ्यभञ्जकस्य, तदेव मेढ्रफलमेव, छेदयेत्। जिह्वानासोपघात इति। जिह्वाया रसास्वादनशक्त्युपघाते नासाया गन्धग्रहणशक्त्युपघाते च, संदंशवधः कनिष्ठिकाङ्गुष्ठयोश्छेदनं दण्डः।

एत इति। एत उक्ताः क्लेशदण्डाः, महात्मनां मन्वादीनां, शास्त्रेषु, अनुगता अनुज्ञाता विहिताः। अक्लिष्टानां अदुष्कराणां अल्पानामित्यर्थः, पापानां, शुद्धवधः अक्लेशदण्डः, धर्म्यः न्याय्यः, स्मृतः। श्रीमू.

### अतिचारदण्डः

**अतिचारदण्डः। ब्राह्मणमपेयमभक्ष्यं वा संग्रासयत उत्तमो दण्डः, क्षत्रियं मध्यमः, वैश्यं पूर्वः साहसदण्डः, शूद्रं चतुष्पञ्चाशत्पणो दण्डः। स्वयंग्रसितारो निर्विषयाः कार्याः। परगृहाभिगमने दिवा पूर्वः साहसदण्डः, रात्रौ मध्यमः। दिवा रात्रौ वा सशस्त्रस्य प्रविशत उत्तमो दण्डः। भिक्षुकवैदेहकौ मत्तोन्मत्तौ बलादापदि चातिसंनिकृष्टाः प्रवृत्तप्रवेशाश्चादण्ड्याः, अन्यत्र प्रतिषेधात्। स्ववेश्मनो विरात्रादूर्ध्वं परिवार्यमारोहतः पूर्वः साहसदण्डः। परवेश्मनो मध्यमः। ग्रामारामवाटभेदिनश्च।**

अतिचारदण्ड इति सूत्रम्। अतिचारस्य अभक्ष्यभक्षणागम्यागमनादेर्दण्डोऽभिधीयत इति सूत्रार्थः। चोरादिकण्टकशोधनकथनानन्तरमवशिष्टं स्वधर्मव्यतिक्रमिणां कण्टकानां शोधनमिह प्रतिपाद्यते। ब्राह्मणमपेयमित्यादि। संग्रासयतः संग्रसमानं प्रयोजयतः। शेषं स्फुटम्। स्वयंग्रसितार इत्यादि। विनैव परप्रेरणां अपेयाभक्ष्यग्रासिनः, निर्विषयाः कार्याः देशान्निष्कासयितव्याः। परगृहाभिगमन इत्यादि। सशस्त्रस्य प्रविशतः शस्त्रसहितस्य परगृहं प्रविशतः। भिक्षुकवैदेहकाविति। तौ, मत्तोन्मत्तौ बलात् मधुपानविकृतचित्तः विभ्रान्तचित्तश्चेत्येतौ बलात्कारेण, आपदि च आपत्समये आपन्नाश्च, अतिसंनिकृष्टा बान्धवाः, प्रवृत्तप्रवेशाश्च सौहार्दारब्धप्रवेशाश्च, अदण्ड्याः अर्थात् परगृहं प्रविशन्तः। कदा, अन्यत्र प्रतिषेधाद् गृहजनप्रतिषेधाभावे। स्ववेश्मन इति। स्वगृहस्य, विरात्रादूर्ध्वं रात्रियामापगमात् परतः, परिवार्यं प्राकारकुड्यादिकं, आरोहतः, पूर्वः साहसदण्डः। परवेश्मनः, परिवार्यमारोहतो, मध्यमः। ग्रामारामवाटभेदिनश्च ग्रामवृतिमुपवनवृतिं च भित्त्वा ग्राममुपवनं च प्रविशतश्च, मध्यमः इति संबध्यते। श्रीमू.

**ग्रामेष्वन्तः सार्थिका ज्ञातसारा वसेयुः। मुषितं प्रवासितं चैषामनिर्गतं रात्रौ ग्रामस्वामी दद्यात्। ग्रामान्तेषु वा मुषितं प्रवासितं विवीताध्यक्षो दद्यात्। अविवीतानां चोररज्जुकः। तथाप्यगुप्तानां सीमावरोधविचयं दद्युः। असीमावरोधे पञ्चग्रामी दशग्रामी वा।**

**दुर्बलं वेश्म शकटमनुत्तब्धमूर्धस्तम्भं शस्त्रमनपाश्रयमप्रतिच्छन्नं श्वभ्रं कूपं कूटावपातं वा कृत्वा हिंसायां दण्डपारुष्यं विद्यात्।**

(१) कौ. ४।१३.

(१) कौ. ४।१३.

वृक्षच्छेदने दम्यरश्मिहरणे चतुष्पदानामदान्तसेवने वाहने काष्ठलोष्टपाषाणदण्डबाणबाहुविक्षेपणेषु याने हस्तिना च संघट्टने 'अपेहि' इति प्रक्रोशन्नदण्ड्यः ।

ग्रामेष्वन्तरित्यादि । सार्थिका वणिजो यदि ग्रामान्तर्वसेयुः, तर्हि स्ववशस्थितं सारद्रव्यं तद्ग्राममुख्यायावेद्यैव वसेयुः । मुषितं, प्रवासितं च अन्यत्र नीतं च, एषां सार्थिकानां, अनिर्गतं रात्रौ नक्तं ग्रामाद्बहिर्गतं, ग्रामस्वामी दद्यात् । ग्रामान्तेषु ग्रामसीमासु, मुषितं, प्रवासितं, द्रव्यं, विवीताध्यक्षो दद्यात् । अविवीतानां प्रदेशानां, चोररज्जुकः चोरग्रहणनियुक्तः, दद्यात् । तथाप्यगुप्तानां तेन प्रकारेणाप्यरक्षितानां, सीमावरोधविचय दद्युः यस्य सीमायां मोषणं जातं तत्सीमास्वामी यथा विचयं कुर्यात् तथावसरं दद्युः । असीमावरोधे सीमावरोधस्याप्यभावे, पञ्चग्रामी दशग्रामी वा अर्थात् मोषणदेशनिकटवर्तिनी, दद्यात् मुष्टं प्रत्यानीय प्रतिपादयेत् ।

दुर्बलमिति । दुर्बलं जीर्णदीर्णकुड्यं, वेश्म गृहं, कृत्वा, शकटं अनुत्तब्धमूर्धस्तम्भं अनुद्धृतशिरःस्थूणं, कृत्वा, शस्त्रं, अनपाश्रयं असम्यग्बद्धोर्ध्वाधारं, कृत्वा, अप्रतिच्छन्नं अमृतपूरितं, श्वभ्रं गर्तं, कूपं, कूटावपातं वा कूटगर्तं वा, कृत्वा, हिंसायां, दण्डपारुष्यं तद्विहितं दण्डं, विद्यात् हिंसितुः ।

वृक्षच्छेदन इति । वृक्षस्य छेदनावसरे, दम्यरश्मिहरणे दम्यनस्यबन्धनावसरे, चतुष्पदानां, अदान्तसेवने वाहने अदान्तशिक्षणार्थे वाहने, काष्ठलोष्टपाषाणदण्डबाणबाहुविक्षेपणेषु कलहायमानयोरन्योन्यं प्रति काष्ठलोष्टादिप्रेरणावसरेषु, याने हस्तिना च गजमारुह्य गमनावसरे च, संघट्टने छिन्नवृक्षसंघट्टनादितोऽङ्गभङ्गादिप्रसङ्गे, 'अपेही'ति प्रक्रोशन्, संघट्टनप्राप्तेः पूर्वमेव 'अपसरापसरे'ति प्रकर्षेण क्रोशन्, अदण्ड्यः । श्रीमू.

हस्तिना रोषितेन हतो द्रोणान्नं कुम्भं माल्यानुलेपनं दन्तप्रमार्जनं च पटं दद्यात् । अश्वमेधावभृथस्नानेन तुल्यो हस्तिना वध इति पादप्रक्षालनम् । उदासीनवधे यातुरुत्तमो दण्डः ।

शृङ्गिणा दंष्ट्रिणा वा हिंस्यमानममोक्षयतः स्वामिनः पूर्वः साहसदण्डः । प्रतिक्रुष्टस्य द्विगुणः । शृङ्गिदंष्ट्रिभ्यामन्योन्यं घातयतस्तच्च तावच्च दण्डः । देवपशुमृषभमुक्षाणं गोकुमारीं वा वाहयतः पञ्चशतो दण्डः । प्रवासयत उत्तमः ।

लोमदोहवाहनप्रजननोपकारिणां क्षुद्रपशूनामादाने तच्च तावच्च दण्डः । प्रवासने च, अन्यत्र देवपितृकार्येभ्यः ।

छिन्ननस्यं भग्नयुगं तिर्यक्प्रतिमुखागतं च प्रत्यासरद्वा चक्रयुक्तं यानपशुमनुष्यसंबाधे वा हिंसायामदण्ड्यः । अन्यथा यथोक्तं मानुषप्राणिहिंसायां दण्डमभ्यावहेत् । अमानुषप्राणिवधे प्राणिदानं च ।

बाले यातरि, यानस्थः स्वामी दण्ड्यः । अस्वामिनि यानस्थः प्राप्तव्यवहारो वा याता । बालाधिष्ठितमपुरुषं वा यानं राजा हरेत् । कृत्याभिचाराभ्यां यत् परमापादयेत् तदापादयितव्यः ।

हस्तिना रोषितेन हत इति । गजेन तद्गमनमार्गाभिमुखशयनकोपितेन हतः, द्रोणान्नं द्रोणपरिमाणमोदनं, कुम्भं मद्यकुम्भं, माल्यानुलेपनं, दन्तप्रमार्जनं पटं च दन्तसक्तासृक्प्रमृष्टिसाधनं वस्त्रं च, दद्यात् हस्तिने । तेन हस्तिसकाशादात्मघातमिच्छता पूर्वसज्जितं द्रोणान्नादिकं तन्मरणानन्तरं तदीयो बन्धुर्दद्यादित्यर्थः । कस्मादेवं हन्ता पूज्यत इत्यत्राह – अश्वमेधावभृथस्नानेनेति । अश्वमेधयज्ञान्तस्नानेन, तुल्यः तुल्यपुण्यः, हस्तिना वध इति हेतोः, पादप्रक्षालनं हस्तिनः पूजाविशेषोऽयमित्यर्थः । अरोषयितृवधे हस्त्यारोहस्योत्तमसाहसो दण्ड इत्याह— उदासीनेत्यादि ।

शृङ्गिणेति । शृङ्गिणा गवादिना, दंष्ट्रिणा वा श्वादिना वा, हिंस्यमानं, अमोक्षयतः, स्वामिनः हिंसकस्वामिनः, पूर्वः साहसदण्डः । 'हिंसन्तं वारय' इत्यप्रतिक्रुष्टस्यायं दण्डः, प्रतिक्रुष्टस्य त्वाह—प्रतिक्रुष्टस्य द्विगुण इति । शृङ्गिदंष्ट्रिभ्यामिति । ताभ्यां, अन्योन्यं शृङ्गिणा दंष्ट्रिणं दंष्ट्रिणा शृङ्गिणं च, घातयतः, तच्च तावच्च तन्मूल्यं तत्परिमाणमन्यच्च द्रव्यं, दण्डः । देवपशुमिति । देवसंबन्धिनं पशुं, ऋषभं, उक्षाणं देवगोवृन्दसेक्तारं

(१) कौ.४।१३.

पुङ्गवं, गोकुमारीं वा, वाहयतः हरतः, पञ्चशतो दण्डः। प्रवासयतः मारयतः, उत्तमः।

लोमदोहवाहनप्रजननोपकारिणामिति। ऊर्णादिदानोपकारिणां, क्षुद्रपशूनां मेषादीनां, आदाने अपहरणे, तच्च तावच्च दण्डः। प्रवासने च, तच्च तावच्च दण्डः। अन्यत्र देवपितृकार्येभ्यः, देवपितृकार्यार्थे प्रवासने तु न दोषः।

छिन्ननस्यमिति। छिन्नबलीवर्दनासारज्जुकं, भग्नयुगं भग्नेषान्तदारुकं, तिर्यक्प्रतिमुखागतं च, तिर्यगागतमभिमुखागतं च, प्रत्यासरद् वा पश्चादपसरद् वा, चक्रयुक्तं शकटं, यदा भवति तदेति शेषः, यानपशुमनुष्यसंबाधे वा ततइतो गच्छतां यानपश्वादीनां भ्रमणसंकटे वा, हिंसायां पशुमनुष्यवधसंभवे, अदण्ड्यः शाकटिकः। अन्यथा छिन्ननस्यत्वाद्यभावे, मानुषप्राणिहिंसायां, यथोक्तं दण्डं अभ्यावहेत्। अमानुषप्राणिवधे अजकुक्कुटादिवधे, प्राणिदानं च, कार्यम्।

बाले यातरीति। यन्तरि अप्राप्तव्यवहारे सति, यानस्थः स्वामी दण्ड्यः, शकटनिमित्तप्राणिहिंसासंभवे। अस्वामिनि याने, यानस्थो दण्ड्यः, प्राप्तव्यवहारो याता वा यन्ता वा दण्ड्यः। बालाधिष्ठितमपुरुषं वेति। बालयन्तृकं प्रधानपुरुषरहितं वा, यानं, राजा हरेत्। कृत्याभिचाराभ्यामिति। ताभ्यां, यत् मारणस्तम्भनादि, परं अन्यजनं, आपादयेत् प्रापयेत्, तद्, आपादयितव्यः अर्थात् कृत्याभिचारकारकः। श्रीमू.

## मनुः

स्तेयसाहसयोर्निरुक्तिः

**स्यात्साहसं त्वन्वयवत् प्रसभं कर्म यत्कृतम्।**
**निरन्वयं भवेत्स्तेयं हृत्वाऽपव्ययते च यत्*॥**

साहसिकः पापकृत्तमः, तस्योपेक्षा राज्ञा नैव कर्तव्या

**[1]ऐन्द्रं स्थानमभिप्रेप्सुर्यशश्चाक्षयमव्ययम्।**
**नोपेक्षेत क्षणमपि राजा साहसिकं नरम्॥**

* साहसपदनिरुक्तिः अव्यवहितोत्तरश्लोकस्य मेधातिथिव्याख्याने द्रष्टव्या। व्याख्यासंग्रहः स्थलादिनिर्देशश्च स्तेये द्रष्टव्यः।

(१) मस्मृ. ८।३४४; स्मृचि. २६ न्द्रं (न्द्र); समु. १५९; नन्द. क्षय (क्षय्य).

(१) सहो बलं, तेन वर्तते साहसिकः। दृष्टादृष्टदोषानपरिगणय्य, बलमाश्रित्य, स्तेयहिंसासंग्रहणादिपरपीडाकरेषु वर्तमानः प्रकाशं पुरुषः साहसिकः। तदुक्तं, 'स्यात्साहसमि'ति। न स्तेयादिभ्यः पदार्थान्तरं साहसं, किन्तु प्रसह्यकरणात् तान्येव साहसानि भवन्ति। यदप्यग्निदाहवस्त्रपाटनादि साऽपि द्रव्यनाशात्मकत्वाद्धिंसैवेति, तस्य निग्रहं नोपेक्षेत न विलम्बेत क्षणमपि, यदा गृहीतस्तदैव निग्रहीतव्यः। इन्द्रस्वामिकं स्थानं स्वर्गाख्यमैन्द्रं तदाभिमुख्येन प्राप्तुमिच्छन्। अथवा स्वमेव राज्यपदमैन्द्रमिव इच्छन् अविचालित्वसामान्यं, निग्राह्य, निग्रहेण हि प्रतापानुग्रहाभ्यां प्रजा अनुप्रवर्तन्ते। तदुक्तं 'समुद्रमिव सिन्धवः' इति। यशोऽक्षयमव्ययं च, द्वैधविशेष्यविशेषणे, स्थानमव्ययं यशोऽक्षयमिति। अथोभयेनापि यशो विशिष्यते। क्षयो मात्रापचयः। व्ययो निरन्वयविनाशः। उभयमपि तन्नास्ति। न मालिनीभवति यशो न कदाचिद्विच्छिद्यते। भूतार्थवादस्तुतिरियम्। +मेधा.

(२) इदानीं साहसमाह—ऐन्द्रमिति। सर्वाधिपत्यलक्षणं पदं चाविनाशनं अनपचयं ख्यातिं चाभिमुख्येन इच्छन् राजा साहसेन बलवशेनापि अग्निदाहवस्त्रपाटनादिकारिणं मनुष्यं क्षणमपि नोपक्षेत। गोरा.

(३) अक्षय्यं स्वरूपेण, अव्ययं फलेन। नन्द.

**[1]वाग्दुष्टात्तस्कराच्चैव दण्डेनैव च हिंसतः।**
**साहसस्य नरः कर्ता विज्ञेयः पापकृत्तमः॥**

(१) अयमपरार्थवादो निग्रहविधिस्तुत्यर्थः। वाचा दुष्टो वाग्दुष्टः तस्करश्चौरः। दण्डेनैव दण्डपारुष्यकृत्, दण्डः प्रहरणोपलक्षणार्थः। त्रिभ्य एतेभ्योऽनन्तरातिक्रान्तेभ्यः पापकारिभ्योऽयमतिशयेन पापकृत्तमः।
* मेधा.

(२) वाग्दुष्टो वाक्पारुष्यकृत्, दण्डेन हिंसको दण्डपारुष्यकृत्। मवि.

+ मवि., मच. मेधावत्। ममु. मेधावत् गोरावच्च।

* गोरा., मवि., ममु., मच., नन्द. मेधावत्।

(१) मस्मृ. ८।३४५ [ सतः (सकः, रुकात्) Noted by Jha.]

१ त्वात्सिद्धैवेति.

**साहसे वर्तमानं तु यो मर्षयति पार्थिवः।**
**स विनाशं व्रजत्याशु विद्वेषं चाधिगच्छति ॥**

(१) अयमप्यर्थवादः। साहसे स्थितं पुरुषं यो मर्षयति। प्रकृत्यर्थेऽयं णिच्। यो मृष्यति क्षमते, स विनाशं प्राप्नोति। द्वेष्यतां च प्रजासु प्राप्नोति, द्वेष्यश्चाभिभूयते। मेधा.

(२) स साहसकारिभिः क्षिप्रमेव विनाश्यते। गोरा.

(३) स पापकृतामुपेक्षणादधर्मबुद्ध्या विनश्यति। अपक्रियमाणराष्ट्रतया जनविद्वेषं च गच्छति। ममु.

**न मित्रकारणाद्राजा विपुलाद्वा धनागमात्।**
**समुत्सृजेत्साहसिकान् सर्वभूतभयावहान् ॥**

(१) अत आह, पार्श्वस्थस्य कस्यचित्स्नेहहेतोरमात्यादिना प्रार्थ्यमानो न मृष्येत्। अथवा स एवातिबहुधनं ददातीति नोपेक्षेत[1]। सर्वेषां भूतानां भयमावहन्ति साहसिकाः। अयमप्यर्थवादः। मेधा.

(२) अयं मित्रं भवतु मां नापकरोतु प्रत्युपकरिष्यतीति वा। सर्वभूतभयावहांनित्यनेन मामुपकरिष्यतीति निरस्तम्। मच.

निमित्तविशेषे साहसानुज्ञा

**शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुध्यते।**
**द्विजातीनां च वर्णानां विप्लवे कालकारिते ॥**
**आत्मनश्च परित्राणे दक्षिणानां च संगरे।**
**स्त्रीविप्राभ्युपपत्तौ च घ्नन् धर्मेण न दुष्यति ॥**

(१) 'वैणवीं धारयेद्यष्टिम्' इति विधानादनुदितशस्त्रग्रहणाः श्रोत्रियाः। स्वबलाविष्टं भवति च साहसिके बलातिशयधायि च शस्त्रमतः साहसिकत्वाशङ्कया शस्त्रग्रहणमप्राप्तं विधीयते—शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यमिति। एतावता वाक्यं विच्छिद्यते। अवशिष्टं तु 'घ्नन् धर्मेण' इत्यनेनाभिसंबध्यते इत्यतो द्वे एते वाक्ये। ये त्वेतेष्वेव निमित्तेषु ग्रहणमिच्छन्ति नान्यदेति तेषामतर्कितोपनताततायिमुखपतितस्याशस्त्रस्य का गतिः। न हि ते शस्त्रग्रहणं तस्य प्रतिपालयन्ति। अथैवं व्याख्यायते 'धर्मो यत्रोपरुद्धयते' 'विप्लवे कालकारिते' राजनि व्यतिक्रान्ते, संस्थायां प्रवृत्तायां, शस्त्रं ग्राह्यम्। अन्यदा तु सौराज्ये राजैव रक्षतीति। न हि प्रसार्य हस्तौ राजा प्रतिपुरुषं आसितुं शक्नोति। भवन्ति केचिद्दुरात्मानो ये राजपुरुषानपि शूरतमाभियुक्तान् बाधन्ते, शस्त्रवतस्तु बिभ्यतीति सार्वकालिकं शस्त्रधारणं युक्तम्। किं पुनर्ग्रहणमत्र[1] बिभीषिकाजननमात्रम्? नेत्याह। घ्नन्धर्मेण न दुष्यतीति हिंसापर्यन्तोऽयमुपदेशः। यत्त्वापस्तम्बेनोक्तं 'न ब्राह्मणः परीक्षार्थमपि शस्त्रमाददीते'ति असति यथाभिहिते[2] निमित्ते आकर्षणस्य प्रतिषेधो, न ग्रहणस्य, विकोशा हि परीक्ष्यन्ते।

धर्मस्योपरोधो यदा यज्ञादीनां विनाशः कैश्चित्क्रियते, वर्णानां विप्लवोऽव्यवस्थानं वर्णसंकरादि, कार्यकालकारिते राजमरणादौ, तत्र स्वधनकुटुम्बरक्षार्थं शस्त्रं ग्राह्यम्। अन्ये तु परार्थमप्यस्मिन्नवसरे। तथा च गौतमः—'दुर्बलहिंसायां चाविमोचने शक्तश्चेदि' ति। उक्तं यज्ञविनाशशङ्कानिवृत्त्यर्थं शस्त्रग्रहणम्। निमित्तान्तरमाह—आत्मनश्च परित्राणे, परिः सर्वतोभावे। शरीरभार्याधनपुत्ररक्षार्थं घ्नन्धर्मेण न दुष्यति। दक्षिणानां च संगरोऽवरोधः। यदि यज्ञार्थं कल्पिता दक्षिणाः कैश्चिदपन्हियेरंस्तदा तन्निमित्तं

---

(१) **मस्मृ.** ८।३४६.

(२) **मस्मृ.** ८।३४७; **स्मृचि.** २६.

(३) **मस्मृ.** ८।३४८ [द्विजा......प्लवे (विप्राणां विप्लवे धर्मविप्लवे) Noted by Jha]; **मिता.** २।२१ (=) पू., २।२८६ (=) पू.; **स्मृच.** ३१३; **पमा.** ४६७ (=) पू.; **रत्न.** १२७; **दवि.** ९ त्रोप (त्राव); **नृप्र.** २०८.धर्मो यत्रोप (यत्र धर्मोप) पू.; **सवि.** १५४ (=) पू.; **व्यप्र.** १५ (=) पू. : ३९५ : ४०० (=) पू.; **व्यउ.** ९ (=) पू. : १३३ : १३७ पू., स्मृतिः; **विता.** ७५५ : ८०५ पू.; **बाल.** २।२१, २।२८६ उत्त.; **समु.** १४७.

(४) **मस्मृ.** ८।३४९ ग. घ्नन् धर्मेण (धर्मेण घ्नन्) [भ्युप (ध्युप) दुष्यति (नश्यति) Noted by Jha]; **मेधा.** भ्युप (भ्यव); **मिता.** २।२१ (=) दुष्यति (दण्डभाक्); **स्मृच.** ३१३ भ्युप (भ्यव); **रत्न.** १२७; **दवि.** ९ ; **सवि.** १५४ (=) आत्मनश्च (आत्मना स्व) प्राभ्युप (त्तादिवि) दुष्यति (दूष्यते); **व्यप्र.** १५ (=), ३९५; **व्यउ.** ९ (=) उत्त. : १३३; **विता.** ७५५ स्मृचवत्; **बाल.** २।२८६; **समु.** १४७ स्मृचवत्; **नन्द.** स्मृचवत्.

[1] नापे.

[1] मात्रं. [2] थाभिहते.

योद्धव्यम्। अन्ये तु एवमभिसंबध्नन्ति। दक्षिणानां हेतोः संगरे। यदुपरोधः प्रवृत्ते धर्मेऽप्रवृत्ते दक्षिणासंगर इति(?)। विशेषाणामभ्यवपत्तिः परिभवः। यत्र स्त्रियः साध्व्यो हठात्केनचिदुपगम्यन्ते हन्यन्ते वा, एवं ब्राह्मणाः केनचिद्धन्यन्ते, तत्र घ्नन् खड्गादिना न दुष्यति, हिंसाप्रतिषेधातिक्रमो न कृतो भवतीत्यर्थः। असति प्रतिषेधे कामचारप्राप्तौ विध्यन्तरपर्यालोचनया गौतमवचनमनुध्यायमानेन 'दुर्बलहिंसायां चाविमोचने शक्तश्चेत्' इत्यवश्यं हनने प्रवर्तितव्यम्। अथ प्रहारशङ्का भवति तदा सर्वत एवात्मानं गोपायेदित्युपेक्षा। *मेधा.

(२) ब्राह्मणादिभिश्च खड्गाद्यायुधं ग्रहीतव्यम्। यस्मिन् काले वर्णाश्रमिणां चौरादिभिः धर्मं कर्तुं न दीयते तत्र, तथा द्विजानां ब्राह्मणादीनां राजाभावपरचक्राक्षेपकारादिभिः कालजनिते वर्णानां संकरे, तथा आत्मनश्च शरीरदारादिरक्षायां, दक्षिणासंबन्धिनि संगरे अपहारनिमित्ते संग्रामे, स्त्रीब्राह्मणरक्षायां च धर्मेण अकूटयुद्धेन तेन शस्त्रेणानेनानन्यगतिकः परान् हिंसन्न प्रत्यवैत्येवं चात्र साहसदण्डो न कार्यः। ×गोरा.

(३) द्विजातिभिस्त्रिभिरपि ग्राह्यं किमुत राज्ञेत्यर्थः। धर्मस्योपरोधे बलात्साहसिकैरधर्मप्रवर्तने। द्विजातीनां विप्लव उत्तमया स्त्रिया अधमेन योगात्संकरे कालकारिते न तु देशकृते। तेषां तत्प्रायत्वेन निवर्तनासंभवात्। आत्मनः परित्राणे प्राणरक्षणे। दक्षिणानां दक्षिणार्थं तदपहारे केनचित्क्रियमाणे संगरे युद्धे। स्त्रीविप्रयोरभ्युपपत्तौ प्राणरक्षणे। धर्मेण विषदिग्धशराद्यधार्मिकप्रकारत्यागेन। मवि.

(४) मनुस्तु क्रोधादितः प्रेरितानां साहसिकानामुक्तो यो दण्डस्तस्याभावं दोषाभावकथनमुखेन विधितः प्रेरितानां साहसिकानां कथयति—शस्त्रमित्यादि। धर्मस्तटाकारामादिको भेदनच्छेदनादिना साहसिकैर्यत्र देशे काले चोपरुध्यते। तथा शूद्रेतरवर्णसंकरे परदाराक्रमणादिरूपे राजाभावकालकारिते, तथात्मनः परतः प्राणसंशये, तथा दक्षिणानां गवां संगरे ग्रहणनिमित्तकयुद्धे। तथा स्त्रीविप्राभ्यवपत्तौ दुर्बलहिंसानिवारणे, द्विजातिभिः क्षत्रियधर्माश्रयणरहितैरपि समर्थैः शस्त्रं ग्राह्यमिति संबन्धः। क्षत्रियस्य प्रजामात्ररक्षणार्थं शस्त्रग्रहणं प्राप्तमिति तद्व्यतिरिक्तविप्रवैश्यविषयं द्विजातिग्रहणम्। तथा च बौधायनः —'ब्राह्मणार्थे गवार्थे वा वर्णानां वाऽपि संकरे। गृह्णीयातां विप्रविशौ शस्त्रं धर्मव्यतिक्रमे॥' गौतमोऽपि —'प्राणसंशये ब्राह्मणोऽपि शस्त्रमाददीत। दुर्बलहिंसायां विमोचने शक्तश्चेदि'ति। ब्राह्मणग्रहणं वैश्यस्यापि प्रदर्शनार्थम्। अत एव विष्णुः —'आत्मत्राणे वर्णसंकरे वा ब्राह्मणवैश्यौ शस्त्रमाददीयाताम्' इति। यत्तु बौधायनेनोक्तं—'भार्यार्थमपि ब्राह्मण आयुधं नाददीते'ति, यदप्यापस्तम्बेन —'परीक्षार्थोऽपि ब्राह्मण आयुधं नाददीत' इति, उभयत्रापि अपिशब्देन बिभीषिकार्थं हिंसार्थं वा ब्राह्मणस्य शस्त्रग्रहणं दूरोत्सारितमिति गम्यते। तेन बिभीषिकार्थं ब्राह्मणस्य शस्त्रग्रहणविधानं पूर्वोक्तं विरुध्यते। सत्यम्। अत एव पूर्वोक्तधर्मोपरोधादिशस्त्रग्रहणविधिविषयादन्यत्र प्रतिषेधोऽवतिष्ठते इति व्यवस्थापनीयम्। 'घ्नन् धर्मेण न दुष्यति' इति वदता मनुना हिंसापर्यन्तोऽयं शस्त्रग्रहणोपदेशो न बिभीषिकामात्रसंजननायेति दर्शितम्। 'घ्नन् धर्मेण न दुष्यति' इत्यस्य यद्यपि क्षात्रयुद्धधर्मेण घ्नन् न दुष्यतीत्यर्थोऽवभाति तथापि धर्मोपरोधकादिहिंसाया अवश्यकर्तव्यत्वात्तत्र क्षात्रयुद्धधर्मेण घ्नन्नित्यर्थायोगात् धर्मेण हिंसादिविधिना प्रेरितो भूत्वा घ्नन्न दुष्यतीत्यर्थोऽवगन्तव्यः। एतदुक्तं भवति—धर्मोपरोधकादिहिंसायाश्चोदितत्वात्तत्कर्ता न दुष्यतीति। तथा च मनुवृत्तावुक्तम्—'स्तेनादीनां वधः क्षात्रधर्मेणेत्ययुक्तं, तद्धननस्यावश्यकर्तव्यत्वात्। तस्माद्धर्मेण शास्ता न दुष्यतीति द्रष्टव्यमि'ति। *स्मृच. ३१३

(५) धर्मेण हेतुना घ्नन् नार्थार्थेन दुष्यति, न साहसिको भवति। नन्द.

**गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।**

* मिता. व्याख्यानं दर्शनविधौ (पृ. ८३) द्रष्टव्यम्।
× मस्मु., दवि., मच. गोरावत्.

* व्यप्र. स्मृचवत्।

(१) मस्मृ. ८।३५०; मिता. २।२१ (=); अप. २।२१ ब्राह्मणं (श्रोत्रियं); स्मृच. ३१३; रत्न. १२७; दवि. ९ द्धौ (द्धं); सवि. १५२ (=); व्यप्र. १४ (=); व्यउ. ८ (=); व्यम. १०४; विता. ७५७; बाल. २।२८६; सेतु. १००; समु. १४७.

आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् * ॥

(१) आत्मपरित्राणार्थमविचारेण योद्धव्यम्। तदनु-दर्शयति— गुरुमिति। आततायुच्यते यः शरीरधनदार-पुत्रनाशे सर्वप्रकारमुद्यतः। तमविचारयन्न विचारयन् हन्यात्। गुर्वादिग्रहणमर्थवादः। एतेऽपि हन्तव्याः किमु-तान्य इति। एतेषां त्वाततायित्वेऽपि वधो नास्ति। 'आचार्यं च प्रवक्तारम्' इत्यनेनापकारिणामपि वधो निषिद्धः। 'गुरुमाततायिनं' इति शक्यः संबन्धस्तथा सत्याततायि-विशेषणमेतत्ततो गुर्वादिव्यतिरिक्तस्य आततयिनः प्रतिषेधः कुतः स्याद्वाक्यान्तराभावात्। अथ 'नाततायिवधे दोषः' इत्येतद्वाक्यान्तरं सामान्येनाभ्यनुज्ञापकमिति। तदपि न। विधेरश्रवणात्। पूर्वशेषतया चार्थवादत्वे प्रकृतवचनत्वात् इह भवन्तस्त्वाहुर्यद्यपि आततायिनमित्येव विधिरवशिष्टो-ऽर्थवादस्तथापि गुर्वादीनां वधानुज्ञानं यतोऽन्यदपकारि-त्वमन्यदाततायित्वं, यो ह्यन्यां कांचन पीडां करोति न सर्वेण शरीरादिना सोऽपकारी, अन्यस्त्वाततायी, तथा च पठ्यते— 'उद्यतासिर्विषाग्निभ्यां शापोद्यतकरस्तथा। आथर्वणेन हन्ता च पिशुनश्चापि राजतः॥ भार्याति-क्रमकारी च रन्ध्रान्वेषणतत्परः। एवमाद्यान्विजानीयात्स-र्वानेवाततायिनः॥' आयान्तमिति वचनादात्तशस्त्रो हन्तु-मभिधावन्, दारान् वा जिहीर्षन् हन्तव्यः। कृते तु दोषे किमन्यत्करिष्यतीति उपेक्षा इति ब्रुवते। तदयुक्तम्। यतः 'प्रकाशमप्रकाशं चे'ति वक्ष्यति। समानौ ह्येतौ करि-ष्यन् कृतवांश्च, दुष्टौ चेति। तस्मादायान्तमित्यनुवादः कर्तुमागतं कृत्वा वा गतमिति। आततायित्वाचासौ हन्यते। न च कृतवत आततायित्वमपैति। नास्यात्मनो रक्षार्थ एव वध 'आत्मनश्च परित्राण' इत्यनेनोक्तः।

×मेधा.

(२) आततायिनं हननप्रवृत्तं हन्यादेवाङ्गच्छेदादि-रूपघातेन न त्वत्यन्तं, 'अन्यत्र गोब्राह्मणादि'ति गौतम-स्मृतेः।

मवि.

(३) धर्मोपरोधकादिहननचोदना स्मृत्यनुमेया। न प्रत्यक्षश्रुतेति दर्शयितुमुपक्रमस्मृतिवाक्यमाह मनुः —— गुरुमिति। अत्र गुर्वादिपदानि अन्यपरतया प्रयुक्तानीति दर्शयितुं तेषां तात्पर्यार्थौ वृत्तिकारेण दर्शितः। गुरुं वा मान्यतमं वेत्यर्थः। बालवृद्धौ वा कृपाविषयमपीत्यर्थः। ब्राह्मणं वा बहुश्रुतं समस्तपात्रगुणयुक्तमित्यर्थः। उत्तरा-र्धार्थोऽपि तेनैव दर्शितः। वधार्थमधिकारविच्छेदा-र्थमवश्यमेतीत्याततायिनमायान्तं प्रवृत्तं प्राणाद्यपहारे हन्यादेव, अविचारयन्निति अवधारणं नियमपरमिति। कात्यायनोऽपि —— 'विनाशहेतुमायान्तं हन्यादेवाविचा-रयन्'। विनाशहेतुं उदासीनम् (?)। जलभेदादिविनाश-हेतुमाततायिनमिति यावत्। एतदुक्तं भवति। किमात-तायिवधः सदोषो निर्दोषो वेति विचारो न कर्तव्यः। वैधत्वादिति। क्वचिदपि विचारयन्निति पाठादर्शनात्। वसिष्ठोऽपि वैधत्वं दर्शयति —'आततायिनमायान्तमपि वेदान्तगं रणे। जिघांसन्तं जिघांसीयान्न तेन भ्रूणहा भवेत्॥' इति। अत्र केचिदाहुः। आततायिवधविधि-वाक्यत्रयेऽप्यायान्तमिति वचनादात्तशस्त्रो हन्तुमुन्मुखोऽ-भिधावन् दारादीन् वा जिहीर्षन् हन्तव्यः। कृते त्वनर्थे किमन्यत्करिष्यतीति उपेक्षणीय एवेति। तत्र कृते त्वनर्थ इत्याद्ययुक्तमित्यपरे दूषयन्ति। करिष्यन् कृतवांश्च द्वावपि दौष्ट्येन समौ वधार्हावेव। तस्मादायान्तमिति पदं कृत्वाऽऽगतस्याप्याततायिन उपलक्षणार्थमुक्तमिति। अन्ये पुनरेवमाहुः—वर्तमानार्थजिघांसन्तमिति विधिवाक्यस्थ-पदपर्यालोचनया वर्तमानविषदानादिव्यापारा एवातता-यिन उच्यन्ते। तद्व्यापारनिवारणं च यत्राततायिवधमन्त-रेण न संभवति तत्रैव तद्वधाभ्यनुज्ञा, सत्यां गतौ वध-स्यानुचितत्वात्। तेन विषोपदानादौ व्याप्रियमाणः प्रहरणादिमात्रेणानिवार्यः हन्तव्यः। विषदानादौ व्यापृतस्य ग्रह(प्रहर)णादिमात्रेण निवारयितुं शक्यस्य वा वधो दोषनिमित्तमेवेति। तदपि न। न हि विषदानादिव्यापारेषु व्यापृतानां व्यापारनिवृत्तावपि पूर्वसिद्धं परशरीरादिविना-शहेतुत्वलक्षणमाततायित्वमपैति, तदुक्तं मेधातिथिना— 'आततायित्वाचासौ हन्यते। न हि कृतवत आततायित्व-मपैती' ति। तेन विषदानादौ व्यापृतोऽपि आततायित्वा-द्धन्तव्य इति मेधातिथेरभिप्रायः।

---

* मिता., अप., व्यप्र. व्याख्यानानि व्यवहारमातृकायां प्रथमभागे दर्शनविधौ (पृ. ८३, ८४, ८५ इत्यत्र क्रमेण) द्रष्ट-व्यानि। दवि., व्यप्र. मितावद्भावः।

× गोरा. मेधावत्।

१ तस्त्वा. २ सृष्टश्चेदिति त.

ननु च दारादिरक्षणार्थो वध इति कृते दारादिविप्लवे पश्चाद्वधो व्यर्थ इति उपेक्ष्य एव कृतवानाततायी; न हन्तव्यः। मैवम्। न दारादिरक्षणार्थो वधविधिः किन्तु दारादिविप्लवादिनिमित्ते वधो विधीयते। रक्षणार्थस्तु वधविधिरात्मनश्च परित्राण इत्यादौ क्वचिदेव, तस्मात्कृतवानित्याततायी नोपेक्ष्यः। स्मृच. ३१३-४

(४) गुरुबालवृद्धबहुश्रुतब्राह्मणानामन्यतमं वधोद्यतमागच्छन्तं विद्यावित्तादिभिरुत्कृष्टं पलायनादिभिरपि स्वनिस्तरणाशक्तौ निर्विचारं हन्यात्। अत एवोशना— 'गृहीतशस्त्रमाततायिनं हत्वा न दोषः'। कात्यायनश्च भृगुशब्दोल्लेखेन मनूक्तश्लोकमेव व्यक्तं व्याख्यातवान्। 'आततायिनि चोत्कृष्टे तपःस्वाध्यायजन्मतः। वधस्तत्र तु नैव स्यात्पापं हीने वधो भृगुः ॥' मेधातिथिगोविन्दराजौ तु 'स्त्रीविप्राभ्युपपत्तौ च घ्नन्धर्मेण न दुष्यति' इति पूर्वस्यायमनुवादः। गुर्वादिकमपि हन्यात् किमुतान्यमपीति व्याचक्षाते। ममु.

(५) अथवा — दुरुक्तभाषणमेवात्र हिंसा 'वाग्भिस्तैस्तैर्जघान ताम्' इति वचनात्। अथवा प्रतिकूलाचरणे हन्तिप्रयोगो, यथा चात्र प्रतिभाति तथा द्वैतविवेके वक्ष्यामः। दवि. १०

(६) अविचारयन् गुर्वादीन् हन्यात्, त्यागं कुर्यात् न तु हिंसां कुर्यात्। हन हिंसागत्योरित्यस्य धातोर्गत्यर्थता, न हिंसार्थम्। भाच.

**अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः।**
**क्षेत्रदारहरश्चैव षडेते ह्याततायिनः*॥**
**[२]उद्यतासिर्विषाग्निभ्यां शापोद्यतकरस्तथा।**
**आथर्वणेन हन्ता च पिशुनश्चापि राजनि+॥**

* 'अग्निदो' इत्यस्य श्लोकस्य व्याख्यानं वसिष्ठे (पृ.१६०८) द्रष्टव्यम्।

\+ 'उद्यतासि' इत्यादिश्लोकयोर्व्याख्यानं एतत्समानकात्यायनवचनयोरुपरि अस्मिन्नेव प्रकरणे द्रष्टव्यम्।

(१) मस्मृ. ८।३५० इत्यस्योपरिष्टात् प्रक्षिप्तश्लोकोऽयम्; गोरा. रहरश्चैव (रापहारी च) ह्या (आ) वसिष्ठः; मिता. २।२१ (=); मवि. गोरावत्, स्मृत्यन्तरम्; दवि. २३४ गोरावत्, मनुवसिष्ठौ; सवि. १५३ (=) रहरश्चैव (रापहर्ता च) ह्या (आ); मच. (=) सविवत्; व्यप्र. १४ (=) ह्या (आ); भाच. (=) गोरावत्. अधिकस्थलनिर्देशो वसिष्ठे द्रष्टव्यः।

(२) मस्मृ. ८।३५० इत्यस्योपरिष्टात् प्रक्षिप्तश्लोकोऽयम्; मेधा. (=); भाच. (=).

**[१]भार्यारिक्थापहारी च रन्ध्रान्वेषणतत्परः।**
**एवमाद्यान्विजानीयात्सर्वानेवाततायिनः॥**
**[२]नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन।**
**प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा मन्युस्तं मन्युमृच्छति÷॥**

(१) न कश्चन इति नाधर्मो न दण्डो न प्रायश्चित्तमिति। प्रकाशं जनसमक्षं, अप्रकाशं विषादिदानेन येनकेनचिदुपायेन। मन्युः क्रोधाभिमानिनी देवताऽसौ मन्युमृच्छति। नात्र हन्तृहन्तव्यभावोऽस्ति पुरुषयोः, अयं आततायिक्रोध इतरेण हन्यत इत्यर्थवादोऽयम्। यथा प्रतिग्रहकामः, को मह्यं ददातु, नाहं प्रतिग्रहीता, न त्वं दाता, ततश्च कुतः प्रतिग्रहदोषो मामेवमत्रापि। इह साहसिके दण्डो नाम्नातः, स दण्डपारुष्ये द्रष्टव्यः। इह त्वधिकतरो यत उक्तं 'विज्ञेयः पापकृत्तमः' इति। मेधा.

(२) हन्तृकृतो मन्युः क्रोधाभिमानिनी देवता तं मन्युं हन्यमानगतं क्रोधं निवर्तयति। साहसे चापराधापेक्षया प्रथममध्यमोत्तमसाक्षादङ्गच्छेदनिर्वासनादयो दण्डाः कार्याः। * गोरा.

(३) न कश्चन दोषो भवतीति ब्रह्महत्यादिकृतमपि पापं न तादृशं भवति। तथाहि प्रायश्चित्तमपि तत्राल्पमेव स्मृतिकारैर्निबद्धम्। हन्तुर्हिंसा आततायिनो हिंसां प्रति ऋच्छति तत्प्रतिरुद्धा न फलं प्रसूते। तन्न कर्तरि पापं जनयति हिंसितेन हिंसाकरणादिति तात्पर्यम्। मवि.

÷ विश्व., मिता. व्याख्याने व्यवहारमातृकायां (पृ. ८२, ८३) द्रष्टव्ये।

* शेषं मेधावत्। ममु., मच. गोरावत्।

(१) मस्मृ. ८।३५० इत्यस्योपरिष्टात् प्रक्षिप्तश्लोकोऽयम्; मेधा. (=) रिक्थापहारी (तिक्रमकारी); भाच. रन्ध्रा (छिद्रा) शेषं मेधावत्.

(२) मस्मृ. ८।३५१ [स्तं मन्यु (स्तन्मन्यु) Noted by Jha]; विश्व. २।२१ (=) पू.; मिता. २।२१ (=) प्रकाशं वाऽ (प्रच्छन्नं वा) : २।२८६ (=); स्मृच. ३१४; पमा. ४६७ (=); रत्न. १२७; दवि. ९ पू.; नृप्र. २०८ नाततायि (न तत्रारि); सवि. १५२ (=) मितावत् : १५५ (=) पू.; व्यप्र. १४ (=), ४०० (=) मितावत्; व्यउ. ९ (=) पू. : १३७ पू., स्मृतिः; वित. ४९१ पू. : ७५७; सेतु. १०० (=); समु. १४७.

(४) एतद्भाष्यकारो मेधातिथिर्व्याचष्टे। न कश्चनेति। नेहाधर्मो न दण्डो न प्रायश्चित्तम्। प्रकाशं आभाष्य जनसमक्षम्। अप्रकाशं विषदानादिना येनकेनचिदुपायेन। मन्युः क्रोधाभिमानिनी देवता। स मन्युमृच्छति। नात्र हन्तृहन्तव्यभावोऽस्ति पुरुषयोः। आततायिक्रोधः इतरेण क्रोधेन हन्तव्य इत्यर्थवादोऽयमित्यादिग्रन्थेन अत्राप्रकाशवधेऽपि दोषाभावं वदन् मनुरप्युपप्लवं कृत्वा गतेऽप्याततायिनि विषदानादिना वधो न दोषायेति दर्शयति उपप्लवकरणसमये विषदानासंभवात्। +स्मृच. ३१४

**आचार्यं च प्रवक्तारं पितरं मातरं गुरुम्।**
**न हिंस्याद्ब्राह्मणान् गाश्च सर्वांश्चैव तपस्विनः॥**

(१) आचार्य उपनेता। प्रवक्ता अध्यापको व्याख्याता। गुरुस्ताभ्यामन्यः पितृव्यमातुलादिः। सर्वांश्चैव तपस्विनः। प्रायश्चित्तप्रवृत्तान् पातकिनोऽपीति सर्वग्रहणम्। अविशेषेण सर्वभूतानां तत्र तत्र हिंसा निषिद्धा। पुनर्वचनमाचार्यादीनामाततायिनामपि निषेधार्थमिति केचित्। यस्तु 'गुरुं वा बालवृद्धौ वा' इत्यादिरर्थवादोऽस्यैव प्रतिप्रसवः। उपाध्यायस्त्वाह नायं प्रतिषेधः पर्युदासोऽयं संकल्पविधानार्थो 'नोद्यन्तमादित्यमीक्षेत' इतिवत्। अतः प्रयत्नेनातिक्रान्तं भवति संकल्पप्रतिषेधश्चेति। अथवा दुरुक्तभाषणं हिंसा 'वाग्भिस्तैस्तैर्जघान ताम्' इति प्रयोगदर्शनात्। अथवा प्रतिकूलाचरणे हन्तिः प्रयुक्तः। *मेधा.

(२) आचार्यमध्यापयितारं चोपनयनमात्रकारिणं लोकवत् (?) पितरं मातरं गुरुं 'अल्पं वा बहु वा यस्य'-त्युक्तं, गोब्राह्मणतपोनिष्ठांश्चाततायिनोऽपि न हिंस्यादन्यथा सामान्यहिंसानिषेधे सतीदं पृथक् वचनं अनर्थकं स्यात्। गोरा.

(३) आचार्यं उपनयनपूर्वकवेदाध्यापकं, प्रवक्तारं वेदार्थव्याख्यातारं, गुरुं 'अल्पं वा बहु वा यस्य' इत्युक्तम्। आचार्यादींस्तु न हिंस्यात्। प्रतिकूलाचरणेऽत्र हिंसाशब्दः। गोविन्दराजस्तु सामान्येन हिंसानिषेधादाततायिनोऽप्येतान्न हिंस्यादिति व्याख्यातवांस्तदयुक्तम्। 'गुरुं वा बालवृद्धौ वा' इत्यनेन विरोधात्। ममु.

महापातकिसाहसिकदण्डविधिः

**+ब्रह्महा च सुरापश्च स्तेयी च गुरुतल्पगः।**
**एते सर्वे पृथग्ज्ञेया महापातकिनो नराः॥**
**चतुर्णामपि चैतेषां प्रायश्चित्तमकुर्वताम्।**
**शारीरं धनसंयुक्तं दण्डं धर्म्यं प्रकल्पयेत्॥**
**गुरुतल्पे भगः कार्यः सुरापाने सुराध्वजः।**
**स्तेये च श्वपदं कार्यं ब्रह्महण्यशिराः पुमान्॥**
**असंभोज्या ह्यसंयाज्या असंपाठ्याविवाहिनः।**
**चरेयुः पृथिवीं दीनाः सर्वधर्मबहिष्कृताः॥**
**ज्ञातिसंबन्धिभिस्त्वेते त्यक्तव्याः कृतलक्षणाः।**
**निर्दया निर्नमस्कारास्तन्मनोरनुशासनम्॥**
**प्रायश्चित्तं तु कुर्वाणाः सर्ववर्णा यथोदितम्।**
**नाङ्क्या राज्ञा ललाटे स्युर्दाप्यास्तूत्तमसाहसम्॥**
**आगःसु ब्राह्मणस्यैव कार्यो मध्यमसाहसः।**
**विवास्यो वा भवेद्राष्ट्रात्सद्रव्यः सपरिच्छदः॥**
**इतरे कृतवन्तस्तु पापान्येतान्यकामतः।**
**सर्वस्वहारमर्हन्ति कामतस्तु प्रवासनम्॥**

मातापितास्त्रीपुत्राणामन्योन्यत्यागे दण्डः

**न माता न पिता न स्त्री न पुत्रस्त्यागमर्हति।**
**त्यजन्नपतितानेतान् राज्ञा दण्ड्यः शतानि षट्॥**

(१) माता न त्यागमर्हति। न त्याज्या। त्यागः स्वगृहान्निष्कासनं, मातृवृत्तेः स्खलिताया उपकारस्योपक्रियायामुदितायामकरणे। एवं पित्रादीनामपि व्याख्येयम्। संबन्धे साहचर्यात् स्त्री भार्यैवाभिप्रेता। अपतितानामेषां त्यागो नास्ति। मातुस्तु 'न माता पुत्रं प्रति पततीत्येके' इति शातातपः। भार्यायाश्चापि त्यागोऽ-

---

+ मेधावद्भावः, अयं ग्रन्थः मेधातिथिसमीक्षार्थं धृतः।

* अन्यव्याख्यानानि अत्रैव गतार्थानि।

(१) मस्मृ. ४।१६२ [ब्राह्मणान् गांश्च (ब्रह्महं गां वा (?)) Noted by Jha]; अप. १।१५४ णान् (णं); दवि. २३९ गांश्च (गां च); समु. १४७.

+ 'ब्रह्महे'त्याद्यष्टश्लोकानां व्याख्यासंग्रहः स्थलादिनिर्देशश्च प्रथमभागे दण्डमातृकाप्रकरणे (पृ. ५८०-८१) द्रष्टव्यः।

(१) मस्मृ. ८।३८९; अप. २।२३७ दण्ड्यः (दाप्यः); व्यक. १२० अपवत्; विर. ३५७; विचि. १५४ ज्ञा (ज्ञो): १८२ (=); दवि. ३०४; वीमि. २।२३७; सेतु. ३०३-४; समु. १५७.

संभोगो गृहकार्यनिषेधश्च । भक्तवस्त्रादिदानं तु न निषिध्यते । 'योषित्सु पतितास्वपि । वस्त्रान्नपानं देयं च वसेयुः स्वगृहान्तिके ॥' इति पठ्यते । मेधा.

(२) मातृपितृभार्यापुत्राः त्यागं भरणशुश्रूषाद्यकरणात्मकं नार्हन्ति । अत एतानपतितानपि परित्यजन् अन्योन्यपरित्यागे राज्ञा षट् शतानि दण्ड्यः । * गोरा.

(३) समुचितानां त्याग एतत् । अप. २।२३७

निमित्तविशेषेषु प्रातिवेश्यब्राह्मणाद्यभोजने दण्डविधिः

**[1]प्रातिवेश्यानुवेश्यौ च कल्याणे विंशतिद्विजे ।**
**अर्हावभोजयन्विप्रो दण्डमर्हति माषकम् ॥**

(१) विशन्त्यस्मिन्निति वेशो निवासस्तत्प्रतिगतः प्रतिवेश्यः गृहाभिमुखस्तत्र भवः प्रातिवेश्यः । प्रदीर्घपाठे स्वार्थिकोऽण् । एवमनुवेश्यः पृष्ठतो वसन्, तौ चेन्न भोजयेत् यदि स्वगृहमानीय कल्याणे विवाहाद्युत्सवे विंशतिमात्रा यत्र द्विजा अन्ये भोज्यन्ते, तदा माषकं सुवर्णं दण्डं दाप्यो, हिरण्यमित्युत्तरत्र विशेषणादिहापि विज्ञायते । अर्हौ यदि तौ प्रातिवेश्यानुवेश्यौ योग्यौ भवतो न द्विषन्तौ नात्यन्तनिर्गुणौ । ÷ मेधा.

(२) प्रातिवेश्यो निरन्तरगृहस्थः । अनुवेश्यस्तदनन्तरः । कल्याणे उत्सवे । विंशतिर्ब्राह्मणा यत्र भोज्यन्ते तत्र । अर्हौ योग्यौ । विप्र इति वचनात् क्षत्रियस्य तादृग्ब्राह्मणाभोजने न दोष इत्यर्थः । माषकं सुवर्णस्य । + मवि.

(३) उत्तरत्र हैरण्यग्रहणादिह रौप्यमाषं दण्डमर्हति । × ममु.

(४) माषकश्चात्र रौप्यो बोद्धव्यः । उत्तरश्लोके मानवेन अधिके भूतितुल्यात्मके प्रातिवेश्यश्रोत्रियाभोजनरूपेऽपराधे विशिष्य हिरण्यमाषकदण्डाभिधानादिति हलायुधः । × विर. ३५९

(५) स्वगृहस्याभिमुखं गृहं प्रतिवेशः, अभितः समीपस्थं गृहमनुवेशस्तत्रस्थौ प्रातिवेश्यानुवेश्यौ । नन्द.

* मवि., ममु. गोरावत् । ÷ गोरा. मेधावत् ।
+ मच., भाच. मविवत् । × शेषं मविवत् ।

(१) मस्मृ. ८।३९२ [प्राति (प्रति) Noted by Jha]; अप. २।२६३; व्यक. १२०; विर. ३५८ प्रो (प्रौ); दवि. ३०५; समु. १५७.

**[1]श्रोत्रियः श्रोत्रियं साधुं भूतिकृत्येष्वभोजयन् ।**
**तदन्नं द्विगुणं दाप्यो हैरण्यं चैव माषकम् ॥**

(१) अप्रातिवेश्यार्थोऽयमारम्भः । सब्रह्मचारिणामयं नियमः । श्रोत्रियस्तादृशमेव श्रोत्रियं गुणवन्तं, भूतिकृत्येषु भूतिर्विभवस्तन्निमित्तेषु कार्येषु, विभवे धनसंपत्तौ सत्यां यानि क्रियन्ते गोष्ठीभोजनादीनि, अथवा भूतिग्रहणं कृत्यविशेषणं, भूतिमन्ति यानि कृत्यानि प्राचुर्येण प्रभूततया विवाहादीनि क्रियन्ते, यत्र विंशतेरधिकनरा भोज्यन्ते तादृशेषूत्सवेषु, अभोजयंस्तदर्थमन्नं भूतिकृत्येषु भोक्तव्यं तावद्द्विगुणं तस्मै दापयेत्, राज्ञे वा, उभयं, हिरण्यं माषकं वा । मेधा.

(२) विद्याचारवांस्तथाविधमेव गुणवन्तं विभवकार्येषु विवाहादिषु प्रकृतत्वात्प्रातिवेश्यानुवेश्यावभोजयन् तदन्नं भोजिताद्द्विगुणमन्नं दाप्यो हिरण्यमाषकं च राज्ञा । ममु.

पितापुत्रविरोधसाक्ष्यादिदण्डविधिः

**[2]पितापुत्रविरोधे तु साक्षिणां दशपणो दमः ।**
**यस्तयोः सान्तरः स्यात्तु तस्य तूत्तमसाहसम् ॥**

सान्तरः स्यात् तयोर्मध्यगो भूत्वा विरोधमुत्पादयेत् । विर. ३६०

अभक्ष्यापेयादिप्राशयितृग्रसितृदण्डविधिः

**[3]अभक्ष्यमथवाऽपेयं वैश्यादीन् प्राशयन् द्विजान् ।**
**जघन्यमध्यमोत्कृष्टान् दण्डानाहुर्यथाक्रमम् ॥**
**[4]पणाः शूद्रे भवेद्दण्डः चतुःपञ्चाशदेव तु ।**
**ग्रसितारः स्वयं कार्या राज्ञा निर्विषयास्तु ते ॥**

अत्र विष्णूक्तो दण्डो ब्राह्मणादिषु उत्तमेषु दूषितेषु, मन्वाद्युक्तश्चानुत्तमेष्वित्यविरोधः । विर. ३६१

(१) मस्मृ. ८।३९३ है (हि) [तदन्नं (तद्धनं) हैरण्यं चैव (दण्डं चैव स) Noted by Jha]; अप. २।२६३; विर. ३५९; दवि. ३०५ ष्वभो (षु भो); समु. १५७.

(२) विर. ३६०.

(३) अप. २।२३३ प्राश (भक्ष) द्यान् दण्डानाहुर्य (द्दण्डानर्हेय); व्यक. १२१ नाहुर्य (नर्हेय); विर. ३६१ व्यकवत्; विचि. १५५; दवि. ३०८ वैश्यादीन् प्राश (ब्राह्मणान् ग्रास) पू.; सेतु. २९७ प्राशयन् (ग्रासयेत्).

(४) अप. २।२३३; व्यक. १२१; विर. ३६१ ग्रसि (शासि); विचि. १५५ पू.; दवि. ३०९ उत्त.; सेतु. २९७ पू.

धर्मोपजीविनो धर्मच्युतस्य दण्डविधिः

**यश्चापि धर्मसमयात्प्रच्युतो धर्मजीवनः।**
**दण्डेनैव तमप्योषेत्स्वकाद्धर्माद्धि विच्युतम् ॥**

(१) धर्मजीवनो ब्राह्मणो, धर्मसमयात् च्युतः स्वकर्तव्यभ्रष्टः, दण्डेनैव तमप्योषेत्, दण्डेन विवासनादिना, तमप्योषेत् दहेदित्यर्थः। मवि.

(२) याजनप्रतिग्रहादिना परस्य यागदानादिधर्ममुत्पाद्य यो जीवति स धर्मजीवनो ब्राह्मणः सोऽपि यो धर्ममर्यादायाश्च्युतो भवति तमपि स्वधर्मात्परिभ्रष्टं दण्डेनोपतापयेत्। *ममु.

(३) धर्मात् प्रच्युतो धार्मिकत्वख्यापनेन जीवंश्चोरतुल्य इत्यभिप्रायः। नन्द.

उत्कृष्टकर्मभिर्जीवन् अधमजातीयो दण्ड्यः

**[२]यो लोभादधमो जात्या जीवेदुत्कृष्टकर्मभिः।**
**तं राजा निर्धनं कृत्वा क्षिप्रमेव प्रवासयेत् ॥**

यो जात्या अधमो निकृष्टः क्षत्रियादिः। सत्यपि प्रकृतत्वे राजन्यस्य सर्वेषामयं ब्राह्मणवृत्तिप्रतिषेधः। एवमेवायं श्लोकः। उत्कृष्टो निरपेक्षो ब्राह्मण एव। कर्मभिरध्ययनादिभिर्जीवति। दण्डोऽयं सर्वस्वग्रहणप्रवासनैः। +मेधा.

तडाग–कोष्ठागार–देवतागार–जलमार्गादिभेदनाद्यपराधेषु दण्डविधिः

**[३]तडागभेदकं हन्यादप्सु शुद्धवधेन वा।**
**यद्वापि प्रतिसंस्कुर्याद्दाप्यस्तूत्तमसाहसम् × ॥**

(१) तडागग्रहणमुपलक्षणार्थम्। नन्वुदकहरणेऽप्ययं दोष इति केचित्। तदयुक्तम्। महान् हि तडागभेदने अपराधः। स्वल्पो नदीभेदने। तडागस्य हि वप्रभेदनेनोदकहरणेऽप्ययमेव विधिः। मेधा.

(२) तडागभेदकं तडागजलस्य बहिर्निःसारकं अप्सु मज्जयित्वा हन्यात्। शुद्धवधेन शिरश्छेदेन। यस्त्वङ्गुलीकरच्छेदादिको वधः सोऽतिदुःखहेतुत्वादशुद्धवधः। एतत् कामतः। अकामे त्वाह तच्चापीति। तत्तडागादि विगुणीकृतं सम्यक्कृत्वोत्तमसाहसं दण्डं दद्यात्। मवि.

(३) तटाकमहत्त्वाल्पत्वानुसारेणात्र दण्डविकल्पे व्यवस्था कार्या। स्मृच. ३२६

(४) यः स्नानदानादिना जलोपकारकं भागं सेतुभेदादिना विनाशयति तमप्सु मज्जनेन प्रकारान्तरेण वा हन्यात्। यद्वा यदि तडागं पुनः संस्कुर्यात्तदोत्तमसाहसं दण्ड्यः। ममु.

(५) अनेककोटिजीवनाशकत्वाद्वधार्हः। यदि वा प्रतिसंस्कुर्यात्, विषादिना द्रव्येण दूषयेत्तदा संस्कुर्यादिति। *मच.

(६) शुद्धवधेन शस्त्रवधेन। नन्द.

**[१]कोष्ठागारायुधागारदेवतागारभेदकान्।**
**हस्त्यश्वरथहर्तॄंश्च हन्यादेवाविचारयन् ॥**

---

* मच. ममुवत्। + अन्यव्याख्यानानि यथाश्रुतानि। × विर. व्याख्यानं 'यस्तु पूर्वनिविष्टस्य' इति श्लोके द्रष्टव्यम्। दवि. व्याख्याने मवि., ममु. च अनूदितम्।

(१) **मस्मृ.** ९।२७३; **व्यक.** १६४; **विर.** ६२५ तमप्यो (समाप्लो); **दवि.** २६० तमप्यो (समाप्लो) द्धि वि (द्विधि); **बाल.** २।२७६; **सेतु.** ३२८ वनः (विनः) तमप्यो (समाप्रो) र्माद्धि विच्युतम् (र्याद्विधिच्युतम्); **समु.** १५८ वनः (विनः) क्रमेण यमः.

(२) **मस्मृ.** १०।९६ [लोभाद (मोहाद) Noted by Jha]; **अप.** २।२३३ प्रवा (विवा): २।३०३; **व्यक.** १२१ पू.; **विर.** ३६३ कर्मभिः (जातिभिः); **विचि.** १५७; **दवि.** ३०२; **वीमि.** २।३०४ जात्या (जातो); **सेतु.** २९७, ३०५.

(३) **मस्मृ.** ९।२७९ ग. यद्वा (तद्वा) [तडागभेदकं (तडाकभेदकान्) डाग (डाक) यद्वापि (तथापि) द्दाप्यस्तू (द्दाप्यश्चो) Noted by Jha]; **अपु.** २२७।५४ पूर्वार्धे (तडागदेवतागारभेदकान् घातयेन्नृपः) पू.; **व्यक.** १२१ यद्वा (तद्वा) द्दाप्यस्तू (इद्याच्चो); **मवि.** यद्वा (तच्चा); **स्मृच.** ३२६ डाग (टाक) यद्वा (तच्चा) द्दाप्यस्तू (दद्याद्दो); **विर.** ३६५ व्यकवत्; **व्यनि.** ५०९ डाग (टाक) द्दाप्यस्तू (दद्याच्चो); **दवि.** ३१३ यद्वा (तच्चा) द्दाप्यस्तू (दद्याच्चो); **सवि.** ४७४ डागभे (टाकछे) यद्वापि (स यदि) द्दाप्यस्तू (दद्याच्चो); **मच.** यद्वापि (यदि वा); **भाच.** मविवत्.

(१) **मस्मृ.** ९।२८०; **मिता.** २।२७३; **अप.** २।२७३ कोष्ठा (अग्न्या); **व्यक.** ११४ दकान् (दिनः); **विर.** ३२० हर्तॄंश्च (हन्तॄंश्च) शेषं व्यकवत्; **विचि.** १३६ (=) रयन् (रितः) शेषं व्यकवत्; **व्यनि.** ५०९ को (गो); **दवि.** ७४ हर्तॄंश्च (हन्तॄंश्च) उत्त. : १३८, १४२ विरवत्; **नृप्र.**

(१) कोष्ठागारं राजगृहम् । मवि.

(२) राजसंबन्धिधान्यादिषु धनागारायुधगृहयोर्देव-प्रतिमागृहस्य च बहुधनव्ययसाध्यस्य विनाशकान् हस्त्यश्व-रथस्य चापहर्तॄन् शीघ्रमेव हन्यात् । यत्तु संक्रमध्वज-यष्टिदेवताप्रतिमाभेदिनः पञ्चशतदण्डं वक्ष्यति सोऽस्मा-देव देवतागारभेदकस्य वधविधानान्मृन्मयपूजितोज्झित-देवताप्रतिमाविषयोऽत्र द्रष्टव्यः । ममु.

(३) अविचारयन् इत्यनेन सदस्यपि प्रश्नो न कार्यः। मच.

**यस्तु पूर्वनिविष्टस्य तडागस्योदकं हरेत् ।**
**आगमं वाप्यपां भिन्द्यात्स दाप्यः पूर्वसाहसम् ॥**

(१) हरेत् स्वसमीपतडागं प्रति नयेत् । आगमं तडागे जलागमं रुन्ध्यात् । आगमं वाप्यपां भिद्यादिति क्वचित्पाठः । स दाप्यः तत्सम्यक्करणपूर्वम् । +मवि.

(२) यः पुनः प्रजार्थं पूर्वं केनचित्कृतस्य तडागस्यो-दकमेव गृह्णाति । कृत्स्नतडागोदकनाशने वधदण्डः प्रागुक्तः। तथोदकागमनमार्गं सेतुबन्धादिना यो नाशयति स प्रथमसाहसं दण्ड्यः । ममु.

(३) अत्र च (द्वितीयश्लोकेन) तडागभेदके उत्तमसाहसाभिधानं पूर्वोक्ततडागापेक्षया उत्कर्षमादाये-त्यविरोधः । तोयाधारविशेषादेव विकल्प इत्यन्ये । विर. ३६५

[२]**प्राकारस्य च भेत्तारं परिखाणां च पूरकम् ।**
**द्वाराणां चैव भङ्क्तारं क्षिप्रमेव प्रवासयेत् ॥**

(१) दुर्गगतानां प्राकारादीनां विनाशने प्रवासनं दण्डः । परिखा भूभागाः खाताः । मेधा.

(२) राजगृहपुरादिसंबन्धिनः प्राकारस्य भेदकं तदी-यानामेव परिखाणां पूरयितारं तद्गतानां द्वाराणां भञ्जकं शीघ्रमेव देशान्निर्वासयेत् । ममु.

(३) परिखाः परितः सजलखाताः । ते चेत्स्थास्यन्ति पुनः करिष्यन्तीति कृत्वा क्षिप्रं प्रवासनमिति । मच.

विविधद्रव्यनाशापराधेषु दण्डविधिः

***द्रव्याणि हिंस्याद्यो यस्य ज्ञानतोऽज्ञानतोऽपि वा ।**
**स तस्योत्पादयेत्तुष्टिं राज्ञे दद्याच्च तत्समम् ॥**
**चर्मचार्मिकभाण्डेषु काष्ठलोष्टमयेषु च ।**
**मूल्यात्पञ्चगुणो दण्डः पुष्पमूलफलेषु च ॥**

संक्रमध्वजप्रतिमादिद्रव्यभेदनदूषणादौ दण्डविधिः

[१]**संक्रमध्वजयष्टीनां प्रतिमानां च भेदकः ।**
**प्रतिकुर्याच्च तत्सर्वं पञ्च दद्याच्छतानि च ॥**

(१) संक्रमः येन संक्रामन्ति मार्गेणावतरन्ति जलोप-स्पर्शादिना निमित्तेन, शुभ्रं वासः ध्वजः चिह्नं राजामा-त्यादीनां देवायतनेषु च । यष्टिः ईदृशे च । प्रतिमाना-मिति व्याख्यातम् (?) । प्रतिकुर्यात्समदधीताप्रत्यापत्तिं नयेत् । मेधा.

(२) ध्वजो देवकुलादिध्वजः । यष्टिः ग्रामादिपताका-यष्टिः । प्रतिमानां मनुष्यप्रतिकृतीनाम् । देवप्रतिमासु तु वधस्तदायतनभेद एव वधोक्तेः । मवि.

(३) संक्रमो जलोपरि गमनार्थं काष्ठशिलादिरूपः, ध्वजः चिह्नं राजद्वारादौ, यष्टिः पुष्करिण्यादौ, प्रति-माश्च क्षुद्रा मृन्मय्यादयस्तासां विनाशकः पञ्चशतपणान् दद्यात्तच्च विनाशितं सर्वं पुनर्नवं कुर्यात् । ×ममु.

---

+ स्मृच. मविवद्भावः।

२६३ कोष्ठा (अग्न्य); वीमि. २।२७३ अपवत्; सेतु. २३७-८ व्यकवत्; समु. १५८ को (गो) क्रमेण यमः.

(१) मस्मृ. ९।२८१ भिन्द्या (भिद्या) [(डाग (डाक) Noted by Jha]; व्यक. १२१; मवि. भिन्द्यात् (रुन्ध्यात्); स्मृच. ३२६ डाग (टाक) वाप्यपां भिन्द्यात् (वाप्युपारुन्ध्यात्); विर. ३६५ वाप्य (चाप्य); व्यनि. ५१० पूर्वनि (पूर्वं नि) डाग (टाक) बृहस्पतिः; दवि. ३१३ विरवत्; मच. मस्मृवत्; सेतु. २५७ विरवत्.

(२) मस्मृ. ९।२८९; अप. २।२८२ भङ्क्ता (भेत्ता) वास (माप); व्यक. १२२ स्य च (स्याव) शेषं अपवत्; विर. ३६७ स्य च (स्यानु) भङ्क्ता (भेत्ता); विचि. १५९ भेत्ता (छेत्ता) शेषं अपवत्; व्यनि. ५११ भङ्क्ता (भेत्ता); दवि. २९९ व्यकवत्; वीमि. २।२८२ अपवत्; बाल.

* एतौ श्लोकौ दण्डपारुष्ये मनुना आम्नातौ। अनयो-र्व्याख्यासंग्रहः स्थलादिनिर्देशश्च दण्डपारुष्यप्रकरणे द्रष्टव्यः।

× विर., मच. ममुवत्।

२।२२९; सेतु. २५७ अपवत्; समु. १५८ रस्य (राणां) भङ्क्ता (भेत्ता) क्रमेण यमः

(१) मस्मृ. ९।२८५; अप. २।२३३; व्यक. १२१ पञ्च दद्याच्छ (दद्यात्पञ्चश) उत्त.; विर. ३६३ च (स) शेषं व्यकवत्; विचि. १५७ व्यकवत्; व्यनि. ५१० तत्सर्वं (तत्पूर्वं); सेतु. २५६ विरवत्; समु. १५८ च तत्सर्वं (यथापूर्वं) क्रमेण यमः.

अदूषितानां द्रव्याणां दूषणे भेदने तथा।
मणीनामपवेधे च दण्डः प्रथमसाहसः॥

(१) यानि स्वयमदुष्टानि द्रव्याणि लाभार्थी दूषयति, तथा धान्यविक्रयी क्षेत्रे निर्दोषं धान्यमुत्तमं तृणबुसैर्योजयति, कुङ्कुमादेश्च तेन अकुङ्कुमादिना द्रव्यान्तरेणैकीकरणं, मणयो मुक्तास्तेषां भेदनं द्विधाकरणम्। अत्र वेधतिर्भेदने विद्यते अनेकार्थत्वाद्धातूनाम्। वेधतेः रूपमेतत्। मणयो हीनमध्यमोत्कृष्टतमा भवन्ति। तत्र दण्डकल्पना कर्तव्या। मध्यमेषु मध्यम उत्तमेषूत्तमः। मेधा.

(२) अदुष्टद्रव्याणामपद्रव्यप्रक्षेपेण दूषणे, मणीनां च माणिक्यादीनामभेद्यानां विदारणे, वेध्यानामपि मुक्तादीनामनवस्थानवेधने प्रथमसाहसो दण्डः कार्यः। सर्वत्र परकीयद्रव्यनाशे द्रव्यान्तरदानादिना स्वामितुष्टिः कार्या। *ममु.

राजमार्गदूषणे दण्डविधिः

समुत्सृजेद्राजमार्गे यस्त्वमेध्यमनापदि।
स द्वौ कार्षापणौ दद्यादमेध्यं चाशु शोधयेत्×॥

अनार्तः सन् यो राजपदेषु पुरीषं कुर्यात्स कार्षापणद्वयं दण्डं दद्यात्स चामेध्यं शीघ्रमेवापसारयेत्। ममु.

आपद्गतस्तथा वृद्धो गर्भिणी बाल एव वा।
परिभाषणमर्हन्ति तच्च शोध्यमिति स्थितिः+॥

अभिचारमूलक्रियाकृत्यासु दण्डविधिः

अभिचारेषु सर्वेषु कर्तव्यो द्विशतो दमः।
मूलकर्मणि चानाप्तैः कृत्यासु विविधासु च॥

(१) अदृष्टेनोपायेन मन्त्रादिशक्त्या मारणमभिचारः। तत्र प्रवृत्तानाममृतेऽभिचारणीये दण्डोऽयम्। अनभिचारणीयाभिचारेषु नैतावता मुच्यते। तत्र मनुष्यमारणदण्डश्च विज्ञेयः। सर्वग्रहणं लौकिकवैदिकयोरविशेषेण दण्डार्थम्। वैदिकाः श्येनादयः। लौकिकाः पादपांशुग्रहणसूचीभेदनादयः। मूलकर्म वशीकरणादि। आप्ता पितृभार्यादयस्ततोऽन्येऽनाप्ताः। कृत्या अभिचारप्रकारा एव मन्त्रादिशक्तय उच्चाटनसुहृद्बन्धुकुलद्वेषविचित्तीकरणादिहेतवो भूतविद्यादिषु प्रसिद्धाः। *मेधा.

(२) अनाप्ते असंबन्धिनि विषये। मूलकर्मणि सूनादिप्रयोगरूपवशीकरणकर्मणि। भर्त्रादौ तु संबन्धिनि वशीकरणे कृते न दोषः। अनाप्तैरिति पाठेऽसंबन्धिभिरित्यर्थः। कृत्यासु रोगाद्युत्पत्त्यर्थं मातृग्रहाद्युत्थापने। +मवि.

(३) एवं मातृपितृभार्यादिव्यतिरिक्तैरसत्यैर्व्यामोह्य धनग्रहणाद्यर्थं वशीकरणे तथा कृत्यासूच्चाटनापाटवादिहेतुषु क्रियमाणासु नानाप्रकारासु द्विशतपणदण्ड एव कर्तव्यः। ×ममु.

राजपुरुषाणां धनलोभादिदोषेषु दण्डविधिः

राज्ञो हि रक्षाधिकृताः परस्वादायिनः शठाः।
भृत्या भवन्ति प्रायेण तेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजाः॥

(१) परस्वमादातुं शीलं येषां ते परस्वादायिनः, शठाः असम्यक्कारिणः प्रायेणाधिकृताः सन्तो भवन्ति। प्राक्शुचयोऽपि रक्षन्ति वित्तानि। अतः प्राक्शुचित्वानुमानेन नोपेक्षणीयाः। यत्नतः प्रतिजागरितव्याः। तेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजाः। न केवलं राजार्थनाशः अनवेक्षया, यावत्प्रजा अपि निर्धनीकुर्वन्ति। मेधा.

---

* विर., मच. ममुवत्।

× मेधा.व्याख्यानं सीमाविवादप्रकरणे (पृ. ९३९) द्रष्टव्यम्।

+ व्याख्यासंग्रहः स्थलादिनिर्देशश्च सीमाविवादप्रकरणे (पृ. ९३९) द्रष्टव्यः।

(१) मस्मृ. ९।२८६ [मपवे (मपि वे) Noted by Jha]; अप. २।२३३ च (तु); व्यक. १२१ मपवेधे च (मववाधेषु); विर. ३६२-३ अपवत्; विचि. १५६ अपवत्; व्यनि. ५११ मप (मप्य); दवि. ३१०; सेतु. ३०५ मपवे (मुपरो) च (तु); समु. १५८ सः (सम्) क्रमेण यमः.

(२) अपु. २२७।५५ उत्तरार्धे (स हि कार्षापणं दण्ड्यस्तममेध्यं च शोधयेत्). अवशिष्टस्थलादिनिर्देशः सीमाविवादप्रकरणे (पृ. ९३९) द्रष्टव्यः।

(३) मस्मृ. ९।२९० क., ख., घ., प्तैः (प्तेः) [प्तैः Noted by Jha]; अप. २।२३३ चानाप्तैः (विद्वेषे); व्यक. १२१; मवि. प्तैः (प्ते); विर. ३६२; विचि. १५६ मविवत्; व्यनि. ५११ मविवत्; दवि. ३०९; सेतु. ३०५; समु. १५८ क्रमेण यमः.

* विर. मेधावत्। + दवि. मविवत् ममुवच्च।

× अत्रोद्धृतोऽनुद्धृतभागश्च मेधावत्।

(१) मस्मृ. ७।१२३; व्यक. १२२ राज्ञो हि (राष्ट्रेषु); विर. ३६७ व्यकवत्; दवि. १२० व्यकवत्.

१ दण्डः स वि. २ पौत्रभा. ३ लादिद्वे. ४ माने नो.

(२) रक्षाधिकृता रक्षार्थमधिकृताः ग्रामाध्यक्षादयो भृत्याः। मच.

[1]ये कार्यिकेभ्योऽर्थमेव गृह्णीयुः पापचेतसः।
तेषां सर्वस्वमादाय राजा कुर्यात्प्रवासनम्॥

(१) ये रक्षाधिकृताः कार्यिकेभ्यो व्यवहर्तृभ्यो व्यापारवद्भ्यो धनलाभोद्देशिकया दण्डयन्ति जनपदांस्तेषां सर्वस्वहरणप्रवासने राजा कुर्यात्। ÷ मेधा.

(२) कार्यार्थिभ्यो वादिप्रभृतिभ्य उत्कोचरूपेणार्थमेव गृह्णीयुर्न राजकार्यं कुर्युः। * मवि.

[2]ये नियुक्तास्तु कार्येषु हन्युः कार्याणि कार्यिणाम्।
धनोष्मणा पच्यमानास्तान्निःस्वान्कारयेन्नृपः॥

(१) ये कार्यिणामर्थिप्रत्यर्थिनां कार्येषु व्यवहारदर्शनादिषु[2] नियुक्ता अधिकृता राजस्थानीयप्रभृतयस्ते धनोष्मणा पच्यमाना अन्यतरस्माद्धनं गृहीत्वा कार्याणि नाशयेयुस्तान्निःस्वान्कारयेत् सर्वस्वहरणं तेषां कार्यम्। सभ्यानामभ्यासेन[3] वर्तमानानां सत्यपि वक्ष्यमाणे दण्डान्तरविधावेष एव दण्डो न्याय्यः। येऽप्यन्ये सेनापतिप्रभृतयः कस्यचित्साहाय्यके नियुज्यन्ते ततश्चार्थं गृहीत्वा नाशयन्ति, तेऽप्येवमेव दण्ड्याः। अन्ये तु 'येऽनियुक्ता' इत्यकारप्रश्लेषं पठन्ति। ये राजवाल्लभ्याद्बलातिशयाद्वाऽन्यस्य साहाय्यं कुर्वन्ति कार्यनाशनार्थं द्वितीयस्य, तेषामयं दण्डः। धनोष्मणेत्यविवक्षितम्। अनियुक्ता इत्येतदेव प्रधानम्। +मेधा.

(२) ये नियुक्ताः प्राड्विवाकाद्याः हन्युरुत्कोचग्रहणेन जितमप्यजितं कुर्वन्तः। धनोष्मणा पाकः, किं नो भवति राजा चेज्जानीयाद्दण्डमात्रं ग्रहीष्यतीत्यतिधनतया निर्भयता। निःस्वान् अपहृतसर्वस्वान्। × मवि.

(३) [धनोष्मणा पच्यमानाः] उत्कोचधनतेजसा विकारं भजन्तः। ममु.

[1]कूटशासनकर्तृंश्च प्रकृतीनां च दूषकान्।
स्त्रीबालब्राह्मणघ्नांश्च हन्याद्द्विट्सेविनस्तथा॥

(१) कूटशासनस्य कर्तारो, यन्नैव राज्ञादिष्टं तद्राजकृतमिति वदन्ति। शासनं राजादेशः। एतस्य गृहे न भोक्तव्यमस्य चायं प्रसाद आज्ञातः, इयं वा स्थिती राज्ञा कृतेति पत्रकं राजाधिकृतलेखकलिखितमिति शासनं, राजादेशसंबन्धिशासनं तत्कूटं कुर्वन्ति पालयन्ति। प्रकृतीनां क्रुद्धलुब्धानां दूषका भेदकाः। स्त्रीबालयोर्ब्राह्मणस्यापि हन्तारः। द्विट्सेविनो राजशत्रुसेविनः प्रच्छन्नं गतागतिकान्। मेधा.

(२) द्विट्सेविनः शत्रुसेवकान्। द्वितीयपादस्तु 'स्वाम्यमात्यदुर्गकोशदण्डराष्ट्रमित्राणि प्रकृतयः तद्दूषकांश्च हन्यादि'ति विष्णुवचनादेव व्याख्यातः।

स्मृच. ३२४

(३) कूटराजाज्ञालेखकान्, अमात्यानां च भेदकान्, स्त्रीबालब्राह्मणघातिनः, शत्रुसेविनश्च राजा हन्यात्। ममु.

---

÷ मच. मेधावत् मविवच्च। * ममु., विर. मविवत्।

(१) मस्मृ. ७।१२४; व्यक. १२२ यिंके (यिं) मेव (मेवं हि) क्रमेण कात्यायनः; विर. ३६७ व्यकवत्; विचि. १६० (=) व्यकवत्; दवि. १२० व्यकवत्; सेतु. ३०६ (=) व्यकवत्.

(२) मस्मृ. ९।२३१ [न्नृपः (द्बुधः) Noted by Jha]; मेधा. 'येऽनियुक्ता' इति पाठः; व्यक. १२२ क्रमेण कात्यायनः; विर. ३६७ ये नि (विनि) कार्या (कर्मा) नास्तान्निःस्वा (नान्निःस्वांस्ता); विचि. १६० (=) ये नि (विनि) नास्तान्निःस्वा (नान्निःस्वांस्ता); दवि. १०६ नास्तान्निःस्वा (ना निःस्वांस्ता); सेतु. ३०६ ये नि (विनि) स्तु (श्च) स्तान्निःस्वा (निमांस्ता) क्रमेण याज्ञवल्क्यः; समु. १६५ नास्ता (नान् ता).

१ हलल्लेखोद्दे. २ दर्शितादि. ३ सत्याना.

+ ममु. मेधावत्। × मच. मविवत्।

(१) मस्मृ. ९।२३२; अप. २।२९४; व्यक. १२२; स्मृच. ३२४; विर. ३७०; विचि. १६२ स्त्रीबाल (बालस्त्री); व्यनि. ५०४, ५०८; दवि. २६६, ३१७; सवि. ४७५ द्विट्सेविनस्त (त्संवननांस्त); सेतु. ३०७; समु. १५७.

१ वल्लेख्याद्द.

## याज्ञवल्क्यः

साहसनिरुक्तिस्तद्दण्डश्च

**[1]सामान्यद्रव्यप्रसभहरणात्साहसं स्मृतम् ।**
**तन्मूल्याद्द्विगुणो दण्डो निह्नवे तु चतुर्गुणः ॥**

(१) स्तेयमपि प्रसह्य कृतं साहसमेव यस्माद्, अतो नात्र स्तेयदण्डः। किं तर्हि— 'सामान्यप्रसभद्रव्यहरणात् साहसं स्मृतम्। तन्मूल्याद्द्विगुणो दण्डो निह्नवे तु चतुर्गुणः ॥' सामान्यं द्रव्यं द्वयोर्यदन्यतरेण प्रसभं प्रसह्यान्यतरं परिभूयापह्रियते, तत् स्तेयमपि प्रसह्य हरणात् साहसमिति स्मृतं महर्षिभिर्यस्मात्, तस्मान्न तत्र स्तेयदण्डः। किं तर्हि अपहृतद्रव्यमूल्याद् द्विगुणः साहसिकदण्ड इत्यभिप्रायः। प्रसह्यापहृत्य निह्नवे कृते मूल्याच्चतुर्गुणः। सामान्यद्रव्यहरणं चोदाहरणार्थम्। अन्यदपि यत् प्रसह्य स्तेयमन्यद्वा क्रियते, तत् सर्वं साहसमेव। तथा च नारदः— 'सहसा क्रियते' इति। विश्व. २।२३६

(२) संप्रति साहसं नाम विवादपदं व्याचिख्यासुस्तल्लक्षणं तावदाह— सामान्येति। सामान्यस्य साधारणस्य यथेष्टविनियोगानर्हत्वाविशेषेण परकीयस्य वा द्रव्यस्यापहरणं साहसम्। कुतः। प्रसभहरणात् प्रसह्य हरणात्। बलावष्टम्भेन हरणादिति यावत्। एतदुक्तं भवति। राजदण्डं जनक्रोशं चोल्लङ्घ्य राजपुरुषेतरजनसमक्षं यत्किंचिन्मारणहरणपरदारप्रधर्षणादिकं क्रियते तत्सर्वं साहसमिति साहसलक्षणम्। अतः साधारणधनपरधनयोर्हरणस्यापि बलावष्टम्भेन क्रियमाणत्वात्साहसत्वमिति।

तत्र परद्रव्यापहरणरूपे साहसे दण्डमाह— तन्मूल्यादिति। तस्यापहृतद्रव्यस्य मूल्याद् द्विगुणो दण्डः। यः पुनः साहसं कृत्वा नाहमकार्षमिति निह्नुते तस्य मूल्याच्चतुर्गुणो दण्डो भवति। एतस्मादेव विशेषदण्डविधानात् प्रथमसाहसादिसामान्यदण्डविधानमपहारव्यतिरिक्तविषयं गम्यते। ×मिता.

(३) सामान्यस्यानेकेषां भ्रात्रादीनां मध्यमकस्य धनस्य प्रसभं स्वामिसमक्षं तानवगणय्य हठादपहरणं साहसम्। एतच्च न साहसस्य लक्षणं किन्तूपलक्षणम्। तल्लक्षणं त्वाह नारदः— 'साहसादि'ति +अप.

(४) सामान्यद्रव्यं बहुजनैः प्रहरादिकालक्रमेण रक्ष्यमाणं द्रव्यं, एतच्छलेन हर्तुं न शक्यते, रक्षणे प्रमादासंभवात्। तेनास्य प्रायेण बलादपहरणम्। तदेतदभिसंधायोक्तं— 'सामान्यद्रव्यप्रसभहरणमि'ति। साहसं स्मृतं साहसलक्षणं स्तेयं स्मृतमित्यर्थः। *स्मृच. ३१६

साहसकारयितृदण्डः

**[1]यः साहसं कारयति स दाप्यो द्विगुणं दमम्।**
**यश्चैवमुक्त्वाऽहं दाता कारयेत्स चतुर्गुणम्॥**

(१) अन्येनापि प्रयोक्तृतया— 'यः साहसं कारयति स दाप्यो द्विगुणं दमम्। यस्त्वेवमुक्त्वाहं दाता कारयेत् स चतुर्गुणम् ॥' पूर्वोक्ताद् द्विगुणं दण्डं कारयिता दाप्यः। यस्त्वेवमुक्त्वा कारयेत् 'क्रियतामिदं यद्यत्र कश्चिद् विरोधो भविष्यति, ततोऽहमेव निर्वहणं करिष्यामी'ति, स चोक्तद्विगुणदण्डाच्चतुर्गुणं दण्ड्य इत्यवसेयम्। विश्व. २।२३७

(२) साहसस्य प्रयोजयितारं प्रत्याह— यः साहसमिति। यस्तु साहसं कुर्वित्येवमुक्त्वा कारयत्यसौ साह-

(१) यास्मृ. २।२३०; विश्व. २।२३६ द्रव्यप्रसभ (प्रसभद्रव्य); मिता.; अप. णात् (णं); व्यक. १२० तु (च) शेषं विश्ववत्; स्मृच. ६ अपवत्, पू. : ३१६ अपवत्, पू. : ३१७ उत्त.; विर. ३५१ द्रव्यप्रसभ (प्रभवद्रव्य) तु (च); पमा. ४५१ उत्त.; रत्न. १२८ अपवत्; विचि. १५१ द्रव्यप्रसभ (प्राभवद्रव्य) तु (च); स्मृचि. २६ पू.; दवि. २९४ उत्त.; सवि. ४५२ पू.; वीमि.; व्यप्र. ३९३ अपवत्; व्यउ. १२९ पू. : १३१ उत्त.; विता. ७४८; सेतु. २५८-९ विचिवत्; समु. १४८ णात् (णं) ल्या (ला).

× शेषं मिता. व्याख्यानं 'सहसा क्रियते' इत्यादिषु नारदश्लोकेषु द्रष्टव्यम्। विर., दवि., विता. मितावत्। वीमि. मितावत् अपवच्च।

+ शेषं मितावत्।

* शेषं मितावत्। व्यप्र. स्मृचवत्।

(१) यास्मृ. २।२३१; अपु. २५८।२६ श्चै (स्त्वे); विश्व. २।२३७ अपुवत्; मिता.; अप.; व्यक. १२३; स्मृच. ३१२; विर. ३७५; पमा. ४५१; रत्न. १२८; विचि. १६६; दवि. ७५ यश्चै (तथै); सवि. ४६५; वीमि.; व्यप्र. ३९३ ऽहं दाता (हन्तारं); व्यउ. १३१ क्त्वा (क्तो); व्यम. १०५; विता. ७४८; सेतु. ३०९; समु. १४७.

सिकाद्दण्डाद्द्विगुणं दण्डं दाप्यः। यः पुनरहं तुभ्यं धनं दास्यामि त्वं कुर्वित्येवमुक्त्वा साहसं कारयति स चतुर्गुणं दण्डं दाप्योऽनुबन्धातिशयात्। ×मिता.

(३) तव दण्डसंभवे अहं तद्धनं दास्यामीत्येवमुक्त्वा यः साहसं कारयेत्, स साहसकर्तुश्चतुर्गुणं दण्डं दाप्यः। वीमि.

पूज्यातिक्रम - भ्रातृभार्याप्रहार-प्रतिश्रुताप्रदान - मुद्रासहितगृहभङ्ग - सामन्तादिपीडाकरणापराधेषु दण्डविधिः

[1]अर्घ्याक्रोशातिक्रमकृद्भ्रातृभार्याप्रहारदः।
संदिष्टस्याप्रदाता च समुद्रगृहभेदकृत् ॥
[2]सामन्तकुलिकादीनामपकारस्य कारकः।
पञ्चाशत्पणिको दण्ड एषामिति विनिश्चयः ॥

(१) साहसिकत्वादेव च — अर्घ्याक्रोशेत्यादि। स्पष्टार्थौ श्लोकौ। विश्व.२।२३८

(२) साहसिकविशेषं प्रत्याह— अर्घ्याक्षेपेत्यादि। अर्घ्यस्यार्घार्हस्याचार्यादेराक्षेपमाज्ञातिक्रमं च यः करोति, यश्च भ्रातृभार्यां ताडयति, तथा संदिष्टस्य प्रतिश्रुतस्यार्थस्याप्रदाता, यश्च मुद्रितं गृहमुद्घाटयति, तथा स्वगृहक्षेत्रादिसंसक्तगृहक्षेत्रादिस्वामिनां कुलिकानां स्वकुलोद्भवानां आदिग्रहणात्स्वग्राम्यस्वदेशीयानां च योऽपकर्ता, ते सर्वे पञ्चाशत्पणपरिमितेन दण्डनीयाः। + मिता.

(३) संदिष्टस्य प्रेषितस्य। * विर. ३५६

(४) संदिष्टस्य परप्रेषितस्य हिरण्यादेः प्रतिधातुं गृहीतस्याऽप्रदाता। आदिपदात् श्रेण्यादयः तेषामन्यतमस्यापकारकर्ता। एषां पूर्वोक्तानां पञ्चाशत्पणमितो दण्ड इति धर्मशास्त्रे विनिश्चयः। चकाराद्वाचिकस्याऽप्रवक्तुः समुच्चयः। वीमि.

× अप., व्यक., स्मृच., विर., दवि. मितावत्।

+ अप. मितावत्। * शेषं मितावत्। दवि. विरवत्।

(१) **यास्मृ.** २।२३२; **अपु.** २५८।२७ अर्घ्या (आर्यां) दः (कः) दकृत् (दकः); **विश्व.** २।२३८; **मिता.** (क) क्रोशा (क्षेपा) दः (कः); **अप.** दः (कः); **व्यक.** १२० दकृत् (दकः); **विर.** ३५५ दः (कः) शेषं व्यकवत्; **पमा.** ४५१; **विचि.** १५३ विरवत्; **दवि.** २५५ पू. : ३०० व्यकवत्; **वीमि.**; **व्यप्र.** ३९३ प्रहारदः (पहारकः); **व्यउ.** १३१ अपवत्; **विता.** ७४८ क्रोशा (क्षेपा); **सेतु.** ३०२ विरवत्; **समु.** १५६ अर्घ्या (आर्यां) दः (कः).

(२) **यास्मृ.** २।२३३; **अपु.** २५८।२८; **विश्व.** २।२३९; **मिता.**; **अप.**; **व्यक.** १२०; **विर.** ३५५; **पमा.** ४५१; **विचि.** १५३ मपकारस्य (माकारस्याप्र) निश्च (निर्ण); **दवि.** ३००; **वीमि.**; **व्यप्र.** ३९३-४; **व्यउ.** १३१; **विता.** ७४८; **सेतु.** ३०२; **समु.** १५६.

विधवागमन—परभयानिवारण—वृथाक्रोश—चाण्डालकृतस्पृश्यस्पर्श-शूद्रप्रव्रजितादिभोजन—अयुक्तशपथ—अयोग्यकर्मकरण—पशुपुंस्त्वोपघात—साधारणापलाप—दासीगर्भपात—पितृपुत्राद्यन्योन्यत्यागेषु दण्डविधिः

[1]स्वच्छन्दं विधवागामी विक्रुष्टे नाभिधावकः।
अकारणे च विक्रोष्टा चण्डालश्चोत्तमान् स्पृशन्॥
[2]शूद्रप्रव्रजितानां च दैवे पित्र्ये च भोजकः।
अयुक्तं शपथं कुर्वन्नयोग्यो योग्यकर्मकृत् ॥
[3]वृषक्षुद्रपशूनां च पुंस्त्वस्य प्रतिघातकृत्।
साधारणस्यापलापी दासीगर्भविनाशकृत् ॥

(१) **यास्मृ.** २।२३४; **अपु.** २५८।२९ न्दं (न्द) ष्टे ना (ष्टेना) रणे (रेण [रणं ?]) चण्डा (चाण्डा); **विश्व.** २।२४० न्दं (न्द) ष्टे ना (ष्टेऽन); **मिता.** शन् (शेत्); **अप.** विश्ववत्; **व्यक.** १२० न्दं (न्द) धावकः (घातकः) चण्डा (चाण्डा); **विर.** ३५५ न्दं (न्द) ष्टे ना (ष्टेऽन) धाव (धाय) चण्डा (चाण्डा); **पमा.** ४५१; **विचि.** १५३ पूर्वार्धं विरवत्; **स्मृचि.** २६ न्दं (न्द); **दवि.** ३०० न्दं (न्द) ष्टे ना (ष्टोऽन); **सवि.** ४६६ न्दं (न्द) णे च (णेन) मान् (मां); **वीमि.**; **व्यप्र.** ३९४ ष्टे ना (ष्टेना) णे च (णेन); **व्यउ.** १३१ न्दं (न्द) मान् (मां); **विता.** ७४८-९ न्दं (न्द) क्रुष्टे (क्रुष्टेऽ); **सेतु.** ३०२ पूर्वार्धं विरवत्; **समु.** १५७ व्यउवत्.

(२) **यास्मृ.** २।२३५; **अपु.** २५८।३०; **विश्व.** २।२४१; **मिता.** (क) द्र (द्रः); **अप.**; **व्यक.** १२० ग्यो (ग्योऽ); **विर.** ३५६ व्यकवत्; **पमा.** ४५१; **विचि.** १५३ क्तं (क्त); **स्मृचि.** २६; **दवि.** ३०० ग्यो यो (ग्यायो); **सवि.** ४६६; **वीमि.**; **व्यप्र.** ३९४; **व्यउ.** १३१; **विता.** ७४९; **सेतु.** ३०२-३ पित्र्ये (पैत्रे) ग्यो (ग्ये); **समु.** १५७.

(३) **यास्मृ.** २।२३६; **अपु.** २५८।३१ क्षुद्र (शूद्र); **विश्व.** २।२४२ तकृत् (तकः); **मिता.**; **अप.**; **व्यक.** १२०; **विर.** ३५६ वृष (वृक्ष) शकृत् (शकः); **पमा.** ४५१-२; **विचि.** १५३ विरवत्; **स्मृचि.** २६; **दवि.** ३०० तकृत् (तकः) पी + (च) शेषं विरवत्; **सवि.** ४६६ अपुवत्; **वीमि.**; **व्यप्र.** ३९४; **व्यउ.** १३१ वृष (वृक्ष); **विता.** ७४९; **सेतु.** ३०३ विरवत्; **समु.** १५७.

[1]पितापुत्रस्वसृभ्रातृदम्पत्याचार्यशिष्यकाः ।
एषामपतितान्योन्यत्यागी च शतदण्डभाक् ॥

(१) एतदपि श्लोकचतुष्टयं स्पष्टार्थमेव ।

विश्व. २।२४०-४३

(२) नियोगं विना यः स्वेच्छया विधवां गच्छति । चौरादिभयाकुलैर्विक्रुष्टे च यः शक्तोऽपि नाभिधावति । यश्च वृथाक्रोशं करोति । यश्च चण्डालो ब्राह्मणादीन् स्पृशति । यश्च शूद्रप्रव्रजितान् दिगम्बरादीन् दैवे पित्र्ये च कर्मणि भोजयति । यश्चायुक्तं 'मातरं गमिष्यामी'त्येवं शपथं करोति । तथा यश्च अयोग्य एव शूद्रादिर्योग्यकर्माध्ययनादि करोति । वृषो बलीवर्दः क्षुद्रपशवोऽजादयस्तेषां पुंस्त्वस्य प्रजननशक्तेर्विनाशकः । वृक्षक्षुद्रपशूनामिति पाठे हिंग्वाद्यौषधप्रयोगेन वृक्षादेः फलप्रसूनानां पातयिता । साधारणमपलपति साधारणद्रव्यस्य च वञ्चकः । दासीगर्भस्य च पातयिता । ये च पित्रादयोऽपतिता एव सन्तोऽन्योन्यं त्यजन्ति ते सर्वे प्रत्येकं पणशतं दण्डार्हा भवन्ति । *मिता.

(३) स्वच्छन्देन स्वेच्छया न शास्त्रवशाद्विधवागामी, चौरादिभिरभिभूयमानेन जनेन विक्रुष्टेन 'धावत धावते'-त्यार्तस्वने कृते विक्रोष्टारं प्रत्यनभिधावकः, अकारणे चौराद्युपद्रवविरहेऽपि विक्रोष्टा, उत्तमान् द्विजातीन् बुद्धिपूर्वं चण्डालः स्पृशन्, शूद्राणां प्रव्रजितानां देवान्पितॄन् वोद्दिश्य भोजयिता, अयुक्तमनर्हं कोशपानादिकं ब्राह्मणोऽपि कुर्वन्, अयोग्योऽनुपनीतोऽकृतप्रायश्चित्तो वा यद्योग्यस्योपनीतादेः कर्म कुर्वन्, वृषस्योक्ष्णः क्षुद्रपशूनामजाविकादीनां च पुंस्त्वप्रतिघातं वृषणमर्दनेन करोति, साधारणं स्वस्यान्यस्य च यद्द्रव्यं तस्यापलापी, दास्या गर्भस्य नाशकः, पित्रादीनामपतितानामन्योन्यत्यागी च, शतसंख्याकपणदण्डभाक् । अप.

(४) आद्येन चकारेण कारणेऽपि विक्रोशाकर्तुः, द्वितीयेन पतितस्य, तृतीयेन पाखण्डिनां, चतुर्थेन मनुष्ययज्ञस्य, पञ्चमेन वृषस्य, षष्ठेन मातापुत्रयोरन्योन्यं त्यागिनः समुच्चयः — पितापुत्राद्योरेकतरेणैव अपरस्य त्यागे तु शङ्खः — 'यस्त्यजेत्कामादपतितान् स हि शतं दण्डं प्राप्नुयात्' । इदं तु अविदुषा त्यागे कृते । विदुषा कृते त्यागे त्वाह मनुः— 'न माता न पिता न स्त्री न पुत्रस्त्यागमर्हति । त्यजन्नपतितानेतान् राज्ञा दण्ड्यः शतानि षट् ॥' +वीमि.

तरिकेण स्थलजशुल्कग्रहणे प्रातिवेश्यब्राह्मणानिमन्त्रणे च दण्डः

[1]तरिकः स्थलजं शुल्कं गृह्णन् दाप्यः पणान् दश ।
ब्राह्मणप्रातिवेश्यानामेतदेवानिमन्त्रणे * ॥

पितापुत्रविरोधसाक्ष्यादिदण्डविधिः

[2]पितापुत्रविरोधे तु साक्षिणां त्रिपणो दमः ।
अन्तरे च तयोर्यः स्यात्तस्याप्यष्टगुणो दमः ॥

(१) एवमादेयव्यवहारविषये तावद् दण्डव्यवस्थोक्ता। भ्रात्रादिकृते त्वनादेयव्यवहारे— 'पितापुत्रविरोधादौ साक्षिणां द्विशतो दमः । सान्तरश्च तयोर्यः स्यात् तस्याप्यष्टशतो दमः ॥' सर्वत्र पितापुत्रादिविरोधेऽनादेयव्यव-

---

* विर., दवि. मितावत् ।

(१) यास्मृ. २।२३७; अपु. २५८।३२; विश्व. २।२४३; मिता. (क) पिता (पितृ); अप.; व्यक. १२० शत (शतं); विर. ३५६; पमा. ४५२ पिता (पितृ) शिष्यकाः (ऋत्विजाम्); विचि. १५३ स्वस (सुहृद्) न्योन्य (नां च); स्मृचि. २६; दवि. ३००; सवि. ४६६; वीमि.; व्यप्र. ३९४ पिता (पितृ); व्यउ. १३१; विता. ७४९ षाम (तान); सेतु. ३०३ पिता (पितृ) शेषं विचिवत्; समु. १५७ पमावत्.

+ शेषं मितावत् ।

* व्याख्यासंग्रहः संभूयसमुत्थानप्रकरणे (पृ. ७७८) द्रष्टव्यः ।

(१) यास्मृ. २।२६३; व्यक. १२० उत्तरार्धे (ब्राह्मणः प्रातिवेश्यांश्च तद्वदेवानिमन्त्रयन्); विर. ३५९ (=) श्याना...णे (श्यांस्तु तद्वदेवानिमन्त्रयन्); सवि. ४९५ तरिकः (तरीते) नारदः; सेतु. ३०४ (=) पू. अवशिष्टस्थलादिनिर्देशः संभूयसमुत्थानप्रकरणे (पृ. ७७८) द्रष्टव्यः ।

(२) यास्मृ. २।२३९; विश्व. २।२४५ धे तु (धादौ) त्रिपणो (द्विशतो) अन्तरे च (सान्तरश्च) गुणो (शतो); मिता.; अप. च (तु); व्यक. १२०-२१ च (तु) गुणो (शतो); विर. ३६० णां (णः) गुणो (शतो); पमा. ४५७ णां (णः) रे च (रेण) क्रमेण नारदः; दवि. २६९ विरवत्; नृप्र. २७० पमावत्, स्मरणम्; वीमि. रोधे (वादे) च (तु) गुणो (पणो); विता. ७६७-८; राकौ. ४९२ (=); सेतु. २९६ च (तु) शेषं विरवत्; समु. १५७ रोधे तु (वादेषु) रे च (रेव) स्याप्य (स्य चा).

हारे साक्षिणो द्रष्टारो वा ये स्युः, साक्षिवचनस्य लक्षणार्थत्वात्, तेषां द्विशतो दमः। यस्तु पितापुत्रादीनां सान्तरः विश्लेषकरः स्यात्, तस्याप्यष्टशतम्। यद्वा तयोरेव पितापुत्रयोर्यः सान्तरः स्यात् व्याजव्यवहर्तेत्यर्थः। द्वयमप्येतदविरोधाद् युक्तम्। विश्व. २।२४५

(२) पितापुत्रयोः कलहे यः साक्ष्यमङ्गीकरोति न पुनः कलहं निवारयति असौ पणत्रयं दण्ड्यः। यश्च तयोः सपणे विवादे पणदाने प्रतिभूर्भवत्यसौ, चकारात्तयोर्यः कलहं वर्धयति सोऽपि त्रिपणादष्टगुणं चतुर्विंशतिपणान् दण्डनीयः। दम्पत्यादिष्वयमेव दण्डोऽनुसरणीयः। ×मिता.

(३) अष्टशतो दमः, अष्ट शतानि यस्मिन् दमे सोऽष्टशतो दमः। अत्र चोत्कृष्टगुणेन पित्रादिना विरोधे विष्णूक्तो दमः, न्यूनगुणेन तु विरोधे याज्ञवल्कीय इति ज्ञेयम्। *विर. ३६०

(४) यस्तु तयोर्विवादेऽन्तरे मध्ये प्रवेश्य कलहवर्धकः स्यात्तस्य, अपिशब्दात्तत्र विवादे प्रतिभुवोऽष्टपणमितो दमः कार्यः। वीमि.

अभक्ष्यापेयादिना चातुर्वर्ण्यदूषणे दण्डविधिः

**अभक्ष्येण द्विजं दूष्य दण्ड उत्तमसाहसम्।**
**मध्यमं क्षत्रियं वैश्यं प्रथमं शूद्रमर्धिकम्॥**

(१) यो राजप्रसादाद्यवष्टम्भात् प्रसह्य साहसिकत्वेन —'अभक्ष्यैर्दूषयन् विप्रं दण्ड्य उत्तमसाहसम्। क्षत्रियं मध्यमं वैश्यं प्रथमं शूद्रमर्धिकम्॥' उपपतनीयाभक्ष्यैर्लशुनादिभिरयं दण्डोऽवसेयः। स्पष्टमन्यत्। +विश्व. २।२९९

(२) प्रसंगात् नृपाश्रयव्यतिरिक्तव्यवहारविषयमपि दण्डमाह— अभक्ष्येणेति। मूत्रपुरीषादिना अभक्ष्येण भक्ष्यानर्हेण ब्राह्मणं दूष्यान्नपानादिमिश्रणेन स्वरूपेण वा दूषयित्वा खादयित्वोत्तमसाहसं दण्ड्यो भवति। क्षत्रियं पुनरेवं दूषयित्वा मध्यमम्। वैश्यं दूषयित्वा प्रथमम्। शूद्रं दूषयित्वा प्रथमसाहसस्यार्धं दण्ड्यो भवतीति संबन्धः। लशुनाद्यभक्ष्यदूषणे तु दोषतारतम्याद्दण्डतारतम्यमूहनीयम्। ×मिता.

जारप्रच्छादन—शववस्तुविक्रय—गुरुताडन—राजयानाद्यारोहण—द्विनेत्रभेदन—राजद्विड्उपजीवन—शूद्रकृतविप्रत्वोपजीवनेषु अपराधेषु दण्डविधिः

**जारं चौरेत्यभिवदन् दाप्यः पञ्चशतं दमम्।**
**उपजीव्य धनं मुञ्चंस्तदेवाष्टगुणीकृतम्॥**

(१) लोभादिना प्रच्छन्नं यदि तु—'चोरं चोरेत्यतिवदन् दाप्यः पञ्चशतं दमम्। उपजीव्य धनं मुञ्चंस्तदेवाष्टगुणीकृतम्॥' चोरमतिक्रम्याचोरमेवान्यं चोरेति वदतः पञ्चशतो दमः। द्रव्यमुपजीव्य मुञ्चतस्तदेवोपभुक्तं द्रव्यमष्टगुणं दण्डं चेत्युक्तम्। ऋज्वन्यत्। विश्व. २।३०४

(२) स्ववंशकलङ्कभयाज्जारं पारदारिकं चौरं निर्गच्छेत्यभिवदन् पञ्चशतं पणानां पञ्च शतानि यस्मिन् दमे स तथोक्तस्तं दमं दाप्यः। यः पुनर्जारहस्ताद्धनमुपजीव्य उत्कोचरूपेण गृहीत्वा जारं मुञ्चत्यसौ यावद्गृहीतं तावदष्टगुणीकृतं दण्डं दाप्यः। *मिता.

---

× अप. मितावत्। * दवि. विरवत्।

(१) **यास्मृ.** २।२९६; **अपु.** २५८।७५ अभ......दूष्य (अभक्ष्यैर्दूषयन् विप्रं) पू.; **विश्व.** २।२९९ पूर्वार्धे (अभक्ष्यैर्दूषयन् विप्रं दण्ड्य उत्तमसाहसम्) मध्यमं क्षत्रियं (क्षत्रियं मध्यमं); **मिता.** (क) दूष्य (दूष्यो); **अप.** २।२९५ पूर्वार्धे (द्विजं प्रदूष्याभक्ष्येण दण्ड्य उत्तमसाहसम्) मध्यमं क्षत्रियं (क्षत्रियं मध्यमं); **व्यक.** १२१ अभ...दूष्य (द्विजं प्रदूष्याभक्ष्येण) मध्यमं क्षत्रियं (क्षत्रियं मध्यमं); **विर.** ३६१ व्यकवत्; **विचि.** १५५ अभ...दूष्य (द्विजं प्रदूष्याभक्ष्येण) सम् (सः) मध्यमं क्षत्रियं (क्षत्रियं मध्यमो) थमं (थमः) मर्धिं (मर्ध); **दवि.** ३०८ पूर्वार्धं विचिवत्, मध्यमं क्षत्रियं (क्षत्रियं मध्यमं); **सवि.** ४९२; **वीमि.** ण्ड उ (ण्डमु) शेषं अपुवत्; **व्यउ.** १६५-६ मर्धिं (मर्ध); **व्यम.** १०९ दूष्य (दूष्यन्) दण्ड (दण्ड्य) मर्धिं (मर्ध); **विता.** ७६२ दूष्य (दुष्येत्) सम् (सः); **राकौ.** ४९४ दण्ड (दण्ड्य) मर्धिं (मर्ध); **सेतु.** २९६ पूर्वार्धं विचिवत्, मध्यमं क्षत्रियं (क्षत्रियं मध्यमो) थमं (थमः); **समु.** १५७.

+ अप. विश्ववत्। × वीमि. मितावत्।

* अप., विर., वीमि. मितावत्। दवि. मितावत् विचिवच्च।

(१) **यास्मृ.** २।३०१; **अपु.** २५८।७७ जारं चौरेत्यभि (अचौर्यं चौर्येऽभि) पू.; **विश्व.** २।३०४ जारं चौरेत्यभि (चोरं चोरेत्यति); **मिता.**; **अप.** २।३००; **व्यक.** १२१ कतिचिदेवाक्षराणि समुपलभ्यन्ते; **विर.** ३६२; **विचि.** १५६; **दवि.** ३१०; **सवि.** ४९३; **वीमि.**; **व्यम.** १०९ णीकृ (णं स्मृ); **विता.** ७६४; **सेतु.** ३०५; **समु.** १५७.

(३) उत्कोचामादाय तु तं त्यजन् पणानां पञ्चशती अष्टगुणा दण्ड इत्यर्थः। उत्कोचामष्टगुणामित्यन्ये। विचि.१५६

**मृताङ्गलग्नविक्रेतुर्गुरोस्ताडयितुस्तथा।**
**राजयानासनारोढुर्दण्ड उत्तमसाहसः॥**

(१) साहसिकतयैव तु— मृताङ्गलग्नविक्रेतुरित्यादि। विश्व. २।३०६

(२) मृतशरीरसंबन्धिनो वस्त्रपुष्पादेर्विक्रेतुः, गुरोः पित्राचार्यादेस्ताडयितुः, तथा राजानुमतिं विना तद्यानं गजाश्वादि, आसनं सिंहासनादि आरोहतश्चोत्तमसाहसो दण्डः। ×मिता.

(३) तथाशब्देन रज्जुवेणुदण्डातिरिक्तेन पृष्ठभिन्नदेशे वा भार्यापुत्रादिताडयितुस्संग्रहः। वीमि.

**द्विनेत्रभेदिनो राजद्विष्टादेशकृतस्तथा।**
**विप्रत्वेन च शूद्रस्य जीवतोऽष्टशतो दमः॥**

(१) द्विनेत्रग्रहणं कृत्स्नेन्द्रियलक्षणार्थम्। एतच्च पशुविषयं द्रष्टव्यम्। राजा द्विष्टो यस्य स राजद्विष्टः। स्पष्टमन्यत्। विश्व. २।३०७

(२) यः पुनः क्रोधादिना परस्य नेत्रद्वयं भिनत्ति। यश्च ज्योतिःशास्त्रवित् गुर्वादिहितेच्छुव्यतिरिक्तो राज्ञो द्विष्टमनिष्टं, संवत्सरान्ते तव राज्यच्युतिर्भविष्यतीत्येवमादिरूपमादेशं करोति। तथा यः शूद्रो भोजनार्थं यज्ञोपवीतादीनि ब्राह्मणलिङ्गानि दर्शयति तेषां अष्टशतो दमः। अष्टौ पणशतानि यस्मिन् दमे स तथोक्तः। श्राद्धभोजनार्थं पुनः 'शूद्रस्य विप्रवेषधारिणस्तप्तशलाकया यज्ञोपवीतवद्वपुष्यालिखेत्' इति स्मृत्यन्तरोक्तं द्रष्टव्यम्। वृत्त्यर्थं तु यज्ञोपवीतादिब्राह्मणलिङ्गधारिणो वध एव। 'द्विजातिलिङ्गिनः शूद्रान् घातयेत्' इति स्मरणात्। मिता.

(३) यश्च राजद्विष्टस्य आज्ञाकारी। विप्रत्वेन जीवता शूद्रेण यदि द्विजातिभिः सह ब्राह्मो यौनो वा संबन्ध आचरितस्तदाऽसौ वध्य एव। +अप.

(४) तथाशब्देन संवत्सरान्ते तव राज्यच्युतिर्भविष्यतीति राजद्विष्टमाशंसतः संग्रहः। ×वीमि.

शस्त्राघात—गर्भपात-स्त्रीपुंवध—दुष्टस्त्रीकृतपुंवधादिदोषेषु दण्डविधिः

**शस्त्रावपाते गर्भस्य पातने चोत्तमो दमः।**
**उत्तमो वाऽधमो वाऽपि पुरुषस्त्रीप्रमापणे॥**

(१) स्त्रीष्वदुष्टासु चोरयितुं—'शस्त्रावपाते गर्भस्य पातने चोत्तमो दमः। उत्तमो वाधमो वापि पुरुषः स्त्रीप्रमापणे॥' ब्राह्मणस्त्रीशस्त्रावपातने गर्भस्य चाविशेषेण व्यापत्तावुत्तमो दण्डः कार्यः, वध इत्यर्थः। उत्तमो वा ब्राह्मणः, अधमो वा शूद्रादिः, अपिशब्दान्मध्यमोऽपि क्षत्रियादिः पुरुषः स्त्रीप्रमापणे वध्य एवेत्यभिप्रायः। तथा च कात्यायनः—'गर्भस्य पातने स्तेनो ब्राह्मण्यां शस्त्रपातने। अदुष्टां योषितं हत्वा हन्तव्यो ब्राह्मणोऽपि हि॥' विश्व. २।२८१

---

× अप. मितावत्।

(१) **यास्मृ.** २।३०३; **अपु.** २२७।६४ उत्त.: २५८।७८-९ ण्ड उत्तम (ण्डो मध्यम); **विश्व.** २।३०६ याना (शय्या) शेषं अपुवत्; **मिता.**; **अप.** २।३०२ अपुवत्; **व्यक.** १२१ अपुवत्; **स्मृच.** ३३२ दुर्दण्ड उत्तम (हे दण्डो मध्यम) उत्त.; **विर.** ३६२ अपुवत्; **पमा.** ५८० उत्त.; **विचि.** १५६ अपुवत्; **दवि.** १०० (मृताङ्गलग्नविक्रेतुर्दण्डो मध्यमसाहसः) एतावदेव : २६४ अपुवत्, उत्त.; **सवि.** ४९३ सः (सम्) क्रमेण नारदः; **वीमि.**; **व्यप्र.** ५७० सः (सम्) शेषं स्मृचवत्, उत्त.; **व्यउ.** १६५ (=) सः (सम्); **व्यम.** ११० नासना (नसमा) सः (सम्); **विता.** ८२९; **राकौ.** ४९५; **सेतु.** ३०५ अपुवत्; **समु.** १६५.

(२) **यास्मृ.** २।३०४; **अपु.** २५८।८०; **विश्व.** २।३०७; **मिता.**; **अप.** २।३०३ च (तु); **व्यक.** १०५ द्विष्टा (दुष्टा); **विर.** २६६ अपवत् : ३६३ अपवत्, उत्त.; **पमा.** ५८१ त्वेन च (चिह्नेन); **विचि.** ११६ : १५७ अपवत्, उत्त.; **दवि.** २५७ (द्विनेत्रभेदिनश्चैव शूद्रस्याष्टशतो दमः) एतावदेव : ३१८ (च०) : ३२३ उत्त.; **वीमि.**; **व्यउ.** १६५ (=); **व्यम.** ११०; **विता.** ८२९; **राकौ.** ४९५ राज (राज्ञो); **सेतु.** २१९ अपवत् : २९७ अपवत्, उत्त.; **समु.** १६५ शतो (शतं).

+ शेषं मितावत्। × शेषं अपवत्।

(१) **यास्मृ.** २।२७७; **अपु.** २५८।६४-५; **विश्व.** २।२८१ पस्त्री (षः स्त्री); **मिता.**; **अप.**; **व्यक.** १२२ चोत्तमो दमः (दण्ड उत्तमः) पू.; **विर.** ३७० पाते (घाते) पात (घात) पू.; **पमा.** ४५२; **विचि.** १६३ पाते (घाते); **दवि.** ३०३ पात (घात) पू.; **वीमि.**; **समु.** १५७.

(२) परगात्रेषु शस्त्रस्यावपातने दासीब्राह्मणगर्भव्यतिरेकेण गर्भस्य पातने चोत्तमो दमो दण्डः। दासीगर्भनिपातने तु 'दासीगर्भविनाशकृदि'त्यादिना शतदण्डोऽभिहितः। ब्राह्मणगर्भविनाशे तु 'हत्वा गर्भमविज्ञातं' इत्यत्र ब्रह्महत्यातिदेशं वक्ष्यते। पुरुषस्य स्त्रियाश्च प्रमापणे शीलवृत्ताद्यपेक्षयोत्तमो वाधमो वा दण्डो व्यवस्थितो वेदितव्यः। +मिता.

(३) ब्राह्मणीगर्भपातने तु—'हत्वा गर्भमविज्ञातमेतदेव व्रतं चरेत्' इति प्रायश्चित्तमात्रातिदेशादप्राप्तो दण्डोऽनेन विधीयत एव। पुरुषस्य स्त्रियाश्चैव वधे यथासंख्यमुत्तमाधमौ ज्ञेयौ। अधमः प्रथमसाहसः। वाशब्दद्वयाद्दण्डान्तरमपि गुणाद्यपेक्षया वेदितव्यम्। ×अप.

(४) तत्र ब्राह्मणीगर्भवधे सर्वस्वहरणं यद्यपि शृङ्गग्राहिकतया न क्वचिदुक्तं तथाप्यौचित्यादेव तत्र द्रष्टव्यम्। दवि. ३०३

(५) ब्राह्मणत्वादिविशिष्टपुरुषस्त्रियोः प्रमापणे मारणे उत्तमसाहसः प्रथमसाहसो वा दण्डः। वृत्तशीलापेक्षया वा विकल्पः। अपिशब्दाद्वृत्तशीलान्यतरसत्त्वे मध्यमसाहसो दण्डः। चकारेण 'रत्नापहार्युत्तमसाहसमि'ति विष्णूक्तस्याऽप्रकृष्टरत्नहरणस्य संग्रहः। ×वीमि.

**[१]विप्रदुष्टां स्त्रियं चैव पुरुषघ्नीमगर्भिणीम्।**
**सेतुभेदकरीं चाप्सु शिलां बद्ध्वा प्रवेशयेत्॥**

(१) स्तेयव्यतिरेकेणापि तु—विषप्रदामिति। औषधादिव्याजेन विषप्रदां स्त्रियम्। चशब्दात् पुरुषं च। एवकारोऽन्यत्र स्त्रीवधाभावज्ञापनार्थः। वधाभावेऽपि विषादिमृत्युनिमित्तप्रयोक्त्री हन्तव्येत्यर्थः। पुरुषघ्नीं साहसिकपरपुरुषप्रसङ्गातिशयात् पुरुषमारणनिमित्तभूताम्। ज्ञात्यादिभयाच्च गर्भं पातयित्वा अगर्भिण्यहमिति या वदति, तामगर्भिणीमाहुः। तथा च स्मृत्यन्तरं— 'या पातयित्वा स्वं गर्भं ब्रूयादहमगर्भिणी। तामप्सु प्रक्षिपेद् राजा जारैश्च नरमारिणीम्॥' इति। सेतुः कुल्यासंक्रमः, मर्यादा वा। स्पष्टमन्यत्। विश्व. २।२८२

(२) विशेषेण प्रदुष्टा विप्रदुष्टा भ्रूणघ्नी स्वगर्भपातिनी च। या च पुरुषस्य हन्त्री, सेतूनां भेत्री च एता गर्भरहिताः स्त्रीगले शिलां बद्ध्वा अप्सु प्रवेशयेत् यथा न प्लवन्ति। +मिता.

(३) विविधं प्रकर्षेण दुष्टामेनस्विनीं, तथा भ्रूणस्य गर्भस्य पुरुषस्य हन्त्रीं, बहूनां लोकानामुपकारकस्य सेतोर्भेत्रीमगर्भिणीं स्त्रियं शिलां बद्ध्वा जले निमज्जयेत्। अप.

(४) आद्यचकारेण विषाग्निदपुरुषसमुच्चयः। द्वितीयचकारेण 'वापीकूपतडागोदपानभेदमार्गरसद्रव्यदूषणेऽदासीदाससंप्रदानकरणे चे'ति शङ्खोक्तसमुच्चयः। +वीमि.

**[१]विषाग्निदां पतिगुरुनिजापत्यप्रमापणीम्।**
**विकर्णकरनासौष्ठीं कृत्वा गोभिः प्रमापयेत्॥**

(१) भर्त्रादीनां तु विषप्रदानादौ वधप्रकारमाह— विषाग्निदामिति। गुरुः श्वशुरादिः। निजा भ्रात्रादयः। स्पष्टमन्यत्। विषाग्निदानेन च वधसिद्धावयं मारणविधिः। × विश्व. २।२८३

(२) अगर्भिणीमित्यनुवर्तते। या च परवधार्थमन्नपानादिषु विषं ददाति क्षिपति। या च दाहार्थं ग्रामादिष्वग्निं ददाति। तथा या च निजपतिगुर्वपत्यानि मारयति तां विच्छिन्नकर्णकरनासौष्ठीं कृत्वा अदान्तैर्दुष्टबलीवर्दैः प्रवाह्य मारयेत्। स्तेयप्रकरणे यदेतत्साहसिकस्य

---

+ विर., दवि. मितावत्। × शेषं मितावत्।

(१) **यास्मृ.** २।२७८; **अपु.** २५८।६५ (शिलां बद्ध्वा क्षिपेदप्सु नरघ्नीं विषदां स्त्रियम्) एतावदेव; **विश्व.** २।२८२ प्रदुष्टां (षप्रदां); **मिता.**; **अप.** चैव (भ्रूण); **व्यक.** १२१ प्रदुष्टां (षाग्निदां) रीं चा (रं वा); **विर.** ३६६ प्रदुष्टां (षाग्निदां); **पमा.** ४५२; **विचि.** १५९ विरवत्; **व्यनि.** ५०९ प्रदुष्टां (षाग्निदां) रीं चा (रीम); **दवि.** ३१२ रीं चाप्सु (रं चाशु) उत्त. : ३१४ चाप्सु (चैव) शेषं विरवत्; **सवि.** ४६४; **वीमि.**; **राकौ.** ४८३; **सेतु.** ३०८ विरवत्; **समु.** १५८.

+ शेषं मितावत्। × विर., दवि. विश्ववत्।

(१) **यास्मृ.** २।२७९; **अपु.** २२७।६१-२ पणी (पिणी) मापये (वासये) : २५८।६६ पति (निज); **विश्व.** २।२८३ सौ (सो); **मिता.**; **अप.** मापये (वासये); **व्यक.** १२१; **स्मृच.** ३२५; **विर.** ३६६; **पमा.** ४५२; **विचि.** १५९ षाग्निदां (प्रदुष्टां); **व्यनि.** ५०९; **दवि.** ३१४; **सवि.** ४६४ सौ (सो); **वीमि.** कर्णकर (च्छिन्नकर्ण); **राकौ.** ४८३ कर्ण (वर्ण); **सेतु.** ३०८ विचिवत्; **समु.** १५८.

दण्डविधानं तत्प्रासङ्गिकमिति मन्तव्यम् । *मिता.

(३) या तु मनुष्यमृत्यवे विषं, ग्रामादिदाहाय चाग्निं ददाति, तथा पतिं गुरुं पितरं श्वशुरं वा निजमपत्यं वा हन्ति, तस्याः कर्णौ हस्तौ नासामोष्ठौ च छित्त्वा तां बलीवर्दमारोप्य देशाद्बहिः कुर्यात् । प्रमापयेदिति पाठे तां पादयोर्वरत्रया युगे बद्ध्वा बलीवर्दा यथा आकृष्य प्रमापयन्ति तथा कुर्यात् । अप.

क्षेत्रवेश्मादिदाहराजपत्नीगमनापराधेषु दण्डविधिः

[१]क्षेत्रवेश्मवनग्रामविवीतखलदाहकाः ।
राजपत्न्यभिगामी च दग्धव्यास्तु कटाग्निना ॥

(१) अन्विष्य घातकास्तथा वक्ष्यमाणाश्च— 'क्षेत्रवेश्मग्रामवनविवीतादेश्च दाहकाः । राजपत्न्यभिगामी च दग्धव्यास्तु कटाग्निना ॥' चशब्दः श्रोत्रियादिस्त्र्यर्थः । स्पष्टमन्यत् । विश्व. २।२८६

(२) क्षेत्रं पक्कफलसस्योपेतम् । वेश्म गृहम् । वनमटवीं क्रीडावनं वा । ग्रामम् । विवीतमुक्तलक्षणं खलं वा ये दहन्ति, ये च राजपत्नीमभिगच्छन्ति तान् सर्वान् कटैर्वीरणमयैर्वेष्टयित्वा दहेत् । क्षेत्रादेर्दाहकानां मारणदण्डप्रसंगाद्दण्डविधानम् । मिता.

(३) वेश्मनो महतो राजकीयादेः । +अप.

(४) चकारेण— 'प्राकारस्य च भेत्तारं परिखानां च पूरकम् । द्वाराणां चैव भेत्तारं क्षिप्रमेव प्रमापयेत् ॥' इति मनूक्तसमुच्चयः । तुशब्देन प्रकारान्तरेण तद्धननं व्यवच्छिनत्ति । +वीमि.

राजपुरुषकृतापराधेषु दण्डविधिः

[२]ये राष्ट्राधिकृतास्तेषां चारैर्ज्ञात्वा विचेष्टितम् ।
साधून् संमानयेद्राजा विपरीतांश्च घातयेत् ॥
[१]उत्कोचजीविनो द्रव्यहीनान्कृत्वा विवासयेत् ।
सद्दानमानसत्कारान् श्रोत्रियान् वासयेत्सदा ॥

(१) कथं पुनः पीडाः प्रजाभ्यो विजानीयाद् राजा । ननूक्तं तत्र तत्र च निष्णातानध्यक्षान् कुर्यादिति । एत एव यदा विकुर्युस्तदा कथमिति चेत् । उच्यते— ये राष्ट्राधिकृता इति । यदा तु दुष्टजनाः सहाध्यक्षैरेकीभूय लुब्धाः साधुजनं खलीकुर्युः, ततस्तानपि 'उत्कोचजीविनो द्रव्यहीनान् कृत्वा विवासयेत् ।' ये तु साधवस्तान्— 'सदानमानसत्कारैः श्रोत्रियान् वासयेत् सदा' श्रोत्रियवचनं दृष्टान्तार्थम् । यद्वा दानादिभिरपि श्रोत्रियानेव वासयेत्, न करदानप्यविनीतानित्यर्थः । विश्व. १।३३४-५

(२) राष्ट्रे राष्ट्राधिकारेषु ये नियुक्तास्तेषां विचेष्टितं चरितं चारैरुक्तलक्षणैः सम्यक् ज्ञात्वा साधून् सुचरितान् संमानयेत् दानमानसत्कारैः पूजयेत् । विपरीतान् दुष्टचरितान् सम्यग्विदित्वा घातयेत् अपराधानुसारेण । ये पुनरुत्कोचजीविनस्तान् द्रव्यरहितान् कृत्वा स्वराष्ट्रात् प्रवासयेत् । श्रोत्रियान् सद्दानमानसत्कारैः सहितान् कृत्वा स्वराष्ट्रे स्वदेशे सदैव वासयेत् । मिता.

(३) ये राष्ट्रे करादानाय प्रजापालनाय चाधिकृता नियुक्तास्तेषां विचेष्टितं विविधं व्यापारजातं चारवचनेभ्योऽवधार्य साधून् यथोक्तकारिणो दानादिना संमानयेत्। विपरीतानसाधून् घातयेत् यथादोषं दण्डयेत् । उत्कोचजीवनशीलान् द्रव्यहीनान् कृत्वा देशान्निर्वासयेत् । कार्यार्थं कार्यिणो धनादानमुत्कोचः । श्रोत्रियान् दानमान-

---

* वीमि. मितावत् । + शेषं मितावत् ।

(१) यास्मृ. २।२८२; अपु. २२७।६२-३ वन ... काः (ग्रामवनविदारकास्तथा नराः) : २५८।६७; विश्व. २।२८६ वनग्राम (ग्रामवन) तखल (तादेश्च); मिता.; अप.; व्यक. १२१ वनग्राम (ग्रामवन); विर. ३६६ व्यकवत्; पमा. ४५२; विचि. १५९; व्यनि. ५०९ व्यास्तु (व्याः स्युः) शेषं व्यकवत्; दवि. ३१६ व्यकवत्; सवि. ४६७ व्यास्तु (व्याः स); वीमि.; सेतु. २५७; समु. १५८.

(२) यास्मृ. १।३३८; विश्व. १।३३४ द्राजा (न्नित्यं) श्च (स्तु); मिता.; अप. १।३३६-७ श्च (स्तु); व्यक. १२२ त्वा वि (त्वापि) श्च (स्तु); स्मृच. ३३२; विर. ३६८ श्च (स्तु); विचि. १६० विरवत्; वीमि. विरवत्; समु. १६५ ध्राधि (ष्ट्रेऽधि) श्च (स्तु).

(१) यास्मृ. १।३३९; विश्व. १।३३५ सद्दा (सदा) रान् (रैः); मिता.; अप. १।३३७-८ सद्दा (सदा); व्यक. ११२ पू. : १२२ द्रव्य (द्रव्ये) सद्दा (सदा); स्मृच. ३३२ पू., व्यासः; विर. ३०७ विवा (प्रवा) पू. : ३६८ विवा (प्रवा) सद्दा (सदा); पमा. ५८० पू., व्यासः; विचि. १३१ पू. : १६० अपवत्; दवि. १०६ पू.; वीमि. रान् (रैः); व्यप्र. ५६९ पू., व्यासः; सेतु. २३२ पू.; समु. १६५ पू., व्यासः.

सत्कारयुक्तान् कृत्वा सर्वदा वासयेत्। मानः पूजा सत्कारः साधुत्वख्यापको व्यापारः । अप.

(४) विपरीतान् असाधून् । घातयेत् हन्यात्। एतच्च वधार्हापराधे । अन्यत्र त्वपराधानुसारेण दण्डयेदिति तात्पर्यम् । अत एव तुशब्दस्तेषां पातनव्यवच्छेदायेति । वीमि.

**[१] अबध्यं यश्च बध्नाति बद्धं यश्च प्रमुञ्चति ।**
**अप्राप्तव्यवहारं च स दाप्यो दममुत्तमम् ॥**

(१) वर्णापार्थिकथया (?) तु– 'अबन्ध्यं यश्च बध्नाति बन्ध्यं यश्च प्रमुञ्चति । अप्राप्तव्यवहारं च स दाप्यो दममुत्तमम् ॥' अप्राप्तव्यवहारो व्यवहारेणास्पष्टीकृतः । स्पष्टमन्यत् । विश्व. २।२४९

(२) यः पुनर्बन्धनानर्हमनपराधिनं राजाज्ञया विना बध्नाति । यश्च बद्धं व्यवहारार्थमाहूतं अनिर्वृत्तव्यवहारं चोत्सृजत्यसौ उत्तमसाहसं दाप्यः । +मिता.

(३) बन्धनानर्हं बध्नाति योऽधिकृतो बन्धनार्हं प्रमुञ्चति न बध्नाति व्यवहारार्थमाहूतं चाऽनिर्णीतव्यवहारं योऽधिकृतो मुञ्चति स उत्तमसाहसं दमं दाप्यः। चकारैरताडनीयताडनकर्तुर्बद्धोन्मोचयितुश्च संग्रहः । वीमि.

**ऊनं वाऽभ्याधिकं वाऽपि लिखेद्यो राजशासनम्।**
**पारदारिकचौरं वा मुञ्चतो दण्ड उत्तमः × ॥**

अविज्ञातहन्तुरन्वेषणविधिः

**[२] अविज्ञातहतस्याशु कलहं सुतबान्धवाः ।**
**प्रष्टव्या योषितश्चास्य परपुंसि रताः पृथक् ॥**
**स्त्रीद्रव्यवृत्तिकामो वा केन वाऽयं गतः सह ।**
**मृत्युदेशसमासन्नं पृच्छेद्वाऽपि जनं शनैः ॥**

(१) भर्त्रादीनां त्विदानीं सामान्येनाविज्ञातकर्तृकवधनिष्पत्तावन्वेषणप्रकारमाह––अविज्ञातेति । हन्तुरविज्ञानेऽनन्तरमेव शीघ्रं हतस्य पुत्राः स्वजनाश्च प्रष्टव्याः कलहं, केन सहास्य कलहो भूतपूर्वः। साक्षारः क एनं प्रतीत्यर्थः । योषितश्चास्य भार्याः, किं क्वापि परपुरुषे सक्ता इति । एवं पृथक् पृथग् ज्ञातयः प्रष्टव्याः । तत्प्रातिवेश्यादौ वा याः परपुंसि रता योषितः पृथगेकैकशः प्रष्टव्याः । तदीयभार्या एव वा सपत्न्यः परपुरुषप्रसक्तिमन्योन्यं प्रष्टव्याः । प्रमाणान्तरमूलत्वादस्यार्थस्य तदनुसार्यन्वेषणं कार्यम् । किञ्च––स्त्रीवृत्तिद्रव्यकामो वेति । स्त्र्यादिकामो वाऽस्य कीदृश इत्येवं च पुत्रादयः प्रष्टव्याः। किमस्य क्वचित् परस्त्रीप्रसङ्ग आसीत्। का वाऽस्य वृत्तिः। किं वाऽस्य द्रव्यमभिप्रेतं, शरीरलग्नं वा । केन वा सहायं गृहान्निर्गतः। केन वाऽस्य मैत्रम्। अनेकविधत्वाद् दुष्टजनचेतसां सर्वमेवमादि प्रष्टव्यम् । यत्र वाऽसौ व्यापादितः, तं देशमासन्नो गोपालादिजनः शनैः प्रष्टव्यः । कोऽत्र तदानीं भवद्भिर्दृष्ट इत्येवमनुमानकुशलतया घातकोऽन्वेष्टव्यः । घातकश्चात्रोदाहरणार्थः । सर्वेषामेव त्वकार्यकारिणामेवमन्वेषणप्रकार इत्यवसेयम् ।

विश्व. २।२८४,८५

(२) अविज्ञातकर्तृके हनने हन्तृज्ञानोपायमाह–– अविज्ञातेति । अविज्ञातहतस्याविज्ञातपुरुषेण घातितस्य संबन्धिनः सुताः प्रत्यासन्नबान्धवाश्च केनास्य कलहो

+ अप. मितावत् ।

× व्याख्यासंग्रहः स्थलादिनिर्देशश्च प्रकीर्णके द्रष्टव्यः ।

(१) **यास्मृ.** २।२४३; **अपु.** २५८।३७ बद्धं (बध्यं); **विश्व.** २।२४९ बध्यं (बन्ध्यं) बद्धं (बन्ध्यं); **मिता.**; **अप.** बध्यं (बध्यं [न्ध्यं]); **व्यक.** १२२ बध्यं (बध्यं) श्च व (स्तु व) बद्धं (बध्यं); **विर.** ३६८ बध्यं (बध्यं) बद्धं (बध्यं); **पमा.** ४५७; **विचि.** १६०-६१ प्रमु (विमु); **दवि.** ३३५ बध्यं (बध्यं) बद्धं यश्च (यश्च बध्यं) दम (दण्ड); **वीमि.** विश्ववत्; **विता.** ७६८ श्च व (स्तु व); **सेतु.** २५७ बद्धं (बध्यं) अप्रा (संप्रा); **समु.** १५८ बध्यं (बन्ध्यं) बद्धं (बध्यं) दम (दण्ड).

(२) **यास्मृ.** २।२८०; **विश्व.** २।२८४ तश्चा (तो वा); **मिता.**; **अप.**; **व्यक.** १२३; **विर.** ३७७; **पमा.** ४५३ शु (पि); **विचि.** १६८; **दवि.** ७०; **सवि.** ४६५; **वीमि.**; **व्यउ.** १२५, १३२; **विता.** ७५१; **सेतु.** २६०; **समु.** १४६.

(१) **यास्मृ.** २।२८१; **विश्व.** २।२८५ द्रव्यवृत्ति (वृत्तिद्रव्य); **मिता.**; **अप.** मृत्यु (तत्प्र); **व्यक.** १२३ वाऽयं (चाऽयं) शेषं अपवत्; **विर.** ३७७ वाऽयं गतः सह (वा साहसं गतः) मृत्यु (तत्प्र) जनं (शनैः); **पमा.** ४५३; **विचि.** १६८ अपवत्; **दवि.** ७० सन्नं (पन्नं) द्वा (च्चा); **वीमि.** अपवत्; **व्यउ.** १२५ तः स (तस्त्वि) जनं (समं): १३२ सन्नं (सीनं) जनं (समं); **विता.** ७५१; **सेतु.** २६० वाऽयं (वाऽप) मृत्यु (तत्प्र) सन्नं (पन्नं); **समु.** १४६ द्वा (च्चा).

जात इति कलहमाशु प्रष्टव्याः। तथा मृतस्य संबन्धिन्यो योषितो याश्च परपुंसि रता व्यभिचारिण्यस्ता अपि प्रष्टव्याः। कथं प्रष्टव्या इत्यत आह—स्त्रीद्रव्येति। किमयं स्त्रीकामो द्रव्यकामो वृत्तिकामो वा, तथा कस्यां किंसंबन्धिन्यां वा स्त्रियामस्य रतिरासीत्, कस्मिन् वा द्रव्ये प्रीतिः, कुतो वा वृत्तिकामः, केन वा सह देशान्तरं गत इति नानाप्रकारं व्यभिचारिण्यो योषितः पृथक्पृथक् विश्वास्य प्रष्टव्याः। तथा मरणदेशनिकटवर्तिनो गोपाटविकाद्या ये जनास्तेऽपि विश्वासपूर्वकं प्रष्टव्याः। एवं नानाप्रकारैः प्रश्नैर्हन्तारं निश्चित्य तदुचितो दण्डो विधातव्यः। मिता.

(३) चकारेणाऽयं कस्य भार्यायां रत इति प्रष्टव्यं समुच्चिनोति, अपिकारेण प्रश्नं विनापि विरोधन्निह्नमनुसंदध्यादिति समुच्चीयते। वीमि.

## नारदः

साहसनिरुक्तिः। त्रयश्चत्वारश्च साहसप्रकाराः, तत्र दण्डविधिश्च।

**सहसा क्रियते कर्म यत्किञ्चिद् बलदर्पितैः।**
**तत् साहसमिति प्रोक्तं सहो बलमिहोच्यते॥**

(१) नारदेनापि साहसस्य स्वरूपं विवृतम्—सहसेति। तदिदं साहसं चौर्यवाग्दण्डपारुष्यस्त्रीसंग्रहणेषु व्यासक्तमपि बलदर्पावष्टम्भोपाधितो भिद्यते इति दण्डातिरेकार्थं पृथगभिधानम्। मिता. २।२३०

(२) यत्किञ्चिन्मध्यगधनापहरणादिकमित्यर्थः। स्मृच. ५

(३) अत्र च साहसे बलं रक्षितुर्न ज्ञानवारणं, चौर्ये तु तस्य ज्ञानवारणमिति विशेषः। * विर. ३४८

(४) सहसा बलेन बलवद्भिः प्रसह्य प्रतिज्ञातं यत्किञ्चित् कर्म क्रियते परस्वहरणादि, तत् साहसमिति चतुर्दशं विवादपदं उच्यते। सहो बलं, तस्मिन् भवं साहसम्। नाभा. १५।१ (पृ. १५९)

**तस्यैव भेदः स्तेयं स्याद्विशेषस्तत्र तूच्यते।**
**आधिः साहसमाक्रम्य स्तेयमाधिश्छलेन तु॥**

(१) आधिः पीडा, सा यत्रातिक्रम्य क्रियते तत्साहसम्। छलेन त्वाधिकरणे चौर्यम्। व्यक. १०९

(२) आधिः क्लेशः। स आक्रम्यार्थहरणद्वारा क्रियमाणः साहसम्। छलेन पुनरर्थहरणद्वारा क्रियमाणः स्तेयमित्यर्थः। * स्मृच. ७

(३) आधिर्द्रव्यहरणम्। तद्यदाक्रम्य रक्षकानवधीर्य न्हियते तत्साहसम्। यत्तु छलेन गोपनेन हृतं तत्स्तेयम्। एवञ्च तस्यैव भेद इत्यत्र तत्पदार्थः साहसं, तदेकदेशोऽनैयायिकद्रव्यहरणमात्रात्मको विवक्षित इति मन्तव्यम्। विर. ३८७

आक्रम्य रक्षितुर्ज्ञाने सत्येव बलेन आधिः पीडनं साहसम्। छलेन तु रक्षितुर्ज्ञानवारणेन स्तेयमित्यर्थः। × विर. ३४९

(४) प्रसह्य बलात् अप्रज्ञातमादानं स्तेयमित्युच्यते। एष एव तस्य साहसस्य भेदो विशेषश्च। नाभा. १५।११ (पृ. १६१)

**मनुष्यमारणं स्तेयं परदाराभिमर्शनम्।**
**पारुष्यमुभयं चेति साहसं पञ्चधा स्मृतम्॥**

---

* दवि विरवत्।

(१) नासं. १५।१; नास्मृ. १७।१; अपु. २५३।२६ सहो बलमिहो (विवादपदमु); विश्व. २।२३६; मिता. २।२३०; अप. २।७२ : २।२३० सहसा (साहसात्); व्यक. ११९; स्मृच. ५; विर. ३४८; पमा. ४४९; रत्न. १२६, विचि. १४९; व्यनि. ५१७; स्मृचि. २५ सहो (महा); दवि. २९३; सवि. ४५१-२; वीमि. २।२३०; व्यप्र. ३९२; व्यउ. १३०; व्यम. १०३; विता. ७४६; राकौ. ४९१; सेतु. २५३; समु. १४६; विव्य. ५३ मिति प्रोक्तं (मित्युक्तं).

* व्यप्र. स्मृचवत्। × विचि., दवि. विरवत्।

(१) नासं. १५।११ स्याद्वि (तु वि) तू (चो) धिः सा (धेः सा); नास्मृ. १७।१२ तूच्यते (दृश्यते); व्यक. १०९ स्तेयं स्याद्वि (स्यात् स्तेयं वि); स्मृच. ७; विर. ३८७: ३४९ स्तत्र तूच्यते (स्त्वत्र कीर्त्यते); रत्न. १२३ स्तेयं (स्तेयः); विचि. १५९ तूच्यते (कीर्त्यते); दवि. २९३ उत्त.; व्यनि. ५१७ स्तेयं (त्रेधा) तु (च); वीमि. २।२३० विरवत्; व्यप्र. २२२, ३८५; व्यउ. १२३ (=); विता. ७७६; सेतु. २५४ विचिवत्; समु. १४८.

(२) नास्मृ. १५।२ उत्तरार्धे (पारुष्यं द्विविधं ज्ञेयं साहसं च चतुर्विधम्); मिता. २।७२ (=) पञ्चधा स्मृतम् (स्याच्चतुर्विधम्); अप. २।७२ स्तेयं (चौर्यं) मर्शनम् (मर्षण [र्शन] म्) पञ्चधा स्मृतम् (तु चतुर्विधम्) मनुः : २।२३० स्तेयं (चौर्यं); व्यक. ११९ स्तेयं (चौर्यं) मुभयं (मुत्तमं);

अत्र प्रकाशकृतत्वलक्षणमाक्षिप्तं सामान्यलक्षणम् । पञ्चधेति विभागः, प्राणिहिंसा स्तेयं परदारपरिग्रहो वाक्पारुष्यं दण्डपारुष्यमित्युद्देशः । इह च साहसे रक्षितुर्ज्ञानवारणं नास्ति, स्तेये तु तदस्तीति तस्यासाहसत्वादुक्तविभागानुपपत्तिः स्तेयलक्षणे साहसलक्षणे चाव्याप्तिः। राक्षिसमक्षकृतस्यापि परद्रव्यग्रहणस्यापह्नवे स्तेयत्वादतत्समक्षकृतस्यापि परदारपरिग्रहादेः साहसत्वात् । अतस्तदुभयमनूद्याप्युपेक्ष्य—'सहसा क्रियते कर्म यत्किञ्चिद् बलदर्पितैः । तत्साहसमिति प्रोक्तं सहो बलमिहोच्यते ॥' इति नारदेनैवोक्तम् । एवं च समाख्यानुगतं बलकृतत्वमात्रमेतन्मते साहसलक्षणम् । तदेतत् स्पष्टमाह—'आधिः साहसमाक्रम्य स्तेयमाधिश्छलेन तु ।' आधिः पीडनं तद्बलेन यत्र क्रियते तत् साहसम् । यत्र तु रक्षितुरपवार्य छलेन क्रियते तत् स्तेयमित्यर्थः। एतेन स्तेयस्य द्विरूपत्वमुक्तम् । अत एव स्तेयादीनामविशेषश्रुतावपि बलावष्टम्भेन क्रियमाणानामेषां साहसत्वम् । अतस्तत्रैव दण्डाधिक्यं न तु रहसि क्रियमाणानामिति । तत्र प्रतिपादोक्त एव दण्ड इति मिताक्षराकारः । एतदेवाभिसंधाय याज्ञवल्क्येन—'सर्वः साक्षी संग्रहणे चौर्यपारुष्यसाहसे' इति पृथगुपादानं कृतम् ।

दवि. २९३-४

**तत्पुनस्त्रिविधं ज्ञेयं प्रथमं मध्यमं तथा ।**
**उत्तमं चेति शास्त्रेषु तस्योक्तं लक्षणं पृथक् ॥**

---

**विर.** ३४८ स्तेयं ( चौर्यं ) र्शन ( र्षण ); **स्मृसा.** ११४ स्तेयं ( चौर्यं ) मर्श ( मर्द ) चेति ... ... स्मृतम् ( चैव साहसं स्यात् चतुर्विधम् ); **रत्न.** १२५ मितावत्; **दीक.** ५३ चेति ( चैव ); **व्यनि.** ७६ स्तेयं ( चौर्यं ) शेषं मितावत्, कात्यायनः : ५१७ स्तेयं ( चौर्यं ); **दवि.** ३२ र्शन ( र्षण ) उत्तरार्धे ( द्वे मारुष्ये प्रकीर्णं च दण्डस्थानानि षड् विदुः ) : २९३ र्शन ( र्षण ) चेति ( चैव ); **व्यत.** २१३ दवि ( पृ. २९३ ) वत्; **व्यप्र.** १२० ( = ) स्तेयं ( चौर्यं ) शेषं मितावत्; **व्यउ.** १३० मितावत्; **विता.** १६६ ( = ) स्तेयं ( चौर्यं ) शेषं मितावत्; **सेतु.** १२० चेति ( चैव ) : २५३ स्तेयं ( चौर्यं ) र्शन ( र्षण ); **भाच.** ८।७२ ( = ) मितावत्.

(१) **नासं.** १५।२; **नास्मृ.** १७।३; **मिता.** २।२३०; **व्यक.** ११९ ज्ञेयं ( प्रोक्तं ); **स्मृच.** ६; **विर.** ३४९ व्यकवत्; **पमा.** ४५०; **रत्न.** १२६ चेति ( वेति ); **दीक.** ५३;

(१) तस्य च दण्डवैचित्र्यप्रतिपादनार्थं प्रथमादिभेदेन त्रैविध्यमभिधाय तल्लक्षणं तेनैव विवृतम्—तत्पुनस्त्रिविधमिति ।

मिता. २।२३०

(२) तत् साहसं त्रिविधं, प्रथमं, मध्यमं, उत्तममिति । फल्गुसारादिविषयभेदेन मनुसंहितासु शास्त्रान्तरेषु च तस्य त्रिप्रकारस्यापि लक्षणमुक्तम् ।

नाभा. १५।२ ( पृ. १५९ )

**फलमूलोदकादीनां क्षेत्रोपकरणस्य च ।**
**भङ्गाक्षेपावमर्दाद्यैः प्रथमं साहसं स्मृतम् ॥**

परपरिग्रहे फलमूलोदकशाकपुष्पादीनां क्षेत्रोपकरणस्य हलयुगवरत्रादेः भङ्गः, क्षेत्रोपकरणस्य फलकन्दशाकादीनामाक्षेपो हरणं, उदकादेश्च सेतोरवमर्दः, सस्यादेश्चाहरणं, सर्वेषां वा यथासंभवम् । एतत् प्रथमं साहसमल्पद्रव्यापहारविषयम् । नाभा. १५।३ ( पृ.१५९ )

**वासःपश्वन्नपानानां गृहोपकरणस्य च ।**
**एतेनैव प्रकारेण मध्यमं साहसं स्मृतम् ॥**

---

**व्यनि.** ५१७ लेषु ( स्त्रीः ); **स्मृचि.** २६; **सवि.** ४५२ ( = ); **व्यप्र.** ३९२; **व्यउ.** १३०; **विता.** ७४७ ( = ); **राकौ.** ४९१; **सेतु.** २५३ व्यकवत्.

(१) **नासं.** १५।३; **नास्मृ.** १७।४ पाव ( पोप ); **मिता.** २।२३० नास्मृवत्; **व्यक.** ११९; **स्मृच.** ६, ३२३; **विर.** ३४९ पाव ( पाप ); **पमा.** ४५०; **रत्न.** १२६; **दीक.** ५३ विरवत्; **विचि.** १४९-५० पाव ( पाप ) प्रथ......स्मृतम् ( परदारप्रधर्षणम् ); **व्यनि.** ५१७ नास्मृवत्; **स्मृचि.** २६ विरवत्; **सवि.** ४५२ ( = ) पावमर्दा ( पोऽसमर्था ); **व्यप्र.** ३९२; **व्यउ.** १३० नास्मृवत्; **व्यम.** १०३ नास्मृवत्; **विता.** ७४७ ( = ) नास्मृवत्; **राकौ.** ४९१ नास्मृवत्; **सेतु.** २५३; **समु.** १५६.

(२) **नासं.** १५।४; **नास्मृ.** १७।५; **मिता.** २।२३०; **अप.** २।२३० वासः ( नाशः ) पाना ( याना ); **व्यक.** ११९ णस्य ( णानि ); **स्मृच.** ६, ३२३; **विर.** ३४९; **पमा.** ४५०; **रत्न.** १२६; **दीक.** ५३; **व्यनि.** ५१७ पाना ( धान्या ); **सवि.** ४५२ (=); **व्यप्र.** ३९२ पाना ( पाला ) हो ( हा ); **व्यउ.** १३० पाना ( याना ) तेनै ( तैरे ) **व्यम.** १०३; **विता.** ७४७( = ); **राकौ.** ४९१; **सेतु.** २५३ पाना ( याना ) एते ( अने ); **समु.** १५६.

वस्त्राणां पशूनामजादीनां पक्वान्नस्य क्षीरादेर्गृहोपकरणस्य घटपीठकोलूखलमुसलशूर्पादेः पूर्ववद् भङ्गादिकरणं मध्यमद्रव्यविषयत्वान्मध्यमं साहसम्।

नाभा. १५।४ (पृ.१५९)

**[1]व्यापादो विषशस्त्राद्यैः परदाराभिमर्शनम्।**
**प्राणोपरोधि यच्चान्यदुक्तमुत्तमसाहसम्॥**

व्यापादो मारणं विषशस्त्राग्निहस्तमुष्ट्यादिभिः। परदाराणां चातिक्रमः। अन्यदपि येन म्रियते तस्यानुष्ठानं पुत्रमरणकथनाद्यनृतं, तद् हि उत्कृष्टविषयत्वादुत्तमसाहसम्। नाभा. १५।५ (पृ. १६०)

**[2]तस्य दण्डः क्रियापेक्षः प्रथमस्य शतावरः।**
**मध्यमस्य तु शास्त्रज्ञैर्दृष्टः पञ्चशतावरः॥**

तस्य त्रिप्रकारस्य साहसस्य दण्डः, क्रियत इति क्रिया द्रव्यं, तदपेक्षो द्रव्यतत्सारापेक्षो भिद्यते। तत्र प्रथमस्य तावत् फलादिविशेषवशात् पञ्चशतादारभ्य यावच्छतं, न शतादर्वाक्। अल्पेऽप्यपराधे बहुदण्डवचनं प्रसङ्गनिवृत्त्यर्थम्। मध्यमसाहसस्य सहस्रादारभ्य यावत् पञ्चशतानि। नाभा. १५।६ (पृ. १६०)

**उत्तमे साहसे दण्डः सहस्रावर इष्यते॥**
**[2]वधः सर्वस्वहरणं पुरान्निर्वासनाङ्कने।**
**तदङ्गच्छेद इत्युक्तो दण्ड उत्तमसाहसे॥**

(१) वधादयश्चापराधतारतम्यादुत्तमसाहसे समस्ता व्यस्ता वा योज्याः। मिता. २।२३०

(२) तदङ्गच्छेदः साहसकरणीभूताङ्गच्छेदः। विर. ३५१

(३) वधस्ताडनादिः, सर्वस्वहरणं, ततो महति पुरान्निर्वासनं वधादि कृत्वा, ततोऽपि महति पूर्वत्रयमङ्कनं च, येनाङ्गेन हस्तेन पादेन वा साहसं कृतं तस्य छेदनम्। एवम्प्रकारो दण्ड उत्तमसाहसे। नाभा. १५।७ (पृ.१६०)

**[3]अविशेषेण सर्वेषामेष दण्डविधिः स्मृतः।**
**वधादृते ब्राह्मणस्य न वधं ब्राह्मणोऽर्हति॥**

---

(१) **नासं.** १५।५ राभिमर्शनम् (रप्रधर्षणम्); **नास्मृ.** १७।६; **मिता.** २।२३०; **अप.** २।२३० र्शन (र्ष [र्श] ण); **व्यक.** ११९ दो (रो) राभिमर्शनम् (रप्रधर्षणम्) दुक्त... रम् (दुत्तमं साहसं स्मृतम्); **स्मृच.** ६ उत्तरार्धं व्यकवत्: ३२३; **विर.** ३४९ णो (णा) शेषं नासंवत्; **पमा.** ४५०; **रत्न.** १२६; **दीक.** ५३; **विचि.** १५० न्यदुक्तमु (धमध्यमो) उत्त.; **व्यनि.** ५१७ राभिमर्शनम् (रप्रकर्षणम्) उत्तरार्धं व्यकवत्; **स्मृचि.** २६; **सवि.** ४५२ (=) उत्तरार्धं व्यकवत्; **व्यप्र.** ३९२; **व्यउ.** १३० उत्तरार्धं व्यकवत्; **व्यम.** १०३; **विता.** ७४७ (=); **राकौ.** ४९१ र्शन (र्षण); **सेतु.** २५३ नासंवत्; **समु.** १५६ उत्तरार्धं व्यकवत्.

(२) **नासं.** १५।६; **नास्मृ.** १७।७; **मिता.** २।२३० पेक्षः (क्षेपः); **अप.** २।२३०; **व्यक.** ११९; **स्मृच.** ३२३; **विर.** ३५१; **पमा.** ४५०; **रत्न.** १२९; **दीक.** ५३ मितावत्; **विचि.** १५०; **व्यनि.** ५०३, ५१८; **स्मृचि.** २६; **दवि.** २९४; **नृप्र.** २६७ (=); **सवि.** ४५२ (=) पूर्वार्धे (तस्य दण्डक्रियापेक्षा प्रथमस्य दशापरः) वरः (परः); **व्यप्र.** ३९३ तस्य (तत्र); **व्यउ.** १३० पेक्षः (क्षेपे); **व्यम.** १०५ तु (च); **विता.** ७४७ (=) ण्डः (ण्ड); **राकौ.** ४९१; **सेतु.** २५९; **समु.** १५४.

(१) **नास्मृ.** १७।८; **मिता.** २।२३०; **पमा.** ४५०; **रत्न.** १२९; **दीक.** ५३; **व्यनि.** ५१८; **स्मृचि.** २६; **दवि.** २९४; **नृप्र.** २६७ (=); **सवि.** ४५३ (=) वर इष्यते (पर उच्यते); **व्यप्र.** ३९३; **व्यउ.** १३०; **व्यम.** १०५; **विता.** ७४७ (=); **राकौ.** ४९१; **समु.** १५६.

(२) **नासं.** १५।७; **नास्मृ.** १७।८; **मिता.** २।२६ से (सः): २।१५५ (=): २।२३० : २।२७४ उत्त.; **अप.** २।२६ ण्ड उ (ण्डरतू) से (सः): २।१५५ (=) पू.: २।२३०; **व्यक.** ११९ से (सम्); **स्मृच.** १२५, ३२३; **विर.** ३५१; **पमा.** ४०४ इत्युक्तो (इत्येको) से (सः) स्मरणम्: ४४२, ४५०; **रत्न.** १२९ से (सः); **दीक.** ५३ से (सः); **विचि.** १५०; **व्यनि.** ५०३, ५१८; **स्मृचि.** २६; **दवि.** १३३ से (सः): २९४; **नृप्र.** ३२ से (सम्) : २६७ (=); **सवि.** ४५३ (=) नाङ्कने (नं तु वा); **व्यप्र.** ३६६ से (सम्) स्मरणम्: ३९३; **व्यउ.** १०७ योगीश्वरः : ११० से (सम्): १३०; **व्यम.** १०५ से (सः); **विता.** २९ (=) : ८५ वधः (धन) से (सः): ७४७ (=) से (सः); **राकौ.** ४९१; **सेतु.** २५९; **प्रका.** ७८; **समु.** १५६.

(३) **नासं.** १५।८; **नास्मृ.** १७।९; **मिता.** २।२६; **अप.** २।२६ सर्वेषा (वर्णाना) पू.: २।२७७; **व्यक.** १२३ मेष (मेवं); **स्मृच.** १२५ वधं (वन्धं); **विर.** ३७४; **रत्न.** १२७ (=); **विचि.** १६६; **वीमि.** २।२८२ वधादृते (वध्याXX); **व्यप्र.** ३९३; **व्यउ.** १३० उत्त.; **व्यम.** १०३; **विता.** ८५ पू.: ८८ उत्त.: ७५४; **प्रका.** ७८-९; **समु.** १५६.

[1]शिरसो मुण्डनं दण्डस्तस्य निर्वासनं पुरात् ।
ललाटे चाभिशस्ताङ्कः प्रयाणं गर्दभेन च ॥

अविशेषेणेति । अविशेषेण क्षत्रियविट्शूद्रादीनामेष पञ्चविधो दण्ड उत्तमसाहसे । इतरयोरपि प्रथममध्यमयोरपि यथोक्तो वधं मुक्त्वा अन्यस्तुल्यः, ब्राह्मणस्य तु वधो नास्ति, तुल्यदोषत्वेऽपि जातेः पूज्यत्वात् ।

शिरस इति । ब्राह्मणस्योक्तमेव— शिरसो मुण्डनं पञ्चसटं कार्यम् । ततो महति पुरान्निर्वास्यः । ततोऽपि महति ललाटेऽभिशस्ताङ्कनं कुक्कुटाद्यं क्रमात् कार्यम् । गर्दभेन चाधिष्ठाने भ्रामयितव्यः ।

नाभा. १५।८-९ ( पृ. १६०-६१ )

[2]स्यातां संव्यवहार्यौ तौ धृतदण्डौ तु पूर्वयोः ।
धृतदण्डोऽप्यसंभाष्यो ज्ञेय उत्तमसाहसे ॥

प्रथममध्यमयोश्च कर्तारौ दण्डितौ कृतप्रायश्चित्तौ च संभोजनादिमर्हतः, न त्याज्यौ । उत्तमसाहसे तु धृतदण्डोऽपि त्याज्य एव, न संभोज्यः ।

नाभा. १५।१० ( पृ. १६१ )

अपराधविषयकपश्चात्तापे सति असति च कर्तव्यता

[3]अयुक्तं साहसं कृत्वा प्रत्यापत्तिं भजेत यः ।
ब्रूयात् स्वयं वा सदसि तस्यार्धविनयः स्मृतः ॥

[1]गूहमानस्तु दौश्शील्यात् यदि पापः स हीयते ।
सभ्याश्चास्य न दुष्यन्ति तीव्रो दण्डश्च पात्यते ॥

(१) अत्र अयुक्तं वियुक्तं विरुद्धं किमपि कस्यापि कृत्वा अथवा चौर्यादिकं साहसमपि कस्यापि कृत्वा तेनावेदितः सन् धर्माधिकरणस्याग्रे यः प्रत्यापत्तिं करोति मिथ्यां न करोति तस्याधममध्यमोत्तमानुसारेण यः शास्त्रे विहितो दण्डः तस्य विनयस्यार्धमेव विनयोऽस्य भवतीति । अनावेदितोऽपि यः स्वयमेव प्रतिपत्तिं करोति तस्यायमेव क्रम इति ।

गूहमानस्त्विति । यदि पुनरयुक्तसाहसादिकं कृत्वा करणावेदितोऽपि मिथ्यां करोति, पश्चात्स दिव्यादिक्रियाभिः पराजीयते च, तदा यस्य तस्य (?) सभ्याः कुपिता भवन्ति, तीव्रो दण्डश्च तस्य द्विगुणादिक इति ।

अभा. ७३-४

(२) प्रत्यासत्तिर्विनयकर्तृसांनिध्यं, ब्रूयाद्वा सदसि साहसं कृतं, तेन अवगूहमानत्वमुक्तम् । तेन साहसमगूहमाने तत्कर्तरि अनधिकदण्डः, गूहमाने तु अधिक इति पूर्वोत्तरश्लोकार्थः । हलायुधस्तु साहसकार्येऽप्यन्यायसाहसं कृत्वा यदि प्रत्यासत्तिं प्रायश्चितं भजते, स्वयमेव वा साहसकर्तृत्वं निवेद्य दण्डो मे क्रियतामिति वदेत्, तस्य यथोक्तदण्डादर्धदण्डः । यस्तु दौःशील्यं गूहमानः तस्मादेव जीवति, तस्य त्विङ्गितादिभिः साहसकारित्वं निश्चित्य स्वल्पेऽपि साहसे तीव्रो दण्ड इत्यर्थमाह । विर. ३७६

---

(१) **नासं.** १५।९ ङ्कः प्रया ( ङ्को निर्या ); **नास्मृ.** १७।१०; **मिता.** २।२६; **अप.** २।२६,२।२७७; **व्यक.** १२३; **स्मृच.** १२५ ( = ); **विर.** ३७४ च ( तु ); **पमा.** २०५ ( = ); **रत्न.** ५४ : १२७ ( = ); **विचि.** १६६ विरवत्; **नृप्र.** १७ च ( वा ); **सवि.** ४९४ चाभिशस्ताङ्कः ( गर्दभस्याङ्कः ) स्मरणम्; **वीमि.** २।२८२ दण्डस्तस्य ( तत्र दण्डो ); **व्यप्र.** ३९३; **व्यउ.** १३० विरवत्; **व्यम.** १०३; **विता.** ८८,७५४ चाभि ( वाभि ) च ( वा ); **प्रका.** ७८ मनुः; **समु.** १५६.

(२) **नासं.** १५।१० भाष्यो ( भोज्यो ); **नास्मृ.** १७।११; **अप.** २।२३० तौ ( द्वौ ) र्वयोः ( र्वकौ ); **स्मृच.** ३२३ तौ ( द्वौ ) से ( सः ) : ३२४ ( = ) से ( सः ) उत्त.; **विर.** ३५१ तौ ( द्वौ ); **रत्न.** १२९ विरवत्; **विचि.** १५० विरवत्; **व्यनि.** ५०३ : ५१८ तौ ( तु ) ज्ञेय ( दण्ड्य ); **सवि.** ४७४ ( = ) धृत ( कृत ) उत्त.; **समु.** १५६ विरवत्.

(३) **नासं.** २।२२०; **नास्मृ.** ४।२४५ सदसि ( सदिति ); **अभा.** ७३ नास्मृवत्; **व्यक.** १२३ जेत ( जेत्तु ); **स्मृच.** १२६ भजेत ( व्रजेत्तु ) स्यार्धविनयः ( स्य चार्धो दमः ); **विर.** ३७६ पत्तिं ( सत्तिं ); **पमा.** २११ भजेत ( व्रजेत्तु ) स्वयं ( सर्वं ) स्यार्धविनयः ( स्य वाऽर्धो दमः ); **विचि.** १६८ पत्तिं ( सत्तिं ) भजेत ( करोति ); **दवि.** ७८ विरवत्; **नृप्र.** १७ स्वयं ( सर्वं ) शेषं स्मृचवत्; **सेतु.** ३०८ विचिवत्; **समु.** ६९ स्मृचवत्.

(१) **नासं.** २।२२१ पापः ( पापं ) पात्यते ( पार्थिवात् ); **नास्मृ.** ४।२४६ दौश्शील्यात् ( वैचित्र्यात् ) हीयते ( जीयते ) श्चास्य ( स्तस्य ) दु ( तु ); **अभा.** ७३ दौश्शील्यात् ( ये शल्यात् ? ) हीयते ( जीयते ) श्चास्य ( स्तस्य ) दु ( तु ); **व्यक.** १२३ हीयते ( जीवति ) दु ( तु ); **विर.** ३७६ व्यकवत्; **विचि.** १६८ स्यात् ( ल्यं ) पापः ( वातः ) हीयते ( जीवति ) स्य न दु ( न्येन तु ) श्च पात्यते ( स्तु पच्यते ); **दवि.** ७९ हीयते ( जीवति ) न दु ( प्रदु ); **सेतु.** ३०८ पूर्वार्धे ( गूहमानस्तु दुःशीलं यदि वाऽतः स जीवति ) ण्डश्च ( ण्डस्तु ).

(३) अयुक्तमिति । अयुक्तं प्रतिषिद्धं चौर्यपरघातादि कृत्वा प्रत्यापत्तिं भजेत 'अशोभनमकार्यं मया कृतं, शासनीयोऽस्मि, प्रमादान्मयैतत् कृतमि'ति प्रतिपद्येत स्वयमेव, स्वयं वाऽकार्यस्य चोदितो राजकुले प्रणिपत्य 'इदं मयाकार्यं कृतं शोधयत मामि'ति तस्य द्विप्रकारस्यापि अस्मिन् कार्ये विहितो यो दण्डः तस्यार्धः स्मृतः। प्रायश्चित्तं तु (न) तद्वशेन, 'ख्यापनानुतापादिना पापस्य क्षयाद्' इति स्मरणात् । अन्योऽप्येवं मा कार्षीदित्यर्धदण्डः ।

गूहमानस्त्विति । यस्तु स्वयं न प्रकाशयति गूहमान एव, लिखितेऽपि व्यवहारे मिथ्येति ब्रुवन् पापं गूहमानो यदि, हीयते, सभ्याश्च साधवो न दुष्यन्ति, तीव्रश्च दण्डो महान् पार्थिवात् । शिष्टविगर्हणा च परलोकविरुद्धा कष्टेयमवस्थेति तीव्रो दण्डः। तस्माद् यदि प्रमादेन पापं कुर्यान्न गूहेत् । तथा सति प्रत्यवायो मन्दः शिष्टविगर्हणाभावात् । दृष्टे चापि दण्डलाभ इति ।

नाभा. २।२२०-२१ (पृ.८१-८२)

अविक्रेयविक्रये ब्राह्मणदण्डः

[१]अविक्रेयाणि विक्रीणन् ब्राह्मणः प्रच्युतः पथः ।
मार्गे पुनरवस्थाप्यो राज्ञा दण्डेन भूयसा* ॥

अत्र यानि अविक्रेयाणि निर्दिष्टानि तानि विक्रीणन् ब्राह्मणो मार्गच्युतो भवति । स च राज्ञा पुनरपि मार्गे संस्थापनीयः । महता दण्डेनेति । अभा. ४६

राजधृतवस्तुनि आक्रममाणो वधदण्डार्हः

[२]गन्धमाल्यमदत्तं तु भूषणं वास एव वा ।
पादुकेति राजोक्तं तदाक्रामन्वधमर्हति (?)*॥

एतानि वस्तूनि राजकीयानि यो दर्पात्स्वयमाक्रामति स राज्ञः सकाशाद्वधमर्हतीति । अभा. २६

* अयं श्लोकः प्रकरणान्तरस्थोऽपि निबन्धकारानुसारेणात्रोद्धृतः ।

(१) नासं. २।६३; नास्मृ. ४।६७; अभा. ४६; अप. २।२३३; व्यक. १२१; विर. ३६४; दवि. ३११; सेतु. ३०६.

(२) नास्मृ. २।३५; अभा. २६ उत्तरार्धे (यद्वासनं पादुकेति राज्ञोक्तोऽयं वध ? र्हति ?).

बृहस्पतिः

साहसनिरुक्तिः, पञ्च त्रयश्च साहसप्रकाराः, तत्र दण्डविधिश्च

[१]स्तेनानामेतदाख्यातं सर्वेषां दण्डनिग्रहम् ।
साहसस्याधुना सम्यक् श्रूयतां वधशासनम् ॥
[२]मनुष्यमारणं चौर्यं परदाराभिमर्शनम् ।
पारुष्यमुभयं चेति साहसं पञ्चधा स्मृतम्* ॥

इति वचनाद्यद्यपि स्त्रीसंग्रहणचौर्यपारुष्याणां साहसत्वं तथापि तेषां स्वबलावष्टम्भेन जनसमक्षं क्रियमाणानां साहसत्वम् । रहसि क्रियमाणानां तु संग्रहणादिशब्दवाच्यत्वमिति तेषां साहसात्पृथगुपादानम् ।

मिता. २।७२

[३]हीनमध्योत्तमत्वेन त्रिविधं तत्प्रकीर्तितम् ।
द्रव्यापेक्षो दमस्तत्र प्रथमो मध्यमोत्तमौ ॥

प्रथमो मध्यमोत्तमौ इति प्रथममध्यमोत्तमसाहसरूप इत्यर्थः । इत्थं हीनादिद्रव्यापहारेषु प्रथमादिसाहसानां व्यवस्थितत्वेऽपि तेषां हीनत्वादितारतम्यात् साहसानां न्यूनाधिकसंख्याभेदो व्यवस्थितो द्रष्टव्यः । दवि. १४१

साहसस्तेयं तत्र दण्डश्च

[४]साम्प्रतं साहसस्तेयं श्रूयतां क्रोधलोभजम् ।

साहसस्तेयं साहसलक्षणं स्तेयमित्यर्थः । स्मृच. ३१६

* 'साहसं पञ्चधा प्रोक्तं' इत्यग्रिमबृहस्पतिवचनानुसारेण स्मृतिचन्द्रिकापाठ एव सम्यक् लगते ।

(१) व्यनि. ५१७; समु. १४६ उत्त.

(२) स्मृच. ६ : ३१२ पञ्चधा स्मृतम् (तु चतुर्विधम्); पमा. ४५० चेति (चैव) शेषं स्मृचवत्; रत्न. १२६ पञ्चधा स्मृतम् (स्याच्चतुर्विधम्); नृप्र. २६७ भयं चेति (त्तमं चैव) शेषं रत्नवत्; सवि. ४५२ मारणं (हरणं) शेषं स्मृचवत्; व्यसौ. ४५ रत्नवत्; व्यप्र. ३९२ रत्नवत्; व्यम. २ चौर्यं (स्तेयं) शेषं रत्नवत् : १०३ रत्नवत्; विता. ३५ चौर्यं (स्तेयं) शेषं रत्नवत् : ७४६ रत्नवत्; समु. १४६.

(३) अप. २।२३० स्तत्र (श्चात्र) मध्यमोत्तमौ (मध्य उत्तमः); व्यक. ११९ मध्यमोत्तमौ (मध्य उत्तमः); विर. ३५० मौ (मः); दवि. १४१ विरवत् : २९४ व्यकवत्; सेतु. २५४ व्यकवत्, मनुः : २५९ मनुः.

(४) स्मृच. ३१६; रत्न. १२८; सवि. ४५८; व्यप्र. ३९६ साहस (साहसं); विता. ७७४ व्यप्रवत्; समु. १४८.

[1]क्षेत्रोपकरणं सेतुं पुष्पमूलफलानि च ।
विनाशयन् हरन् दण्ड्यः शताद्यमनुरूपतः ॥
[2]पशुवस्त्रान्नपानानि गृहोपकरणं तथा ।
हिंसयन् चौरवद्दाप्यो द्विशताद्यं दमं तथा ॥
[3]स्त्रीपुंसौ हेमरत्नानि देवविप्रधनं तथा ।
कौशेयं चोत्तमं द्रव्यमेषां मूल्यसमो दमः ॥
[4]द्विगुणो वा कल्पनीयः पुरुषापेक्षया नृपैः ।
हर्ता वा घातनीयः स्यात्प्रसङ्गविनिवृत्तये ॥

(१) तत्र तावत्साहसस्तेयकर्तृविषये दण्डानाह बृहस्पतिः —क्षेत्रेति । अत्र विनाशयन् हरन् हिंसयन् चोरयन् हन्ता वेति च वदन् इदं दण्डशास्त्रं साहसस्तेयकर्तृविषयं इति दर्शयति । तस्य क्रोधलोभवत्त्वेन हननोपेतस्तेयकारित्वात् । हन्ता वा घातनीय इत्यब्राह्मणविषयम् । स्मृच. ३१६

(२) शताद्यं शतावरं द्विशतान्तः । अनुरूपतः विनाशितापहृतमूल्यानुसारेण । पुरुषापेक्षया आढ्यदरिद्रपुरुषापेक्षया । अत्र यस्य मूल्यमात्रं संभवति, तस्य तन्मात्रं, यस्य त्वधिकं, तस्य द्विगुणो दण्डः । यस्य तु न मूल्यमात्रमपि, चौर्यं चातिप्रसङ्गः, तस्य वध इति व्यवस्था । * विर. ३५०-५१

(१) अप. २।२३० पुष्पमूल (मूलपुष्प) ताद्य (तोद्य); व्यक. ११९; स्मृच. ३१६ तुं पुष्पमूल (तुमूलपुष्प) द्य (क्ष्य); विर. ३५०; रत्न. १२८ सेतुं (चैव); विचि. १५० मनुः; दवि. १४१; व्यम. १०४ सेतुं (चैव); विता. ७७४ व्यमवत्; सेतु. २५४ मनुः; समु. १४८ पूर्वार्धं स्मृचवत्; विव्य. ५३ क्षेत्रो...सेतुं (क्षेत्रं सदस्तथा धान्यं) शता...पतः (स च सस्यानुसारतः) मनुः.

(२) अप. २।२३० ता (तो); व्यक. ११९ हिंसयन् चौरवद् (हारयन् चोरयन्); स्मृच. ३१६ चौरवद् (चोरयन्); विर. ३५०; रत्न. १२८ स्मृचवत्; विचि. १५० द्यं द (द्यद) शेषं स्मृचवत्, मनुः; दवि. १४१ नानि (नादि) द्यं (न्तं); व्यम. १०४ चौरवद्दाप्यो (चोरयन् शास्यो); विता. ७७४ द्यं (द्य); सेतु. २५४, २५९ स्मृचवत्, मनुः; समु. १४८ स्मृचवत्.

(३) अप. २।२३० त्तमं (त्तम); व्यक. ११९ अपवत्; स्मृच. ३१६ सौ (सो); विर. ३५० अपवत्; रत्न. १२८ सौ (गो) कौशे (यौषे) त्तमं (त्तम); विचि. १५० सौ (गो) मनुः; दवि. १४१; व्यम. १०४ रत्नवत्; विता. ७७४ सौ (गो) कौशे (यौषे); सेतु. २५४ सौ (गो) धनं (धने) मनुः : २५९ सौ (गौ) मनुः; समु. १४८ सौ (गो) त्तमं (त्तम).

(४) अप. २।२३० हर्ता (हन्ता); व्यक. ११९ हर्ता (हन्ता) विनिवृत्तये (प्रधनं तथा); स्मृच. ३१६ अपवत् : ३१७ पू.; विर. ३५० णो वा कल्पनीयः (णः कल्पनीयश्च) वा घा (च घा); रत्न. १२८ अपवत्; विचि. १५० हर्ता ...... स्यात् (हर्तारो घातनीयाः स्युः) मनुः ; दवि. १४१ वा घा (च घा) : २९५ वा घा (च घा) उत्त.; व्यम. १०५ त्प्र (त्प्रा); विता. ७७४ हर्ता वा (हन्ता च); सेतु. २५४, २५९ मनुः; समु. १४८.

साहसिकवधदण्डविचारः । साहसिका राज्ञा नोपेक्षणीयाः । साहसिकघातकतत्सहायाः तद्दण्डश्च ।

[1]साहसं पञ्चधा प्रोक्तं वधस्तत्राधिकः स्मृतः ।
तत्कारिणो नार्थदण्डैः शास्या वध्याः प्रयत्नतः ॥
[2]प्रकाशवधका ये तु तथा चोपांशुघातकाः ।
ज्ञात्वा सम्यक् धनं हृत्वा हन्तव्या विविधैर्वधैः ॥
[3]मित्रप्राप्त्यर्थलोभैर्वा राज्ञा लोकहितैषिणा ।
न मोक्तव्याः साहसिकाः सर्वभूतभयावहाः ॥
[4]लोभाद्भयाद्वा यो राजा न हन्यात्पापकारिणः ।
तस्य प्रक्षुभ्यते राष्ट्रं राज्याच्च परिहीयते ॥

* दवि. विरवत् ।

(१) व्यक. १२२; स्मृच. ३१२; उत्त., नारदः; विर. ३७१; विचि. १६३-४ (=); दवि. ६१; समु. १४६ उत्त., नारदः.

(२) अप. २।२७७ वधका (घातका); व्यक. १२२ हृत्वा (हित्वा) हन्तव्या (हन्याद्वा); स्मृच. ३१२ ये तु (राश्च); विर. ३७१ तु (च) हृत्वा (हित्वा); पमा. ४५४; रत्न. १२६ अपवत्; विचि. १६४ (=) ज्ञात्वा......हृत्वा (राज्ञा सम्यग्वधं हित्वा); सवि. ४५८ का ये तु (कार्येषु) काः (कान्); व्यप्र. ३९४ अपवत्; व्यउ. १३२ अपवत्; व्यम. १०३ अपवत्; विता. ७५१ म्यक् धनं हृत्वा (म्यक्तया त्वाशु); समु. १४६ स्मृचवत्.

(३) अप. २।२७७ लोभैर्वा (लाभे वा) भूत (लोक); व्यक. १२२ साहसिकाः (प्रयत्नेन); विर. ३७१; विचि. १६४ संदर्भेण कात्यायनः; दवि. ६२ भूत (लोक); वीमि. २।२८२ राज्ञा (राज) कात्यायनः.

(४) अप. २।२७७ हन्यात्पाप (हन्त्यन्याय्य); व्यक. १२२; विर. ३७२; विचि. १६४ क्षुभ्य (भ्रश्य) संदर्भेण कात्यायनः; वीमि. २।२८२ प्रक्षु (प्रोज्ज).

बन्धाग्निविषशस्त्रेण परान् यस्तु प्रमापयेत् ।
क्रोधादिना निमित्तेन नरः साहसिकस्तु सः ॥
एकस्य बहवो यत्र प्रहरन्ति रुषान्विताः ।
मर्मप्रहारको यस्तु घातकः स उदाहृतः ॥
मर्मघाती तु यस्तेषां यथोक्तं दापयेद्दमम् ।
आरम्भकृत् सहायश्च दोषभाजौ तदर्धतः ॥
क्षतस्याल्पमहत्त्वं च मर्मस्थानं च यत्नतः ।
सामर्थ्यं चानुबन्धं च ज्ञात्वा चिह्नैः प्रसाधयेत् ॥

(१) तत्कारिणः साहसलक्षणवधकारिणः ।

स्मृच. ३१२

(२) मित्रप्राप्त्यर्थलोभैर्न मोक्तव्या इत्यन्वयः । किन्तु राज्ञा लोकहितैषिणा हन्तव्या इति संबन्धः ।

विर. ३७२

एकस्य मर्मघातितदघातिरूपा बहवो यत्र प्रहारं कुर्वन्ति, तत्र मर्मघातिनमेव यथोक्तं दण्डं दापयेदित्यर्थः । यथोक्तश्च यज्जातीयस्य प्राणिनो घातकानाधिकृत्य य उक्तः सः, तदघातिनस्तु दण्ड आरम्भकृदित्यादिनोक्तः । मर्मघातित्व-तदघातित्वनिश्चयार्थं क्षतस्येत्यादि ।

विर. ३७४

अविज्ञातघातकाद्यन्वेषणविधिः

हतः संदृश्यते यत्र घातकस्तु न दृश्यते ।
पूर्ववैरानुमानेन ज्ञातव्यः स महीभुजा ॥
प्रातिवेश्यानुवेश्यौ च तस्य मित्रारिबान्धवाः ।
प्रष्टव्या राजपुरुषैः सामादिभिरुपक्रमैः ॥
विज्ञेयोऽसाधुसंसर्गाच्चिह्नैर्होढेन वा नरैः ।
एषोदिता घातकानां तस्कराणां च भावना ॥

---

(१) **व्यक.** १२२; **विर.** ३७२; **विचि.** १६४ संदर्भेण कात्यायनः.

(२) **अप.** २।२७७ को (दो); **व्यक.** १२३ यत्र (यस्य) को यस्तु (दो यश्च); **विर.** ३७३ को यस्तु (दोषस्तु) कः स (कस्य); **रत्न.** १२६; **विचि.** १६५-६ को यस्तु (दो यश्च); **व्यनि.** ४९४ एकस्य (कूटस्य) को (दो) कात्यायनः; **दवि.** ७४ अपवत्; **व्यप्र.** ३९५; **व्यउ.** १३३; **व्यम.** १०३; **विता.** ७५३; **सेतु.** २५८ विरवत्; **समु.** १४६ एकस्य (एकं तु) उत्तरार्धे (मर्मप्रहारी यस्तेषां स घातक उदाहृतः).

(३) **अप.** २।२७७ मर्म (सम) जौ त (जस्त); **व्यक.** १२३ जौ त (जस्त) बृहस्पतिः कात्यायनश्च; **स्मृच.** ३१२ उत्तरार्धस्तु मनोरित्युक्तम्; **विर.** ३७३-४ द्दमम् (द्धनम्) जौ त (जस्त); **पमा.** ४५५ संदर्भेण कात्यायनः; **रत्न.** १२६ दाप (प्राप) जौ (गी); **विचि.** १६५-६ यश्च (याश्च) जौ त (जस्त); **व्यनि.** ४९५ तु (च) कृत् (कः) यश्च (याश्च) जौ तदर्धतः (जस्तदर्धतः) कात्यायनः; **दवि.** ७४ ती तु यस्ते (तिनमेते) जौ त (जस्त); **नृप्र.** ४४ उत्त., स्मरणम्; **व्यप्र.** ३९५ रत्नवत्; **व्यउ.** १३३ रत्नवत्; **विता.** ७५३ दापये (प्राप्नुया) जौ (गी) र्धतः (र्धकम्); **सेतु.** २५८ जौ त (जस्त); **समु.** १४६.

(४) **अप.** २।२७७ साध (साद); **व्यक.** १२३ साध (शोध) बृहस्पतिः कात्यायनश्च; **विर.** ३७४; **रत्न.** १२६; **विचि.** १६६ साध (काश); **व्यप्र.** ३९५; **व्यउ.** १३३; **विता.** ७५३ साध (धार); **सेतु.** २५८ साध (वास).

(१) **अप.** २।२८१ तः सं (तस्तु) कस्तु (कश्च) मानेन (सारेण); **व्यक.** १२३; **स्मृच.** ३१२ तः सं (तस्तु); **विर.** ३७७; **पमा.** ४५३; **रत्न.** १२६; **दीक.** ५५; **विचि.** १६८ कस्तु (कश्च) क्रमेण याज्ञवल्क्यः; **व्यनि.** ४९४ संदृ (स दृ); **दवि.** ७०; **सवि.** ४५८ हतः (घातः) वैरा (मेवा) भुजा (भृता); **व्यप्र.** ३९४ अपवत्; **व्यउ.** १३२; **विता.** ७५०; **सेतु.** २६० कस्तु (कश्च) मानेन (सारेण); **समु.** १४६ स्मृचवत्.

(२) **अप.** २।२८१ प्रा (प्र); **व्यक.** १२३; **विर.** ३७७; **पमा.** ४५३ अपवत्; **रत्न.** १२६; **विचि.** १६८-९ प्रा (प्र) त्रारि (त्राणि) क्रमेण याज्ञवल्क्यः; **व्यनि.** ४९४ वेश्यौ च (वेश्याश्च) त्रारि (त्राणि); **दवि.** ७० पुरु (पूरु); **व्यप्र.** ३९४ अपवत्; **व्यउ.** १३२ अपवत्; **विता.** ७५० अपवत्; **सेतु.** २६० अपवत्.

(३) **अप.** २।२८१ हैर्हो (हहो) पू.; **व्यक.** १२३ हैर्होढे (हभेदे) च भा (विभा); **स्मृच.** ३१२ हैर्होढेन वा नरैः (ह्राद्धोढेन तस्करः); **विर.** ३७७ हैर्हो (हहो) वा नरैः (मानवैः); **पमा.** ४५३ हैर्होढेन वा नरैः (ह्राद्धैश्च लक्षणैः); **रत्न.** १२६; **विचि.** १६९ र्गाच्चिह्नैर्हो (र्गैचिह्नहो) रैः (रः); **व्यनि.** ४९४ योऽसाधु (यः साध्य) हैर्हो (हहो) पू.; **सवि.** ४५८ (विज्ञेयः साधुसंसर्गैः त्रिहैरोष्ठेन वा पुनः । एषोऽपि घातकानां तु तस्कराणां भवेदिति ॥); **व्यप्र.** ३९४; **व्यउ.** १३२ योऽसा (याः सा) र्गाच्चि (र्गाः चि) च भा (विभा); **विता.** ७५१ ढेन (ढेन); **सेतु.** २६० अपवत्; **समु.** १४६ स्मृचवत्.

गृहीतः शङ्कया यस्तु न तत्कार्यं प्रपद्यते ।
शपथेन विशोद्धव्यः सर्ववादेष्वयं विधिः ॥[1]
दिव्यैर्विशुद्धो मोच्यः स्यादशुद्धो वधमर्हति ।
निग्रहानुग्रहाद्राज्ञः कीर्तिर्धर्मश्च वर्धते ॥[2]

तत्कार्यं हननरूपं, न प्रतिपद्यते पृष्टः सन्नानुमन्यते । विर. ३७७

आत्महत्यादोषः

[3]विषोद्बन्धनशस्त्रेण य आत्मानं प्रमापयेत् ।
मृतोऽमेध्येन लेप्तव्यो नान्यं संस्कारमर्हति ॥

निमित्तविशेषे साहसानुज्ञा

[4]स्वाध्यायिनं कुले जातं यो हन्यादाततायिनम् ।
अहत्वा भ्रूणहा स स्यान्न हत्वा भ्रूणहा भवेत् ॥
[5]नाततायिवधे हन्ता किल्बिषं प्राप्नुयात् क्वचित् ।
विनाशार्थिनमायान्तं घातयन्नापराध्नुयात् ॥
[6]आततायिनमुत्कृष्टं वृत्तस्वाध्यायसंयुतम् ।
यो न हन्याद्वधप्राप्तं सोऽश्वमेधफलं लभेत् ॥

यत्तु कात्यायनेनोक्तं—'आततायिनि चोत्कृष्टे तपःस्वाध्यायजन्मतः । वधस्तत्र तु नैव स्यात्पापे हीने वधो भृगुः ॥' इति । तपःस्वाध्यायजन्मत उत्कृष्टे ब्राह्मणे न वध इत्यर्थः । यच्च बृहस्पतिनोक्तं—'आततायिनमुत्कृष्टं वृत्तस्वाध्यायसंयुतम् । यो न हन्याद्वधप्राप्तं सोऽश्वमेधफलं लभेत् ॥' उत्कृष्टं ब्राह्मणमित्यर्थः । वधप्राप्तं—'स्वाध्यायिनं कुले जातं यो हन्यादाततायिनम्' 'न तेन भ्रूणहा भवेत्' 'मन्युस्तं मन्युमृच्छति' इत्यादिवचनापातमात्राद्वधप्राप्तमित्यर्थः । तदेतद्वचनद्वयं पूर्वोक्तात्मत्राणव्यतिरिक्तविषये ब्राह्मणाततायिनि द्रष्टव्यम् । स्मृच. ३१५

साहसकल्पदोषाः

[1]अधारितब्रह्मसूत्रं वृषलाशनसेविनम् ।
प्रत्यब्दं सर्वमादाय वेदविद्भ्यो निवेदयेत् ॥
त्यक्ताग्निं संध्यया हीनं नित्यमस्नायिनं द्विजम् ।
अर्कोपस्थानहीनं च शूद्रप्रेष्यकरं तथा ॥
अकर्ता नित्ययज्ञानां प्रत्यहं पणमाप्नुयात् ॥

## कात्यायनः

साहसनिरुक्तिः

[2]सहसा यत्कृतं कर्म तत्साहसमुदाहृतम् ॥
[3]सान्वयस्त्वपहारो यः प्रसह्य हरणं च यत् ।
साहसं च भवेदेवं स्तेयमुक्तं विनिह्नवः ॥

(१) अन्वयो रक्षणकालक्रमप्राप्तपालकनरनैरन्तर्यं, तस्मिन् सति योऽपहारः स सान्वयोऽपहारः । स च प्रसह्य क्रियमाणः साहसं च स्तेयं च इत्येवं द्विरूपमापद्यते । उक्तप्रकारविपरीतोऽपि निह्नवो द्रव्यापहारः स्तेयरूपमेवापद्यत इति स्मृतावुक्तमित्यर्थः । स्मृच. ३१६

(२) अत्र सान्वयो रक्षकपुरुषसमक्षं तदनभिभवेन विवक्षितः । प्रसह्य हरणमित्यनेन रक्षकमभिभूय हरणं विवक्षितम् । विर. २८७

---

(१) व्यक. १२३ थेन (थैः स); विर. ३७७; रत्न. १२६ न विशो (नाववो); विचि. १६९; व्यनि. ५१९ वादे (पापे) शेषं व्यकवत्, नारदः; व्यप्र. ३९४ रत्नवत्; व्यउ. १३२ रत्नवत्; विता. ७५१ रत्नवत्; सेतु. २६०; समु. १४६ व्यकवत्.

(२) अप. २।२८१ मोच्यः (मेध्यः) हाद्रा (है रा); व्यक. १२४; स्मृच. ३१२ मोच्यः (मान्यः) पू.; विर. ३७८; विचि. १६९; व्यनि. ५१९ नारदः; सेतु. २६१; समु. १४६ स्मृचवत्, मनुः.

(३) दीक. ५६.

(४) रत्न. १२७; व्यम. १०४; समु. १४७ दात (त्रात).

(५) स्मृच. ३१४; रत्न. १२७ पू.; व्यनि. ५१९ शार्थिन (शनार्थ); व्यप्र. १८; व्यउ. ११; विता. ७५७ पू.; समु. १४७.

(६) स्मृच. ३१५; रत्न. १२८; व्यनि. ५२०; व्यप्र. १९; व्यउ. ११ युत (वृत); व्यम. १०४; विता. ७५८–९ द्वध (द्वद्ध); समु. १४७.

(१) व्यनि. ५१६ सूत्रं (सूत्रः) सेविनम् (सेविकः) पण (पाप); समु. १५८.

(२) सवि. ४५१.

(३) व्यक. १०९ हरणं (करणं); स्मृच. ३१६; विर. २८७ स्त्वप (स्तु प्र) सं च (सं तु); सवि. ४५७ वः (वे); समु. १४८ सं च (सं तु).

द्रव्यनाशादिप्रथममध्यमोत्तमसाहसानि तद्दण्डविधिश्च

क्षतं भङ्गोपमर्दौ वा कुर्याद्द्रव्येषु यो नरः ।
प्राप्नुयात्साहसं पूर्वं द्रव्यभाक् स्वाम्युदाहृतः ॥

क्षतं किञ्चिन्नाशः, भङ्गोऽर्धनाशः, उपमर्दः सर्वनाशः। द्रव्यमिह कुड्यातिरिक्तम् । महामूल्यमल्पाभिघातेना-प्यनुपयुक्ततां यद्याति स्फटिकादि, तदभिप्रेतं, तेन न 'अभिघाते तथा भेदे' इत्यादियाज्ञवल्क्येन विरोधः । नापि परस्परलघुगुरूणां क्षतादीनां समानदण्डप्रयोजकत्व-मिति । विर. ३५३

हरेद्भिन्द्याद्दहेद्वाऽपि देवानां प्रतिमां यदि ।
तद्गृहं चैव यो भिन्द्यात् प्राप्नुयात् पूर्वसाहसम् ॥

प्राकारं भेदयेद्यस्तु पातयेच्छातयेत्तथा ।
बध्नीयादम्भसो मार्गं प्राप्नुयात्पूर्वसाहसम् ॥

राजक्रीडासु ये सक्ता राजवृत्त्युपजीविनः ।
अप्रियस्य च यो वक्ता वधं तेषां प्रकल्पयेत् ॥

राजक्रीडासु राजासाधारणक्रीडासु ये सक्ताः तदनु-मतिं विनेति शेषः । एवं राज्ञः प्रजापालनरूपां वृत्तिं तदनुमतिं विना आलम्बन्ते ये ते, ये च राज्ञ एवाप्रिय-वादशीलाः । विर. ३६८-९

प्रतिरूपस्य कर्तारः प्रेक्षकाः प्रकराश्च ये ।
राजार्थमोषकाश्चैव प्राप्नुयुर्विविधं वधम् ॥

प्रतिरूपस्य राजवेशस्य राजानुमतिं विना कारकाः, प्रेक्षणाः राजकार्यबाधे नृत्यादिप्रेक्षकाः । प्रकरा ये दण्डाख्यं करं प्रकृष्टं गृह्णन्ति । विर. ३६९

प्रमाणेन तु कूटेन मुद्रया वाऽपि कूटया ।
कार्यं तु साधयेद्यो वै स दाप्यो दण्डमुत्तमम् ॥

प्रमाणं लिखितादि । स्मृच. ३२६

एकं चेद्बहवो हन्युः संरब्धाः पुरुषं नराः ।
मर्मघाती तु यस्तेषां स घातक इति स्मृतः ॥

तेन स एव वधापराधदण्डभाक् । स्मृच. ३१२

व्यापादनेन तत्कारी वधं चित्रमवाप्नुयात् ॥

तत्कारी साक्षाद्वधकारी । विर. ३७१

आरम्भकृत्सहायश्च तथा मार्गानुदेशकः ।
आश्रयः शस्त्रदाता च भक्तदाता विकर्मिणाम् ॥

(१) अप. २।२३० वा (च); विर. ३५३; विचि. १५२ ङ्गोपमर्दौ (ङ्गोऽवमर्दौ); दवि. ३०० क्षतं...र्दौ (क्षतिर्भङ्गोऽवमर्दौ) व्येषु (व्येन); सेतु. २५५ ङ्गोप (ङ्गाव).

(२) अप. २।२३३ मां (मा); व्यक. १२१; स्मृच. ३२६; विर. ३६४ द्वा (चा); विचि. १५७-८; व्यनि. ५१०; दवि. ३१२ अपवत्; सवि. ४७४ मां यदि (मादिकम्) चैव (चापि); सेतु. २५६; समु. १५८ अपवत्.

(३) व्यक. १२१ पात (पार) बध्नी...मार्गं (वा बध्नीयादम्भमार्गं); विर. ३६७; दवि. २९९ तथा (त वा) दम्भसो (दथवा).

(४) व्यक. १२२ सक्ता (शक्ता) च (तु); स्मृच. ३३२ कल्प (वर्त); विर. ३६८ च यो वक्ता (तु वक्तारो); पमा. ५८० यस्य च (यं चास्य); विचि. १६१ सक्ता (शक्ता) यो वक्ता (वक्तारो); दवि. २१४ उत्त. : २६५ च (तु); व्यप्र. ५७० पमावत्; सेतु. ३०६ विचिवत्; समु. १६५ स्मृचवत्.

(१) व्यक. १२२ विविधं वधम् (द्विविधं दमम्); विर. ३६९ क्षकाः (क्षणाः); विचि. १६१; दवि. १२० विरवत् : २६५ (प्रतिरूपस्य कर्तारः प्राप्नुयुर्विविधं वधम्) एतावदेव : ३१६ उत्त.; सेतु. ३०६-७ कोः प्र (कप्र).

(२) अप. २।२९४ ण्डमु (ण्ड उ); व्यक. १२२; स्मृच. ३२६ दण्ड (दम); विर. ३७०; विचि. १६२; दवि. २६५ वाऽपि कूटया (कूटयाऽपि वा); सवि. ४७५ वाऽपि कूटया (वाऽनुकूलया) दण्डमुत्तमम् (तमसाहसम्); समु. १५८ स्मृचवत्.

(३) स्मृच. ३१२; पमा. ४५४; व्यप्र. ३९५; व्यउ. १३३; समु. १४६.

(४) व्यक. १२२ नेन (ने तु); विर. ३७१; विचि. १६४ व्यकवत्; दवि. ६१ (=) व्यकवत्.

(५) अप. २।२३१ यः श (यश); व्यक. १२३; स्मृच. ३१२; विर. ३७५ र्मि (र्म); पमा. ४५५ मार्गा (धर्मा); रत्न. १२६ विक (च क); विचि. १६७; व्यनि. ४९५ भक्त...णाम् (भरदाता च कर्मणाम्) उत्त., कात्यायनः; दवि. ७५; सवि. ४६४ कृत्स (कः स) र्गानु (र्गोप) र्मि (र्म); व्यप्र. ३९५ तथा मार्गानु (दोषवक्ताऽनु) क्तदाता (क्तादायो); व्यउ. १३३ श्च (स्तु) शेषं व्यप्रवत्; व्यम. १०३; विता. ७५४; सेतु. ३०९ विरवत्; समु. १४६ क्रमेण बृहस्पतिः.

युद्धोपदेशकश्चैव तद्विनाशप्रवर्तकः ।
उपेक्षाकार्ययुक्तश्च दोषवक्ताऽनुमोदकः ॥
[2]अनिषेद्धा क्षमो यः स्यात्सर्वे ते कार्यकारिणः ।
यथाशक्त्यनुरूपं तु दण्डमेषां प्रकल्पयेत् ॥

(१) अनुरूपं दोषानुरूपम् ।　　स्मृच. ३१२

(२) तद्विनाशप्रवर्तकः युद्धोपदेशं विनैव विषादिना नाशप्रवर्तकः । उपेक्षाकारी निषेधे साक्षादक्षमोऽपि परादिनापि निषेधानुकूलकारी । अयुक्तो राज्ञाऽनियुक्तः, घातनीयदोषवक्ता, अयुक्तो घातकासंबन्ध इत्येके ।
विर. ३७५-६

साहसकृदन्वेषणविधिः

[3]विना चिह्नैस्तु यत्कार्यं साहसाख्यं प्रवर्तते ।
शपथैः स विशोध्यः स्यात्सर्ववादेष्वयं विधिः ॥

स इति साहसकर्तृत्वेनाभियुक्तः परामृश्यते ।
स्मृच. ३१२

आततायिनः । निमित्तविशेषे साहसानुज्ञा ।

[1]उद्यतासिर्विषाग्निश्च शापोद्यतकरस्तथा ।
आथर्वणेन हन्ता च पिशुनश्चापि राजनि ॥
[2]भार्यातिक्रमकारी च रन्ध्रान्वेषणतत्परः ।
एवमाद्यान्विजानीयात्सर्वानेवाततायिनः ॥
[3]यशोवृत्तहरान् पापानाहुर्धर्मार्थहारकान् ॥
[4]अनाक्षारितपूर्वो यस्त्वपराधे प्रवर्तते ।
प्राणद्रव्यापहारे च तं विद्यादाततायिनम् ॥

कात्यायनेनैव एवमाद्यानित्युक्तम् । एवमाद्या-नेवंप्रकारानित्यर्थः ।　　स्मृच. ३१५

प्राणद्रव्यापहारे अन्यास्मिन्नपि तत्तुल्यापराधे च यस्त्वनाक्षारितपूर्वोऽबाधितपूर्वः प्रवर्तते तं आततायिनं विद्यादित्यर्थः । अनेन अर्थादाक्षारितपूर्वो यः पूर्वोक्तविषदानाद्यपराधे प्रवर्तते नासावाततायीत्युक्तम् । एवं च 'आततायी वधोद्यतः' इत्यमरसिंहकृतोऽर्थनिर्देशः क्षेत्रदारापहर्त्रादीनामर्थानां प्रदर्शनार्थमिति मन्तव्यम् । एवं च 'षट्स्वप्यनभिचरन् पतती'ति आततायिवधमात्रमकुर्वन् पतितो भवतीत्यर्थोऽवगन्तव्यः । तदेतद्बौधायनवचनं आत्मत्यागविषये तव्द्यतिरिक्तधर्माद्युपरोधविषयेऽपि गोब्राह्मणेतरशेषाततायिविषये द्रष्टव्यम् ।

---

(१) अप. २।२३१ वर्त (दर्श) कश्च (कस्य) काऽनु (क्त्रनु); व्यक. १२३ क्षाकार्य (क्षकोऽनि); स्मृच. ३१२ वर्त (दर्श) क्षा (क्षी); विर. ३७५; पमा. ४५५ कार्ययुक्तश्च (कारकश्चैव); रत्न. १२६; विचि. १६७ तद्विना (तथा ना); व्यनि. ४९५ युद्धो (युक्त्यो) शप्रवर्तकः (शः प्रदर्शकः) वक्ता (युक्ता); दवि. ७५; सवि. ४६४ युद्धो (यद्धो) वर्त (दर्श); व्यप्र. ३९५; व्यउ १३३; व्यम. १०३; विता. ७५४; सेतु. ३०९ विचिवत्; समु. १४६-७ स्मृचवत्.

(२) अप. २।२३१ ते का (तत्का); व्यक. १२३ क्त्य (ब्दा) शेषं अपवत्; स्मृच. ३१२ अपवत्; विर. ३७५ तु (च); पमा. ४५५ ण्डमे (ण्डं ते) शेषं अपवत्; रत्न. १२६; विचि. १६७; व्यनि. ४९५ षेद्धा क्ष (षेधक्ष) पू.; दवि. ७५ तु (च); सवि. ४६५ उत्त. : ४७३ स्यात्स (सन्त्स) पू., याज्ञवल्क्यः; व्यप्र. ३९५; व्यउ. १३३; व्यम. १०३ क्त्य (क्त्या); विता. ७५४ पूर्वार्धे (उपेक्षकः शक्तिमांश्च सर्वे ते घातकाः स्मृताः); सेतु. ३०९; समु. १४७ अपवत्, क्रमेण बृहस्पतिः.

(३) स्मृच. ३१२; पमा. ४५३; नृप्र. २६९ वादे (पापे); समु. १४६ तैने (तितम्).

(१) मिता. २।२१ (=); स्मृच. ३१५ विं (वि) शा (चा) श्चापि (श्चैव); रत्न. १२८ विं (वि) श्चापि (श्चैव); दवि. २३४ (उद्यतासिं कराग्निं च शापोद्यतकरं तथा। आथर्वणेन हन्तारं पिशुनं चापि राजनि ॥) विष्णुकात्यायनौ; सवि. १५३ (=) विं (वि) : १५४ (=) पूर्वार्धे (उद्यतासिं च विषदं शापोद्यतकरं तथा) पू.; व्यप्र. १५ (=) विं (वि); व्यम. १०४ विं (वि); विता. ७६१ श्चापि (श्चैव); समु. १४७-८ स्मृचवत्.

(२) मिता. २।२१ (=); स्मृच. ३१५ कारी (चारी); रत्न. १२८; दवि. २३४ (भार्यातिक्रमिणं चैव विद्यात् सप्ताततायिनः) एतावदेव, विष्णुकात्यायनौ; सवि. १५३ (=); व्यप्र. १५ (=); व्यम. १०४ र्वाने (र्वांश्च); विता. ७६२; समु. १४८.

(३) स्मृच. ३१५; समु. १४८.

(४) स्मृच. ३१५; रत्न. १२८; दवि. २४० तं... नम् (प्रवृत्तस्याततायिता); विता. ७६२ पू.; समु. १४८.

गवां पर्युदासवचनात्तदितरपश्वादितिर्यग्जातीनामप्याततायिनां वधो विहित इत्यवगम्यते । अत एव कात्यायनेन आततायिपश्वादिवधेऽपि दोषाभावो दर्शितः । 'नखिनां शृङ्गिणां चैव दंष्ट्रिणां चाततायिनाम् । हस्त्यश्वानां तथाऽन्येषां वधे हन्ता न दोषभाक् ॥' अन्येषां चञ्च्वादिशालिनां पक्ष्यादीनाम् । एवं चाततायिनां वधे यत्र दोषाभाव उक्तस्तत्र घातकानां वधनिबन्धनदण्डाभावः प्रत्येतव्यः । अस्मिन् साहसाख्यवधे दोषाभावकथनस्य दण्डाभावप्रतिपत्त्यर्थत्वात् । स्मृच. ३१५-६

[1]नखिनां शृङ्गिणां चैव दंष्ट्रिणां चाततायिनाम् ।
हस्त्यश्वानां तथाऽन्येषां वधे हन्ता न दोषभाक् *॥
[2]विनाशहेतुमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥
[3]आततायिनमायान्तमपि वेदान्तपारगम् ।
जिघांसन्तं जिघांसीयान्न तेन ब्रह्महा भवेत् ॥
[4]गर्भस्य पातने स्तेनो ब्राह्मण्यां शस्त्रपातने ।
अदुष्टां योषितं हत्वा हन्तव्यो ब्राह्मणोऽपि हि ॥
[5]उद्यतानां तु पापानां हन्तुर्दोषो न विद्यते ।
निवृत्तास्तु यदारम्भाद्ग्रहणं न वधः स्मृतः ॥
[6]आततायिनि चोत्कृष्टे तपःस्वाध्यायजन्मतः ।
वधस्तत्र तु नैव स्यात् पापे हीने वधो भृगुः ॥

* स्मृच. व्याख्यानं पूर्वश्लोके, 'आततायिनमुत्कृष्टमि'ति बृहस्पतिवचने च द्रष्टव्यम् ।

(१) **स्मृच.** ३१६; **रत्न.** १२८; **व्यनि.** ५२० नखि (शिखि); **विता.** ७६२ उत्त.; **समु.** १४८.

(२) **स्मृच.** ३१४; **समु.** १४७.

(३) **मिता.** २।२१ (=) पारगम् (गं रणे); **दवि.** २३९; **सवि.** १५२ (=) मितावत्; **व्यप्र.** १४ (=) मितावत्; **व्यउ.** ८ (=) मितावत्; **व्यम.** १०४; **सेतु.** १००.

(४) **विश्व.** २।२८१.

(५) **स्मृच.** ३१५; **व्यनि.** ५२० वृत्ता (वृत्त); **व्यप्र.** १९ स्तु यदा (नां तथा); **समु.** १४७.

(६) **स्मृच.** ३१५; **ममु.** ८।३५० पापे (पापं); **रत्न.** १२७; **दवि.** २४१; **मच.** ८।३५१ न्मतः (न्मनः); **व्यप्र.** १९ पापे ... भृगुः (पापं हीनवधे पुनः); **व्यउ.** ११ पापे ... भृगुः (पापं हीनवधे तु न); **व्यम.** १०३ जन्मतः (संयुते);

## व्यासः

वधसाहसकर्तुर्दण्डः । मिथ्याभैषज्यापराधः ।

[1]ज्ञात्वा तु घातकं सम्यक् ससहायं सबान्धवम् ।
हन्याच्चित्रैर्वधोपायैरुद्वेजनकरैर्नृपः ॥

आरम्भकृत्सहायश्चेति द्रव्यसहितसहायो विवक्षितः । इह त्वत्यन्तसंनिहितसहाय इति न तेन सह विरोधः । बान्धवाश्च ये साहसकर्तारं बुद्ध्वापि न तं परित्यजन्ति । विर. ३७८

[2]भिषजो द्रव्यभेदेन क्लेशयन्ति चिरं नरान् ।
व्याधिप्रकोपं कृत्वा तु धनं गृह्णन्ति चातुरात् ॥

## देवलः

आत्महत्यादोषः । निमित्तविशेषे साहसानुज्ञा ।

[3]आत्मत्यागः परत्यागात्पापीयान् पातकादपि ।
पातके निष्कृतिः प्रोक्ता कथमात्मघ्ननिष्कृतिः ॥
[4]आत्मानं बुद्धिसंपन्नं योग्यं सर्वार्थसिद्धिषु ।
श्रमदुःखभये त्यक्त्वा रौरवे परिपच्यते ॥
[5]उद्यम्य शस्त्रमायान्तं भ्रूणमप्याततायिनम् ।
निहत्य भ्रूणहा न स्यादहत्वा भ्रूणहा भवेत् ॥

परवधार्ह(दि)पातकादात्मत्राणानास्थानादात्मत्यागः पापीयानित्युक्तदोषमवैत्य भ्रूणमपि ब्राह्मणमपि दण्डापूप-

**विता.** ७५७ न्मतः (न्मभिः); **बाल.** २।२८६ भृगुः (भवेत्) शेषं वितावत्; **समु.** १४७.

(१) **अप.** २।२८१; **व्यक.** १२३; **स्मृच.** ३१२ त्रैर्व (त्रव); **विर.** ३७८ जनकरै (गजनकै); **पमा.** ४५४ स्मृचवत्; **विचि.** १६९ विरवत्; **दवि.** ७६ विरवत्; **सवि.** ४५८ स्मृचवत्; **व्यप्र.** ३९४ स्मृचवत्; **व्यउ.** १३२ स्मृचवत्; **सेतु.** २६०-६१ विरवत्; **समु.** १४६ स्मृचवत्.

(२) **अप.** २।२४२.

(३) **स्मृच.** ३१५; **रत्न.** १२७ (=); **व्यनि.** ५१९ पर (परि) पातके (घातके) त्मघ्न (त्मह); **विता.** ७५८ त्यागः परत्यागा (नाशः परवधा) बृहस्पतिः; **समु.** १४७ त्यागः परत्यागा (त्यागात् परत्यागः).

(४) **स्मृच.** ३१५; **रत्न.** १२७ (=); **विता.** ७५८ बृहस्पतिः; **समु.** १४७.

(५) **स्मृच.** ३१५; **व्यप्र.** २०; **व्यउ.** ११; **विता.** ७५८ बृहस्पतिः; **सेतु.** १०० कात्यायनः; **समु.** १४७.

न्यायात् गामप्याततायिनिमात्मपरित्राणायावश्यं हन्यादित्यर्थः ।। यत्तूशनसा ब्राह्मणस्य रुधिरोत्पादननिमित्तदोषमभिधायाभिहितम् 'गृहीतशस्त्रमाततायिनं हत्वा न दोषः स्यादि'ति तदपि पूर्वोक्तात्मपरित्राणविषये द्रष्टव्यम् ।

स्मृच. ३१५

## उशना

गर्भपातनसाहसे दण्डः । निमित्तविशेषे साहसानुज्ञा ।

[१]परिक्लेशेन पूर्वः स्याद्भैषज्येन तु मध्यमः ।
प्रहारेण तु गर्भस्य पातने दण्ड उत्तमः ।।
[२]गृहीतशस्त्रमाततायिनं हत्वा न दोषः ।

## यमः

विषाग्निद–चौर–वधकारि–तडागभेदकादि–साहसिकेषु दण्डविधिः

[३]विषाग्निदायकाश्चौरा घातकाश्चोपघातकाः ।
स्वशरीरेण दण्ड्याः स्युर्मनुराह प्रजापतिः ।।
[४]तडागभेदकं हन्यादप्सु शुद्धवधेन वा ।
तद्वाऽपि प्रतिसंस्कुर्याद्दद्याद्वोत्तमसाहसम् ।।
[५]यस्तु पूर्वनिषिद्धस्य तडागस्योदकं हरेत् ।
आगमं चाप्यपां भिन्द्यात्स दाप्यः पूर्वसाहसम् ।।

उपघातकाः अन्यद्वारा घातकाः । स्मृच. ३२६

साहसिकस्तेयादिकृद्ब्राह्मणदण्डविधिः

[६]न शारीरो ब्राह्मणस्य दण्डो भवति कर्हिचित् ।
गुप्ते तु बन्धने बद्ध्वा राजा भक्तं प्रदापयेत् ।।

(१) अप. २।२७७ दण्ड ( दम ); विर. ३७१; विचि. १६३ भैषज्ये ( भेषजे ); व्यनि. ५१९ व्यासः; दवि. ३०३; समु. १५७ व्यासः.

(२) स्मृच. ३१५ षः + ( स्यात् ); ममु. ८।३५०; मच. ८।३५१; बाल. २।२८६; समु. १४७ स्मृचवत्.

(३) व्यक. १२१ विषा ( उल्का ); स्मृच. ३२५; विर. ३६६ व्यकवत्; दवि. ७८ द्वितीयतृतीयपादौ : ३१५ विषा ......श्चौरा ( उल्कादिदायकाश्चैव ) मनुराह ( नरा आह ); समु. १५६.

(४) अप. २।२३३; समु. १५८ डाग ( टाक ) द्वाऽपि ( चापि ).

(५) अप. २।२३३; समु. १५८ षिद्ध ( विष्ट ) डाग ( टाक ) चाप्यपां भिन्द्या ( वाऽप्युपारुन्ध्या ).

(६) अप. २।२७७ शारीरो ब्राह्मणस्य (ब्राह्मणस्य शारीरो);

[१]अथवा बन्धनं रज्ज्वा कर्म वा कारयेन्नृपः ।
मासार्धमासं कुर्वीत कार्यं विज्ञाय तत्त्वतः ।।
[२]यथापराधं विप्रं तु विकर्माण्यपि कारयेत् ।
राजदुष्टानि यो भाषेद्दण्डो निर्विषयः स्मृतः ।।
[३]अवध्या ब्राह्मणा गावो लोकेऽस्मिन् वैदिकी श्रुतिः ।।

(१) रक्षाकर्म पश्वादिपालनरूपं गर्हितम् ।

स्मृच. ३१७

(२) साहसचौर्ययोर्यमः– न शारीर इत्यादि । गुप्ते रक्षिते यतः पलायनं न भवति । विकर्माणि उच्छिष्टमार्जनादीनि । यो राजदुष्टानि भाषते, तस्य दण्डो निर्विषयः, निर्विषयत्वं देशान्निःसारणमिति यावत् ।

विर. ३७४-५

आत्महत्यायत्नकरणे दण्डः

[४]आत्मानं घातयेद्यस्तु रज्ज्वादिभिरुपक्रमैः ।
मृतोऽमेध्येन लेप्तव्यो जीवतो द्विशतं दमः ।।
दण्ड्यास्तत्पुत्रमित्राणि प्रत्येकं पणिकं दमम् ।।

व्यक. १२३ ने ( नं ); स्मृच. ३१७; विर. ३७४; रत्न. १२७ कर्हि ( कस्य ); विचि. १६६ णस्य ( णे वै ); व्यनि. ४९५ कात्यायनः; दवि. ६७; सवि. ४६३ (=) पू.; वीमि. २।२८२; व्यप्र. ३९३ रत्नवत्; व्यउ. १३१ कर्हि ( कस्य ) ने (नं); विता. ७५४ रत्नवत्; समु. १४८.

(१) अप. २।२७७; व्यक. १२३ रज्ज्वा ( कृत्वा ); स्मृच. ३१७ अथ...कर्म ( अथवाप्यधनं रक्षाकर्म ); विर. ३७४; विचि. १६६; दवि. ६७; वीमि. २।२८२; समु. १४८ यं ( ये ).

(२) अप. २।२७७ पू.; व्यक. १२३; स्मृच. ३१७ पू.; विर. ३७४; विचि. १६६ पू.; व्यनि. ४९५ विप्रं तु ...ण्यपि ( विप्रास्तु कर्माण्यपि च ) पू., कात्यायनः; दवि. ६७ पू. : ३१८ दु ( द्वि ) उत्त.; सवि. ४६३ यथा ( तथा ) पू.; वीमि. २।२८२ पू.; समु. १४८.

(३) व्यक. १२३ ध्या ( ध्यो ) णा ( णो ); विर. ३७४; सवि. ४६३; समु. १४८.

(४) यमस्मृ. २०-२१; दवि. ३१९ रज्ज्वा ( वज्रा ) जीवतो ( जीवेच्चेत् ) शतं ( शतो ) तृतीयार्धं विना.

## संवर्तः

निमित्तविशेषे साहसानुज्ञा

आततायिन्यदोषोऽन्यत्र गोब्राह्मणात् ।
गोब्राह्मणं यदा हन्यात् तदा प्रायश्चित्तं कुर्यात् ।

## वृद्धहारीतः

निमित्तविशेषे साहसानुज्ञा । साहसिकानां दण्डविधिः, तत्र ब्राह्मणे विशेषश्च ।

अग्निदं गरदं हिंस्रं चौरं दुर्वृत्तमेव च ।
धूर्तं पतितमित्यादीन् हन्यादेवाविचारयन् ॥
अङ्कयित्वा श्वपादेन गर्दभे चाधिरोह्य वै ।
प्रवासयेत्स्वराष्ट्रात्तु ब्राह्मणं पतितं नृपः ॥
कुलटां कामचारेण गर्भघ्नीं भर्तृहिंसिकाम् ।
निवृत्तकर्णनासोष्ठीं कृत्वा नारीं प्रमापयेत् ॥
परद्रव्यादिहरणं परदाराभिमर्शनम् ।
यः कुर्यात्तु बलात्तस्य हस्तच्छेदः प्रकीर्तितः ॥
ब्रह्मघ्नं च सुरापं वा गोस्त्रीबालनिषूदनम् ।
देवविप्रस्वहन्तारं शूलमारोपयेन्नरम् ॥
फलितं पुष्पितं वाऽपि वनं छिन्द्यात्तु यो नरः ।
तडागसेतुं यो भिन्द्यात्तं शूलेनानुरोहयेत् ॥
अग्निदं गरदं गोघ्नं बालस्त्रीगुरुघातिनम् ।
भगिनीं मातरं पुत्रीं गुरुदारान् स्नुषामपि ॥
साध्वीं तपस्विनीं वाऽपि गच्छन्तमतिपापिनम् ।
हिंस्रयन्त्रप्रयोक्तारं दाहयेद्वै कटाग्निना ॥
अदण्डयित्वा दुर्वृत्तांस्तत्पापं पृथिवीपतिः ।
संप्राप्य निरयं गच्छेत्तस्मात्तान् दण्डयेत्तथा ॥

## सुमन्तुः

निमित्तविशेषे साहसानुज्ञा

नाततायिवधे दोषोऽन्यत्र गोब्राह्मणात् । यदा हतः प्रायश्चित्तं स्यात् ।

गौः ब्राह्मणो वा आततायी यदा हतः तदा प्रायश्चित्तं स्यात्, दोषः स्यादित्यर्थः । आत्मपरित्राणव्यतिरिक्तविषयमेतत् । यदाह देवलः— आत्मत्याग इति । स्मृच. ३१५

## पैठीनसिः

घातकसहायादिसाहसिकदण्डविधिः

हन्ता मन्त्रोपदेष्टा च तथा संप्रतिपादकः ।
प्रोत्साहकः सहायश्च तथा मार्गानुदेशकः ॥
उपेक्षकः शक्तिमांश्च दोषवक्ताऽनुमोदकः ।
अकार्यकारिणामेषां प्रायश्चितं तु कल्पयेत् ॥
यथाशक्त्यनुरूपं च दण्डं चैषां प्रकल्पयेत् ॥

एवमन्येऽप्यवकाशदानादिना घातकोपकारिणः स्तेयप्रकरणीया इहोदाहरणीयाः । व्यासः —'ज्ञात्वा तु घातकं सम्यक् ससहायं सबान्धवम् । हन्याच्चित्रैर्वधोपायैरुद्वेगजनकैर्नृपः ॥' सहायोऽत्रात्यन्तसंनिहितो विवक्षितः । बान्धवाश्च ये साहसकर्तारं ज्ञात्वाऽपि न तं परित्यजन्ति ते एवात्रोक्ता इति रत्नाकरः ।

अत्र साक्षात्प्रयुक्त्यनुग्रहानुमतिनिमित्तभेदात् पञ्चविधो वधः स चास्माभिर्द्वैतविवेके भेदप्रभेदाभ्यां विस्तरेण प्रपञ्चितः । तत्रानुग्राहकादीनां प्रत्यासत्तिव्यवधानापेक्षया व्यापारगतगुरुलाघवापेक्षया च फलगुरुलाघवात् प्रायश्चित्तगुरुलाघवं तत्रैव व्यवस्थितम् । यथा अनुग्राहकस्य पादोनं, प्रयोक्तुरर्धम् । अनुमन्तुः सार्धपादः । निमित्तिनां तु पाद इति ।

---

(१) व्यप्र. १८; व्यउ. ११ ( गोब्राह्मणम्० ).

(२) बृहास्मृ. ७।१९०-९२. (३) बृहास्मृ. ७।२००.

(४) बृहास्मृ. ७।२०२. (५) बृहास्मृ. ७।२१८-२१.

(६) मिता. २।२१ ब्राह्मणात् ( ब्राह्मणवधात् ) ( यदा... स्यात्० ); स्मृच. ३१५ नात ( आत ) वधे + ( न ); रत्न. १२८ ( अन्यत्र गोब्राह्मणात् ) एतावदेव; व्यनि. ५२० ( आततायिन्यदोषः अन्यत्र गोब्राह्मणात् ); सवि. १५४ नात ( आत ) वधे + ( न ) णात् ( णेभ्यः ) ( यदा ... स्यात्० ); व्यप्र. १६ ( यदा ... स्यात्० ) : १७ नात ( आत ) वधे + ( न ) यदा ... स्यात् ( स्नातः प्रायश्चितं कुर्यात् ); व्यउ. ९ मितावत् : १० यदा ... स्यात् ( स्नातः प्रायश्चित्तं कुर्यात् ); व्यम. १०३ ( यदा ... स्यात्० ); विता. ७५७ मितावत्; बाल. २।२६ ( पृ. ३८ ) मितावत्; सेतु. १०० नात ( आत ) वधे + ( न ) ( यदा...स्यात्० ); समु. १४७ नात ... णात् ( आततायिन्यदोषोऽन्यत्र ब्राह्मणात् ).

(१) दवि. ७६.

एवं व्यवस्थिते प्रायश्चित्ते यत्र विशेषवचनं नास्ति तत्र दण्डोऽप्येवमेव द्रष्टव्यः। द्वयोस्तुल्ययोगक्षेमत्वात्। उभयत्र व्यवधानाऽव्यवधानयोरनुरोध्यत्वात्। पैठीनसिवाक्ये द्वयोस्तुल्यवत्कल्पनीयत्वोपदेशाच्च। निमित्तिनस्तु आक्रोशनादिदण्ड एव न तु हिंसादण्डोऽपि, तत्र तस्याभिसंधानाभावात्। अत एवाततायिनि प्रमादमृते दण्डाभावमाह मिताक्षराकारः। यत्र तु विधिप्राप्तमाक्रोशनादि तत्र तद्दण्डोऽपि नास्ति। उक्तं च भवदेवभट्टेन। यदा विहितवाग्दडधनदण्डशारीरादिदण्डेष्वपराधानुरूपेषु गलपाशादिना म्रियते तदापि न दोषः। मन्यूत्पादनेऽपि दण्डानां विहितत्वेन निषेधानवकाशात्। यतो न हिंस्यादित्यनेन साक्षात्परप्राणवियोगफलव्यापारकर्तृत्वं निषिध्यते। न च निमित्तिनो वाग्दण्डनिमित्तातिरिक्तव्यापारे कर्तृत्वमस्ति, तदेव हि मन्यूत्पादनद्वारेण परम्परया वधकारणमतः कथं तस्य निषेधविषयत्वमपीति।

एवं च प्रयोज्यस्यापि विध्यतिक्रमनिबन्धनं पापमात्रं न तु दण्डोऽपि। स्थपतेः स्वर्ग इव हिंसायां तस्य स्वरसाभावात्। परप्रयुक्त्या प्रवर्तमानस्य तत्पुत्रादिस्थानीयत्वात्। स्वामिप्रयुक्त–हय–हस्ति–कुक्कुर–वानरादिवत् प्रवृत्तेः पराधीनत्वात्। एवं च यथा तत्र स्वामिन एव दण्डः। पुत्रापराधेन पितेत्यादिदण्डपारुष्यदण्डमातृकालिखितनारदवचनस्वरसात्। एवमिहापि प्रयोजक एव दण्ड्यो न तु प्रयोज्योऽपि न्यायसाम्यात्। दर्शितं चैव तदर्थं बृहस्पतिवचनं स्तेयदण्डमातृकायाम्। इत्थमपराधानुसारेण दण्डव्यवस्थितौ 'ज्ञात्वा तु घातकम्' इत्यादिव्यासवाक्ये रत्नाकरीयं बान्धवव्याख्यानं चिन्त्यम्।

न हि साहसिकापरित्यागमात्रं प्ररूढो दोषो येन तत्र वधः स्यात्। साहसानभिसंधायिनोऽपि स्नेहादिनापि तत्संभवात्। तस्माद् ये बान्धवाः साहसिनं न निवारयन्ति प्रत्युत साहसफलार्थितया स्वयमपराधयन्तः परं प्रेरयन्ति तेषां तत्तुल्ययोगक्षेमत्वादयं दण्डविधिः।

अन्यथा 'घातकाश्चोपघातकाः स्वशरीरेण दण्ड्याः स्युरि'ति यमवचने स्वशरीरेण दण्डोऽप्यत्रापराधानुरूपो विवक्षित इति रत्नाकरीयमेव व्याख्यानं विरुध्यते।

दवि. ७६-८

## गालवः

निमित्तविशेषे साहसानुज्ञा

[१]उद्यम्य शस्त्रमायान्तं भ्रूणमप्याततायिनम्।
निहत्य भ्रूणहा न स्यादहत्वा भ्रूणहा भवेत्॥

## अग्निपुराणम्

मर्यादाभेदकादिषु दण्डविधिः

[२]मर्यादाभेदकाः सर्वे दण्ड्याः प्रथमसाहसम्॥
[३]द्विगुणं दापयेच्छिन्ने पथि सीम्नि जलाशये॥

निमित्तविशेषे साहसानुज्ञा

[४]गृहक्षेत्रापहर्तारं तथा पत्न्यभिगामिनम्।
अग्निदं गरदं हन्यात्तथा चाभ्युद्यतायुधम्॥
राजा गवाभिचारेभ्यो हन्याच्चैवाऽऽततायिनः॥

राजपुरुषाणां धनलोभादिदोषेषु दण्डविधिः

[५]रक्षार्थाधिकृतैर्यैस्तु प्रजाभ्योऽर्थो विलुप्यते।
तेषां सर्वस्वमादाय राजा कुर्यात्प्रवासनम्॥
ये नियुक्ताः स्वकार्येषु हन्युः कार्याणि कर्मिणाम्।
निर्घृणाः क्रूरमनसस्तान्निःस्वान् कारयेन्नृपः॥

प्रतिमादिभेदने अभक्ष्यभक्षणे च दण्डः

[६]प्रतिमासंक्रमभिदो दद्युः पञ्चशतानि ते॥
[७]अभक्ष्यभक्ष्ये विप्रे वा शूद्रे वा कृष्णलो दमः॥

## ब्रह्मपुराणम्

आततायिविशेषः

[८]परदारान् रमन्तस्तु द्वेषात्तत्पतिभिर्हताः॥

इति ब्रह्मपुराणदर्शनात् ब्राह्मणादेः प्रवृत्तक्रियस्य वधो गम्यत इति। तच्चिन्त्यं, वचनस्यास्य पातित्यं विधातुं वधानुवादरूपत्वात् 'पतितास्ते प्रकीर्तिताः' इत्युपसंहारदर्शनात् वधस्यानुवाद एव।

---

(१) रत्न. १२७; व्यम. १०४.
(२) अपु. २२७।२२. (३) अपु. २२७।३३.
(४) अपु. २२७।३९,४०.
(५) अपु. २२७।४७,४८. (६) अपु. २२७।५६.
(७) अपु. २२७।६०.
(८) दवि. २३८.

सिद्धमाक्षिपतीति चेन्न, आक्षिपतु नाम, न त्वयं विधिपूर्वको हि नियमः प्रत्युत द्वेषादिति वचनाद् वैरिवधकोटिः कटाक्ष्यत इति ।

अत्रोच्यते, प्रियाधर्षिणो वचनादेवाततायित्वमाततायिवधे वचनादेव पापाभाव इति । एतच्च भवदेवमतमाश्रित्योक्तम् । दवि. २३८

## मत्स्यपुराणम्

राजप्रतिकूलसाहसिकदण्डविधिः

[1]राज्ञः कोषापहर्तॄंश्च प्रतिकूलेष्ववस्थितान् ।
अरीणामुपकर्तॄंश्च घातयेद्विविधैर्दमैः ॥

ब्राह्मणामन्त्रणसंबन्धिदोषे दण्डः

[2]आमन्त्रितो द्विजो यस्तु वर्तमानः प्रतिग्रहे ।
निष्कारणं न गच्छेत्तु स दाप्योऽष्टशतं दमम् ॥
[3]द्विजे भोज्ये तु संप्राप्ते पापे नास्ति व्यतिक्रमः ॥

निमित्तविशेषे साहसानुज्ञा । आततायिनः ।

[4]गुरुं वा तापसं वाऽपि ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् ।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ।
प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा मन्युस्तं मन्युमृच्छति ॥
[5]गृहक्षेत्रापहर्तारं तथा पत्न्यभिगामिनम् ।
अग्निदं गरदं चैव तथा ह्यभ्युद्यतायुधम् ॥
अभिचारं च कुर्वाणं राजगामि च पैशुनम् ।
एतान् हि लोके धर्मज्ञाः कथयन्त्याततायिनः ॥

## भविष्यपुराणम्

निमित्तविशेषे साहसानुज्ञा

[6]पुत्रः शिष्यस्तथा भार्या शासितश्चेद्विनश्यति ।
न शास्ता तत्र दोषेण लिप्यते देवसत्तम ॥

---

(१) दवि. ३१७.

(२) अप. २।२६३ आ (नि) तु (त); व्यक. १२०; विर. ३५९; दवि. ३०७ दमम् (दमः) विष्णुः; सेतु. ३०४.

(३) दवि. ३०७. (४) बाल. २।२१.

(५) दवि. २३४; बाल. २।२१ (गृहक्षेत्राभिहन्तारस्तथा पत्न्यभिगामिनः । अग्निदो गरदश्चैव तथैवाभ्युद्यतायुधः ॥ अभिचाराणि कुर्वाणो राजगामि च पैशुनम् । एते हि कथिता लोके धर्मज्ञैराततायिनः ॥). (६) दवि. २३१.

[1]हत्वा तु प्रहरन्तं वै ब्राह्मणं वेदपारगम् ।
कामतोऽपि चरेद्वीर द्वादशाब्दाख्यमुत्तमम् ॥
[2]क्षिण्वानमपि गोविप्रं न हन्याद्वै कदाचन ॥

## संग्रहकारः (स्मृतिसंग्रहः)

साहसनिरुक्तिः । निमित्तविशेषे साहसानुज्ञा ।

[3]मनुष्यमारणादीनि कृतानि प्रसभं यदि ।
साहसानीति कथ्यन्ते यथाख्यान्यन्यथा पुनः ॥

ननु पारुष्यद्वयस्य साहसविशेषत्वात् पदान्तरत्वेनोक्तिरयुक्ता । सत्यम् । सहसा क्रियमाणस्य साहसविशेषत्वं, छलेन पुनः क्रियमाणस्य पदान्तरत्वमेव, साहसलक्षणाभावात् । तथा चोक्तं तेनैव—'तस्यैव भेदः स्तेयं स्याद्विशेषस्तत्र तूच्यते । आधिः साहसमाक्रम्य स्तेयमाधिश्छलेन तु ॥' आधिः क्लेशः । स आक्रम्यार्थहरणद्वारा क्रियमाणः साहसम् । छलेन पुनरर्थहरणद्वारा क्रियमाणः स्तेयमित्यर्थः । नन्वनेन स्तेयस्य भेद उक्तो न पारुष्यस्य । सत्यम् । अपृथगुद्दिष्टस्यापि भेद उक्ते पृथगुद्दिष्टस्य सुतरामेव भेदो लक्ष्यत इति स्तेयमात्रस्योक्त-इत्यविरोधः । अतः पदान्तरत्वेनाप्युक्तिर्युक्तैव । अत एव संग्रहकारः—'मनुष्यमारणादीनि कृतानि प्रसभं यदि । साहसानीति कथ्यन्ते यथाख्यान्यन्यथा पुनः ॥' अन्यथा पुनः यद्यप्रसभं कृतानि तदा यथाख्यानि स्तेयस्त्रीसंग्रहणवाक्पारुष्यदण्डपारुष्याख्यानीत्यर्थः ।

नन्वेवं स्तेयस्त्रीसंग्रहणयोरपि साहसात् पृथगुद्देशनं कार्यम् । सत्यम् । अत एव मनुना—'स्तेयं च साहसं चैव स्त्रीसंग्रहणमेव च' इति पृथगुद्दिष्टम् । नारदेन तयोः प्रायेण छलेनैव क्रियमाणत्वात् पदान्तरत्वं स्फुटमेवेति साहसान्तर्भाव एवोद्देशदशायां दर्शितः, पारुष्यद्वयस्य तु प्रायेण प्रसभं क्रियमाणत्वात् पदान्तरत्वमव्यक्तमिति पृथगप्युद्देशः कृत इति सर्वमनवद्यम् । स्मृच. ७

[4]आततायिद्विजाग्र्याणां धर्मयुद्धेन हिंसनम् ।
कलौ युगे त्विमान् धर्मान् वर्ज्यानाहुर्मनीषिणः ॥

---

(१) दवि. २३५; व्यप्र. १७; व्यउ. १०; सेतु. १०१ वीर (वीरो).

(२) दवि. २४०; व्यप्र. १८; व्यउ. ११.

(३) स्मृच. ७; व्यप्र. २२३; समु. १४६.

(४) व्यम. १०४ उत्तरार्धे (इमान् धर्मान् कलियुगे वर्ज्यानाहुर्मनीषिणः); समु. १४७.

# स्तेयम्

## *वेदाः

राजा स्तेनं बध्नाति

[1]अव राजन् पशुतृपं न तायुं सृजा वत्सं न दाम्नो वसिष्ठम् ।

हे राजन् राजमान वरुण पशुतृपं न तायुं स्तैन्यप्रायश्चित्तं कृत्वावसाने घासादिभिः पशूनां तर्पयितारं स्तेनमिव दाम्नो रज्जोर्वत्सं न वत्समिव च वसिष्ठं मां बन्धकात्पापादव सृज विमुञ्च । ऋसा.

स्तेनत्वापवादः

[2]वैत्सप्रिय" वै भालन्दनमृषयोऽध्यवदन्स्तेना इति स एतत्सूक्तमपश्यत्तेनाधिवादमपजायत्तेनापचितिमगच्छत् तदधिवादमेवैतेनापजयत्यपचितिमेव गच्छति ।

स्तेयस्य दुष्टत्वं शपथविभाव्यत्वं च

[3]अनेनसमेनसा सोऽभिशस्तादेनस्वतो वाऽपहरादेनः । एकातिथिमप सायं रुणद्धि बिसानि स्तेनो अप सो जहारेति + ॥

स्तेनो हन्तव्यः

[4]पुरुष" सोम्योत हस्तगृहीतमानयन्त्यपहार्षीत् स्तेयमकार्षीत् परशुमस्मै तपतेति स यदि तस्य कर्ता भवति तत एवानृतमात्मानं कुरुते सोऽनृताभिसंधोऽनृतेनात्मानमन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति स दह्यतेऽथ हन्यते ।

अथ यदि तस्याकर्ता भवति तत एव सत्यमात्मानं कुरुते स सत्याभिसंधः सत्येनात्मानमन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति स न दह्यतेऽथ मुच्यते ।

शृणु— यथा सोम्य पुरुषं चौर्यकर्मणि संदिह्यमानं निग्रहाय परीक्षणाय च उत अपि हस्तगृहीतं बद्धहस्तं आनयन्ति राजपुरुषाः । किं कृतवानयमिति पृष्टाश्च आहुः—अपहार्षीद्धनमस्यायम् । ते च आहुः— किमपहरणमात्रेण बन्धनमर्हति, अन्यथा दत्तेऽपि धने बन्धनप्रसङ्गात्; इत्युक्ताः पुनराहुः—स्तेयमकार्षीत् चौर्येण धनमपहार्षीत् इति । तेषु एवं वदत्सु इतर अपह्नुते— नाहं तत्कर्तेति । ते च आहुः— संदिह्यमानं स्तेयमकार्षीः त्वमस्य धनस्येति । तस्मिंश्च अपह्नुवाने आहुः—परशुमस्मै तपतेति शोधयत्वात्मानमिति । स यदि तस्य स्तैन्यस्य कर्ता भवति बहिश्चापह्नुते, स एवंभूतः तत एवानृतमन्यथाभूतं सन्तमन्यथात्मानं कुरुते । स तथा अनृताभिसंधोऽनृतेनात्मानमन्तर्धाय व्यवहितं कृत्वा परशुं तप्तं मोहात्प्रतिगृह्णाति, स दह्यते, अथ हन्यते राजपुरुषैः स्वकृतेनानृताभिसंधिदोषेण ।

अथ यदि तस्य कर्मणः अकर्ता भवति, तत एव सत्यमात्मानं कुरुते । स सत्येन तया स्तैन्याकर्तृतया आत्मानमन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति । स सत्याभिसंधः सन् न दह्यते सत्यव्यवधानात्, अथ मुच्यते च मृषाभियोक्तृभ्यः । ततपरशुहस्ततलसंयोगस्य तुल्यत्वेऽपि स्तेयकर्त्रकर्त्रोरनृताभिसंधो दह्यते न तु सत्याभिसंधः । छाशाम्भा.

## गौतमः

वर्णभेदेन स्तेयदण्डः

[1]अष्टापाद्यं स्तेयकिल्बिषं शूद्रस्य ।

(१) साहसदण्डमुक्त्वा स्तेय इदानीमाह— अष्टापाद्यमिति । स्तेयेन यदुपात्तमधर्मकारणात् तद्द्रव्यं

---

* वेदेषु विविधस्तेनस्तेयदर्शकवचनानि परःशतानि उपलभ्यन्ते । परं तेषु दण्ड्यत्वदुष्टत्वबोधकनिर्देशाभावात् तेषामत्र संग्रहो न कृतः ।

+ अस्य सायणभाष्यं दिव्यप्रकरणे ( पृ. ४२९ ) द्रष्टव्यम् ।

(१) ऋसं. ७।८६।५. (२) मैसं. ३।२।२.
(३) ऐब्रा. ५।३०।११. (४) छाउ. ६।१६.

(१) गौध. १२।१२; मिता. २।२७५ (=); मभा.; गौमि. १२।१२; दवि. ३६ विष्णुः; विता. ७८८; समु. १५१.

किल्बिषशब्देनोच्यते, स्तेयकिल्बिषं स्तेयधनमित्यर्थः। तदष्टगुणं दण्डः, 'समप्रेप्सुर्दण्ड्यः' इत्यत्र दण्ड्यशब्दस्य नदीस्रोतोन्यायेनाधिकृतस्यात्र षष्ठ्यनुरूपार्थं दण्ड इत्येवं भवतीति। किल्बिषशब्देन वा दण्ड उच्यते। स्तेयकिल्बिषं स्तेयदण्ड इत्यर्थः। स गृहीतः स्यादष्टगुण इति। तत्र ब्राह्मणसुवर्णवर्जं द्रष्टव्यं, तस्य महापातकमध्ये उपदेशाद्दण्डगौरवं भवतीति। मभा.

(२) उक्तः साहसदण्डः। स्तेयदण्डमाह— अष्टापाद्यमिति। स्तेयं चौर्यम्। स्तेयोपात्तं द्रव्यं किल्बिषनिमित्तत्वात्किल्बिषमुच्यते। स्तेयेनोपात्तं द्रव्यमष्टगुणमापादनीयं शूद्रस्य। कर्तरि षष्ठ्येषा। स्तेयकिल्बिषं शूद्रोऽष्टगुणमापादयेद्राज्ञे दण्डरूपेण प्रतिपादयेदिति। तत्रैको गुणः स्वामिने देयः, शेषो राज्ञे। उक्तं च 'चौरहृतमवजित्ये'त्यादिना। गौमि.

## [3]द्विगुणोत्तराणीतरेषां प्रतिवर्णम्।

इतरेषां वैश्यादीनां स्तेयकिल्बिषाणि प्रतिवर्णं द्विगुणोत्तराण्यापादनीयानि। वैश्यस्य षोडशगुणं, क्षत्रियस्य द्वात्रिंशद्गुणं, ब्राह्मणस्य चतुःषष्टिगुणमिति। *गौमि.

## [2]विदुषोऽतिक्रमे दण्डभूयस्त्वम्।

(१) जात्युत्कर्षवद्विज्ञानोत्कर्षादपि दण्डभूयस्त्वं द्रष्टव्यं, तत्स्वजातिविहितात् 'अध्यर्धं विदुषो ज्ञेयम्' इति स्मृत्यन्तरदर्शनात्। उपपन्नं चैतत्, यतोऽसौ ज्ञात्वाऽतिक्रामतीति। विदुषो दण्डभूयस्त्वमिति सिद्धे अतिक्रमग्रहणं नियमार्थं, चौर्यविषय एवेदं, न साहसविषये। प्रायश्चित्तविषयेऽपीति। एवं च ब्रुवता दण्डविधानात् प्रायश्चित्तस्यापि गुरुलघुभावकल्पनाऽस्तीति प्रदर्शितं भवति। साहसप्रकरणे च यदुक्तं 'श्रोत्रियस्यार्धदण्डः' इति तच्चोपपन्नम्। मभा.

* मभा. गौमिवत्।

(१) **गौध.** १२।१३; **मिता.** २।२७५ (=); **मभा.**; **गौमि.** १२।१३; **दवि.** ३६ विष्णुः ; **विता.** ७८८; **समु.** १५१.

(२) **गौध.** १२।१४; **मेधा.** ८।३३७ क्रमे ( क्रम ); **मिता.** २।२७५ (=); **मभा.**; **गौमि.** १२।१४; **दवि.** ३६ विष्णुः ; **विता.** ७८८; **समु.** १५१.

(२) कस्मादिदमेवमित्याह — विदुषोऽतिक्रम इति। यथा यथा वर्णोत्कर्षेण विद्योत्कर्षस्तथा तथा विहितातिक्रमे दण्डभूयस्त्वं भवति। निषेधदोषं ज्ञात्वाऽपि प्रवर्तमानस्य दोषाधिक्यं भवति। अजानतस्त्वन्धकूपपतनवदनुग्रहोऽस्ति। गौमि.

## [1]फलहरितधान्यशाकादाने पञ्चकृष्णलमल्पे।

(१) अस्यापवादमाह — फलेति। फलानामाम्रादीनां हरितधान्यस्य व्रीह्यादेः अपक्वस्येत्यर्थः, शाकस्य च मूलकादेरपहरणे माषमात्रदण्डः। कुतः 'पञ्चकृष्णलको माषः' इति स्मृत्यन्तरदर्शनात्। अल्पे उदरपूरणमात्रे। अधिके अन्यद्रव्ये वा अष्टापाद्यमित्येतदेव द्रष्टव्यम्। मभा.

(२) कृष्णलं गुञ्जाबीजप्रमाणम्। 'माषो विंशतिभागस्तु ज्ञेयः कार्षापणस्य हि। कृष्णलस्तु चतुर्थांशो माषस्यैव प्रकीर्तितः॥' इति। *गौमि.

दण्डानर्हस्तेयम्

## [2]गोऽग्न्यर्थे तृणमेधान् वीरुद्वनस्पतीनां च पुष्पाणि स्ववदाददीत फलानि चापरिवृतानाम्।

(१) ब्रह्मचारिप्रकरणे उक्तस्यादत्तादानप्रतिषेधस्य इदानीमपवादमाह— गोऽग्न्यर्थ इति। गवार्थं तृणानि। अग्निग्रहणेन श्रौतस्य स्मार्तस्यापि ग्रहणं, न लौकिकस्य, तदर्थमेधान् काष्ठानि। वीरुधां करवीरादीनां पुष्पाणि।

* शेषं मभावत्।

(१) **गौध.** १२।१५; **व्यक.** ११५; **मभा.**; **गौमि.** १२।१५ ल्पे ( ल्पम् ); **विर.** ३२५ लमल्पे ( लं मन्ये ); **दवि.** १४७ ( धान्य० ) मल्पे ( मन्ये ).

(२) **गौध.** १२।२५; **मेधा.** ८।३३९ ( गो.....तीनां च० ); **गोरा.** ८।३३९ ( पुष्पाणि फलानि अपरिवृतानाम् ) एतावदेव; **मिता.** २।१६६ र्थे तृणमेधान् ( र्थं तृणमेधांसि ); **अप.** २।१६६ र्थे ( र्थां ); **मभा.**; **गौमि.** १२।२५; **मवि.** ८।३३९ ( अपरिवृतानाम् ) एतावदेव; **ममु.** ८।३३९ ( गो ......धान्० ) च पु ( पु ); **विचि.** १४७ ( फलानि चागृहीतानि ) एतावदेव; **दवि.** ४१ र्थे......रुद्व ( र्थं तृणमेधांस्तु वीरुधो व ); **मच.** ८।३३९ ( गो......धान्० ) परिवृता ( वृता ); **विता.** ६६९ ( फलानि चापरिवृतानाम् ) एतावदेव; **सेतु.** २५० विचिवत्; **समु.** १५१ ( वीरुद्० ).

वनस्पतिशब्दोऽत्र वृक्षपर्यायः। साक्षाद्वनस्पतीनां पुष्पासंभवात्। यथाह मनुः— 'अपुष्पाः फलवन्तो ये ते वनस्पतयः स्मृताः।' इति। पुष्पाणि देवार्चनार्थानि नानुभवार्थानि, गोऽग्निसाहचर्यात्। चकारात्पत्राणि ब्राह्मणभोजनार्थानि। वीरुद्वनस्पतिपुष्पाणि चेति वक्तव्ये ओषधार्थं मूलादेरपि ग्रहणार्थमसमासः। स्ववत् यथा तेषां पीडा न भवति तथा गृहीतव्यमिति। यथाह व्यासः— 'पक्वंपक्वं प्रचिन्वीत मूलच्छेदं तु वर्जयेत्। मालाकार इवारामे न यथाऽङ्गारकारकः॥' इति। फलानि चाम्रफलादीनि। आपत्सूचनार्थं पृथगभिधानम्। चकाराच्छाकं च। अपरिवृतानामनारामीकृतानाम्। उभयविशेषणं चेदम्। एवं चारामे तृणादेरपि प्रतिषेधः सिद्धः। मभा.

(२) एतानि तृणादीनि स्वामिभिरदत्तान्यपि स्ववदाददीत। यथा स्वामी निःशङ्कमादत्ते तद्वदाददीत। ते वीरुद्वनस्पतयोऽपरिवृताश्चेत्तेषां फलान्यपि स्ववदाददीत न स्वाम्यपेक्षा। फलविषयमेतदपरिवृतत्वं न तृणादिविषयम्। पृथग्वाक्यत्वात्। *गौमि.

स्तेयमहापातकदण्डविधिः। दण्ड्योत्सर्गे राज्ञो दोषः। ब्राह्मणे विशेषः।

## [1]स्तेनः प्रकीर्णकेशो मुसली राजानमियात्कर्माचक्षाणः।

यदि चैषां पुत्रादीनां पित्र्यमृणं न प्रतिकुर्यात् कश्चित्, ततः स्तेनो भवतीति, अस्य 'अष्टापाद्यं स्तेयकिल्बिषं' इति दण्डश्च विहित इत्यनेनैव प्रसङ्गेन हिरण्यस्तेनस्यापि दण्ड उच्यते — स्तेन इति। स्तेनः सुवर्णस्तेनः, अन्यद्रव्यापहारिणस्तु 'अष्टापाद्यं' इत्युक्तत्वात्, स्मृत्यन्तरदर्शनाच्च—'सुवर्णस्तेनकृद्विप्रो राजानमभिगम्य तु। स्वकर्म ख्यापयन् ब्रूयात् मां भवाननुशास्त्विति॥' दण्डप्रकरणे गमनोपदेशः प्रायश्चित्तार्थः, तथा च मनुः—'राजभिर्धृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः। निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा॥' इति। स्तेये कृते स्तेनो भवति। स्तेयः परस्वापहारः। बुद्धिपूर्वविषय एवेदम्। अबुद्धिपूर्वकस्तेयं नोपपद्यत इति। महत्यपहृते त्वेतद् द्रष्टव्यं, विशेषानारम्भात्। प्रकीर्णकेशो मुक्तकेशः मृतसममात्मानं मन्यमानः। मुसली स्ववधसाधनमुसलहस्तो राजानं च गच्छेत्, कर्म कथयन् स्तेनोऽहमसीति। मभा.

(२) 'आयसः खादिरो वा मुसल' इति स्मृत्यन्तरं तद्वान्। 'अंसे मुसलमाधाय' इत्यापस्तम्बः। *गौमि.

## [1]पूतो वधमोक्षाभ्याम्।

तत एवमुपस्थितः—पूत इति। पूतः शुद्धो भवतीति। वधान्मारणाद्वा मोक्षाद्वा। वधस्ताडनं, तदपि सकृदेव, स्मृत्यन्तरदर्शनात्, 'गृहीत्वा मुसलं राजा सकृद्धन्यात्तु तं स्वयम्।' इति। तत्र राज्ञा यदि निःशङ्केन ताडितो न म्रियेत ततोऽपि पूत एव भवतीति द्रष्टव्यम्। अब्राह्मणविषयं चेदं ताडनं, 'न शारीरो ब्राह्मणदण्डः' इति वक्ष्यमाणत्वात्। तथा च मनुः— 'वधेन शुध्यति स्तेनो ब्राह्मणस्तपसैव वा।' इति। अत्रैवकारात् ब्राह्मणस्तपसैवेति भाष्यकृता व्याख्यातम्। ततश्च अब्राह्मणस्य ताडनं, ब्राह्मणस्य मोक्ष इति द्रष्टव्यम्। तथापि ब्राह्मणस्य स्वयंगमनपक्षे मोक्षः। यस्तु बलादानीयते तस्य मोक्षः तपश्च द्रष्टव्यम्। एवं सर्वत्र स्वयंगमनपक्षे दण्ड एव, बलादानयनपक्षे दण्डश्च प्रायश्चित्तं चेति द्रष्टव्यम्। तपस्त्वश्रोत्रियब्राह्मणस्य सान्तपनं द्रष्टव्यं अश्रोत्रियब्राह्मणस्य सुवर्णहरणं चेत्। तथाह मनुः—'चरेत्सान्तपनं कृच्छ्रं निर्यात्यात्मविशुद्धये।' इति। निर्यात्येति सर्वस्तेयशेषत्वेनान्वेतीति द्रष्टव्यम्। श्रोत्रियस्यापस्तम्बोक्तं द्रष्टव्यम्— 'स्तेयं कृत्वा सुरां पीत्वा गुरुदारं च गत्वा ब्रह्महत्यामकृत्वा। चतुर्थकाला मितभोजिनः स्युः' इत्यादि। कथं श्रोत्रियस्य गौरवमिति चेत् 'विदुषोऽतिक्रमे दण्डभूयस्त्वं' इत्युक्तत्वात्। श्रोत्रियब्राह्मणसुवर्णहरणे त्वश्रोत्रियस्य चैतदेव। श्रोत्रियस्य षड्वर्षं द्रष्टव्यम्। यथाहोशना— 'सुवर्णस्तेयकृत् षड्वर्षं ब्राह्मणो व्रतं चरेत्' इति। क्षत्रियस्यापि यदा प्रायश्चित्तं समुच्चीयते तदा अश्रोत्रियसुवर्णहरणे श्रोत्रियस्य भार्गवीयं द्रष्टव्यम्—'ब्राह्मणस्वं

---

* गौमि. मभावत्।

(१) गौध. १२।४०; मभा. मि (मी); गौमि. १२।४०.

* गौमि. मभावत्।

(१) गौध. १२।४१; मभा.; गौमि. १२।४१.

हरेद्यस्तु चरेच्चान्द्रायणादिकम् ।' इति । अश्रोत्रियस्य पूर्वमुक्तमौशनसं द्रष्टव्यम् । श्रोत्रियस्वहरणे त्वेतदेव द्विगुणं 'श्रोत्रियस्वहरणे द्विगुणम्' इति कण्ववचनात् । वैश्यस्यापि क्षत्रियवद्द्रष्टव्यम्—'वैश्यस्य क्षत्रियवच्चोरदण्डः' इत्यौशनसवचनात् । श्रोत्रियस्वहरणे—'तपसाऽपनुनुत्सुस्तु सुवर्णस्तेयजं मलम् । चीरवासा द्विजोऽरण्ये चरेत् ब्रह्महणो व्रतम् ॥' इति मनुनोक्तं वा द्रष्टव्यम् । शूद्रस्य प्रायश्चित्तं सर्वत्र 'निष्कालको वा घृताक्तो गोमयाग्निना पादप्रभृत्यात्मानमवदाहयेत्' इति वसिष्ठोक्तं द्रष्टव्यम् । अपहृतद्रव्यवशादपि प्रायश्चित्तस्य गुरुलघुभावः कल्प्यः । कुतः ? 'तथा परिमेयानां शतादभ्यधिके वधः' इति लिङ्गात् । कार्षापणमूल्यादधिक एव राज्ञा ताडनम् । इतरत्र सर्वत्र तु मोक्ष एव द्रष्टव्यः । कार्षापणमूल्यादधिक एव समस्तप्रायश्चित्तप्रवेशः । 'अर्धे अर्धे पादे पादम्' इति च द्रष्टव्यम् । शूद्रस्य च वैश्यवत्कल्प्यम् 'अन्यूनभावे वैश्यवच्छूद्रस्य कल्प्यम्' इति शङ्खवचनादिति ।

* मभा.

**[१]अघ्नन्नेनस्वी राजा ।**

दयादियोगादघ्नन् एनस्वी राजा भवति । चोरस्य यावत्पापं तावदस्य भवतीत्यर्थः । तथा च स्मृत्यन्तरम्—'स्तेनस्याप्नोति किल्बिषं' इति । यथा वधार्हस्यावधे दोषः एवं मोक्षार्हस्यामोक्षे दोषो द्रष्टव्यः । तथा च वसिष्ठः— 'एनो राजानमृच्छत्युत्सृजन्तं सकिल्बिषम्' इति ।

मभा.

**[२]न शारीरो ब्राह्मणदण्डः ।**

**[३]कर्मवियोगविख्यापनविवासनाङ्ककरणानि । अवृत्तौ प्रायश्चित्ती सः + ।**

चोरसाहाय्ये अधर्मसंयुक्तप्रतिग्रहे च दण्डः

**[१]चोरसमः सचिवो मतिपूर्वे ।**

चोरस्य सचिवः सहायः बुद्धिपूर्वे प्रतिश्रयान्नादिदाने चोरवन्निग्राह्यः । एवं चाबुद्धिपूर्वे न दोषः । ÷ मभा.

**[२]प्रतिग्रहीताऽप्यधर्मसंयुक्ते ।**

अपिशब्दान्मतिपूर्व इत्यनुवर्तते । योऽन्यस्य द्रव्यमनेन चोरितमिति जानन्नेव ततः प्रतिगृह्णाति सोऽपि तस्मिन्नधर्मसंयुक्ते प्रतिग्रहे चोरसमः । प्रकरणादेव सिद्धेऽधर्मसंयुक्तग्रहणमन्यत्रापि पापविषये प्रतिग्रहीतुस्तत्पापं भवतीति ज्ञापनार्थम् । × गौमि.

स्तेयदोषप्रतिप्रसवः

**[३]द्रव्यादानं विवाहसिद्ध्यर्थम् ।**

(१) यदा पित्रादिर्दद्यात् तदा आच्छाद्यालङ्कृतां दद्यादित्युक्तम् । तत्र द्रव्याभावे कथमित्यत आह—द्रव्यादानमिति । द्रव्यस्य परकीयस्यादानं अननुज्ञातस्य स्वीकरणं विवाहसिद्धये यावता विवाहो निर्वर्तते आत्मीयाभावे तावदपहृत्य दद्यादित्यर्थः । मभा.

(२) द्रव्यमननुज्ञातमपि शूद्राच्चैलादिकमादेयं, विवाहसिद्ध्यर्थे यावता विवाहः सिद्ध्यति तावत् । अधिके दोषः । गौमि.

**[४]धर्मतन्त्रसङ्गे च ।**

(१) धर्मतन्त्रस्याग्निहोत्रादेः प्रवृत्तस्य विच्छेदः सङ्गः, तस्मिंश्च सति परस्वापहरणं कुर्यात् । तन्त्रग्रहणं यत् प्रक्रान्तमवश्यकर्तव्यं तस्यैव सङ्गे, न त्वप्रवृत्तस्य प्रवृत्त्यर्थम् । सिद्ध्यर्थमित्यस्यानुकर्षणार्थश्चकारः । यावता निर्वर्तते तावदेव गृह्णीयात् न ततोऽधिकमिति । एवं चाधिकग्रहणे स्तेयमेव भवति । मभा.

---

* गौमि. मभावत् ।

\+ एतद्वचनत्रयव्याख्यासंग्रहः व्यवहारमातृकायां ( पृ. ५६७-५६८ ) द्रष्टव्यः ।

(१) गौध. १२।४२; मभा. ; गौमि. १२।४२.

(२) गौध. १२।४३; व्यक. ११६. [ अवशिष्टस्थलादिनिर्देशः व्यवहारमातृकायां ( पृ. ५६७ ) द्रष्टव्यः । ]

(३) गौध. १२।४४-५; व्यक. ११६. [ अवशिष्टस्थलादिनिर्देशः व्यवहारमातृकायां ( पृ. ५६८ ) द्रष्टव्यः । ]

÷ गौमि. मभावत् । × मभा. गौमिवत् ।

(१) गौध. १२।४६; अप. २।२७६ पूर्वे ( पूर्वम् ); मभा.; गौमि. १२।४६; व्यनि. ५०८ अपवत्; समु. १५२.

(२) गौध. १२।४७; अप. २७६ क्ते ( क्तात् ); मभा.; गौमि. १२।४७; व्यनि. ५०८ ( अधर्मसंयुक्ते ० ); समु. १५२ ( प्रतिग्राहिणश्च ) एतावदेव.

(३) गौध. १८।२५; मभा. ; गौमि. १८।२४.

(४) गौध. १८।२६; मभा. ; गौमि. १८।२४ सङ्गे ( संयोगे ).

(२) तथा धर्मस्य पशुबन्धादेः प्रवृत्तस्य यत्तन्त्रमङ्ग-मश्वादि तस्य संयोगेऽविच्छेदसिद्ध्यर्थे यावता तन्निर्वर्तते तावदननुज्ञातमप्यादेयम्। गौमि.

**शूद्रात्[1]।**

कुतस्तदादेयमित्यत आह— शूद्रादिति। यज्ञार्थं हि धनम्। न च शूद्रस्य वैदिकेषु कर्मस्वधिकारः। अतः प्रथमं तावच्छूद्रादाददीत। मभा.

**अन्यत्रापि शूद्रात्[2]। बहुपशोर्हीनकर्मणः।**

इतराभ्योऽपि दृश्यन्त इति पञ्चम्यास्तल्। शूद्राद-न्यतोऽपि द्रव्यमादेयं स चेद्बहुपशुस्तथा हीनकर्मा भवति तदनुरूपं कर्म न करोति निषिद्धं वा कर्म सेवते। शूद्र-ग्रहणं विधिरयं यथा स्यादिति। तेन शूद्रालाभे वैश्यात्। तदलाभे क्षत्रियात्। गौमि.

**शतगोरनाहिताग्नेः[3]।**

अन्यकर्मकृतोऽपि शतगोः अग्न्याधानमकुर्वतः। शतग्रहणं द्रव्यपरिमाणोपलक्षणार्थं, शतनिष्कस्येत्यर्थः। एवं सर्वत्र। मभा.

**सहस्रगोश्चासोमपात्[4]।**

यश्चाहिताग्निरपि सहस्रगुः सोमं न पिबति तस्माद-प्याददीत। चशब्दादन्यतोऽपि। यः प्रभूतधनत्वे सति तदनुरूपं कर्म न करोति तस्मादप्याददीत। मभा.

**सप्तमीं चाभुक्त्वाऽनिचयाय[5]।**

(१) न केवलं निमित्तद्वयमेव परद्रव्यादाने। किंच— सप्तमीमिति। सप्तमीं वेलामभुक्त्वा धनक्षयात्, परद्रव्यादानं कुर्यात्। तथाह मनुः—'तथैव सप्तमे भक्ते भक्तानि षडनश्नता। अश्वस्तनविधानेन हर्तव्यं हीन-कर्मणः॥' इति। हीनकर्माधिकारार्थश्चकारः। तथोदा-हृतं च मनुवचनम्। अनिचयाय उदरपूरणमात्रम्। मभा.

(२) सप्तम्यर्थे द्वितीया। षट्सु वेलासु भोज्यालाभे-नाभुक्त्वा सप्तम्यां वेलायां यावता वृत्तिस्तावदननुमतम-प्यादेयम्। अनिचयः पुनस्तेन निचयो न कर्तव्यः। श्वो भोज्यमपि नादेयम्। गौमि.

**अप्यहीनकर्मभ्यः[1]।**

अस्यामवस्थायामहीनकर्मभ्योऽप्यादेयम्। अपिशब्दः कथञ्चिदस्यानुज्ञातमिति दर्शयति। तेन प्राणसंशय एवेदं भवति। गौमि.

**आचक्षीत राज्ञा पृष्टः[2]।**

(१) यद्यसावेवं कुर्वन् स्वामिभिर्गृहीतो राजसकाशं नीतस्तेन पृष्टः किमित्थमकार्षीरिति तदा स्वामवस्थामा-चक्षीत। न तु मिथ्या वदेत्। गौमि.

(२) न तु स्वयं गत्वा कथयेत्। *मभा.

**तेन हि भर्तव्यः श्रुतशीलसंपन्नश्चेत्[3]।**

(१) हिशब्दो यस्मादर्थे। यस्मात्तेन हि भर्तव्यः 'बिभृयात् ब्राह्मणान् श्रोत्रियान्' इति वचनात्। श्रुत-शीलसंपन्नो यदि भवति। श्रुतेन वेदार्थविज्ञानेन, शीलेन तच्चोदितकर्मानुष्ठानेनापि संपन्नः सम्यक् स्तुतः। 'बिभृ-यात् ब्राह्मणान् श्रोत्रियान्' इति श्रोत्रियाणां भरणो-पदेशात् भर्तव्यवचनेनैव श्रुतिशीलसंपन्नता सिद्धेति चेत्, उच्यते— अश्रोत्रियाणामपि भरणोपदेशात् 'निरुत्साहांश्च ब्राह्मणान्' इति। एवं च परस्वापहरणे अब्राह्मणो न भर्तव्य इति प्रदर्शितम्। तेनेति वचनं राज्ञो धर्मार्थ-मेवास्य भरणं न वृत्त्यर्थमिति। मभा.

(२) हिश्चार्थे, तेन च राज्ञा स न केवलमदण्ड्यः किं तर्हि तत आरभ्य भर्तव्यः तवेयमवस्था मया न ज्ञातेति सान्त्वयित्वा स चेच्छ्रुतवृत्तशीलसंपन्नो भवति। श्रुतं शास्त्रपरिज्ञानं शीलं तदनुकूल आचारः। इतरोऽपि न दण्ड्यो भरणं तु तस्य तादृशं न कार्यम्। दण्डाभावः पूर्वयोरपि निमित्तयोः समानः। गौमि.

---

(१) गौध. १८।२७; मभा.; गौमि. १८।२४.
(२) गौध. १८।२८-९; मभा.; गौमि. १८।२५.
(३) गौध. १८।३०; मभा.; गौमि. १८।२६.
(४) गौध. १८।३१; मभा.; गौमि. १८।२७.
(५) गौध. १८।३२; मभा.; गौमि. १८।२८.

---

* शेषं गौमिवत्।

(१) गौध. १८।३३; मभा.; गौमि. १८।२९.
(२) गौध. १८।३४; मभा.; गौमि. १८।३०.
(३) गौध. १८।३५; मभा.; गौमि. १८।३१.

**धर्मतन्त्रपीडायां तस्य करणेऽदोषः।**

(१) यस्माद्भर्तव्यस्तस्मादस्य धर्मतन्त्रपीडायां—धर्मशब्देनाग्निहोत्रादय उच्यन्ते; तन्त्रशब्देन विवाहः, पीडाशब्देनात्मपीडा 'सप्तमीं चाभुक्त्वा' इत्यनेनोक्ता। धर्मविच्छेदे विवाहसिद्धये आत्मपीडायां चेत्यर्थः। तस्य चौर्यस्य करणे अदोषः दण्डो नास्तीत्यर्थः। राज्ञ उपेक्षया धर्मतन्त्रपीडायां सत्यां चौर्यं कृत्वा स्वदोषादागते चौर्ये ब्राह्मणस्य दण्डपातनं न युक्तमित्यभिप्रायः।

केचिद्व्याचक्षते—श्रुतशीलसंपन्नश्चेत् भर्तव्यत्वादाचक्षीत। अश्रोत्रियोऽप्याचक्षीत। यस्मात्तस्मादश्रोत्रियस्यापि धर्मतन्त्रपीडायां दण्डो नास्ति इति।

अपरे व्याचक्षते —— बिभृयाच्छ्रोत्रियानिति योऽसौ भर्तव्यः सोऽस्मिन्नपराधेऽपि भर्तव्य एव। हिशब्द एवशब्दार्थे, तदनुरूपोऽर्थः अस्यापि दातव्य इत्यर्थः। अश्रोत्रियमपि न दण्डयेत् यतस्तस्यापि तस्मिन्नपराधे दण्डो नास्तीति। कुतः? धर्मतन्त्रपीडायामित्यस्य सूत्रस्याश्रोत्रियार्थत्वादारम्भस्येति। मभा.

(२) यदि पशुबन्धादौ धर्मे प्रवृत्तस्य तदङ्गं पश्वादि केनचित्पीडितं भवति हतमपहृतं वा तस्मिन्निवेदिते तदैव तस्य प्रतिविधानं कार्यं राज्ञा। अकरणे दोषो भवति। गौमि.

प्रकाशचौर्यप्रसङ्गात् करशुल्कस्थापनाविधिः

**राज्ञे बलिदानं कर्षकैर्दशममष्टमं षष्ठं वा।**

(१) कर्षकैः क्षेत्रे यल्लब्धं तस्य दशमभागोऽष्टमः षष्ठो वांऽशो राज्ञो बलिदानं कररूपेण देयः। अस्य राज्ञः कर्षकैः क्षेत्रे यल्लब्धं तद्रक्षणनिमित्ता वृत्तिरेषा। कृष्टाया भूमेरतिभोगमध्यमभोगाल्पभोगविषयोऽयं व्यवस्थितो विकल्पः। अतिभोगे दशमांशो मध्यमभोगेऽष्टमांशोऽल्पभोगे षष्ठांश इति। गौमि.

(२) अधुना रक्षणनिमित्तामस्य वृत्तिमाह— राज्ञे बलिदानमिति। नियुक्ताय देयमिति राजग्रहणम्। प्रतिसंवत्सरं देयमिति बलिग्रहणम्। दानं कर्तव्यमिति शेषः। कर्षकैः यावन्तः कृषिजीविनः, न तु वैश्येनैव दशमं वाऽष्टमं वा, षष्ठं वा, अधममध्यमोत्तमभूभागक्रमेण व्यवस्थितविकल्पो द्रष्टव्यः। मभा.

**पशुहिरण्ययोरप्येके पञ्चाशद्भागः।**

(१) ये पशुभिर्जीवन्ति ये वा हिरण्यप्रयोक्तारो वार्धुषिकास्तैः पञ्चाशत्तमो भागो राज्ञे देय इत्येके। तद्यथा यस्य पञ्चाशत्पशवः सन्ति स प्रतिसंवत्सरमेकं पशुं राज्ञे दद्यात्। यस्य वा पञ्चाशन्निष्कैर्वृद्धिप्रयोगः स प्रतिसंवत्सरमेकैकं निष्कं राज्ञे बलिरूपेण दद्यादिति। गौमि.

(२) पशुपालनेनोपजीवतः सकाशात्पशूनां पञ्चाशद्भागं गृह्णीयात्। हिरण्यं वार्धुषिकसकाशात्। 'समार्घं धनमुध्दृत्य महार्घं यः प्रयच्छति। स वै वार्धुषिको नाम ब्रह्मवादिषु गर्हितः॥' इति वार्धुषिकस्य प्रतिषेधादेवास्याभावः प्राप्नोतीति चेत् – नैष दोषः, 'कामं परिलुप्तकृत्याय पापीयसे दद्याताम्' इति वसिष्ठेन प्रकारान्तरेणाभ्यनुज्ञानात्। एकेग्रहणान्न तु गौतमः, तत्र येषामप्रतिप्रसवः तेषु न गृह्णीयात्। येषां प्रतिषेधाभावादेव वार्धुषिकत्वं स्यात्, तेषु गृह्णीयादित्येवं द्रष्टव्यम्। मभा.

**विंशतिभागः शुल्कः पण्ये। मूलफलपुष्पौषधमधुमांसतृणेन्धनानां षाष्टः। तद्रक्षणधर्मित्वात्। तेषु तु नित्ययुक्तः स्यात्।**

(१) विंशतीति। यद्वणिग्भिर्विक्रीयते तत्पण्यं तत्र विंशतितमो भागो राज्ञे देयस्तस्यैव दीयमानस्य शुल्क

---

(१) गौध. १८।३६; मभा.; गौमि. १८।३२ तस्य करणे दोषः (तस्याकरणे दोषः).

(२) गौध. १०।२३; मभा.; गौमि. १०।२४.

(१) गौध. १०।२४; मभा.; गौमि. १०।२५.

(२) गौध. १०।२५-८; अप. २।२६१ भागः शुल्कः (भागः शुल्कं) षाष्टः (षष्ठः) (तु०); व्यक. १११ षाष्टः (षाष्ठम्) (तु०) नित्यं (नित्यं); मभा. षाष्टः (षाष्ठ्यः); गौमि. १०।२६-९ षाष्टः (षष्ठः); उ. २।२६।९ षध (षधि) षाष्टः (षाड्भ्यम्) (तद्रक्ष.........स्यात्०); विर. ३०४ (फल०) षाष्टः (षाष्टं) (तु०); विचि. १२९ (फल०) षधमधुमांस (षधिमांसमधु) षाष्टः (तु षष्ठः) (तद्रक्ष...... स्यात्०); दवि. ९४ (विंशति......पण्ये०) (फल०) षाष्टः (षष्टिः) तद्रक्षण (क्षण) (तु०); सेतु. २९५ (मूल-फल०) षधमधुमांस (षधिमांसमधु) षाष्टः (षष्ठः) (तद्रक्ष......स्यात्०).

इति संज्ञा । शुल्कप्रदेशाः 'प्रातिभाव्यं वणिक्शुल्कमि'-त्यादयः ।

मूलेति । मूलं हरिद्रादि । फलमाम्रादि । पुष्पमुत्पलादि । औषधं बिल्वादि । शिष्टानि प्रसिद्धानि । एतेषु पण्येषु षष्टितमो भागो राज्ञे देयो विक्रेत्रा ।

कस्मात्पुनरेवं राज्ञे देय इत्यत आह— तद्रक्षणेति । तेषां करदायिनां रक्षणरूपेण धर्मेण तद्वत्त्वात्तेषामयं रक्षक इति कृत्वेति ।

तेष्विति । तेषु कर्षकादिषु नित्ययुक्तः स्याद्रक्षणे नित्यमवहितः स्यात् । अपर आह— तेषु बल्यादिषु नित्ययुक्तः स्यात् । तात्पर्येणाऽऽददीत शुल्कं ह्यस्यैतद्धनमिति । गौमि.

(२) विंशतीति । पण्यं पणनीयं यद्वणिग्भिर्विक्रीयते हिंग्वादि तेषु विंशतिभागं गृह्णीयात् । शुल्कग्रहणं संज्ञार्थं, ततश्च 'प्रातिभाव्यवणिक्शुल्क' इत्यादौ व्यवहारसिद्धिः ।

मूलेति । मूलं हरिद्रादि, फलं मरीचादि, पुष्पं कुसुम्भादि, औषधं अभयादि, तृणं यत्किञ्चित् कटादि । शेषाः प्रसिद्धाः ।

कस्मात्पुनरेतद्राज्ञो देयमित्यत आह— तद्रक्षणेति । तेषां करदायिनां रक्षणं तद्रक्षणं, स एव धर्मः यस्यासौ तद्रक्षणधर्मी, तस्य भावस्तद्रक्षणधर्मित्वं, तस्मात्तद्रक्षणधर्मित्वात् तच्छीलत्वादित्यर्थः । वचनगम्येऽर्थे हेतुवचनं देशकालापेक्षया उक्तपरिमाणादप्यल्पतरभागग्रहणार्थं, इतरथा सर्वमेव राजा रक्षतीति साधारणोऽयं हेतुः स्यादिति । तथा चाहोशना— 'देशकाललाभानुरूपतः करान् प्रकल्पयेत्' इति ।

तेष्विति । तेषु तु बल्यादानेषु सर्वदा सत्यपि कार्यव्यग्रत्वे तत्परो भवेत् । तुशब्दो विशेषवाची अन्येष्वपि द्रव्यार्जनोपायेषु धर्मादनपेतेषु तत्परो भवेत्, अत्र विशेषत इति । मभा.

(३) षाष्टं षष्टितमं भागम् । तेषु मूलादिषु रक्षणधर्मित्वाद्रक्षणे आगमधर्मित्वान्नित्ययुक्तः स्यान्नित्यावहितः स्यादित्यर्थः । अत्र विंशतिभागः परदेशागतं द्रव्यमपेक्ष्य, वस्तुविशेषापेक्षया तु षाष्टो भागो यथाश्रुत्यैव संकोचाभावात् । विर. ३०४–५

**अधिके न वृत्तिः ।**[1]

(१) राज्ञोऽधिकं रक्षणमिति यदुक्तं तद्द्वारेण यदागतं धनं तदधिकं तेनात्मनः पोष्यवर्गस्य च हस्त्यश्वादीनां च वृत्तिः स्यात् । न तु पूर्वैर्यत्संचित्य खातं कोशरूपेण तेन जीवेत् । आपदि तु तेनापि जीवेत् । तथा च व्याघ्रः— 'कुटुम्बपोषणं कुर्यान्नित्यं कोशं च धारयेत् । आपदोऽन्यत्र कोशात्तु न गृह्णीयात्कदाचन ॥' इति । गौमि.

(२) स्यादिति शेषः । कुटुम्बपोषणादधिकं यत्कोशरूपेणानुप्रविष्टं तस्मिन् कोशे वृत्तिर्न स्यात्, कुटुम्बपोषणार्थं, अन्यत्रापदः, तस्मिन् न गृह्णीयादित्यर्थः । तथा च व्याघ्रः— 'कुटुम्बपोषणं कुर्यान्नित्यं कोशं च वर्धयेत् । अन्यत्रापत्तितः कोशं न गृह्णीयात्कदाचन ॥' इति । केचिद्व्याचक्षते— अधिकेन रक्षणद्वारा आगतेन जीवनं स्यादिति । तत्र 'राज्ञोऽधिकं' इत्यनेन पुनरुक्तप्रसङ्गोऽस्ति उत नास्तीति निरूपणीयम् । मभा.

**शिल्पिनो मासि मास्येकैकं कर्म कुर्युः ।**[2]

एकेनाह्ना साध्यमेकं कर्म । शिल्पिनो लोहकारादयः । तेऽपि प्रतिमासं राज्ञे स्वीयमेकमहःकर्म कुर्युः । एष एषां शुल्कः । *गौमि.

**एतेनात्मोपजीविनो व्याख्याताः ।**[3]

(१) आत्मोपजीविनो ये शरीरायासेन जीवन्ति काष्ठवाहादयस्तेऽप्येते च शिल्पिपूक्तप्रकारेण व्याख्याताः, मासि मास्येकैकं कर्म कुर्युरिति । नर्तकादिष्वप्येषैव गतिः । गौमि.

(२) आत्मोपजीविनो नटनर्तकादयः, तेऽप्येकमहो राज्ञः कर्म कुर्युरिति, शिल्प्यात्मोपजीविन इति वक्तव्ये पृथग्ग्रहणं आत्मोपजीविनामल्पोपकारित्वादनित्यत्वार्थम् । आत्मोपजीविनश्चेत्येवमपि न कृतं, स्मृत्यन्तरेऽपि

---

* मभा. गौमिवत् ।

(१) **गौध.** १०।२९; **मभा.** ; **गौमि.** १०।३० अधिके न ( अधिकेन ).

(२) **गौध.** १०।३०; **मभा.** ; **गौमि.** १०।३१.

(३) **गौध.** १०।३१; **मभा.** ; **गौमि.** १०।३२ नात्मोप ( नात्मनोप ).

शिल्पिनो यद्यदुक्तं तस्य सर्वस्याप्यनुप्रवेशार्थम् । यथाहोशना— 'शिल्पिनो मासि मासि कर्मैकं प्रोक्तं, तदभावे कार्षापणं वा दद्यात्' इति । मभा.

**[1]नौचक्रीवन्तश्च ।**

(१) नौश्च चक्रं च नौचक्रे । चक्रशब्देन तद्वच्छकटं लक्ष्यते । तद्वन्तो नौचक्रीवन्तः । 'आसन्दीवदष्ठीवदि'-त्यादिना कथंचिद्रूपसिद्धिः । नौवन्तो नौजीविनः । चक्रवन्तः शकटजीविनः । तेऽपि राज्ञ एकमहस्तत्कर्म कुर्युः । गौमि.

(२) चक्रं शकटं, नौचक्राभ्यां य उपजीवन्ति । बहुवचनात् वर्धकिनापितादयः । चकारात् वन्यमृगघातकादयः । पूर्ववदनित्यता मा भूदिति पृथग्ग्रहणम् । मभा.

**[2]भक्तं तेभ्यो दद्यात् ।**

(१) 'शिल्पिनो मासि मासी'त्यारभ्य येऽनुक्रान्तास्तेभ्यः कर्म कुर्वद्भ्यो भक्तमन्नं दिवा भोजनं दद्याद्राजा । गौमि.

(२) तेभ्यः शिल्पिप्रभृतिभ्यः भक्तं भोजनं शुल्कं दद्यात् । तद्ग्रहणमनन्तराणामेव मा भूदिति । मभा.

**[3]पण्यं वणिग्भिरर्घापचयेन देयम् ।**

(१) मासि मास्येकैकमित्यनुवर्तते । विंशतिभागः शुल्कः पण्य इत्युक्तम् । ततः शुल्कादधिकमिदं मासि मास्येकं पण्यमर्थापचयेन प्राप्तस्य मूल्यस्य किञ्चिन्न्यूनतां कल्पयित्वा वणिजो राज्ञे दद्युः । तत्र बृहस्पतिः— 'शुल्कं ददुस्ततो मासमेकैकं पण्यमेव च । अर्घावरं च मूल्येन वणिजस्ते पृथक्पृथक् ॥' इति । गौमि.

(२) अर्घापचयः अर्घावरमूल्यम् । *मभा.

(३) अर्घापचये मूल्यापचये । तेन मूल्यापचये पण्यमप्रयच्छन्नपि वणिक् न दण्ड्य इति तात्पर्यम् । विर. ३०३

* मभा. गौमिवत् ।

(१) गौध. १०।३२; मभा.; गौमि. १०।३३.

(२) गौध. १०।३३; मभा.; गौमि. १०।३४.

(३) गौध. १०।३४; व्यक. १११; मभा.; गौमि. १०।३५ र्घा (र्था); विर. ३०३ चयेन (चये न); दवि. १०० विरवत्.

चोरहृतं राज्ञा स्वामिने प्रदेयमलब्धेऽपि चौरे

**[1]चौरहृतमपजित्य यथास्थानं गमयेत् ।**

(१) चौरैर्हृतं द्रव्यं तानपजित्य यथास्थानं गमयेत् । स्वामिन एव दद्यात् । जेतुस्तु जयफलं किञ्चित् । गौमि.

(२) चोराद्यपहृतं तत आच्छिद्य स्वामिन एव प्रत्यर्पयेत् । न तु 'जेता लभेत सांग्रामिकम्' (गौध. १०।१९) इत्यनेन कण्टकमर्दनव्याजेन वा किञ्चिदुपजीवेत् । आच्छिद्येति वक्तव्ये अपजित्येति वचनं योऽप्यन्य आच्छिनत्ति असावप्यमुष्मै दापनीय इति । स्वामिने दद्यादिति वक्तव्ये 'यथास्थानं गमयेत्' इत्यारम्भः स्वाम्यभावेऽपि तद्भृत्येभ्यो यथार्हतोऽर्पयेदिति । चोरग्रहणं बलात्करणादेरप्युपलक्षणम् । मभा.

**[2]कोशाद्वा दद्यात् ।**

(१) यद्यन्विष्यापि चोरा न दृष्टास्त एव वा जित्वा गतास्तदा स्वकोशादादाय तावद्धनं स्वामिने दद्याद्यावदपहृतं चौरैरिति । गौमि.

(२) अनपजये, दुर्गदेशादिषु गतत्वात्, यावन्मात्रमपहृतं तत्स्वधनाद्दद्यात् । कोशाद्वेति नोक्तं, यथास्थानं गमयेत् कोशाद्वा गमयेदिति मा भूदाशङ्केति । मभा.

(३) प्रथमपक्षकरणासमर्थविषये द्वितीयः पक्षः । स्मृच. १३४

## हारीतः

राज्ये चौरदोषः

**[3]पापास्तु यस्य राष्ट्राद्वै वर्धन्ते दस्यवः सदा । तत्पापमतिवृद्धं हि राज्ञो मूलं निकृन्तति ॥**

(१) गौध. १०।४६; मिता. २।३६, २।२७२ मप (मव); अप. २।३६ तमपजित्य (तं विजित्य); मभा.; गौमि. १०।४६; स्मृच. १३४ जित्य (हृत्य); पमा. ४४९ मितावत्; व्यउ. १२५; विता. ५६७, ७९५ मितावत्; प्रका. ८४; समु. १५२ मितावत्.

(२) गौध. १०।४७; मिता. २।३६ कोशाद्वा द (स्वकोशाद्) : २।२७२ कोशा (स्वकोशा); अप. २।३६; मभा.; गौमि. १०।४७; स्मृच. १३४; पमा. ४४९ कोशा (स्वकोशा); विता. ५६७ कोशाद्वा (कोशाद्) : ७९५ पमावत्; प्रका. ८४; समु. १५२.

(३) व्यक. ११० राज्ञो (राज्ञां); विर. २९४.

## आपस्तम्बः

तस्करभयरहितराज्यकरणं मुख्यो राजधर्मः

[1]**क्षेमकृद्राजा यस्य विषये ग्रामेऽरण्ये वा तस्करभयं न विद्यते।**

यस्य राज्ञो विषये ग्रामेऽरण्ये च चोरभयं नास्ति स एव राजा क्षेमकृत् क्षेमङ्करः। न त्वन्यः शतं तुभ्यं शतं तुभ्यमिति ददानोऽपि। उ.

[2]**ग्रामेषु नगरेषु चार्यान् शुचीन् सत्यशीलान् प्रजागुप्तये निदध्यात्। तेषां पुरुषास्तथागुणा एव स्युः। सर्वतो योजनं नगरं तस्करेभ्यो रक्ष्यम्। क्रोशो ग्रामेभ्यः।**

[3]**तत्र यन्मुष्यते तैस्तत्प्रतिदाप्यम्।**

ग्रामेष्विति। आर्यान् शुचीन् सत्यशीलानिति व्याख्यातम्। एवंभूतान् पुरुषान् ग्रामेषु नगरेषु च प्रजानां रक्षणार्थं निदध्यात् नियुञ्जीत। तेषामिति। तेषां नियुक्तानां ये पुरुषा नियोज्याः तेऽपि तथागुणा आर्यादिगुणा एव स्युः। सर्वत इति। सर्वतः सर्वासु दिक्षु योजनमात्रं नगरं तस्करेभ्यो रक्षणीयम्। रक्ष्यमित्यपपाठः। क्रोशो ग्रामेभ्य इति। ग्रामेभ्यस्तु सर्वासु दिक्षु क्रोशो रक्ष्यः। ग्रामेभ्य इति 'यतश्चाध्वकालपरिमाणं तत्र पञ्चमी वक्तव्या' इति पञ्चमी। तत्रेति। तत्र योजनमात्रे क्रोशमात्रे वा यन्मुष्यते चोर्यते ते नियुक्ताः स्वामिभ्यस्तत्प्रतिदद्यू राज्ञा तैस्तत् प्रतिदाप्यं राजा तैः प्रतिदापयेदिति प्रायेण दन्त्योष्ठ्यं वकारं पठन्ति (?)। उ.

शूद्रादीनां स्तेयादिमहापातकदण्डविधिः, ब्राह्मणे विशेषश्च

[4]**पुरुषवधे स्तेये भूम्यादाने इति स्वान्यादाय वध्यः। चक्षुर्निरोधस्त्वेतेषु ब्राह्मणस्य।**

भूम्यादानं परक्षेत्रस्य बलात्स्वीकारः, पुरुषवधादिषु निमित्तेषु शूद्रः सर्वस्वहरणं कृत्वा पश्चाद्वध्यः मारयितव्यः। चक्षुनिरोध इति। ब्राह्मणस्य त्वेतेषु निमित्तेषु चक्षुषो निरोधः कर्तव्यः। पट्टबन्धादिना चक्षुषी निरोद्धव्ये, यथा यावज्जीवं न पश्यति। न तूत्पाटयितव्ये 'न शारीरो ब्राह्मणदण्डः। अक्षतो ब्राह्मणो व्रजेत्' इति स्मरणात्। चक्षुनिरोध इति रेफलोपश्छान्दसः। उ.

**नियमातिक्रमिणमन्यं वा रहसि बन्धयेत्। आसमापत्तेः। असमापत्तौ नाश्यः। आचार्य ऋत्विक् स्नातको राजेति त्राणं स्युरन्यत्र वध्यात्** *।

[2]**स्तेनः प्रकीर्णकेशोंऽसे मुसलमाधाय राजानं गत्वा कर्माऽऽचक्षीत। तेनैनं हन्याद्वधे मोक्षः।**

स्तेनो ब्राह्मणस्वर्णहारी। अंसे स्वे स्कन्धे। मुसलमाधाय आयसं खादिरं वा धारयन्। राजानं गत्वा कर्माऽऽचक्षीत, एवंकर्माऽस्मि, शाधि मामिति। स तेन मुसलेन एनं स्तेनं हन्यात्, यथा मृतो भवति। वधेन स्तेयात् मोक्षो भवति। उ.

[3]**अनुज्ञातेऽनुज्ञातारमेनः स्पृशति।**

यदि राजा दयादिना तमनुजानीयात् गच्छेति, तदा तमनुज्ञातारं राजानमेव तदेनः स्पृशति। उ.

[4]**अग्निं वा प्रविशेत्। तीक्ष्णं वा तप आयच्छेत्।**

---

* व्याख्यासंग्रहः स्थलादिनिर्देशश्च व्यवहारमातृकायां (पृ. ५६९) द्रष्टव्यः।

(१) आध. २।२५।१५; हिध. २।१८ यस्य (न चास्य) (न०); व्यक. ११०; विर. २९४.

(२) आध. २।२६।४-७; हिध. २।१९ (नगरेषु०) शीलान्+(धर्मार्थकुशलान्); व्यक. ११८; विर. ३४३ चार्यान् (आचार्यान्); विचि. १४७ तथागुणा एव (एव तथागुणाः); दवि. ८६ चार्यान् (आर्यान्); सेतु. २५०.

(३) आध. २।२६।८; हिध. २।१९; व्यक. ११८ दाप्यम् (दातव्यम्); दवि. ८६ (अत्र यन्मुष्येत तैस्तु प्रतिपाद्यम्।).

(४) आध. २।२७।१६; हिध. २।१९ भूम्यादाने+(परदारानुप्रवेश); अप. २।२७०; व्यक. ११६; विर. ३३०; विचि. १४२ (पुरुषवधस्तेयभूम्यादानेषु) एतावदेव; दवि. ६५; सेतु. २४४ (पुरुषवधस्तेयभूम्यादानेषु वधः).

(१) आध. २।२७।१७ क्षुर्नि (क्षुनि); हिध. २।१९; मिता. २।२६ धस्त्वेतेषु (धो); अप. २।२६ मितावत् : २।२७० धस्त्वेतेषु (धस्तु तेषु); व्यक. ११३ स्त्वेते (श्चैते); स्मृच. १२४ मितावत्; विर. ३३० स्त्वेतेषु (श्च तेषु); दवि. ६५; विता. ८७ मितावत्; सेतु. २४४ व्यकवत्; प्रका. ७८ मितावत्; समु. ६८ मितावत्.

(२) आध. १।२५।४; हिध. १।२३-४.

(३) आध. १।२५।५; हिध. १।२४.

(४) आध. १।२५।६-७; हिध. १।२४.

तीक्ष्णं तपः महापराकादि । तद्वा आयच्छेत् आवर्तयेत् । उ.

[1]भक्तापचयेन वाऽऽत्मानं समाप्नुयात् ।

भक्तमन्नम् । तस्यापचयो ह्रासः । प्रथमे दिने यावन्तो ग्रासाः ते एकेन न्यूना द्वितीये । एवं तृतीयादिष्वपि आ एकस्माद् ग्रासात् । तत्रापि यदि न समाप्तिः ततस्तत्रैव ग्रासपरिमाणापचयः कर्तव्यः । एवं भक्तापचयेनात्मानं समाप्नुयात् समापयेत् । उ.

[2]कृच्छ्रसंवत्सरं वा चरेत् ।

अथ वा संवत्सरमेकं नैरन्तर्येण कृच्छ्रांश्चरेत् । एषामेनस्सु गुरुषु गुरूणि, लघुषु लघूनीति व्यवस्था । उ.

[3]अथाप्युदाहरन्ति । स्तेयं कृत्वा सुरां पीत्वा गुरुदारं च गत्वा ब्रह्महत्यामकृत्वा । चतुर्थकाला मितभोजिनः स्युः अपोऽभ्यवेयुः सवनानुकल्पम् । स्थानासनाभ्यां विहरन्त एते त्रिभिर्वर्षैरप पापं नुदन्ते ।

अस्मिन्नेव विषये पुराणश्लोकमप्युदाहरन्तीत्यर्थः । ब्रह्महत्याव्यतिरिक्तानि स्तेयादीनि कृत्वा चतुर्थकालाश्चतुर्थो भोजनकालो येषाम् । यथा— अद्य दिवा भुङ्क्ते श्वो नक्तमिति, ते तथोक्ताः । तथापि मितभोजिनः न मृष्टाशिनः । अपोऽभ्यवेयुः भूमिगतास्वप्सु स्नानं कुर्युः । सवनानुकल्पं, यथा सवनानि प्रातःसवनादीन्यनुक्लृप्तानि अनुसृतान्यनुष्ठितानि भवन्ति तथा त्रिषवणमित्यर्थः । तिष्ठेयुरहनि, रात्रावासीरन् । एवं स्थानासनाभ्यां विहरन्तः कालक्षेपं कुर्वन्तः । एते त्रिभिर्वर्षैस्तत्पापमपनुदन्ते । उ.

दण्डार्हानर्हस्तेयविचारः । दण्ड्योत्सर्गे राज्ञो दोषः ।

[4]परपरिग्रहमविद्वानाददान एधोदके मूले पुष्पे फले गन्धे ग्रासे शाक इति वाचा बाध्यः ।

एधश्चोदकं च एधोदकम् । ग्रासो गवाद्यर्थो यवसादिः । सर्वत्र विषयसप्तमी । यः परपरिग्रहोऽयमित्यविद्वान् अजानन् एधादिकमादत्ते गृह्णाति, स तस्मिन् विषये तत्र नियुक्तेन राजपुरुषेण निष्ठुरया वाचा बाध्यः निवार्यः । उ.

[1]विदुषो वाससः परिमोषणम् ।

यस्तु विद्वानेवादत्ते तस्य वाससोऽपहारः कर्तव्यः । उ.

[2]अदण्ड्यः कामकृते तथा प्राणसंशये भोजनमाददानः ।

तथाशब्दस्य भोजनमित्यनेन संबन्धः । प्राणसंशयदशायामेधोदकादेरादाने कामकृतेऽप्यदण्ड्यः । तथा भोजनमप्याददानः प्राणसंशये न दण्ड्य इति । उ.

[3]प्राप्तनिमित्ते दण्डाकर्मणि राजानमेनः स्पृशति ।

प्राप्तं दण्डनिमित्तं यस्य तस्मिन् पुरुषे दण्डाकर्मणि दण्डस्याऽक्रियायां यदि दययाऽर्थलोभेन वा प्राप्तदण्डं न कुर्यात् तदा तदेनो राजानमेव स्पृशति । उ.

स्तेयदोषे आपदनापत्कालद्रव्यविशेषादिविचारः

[4]यथा कथा च परपरिग्रहमभिमन्यते स्तेनो ह भवतीति कौत्सहारीतौ तथा काण्वपुष्करसादी ।

यथा कथा च आपद्यनापदि वा भूयांसमल्पं वा, परपरिग्रहं परस्वमभिमन्यते ममेदमस्त्विति बुद्धौ कुरुते, सर्वथा स्तेन एव भवतीति कौत्सादयो मन्यन्ते । उ.

[5]सन्त्यपवादाः परपरिग्रहेष्विति वार्ष्यायणिः ।

वार्ष्यायणिस्तु मन्यते केषुचित्परपरिग्रहेषु स्तेयस्यापवादाः सन्तीति । उ.

---

(१) आध. १।२५।८; हिध. १।२४.

(२) आध. १।२५।९; हिध. १।२४.

(३) आध. १।२५।१०-११; हिध. १।२४ कल्पम् (कल्पयेत्); मभा. १२।४१ (अथाप्युदाहरन्ति०) (अपो... ...नुदन्ते०).

(४) आध. २।२८।११; हिध. २।२० पुष्पे फले (फले पुष्पे) (गन्धे ग्रासे०); दवि. १५२ एधो (एवो) पुष्पे फले (फले पुष्पे).

(१) आध. २।२८।१२; हिध. २।२०; दवि. १५२ (विद्वांश्चेद्वाससः परिमोषणे).

(२) आध. २।२८।१३; हिध. २।२०; दवि. १५२ अदण्ड्यः (न दण्ड्यः).

(३) आध. २।२८।१४; हिध. २।२०.

(४) आध. १।२८।१; हिध. १।२६ काण्वपुष्क (कण्वपौष्क).

(५) आध. १।२८।२; हिध. १।२६ परपरि (पर).

**[1]शम्योषा युग्यघासो न स्वामिनः प्रतिषेधयन्ति ।**

शमी बीजकोशी तस्यामुष्यन्ते दह्यन्ते कालवशेन पच्यन्ते इति शम्योषाः कोशीधान्यानि मुद्गमाषचणकादीनि । युगं वहतीति युग्यः शकटवाही बलीवर्दः, तस्य घासो भक्षः तृणादिः युग्यघासः । एते आदीयमानाः स्वामिनो न प्रतिषेधयन्ति स्वामिभिः प्रतिषेधं न कारयन्ति । एतेष्वादीयमानेषु स्वामिनो न प्रतिषेद्धुमर्हन्तीत्यर्थः । स्वयंग्रहणेऽपि न स्तेयदोष इति यावत् । अत्र स्मृत्यन्तरे विशेषः— 'चणकव्रीहिगोधूमयवानां मुद्गमाषयोः । अनिषिद्धैर्ग्रहीतव्यो मुष्टिरेकोऽध्वनि स्थितैः ॥' इति । मनुस्तु— 'द्विजोऽध्वगः क्षीणवृत्तिर्द्वाविक्षू द्वे च मूलके । आददानः परक्षेत्रान्न दण्डं दातुमर्हति ॥' उ.

**[2]अतिव्यवहारो व्यृद्धो भवति ।**

शम्योषादिष्वपि अतिव्यवहारो व्यृद्धो दुष्टो भवति, अतिमात्रापहारे स्तेयदोषो भवतीत्यर्थः । उ.

**[3]सर्वत्रानुमतिपूर्वमिति हारीतः ।**

सर्वेषु द्रव्येषु सर्वास्ववस्थासु स्वाम्यनुमतिपूर्वमेव ग्रहणमिति हारीत आचार्यो मन्यते । उ.

दण्ड्यादण्डने दोषः

**[4]अन्नादे भ्रूणहा मार्ष्टि अनेना अभिशंसति ।**
**स्तेनः प्रमुक्तो राजनि याचन्ननृतसंकरे ॥**
**इति ।**

षडङ्गस्य वेदस्याध्येता भ्रूणः । तं यो हतवान् स भ्रूणहा । सोऽन्नादे मार्ष्टि लिम्पति । किं? प्रकरणादेन इति गम्यते । भ्रूणघ्नो योऽन्नमत्ति तस्मिंस्तदेनः संक्रामति । तस्मात्तस्योद्यतमपि अभोज्यमिति प्रकरणसंगतः पादः । इतरत् पुराणश्लोके पठ्यमाने पठितम् । अनेनसं योऽभिशंसति मिथ्यैव ब्रूते — इदं त्वया कृतमिति । स तस्मिन्नभिशंसति तदेनो मार्ष्टि । मनुस्तु — 'पतितं पतितेत्युक्त्वा चोरं चोरेति वा पुनः । वचनात्तुल्यदोषः स्यान्मिथ्या द्विर्दोषभाग्भवेत् ॥' इति द्वैगुण्यमाह । तदभ्यासे द्रष्टव्यम् । 'स्तेनः प्रकीर्णकेश' इति वक्ष्यति । स एव तृतीयस्य पादस्यार्थः । कर्तृभेदादपौनरुक्त्यम् । संकरः प्रतिज्ञा प्रतिश्रवः । सत्यसंगर इति यथा । यः प्रतिश्रुत्य न ददाति सोऽनृतसंकर इति । ककारस्तु छान्दसः । तस्मिन् याचकः स्वयमेनो मार्ष्टि । तस्मात्प्रतिश्रुतं देयमिति । उ.

शुल्कस्थापना

**[1]धार्म्यं शुल्कमवहारयेत् ।**

तत्र गौतमः—'विंशतिभागः शुल्कः पण्ये' इति (गौध. १०।२५) । यद्वणिग्भिर्विक्रीयते हिङ्ग्वादि, तस्य विंशतितमं भागं राजा गृह्णीयात् । तस्य शुल्क इति संज्ञा । एष धार्म्यः धर्म्यः शुल्कः । तमधिकृतैरेवाऽवहारयेत् ग्राहयेदिति । मूलादिषु विशेषस्तेनैवोक्तः— 'मूलफलपुष्पौषधिमधुमांसतृणेन्धनानां षाष्टिक्यमि'ति (गौध. १०।२६) । उ.

**[2]अकरः श्रोत्रियः ।**

श्रोत्रियः करं न दाप्यः । अन्ये दाप्याः । उ.

**[3]सर्ववर्णानां च स्त्रियः ।**

अकराः । वर्णग्रहणात् प्रतिलोमादिस्त्रियो दाप्याः । उ.

**[4]कुमाराश्च प्राक् व्यञ्जनेभ्यः ।**

व्यञ्जनानि श्मश्र्वादीनि । यावत्तानि नोत्पद्यन्ते तावदकराः । उ.

**[5]ये च विद्यार्था वसन्ति ।**

विद्यामुद्दिश्य ये गुरुषु वसन्ति ते जातव्यञ्जना अप्यसमाप्तवेदा अकराः । उ.

**[6]तपस्विनश्च ये धर्मपराः ।**

तपस्विनः कृच्छ्रचान्द्रायणादिप्रवृत्ताः । धर्मपराः, अफलाकाङ्क्षिणः नित्यनैमित्तिकधर्मनिरताः । धर्मपरा

---

(१) आध. १।२८।३; हिध. १।२६.
(२) आध. १।२८।४; हिध. १।२६.
(३) आध. १।२८।५; हिध. १।२६.
(४) आध. १।१९।१५; हिध. १।१९.

(१) आध. २।२६।९; हिध. २।१९.
(२) आध. २।२६।१०; हिध. २।१९.
(३) आध. २।२६।११; हिध. २।१९ (च०).
(४) आध. २।२६।१२; हिध. २।१९.
(५) आध. २।२६।१३; हिध. २।१९.
(६) आध. २।२६।१४; हिध. २।१९.

इति किम् ? ये अभिचारकामा मन्त्रसिद्धये तपस्तप्यन्ते ते अकरा मा भूवन्निति । उ.

[1]शूद्रश्च पादावनेक्ता ।

यस्त्रैवर्णिकानां पादावनेक्ता स शूद्रोऽप्यकरः । उ.

[2]अन्धमूकबधिररोगाविष्टाश्च ।

एतेऽप्यकराः यावदान्ध्यादि । उ.

[3]ये व्यर्था द्रव्यपरिग्रहैः ।

ये च परिव्राजकादयः द्रव्यपरिग्रहैर्व्यर्था निष्प्रयोजनाः शास्त्रतो येषां द्रव्यपरिग्रहः प्रतिषिद्धः तेऽप्यकराः । तथा च वसिष्ठः— 'अकरः श्रोत्रियो राजा पुमाननाथः प्रव्रजितो बालवृद्धतरुणप्रशान्ताः' इति । उ.

## बौधायनः

स्तेयमहापातकदण्डविधिः । दण्ड्योत्सर्गे राज्ञो दोषः ।

[4]स्तेनः प्रकीर्य केशान् सैध्रकं मुसलमादाय स्कन्धेन राजानं गच्छेदनेन मां जहीति तेनैनं हन्यात् । वधे मोक्षो भवति ।

ब्राह्मणस्वर्णं हरति बलेन वञ्चनया चौर्येण वा यो ब्राह्मणः स स्तेन इति गीयते । तस्यैतत्प्रायश्चित्तम्— प्रकीर्य केशानित्यादि । सैध्रको दृढदारुनिर्मितः । सैध्रकं मुसलं स्कन्धेनादाय राजानं गच्छेदिति संबन्धः ।

बौवि. (पृ.११०)

[5]अथाप्युदाहरन्ति—

स्कन्धेनादाय मुसलं स्तेनो राजानमन्वियात् ।
अनेन शाधि मां राजन् क्षत्त्रधर्ममनुस्मरन् ॥
शासने वा विसर्गे वा स्तेनो मुच्येत किल्बिषात् ।
अशासनात्तु तद्राजा स्तेनादाप्नोति किल्बिषमिति ॥

अथेदानीं स्तेनशासनमपि राज्ञ आवश्यकमित्येतत्प्रदर्शयितुं तदशासने दोषमाह— अथाऽपीति । शासनं वधः । विसर्गो मोक्षः । किल्बिषं पापम् ।

बौवि. (पृ.११०)

शुल्कस्थापना

[1]सामुद्रः शुल्कः । वरं रूपमुद्धृत्य दशपणं शतम् । अन्येषामपि सारानुरूप्येणानुपहत्य धर्म्यं प्रकल्पयेत् ।

(१) सामुद्रः समुद्रागतपण्यगोचरः शुल्कः, तत्र पण्येषु वरं रूपं मुक्ताफलादि उध्दृत्य गृहीत्वा शतपणमूल्ये दशपणं शुल्कं गृह्णीयात् । अन्येषामपि लाभभूयस्त्वप्रयोजकदेशान्तरागतानां सारानुरूपेण श्रेष्ठं वस्तूध्दृत्य गृहीत्वा धर्म्यं धर्मादनपेतं शुल्कं प्रकल्पयेत् गृह्णीयादित्यर्थः । अनुपहत्येत्यनेनैव वणिजो द्रव्योपघातो न कार्य इत्युक्तम् । हलायुधस्तु उपहत्येति पठित्वा गृहीत्वेति व्याख्यातवान्, फलतो न विशेषः । विर.३०५

(२) 'षड्भागभृतो राजा' (बौध. १।१८।१) इत्युक्तम् । तस्य क्वचिदपवादमाह— सामुद्र इति । राज्ञो भवतीति शेषः । द्वीपान्तरादाहृतं सामुद्रं वस्तु तत्संबन्धी सामुद्रः शुल्कः पणद्रव्यम् ।

तस्मिन् भागः कियानित्यत आह— वरमिति । गृह्णीयाद्राजेति शेषः । वरमुत्कृष्टद्रव्यरूपं रत्नादिद्रव्यं स्वामिने प्रदाय शेषं शतधा विभज्य दशपणं गृह्णीयात् । अनेन सामुद्रे दशभागः शुल्क इत्युक्तं भवति ।

अन्येषामपीति । असामुद्राणामपि द्रव्याणां सारफल्गुत्वापेक्षया वरं रूपमनुपहत्यैव धर्म्यं प्रकल्पयेदात्मार्थम् । तत्र सारफल्गुविभागो गौतमेनोक्तः— 'विंशतिभागः शुल्कः पण्ये । मूलफलपुष्पौषधमधुमांसतृणेन्धनानां षाष्ठ्यम्' इति । षष्ठतमं षाष्ठ्यम् । बौवि. (पृ.९१)

## वसिष्ठः

स्तेयदुष्टलक्षणानि

[2]स्तेनोऽनुप्रवेशान्न दुष्यति शस्त्रधारी सहोढो व्रणसंपन्नश्च व्यपदिष्टस्त्वेकेषाम् ।

---

(१) आध. २।२६।१५; हिध. २।१९.
(२) आध. २।२६।१६; हिध. २।१९.
(३) आध. २।२६।१७; हिध. २।१९.
(४) बौध. २।१।१७. (५) बौध. २।१।१८-२०.

(१) बौध. १।१०।१५-६; अप. २।२६१ सामुद्रः (सामुद्र) रूप्येणा (सारेणा); व्यक. १११ रूप्ये (रूपे) धर्म्यं (धर्मे); विर. ३०५ दशपणं शतम् (शतपणमूल्ये दशपणं) रूप्ये (रूपे) धर्म्यं (धर्म्यं); दवि. ९४ पणं (पलं) धर्म्यं (धर्मं).

(२) वस्मृ. १९।२६ (क) ष्यति (ष्यते) न्नश्च (न्नो), (ख) (स्तेनाभिशस्तदुष्टशस्त्रधारिसहोढव्रणसंपन्नव्यपदेष्टेष्वेकेषाम्); व्यक. ११६; मभा. १२।४८ ष्यति (ष्यते); विर. ३३३ स्त्वे (श्चै).

अनुप्रवेशः चोरानुगमनमात्रम्। कस्तर्हि दुष्यतीत्यत्राह शस्त्रधारी, शस्त्रग्रहणनिमित्तं विना तद्धारी, सहोढः सलोप्त्रः, चोरचिह्नव्रणसंपन्नश्च, व्यपदिष्टश्चैकेषां शस्त्रग्रहणादिभिर्विनैव आप्तोपन्यस्तचौर्यः। विर.३३३

स्तेयमहापातकदण्डविधिः। दण्ड्योत्सर्गे राज्ञो दोषः।

[1]ब्राह्मणसुवर्णहरणे प्रकीर्य केशान् राजानमभिधावेत् स्तेनोऽस्मि भोः शास्तु मां भवानिति तस्मै राजौदुम्बरं शस्त्रं दद्यात्तेनाऽऽत्मानं प्रमापयेत्, मरणात् पूतो भवतीति विज्ञायते।

[2]निष्कालको वा घृताक्तो गोमयाग्निना पादप्रभृत्यात्मानमभिदाहयेत् मरणात्पूतो भवतीति विज्ञायते।

*दण्ड्योत्सर्गे राजैकरात्रमुपवसेत् त्रिरात्रं पुरोहितः कृच्छ्रमदण्ड्यदण्डने पुरोहितस्त्रिरात्रं राजा। अथाप्युदाहरन्ति—

अन्नादे भ्रूणहा मार्ष्टि पत्यौ भार्याऽपचारिणी।
गुरौ शिष्यश्च याज्यश्च स्तेनो राजनि किल्बिषम्॥
राजभिर्धृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः।
निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा॥
एनो राजानमृच्छति उत्सृजन्तं सकिल्बिषम्।
तं चेद्घातयते राजा हन्ति धर्मेण दुष्कृतम्॥ इति॥

अर्घस्थापना शुल्कस्थापना च

[3]गार्हस्थ्याङ्गानां च मानोन्माने रक्षिते स्याताम्। अधिष्ठानान्निर्हारः सार्थानामर्घमानमानमूल्यमात्रं नैर्हारिकं स्यात् महामहयोः त्वनत्ययः स्यादभयं च।

अधिष्ठानात् पत्तनादेर्यो निर्हारः निष्कृष्य हरणम्। सार्थानां पण्यपूर्णानां हरणपक्षेऽर्घमानं मूल्यमात्रं मानं भाण्डं तन्मूल्यं यत्तेन मात्रा परिमाणं यस्येति व्यधिकरणेऽपि बहुव्रीहिः। तेन भाण्डस्य पत्तनादेर्निर्हारपक्षे तन्मूल्यानुसारेण राजशुल्कं देयम्। नैर्हारिकं निर्हारसंबन्धि। महामहयोर्महोत्सवयोः राज्ञः पुत्रजन्मादीन्द्रमहादिरूपयोस्त्वित्थमपि निर्हारं कुर्वतोऽनत्ययोऽदण्डः स्यादभयमताडनं चेत्यर्थः। विर.३०३-४

[1]शुल्के चापि मानवं श्लोकमुदाहरन्ति---
न भिन्नकार्षापणमस्ति शुल्कं
न शिल्पवृत्तौ न शिशौ न दूते।
न भैक्षलब्धे न हृतावशेषे
न श्रोत्रिये प्रव्रजिते न यज्ञे॥

भिन्नो न्यूनः कार्षापणो मूल्यं यस्य तद्भिन्नकार्षापणं पण्यं, शुल्कोऽपि भिन्नकार्षापणः तेन कार्षापणादर्वाग् यस्य मूल्यं तत्र वस्तुनि शुल्को न ग्राह्य इत्यर्थः। न शिल्पवृत्तौ, न शिल्पिना शिल्पित्वात् प्राप्तवित्ते, शिशौ, विक्रय्य गवादि वत्सादौ, दूते दूतवस्तुनि, कृतावशेषे वणिजः शेषवस्तुनि। यज्ञे यज्ञार्थमानीयमाने द्रव्ये। हलायुधस्तु शिशुशिल्पिदूतान् बुद्धिस्थीकृत्य एवं न शिशुप्रभृतिभ्यः वणिग्भ्यः क्वचिदपि शुल्कद्रव्यं ग्राह्यमित्यत्र वाक्ये प्राह। विर.३०५-६

## विष्णुः

प्रकाशवञ्चकानां शुल्कपरिहर्तृकूटतुलामानकर्त्रादीनां दण्डः

[2]शुल्कस्थानमपक्रामन् सर्वापहारमाप्नुयात्।

---

* व्याख्यानं स्थलादिनिर्देशश्च व्यवहारमातृकायां (पृ.५७०) द्रष्टव्यः।

(१) वस्मृ. २०१४५ (ख) हरणे (हरात्) (मां०) दद्यात् (दध्यात्).

(२) वस्मृ. २०१४६ (ख) मभि (मति); मभा. १२।४१ मभि (मव) (मर... ...यते०).

(३) वस्मृ. १९।९.

(४) वस्मृ. १९।१० (क) न्निर्हारः (न्न नीहारः) सार्था... ... ...र्हारिकं (स्वार्थानां मानमूल्यमात्रं नैहारिकं) त्वन... ...यं च (स्थानात्पथः स्यात्?), (ख) (अधिष्ठानान्नीहारसार्थानामस्मात्र मूल्यमात्रं नैहारिकं स्यात् महामहस्थः स्यात्); व्यक. १११; विर. ३०३.

(१) वस्मृ. १९।२४-५ (क) शुल्कं (शुल्के), (ख) (शुल्के चापि०) भिन्न (रिक्त) दूते (धर्मे) लब्धे (वृत्तौ); मिता. २।२६३ (शुल्के...हरन्ति०); अप. २।२६१ (शुल्के...हरन्ति०) भैक्ष (भैक्ष्य) हृता (हुता); व्यक. ११२; विर. ३०५ हरन्ति (हरति) हृता (कृता); विचि. १३० (मानवं०) भैक्ष (भैक्ष्य); दवि. ९५ वृत्तौ (वित्ते) भैक्षलब्धे (भैक्ष्यसंधे) हृता (कृता); वीमि. २।२६३ मितावत्; समु. ९१ (शुल्के...हरन्ति०) भिन्न (हीन) हृता (भृता) स्मृत्यन्तरम्.

(२) विस्मृ. ३।३१ (क) नमप (नाऽप); अप.

अनाक्रामन् परिहरन् । सवापहारं, अयं च सर्वस्वापहारो वारंवारशुल्कस्थानपरिहारे । याज्ञवल्कीयस्त्वष्टगुणदण्डोऽनभ्यासे परिहारस्येत्यविरोधः । विर. २९८

**तुलामानकूटकर्तुश्च । तदकूटे कूटवादिनश्च । द्रव्याणां प्रतिरूपविक्रयिकस्य च । संभूयवणिजां पण्यमनर्घेणावरुन्धताम् । प्रत्येकं विक्रीणतां च ।**

प्रतिरूपकं च कृतकमुक्तादि । संभूयवणिजामित्यादि, मिलित्वा वणिजामधिकमूल्यं पण्यमल्पमूल्येन क्रीणतामल्पमूल्यं च वस्त्वधिकेन विक्रीणतां च एकैकस्योत्तमसाहसं दण्ड इत्यर्थः । विर. २९९

**उत्तमं साहसं दण्डनीयो भिषङ्मिथ्याचरन्नुत्तमेषु पुरुषेषु । मध्यमेषु मध्यमम् । तिर्यक्षु प्रथमम् ।**

**ग्रन्थिभेदकानां करच्छेदः ।**

**द्यूते कूटाक्षदेविनां करच्छेदः । उपधिदेविनां संदंशच्छेदः ।**

याज्ञवल्क्यः— 'राज्ञा सचिह्नं निर्वास्याः कूटाक्षोपधिदेविनः ।' विष्णुः— 'कूटाक्षदेविनां करच्छेद उपधिदेविनां संदंशच्छेदः ।' पूर्ववाक्ये चिह्नमपि यथायथं करसंदंशच्छेदात्मकमेव विवक्षितमेकमूलत्वानुरोधात् । संदंशच्छेदश्च तर्जन्यङ्गुष्ठच्छेदः । एतच्चापराधातिशये द्रष्टव्यम् । विर. ३०८

**एते दोषानुरूपत एव दण्ड्याः । कूटमानाः कूटतुलाः उत्कोचजीविनः कपटोपायाः कितवाः पण्ययोषितः प्रतिरूपकराः नैगमाद्याश्च भूरिधना अपि (न?) धनदण्ड्या अपि तु दोषानुसारेण ।**

एते प्रकाशतस्कराः । न पुनर्धनानुरूपत इत्यर्थः । प्रतिरूपकराः मिथ्यानाणकादिकारिणः मङ्गलादेशवृत्तयश्चकारेण समुच्चिताः । सवि. ४६०

अप्रकाशतस्कराणां पशुधान्यवस्त्रभक्ष्यपेयरत्नादिद्रव्यहारिणां दण्डविधिः

**गोऽश्वोष्ट्रगजापहार्येककरपादिकः कार्यः, अजाद्यपहार्येककरश्च ।**

अजाद्यपहार्येककरः कार्य इत्यन्वयः । अत्र पूर्वं व्यासेनाजाविहरणे अर्धत्रयोदशपणा इत्यभिधानादनेनाजाविहरणे एककरत्वस्योक्तेर्विरोधस्य प्रसङ्गे धनशून्यचौरत्वे यज्ञोपयुक्ताजाविहरणे वा विष्णुरिति परिहारः । विर. ३२०

**धान्यापहार्येकादशगुणं दण्ड्यः । सस्यापहारी च । सुवर्णरजतवस्त्राणां पञ्चाशतस्त्वभ्यधिकमपहरन् विकरः । तदूनमेकादशगुणं दण्ड्यः ।**

---

२।२६२ सर्वा ( सर्वस्वा ); **व्यक.** १११ मप ( मपा ); **विर.** २९८ मप ( मना ); **दीक.** ५३ मपका ( मनाक ); **विचि.** १२७ व्यकवत्; **दवि.** ९३ विरवत्; **सेतु.** २३१ दीकवत् : ३२१ माम् ( मवाम् ).

(१) **विस्मृ.** ५।१२२-६ मानकूट+( कर्म ); **व्यक.** १११ मान ( नाणक ) ( तदकूटे० ) त्येकं ( त्येकस्य ); **विर.** २९९ मान (नाणक) तदकूटे कूट ( तदकूट ) क्रयिक ( क्रायक ) त्येकं ( त्येकस्य ).

(२) **विस्मृ.** ५।१७४-७; **अप.** २।२४२ मध्यमेषु मध्यमम् ( मध्यमं मध्यमेषु ); **व्यक.** ११२ अपवत्; **विर.** ३०६ दण्डनीयो ( दण्ड्यो ); **विचि.** १३० ( पुरुषेषु० ) मध्यमेषु......प्रथमम् ( मध्यमं मध्यमेषु प्रथमं तिर्यक्षु ) शेषं विरवत्; **दवि.** १०५ ( पुरुषेषु० ) शेषं विरवत्; **सेतु.** २३२ विचिवत्.

(३) **विस्मृ.** ५।१३६.

(४) **विस्मृ.** ५।१३४-५; **अप.** २।२०२ द्यूते+( च ) कूटा ( कपटा ); **व्यक.** ११२ द्यूते+( च ); **विर.** ३०८ ( द्यूते० ) : ६१७; **पमा.** ५७६ उप ( उपा ); **रत्न.** १२४ द्यूते+( च ) ( उप......च्छेदः० ); **विचि.** २६० ( द्यूते० ); **व्यनि.** ४८२ व्यकवत्; **दवि.** १०८ विचिवत्; **वीमि.** २।२०३ कूटा ( कपटा ); **व्यप्र.** ३८८ व्यकवत्, ( उपधि......च्छेदः० ) : ५६७; **व्यउ.** १२६ व्यप्रवत्; **विता.** ७४० ( उपधि......च्छेदः० ); **सेतु.** २९०; **समु.** १६५.

(१) **सवि.** ४६०.

(२) **विस्मृ.** ५।७७-८ ( क ) पादिकः ( पादः ) द्यप ( व्यप ), ( ख ) करपादिकः ( पादकरः ) द्यप ( वाप ); **व्यक.** ११४; **विर.** ३२०; **विचि.** १३६ जापहार्येक ( जापहारकः एक ); **व्यनि.** ५१०-११ पादिकः ( पादः ) द्यपहार्येक ( व्यपहारे एक ); **दवि.** १३० ( अजा......श्च० ) : १३२ ( गो......कार्यः० ) द्यप ( व्यप ) करश्च ( करः कार्यः ); **सेतु.** २३८ विचिवत्; **समु.** १५० करपादिकः ( पादः ) द्यप ( व्यप ) करश्च ( करः ).

(३) **विस्मृ.** ५।७९-८२; **व्यक.** ११४ ( सुवर्ण...... दण्ड्यः० ); **विर.** ३२२ ( = ) व्यकवत्.

[1]सूत्रकार्पासगोमयगुडदधिक्षीरतक्रतृणलवणमृद्भस्मपक्षिमत्स्यघृततैलमांसमधुवैदलवेणुमृन्मयलोहभाण्डानामपहर्ता मूल्यात् त्रिगुणं दण्ड्यः। पक्वान्नानां च।

[2]पुष्पहरितगुल्मवल्लीलतापर्णानामपहरणे पञ्च कृष्णलान्। शाकमूलफलानां च।

[3]रत्नापहार्युत्तमसाहसम्।

अवध्यसधनविषयमेतत्। विर. ३२४

[4]अनुक्तद्रव्याणामपहर्ता मूल्यसमम्।

[5]क्षुद्रद्रव्यापहारे मूल्याद् द्विगुणो दमः।

एतदल्पप्रयोजनशरावादिविषयमिति वेदितव्यम्। सवि. ४५७

[6]उत्तममध्यमाधमद्रव्याणां हरणे मूल्यानुसारतो दण्डः।

[7]उक्तो दण्डः शूद्रवैश्यक्षत्रियब्राह्मणानां विदुषां स्तेये द्विगुणोत्तराणि किल्बिषाणि।

अयमर्थः--- यस्मिन्नपहारे यो दण्ड उक्तः स शूद्रकर्तृके अपहार्यद्रव्यस्य अष्टगुण आपादनीयः। वैश्यकर्तृके अपहारे षोडशगुणः। क्षत्रियकर्तृके अपहारे द्वात्रिंशद्गुणः। ब्राह्मणकर्तृके अपहारे चतुष्षष्टिगुणो दण्ड आपादनीयः। एवं विट्छूद्रादिकर्तृकेऽपहारे दण्ड ऊहनीयः। सवि. ४५५-६

(१) विस्मृ. ५।८३-४ (ख) भाण्डा (दण्डा); व्यक. ११५ गुड......तक्र (क्षीरतक्रगुड) पक्षिमत्स्य (मत्स्यपक्षि) (तैल०); विर. ३२७ गुड...... वेणु (दधिक्षीरतक्रलवणगुडतृणमृद्भस्ममत्स्यपक्षितैलघृतमांसमधुवैणववेणु) त्रिगुणं (द्विगुणं); दवि. १४९ गुड......तक्र (दधिक्षीरतक्रगुड) पक्षि...वैदल (मत्स्यपक्षितैलघृतमांसमधुविदल) त्रिगुणं (द्विगुणं).

(२) विस्मृ. ५।८५-६.

(३) विस्मृ. ५।८७; व्यक. ११४; विर. ३२४; विचि. १३९; दवि. १४५ रुम् (सः); वीमि. २।२७३; सेतु. २४१.

(४) विस्मृ. ५।८८; व्यक. ११५; विर. ३२८; विचि. १४१ समम् + (दमम्); दवि. १५३ द्रव्या ......र्ता (द्रव्यहरणे); सेतु. २४३ विचिवत्.

(५) सवि. ४५७.

(६) सवि. ४५५. (७) सवि. ४५५ शूद्रवै (शूद्राद्वै).

[1]ब्राह्मणे शतगुणो वा पूर्णं वाऽपि शतं भवेत्।

[2]निकृष्टे द्विगुणं कल्पयेत्।

निकृष्टो जात्या आचारेण धनेन वेति निबन्धनकारः। न च दिव्यमातृकायां 'द्विगुणार्थे यथाभिहिता समयक्रिया वैश्यस्य, त्रिगुणार्थे राजन्यस्य, चतुर्गुणार्थे ब्राह्मणस्य' इति विष्णुवचने शूद्रवैश्यक्षत्रियब्राह्मणानामेकद्वित्रिचतुःसंख्यया दिव्यक्रियायां तारतम्यमुक्तं; अत्रापि दण्डकल्पनमष्टमांशषोडशांशचतुर्विंशद्वात्रिंशकल्पनया भाव्यमिति वाच्यम्। दण्डविधायकदिव्यविधायकशास्त्रयोर्वेदमूलत्वेन न्यायमूलत्वाभावात् वाचनिकमिदं तारतम्यम्। सवि. ४५६

[3]दशकुम्भीधान्यहरणे एकादशगुणं दाप्यः।

विंशतिद्रोणकं कुम्भी खारीपर्याय इति चन्द्रिकाकारः। तद्द्विगुणापहारे एकादशगुणं तद्धनं दापयित्वा अङ्गच्छेदनवधरूपदण्डा योज्या यथायोगम्।

सवि. ४५६

[4]मणीनां प्राणकलञ्जापहारे हस्तच्छेदो वधः कुकूलारोहणम्।

प्राणो नाम चतुर्माषात्मकः परिमाणविशेषः। कलञ्जो नाम धरणम्। यथाह विष्णुगुप्तः----- 'पञ्चगुञ्जलको माषः प्राणस्तेषु चतुर्गुणैः। कलञ्जो धरणं प्राहुः मणिमानविशारदाः॥' इति। अत्र केचिच्चतुर्गुणैः इति पदसामर्थ्याद्विंशतिगुणात्मको माषो न भवति, विधेयस्यैव प्राधान्यात्, प्रधानपरामर्षस्य न्याय्यत्वात्, षोडशमाषात्मकः प्राण इत्याहुः। एतदेव सम्यक्। तथा व्यवहारात्। कलञ्जस्तु प्राणद्वितयं 'कलञ्जः प्राणयुग्यकम्' इति लक्षणात् लोकाचारतो व्यवस्था। एतत्सर्वं दण्डकथनं बलावष्टम्भे वेदितव्यम्। साहसं प्रकृत्य मन्वादिभिरुक्तत्वात्। सवि. ४५७

[5]दोषानुविद्धाः प्रच्छन्नाः गूढतस्कराः। उत्क्षेपकः संधिभेत्ता पशुस्त्रीग्रन्थिभेदकाः परस्परं दण्ड्याः।

(१) सवि. ४५६. (२) सवि. ४५६.

(३) सवि. ४५६. (४) सवि. ४५७.

(५) सवि. ४६०.

दोषा रात्रिः । सवि. ४६०

**कूटशासनकर्तॄंश्च राजा हन्यात् । कूटलेख्यकारांश्च* ।**

**गरदाग्निदप्रसह्यतस्करान् स्त्रीबालपुरुषघातिनश्च* ।**

**ये च धान्यं दशभ्यः कुम्भेभ्योऽधिकमपहरेयुः । धरिममेयानां शतादभ्यधिकम् * ।**

**प्रसह्यतस्कराणां चावकाशभक्तप्रदांश्च । अन्यत्र राजाशक्तेः* ।**

राज्ञश्चेच्चौरनिवारणे न शक्तिः, तदा ग्रामनिवासिनां आत्मत्राणाय चौररक्षणेऽपि न वध इत्यर्थः । वै.

[1] **स्तेनाः सर्व एवापहृतं धनिकस्य धनं दाप्याः । ततस्तेषामभिहितदण्डप्रयोगः ।**

करशुल्कस्थापना

[2] **प्रजाभ्यो बल्यर्थं संवत्सरेण धान्यतः षष्ठमंशमादद्यात् । सर्वसस्येभ्यश्च । द्विकं शतं पशुहिरण्येभ्यो वस्त्रेभ्यश्च । मांसमधुघृतौषधिगन्धपुष्पमूलफलरसदारुपत्राजिनमृद्भाण्डाश्मभाण्डवैदलेभ्यः षष्ठभागम् । ब्राह्मणेभ्यः करादानं न कुर्यात् । ते हि राज्ञो धर्मकरदाः । राजा च प्रजाभ्यः सुकृतदुष्कृतषष्ठांशभाक् ।**

[3] **स्वदेशपण्याच्च शुल्कांशं दशममादद्यात् । परदेशपण्याच्च विंशतितमम् ।**

स्वदेशपण्ये वणिज उत्पन्ने लाभे दशमांशं राजा गृह्णीयात् । परदेशपण्ये च उत्पन्ने लाभे विंशतितममंशं गृह्णीयादित्यर्थः । विर. ३०४

* स्थलनिर्देशः साहसप्रकरणे ( पृ. १६०९ ) द्रष्टव्यः ।

(१) **विस्मृ.** ५।८९-९० र्व एवाप ( र्वमप ) (धनं० ); **अप.** २।२७५ ( धनं० ); **व्यक.** ११६ ( स्तेनाः० ) एवाप ( एव वाप ) ( धनं० ); **स्मृच.** ३१८ ( धनं० ) : ३१९ ( स्तेनाः सर्व एवापहृतं दाप्याः ) एतावदेव; **विर.** ३३१; **विचि.** १४३ ( = ); **सेतु.** २४४; **समु.** १५० अपवत्.

(२) **विस्मृ.** ३।२२-२८.

(३) **विस्मृ.** ३।२९-३०; **व्यक.** १११ ण्याच्च ( ण्यात् ); **विर.** ३०४ ण्याच्च शुल्कांशं ( ण्यात् शुल्कं ); **विचि.** १२९ व्यकवत्; **सेतु.** २९५ व्यकवत्.

चौरहृतं चौरेऽलब्धेऽपि स्वामिने प्रत्यर्पणीयम्

[1] **चौरहृतं धनमवाप्य सर्वमेव सर्ववर्णेभ्यो दद्यात् । अनवाप्य च स्वकोशादेव दद्यात् ।**

## शङ्खः शङ्खलिखितौ च

मानार्घस्थापनविधिः

[2] **तुलामानप्रतीमानव्यवहारार्घसंस्थापनं देशद्रव्यानुरूपं प्रत्ययितपुरुषाधिष्ठितम् ।**

प्रकाशवञ्चक-कूटतुलामानव्यवहर्त्रादिदण्डविधिः

[3] **कूटतुलामानप्रतिमानव्यवहारे शारीरोऽङ्गच्छेदो वा ॥**

मानं प्रस्थादि । शारीरो मुण्डनादिरूपः । अङ्गच्छेदः कर्णादिच्छेदः । अर्थगौरवागौरवाभ्यां विकल्पव्यवस्थितिः । विर. २९८

[4] **प्रतिषिद्धभाण्डनिर्हारे ।**

शारीरोऽङ्गच्छेदो वा दण्ड इत्यनुवृत्तौ शङ्खलिखितौ ---प्रतीति । निर्हारे विक्रये । नाशितभाण्डमूल्यो यदि, तदैवमित्यविरोधः । एवञ्च राज्ञा निषिद्धमपि राजयोग्यमपि विक्रीय यदि मूल्यदानाशक्त एव कश्चित् स्यात्, तदा तत्राप्ययं दण्डो न्यायतौल्यात् । विर. ३०१

अप्रकाशतस्कराणां पशुपुरुषभाण्डाद्यपहारिणां दण्डविधिः

[5] **राजपुत्रापहारेऽष्टसहस्रं शारीरो वा दण्डः तत्कुलीनेष्वर्धं स्त्रीपुरुषयोश्च ।**

अष्टसहस्रमष्टाधिकसहस्रं, तच्च कार्षापणानाम् । तत्कुलीनेषु राजकुलीनेषु राजपुत्रव्यतिरिक्तेष्वर्धं अष्टाधिकसहस्रार्धं, स्त्रीपुरुषयोश्च राजकुलीनयोरर्धं अष्टाधिकसहस्रार्धं, शारीरो वेति विकल्पे धनवत्त्वाधनवत्त्वाभ्यां व्यवस्था । विर. ३१८

(१) **विस्मृ.** ३।६६-७; **व्यक** ११८ चौर ( चौराप ) ( च० ); **विर.** ३४५ चौर...... मवाप्य ( चौरापहृतं द्रव्यं ) ( च० ); **दवि.** ८८ व्यकवत्.

(२) **व्यक.** १११; **विर.** ३०२; **दवि.** ९७ संस्था ( स्था ).

(३) **व्यक.** १११; **विर.** २९८; **विचि.** १२७ शंख:; **दवि.** ९०; **सेतु.** २३०.

(४) **विर.** ३०१; **दवि.** ९२.

(५) **व्यक.** ११४; **विर.** ३१८; **दवि.** १२७ अर्ध... ... श्च ( पुत्रेष्वर्धं स्त्रीपुरुषयोः ).

**हस्त्यश्वरथगोवृषयानेषु राजपुत्रापहारवद्दण्डः। अजाविकेष्वर्धत्रयोदशपणा नकुलबिडालापहरणे कार्षापणाः।**

अत्र व्यासेन वाजिवारणहरणे सर्वस्वग्रहणमुक्तं अनेन त्वष्टसहस्रमुक्तमिति विरोधो वाजिवारणगौरवागौरवाभ्यां परिहार्यः। विर. ३१८

**[2]सुवर्णरजतापहारे शारीरोऽङ्गच्छेदो वा।**

शारीरो दण्डस्ताडनम्। अङ्गं कर्णादि। पञ्चाशदूनविषयं निर्धनविषयं चैतत्। विर. ३२४

**[3]अष्टशतं सीताद्रव्यापहरणे यथाकालम्।**

अष्टशतमष्टाधिकशतम्। सीता कृष्यमाणा भूमिः तद्द्रव्यं हलकुद्दालादि, यथाकालं कर्षणसमये।

विर. ३२४

**[4]कृतकाष्ठाश्मकौलालचर्मवेत्रदलभाण्डेषु मूल्यात्पञ्चगुणस्त्रयो वा कार्षापणाः। एकचक्रापहरणे चत्वारिंशत्, शकटे त्वशीतिशतम्।**

कृतकाष्ठं घटितकाष्ठं, कौलालं कुलालनिर्मितं मृन्मयमिति यावत्। भाण्डपदमश्मादिभिः संबध्यते। एकचक्रमेकं रथाङ्गम्। चत्वारिंशत् पणा एव, अशीतिशतमशीत्यधिकशतम्। विर. ३२७

(१) व्यक. ११४ रथगो (गोरथ) के ...... पणा (केऽर्धत्रयोदशं) हरणे + (त्रयः); विर. ३१८ (अजा... ... कार्षापणाः०) : ३१९ (हस्त्य ......दण्डः०); दवि. १३० (रथ०) वृषया (वृषाय) (अजा......कार्षापणाः ०); १३२ (हस्त्य......दण्डः ०) केष्वर्ध (केऽर्ध) हरणे + (त्रयः).

(२) व्यक. ११४; विर. ३२४ रजता (रत्ना); विचि. १३९ शंखः; दवि. १४५ विरवत्; सेतु. २४१ शंखः

(३) व्यक. ११५ हरणे...लम् (हारे च); विर.३२४; विचि. १३९ प (भि) शंखः; दवि. १४५ हरणे (हारे); सेतु. २४१ प (धि) शंखः.

(४) व्यक. ११५ दल (विदल) शतम् (तमः); विर. ३२७; दवि. १४७ (कृत ...... कार्षापणाः ०) पह (ह) शकटे त्वशी (कटेऽशी) : १४९ (एक...... शतम् ०); सेतु. २४२ (दल०) टे त्वशी (टेऽशी).

वर्णविशेषकृतचौर्यदण्डविधिः

**[1]अब्राह्मणो ब्राह्मणस्य समिदाज्येध्माग्निकाष्ठतृणोलपपुष्पफलमूलान्यपहरन् बलादविज्ञातो वा हस्तच्छेदनमाप्नुयात्। कुशकरकाग्निहोत्रद्रव्यापहारे प्रत्यक्षतोऽङ्गच्छेदः स्यात्, अप्रत्यक्षं यथाविदितोऽयं किल्बिषीति ब्राह्मणः खरयानमवाप्नुयात्। मूत्रमौण्ड्यमितरेषां खरयानमेव च।**

ब्राह्मणोऽत्र यागादिपरः। अग्रे ब्राह्मण एव कर्मवियोगविख्यापनविवासनाङ्करणानां वक्ष्यमाणत्वात्। समिदादीन्यत्र यागार्थमानीतानि, करकः कमण्डलुः। अग्निहोत्रद्रव्याणि हवनीयादीनि, किल्बिषी चौरः प्रकरणात्। मूत्रमौण्ड्यं मूत्रेण मुण्डनम्। इतरेषां क्षत्रियादीनाम्। विर. ३२९-३०

**[2]अन्यूनभावे वैश्यवत् शूद्रस्य कल्प्यम्।**

चौर्यशङ्कितशोधनदण्डौ

**[3]असाक्षिप्रणिहिते दिव्यम्। अथवा मित्रैः सज्जनैरात्मानं ना शोधयेदेव। स चेद्दण्ड्योऽर्थिनां चार्थं दापयेत्।**

दण्ड्यादण्डने राजदोषः

**[4]अन्नादे भ्रूणहा मार्ष्टि पत्यौ भार्यापचारिणी।**
**गुरौ शिष्यश्च याज्यश्च स्तेनो राजनि किल्बिषम्॥**

(१) मेधा. ८।३३३ (कुशकरकाग्निहोत्रद्रव्याण्यपहरतोऽङ्गच्छेदः स्यात्) शंखः, एतावदेव; अप. २।२७५ पुष्प...... हरन् (शष्पपुष्पधूपफलान्यपहरेत्) कुश + (चर्मभाण्ड) व्यापहारे (व्याण्यपहरतः) मूत्र (सूत्र) मेव च (मेव): व्यक. ११५ यथाविदितो (यदा विदितो) शेषे अशुद्धिबाहुल्यम्; विर. ३२९ तृणोलप (तृणोपल); विचि. १४३ (ब्राह्मणस्य तु मौण्ड्यमितरेषां खरयानम्।) शंखः, एतावदेव; दवि. १५० तृणोलप (तृणोपल) न्यप (द्यप) बला ... वा (वा बलादविज्ञातो) व्यापहारे (व्याण्यपहरेत्) यथावि (यदा वि) मवाप्नु (माप्नु); सेतु. २४३ दाज्ये (धाद्ये) तृणोलप (तृण) ज्ञातो (ज्ञाते) (कुश ...... मेव च०).

(२) मभा. १२।४१ शंखः. (३) अप. २।२६९.

(४) चतुर्वर्गचिन्तामणिः Vol. III Part I Page 781. [Dharmasutra of Shankhalikhita Page 46. edited by Prof. P. V. Kane].

## कौटिलीयमर्थशास्त्रम्

कारुकरक्षणम्

कारुकरक्षणम् । प्रदेष्टारस्त्रयस्त्रयोऽमात्याः कण्टकशोधनं कुर्युः ।

अर्थ्यप्रकाराः कारुशासितारः संनिक्षेप्तारः स्ववित्तकारवः श्रेणीप्रमाणा निक्षेपं गृह्णीयुः । विपत्तौ श्रेणी निक्षेपं भजेत । निर्दिष्टदेशकालकार्यं च कर्म कुर्युः । अनिर्दिष्टदेशकालकार्योपदेशम् ।

अथ चतुर्थं कण्टकशोधनं नामाधिकरणमारभ्यते। कण्टकानां, कण्टकाः प्रजापीडाकरत्वात् कण्टकतुल्याः कारुकवैदेहकादयः, तेषां शोधनं तेभ्यः प्रजापीडा यथा न भवेत् तथा तच्छमनं कण्टकशोधनम् । तदस्मिन्नधिकरणे प्रस्तुतम् । तत्र प्रथमं सूत्रं— कारुकरक्षणमिति । नाडिन्धमतक्षायस्कारादयः कारुकाः तेभ्यः प्रजानां रक्षणमिति सूत्रार्थः । प्रदेष्टार इति । कण्टकशोधनाधिकृताः प्रदेष्टार इत्याख्यायन्ते । ते त्रयस्त्रयः, अमात्याः जानपदत्वाद्यमात्यगुणयुक्ताः, कण्टकशोधनं कुर्युः । इह वीप्सा कण्टकशोधनस्थानेषु सर्वेष्वपि प्रदेष्टृत्रित्वप्रतिपत्त्यर्था ।

कीदृग्गुणाः कारवः निक्षेपं ग्रहीतुमर्हन्तीत्याह— अर्थ्येत्यादि । अर्थ्यप्रकाराः अर्थानपेतप्रकाराः शुचिस्वभावा इत्यर्थः अर्थनीयस्वभावा वा, अप्रतीकारा इति क्वचित्के पाठे अनाशंसनीयप्रतिकारा इत्यर्थो वाच्यः । कारुशासितारः बहूनां कारूणामधश्वराणामुपरि स्थित्वा कर्तव्योपदेष्टारः, संनिक्षेप्तारः प्रातिवेशिकानुवेशिकसाक्षिकं निक्षेपग्रहणप्रत्यर्पणव्यवहर्तारः, स्ववित्तकारवः स्वधनेनापि भूषणशिल्पकारिणः, एतेन भक्षितनिक्षेपनिष्क्रयार्पणशक्तत्वलक्षणां धनवत्तामाह । श्रेणीप्रमाणाः श्रेणीविधेयाः, उक्तविशेषणपञ्चकयुक्ताः, निक्षेपं गृह्णीयुः । विपत्तौ ग्रहीतृमरणदीर्घप्रवासादिना निक्षेपहानिसंभवे श्रेणी निक्षेपं भजेत भागशो दद्यात् । निर्दिष्टदेशकालकार्यं चेति । अयं देशोऽयं काल इदं च कार्यवस्तुस्वरूपमित्येवं निर्दिष्टं व्यवस्थापितं देशादिकं यस्य तत् तथाभूतं, कर्म कुर्युः । अनिर्दिष्टदेशकालकार्योपदेशं कर्म कुर्युरिति वर्तते । अर्थाद् यद् बहुतरदेशकालैकसाध्यं अनन्योल्लेख्यनानावैचित्र्ययोगकमनीयतया स्वरूपतो निर्देष्टुमशक्यं च भवति, तत् कर्म ।

श्रीमू.

कालातिपातने पादहीनं वेतनं तद्द्विगुणश्च दण्डः । अन्यत्र भ्रेषोपनिपाताभ्यां नष्टं विनष्टं वाभ्यावहेयुः । कार्यस्यान्यथाकरणे वेतननाशस्तद्द्विगुणश्च दण्डः ।

तन्तुवाया दशैकादशिकं सूत्रं वर्धयेयुः । वृद्धिच्छेदे छेदद्विगुणो दण्डः ।

सूत्रमूल्यं वानवेतनम् । क्षौमकौशेयानामध्यर्धगुणम् । पत्त्रोर्णाकम्बलदुकूलानां द्विगुणम् ।

मानहीने हीनावहीनं वेतनं तद्द्विगुणश्च दण्डः । तुलाहीने हीनचतुर्गुणो दण्डः । सूत्रपरिवर्तने मूल्यद्विगुणः । तेन द्विपटवानं व्याख्यातम् ।

ऊर्णातुलायाः पञ्चपलिको विहननच्छेदो रोमच्छेदश्च ।

कालातिपातन इत्यादि । निर्दिष्टकालातिक्रमे पादहीनं वेतनं, तद्द्विगुणश्च दण्डः । अन्यत्र भ्रेषोपनिपाताभ्यामिति । भ्रेषो व्यालकृत उपप्लवः उपनिपातो दैवाग्न्यादिकृतः तदतिरिक्तेन निमित्तेन, नष्टं अत्यन्तनाशं गतं, विनष्टं वा एकदेशलुप्तं वा, अभ्यावहेयुः निर्यातयेयुः । कार्यस्य अन्यथाकरणे निर्दिष्टप्रकारातिरिक्तप्रकारेण करणे, वेतननाशः तद्द्विगुणश्च दण्डः ।

तन्तुवायकर्माह— तन्तुवाया इति । कुविन्दकाः, दशैकादशिकं सूत्रं वर्धयेयुः दशपलस्य सूत्रस्य सकाशिकमेकादशपलाधिकमुतं सूत्रं दद्युः । वृद्धिच्छेदे छेदद्विगुणो, दण्डः ।

वानवेतनमाह— सूत्रमूल्यं वानवेतनमिति । ऊतिकर्मणो वेतनं सूत्रमूल्यं यावत् तावद् दातव्यम् । क्षौमकौशेयानां वानवेतनं अध्यर्धगुणं सूत्रमूल्यसार्धगुणम् । पत्त्रोर्णाकम्बलदुकूलानां वानवेतनं द्विगुणं सूत्रमूल्यद्विगुणम् ।

मानहीने इति । निर्दिष्टायामविस्तारहानौ, हीनावहीनं हीनस्यावहीनं अर्थादष्टहस्तायामचोदनायां सप्त-

(१) कौ. ४।१.

(१) कौ. ४।१.

हस्तायामवाने अष्टमांशहीनं वानवेतनं, देयम्। तद्द्विगुणश्च दण्डः अयथोक्तवानकारिणो भवति। तुलाहीने इति। अन्तरालसूत्रन्यूनतायां, हीनचतुर्गुणो दण्डः। सूत्रपरिवर्तने दत्तं सूत्रमपहृत्यान्यस्य सूत्रस्य प्रतिनिधाने, मूल्यद्विगुणः, दण्डः। एष एवैकसूत्रवानविधिर्द्विसूत्रवानेऽपि ऊह्य इत्याह— तेन द्विपटवानं व्याख्यातमिति।

ऊर्णातुलाया इति। शतपलाया ऊर्णायाः पञ्चपलो विहननच्छेदः विहननं पिञ्जनं शोधनं तन्निमित्तश्छेदः। रोमश्छेदश्च पञ्चपलः, वाननिमित्तः। श्रीमू.

**रजकाः काष्ठफलकश्लक्ष्णशिलासु वस्त्राणि नेनिज्युः। अन्यत्र नेनिजतो वस्त्रोपघातं षट्पणं च दण्डं दद्युः।**

**मुद्गराङ्कादन्यद् वासः परिदधानास्त्रिपणं दण्डं दद्युः। परवस्त्रविक्रयावक्रयाधानेषु च द्वादशपणो दण्डः। परिवर्तने मूल्यद्विगुणो वस्त्रदानं च। मुकुलावदातं शिलापट्टशुद्धं धौतसूत्रवर्णं प्रमृष्टश्वेतं चैकरात्रोत्तरं दद्युः।**

**पञ्चरात्रिकं तनुरागं, षड्रात्रिकं नीलं, पुष्पलाक्षामञ्जिष्ठारक्तं, गुरुपरिकर्म यत्नोपचार्यं जात्यं वासः सप्तरात्रिकम्। ततः परं वेतनहानिं प्राप्नुयुः।**

**श्रद्धेया रागविवादेषु वेतनं कुशलाः कल्पयेयुः।**

रजककर्माह— रजका इत्यादि। ते, काष्ठफलकश्लक्ष्णशिलासु काष्ठफलकेषु मसृणशिलासु च, वस्त्राणि नेनिज्युः शोधयेयुः। अन्यत्र खरशिलादौ नेनिजतः नेजनं कुर्वन्तः, णिजेरभ्यस्तात्छतरि जसि रूपमिदम्। वस्त्रोपघातं, षट्पणं दण्डं च दद्युः।

मुद्गराङ्कादित्यादि। मुद्गरायुधप्रतिमोपरञ्जितात्। शेषं सुबोधम्। अर्पितवस्त्रप्रत्यर्पणकालनियमं तदतिक्रमे दण्डं चाह— मुकुलावदातमिति। मुकुलवन्मसृणसितं, शिलापट्टशुद्धं शिलापट्टस्वच्छं, धौतसूत्रवर्णं क्षालितसूत्रधवलं, प्रमृष्टश्वेतं च अत्यन्तधवलं च, एवं चतुष्प्रकारधावल्यं वस्त्रं, एकरात्रोत्तरं पूर्वपूर्वापेक्षया एकरात्राधिकप्रत्यर्पणकालमुत्तरोत्तरं यस्मिंस्तत् तथाभूतं दद्युः। तत्राद्यं मुकुलावदातमेकरात्रेण प्रत्यर्पणीयं द्वितीयं द्विरात्रेण तृतीयं त्रिरात्रेण चतुर्थं चतूरात्रेणेति व्यवस्था।

रञ्जनार्थान् दिवसानाह— पञ्चेत्यादि। तनुरागं शोणशिलावृक्षत्वग्योगसाधितकषायरञ्जनीयं वस्त्रं, पञ्चरात्रिकं पञ्चरात्रेण देयम्। नीलं नील्या महारसया रक्तं, पुष्पलाक्षामञ्जिष्ठारक्तं, पुष्पं कुङ्कुमकुसुम्भशेफालिकादि, लाक्षा अलक्तः, मञ्जिष्ठा अञ्जनवल्लिकाख्या, आभिः रञ्जितं, षड्रात्रिकम्। गुरुपरिकर्म बहुशिल्पं, अत एव यत्नोपचार्यं यत्नसंस्कार्यं, जात्यं प्रशस्तं, वासः नेत्रादि, सप्तरात्रिकं सप्तरात्रप्रत्यर्पणीयम्। ततः परं विहितकालातिक्रमे वेतनहानिं प्राप्नुयुः।

श्रद्धेया इति। आप्ताः, कुशलाः रागगुणपरीक्षानिपुणाः, रागविवादेषु वेतनं कल्पयेयुः। श्रीमू.

**परार्ध्यानां पणो वेतनं मध्यमानामर्धपणः, प्रत्यवराणां पादः।**

**स्थूलकानां माषद्विमाषकं द्विगुणं रक्तकानाम्। प्रथमनेजने चतुर्भागः क्षयः। द्वितीये पञ्चभागः। तेनोत्तरं व्याख्यातम्।**

**रजकैस्तुन्नवाया व्याख्याताः।**

**सुवर्णकाराणाम्। अशुचिहस्ताद् रूप्यं सुवर्णमनाख्याय सरूपं क्रीणतां द्वादशपणो दण्डः, विरूपं चतुर्विंशतिपणः, चोरहस्तादष्टचत्वारिंशत्पणः। प्रच्छन्नविरूपमूल्यहीनक्रयेषु स्तेयदण्डः। कृतभाण्डोपधौ च।**

**सुवर्णान्माषकमपहरतो द्विशतो दण्डः। रूप्यधरणान्माषकमपहरतो द्वादशपणः। तेनोत्तरं व्याख्यातम्।**

**वर्णोत्कर्षमसाराणां योगं वा साधयतः पञ्चशतो दण्डः। तयोरपचरणे रागस्यापहारं विद्यात्।**

रागवेतनमाह — परार्ध्यानामिति। प्रशस्तानां रागाणां, पणो वेतनं, मध्यमानां अर्धपणः, प्रत्यवराणां अधमानां पादः पादपणः।

निर्णेजनभृतिमाह— स्थूलेत्यादि। स्थूलकानां निर्णेजने माषद्विमाषकं माषकं द्विमाषकं वा वेतनं अधम-

(१) कौ. ४।१.

(१) कौ. ४।१.

मध्यमोत्तमानुसारेण कल्प्यम् । रक्तकानां द्विगुणं द्विमाषक-चतुर्माषकादि पूर्ववत् । नेजनावृत्तिकृतमर्घक्षयमाह— प्रथमनेजन इति । तत्र, चतुर्भागः क्षयः क्रयणकालिकमूल्यस्य चतुर्भागो हीयते । द्वितीये नेजने, पञ्चभागः क्षयः, अर्थात् प्रथमनेजनमूल्यस्य । तेनोत्तरं व्याख्यातमिति । अनया रीत्या तृतीयादौ नेजने द्वितीयादिनेजनमूल्यादेः षड्भागादिः क्षयो द्रष्टव्य इत्यर्थः ।

रजकैस्तुन्नवाया व्याख्याता इति । तुन्नवायाः सौचिकाः । तैरपि वस्त्राणां सप्तरात्रेण प्रत्यर्पणं, विनाशितानां प्रथमनेजनाद्यनुसारेण चतुर्भागादिहीनमूल्यदानं च रजकवत् कर्तव्यमित्यर्थः ।

सुवर्णकाराणामिति । संबद्धमभिधीयत इति शेषः । अर्थात् तत्प्रतारणपरिहारोपायोऽभिधीयते । अशुचिहस्तादिति । अशुचयो दासकर्मकरादयः तद्द्वारेण, सरूपं भूषणाद्याकारयुक्तं, रूप्यं सुवर्णं च, अनाख्याय सौवर्णिकमनिवेद्य क्रीणतां, द्वादशपणो दण्डः । विरूपं तत् क्रीणतां चतुर्विंशतिपणः । चोरहस्तात् क्रीणतां, अष्टचत्वारिंशत्पणो दण्डः । प्रच्छन्नविरूपमूल्यहीनक्रयेषु स्तेयदण्ड इति । अन्याविदितं विनाशितरूपं रूप्यसुवर्णं हीनेन मूल्येन क्रीणानस्य चोरदण्डः । कृतभाण्डोपधौ च निर्मितभाण्डपरिवर्तने च, स्तेयदण्ड इति वर्तते । सुवर्णादिति । तस्मात्, माषकं सुवर्णषोडशभागम् । अपहरतः, द्विशतो द्विशतपणो दण्डः । रूप्यधरणात् धरणप्रमाणाद् रूप्यात्, माषकमपहरतः, द्वादशपणो दण्डः । तेनोत्तरं व्याख्यातमिति । अनेन प्रकारेण द्विमाषकाद्यपहारे दण्डद्वैगुण्यादिकं कल्पनीयमित्यर्थः ।

वर्णेत्यादि । वर्णोत्कर्षे, असाराणां हीनवर्णानां, साधयतः, योगं वा सारैरसारयोगं वा साधयतः, पञ्चशतो दण्डः । तयोरिति । कृत्रिमवर्णोत्कर्षस्य असारयुक्तस्य चेत्येतयोः, रागस्य वर्णस्य, अपचरणे यथाविध्यग्निप्रक्षेपेणापगमने, अपहारं विद्यात् ।                                        श्रीमू.

**माषको वेतनं रूप्यधरणस्य । सुवर्णस्याष्टभागः । शिक्षाविशेषेण द्विगुणा वेतनवृद्धिः । तेनोत्तरं व्याख्यातम् ।**

(१) कौ. ४।१.

**ताम्रवृत्तकंसवैकृन्तकारकूटानां पञ्चकं शतं वेतनम् । ताम्रपिण्डो दशभागक्षयः । पलहीने हीनद्विगुणो दण्डः । तेनोत्तरं व्याख्यातम् ।**

**सीसत्रपुपिण्डो विंशतिभागक्षयः । काकणी चास्य पलवेतनम् । कालायसपिण्डः पञ्चभागक्षयः । काकणीद्वयं चास्य पलवेतनम् । तेनोत्तरं व्याख्यातम् ।**

**रूपदर्शकस्य स्थितां पणयात्रामकोप्यां कोपयतः कोप्यामकोपयतो द्वादशपणो दण्डः ।**

**व्याजीपरिशुद्धा पणयात्रा । पणान्माषकमुपजीवतो द्वादशपणो दण्डः । तेनोत्तरं व्याख्यातम् ।**

**कूटरूपं कारयतः प्रतिगृह्णतो निर्यापयतो वा सहस्रं दण्डः । कोशे प्रक्षिपतो वधः ।**

**सरकपांसुधावकाः सारत्रिभागं लभेरन् । द्वौ राजा रत्नं च । रत्नापहार उत्तमो दण्डः ।**

**खनिरत्ननिधिनिवेदनेषु षष्ठमंशं निवेत्ता लभेत । द्वादशमंशं भृतकः ।**

कर्मवेतनमाह— माषको वेतनं रूप्यधरणस्येति । धरणप्रमाणस्य रूप्यस्य शिल्पकरणे रूप्यमाषक एको वेतनम् । सुवर्णस्य षोडशमाषकमितस्य स्वर्णस्य शिल्पे, अष्टभागः सुवर्णमाषस्याष्टमांशः, वेतनम् । शिक्षाविशेषेण शिल्पवैचित्र्येण, द्विगुणा वा वेतनवृद्धिः । तेनोत्तरं व्याख्यातमिति । अनेन प्रकारेण गुरुशिल्पकरणे वेतनवृद्धिः कल्पनीया ।

ताम्रवृत्तकंसवैकृन्तकारकूटानामिति । ताम्रादीनां पञ्चानां, पञ्चकं शतं तुलाप्रमाणस्य कर्मणि पञ्चपणं वेतनम् । कर्मणि क्षयमानमाह— ताम्रपिण्ड इति । दशभागक्षयः कर्मकरणे दशभागहानिर्भवति । पलहीन इत्यादि । कर्मण्येकपलहानौ, हीनद्विगुणो दण्डः । एवं द्विपलादिहानौ दण्डविधिरूह्य इत्याह— तेनोत्तरं व्याख्यातमिति ।

सीसत्रपुपिण्ड इत्यादि । सुबोधम् ।

रूपदर्शकस्येति । पणपरीक्षको रूपदर्शकः तस्य, स्थितां वर्तमानां, पणयात्रामकोप्यां अदूषणीयं पणव्यवहारं, कोपयतः दूषयतः, कोप्यामकोपयतः दूषणीयामदूषयतः, द्वादशपणो दण्डः ।

व्याजीपरिशुद्धा पण्यात्रेति। राजदेयं शते पञ्चभागं दत्त्वा पण्ययात्रां कुर्यात्। पणादिति। पणात् माषकं उपजीवतः एकस्मिन् शुद्धे पणे माषमेकं हरतः लक्षणाध्यक्षस्य, द्वादशपणो दण्डः। एवमुपजीवनबहुत्वे, दण्डबहुत्वमूह्यमित्याह — तेनोत्तरमित्यादि।

कूटरूपमिति। कपटनाणकं, कारयतः, प्रतिगृह्णतः स्वीकुर्वतः, निर्यापयतो वा निर्गमयतो वा, सहस्रं पणसहस्रं, दण्डः। कोशे प्रक्षिपतः अकूटरूपैः सह मिश्रयतः, वधः।

सरकेत्यादि। सरकपांसुधावकाः सरकं रत्नं खनिषु रत्नसंपृक्तपांसुधावनकर्मकराः, सारत्रिभागं तत्कर्मलब्धसारवस्तुत्रिभागं लभेरन्। द्वौ सारत्रिभागौ, रत्नं च, राजा लभेत। रत्नापहारे उत्तमो दण्डः, सरकपांसुधावकानाम्।

खनिरत्ननिधिनिवेदनेष्विति। खन्यादीनामनर्हहस्तगतानां राज्ञे निवेदनेषु, षष्ठं अंशं, निवेत्ता निवेदयिता, लभेत। भृतकः खन्यादिनिवेदनवृत्तिः, द्वादशमंशं लभेत। श्रीमू.

**शतसहस्रादूर्ध्वं राजगामी निधिः। ऊने षष्ठमंशं दद्यात्। पौर्वपौरुषिकं निधिं जानपदः शुचिः स्वकरणेन समग्रं लभेत। स्वकरणाभावे पञ्चशतो दण्डः। प्रच्छन्नादाने सहस्रम्।**[1]

**भिषजः प्राणाबाधिकमनाख्यायोपक्रममाणस्य विपत्तौ पूर्वः साहसदण्डः। कर्मापराधेन विपत्तौ मध्यमः। मर्मवेधवैगुण्यकरणे दण्डपारुष्यं विद्यात्।**

निधिः कियद्द्रव्यमानादूर्ध्वं राजगामीत्याह— शतसहस्रादित्यादि। तावत्पणमानपर्यन्तस्तूपलब्धृगामीत्यर्थः। ऊने, षष्ठं अंशं, दद्याद् राज्ञे। पौर्वपौरुषिकमिति। पितृपितामहादयः पूर्वपुरुषाः तैः स्थापितं, निधिं, जानपदः, शुचिः सद्वृत्तः, स्वकरणेन साक्ष्यलेख्यादिभिः स्वत्वविभावनेन, समग्रं लभेत शतसहस्रातिगमपि। स्वकरणाभावे पञ्चशतो दण्डः। प्रच्छन्नादाने अप्रकाश्य स्वायत्तीकरणे, सहस्रं दण्डः।

प्राणबाधाकरं रोगमनिवेद्य राज्ञे, रोगिणं चिकित्सतो वैद्यस्य तद्विपत्तौ पूर्वः साहसदण्डः, चिकित्सादोषेण तद्विपत्तौ मध्यम इत्याह— भिषज इत्यादि। मर्मवेधवैगुण्यकरण इति। मर्मणि शस्त्रक्रियान्यथाकरणे, दण्डपारुष्यं विद्यात् तदाख्येन विवादपदेन भिषजमभियुञ्जीत, भिषक्क्रियादोषेण रोगिणो यदङ्गमुपहतं तद् भिषज उपहन्यादित्यर्थः। श्रीमू.

**कुशीलवा वर्षारात्रिमेकस्था वसेयुः। कामदानमतिमात्रमेकस्यातिवादं च वर्जयेयुः। तस्यातिक्रमे द्वादशपणो दण्डः। कामं देशजातिगोत्रचरणमैथुनापहाने नर्मयेयुः।**

**कुशीलवैश्चारणा भिक्षुकाश्च व्याख्याताः। तेषामयश्शूलेन यावतः पणानभिवदेयुः, तावन्तः शिफाप्रहारा दण्डाः। शेषाणां कर्मणां निष्पत्तिवेतनं शिल्पिनां कल्पयेत्।**[1]

**एवं चोरानचोराख्यान् वणिक्कारुकुशीलवान्।**<br>**भिक्षुकान् कुहकांश्चान्यान् वारयेद् देशपीडनात्॥**

कुशीलवा इति। लङ्घनप्लवनगीतादिवृत्तयः, वर्षारात्रिं वर्षाकालिकरात्रीः, एकस्था वसेयुः एकं स्थानमाश्रित्य वसेयुः, न तु स्थानात् स्थानान्तरं गच्छन्तः स्ववृत्तिमनुतिष्ठेयुः, तदनुष्ठाने हि सति कर्षकाणां तदासङ्गात् कृषिकर्मणे (णो) वर्षाकालकरणीयस्योपघातः स्यादिति। कामदानमतिमात्रमिति। प्रीतिवशात् केनचित् न्याय्यां मात्रामतिक्रम्य दीयमानं द्रव्यं, वर्जयेयुः न स्वीकुर्युः। एकस्यातिवादं च बहुषु मध्ये एकस्यातिस्तुतिं च, वर्जयेयुः। तस्यातिक्रमे द्वादशपणो दण्डः। काममिति। देशजातिगोत्रचरणमैथुनापहाने चरणः शाखाध्येता शेषं प्रतीतं, देशजात्याद्युपहासादिपरिहारे सति, कामं नर्मयेयुः विनोदयेयुः प्रेक्षकान्।

कुशीलवोक्तमेव विधानं चारणानां भिक्षुकाणां च द्रष्टव्यमित्याह— कुशीलवैरित्यादि। चारणाः अङ्गविक्षेपमात्रकर्तारः। तेषां निर्धनानां दण्डे विशेषमाह— तेषामिति। तेषां, अयश्शूलेन हृदयतोदकत्वाद् अयश्शूलतुल्येन परमर्मोद्घाटनेन निमित्तेन, यावतः पणान्,

(१) कौ. ४।१

(१) कौ. ४।१.

अभिवदेयुः दण्डत्वेन विदध्युर्धर्मस्थाः, तावन्तः विहित-पणतुल्यसंख्याः, शिफाप्रहाराः दण्डाः धनदण्डप्रतिनिधयः कार्याः।

शिल्पिनामुक्तातिरिक्तकर्मविषयं निष्पत्तिर्वेतनमूहनीयमुक्तदिशेत्याह— शेषाणामित्यादि। अध्यायान्ते श्लोकमाह— एवमित्यादि। चोरान् अचोराख्यान् चोरकर्मकुर्वाणान् अपि अचोरसंज्ञान्। कुहकान् ऐन्द्रजालिकान्। श्रीमू.

वैदेहकरक्षणम्

[१]**वैदेहकरक्षणम्। संस्थाध्यक्षः पण्यसंस्थायां पुराणभाण्डानां स्वकरणविशुद्धानामाधानं विक्रयं वा स्थापयेत्। तुलामानभाण्डानि चावेक्षेत, पौतवापचारात्।**

**परिमाणीद्रोणयोरर्धपलहीनातिरिक्तमदोषः। पलहीनातिरिक्ते द्वादशपणो दण्डः। तेन पलोत्तरा दण्डवृद्धिर्व्याख्याता।**

**तुलायाः कर्षहीनातिरिक्तमदोषः। द्विकर्षहीनातिरिक्ते षट्पणो दण्डः। तेन कर्षोत्तरा दण्डवृद्धिर्व्याख्याता।**

**आढकस्यार्धकर्षहीनातिरिक्तमदोषः। कर्षहीनातिरिक्ते त्रिपणो दण्डः। तेन कर्षोत्तरा दण्डवृद्धिर्व्याख्याता।**

**तुलामानविशेषाणामतोऽन्येषामनुमानं कुर्यात्।**

वैदेहकरक्षणमिति सूत्रम्। वैदेहकाः वणिजः कण्टकेषु प्रधानाः, तेभ्यो जनपदस्य रक्षणमभिधीयते इति सूत्रार्थः। 'वणिक्कारुकुशीलवान्' इति वणिक्प्रस्तावात् तद्रक्षणप्रकारो व्युत्पाद्यते। संस्थाध्यक्ष इति। विपणिमार्गाध्यक्षः, पण्यसंस्थायां पण्यशालायां, पुराणभाण्डानां पुराणानां धान्यादिपण्यानां, पुराणत्वोक्तिः कालपरिवाससंभावितगुणयोगार्था, स्वकरणविशुद्धानां विभावितस्वत्वानां, एतच्च चोरितत्वपरिहारार्थम्। आदानं ग्रहणं प्रवेशनं, आधानपाठे निवेशनं, विक्रयं वा, स्थापयेत्। तुलामानभाण्डानि च परिमाण्यादीनि द्रोणाढकादीनि च, अवेक्षेत परीक्षेत, पौतवापचारात् पौतवदोषं परिहर्तुम्।

(१) कौ. ४।२.

परिमाणीद्रोणयोरिति। तुलादण्डधान्यमानविशेषयोः अर्धपलहीनातिरिक्तं अर्धपलन्यूनत्वमर्धपलाधिकत्वं च, अदोषः दोषाभावः। पलहीनातिरिक्ते एकपलह्रानौ तदतिरेके वा, द्वादशपणो दण्डः। तेन पलोत्तरा द्विपलह्रान्यतिरेके चतुर्विंशतिपणो दण्ड इत्यादिरूपा, दण्डवृद्धिः व्याख्याता।

तुलाया इत्यादिस्तुलाया आढकस्येत्यादिराढकस्य चार्धकर्षैककर्षन्यूनातिरिक्तविषयविधानग्रन्थः स्पष्टार्थः।

अनुक्तानां तुलाविशेषमानविशेषाणां हीनातिरिक्तविषयं विधानमुक्तदिशानुमेयमित्याह — तुलामानविशेषाणामित्यादि। श्रीमू.

[१]**तुलामानाभ्यामतिरिक्ताभ्यां क्रीत्वा हीनाभ्यां विक्रीणानस्य त एव द्विगुणा दण्डाः। गण्यपण्येष्वष्टभागं पण्यमूल्येष्वपहरतः षण्णवतिर्दण्डः। काष्ठलोहमणिमयं रज्जुचर्ममृन्मयं सूत्रवल्करोममयं वा जात्यमित्यजात्यं विक्रयाधानं नयतो मूल्याष्टगुणो दण्डः।**

**सारभाण्डमित्यसारभाण्डं, तज्जातमित्यतज्जातं, राढायुक्तमुपधियुक्तं समुद्गपरिवर्तिमं वा विक्रयाधानं नयतो हीनमूल्यं चतुष्पञ्चाशत्पणो दण्डः, पणमूल्यं द्विगुणः, द्विपणमूल्यं द्विशतः। तेनार्घवृद्धौ दण्डवृद्धिर्व्याख्याता।**

**कारुशिल्पिनां कर्मगुणापकर्षमाजीवं विक्रयक्रयोपघातं वा संभूय समुत्थापयतां सहस्रं दण्डः।**

तुलामानाभ्यामतिरिक्ताभ्यामिति। तुलाविशेषेण भाजन्यादिना मानविशेषेण च प्रस्थकुडुबादिनातिरिक्तेन, क्रीत्वा, हीनाभ्यां ताभ्यां, विक्रीणानस्य, त एव द्वादशपणादय एव, द्विगुणा दण्डाः। गण्यपण्येष्विति। तेषु विषये, पण्यमूल्येषु अष्टभागं अपहरतः षण्णवतिर्दण्डः। काष्ठादिमयं पण्यं निकृष्टं श्रेष्ठव्यपदेशेन विक्रयमाधानं च कुर्वतो मूल्याष्टगुणो दण्ड इत्याह काष्ठेत्यादि।

सारेत्यादि। सारभाण्डमित्यसारभाण्डं कर्पूरादिकमकृत्रिमं सारपण्यमित्युक्त्वा तत् कृत्रिमं, हीनमूल्यं पणावरमूल्यं, विक्रयाधानं नयतः, तज्जातमित्यतज्जातं

(१) कौ. ४।२.

तद्देशजमित्युक्त्वा अतद्देशजं, हीनमूल्यं विक्रयाधानं नयतः, राढायुक्तं राढा शोभा तया गुणवद्रत्नलक्षणात् श्रेष्ठरत्नयुक्तं अर्थात् कृत्रिममौक्तिकादिकं, हीनमूल्यं विक्रयाधानं नयतः, उपधियुक्तं कृत्रिमपण्यमिश्रं, हीनमूल्यं विक्रयाधानं नयतः, समुद्रपरिवर्तिमं समुद्रस्य संपुटस्य पूर्वदर्शितस्य परिवर्तेन कृतं कस्मिंश्चित् समुद्गे पण्यं प्रदर्श्यान्यस्मात् समुद्गाद् उद्धृतमित्यर्थः, हीनमूल्यं विक्रयाधानं नयतः, चतुष्पञ्चाशत्पणो दण्डः। पणमूल्यं एकपणमूल्यं असारभाण्डादिकं, विक्रयाधानं नयतः, द्विगुणः उक्तदण्डद्विगुणो दण्डः। द्विपणमूल्यं विक्रयाधानं नयतः, द्विशतः। तेन उक्तप्रकारेण, अर्घवृद्धौ त्रिपणचतुष्पणादिपण्यमूल्यवृद्धौ, दण्डवृद्धिः व्याख्याता।

कारुशिल्पिनामिति। कारूणां शिल्पिनां च, कर्मगुणापकर्षं 'एवंगुणकं भाण्डं निर्मातव्यमि'त्युक्ते 'तादृग्गुणं मा कुरु' इति प्रतिषेधेन कर्मगुणहानिं, संभूय ऐकमत्येन, समुत्थापयतां, आजीवं लाभं, संभूय समुत्थापयतां एकपणवेतनं कर्म पणद्वयवेतनं कल्पयतां, विक्रयक्रयोपघातं वा विक्रयोपघातं वा स्वपण्यविक्रये मूल्यातिरेचनेनोपघातं वा क्रयोपघातं वा परपण्यस्वीकरणे मूल्यपातनेनोपघातं वा, संभूय समुत्थापयतां, सहस्रं दण्डः पणसहस्रं प्रत्येकं दण्डः। श्रीमू.

[1]**वैदेहकानां वा संभूय पण्यमवरुन्धतामनर्घेण विक्रीणतां क्रीणतां वा सहस्रं दण्डः।**

**तुलामानान्तरमर्घवर्णान्तरं वा। धरकस्य मायकस्य वा पणमूल्यादष्टभागं हस्तदोषेणाचरतो द्विशतो दण्डः। तेन द्विशतोत्तरा दण्डवृद्धिर्व्याख्याता।**

**धान्यस्नेहक्षारलवणगन्धभैषज्यद्रव्याणां समवर्णोपधाने द्वादशपणो दण्डः।**

**यन्निसृष्टमुपजीवेयुः, तदेषां दिवससंजातं संख्याय वणिक् स्थापयेत्। क्रेतृविक्रेत्रोरन्तरपतितमदायादन्यं भवति। तेन धान्यपण्यनिचयांश्चानुज्ञाताः कुर्युः। अन्यथानिचितमेषां पण्याध्यक्षो गृह्णीयात्। तेन धान्यपण्यविक्रये व्यवहरेतानुग्रहेण प्रजानाम्।**

(१) कौ. ४१२.

वैदेहकानां वेति। वणिजां च, संभूय ऐकमत्येन, पण्यं अवरुन्धतां अन्यत्र विक्रेतुमविसृजतां, अनर्घेण अयुक्तेन मूल्येन, विक्रीणतां, क्रीणतां वा, सहस्रं दण्डः प्रत्येकम्।

तुलेत्यादि। तुलामानान्तरं आयमान्यादितुलाभ्य उत्पद्यमानो लाभविशेषः प्रस्थादिमानविशेषेभ्य उत्पद्यमानो लाभविशेषश्च, अर्घवर्णान्तरं वा मूल्यभेदनिमित्तो लाभविशेषश्च, पुस्तके लेख्यं इति वाक्यशेषः। धरकस्य तुलाधारकस्य, मायकस्य वा, पणमूल्यादष्टभागं एकपणमूल्यस्याष्टमांशप्रमाणं तुलामानान्तरं, हस्तदोषेण, आचरतः कुर्वतः, द्विशतो दण्डः। तेन उक्तविधिना, द्विशतोत्तरा चतुर्भागाद्याहरणे द्विगुणादिका, दण्डवृद्धिः व्याख्याता।

धान्यस्नेहक्षारलवणगन्धभैषज्यद्रव्याणामिति। धान्यादीनां, समवर्णोपधाने तुल्यवर्णैर्हीनमूल्यैर्धान्यादिभिर्मिश्रणे, द्वादशपणो दण्डः।

यन्निसृष्टमिति। यत् निसृष्टं उपजीव्यत्वेनानुमतं उपजीवेयुः विक्रेत्रादयः। तद् एषां दिवससंजातं प्रतिदिनोत्पन्नं, संख्याय संख्यया परिच्छिद्य, वणिक् स्थापयेत् संस्थाध्यक्षः प्रकल्पयेत्। क्रेतृविक्रेत्रोरन्तरपतितमिति। क्रेतृविक्रेतृशब्दौ क्रयविक्रयोपलक्षकौ, क्रये विक्रये च पण्यानां संस्थाध्यक्षेण स्वयं क्रियमाणे अन्तरागतमधिकं धनं, अदायादन्यं दायाद्नानर्हं अन्याविभाज्यं भवति केवलराजग्राह्यमेव भवतीत्यर्थः। आदायादन्यमिति वृद्धपाठो मातृकासु चिन्त्यार्थः। अदायाद्यमित्येव वा पाठः शुद्धः संभाव्यते। तेनेति। धान्यपण्यनिचयांश्च, तेन संस्थाध्यक्षेण, अनुज्ञाताः कुर्युः। एषां अन्यथानिचितं अननुज्ञातनिचितं, पण्याध्यक्षो गृह्णीयात्। तेनेति। तेन निचितेन, धान्यपण्यविक्रये विषये, प्रजानां अनुग्रहेण व्यवहरेत प्रजानामुपकारो यथा स्यात् तथा समाचरेदित्यर्थः। श्रीमू.

[1]**अनुज्ञातक्रयादुपरि चैषां स्वदेशीयानां पण्यानां पञ्चकं शतमाजीवं स्थापयेत्। परदेशीयानां दशकम्। ततः परमर्घं वर्धयतां क्रये विक्रये वा भावयतां पणशते पञ्चपणाद् द्विशतो दण्डः।**

(१) कौ. ४१२.

तेनार्घवृद्धौ दण्डवृद्धिर्व्याख्याता।

संभूयक्रये चैषां अविक्रीते नान्यं संभूयक्रयं दद्यात्। पण्योपघाते चैषामनुग्रहं कुर्यात् पण्यबाहुल्यात्।

पण्याध्यक्षः सर्वपण्यान्येकमुखानि विक्रीणीत। तेष्वविक्रीतेषु नान्ये विक्रीणीरन्। तानि दिवसवेतनेन विक्रीणीरन् अनुग्रहेण प्रजानाम्।

देशकालान्तरितानां तु पण्यानाम्—
प्रक्षेपं पण्यनिष्पत्तिं शुल्कं वृद्धिमवक्रयम्।
व्ययानन्यांश्च संख्याय स्थापयेदर्घमर्घवित्॥

किं तन्निसृष्टमित्याह---- अनुज्ञातक्रयादुपरि चेति। स्वीकरणकालिकादर्घादुपरि, एषां वणिजां, स्वदेशीयानां स्वदेशभवानां, पण्यानां, पञ्चकं शतं आजीवं स्थापयेत् शते पञ्चपणिकं लाभं व्यवस्थापयेत्। परदेशीयानां पण्यानां, दशकं शतं शते दशपणिकं लाभं स्थापयेत्। ततः परं उक्तलाभादधिकं, अर्घे मूल्यं, वर्धयतां, क्रये विक्रये वा, भावयतां लाभमुत्पादयतां, पणशते पञ्चपणात् पणपञ्चकमात्रलाभभावनादपि, द्विशतो दण्डः। तेनेति। उक्तविधिना, अर्घवृद्धौ अर्घवर्धनेन लाभवर्धने, दण्डवृद्धिः व्याख्याता पणशते दशपणभावनाच्चतुश्शतो दण्ड इत्यादिरीत्या दण्डस्य वृद्धिः व्याख्याता।

संभूयेत्यादि। एषां वणिजां, संभूयक्रये संभूयक्रीते, अविक्रीते अकृतविक्रये सति, अन्यं संभूयक्रयं, न दद्यात् अर्थाद् वणिगन्तरेभ्यः। पण्योपघाते च जलाग्न्यादिजनिते पण्यदूषणे, एषां संभूयक्रयकारिणां, अनुग्रहं उपकारं, कुर्यात्, पण्यबाहुल्यात् पण्यानां बहुत्वे सति। इदमुत्तरवाक्येन वा संबध्यते।

पण्याध्यक्ष इति। सः, सर्वपण्यानि, एकमुखानि विक्रीणीत एकविक्रेतृद्वारेण विक्रीणीत। तेषु सर्वपण्येषु, अविक्रीतेषु सत्सु, अन्ये पूर्वाङ्गीकृतविक्रयकर्मभ्योऽतिरिक्ताः, न विक्रीणीरन्। तानि पण्यानि दिवसवेतनेन दिवसवेतनदानेन, विक्रीणीरन्, प्रजानां, अनुग्रहेण आनुकूल्येन।

देशकालव्यवहितपण्यविषयमाह —— देशकालान्तरितानां तु पण्यानामिति। इदं प्रक्षेपमित्यादिवक्ष्यमाणश्लोकान्वयि।[1] देशव्यवहितानां कालव्यवहितानां च पण्यानां, प्रक्षेपं वस्तुमूल्यं, पण्यनिष्पत्तिं, इदमियता कालेन निष्पद्यत इत्यमुमर्थं, शुल्कं, वृद्धिं, अवक्रयं शकटबलीवर्दादिभाटकं, अन्यान् व्ययांश्च, संख्याय, अर्घं, स्थापयेत् कल्पयेत्, अर्घवित् अर्घविधानाभिज्ञः संस्थाध्यक्षः। श्रीमू.

गूढाजीविनां रक्षा

गूढाजीविनां रक्षा। समाहर्तृप्रणिधौ जनपदरक्षणमुक्तम्। तस्य कण्टकशोधनं वक्ष्यामः।

समाहर्ता जनपदे सिद्धतापसप्रव्रजितचक्रचरचारणकुहकप्रच्छन्दककार्तान्तिकनैमित्तिकमौहूर्तिकचिकित्सकोन्मत्तमूकबधिरजडान्धवैदेहककारुशिल्पिकुशीलववेशशौण्डिकापूपिकपाक्वमांसिकौदनिकव्यञ्जनान् प्रणिदध्यात्। ते ग्रामाणामध्यक्षाणां च शौचाशौचं विद्युः। यं चात्र गूढजीविनं शङ्केत, तं सत्रिसवर्णेनापसर्पयेत्। धर्मस्थं प्रदेष्टारं वा विश्वासोपगतं सत्री ब्रूयात्--- असौ मे बन्धुरभियुक्तः, तस्यायमनर्थः प्रतिक्रियतां, अयं चार्थः प्रतिगृह्यतां इति। स चेत् तथा कुर्यात्, उपदाग्राहक इति प्रवास्येत।

तेन प्रदेष्टारो व्याख्याताः।

गूढाजीविनां रक्षेति सूत्रम्। गूढाजीविनः प्रच्छन्नलञ्चग्रहणजीवनाः कूटसाक्ष्यादयः तेषां रक्षा वारणं प्रतिक्रियाभिधीयत इति सूत्रार्थः। प्रकटकण्टकाः प्रच्छन्नकण्टका इति द्विविधेषु कण्टकेषु कार्वादिप्रकटकण्टकरक्षणं पूर्वमुक्तं, प्रच्छन्नकण्टकरक्षणं त्वधुनोच्यते। समाहर्तृप्रचारे जनपदरक्षणस्योक्तत्वात् पुनरपि रक्षणप्रस्तावः किमर्थ इत्याशङ्क्य गूढकण्टकेभ्यो रक्षणस्यानुक्तस्याभिधानार्थ इत्यभिप्रायवानाह समाहर्तृप्रणिधावित्यादि।

गूढकण्टकपरिज्ञानार्थमपसर्पप्रणिधानमाह ---- समाहर्तेत्यादि। सिद्धतापसेत्यादिपदे चक्रचरः अश्वस्तनिकः, प्रच्छन्दकः स्वच्छन्दचरः, वेशो वेश्यावाटचरः, शेषाः प्रतीताः। त इत्यादि। ते सिद्धतापसादिव्यञ्जनाः। प्रणिहिताः, ग्रामाणां ग्राममुख्यानां, अध्यक्षाणां च, शौचाशौचं विद्युः। यं चेति। अत्र ग्राममुख्येषु अध्यक्षेषु च, यं गूढजीविनं शङ्केत, तं, सत्रिसवर्णेन सत्रिणा

(१) कौ. ४१४.

सवर्णेन, अपसर्पयेत् सापसर्पं कुर्यात् । धर्मस्थं, ' प्रदेष्टारं वे'ति प्रक्षिप्तं प्रतिभाति । विश्वासोपगतं विश्वस्तं, सत्री प्रणिहितः, ब्रूयात् । वचनप्रकारः—असौ मे बन्धुरित्यादि । स्पष्टार्थम् ।

तेनेति । उक्तेन धर्मस्थविधानेन, प्रदेष्टारः कण्टकशोधनाधिकृताः, व्याख्याताः उक्तविधाना बोद्धव्याः ।

श्रीमू.

[1]ग्रामकूटमध्यक्षं वा सत्री ब्रूयात्— असौ जाल्मः प्रभूतद्रव्यः, तस्यायमनर्थः । तेनैनमाहारयस्वेति । स चेत् तथा कुर्याद्, उत्कोचकः इति प्रवास्येत ।

कृतकाभियुक्तो वा कूटसाक्षिणोऽभिज्ञातानर्थवैपुल्येन आरभेत । ते चेत् तथा कुर्युः, कूटसाक्षिण इति प्रवास्येरन् ।

तेन कूटश्रावणकारका व्याख्याताः ।

यं वा मन्त्रयोगमूलकर्मभिः श्माशानिकैर्वा संवननकारकं मन्येत, तं सत्री ब्रूयात्— अमुष्य भार्यां स्नुषां दुहितरं वा कामये । सा मां प्रतिकामयतां, अयं चार्थः प्रतिगृह्यताम् इति । स चेत् तथा कुर्यात् संवननकारक इति प्रवास्येत ।

तेन कृत्याभिचारशीलौ व्याख्यातौ ।

ग्रामकूटमिति । ग्राममुख्यं, अध्यक्षं वा, सत्री ब्रूयात्, किमिति, असौ जाल्मोऽसमीक्ष्यकारी, प्रभूतद्रव्यः प्रचुरधनः । तस्य अयं अनर्थः आपतित इति शेषः । तेन उपस्थितानर्थापदेशेन, एनं धनिकं, आहारयस्व अर्थात् सर्वस्वं, इति । स चेदित्यादि स्पष्टम् ।

कूटसाक्षिपरीक्षणमाह— कृतकाभियुक्तो वेति । मृषाभियुक्तः सत्री, कूटसाक्षिणः अभिज्ञातान् शङ्कितान्, अर्थवैपुल्येन प्रभूतधनार्पणोपधया, आरभेत प्रलोभयेत् । ते चेदित्यादि स्पष्टम् ।

तेनेति । उक्तेन कूटसाक्षिविधानेन, कूटश्रावणकारकाः अगृहीत एव ऋणे 'ऋणममुकेन मत्सकाशादेतावद् गृहीतमि'त्येवं मृषार्थं प्रातिवेशिकानानुवेशिकांश्च साक्ष्यार्थं ये श्रावयन्ति त एते कूटश्रावयितारः, व्याख्याताः उक्तविधाना बोद्धव्याः ।

(१) कौ. ४१४.

यं वेत्यादि । यं वा पुरुषं, मन्त्रयोगमूलकर्मभिः मन्त्रोपायैरौषधप्रयोगैश्च, श्माशानिकैर्वा श्मशानकरणीयकर्मभिर्वा, संवननकारकं वशीकरणकर्तारं मन्येत, तं सत्री ब्रूयात्, किमिति, अमुष्य भार्यामित्यादि । सुबोधम् ।

तेनेत्यादि । कृत्याभिचारशीलौ कृत्याशीलः पिशाचावेशनकर्ता अभिचारशीलो मन्त्रप्रयोगेण मारणशीलः ।

श्रीमू.

[1]यं वा रसस्य वक्तारं क्रेतारं विक्रेतारं भैषज्याहारव्यवहारिणं वा रसदं मन्येत, तं सत्री ब्रूयात् असौ मे शत्रुस्तस्योपघातः क्रियतां अयं चार्थः प्रतिगृह्यतां इति । स चेत् तथा कुर्याद्, रसद इति प्रवास्येत । तेन मदनयोगव्यवहारी व्याख्यातः ।

यं वा नानालोहक्षाराणां अङ्गारभस्त्रासंदंशमुष्टिकाधिकरणीबिम्बटङ्कमूषाणामभीक्ष्णं क्रेतारं मषीभस्मधूमदिग्धहस्तवस्त्रलिङ्गं कर्मारोपकरणसंवर्गं कूटरूपकारकं मन्येत, तं सत्री शिष्यत्वेन संव्यवहारेण चानुप्रविश्य प्रज्ञापयेत् । प्रज्ञातः कूटरूपकारक इति प्रवास्येत ।

तेन रागस्यापहर्ता कूटसुवर्णव्यवहारी च व्याख्यातः ।

आरब्धारस्तु हिंसाया गूढाजीवास्त्रयोदश ।
प्रवास्या निष्क्रयार्थं वा दद्युर्दोषविशेषतः ॥

यं वा रसस्येत्यादि । रसस्य विषस्य । भैषज्याहारव्यवहारिणं भेषजाभ्यवहार्ययोर्विषोपयोजनशीलम् । शेषं सुगमम् । तेनेति । उक्तेन रसदविधानेन, मदनयोगव्यवहारी मदनयोगः मदजनकौषधदानोपायः तद्व्यवहारी, व्याख्यातः ।

यं वेति । यं वा, नानालोहक्षाराणां नानाजातीयानां लोहानां क्षाराणां च, अङ्गारादीनां अङ्गारो निर्वाणाग्निकमिन्धनं भस्त्रा ध्मानदृतिः संदंशः कङ्कमुखः मुष्टिका कर्मारोपकरणभेदः अधिकरणी लोहाभिघाताधारः, बिम्बः प्रतिमा, टङ्कः दारणः, मूषा ताम्राद्यावर्तनी, इत्येतासां, अभीक्ष्णं क्रेतारं, मषीभस्मधूमदिग्धहस्तवस्त्रलिङ्गं

(१) कौ. ४१४.

मध्याद्युपलिप्तहस्तवस्त्रचिह्नं, कर्मारोपकरणसंवर्गं अयस्कारकर्मसाधनसंग्रहं, कूटरूपकारकं मन्येत, तं सत्री शिष्यत्वेन, संव्यवहारेण च परस्परव्यवहरणेन च, अनुप्रविश्य आश्रित्य, प्रज्ञापयेत् ईदृग्व्यापारोऽयमिति राज्ञे निवेदयेत्। प्रज्ञातः तथा विदितः, कूटरूपकारक इति, प्रवास्येत।

तेनेति। उक्तेन विधानेन, रागस्यापहर्ता स्वर्णादिवर्णकस्य हानिकर्ता, कूटसुवर्णव्यवहारी च, व्याख्यातः उक्तविधानो द्रष्टव्यः।

आरब्धारस्त्विति। हिंसायाः लोकोपद्रवस्य, आरब्धारः कर्तारः, गूढाजीवाः त्रयोदश धर्मस्थः प्रदेष्टा ग्राममुख्यः अध्यक्षः कूटसाक्षी कूटश्रावकः संवननकर्ता कृत्याशीलः अभिचारशीलः रसदः मदनयोगव्यवहर्ता कूटरूपकर्ता कूटसुवर्णव्यवहारीत्युक्तास्त्रयोदशसंख्याः, प्रवास्याः स्वदेशान्निष्कासयितव्याः। दोषविशेषतो निष्क्रयार्थं वा दद्युः अपराधतारतम्येन दण्डं च दद्युः। श्रीमू.

सिद्धव्यञ्जनैर्माणवप्रकाशनम्

[1]**सिद्धव्यञ्जनैर्माणवप्रकाशनम्। सत्रिप्रयोगादूर्ध्वं सिद्धव्यञ्जना माणवा माणवविद्याभिः प्रलोभयेयुः। प्रस्वापनान्तर्धानद्वारापोहमन्त्रेण प्रतिरोधकान्, संवननमन्त्रेण पारतल्पिकान्।**

**तेषां कृतोत्साहानां महान्तं संघमादाय रात्रावन्यं ग्राममुद्दिश्यान्यं ग्रामं कृतकस्त्रीपुरुषं गत्वा ब्रूयुः— इहैव विद्याप्रभावो दृश्यताम्। कृच्छ्रः परग्रामो गन्तुं इति। ततो द्वारापोहमन्त्रेण द्वाराण्यपोह्य, 'प्रविश्यताम्' इति ब्रूयुः। अन्तर्धानमन्त्रेण जाग्रतामारक्षिणां मध्येन माणवानतिक्रामयेयुः। प्रस्वापनमन्त्रेण प्रस्वापयित्वा रक्षिणः शय्याभिर्माणवैः संचारयेयुः। संवननमन्त्रेण भार्याव्यञ्जनाः परेषां माणवैः संमोदयेयुः।**

सिद्धव्यञ्जनैर्माणवप्रकाशनमिति सूत्रम्। सिद्धव्यञ्जनाः मुण्डजटिलादयः पूर्वोक्ताः तैः माणवानां चोरपारदारिकादीनां कुपुरुषाणां प्रकाशनमिति सूत्रार्थः। कण्टकविशेषपरिज्ञानोपायः सत्रिप्रयोग उक्तः, अपर इदानीमभिधीयते। सत्रिप्रयोगादिति। तत ऊर्ध्वं, सिद्धव्यञ्जना माणवाः, माणवविद्याभिः प्रस्वापनान्तर्धानादिकारिभिः कुमन्त्रैः, प्रलोभयेयुः, अर्थात् कण्टकान्। तत्र विशेषमाह— प्रस्वापनेत्यादि। प्रतिरोधकान् चोरान्। पारतल्पिकान् पारदारिकान्।

तेषामित्यादि। तेषां प्रतिरोधकपारतल्पिकानाम्। कृतोत्साहानां स्वव्यापाराकुतोभयानुष्ठानमार्गप्रदर्शकसिद्धलाभजनितोत्साहानां, महान्तं संघं आदाय रात्रौ अन्यं ग्रामं उद्दिश्य, प्रस्थिता इति शेषः, अन्यं उद्दिष्टग्रामादितरं, ग्रामं, कृतकस्त्रीपुरुषं कृतकाः कृत्रिमाः स्वप्रवृत्त्यानुकूल्याय दत्तसंकेताः स्वविधेयाः स्त्रीपुरुषा यस्मिंस्तं तथाभूतं, गत्वा ब्रूयुः। किमिति, इहैव अस्मिन्नेव ग्रामे, विद्याप्रभावः प्रस्वापनादिमन्त्रमहिमा, दृश्यताम्। परग्रामो गन्तुं कृच्छ्रः श्रमवशाद् विदूरत्वाच्चाशक्यः इति। ततो द्वारापोहमन्त्रेण द्वारार्गलापोहनमन्त्रेण, द्वाराण्यपोह्य पूर्वसंकेतापोहितार्गलेष्वेव द्वारेषु अर्गलापोहनमभिनीय प्रविश्यतामिति ब्रूयुः। अन्तर्धानमन्त्रेण, जाग्रतां जाग्रत्स्वेऽपि संकेतवशादपश्यन्तमिवात्मानमभिनयतां, आरक्षिणां मध्येन, माणवान् अतिक्रामयेयुः। प्रस्वापनमन्त्रेण, रक्षिणः, प्रस्वापयित्वा अस्वपत एव स्वापाभिनयं कारयित्वा, शय्याभिः रक्षिशयनीयवर्त्मना, माणवैः संचारयेयुः। प्रस्वापयित्वेति ल्यबकरणं समासाविवक्षया। प्रतिरोधकप्रत्यायकमुक्त्वा पारतल्पिकप्रत्यायकमाह— संवननेत्यादि। संवननमन्त्रेण, परेषां भार्याव्यञ्जनाः परदारच्छलधारिणीः पूर्वदत्तसंकेता एव वनिताः, माणवैः, संमोदयेयुः वशीकरणाभिनयद्वारेण सङ्गसुखमनुभावयेयुः। श्रीमू.

[1]**उपलब्धविद्याप्रभावानां पुरश्चरणाद्यादिशेयुरभिज्ञानार्थम्। कृतलक्षणद्रव्येषु वा वेश्मसु कर्म कारयेयुः, अनुप्रविष्टान् वैकत्र ग्राहयेयुः।**

**कृतलक्षणद्रव्यक्रयविक्रयाधानेषु योगसुरामत्तान् वा ग्राहयेयुः। गृहीतान् पूर्वापदानसहायाननुयुञ्जीत। पुराणचोरव्यञ्जना वा चोराननुप्रविष्टास्तथैव कर्म कारयेयुः ग्राहयेयुश्च।**

**गृहीतान् समाहर्ता पौरजानपदानां दर्शयेत्— चोरग्रहणीं विद्यामधीते राजा, तस्योपदेशादिमे**

(१) कौ. ४।५.

(१) कौ. ४।५.

**चोरा गृहीताः, भूयश्च ग्रहीष्यामि, वारयितव्यो वः स्वजनः पापाचारः इति ।**

उपलब्धविद्याप्रभावानामिति । एवं प्रत्यक्षदृष्टमन्त्रमहिम्नां, पुरश्चरणादि पुरश्चरणप्रभृतिकं मन्त्रसिद्ध्यङ्गं कर्म, आदिशेयुः, अभिज्ञानार्थं स्मरणार्थम् । कृतलक्षणद्रव्येषु वेति । कृतस्वामिचिह्नद्रव्योपेतेषु, वेश्मसु, कर्म चौर्यं, कारयेयुः, पूर्वोक्तान् गृहीतमन्त्रान् माणवान् । अनुप्रविष्टान् वा अन्तः प्रविष्टांश्च, एकत्र क्वचिद् गृहे, ग्राहयेयुः ।

कृतलक्षणद्रव्यक्रयविक्रयाधानेष्विति । कृतलक्षणद्रव्याणां मुष्टानां क्रयणविक्रयणाधीकरणावसरेषु, योगसुरामत्तान् वा भेषजयुक्तमद्यपानमत्तान् वा, ग्राहयेयुः । गृहीतान् तथाग्रहणं प्राप्तान् माणवान्, पूर्वापदानसहायान् पूर्वकृतानि चौर्याणि चौर्यसहायांश्च, अनुयुञ्जीत पृच्छेत् । पुराणचोरव्यञ्जना वेति । पुरातनतस्करच्छद्मानो वा भूत्वा, चोरान् अनुप्रविष्टाः, तथैव पूर्वोक्तरीत्यैव, कर्म कारयेयुः ग्राहयेयुश्च ।

गृहीतानिति । ग्रहणं प्राप्तांश्चोरान्, समाहर्ता, पौरजानपदानां दर्शयेत् । किं कृत्वा, चोरग्रहणीं विद्यामधीते राजेत्याद्युक्त्वा । श्रीमू.

**[1]यं चात्रापसर्पोपदेशेन शम्याप्रतोदादीनामपहर्तारं जानीयात्, तमेषां प्रत्यादिशेद्— एष राज्ञः प्रभाव इति ।**

**पुराणचोरगोपालकव्याधश्वगणिनश्च वनचोराटविकाननुप्रविष्टाः प्रभूतकूटहिरण्यकुप्यभाण्डेषु सार्थव्रजग्रामेष्वेनानभियोजयेयुः । अभियोगे गूढबलैर्घातयेयुः, मदनरसयुक्तेन वा पथ्यादनेन । अनुगृहीतलोप्त्रभारानायतगतपरिश्रान्तान् प्रस्वपतः प्रहवणेषु योगसुरामत्तान् वा ग्राहयेयुः ।**

**पूर्ववच्च गृहीत्वैनान् समाहर्ता प्ररूपयेत् ।**
**सर्वज्ञख्यापनं राज्ञः कारयन् राष्ट्रवासिषु ॥**

यं चात्रेति । यं च जनं, अत्र पुरादौ, शम्याप्रतोदादीनां अपहर्तारं युगकीलकतोत्रादीनां चोरयितारं, अपसर्पोपदेशेन जानीयात्, तं, एषां पौरजानपदानां, प्रत्यादिशेत् प्रज्ञापयेत्, किं कृत्वा, एष राज्ञः प्रभाव इति अत्यल्पविषयस्यापि चौर्यस्येदं परिज्ञानं राज्ञो माहात्म्यकृतमित्युक्त्वा ।

वनचोरग्रहणोपायमाह — पुराणचोरेत्यादि । पुराणचोराः गोपालकाः व्याधाः श्वगणिनश्च, राजपुरुषभूता इति शेषः, वनचोराटविकान् वनचोरान् अटवीचरान् पुलिन्दादींश्च, अनुप्रविष्टाः, प्रभूतकूटहिरण्यकुप्यभाण्डेषु प्रभूतानि प्रचुराणि कूटानि फालानि हिरण्यानि कुप्यभाण्डानि च येषु तेषु तथाभूतेषु, सार्थव्रजग्रामेषु वणिक्संघगतागतमार्गेषु गोष्ठेषु ग्रामेषु च, एनान् वनचोराटविकान्, अभियोजयेयुः चौर्यायोद्योजयेयुः । अभियोगे आरब्धे सति, गूढबलैः गूढसैन्यैः, घातयेयुः । मदनरसयुक्तेन मोहजनकविषयुक्तेन, पथ्यादनेन वा पथिभोजनेन वा, घातयेयुः । अनुगृहीतलोप्त्रभारान् उपगृहीतमुष्टद्रव्यभारान्, आयतगतपरिश्रान्तान्, दीर्घाध्वगमनपरिखिन्नान्, अत एव प्रस्वपतः एनान्, ग्राहयेयुः । प्रहवणेषु तुष्टिभोजनदानेषु, योगसुरामत्तान् वीर्यवन्मद्यपानमत्तान् वा, ग्राहयेयुः ।

अध्यायान्ते श्लोकमाह— पूर्ववच्चेति । समाहर्ता, पूर्ववत् पूर्वोक्तपुरराष्ट्रचोरवत्, एनान् वनचोराटविकान्, गृहीत्वा, राज्ञः सर्वज्ञख्यापनं 'चोरग्रहणीं विद्यामधीते राजा सर्वांश्चोरान् जानाति तत्प्रभावादिमे चोरा गृहीताः' इत्येवं सर्वज्ञत्वख्यापनं, कारयन्, राष्ट्रवासिषु, प्ररूपयेद् दर्शयेत् । श्रीमू.

शङ्कारूपकर्माभिग्रहः

**[1]शङ्कारूपकर्माभिग्रहः । सिद्धप्रयोगादूर्ध्वं शङ्कारूपकर्माभिग्रहः । क्षीणदायकुटुम्बमल्पनिर्वेशं विपरीतदेशजातिगोत्रनामकर्मापदेशं प्रच्छन्नवृत्तिकर्माणं मांससुराभक्ष्यभोजनगन्धमाल्यवस्त्रविभूषणेषु प्रसक्तमतिव्ययकर्तारं पुंश्चलीद्यूतशौण्डिकेषु प्रसक्तमभीक्ष्णप्रवासिनमविज्ञातस्थानगमनमेकान्तारण्यनिष्कुटविकालचारिणं प्रच्छन्ने सामिषे वा देशे बहुमन्त्रसंनिपातं सद्यःक्षतव्रणानां गूढप्रतिकारयितारं अन्तर्गृहनित्यमभ्यधिगन्तारं कान्तापरं परपरि-**

---

(१) कौ. ४१५.

(१) कौ. ४१६.

**ग्रहाणां परस्त्रीद्रव्यवेश्मनामभीक्ष्णप्रष्टारं कुत्सितकर्मशस्त्रोपकरणसंसर्गं विरात्रे छन्नकुड्यच्छायासंचारिणं विरूपद्रव्याणामदेशकालविक्रेतारं जातवैराशयं हीनकर्मजातिं विगूह्यमानरूपं लिङ्गेनालिङ्गिनं लिङ्गिनं वा भिन्नाचारं पूर्वकृतापदानं स्वकर्मभिरपदिष्टं नागरिकमहामात्रदर्शने गूहमानमपसरन्तमनुच्छ्वासोपवेशिनमाविग्नं शुष्कभिन्नस्वरमुखवर्णं शस्त्रहस्तमनुष्यसंपातत्रासिनं हिंस्रस्तेननिधिनिक्षेपापहारवरप्रयोगगूढाजीविनामन्यतमं शङ्केतेति शङ्काभिग्रहः ।**

शङ्कारूपकर्माभिग्रह इति सूत्रम् । आत्मनः परान् प्रति परेषामात्मानं प्रति चेति शङ्का द्विरूपा रूपं लोप्त्रं कर्म संधिच्छेदादि एतैर्लिङ्गैरभिग्रहः चोराणां ग्रहणमभिधीयत इति सूत्रार्थः । गूढाजीविनां रक्षा प्रक्रान्ता । तत्र सिद्धव्यञ्जनादिभिर्ग्रहीतुं शक्यानां गूढाजीविनां ग्रहणप्रकार उक्तः, तदग्राह्याणां शङ्कारूपकर्मभिर्ग्रहणप्रकार इदानीमुच्यते ।

सिद्धप्रयोगादूर्ध्वमिति । सिद्धव्यञ्जनप्रयोगात् परतः, शङ्कारूपकर्माभिग्रहः, वक्ष्यत इति क्रियाध्याहारः । शङ्काभिग्रहं तावदाह— क्षीणदायकुटुम्बमिति । दायः कुलक्रमागतं द्रव्यं कुटुम्बं कृषिः तदुभयं क्षीणं यस्य तं तथाभूतं, अल्पनिर्वेशं भक्तव्ययापर्याप्तभृतिं कर्मानुरूपनिहीनभृतिं वा, विपरीतदेशजातिगोत्रनामकर्मापदेशं अन्यथाकल्पितदेशजात्यादिव्यवहारं, प्रच्छन्नवृत्तिकर्माणं अन्याविदितवृत्त्यर्थकर्माणं, मांससुरादिष्वष्टसु, प्रसक्तं प्रकर्षेण सक्तं, अतिव्ययकर्तारं, पुंश्चलीद्यूतशौण्डिकेषु प्रसक्तं, अभीक्ष्णप्रवासिनं पौनःपुन्यप्रवासशीलं अविज्ञातस्थानगमनं क्व तिष्ठति क्व गच्छतीत्यन्याविदितस्थानगमनं, एकान्तारण्यनिष्कुटविकालचारिणं विजने स्थानगमनं, वने गृहारामे च विकाले चरणशीलं, प्रच्छन्ने सामिषे वा देशे बहुमन्त्रसंनिपातं अन्यदर्शनागोचरे देशे सामिषे सद्रव्ये धनिकगृहनिकटदेशे वा बहुमन्त्रयन्तं बहुकृत्वो गच्छन्तं च, सद्यःक्षतव्रणानां गूढप्रतिकारयितारं व्रणकारणोद्भेदशङ्कया रहसि चिकित्सयितारं, अन्तर्गृहनित्यं गर्भगृहनित्योपविष्टं, अभ्यधिगन्तारं आगच्छतोऽभिमुखं झटिति गत्वा प्रतिनिवर्तमानं, कान्तापरं स्त्रीलोलं, परपरिग्रहाणां परपरिजनानां, परस्त्रीद्रव्यवेश्मनां अभीक्ष्णप्रष्टारं, कुत्सितकर्मशस्त्रोपकरणसंसर्गं मारणचौर्यादिगर्हितकर्मोपयोगिषु शस्त्रेषु उपकरणेषु परिचयवन्तं, शास्त्रेत्यपि पाठः । विरात्रे अर्धरात्रे, छन्नकुड्यच्छायासंचारिणं छन्नं यथा भवति तथा कुड्यच्छायायां संचरणशीलं, विरूपद्रव्याणां विनष्टस्वरूपाणां द्रव्याणां, अदेशकालविक्रेतारं अदेशे अकाले च विक्रयकारिणं, जातवैराशयं, हीनकर्मजातिं, विगूह्यमानरूपं छाद्यमानस्वरूपं, लिङ्गेनालिङ्गिनं अनुपात्तलिङ्गिचिह्नं लिङ्गिव्रतेन युक्तं, लिङ्गिनं वा भिन्नाचारं उपात्तलिङ्गिचिह्नं वा लिङ्गिव्रतरहितं, पूर्वकृतापदानं पूर्वमन्यत्र कृतचौर्यं, स्वकर्मभिरपदिष्टं परदारग्रहणादिभिः ख्यातं, नागरिकमहामात्रदर्शने नगररक्षिपुरुषस्य महामात्रस्य च दर्शने, गूहमानमपसरन्तं स्वरूपं छादयन्तं निलीय चरन्तं च, अनुच्छ्वासोपवेशिनं तूष्णीं बहिर्भूम्यादावुपवेशनशीलं, आविग्नं भीतं, शुष्कभिन्नस्वरमुखवर्णं शुष्कः क्षामः भिन्नः अयथाप्रकारश्च स्वरो मुखवर्णश्च यस्य तं तथाभूतं, शस्त्रहस्तमनुष्यसंपातत्रासिनं शस्त्रपाणिपुरुषागमनभीरुकं, एवम्भूतैर्विशेषणैर्यथासंभवं युक्तं जनं, हिंस्रस्तेनादीनां हिंस्रो घातुकः स्तेनश्चोरः निधिनिक्षेपापहारो निधिनिक्षेपयोरपहर्ता वरप्रयोगः वरः क्रोधस्तन्निमित्तः प्रयोगः शस्त्रप्रयोगो यस्य स तथाभूतः गूढाजीवी प्रतीतः इत्येतेषां अन्यतमं, शङ्केत । 'वरो ना भूपजामात्रोर्देवादेरीप्सिते क्रुधि' इति केशवः । इति शङ्काभिग्रह इति । व्याख्यात इति शेषः । श्रीमू.

**रूपाभिग्रहस्तु[1] । नष्टापहृतमविद्यमानं तज्जातव्यवहारिषु निवेदयेत् । तच्चेन्निवेदितमासाद्य प्रच्छादयेयुः, साचिव्यकरदोषमाप्नुयुः । अजानन्तोऽस्य द्रव्यस्यातिसर्गेण मुच्येरन् । न चानिवेद्य संस्थाध्यक्षस्य पुराणभाण्डानामाधानं विक्रयं वा कुर्युः ।**

**तच्चेन्निवेदितमासाद्येत, रूपाभिगृहीतमागमं पृच्छेत् — कुतस्ते लब्धं इति । स चेद् ब्रूयाद्— दायाद्यादवाप्तममुष्माल्लब्धं, क्रीतं कारितमाधिप्रच्छन्नं अयमस्य देशः कालश्चोपसंप्राप्तः, अय-**

(१) कौ. ४।६.

**मस्यार्घः प्रमाणं लक्षणं मूल्यं च इति, तस्यागमसमाधौ मुच्येत ।**

**नाष्टिकश्चेत् तदेव प्रतिसंदध्यात्, यस्य पूर्वो दीर्घश्च परिभोगः शुचिर्वा देशस्तस्य द्रव्यमिति विद्यात् । चतुष्पदानामपि हि रूपलिङ्गसामान्यं भवति, किमङ्गपुनरेकयोनिद्रव्यकर्तृप्रसूतानां कुप्याभरणभाण्डानाम् इति ।**

रूपाभिग्रहस्त्विति । वक्ष्यत इति शेषः । नष्टापहृतमिति । प्रमादभ्रष्टं चोरेणापहृतं द्रव्यं, अविद्यमानं, तज्जातव्यवहारिषु तज्जातिद्रव्यव्यवहारिषु, निवेदयेत् । निवेदितं आसाद्य प्रच्छादयेयुश्चेत्, साचिव्यकरदोषं चौर्यसाहाय्यकारिदण्डं, आप्नुयुः । अजानन्तः अमुकस्येदमित्यविदन्तः, अस्य द्रव्यस्य, अतिसर्गेण अर्पणेन, मुच्येरन् अपराधमुक्ताः स्युः । न चेति । संस्थाध्यक्षस्य पण्यसंस्थाधिकारिणः, अनिवेद्य, पुराणभाण्डानां, आधानं विक्रयं वा, न च कुर्युः ।

तच्चेदिति । निवेदितं तद् नष्टापहृतं, आसाद्येत चेत्, रूपाभिगृहीतं जनं, आगमं पृच्छेत् -- कुतस्ते लब्धमिति । स चेद्ब्रूयात्, किमिति, दायाद्यादवाप्तं दायादभावाल्लब्धं, अमुष्माल्लब्धं, क्रीतं, कारितं नवनिर्मापितं, आधिप्रच्छन्नं आधीकरणवशादियन्तं कालमप्रकाशतया स्थितं, अयं अस्य देशः अस्यार्थस्यायं साक्षी यद्वा अस्यायं प्रदेशः, उपसंप्राप्तः उपसंप्राप्तिमान्, अस्यायं कालश्च उपसंप्राप्तिमान्, अयं अस्य अर्घो रूपमूल्यं, इदं प्रमाणं लक्षणं मूल्यं च इदमस्य सुवर्णकर्षादिमानं इदमस्य चिह्नं इदमस्य प्रकृतिमूल्यं, इति, तर्हीति शेषः, तस्य द्रव्यस्य, आगमसमाधौ आगमसमर्थने सति, मुच्येत रूपाभिगृहीतः । अन्यथा तु तस्य चोरदण्ड इत्यार्थम् ।

नाष्टिकश्चेदिति । नाष्टिकोऽभियोक्ता, तदेव प्रतिसंदध्याच्चेत् रूपाभिगृहीतप्रयुक्तमेव समाधानं यदि प्रतिसंदधीत, यस्य रूपाभिगृहीतनाष्टिकयोरन्यतरस्य, पूर्वो, दीर्घश्च, परिभोगः अनुभवः, शुचिर्वा देशः विश्वास्यवचनश्च साक्षी, तस्य द्रव्यमिति, विद्यात् निर्णयेत् । न च तदीयत्वमसंभावितमित्याह --- चतुष्पदानामपि हीति । तेषामपि हि भिन्नयोन्यादिप्रसूतानां, रूपलिङ्गसामान्यं आकृतिसादृश्यं चिह्नसादृश्यं च, भवति । एवं स्थिते इति शेषः, एकयोनिद्रव्यकर्तृप्रसूतानां, कुप्याभरणभाण्डानां कुप्यनिर्मितभूषणपात्राणां, किमङ्गपुनः किमु वक्तव्यं, तेषां रूपलिङ्गसामान्यं सुतरां भवतीत्यर्थः । इति अतः कारणात् । श्रीमू.

**स चेद् ब्रूयात्--- याचितकमवक्रीतकमाहितकं निक्षेपमुपनिधिं वैयापृत्यभर्म वामुष्येति, तस्यापसारप्रीतसंधानेन मुच्येत ।**

**नैवं इत्यपसारो वा ब्रूयाद्, रूपाभिगृहीतः परस्य दानकारणमात्मनः प्रतिग्रहकारणमुपलिङ्गनं वा दायकदापकनिबन्धकप्रतिग्राहकोपदेष्टृभिरुपश्रोतृभिर्वा प्रतिसमानयेत् ।**

**उज्झितप्रनष्टनिष्पतितोपलब्धस्य देशकाललाभोपलिङ्गनेन शुद्धिः । अशुद्धस्तच्च तावच्च दण्डं दद्यात् । अन्यथा स्तेयदण्डं भजेत इति रूपाभिग्रहः ।**

स चेदिति । स रूपाभिगृहीतः, याचितकं याञ्चया लब्धं, अवक्रीतकं भाटकगृहीतं, आहितकं आधित्वेन गृहीतं, निक्षेपं भूषणभाण्डनिर्माणार्थं निक्षिप्तं, उपनिधिं रक्षणाय विश्वासाद् दत्तं, वैयापृत्यभर्म वा कर्मणः कृतस्य दत्तां भृतिं वा, अमुष्येति ब्रूयाच्चेत् अमुकपुरुषसंबन्धीत्येवं वदेच्चेत्, अर्थान्नाष्टिकार्थितं रूपं, तस्य द्रव्यस्य, अपसारप्रतिसंधानेन मदीयमेवेदं याचितकादीत्यपसारपुरुषकृतेनाभ्युपगमेन, मुच्येत, अर्थात् सः ।

नैवमित्यपसारो वा ब्रूयादिति । न मे याचितकादीत्यपसारो यदि वदेत्, रूपाभिगृहीतः, परस्य अपसारस्य, दानकारणं, आत्मनः प्रतिग्रहकारणं, उपलिङ्गनं वा लिङ्गैरभिज्ञापनं च, प्रतिसमानयेत् निरूपयेत्, कैः, दायकदापकनिबन्धकप्रतिग्राहकोपदेष्टृभिः उपश्रोतृभिर्वा, वाशब्दश्चार्थे । तत्र निबन्धको लेखकः, उपदेष्टा लेखनीयवाक्यवक्ता, शेषाः प्रतीताः ।

उज्झितेत्यादि । उज्झितप्रनष्टनिष्पतितोपलब्धस्य उज्झितं विस्मृतं वस्त्राभरणादि प्रनष्टं स्वयूथच्युतं गोमहिषादि निष्पतितं छन्नापसृतं दासीदासादि तस्योप-

(१) कौ. ४।६.

लब्धस्य देशकाललाभोपलिङ्गनेन देशादीनां विभावनेन, शुद्धिः अभियोक्तुः। अशुद्धः अविभावितदेशादिः सः, तच्च तावच्च दण्डं दद्यात् यत् स्वीयमित्युक्तं तत्समं अन्यच्च तत्समपरिमाणं दण्डं दद्यात्। अभियोक्ता। अन्यथा स्तेयदण्डं भजेत देशाद्युपलिङ्गनेन स्वत्वस्याविभावने, चौर्यदण्डभाग् भवति। इति रूपाभिग्रह इति। व्याख्यात इति शेषः। श्रीमू.

कर्माभिग्रहस्तु। मुषितवेश्मनः प्रवेशनिष्कसनमद्वारेण, द्वारस्य संधिना बीजेन वा वेधं, उत्तमागारस्य जालवातायननीव्रवेधं, आरोहणावतरणे च कुड्यस्य वेधं उपखननं वा गूढद्रव्यनिक्षेपग्रहणोपायमुपदेशोपलभ्यं अभ्यन्तरच्छेदोत्करपरिमर्दोपकरणमभ्यन्तरकृतं विद्यात्। विपर्यये बाह्यकृतम्। उभयत उभयकृतम्।

अभ्यन्तरकृते पुरुषमासन्नं व्यसनिनं क्रूरसहायं तस्करोपकरणसंसर्गं स्त्रियं वा दरिद्रकुलामन्यप्रसक्तां वा परिचारकजनं वा तद्विधाचारमतिस्वप्नं निद्राक्लान्तमाधिक्लान्तमाविग्नं शुष्कभिन्नस्वरमुखवर्णमनवस्थितमतिप्रलापिनमुच्चारोहणसंरब्धगात्रं विलूननिघृष्टभिन्नपाटितशरीरवस्त्रं जातकिणसंरब्धहस्तपादं पांसुपूर्णकेशनखं विलूनभुग्नकेशनखं वा सम्यक्स्नातानुलिप्तं तैलप्रमृष्टगात्रं सद्योधौतहस्तपादं वा पांसुपिच्छिलेषु तुल्यपादपदनिक्षेपं प्रवेशनिष्कसनयोर्वा तुल्यमाल्यमद्यगन्धवस्त्रच्छेदविलेपनस्वेदं परीक्षेत। चोरं पारदारिकं वा विद्यात्।

सगोपस्थानिको बाह्यं प्रदेष्टा चोरमार्गणम्।
कुर्यान्नागरिकश्चान्तर्दुर्गे निर्दिष्टहेतुभिः॥

कर्माभिग्रहस्त्विति। उच्यत इति शेषः। चौर्यं नाम त्रिविधं--- आभ्यन्तरकृतं बाह्यकृतं उभयकृतमिति। तत्राभ्यन्तरचौर्यमाह--- मुषितवेश्मन इति। चोरितगृहस्य, अद्वारेण पश्चाद्द्वारेण प्रवेशनिष्कसनं प्रवेशो निर्गमनं च, द्वारस्य संधिना सुरुङ्गया बीजेन वेधसाधनेन वा वेधं निर्माणं, उत्तमागारस्य उपरिभूमिकायाः जालवातायननीव्रवेधं आनायगवाक्षवलीकभेदनं, आरोहणावतरणे च कुड्यस्य वेधं पदन्यासस्थानकरणं, गूढद्रव्यनिक्षेपग्रहणोपायं कुड्यगूहितस्य द्रव्यनिक्षेपस्य ग्रहणं प्रत्युपायभूतं, उपदेशोपलभ्यं उपदेशैकविज्ञेयं, अभ्यन्तरच्छेदोत्करपरिमर्दोपकरणं अन्तर्गतकुड्यच्छेदपांसूत्करपरिमर्दनसाधनं, उपखननं वा कुड्यसमीपभूखननं वा, अभ्यन्तरकृतं आभ्यन्तरजनकृतं, विद्याद् अभ्यूहेत्। विपर्यये उक्तलक्षणवैपरीत्ये, बाह्यकृतं विद्यात्। उभयतः उभयलक्षणसत्त्वे, उभयकृतं विद्यात्।

अभ्यन्तरकृतत्वशङ्कायां परीक्षणमाह--अभ्यन्तरकृत इति। अभ्यन्तरजनकृतं चौर्यमित्यूहे सति, पुरुषं आसन्नं आभ्यन्तरं, परीक्षेत, कथम्भूतं परीक्षेत, व्यसनिनं द्यूतमद्यप्रसक्तं, क्रूरसहायं क्रूरास्त्यक्तात्मानस्तेषां सहायं, तस्करोपकरणसंसर्गं, स्त्रियं वा दरिद्रकुलां, अन्यप्रसक्तां स्त्रियं वा, परिचारकजनं वा, तद्विधाचारं अन्यस्त्रीप्रसक्तं, अतिस्वप्नं मोषणानन्तरदिवसेऽतिमात्रनिद्रं, निद्राक्लान्तं स्वापाभावश्रान्तं, आधिक्लान्तं, आविग्नं भीतं, शुष्कभिन्नस्वरमुखवर्णं, अनवस्थितं, अतिप्रलापिनं, उच्चारोहणसंरब्धगात्रं उच्चारोहणपरवशावपुषं, विलूननिघृष्टभिन्नपाटितशरीरवस्त्रमित्यादि विशेषणसप्तकं स्फुटार्थम्। पांसुपिच्छिलेषु तुल्यपादपदनिक्षेपं पांसुषु पङ्किलेषु च स्वपादसदृशचरणन्यासं, प्रवेशनिष्कसनयोर्वा प्रवेशनिर्गमनयोर्वा, तुल्यमाल्यमद्यगन्धवस्त्रच्छेदविलेपनस्वेदं मुषितवेश्मगतेन माल्यमद्यगन्धेन समानगन्धं वस्त्रच्छेदेन समानवस्त्रच्छेदं विलेपनस्वेदेन तुल्यविलेपनस्वेदम्। चोरं पारदारिकं वा विद्यादिति। पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टं परीक्ष्य तस्कर इति वा पारतल्पिक इति वा जानीयात्।

विधिशेषं श्लोकेनाह -- सगोपस्थानिक इति। गोपो दशकुलीपञ्चकुलीरक्षकः स्थानिको दुर्गजनपदचतुर्भागरक्षी ताभ्यां सहितः, प्रदेष्टा कण्टकशोधनाधिकृतः, बाह्यं चोरमार्गणं कुर्यात्। नागरिकश्च, अन्तर्दुर्गे दुर्गान्तर्भागे, निर्दिष्टहेतुभिः, चोरमार्गणं कुर्यात्। श्रीमू.

वाक्यकर्मानुयोगः

वाक्यकर्मानुयोगः। मुषितसंनिधौ बाह्यानामभ्यन्तराणां च साक्षिणमभिशस्तस्य देशजातिगोत्रनामकर्मसारसहायनिवासाननुयुञ्जीत। तांश्चापदेशैः

(१) कौ. ४१६.

(१) कौ. ४१८.

**प्रतिसमानयेत्। ततः पूर्वस्याह्नः प्रचारं रात्रौ निवासं च आ ग्रहणादिति अनुयुञ्जीत। तस्यापसारप्रतिसंधाने शुद्धः स्यात्। अन्यथा कर्मप्राप्तः।**

**त्रिरात्रादूर्ध्वमग्राह्यः शङ्कितकः, पृच्छाभावादन्यत्रोपकरणदर्शनात्।**

**अचोरं चोर इत्यभिव्याहरतश्चोरसमो दण्डः, चोरं प्रच्छादयतश्च।**

वाक्याकर्मानुयोग इति सूत्रम्। वाक्येन कर्मणा च शङ्काभिगृहीतस्य अनुयोगोऽभिधीयत इति सूत्रार्थः। शङ्कादिलिङ्गानां व्यभिचारसंभवाद् वस्तुतोऽचोरस्यापि दण्डभयादिनानृतवादित्वदर्शनाच्च चोरत्वनिर्णयाय वाक्यकर्मानुयोगः प्रस्तूयते।

मुषितसंनिधाविति। चोरहृतधनस्य जनस्य संनिधौ, बाह्यानां अभ्यन्तराणां च संनिधौ, साक्षिणं, अभिशस्तस्य शङ्काभिगृहीतस्य, देशं, जातिं, गोत्रं, नाम, कर्म, सारं धनं, सहायं निवासं चेत्येतान् देशादीन् अष्टौ, अनुयुञ्जीत। तांश्चेति। अभिशस्तदेशादीन्, अपदेशैः निमित्तैरुपपत्तिभिः, प्रतिसमानयेत् पर्यालोचयेत् सुष्ठु न वेति। तत इति। पश्चात्, पूर्वस्य अह्नः प्रचारं, रात्रौ निवासं च शयनं च, आ ग्रहणात् यावदभिशस्तग्रहणकालं, इत्यनुयुञ्जीत अनुयोगोचितेन प्रकारेण पृच्छेद्, अभिशस्तम्। तस्य अभिशस्तस्य, अपसारप्रतिसंधाने अपराधापसरणकारणोपलब्धौ, शुद्धः स्याद्, अभिशस्तः। अन्यथा कर्मप्राप्तः कृतापराधः।

त्रिरात्रादूर्ध्वमिति। तिसृषु रात्रिषु अतीतासु, शङ्कितकः, अग्राह्यः ग्रहीतुं योग्यो न भवति, कस्मात्, पृच्छाभावात् मोषणदिवसपूर्वदिवसादिचरितस्य विस्मृतिसंभवेन प्रश्नायोगात्, अन्यत्रोपकरणदर्शनात् मोषणसाधनानामचोरगृहेषूपलम्भसंभवाच्च।

अचोरमिति। तं, चोर इति अभिव्याहरतः प्रदेष्ट्रादेः, चोरसमो दण्डः। चोरं प्रच्छादयतश्च तं अचोर इत्यभिव्याहरतश्च, अथवा चोरं गृहान्तरवस्थाप्याप्रकाशयतश्च, चोरसमो दण्डः। श्रीमू.

**[1]चोरेणाभिशस्तो वैरद्वेषाभ्यामपदिष्टकः शुद्धः स्यात्। शुद्धं परिवासयतः पूर्वः साहसदण्डः।**

**शङ्कानिष्पन्नं उपकरणमन्त्रिसहायरूपवैयापृत्यकरान् निष्पादयेत्। कर्मणश्च प्रवेशद्रव्यादानांशविभागैः प्रतिसमानयेत्।**

**एतेषां कारणानां अनभिसंधाने विप्रलपन्तमचोरं विद्यात्। दृश्यते ह्यचोरोऽपि चोरमार्गे यदृच्छया संनिपाते चोरवेषशस्त्रभाण्डसामान्येन गृह्यमाणो दृष्टः चोरभाण्डस्योपवासेन वा यथा हि माण्डव्यः कर्मक्लेशभयादचोरः 'चोरोऽस्मि' इति ब्रुवाणः।**

**तस्मात् समाप्तकरणं नियमयेत्।**

**मन्दापराधं बालं वृद्धं व्याधितं मत्तमुन्मत्तं क्षुत्पिपासाध्वक्लान्तमत्याशितमामकाशितं दुर्बलं वा न कर्म कारयेत्।**

चोरेणाभिशस्त इति। चोरेणान्यश्चोर इत्युक्तः, वैरद्वेषाभ्यां अपदिष्टकः वैरेण द्वेषेण च निमित्तेन कृताभिशंसन इति विभावितश्चेत्, शुद्धः स्यात्। शुद्धं, परिवासयतः अमोचयतः प्रदेष्टुः, पूर्वः साहसदण्डः।

शङ्कानिष्पन्नमिति। शङ्कागृहीतं, उपकरणादीन् पञ्च, निष्पादयेत् पृष्ट्वा साधयेत्। तत्र रूपं लोप्त्रं, शेषं प्रतीतम्। कर्मणश्च प्रवेशेत्यादि। चौर्यार्थं द्रव्यरक्षागृहे केन केन प्रवेशः कृतः केन द्रव्यं गृहीतं कस्य कियानंशविभागः इति प्रवेशादिप्रश्नैस्तत्त्वं विचारयेत्।

एतेषां कारणानामिति। उक्तानां चोरत्वसाधकानां, अनभिसंधाने अपरिचिन्तने, विप्रलपन्तं भयादिना विरुद्धवाचिनमपि, अचोरं विद्यात्। किमर्थं परीक्षायत्नो महानुपदिश्यत इत्यत्राह – दृश्यते हीत्यादि। चोरभाण्डस्योपवासेन मुष्टद्रव्यस्य समीपस्थित्या। माण्डव्यः आणिमाण्डव्यो नाम महर्षिः। स किलाचोर एव राजपुरुषताडनादिक्लेशभीत्या चोरमात्मानं वदन् विनैव परीक्षां तं चोरं मन्यमानेन राज्ञा शूलमारोपित इति महाभारते कथानुसंधेया।

तस्मादिति अदण्ड्यदण्डप्रणयनं मा प्रसाङ्क्षीदिति हेतोः, समाप्तकरणं सम्यग् बहुप्रकारपरीक्षावधारितापराधं, नियमयेत् दण्डयेत्।

---

(१) कौ. ४।८.

मन्दापराधमित्यादि। अल्पापराधम्। अत्याशितं अतिमात्रभुक्तान्नम्। आमकाशितं अजीर्णान्नम्।

श्रीमू.

**तुल्यशीलपुंश्चलीप्रावादिककथावकाशभोजनदातृभिरपसर्पयेत्। एवमतिसंदध्यात्। यथा वा निक्षेपापहारे व्याख्यातम्।**

**आप्तदोषं कर्म कारयेत्। न त्वेव स्त्रियं गर्भिणीं सूतिकां वा मासावरप्रजाताम्। स्त्रियास्त्वर्धकर्म। वाक्यानुयोगो वा।**

**ब्राह्मणस्य सत्रिपरिग्रहः श्रुतवतस्तपस्विनश्च। तस्यातिक्रम उत्तमो दण्डः कर्तुः कारयितुश्च कर्मणा व्यापादनेन च।**

**व्यावहारिकं कर्मचतुष्कं— षड् दण्डाः, सप्त कशाः, द्वावुपरिनिबन्धौ, उदकनालिका च।**

चोरादीन् कथं जानीयादित्याह— तुल्यशीलेत्यादि। तुल्यशीलादिभिः तुल्यशीलाः समानवृत्ताः पुंश्चल्यो बन्धक्यः प्रावादिकाः प्रवदनचारिणः दक्षभाषाः कथावकाशभोजनदातारः कथादातारः कथकाः अवकाशदातारो भोजनदातारश्च इत्येतैः, अपसर्पयेत् अपसर्पैः कृतैर्जानीयात्, अर्थाच्चोरादीन्। एवमतिसंदध्यात् उक्तेन प्रकारेण तान् वञ्चयेत्। ज्ञानोपायान्तरमन्यत्रोक्तं चेहातिदिशति— यथा वेति। निक्षेपापहारे, यथा व्याख्यातं 'क्षीणदायकुटुम्बमि'त्यादिना निरूपितं, तथा वा जानीयादिति वाक्यशेषः।

निश्चितापराधस्य दण्डमाह— आप्तदोषमिति। निश्चितापराधं, कर्म कारयेत्। गर्भिण्याः स्त्रियाः प्रसूतायाश्चानतीतमासाया न दण्ड इत्याह— न त्वेवेत्यादि। स्त्रियास्त्वर्धकर्मेति। पुंसो यावद् दण्डकर्म विहितं तस्यार्धं स्त्रियाः। वाक्यानुयोगो वा वाचा परिभाषणं वा कर्तव्यं अर्धस्याप्ययोगे।

ब्राह्मणस्येति। तस्य, श्रुतवतो विदुषः, तपस्विनश्च, सत्रिपरिग्रहः सत्रिभिः परिग्रहणं तथा परिग्रहणेन ततइतः पर्यटनक्लेशयोजनेति यावत्, अर्थाद् दण्डः। तस्यातिक्रम इति। उक्तदण्डातिरिक्तदण्डकरणे, कर्तुः, कारयितुश्च, उत्तमो दण्डः उत्तमसाहसः, कर्मणा, व्यापादनेन च द्रोहचिन्तनेन च हेतुना।

व्यावहारिकं कर्मचतुष्कमिति। लोकव्यवहारप्रसिद्धानि चतुष्प्रकाराणि दण्डकर्माणि भवन्ति। षड् दण्डाः दण्डाघाताः षडित्येकः प्रकारः, सप्त कशाः कशाप्रहाराः इति द्वितीयः, द्वौ उपरिनिबन्धौ हस्तयोः पृष्ठतः कृत्वा संश्लेषितयोर्बन्धनं तेन सह शिरसो बन्धनं चेति द्विरूपं बन्धनमिति तृतीयः, उदकनालिका च नासायां सलवणोदकनिषेचनं च इति चतुर्थः।

श्रीमू.

**परं पापकर्मणां नववेत्रलताद्वादशकं, द्वावूरुवेष्टौ, विंशतिर्नक्तमाललताः, द्वात्रिंशत् तलाः, द्वौ वृश्चिकबन्धौ, उल्लम्बने च द्वे, सूची हस्तस्य, यवागूपीतस्य, एकपर्वदहनमङ्गुल्याः स्नेहपीतस्य प्रतापनमेकमहः, शिशिररात्रौ बल्बजाग्रशय्या चेत्यष्टादशकं कर्म।**

**तस्योपकरणं प्रमाणं प्रहरणं प्रधारणमवधारणं च खरपट्टादागमयेत्। दिवसान्तरमेकैकं च कर्म कारयेत्।**

**पूर्वकृतापदानं, प्रतिज्ञायापहरन्तं, एकदेशदृष्टद्रव्यं, कर्मणा रूपेण वा गृहीतं, राजकोशमवस्तृणन्तं, कर्मवध्यं वा राजवचनात् समस्तं व्यस्तमभ्यस्तं वा कर्म कारयेत्।**

**सर्वापराधेष्वपीडनीयो ब्राह्मणः। तस्याभिशस्ताङ्को ललाटे स्याद् व्यवहारपतनाय। स्तेये श्वा, मनुष्यवधे कबन्धः, गुरुतल्पे भगं, सुरापाने मद्यध्वजः।**

**ब्राह्मणं पापकर्माणमुद्घुष्याङ्कृतव्रणम्।**
**कुर्यान्निर्विषयं राजा वासयेदाकरेषु वा॥**

अन्यत् पापकर्मणां चतुर्दशभेदं दण्डनकर्माह— परं पापकर्मणामिति। परं उक्तचतुष्कातिरिक्तं, पापकर्मणां, नववेत्रलताद्वादशकं नवहस्तदीर्घवन्यलतया द्वादश प्रहाराः, द्वौ ऊरुवेष्टौ द्वाभ्यां रज्जुभ्यां पादयोर्वेष्टनं तेन सह शिरसोऽपि वेष्टनमिति द्विप्रकारावूरुवेष्टौ, विंशतिर्नक्तमाललताः विंशतिः करञ्जलताप्रहाराः,

(१) कौ. ४।८.

(१) कौ. ४।८,

द्वात्रिंशत् तलाः चपेटाघाताः, द्वौ वृश्चिकबन्धौ वामकरस्य वामपादस्य च पृष्ठतः संयोज्य बन्धनमित्येको वृश्चिकबन्धः दक्षिणकरस्य दक्षिणपादस्य च तथा संयोज्य बन्धनमित्यपर इत्येवं द्वौ, उल्लम्बने च द्वे संयुक्तबद्धकरद्वयस्य ऋजूर्ध्वलम्बनं संयुक्तबद्धपादद्वयस्योर्ध्वलम्बनं चेति द्विप्रकारे उल्लम्बने, सूची हस्तस्य करस्य नखे सूचीप्रवेशनं, यवागूपीतस्य यवागूपानस्य कारणे(ने)ति शेषः, यवागूं पाययित्वा मूत्रनिरोधनेनावस्थापनमित्यर्थः। अङ्गुल्या एकपर्वदहनं, स्नेहपीतस्य प्रतापनमेकमहरिति पायितसर्पिष आतपेऽग्नौ वैकदिनप्रतापनं, शिशिररात्रौ बल्बजाग्रशय्या च जलसिक्तबल्बजाग्रशय्याशायनं च, इत्यष्टादशकं पूर्वोक्तचतुष्केण सहाष्टादशावयवकं, कर्म।

तस्येति। उक्तस्य कर्मणः, उपकरणं रज्ज्वादि, प्रमाणं दण्डकशाद्यायामः, प्रहरणं वेत्रनक्तमालादि, प्रधारणं दण्डनीयस्य स्थापनप्रकारः, अवधारणं च शरीरानुगुणदण्डप्रकारानिर्धारणं च, खरपट्टात् कर्तृनामप्रसिद्धाचौर्यशास्त्राद्, आगमयेद् अधीयीत।

दिवसान्तरमित्यादि। दण्डितं दिवसव्यवधानेनैकैकं कर्म कृच्छ्रव्यापारं, कारयेत्। इत्युत्सर्गः।

विशेषविधिमाह — पूर्वेत्यादि। पूर्वकृतापदानं पूर्वकृतचौर्यं, प्रतिज्ञायापहरन्तं अपहरिष्यामीति प्रतिश्रुत्यापहरन्तं, एकदेशदृष्टद्रव्यं नष्टद्रव्यैकदेशयुक्ततयोपलब्धं, कर्मणा गृहीतं अद्वारप्रवेशनिर्गमसंधिच्छेदनादिकर्मयुक्तत्वेन दृष्टं, रूपेण वा गृहीतं लोप्त्रयुक्तं गृहीतं, राजकोशं अवस्तृणन्तं राजधनमवच्छादयन्तं, कर्मवध्यं वा कृतमहापराधं वा, राजवचनात्, समस्तं समुदितं, व्यस्तं तद्विपरीतं, अभ्यस्तं वा आवृत्तं वा, कर्म कारयेद् यावत्प्राणवियोगम्। स एष क्षत्रियादीनां दण्डविधिः।

ब्राह्मणस्य विधिमाह — सर्वापराधेष्वित्यादि। वधताडनादिना दण्डेन न योज्यः। कस्तर्हि तस्य दण्डस्तत्राह— तस्येति। ब्राह्मणस्य, अभिशस्ताङ्कः, ललाटे स्यात् कर्तव्यः, किमर्थं, व्यवहारपतनाय व्यवहारात् पतनाय प्रच्युतये अज्ञानात् तेनान्यः सहव्यवहारं मा कार्षीदित्येतदर्थमित्यर्थः। अपराधभेदेनाङ्कभेदानाह— स्तेय इति। तत्र, श्वा अभिशस्ताङ्कः कर्तव्यः, मनुष्यवधे कबन्धः, गुरुतल्पे गुरुदारगमने, भगं योनिः, सुरापाने मद्यध्वजः।

श्लोकमाह— ब्राह्मणमित्यादि। उद्घुष्य पापकर्मामुक इति पुरग्रामादिषु सघोषणं दर्शयित्वा। निर्विषयं कुर्यात् स्वदेशान्निष्कासयेत्। श्रीमू.

सर्वाधिकरणरक्षणम्

**सर्वाधिकरणरक्षणम्। समाहर्तृप्रदेष्टारः पूर्वं मध्यक्षाणामध्यक्षपुरुषाणां च नियमनं कुर्युः।**

**खनिसारकर्मान्तेभ्यः सारं रत्नं वापहरतः शुद्धवधः। फल्गुद्रव्यकर्मान्तेभ्यः फल्गु द्रव्यमुपस्करं वा पूर्वः साहसदण्डः।**

**पण्यभूमिभ्यो वा राजपण्यं माषमूल्यादूर्ध्वमा पादमूल्यादित्यपहरतो द्वादशपणो दण्डः। आ द्विपादमूल्यादिति चतुर्विंशतिपणः। आ त्रिपादमूल्यादिति षट्त्रिंशत्पणः। आ पणमूल्यादित्यष्टचत्वारिंशत्पणः। आ द्विपणमूल्यादिति पूर्वः साहसदण्डः। आ चतुष्पणमूल्यादिति मध्यमः। आ अष्टपणमूल्यादित्युत्तमः। आ दशपणमूल्यादिति वधः।**

सर्वाधिकरणरक्षणमिति सूत्रम्। सर्वेषां अधिकरणानां धनोत्पत्तिस्थानानां अधिकरणस्थानां वा समाहर्त्रादीनां रक्षणं धनहरणाद् वारणं सर्वाधिकरणरक्षणं, तदुच्यत इति सूत्रार्थः। जानपदादिकण्टकशोधनमुक्तम्। राजधनापहारिशोधनमधुनाभिधीयते।

समाहर्तृप्रदेष्टार इति। समाहर्तारः प्रदेष्टारश्च, पूर्वं कार्यारम्भात् प्राक्, अध्यक्षाणां, अध्यक्षपुरुषाणां च, नियमनं व्यवस्थापनं कुर्युः।

खनिसारकर्मान्तेभ्य इति। खनिकर्मान्तेभ्यः रत्नस्वर्णरजतादिकर्मस्थानेभ्यः सारकर्मान्तेभ्यः चन्दनागुर्वादिकर्मस्थानेभ्यः, सारं रत्नं वा, अपहरतः, शुद्धवधः धनदण्डामिश्रो घातदण्डः। फल्गुद्रव्यकर्मान्तेभ्य इति। कार्पासादिद्रव्यकर्मान्तेभ्यः, फल्गु द्रव्यं, उपस्करं वा वेशवारं वा, अपहरत इति वर्तते। पूर्वः साहसदण्डः।

पण्यभूमिभ्यो वेति। जीरकाजमोदाद्युत्पत्तिभूमिभ्यः,

---

(१) कौ. ४।९.

राजपण्यं, माषमूल्यादूर्ध्वं, आ पादमूल्यात् पादः पणचतुर्भागश्चतुर्माषाः आ चतुर्माषमूल्यात्, इत्येवं अपहरतः द्वादशपणो दण्डः। आ द्विपादमूल्यादिति। चतुर्माषमूल्यादूर्ध्वमष्टमाषमूल्यान्तं, अपहरतः, चतुर्विंशतिपणः। आ त्रिपादमूल्यादिति षट्त्रिंशत्पण इत्यादि आ दशपणमूल्यादिति वध इत्येतदन्तं सुबोधम्। श्रीमू.

कोष्ठपण्यकुप्यायुधागारेभ्यः कुप्यभाण्डोपस्करापहारेष्वर्धमूल्येष्वेत एव दण्डाः। कोशभाण्डागाराक्षशालाभ्यश्चतुर्भागमूल्येष्वेत एव द्विगुणा दण्डाः।

चोराणामभिप्रधर्षणे चित्रो घातः। इति राजपरिग्रहेषु व्याख्यातम्।

बाह्येषु तु प्रच्छन्नमहनि क्षेत्रखलवेश्मापणेभ्यः कुप्यभाण्डमुपस्करं वा माषमूल्यादूर्ध्वमा पादमूल्यादित्यपहरतस्त्रिपणो दण्डः। गोमयप्रदेहेन वा प्रलिप्यावघोषणम्। आ द्विपादमूल्यादिति षट्पणः, गोमयभस्मना वा प्रलिप्यावघोषणम्। आ त्रिपादमूल्यादिति नवपणः, गोमयभस्मना वा प्रलिप्यावघोषणं, शरावमेखलया वा। आ पणमूल्यादिति द्वादशपणः, मुण्डनं प्रव्राजनं वा। आ द्विपणमूल्यादिति चतुर्विंशतिपणः, मुण्डस्येष्टकाशकलेन प्रव्राजनं वा। आ चतुष्पणमूल्यादिति षट्त्रिंशत्पणः। आ पञ्चपणमूल्यादिति अष्टचत्वारिंशत्पणः। आ दशपणमूल्यादिति पूर्वः साहसदण्डः। आ विंशतिपणमूल्यादिति द्विशतः। आ त्रिंशत्पणमूल्यादिति पञ्चशतः। आ चत्वारिंशत्पणमूल्यादिति साहस्रः। आ पञ्चाशत्पणमूल्यादिति वधः।

प्रसह्य दिवा रात्रौ वान्तर्यामिकमपहरतोऽर्धमूल्येष्वेत एव द्विगुणा दण्डाः। प्रसह्य दिवा रात्रौ वा सशस्त्रस्यापहरतश्चतुर्भागमूल्येष्वेत एव दण्डाः।

कुटुम्बिकाध्यक्षमुख्यस्वामिनां कूटशासनमुद्राकर्मसु पूर्वमध्यमोत्तमवधा दण्डाः। यथापराधं वा।

कोष्ठपण्यकुप्यायुधागारेभ्य इति। कोष्ठागारात् पण्यागारात् कुप्यागाराद् आयुधागाराच्च, कुप्यभाण्डोपस्करापहारेषु, अर्धमूल्येषु अर्धमाषमूल्यादिद्विमाषमूल्यान्तेषु विषये, एत एव द्वादशपणादयो, दण्डाः। कोशभाण्डागाराक्षशालाभ्य इति। ताभ्यः, चतुर्भागमूल्येषु काकणीमूल्येषु माषमूल्यान्तेषु अपहृतेषु विषये, एत एव द्विगुणा दण्डाः चतुर्विंशतिपणाष्टाचत्वारिंशत्पणादयः।

चोराणामभिप्रधर्षणे इति। स्वयमपहृतवतामेव राजपुरुषाणां चोरापहरणच्छलकल्पने, चित्रो घातः क्लेशवधः। इति अनेन प्रकारेण, राजपरिग्रहेषु राजकीयेषु प्रदेशेषु, व्याख्यातम्।

बाह्येषु त्वित्यादि। बाह्येषु राजकीयातिरिक्तेषु पौरजानपदक्षेत्रादिषु। शेषं सुगमम्। चोरस्य निर्धनत्वे दण्डप्रकारमाह— गोमयप्रदेहेन वेति। गोशकृदुपलेपेन, प्रलिप्य देहं प्रकर्षेण लिप्त्वा, अवघोषणं पटहघोषणपुरस्सरं नगरमभितः संचारणम्। आ द्विपादमूल्यादितीत्यादि। स्पष्टम्। शरावमेखलया वेति। अवघोषणमिति वर्तते, शरावो मृद्भाण्डविशेषः, प्रोतशरावां रशनां कण्ठे बद्ध्वा पूर्ववन्नगरमभितः संचारणं गोमयभस्माभावपक्षे दण्ड इत्यर्थः। आ पणमूल्यादिति द्वादशपण इत्यादि आ पञ्चाशत्पणमूल्यादिति वध इत्यन्तं वाक्यजातं स्पष्टार्थम्। यदत्र चतुर्विंशतिपणदण्डासामर्थ्ये मुण्डीकृत्येष्टकाखण्डप्रक्षेपेण देशाद् बहिर्निष्कासनमुक्तं, तत् षट्त्रिंशत्पणादिसहस्रपणान्तदण्डासामर्थ्ये दण्डापूपिकान्यायेन सिद्धं द्रष्टव्यम्।

प्रसह्येति। बलात्कारेण, दिवा रात्रौ वा, अन्तर्यामिकं यामान्तरालकालरक्षाव्यापृतं, अपहरतो मुष्णतः, अर्धमूल्येषु माषमूल्यादूर्ध्वमित्याद्युक्तमूल्यापेक्षयार्धमूल्येषु अर्धादर्धमाषमूल्यप्रभृतिषु द्विमाषमूल्यान्तेषु विषये, एत एव पूर्वोक्तास्त्रिपणादय एव वधान्ताः, द्विगुणाः अर्थात् षट्पणादयः, दण्डाः। इह द्विगुणा इति पाठो नास्तीति भाषास्वरसतो गम्यते। अन्तर्यामिकमेव दिवा रात्रौ वा प्रसह्य शस्त्रपाणेर्मुष्णतो माषचतुर्भाग (काकणी) मूल्यादिषु माषमूल्यान्तेषु विषयेऽपि यथोक्ता एव दण्डा इत्याह— प्रसह्य दिवा रात्रौ वा सशस्त्रस्येत्यादि।

कुटुम्बिकाध्यक्षमुख्यस्वामिनामिति। कुटुम्बिनः सुवर्णाध्यक्षादेर्ग्राममुख्यस्य समाहर्तुश्चेत्येतेषां चतुर्णां, कूटशासनमुद्राकर्मसु कपटलेख्यकर्मसु कपटलक्षणकर्मसु

(१) कौ. ४।९.

च, पूर्वमध्यमोत्तमवधाः दण्डाश्चत्वारो यथाक्रमं भवन्ति। यथापराधं वा अपराधानुगुण्येन वा दण्डाः। श्रीमू.

***धर्मस्थीयाच्चारकान्निस्सारयतो बन्धनागाराच्छय्यासनभोजनोच्चारसंचारं रोधबन्धनेषु त्रिपणोत्तरा दण्डाः कर्तुः कारयितुश्च।**

**चारकादभियुक्तं मुञ्चतो निष्पातयतो वा मध्यमः साहसदण्डः अभियोगदानं च। बन्धनागारात् सर्वस्वं वधश्च।**

**बन्धनागाराध्यक्षस्य संरुद्धकमनाख्याय चारयतश्चतुर्विंशतिपणो दण्डः। कर्म कारयतो द्विगुणः। स्थानान्यत्वं गमयतोऽन्नपानं वा रुन्धतः षण्णवतिर्दण्डः। परिक्लेशयत उत्कोचयतो वा मध्यमः साहसदण्डः। घ्नतः साहस्रः।**

**परिगृहीतां दासीमाहितिकां वा संरुद्धिकामधिचरतः पूर्वः साहसदण्डः। चोरडामरिकभार्यां मध्यमः। संरुद्धिकामार्यामुत्तमः। संरुद्धस्य वा तत्रैव घातः। तदेवाध्यक्षेण गृहीतायामार्यायां विद्यात्। दास्यां पूर्वः साहसदण्डः।**

**चारकमभित्त्वा निष्पातयतो मध्यमः। भित्त्वा वधः। बन्धनागारात् सर्वस्वं वधश्च।**

**एवमर्थचरान् पूर्वं राजा दण्डेन शोधयेत्।**
**शोधयेयुश्च शुद्धास्ते पौरजानपदान् दमैः॥**

बन्धनाध्यक्षशोधनमाह— धर्मस्थीयादिति। धर्मस्थपरिकल्पितात्, चारकात् संरोधागारात्, निस्सारयतः लञ्चग्रहणेन तद्गतान् बहिः संचारयतः, बन्धनागारात् कारागृहात् निस्सारयतः, रोधबन्धनेषु रोधागारेषु बन्धनागारेषु च शय्यासनभोजनोच्चारसंचारं शयनीयासनभोजनानि मूत्रपुरीषोत्सर्गस्थानं च, कर्तुः, कारयितुश्च, त्रिपणोत्तराः उत्तरोत्तरत्रिपणाधिकाः, दण्डाः।

चारकादिति। धर्मस्थीयसंरोधगृहात्, अभियुक्तं मुञ्चतः, निष्पातयतो वा निष्पतनप्रतिकूलानाचरणानिष्पतनं प्रयोजयतश्च, मध्यमः साहसदण्डः, अभियोगदानं च अभियुक्तदेयद्रव्यदानं च। बन्धनागारात् प्रदेष्टृकारागृहात्, अभियुक्तं मुञ्चत इति वर्तते, सर्वस्वं सर्वस्वहरणं, वधश्च दण्डः।

संरुद्धं जनं बन्धनागाराध्यक्षाननुज्ञया चारयतश्चतुर्विंशतिपणो दण्डः, तद्द्विगुणः कर्म कारयत इत्याह— बन्धनागाराध्यक्षस्येत्यादि। स्थानान्यत्वमित्यादि। स्थानान्यत्व स्थान दम् (?)। परिक्लेशयतः ताडनादिना दुन्वतः। उत्कोचयतः उत्कोचधनं दापयतः। शेषं स्पष्टम्।

परिगृहीतामिति। क्रयाधिगतां, दासीं, आहितिकां वा, संरुद्धिकां बन्धनागाररुद्धां, अधिचरतो गच्छतः, पूर्वः साहसदण्डः। चोरडामरिकभार्या चोरभार्या डमरगतकभार्या च, अधिचरतः, मध्यमः। संरुद्धिकां, आर्यां कुलस्त्रियं, अधिचरतः, उत्तमः। तत्रैव संरुद्धस्य वा बन्धनागार एव संरुद्धस्य च अर्थात् पूर्वोक्ताः स्त्रीरधिचरतः, घातः वधः। तदेवेति। वधरूपं विधानमेव, अध्यक्षेण, गृहीतायां अधिचरितायां, आर्यायां, विद्यात्। दास्यां, अध्यक्षेण गृहीतायामिति वर्तते, पूर्वः साहसदण्डः, अध्यक्षस्य।

चारकमिति। धर्मस्थीयसंरोधागारं, अभित्त्वा निष्पातयतः अर्थात् संरुद्धं, मध्यमः साहसदण्डः। भित्त्वा निष्पातयतः, वधः। बन्धनागारात् निष्पातयतः, सर्वस्वं सर्वस्वहरणं, वधश्च दण्डः।

अध्यायप्रान्ते श्लोकमाह— एवमिति। अनेन प्रकारेण, अर्थचरान् राजार्थव्यवहाराधिकृतान्, राजा, दण्डेन शोधयेत्। ते च अर्थचराश्च, शुद्धाः, भूत्वेति शेषः, पौरजानपदान्, दमैः दण्डैः, शोधयेयुः। श्रीमू.

## मनुः

स्तेयविवादपदप्रतिज्ञा

**एषोऽखिलेनाभिहितो दण्डपारुष्यनिर्णयः।**
**स्तेनस्यातः प्रवक्ष्यामि विधिं दण्डविनिर्णये॥**

* धर्मस्थीयादित्यस्य प्राक् वर्तमानः 'धर्मस्थश्चेदि'त्यारभ्य 'तदष्टगुणं दण्डं दद्यादि'त्यन्तो भागः सभाप्रकरणे (पृ. २७-२८) द्रष्टव्यः।

(१) कौ. ४।९.

(१) मस्मृ. ८।३०१ [ विधिं ...... र्णये ( त्रिविधं दण्डनिर्णयम् ) Noted by Jha ]; व्यक. १०९ स्यातः ( स्याथ ) र्णये ( र्णयम् ); विर. २८६ स्यातः ( स्याथ ); सेतु. २२७.

एष निःशेषेणोक्तो दण्डपारुष्यनिर्णयो, [1]निर्णयो दण्डव्यवस्था। दण्डशब्दो हि साधनोपलक्षकतया विवादपदेऽन्विताथों नामधेये पूर्वपदम्। स्तेनस्य चौरस्य दण्डभेदानतःपरं वक्ष्यामीति उपसंहारोपन्यासार्थः श्लोकः। मेधा.

स्तेयसाहसयोर्निरुक्तिः

**[1]स्यात्साहसं त्वन्वयवत्प्रसभं कर्म यत्कृतम्।**
**निरन्वयं भवेत्स्तेयं कृत्वापव्ययते च यत्॥**

(१) परद्रव्यापहरणं स्तेयमुच्यते। धात्वर्थप्रसिद्ध्या चास्यैव कर्ता स्तेनः। तस्य कर्तव्य[2]त्वेन इह तु विशेषणायं व्यवहार इष्यते, तदर्थोऽयं श्लोकः। न परद्रव्यादानमात्रं स्तेयं, ऋणादाननिक्षेपादिष्वपि स्तेयदण्डप्रसङ्गात्। [[3]किं तर्हि, निरन्वयं आरक्षकपुरुषवर्जितमवसरं अभिज्ञाय यत् क्रियते तच्चौर्यम्। तथा सान्वयमनवसरे प्रसह्य कृतमपि अपह्नुते च यत् 'कृतमिदं न मया' इति, तदपि स्तेयमेव। विद्ययाऽन्यत्र संप्राप्त्या किं न तच्चौर्यं? किं तर्हि, स्यात्साहसं अन्वयवत् आरक्षकप्रदेशे प्रसभं प्रसह्य प्रकाशं कृतम्।] संज्ञाभेदो दण्डभे[1]दार्थः। कर्म यत्कृतं परपीडाकरं वस्तूपाटनाग्निदाहद्रव्यापहरणादि। अग्निदाहे यद्यपि द्रव्यापहरणं नास्ति, तथापि चौर्यमेव, रहसि करणादपह्नवाच्च मन्यन्ते। चौर्ये हि द्रव्यविशेषाश्रयो दण्डः, सोऽत्र न स्यात्। एवमर्थमेव स्तेयप्रकरणे ल[2]क्षणं 'प्रसभं कर्म' इति। कर्मग्रहणात् द्रव्यापहारादन्यदप्येवं कृतमयुक्तं साहसमेव। कस्तर्हि अग्निदाहादौ अप्रसभं कृते दण्डः? कण्टकशुद्धौ वक्ष्यामः। अत [3]एव संधिच्छेदे सत्यपि द्रव्यापहरणे कण्टकशुद्धौ दण्डमामनन्ति, अन्यथा स्तेय एवावक्ष्यत्। मेधा.

(२) यत्कर्म धान्यापहारादि द्रव्यस्वामिसमक्षमेव प्रसह्य कृतं तत्साहसं स्यात्। अतस्तत्र स्तेयदण्डो न कार्य इत्येतदर्थः स्तेयप्रकरणेऽस्योपदेशः। यत्पुनः परोक्षं कृतं तत्स्तेयं भवेत्। यदपि च हृत्वाऽपह्नुते तदपि स्तेयमेव। * गोरा.

(३) अन्वयवत् द्रव्यरक्षिराजाध्यक्षादिसमक्षम्। प्रसभं बलावष्टम्भेन यत्परधनहरणादिकं क्रियते तत्साहसम्। स्तेयं तु तद्विलक्षणं निरन्वयं द्रव्यस्वाम्याद्यसमक्षं वञ्चयित्वा यत्परधनहरणं तदुच्यते। यच्च सान्वयमपि कृत्वा न मयेदं कृतमिति भयात् निह्नुते तदपि स्तेयम्। मिता. २।२६६

(४) अत्र साहसं सहसा अविविच्य दोषगुणौ यदि कृतं तदा, स्तेयमपि तथैवेत्याशङ्कां प्रसङ्गादपनयति — स्यादिति। नैव तावन्मात्रं साहसं किन्तु प्रसभं हठात्स्वामिसमक्षं बलवदन्वयवदनुबन्धि उत्तरकालमपि यत्र न तद्गोप्यते साहसं तदित्यर्थः। निरन्वयं उत्तरकालनिह्नवयत्नसहितं यच्च कृत्वा स्वामिनोऽपव्ययते तदैव निह्नवाय यतते तद्द्रव्याहरणं स्तेयम्। एवं च युद्धादिना यत्परस्वहरणं परमारणादि तत्साहसं, निह्नवप्रयत्नवता तु यत् परस्वमादीयते तत् स्तेयमित्यर्थः। तथा

(१) **मस्मृ.** ८।३३२ क., ख., घ., कृत्वा (हृत्वा), ग., कृत्वापव्ययते (हृत्वापह्नूयते), [कृत्वापव्ययते च यत् (कृत्वा चापह्नुतो भयात्, कृत्वा चापह्नुते च यः, कृत्वा चापह्नुते च यत्) Noted by Jha]; **गोरा.** कृत्वापव्ययते (हृत्वापह्नुवते); **मिता.** २।२६६ व्ययते (ह्नुवते) [कृत्वा ...... च यत् (कृत्वा यन्निह्नुते भयात्) Noted by Jha]; **व्यक.** १०९ च यत् (च यः); **स्मृच.** ३१६ उत्त.; **विर.** २८६, ३५०; **पमा.** ४३५ कृत्वा ...... यत् (हृत्वापव्ययते यदि); **दीक.** ५३ न्वयं (न्वये) कृत्वा (हृत्वा) च (तु); **व्यनि.** ५००-५०१ स्यात्साहसं (साहसं स्यात्); **दवि.** ८०; **सवि.** ४५७ कृत्वा...यत् (वञ्चयित्वाऽपकर्षणम्); **व्यप्र.** ३८५ कृत्वा...यत् (कृत्वा यन्निह्नुते भयात्); **व्यउ.** १२३ मितावत्; **विता.** ३५ मितावत् : ७७५ व्ययते (ह्नूयते); **सेतु.** २२७; **समु.** १४८; **नन्द.** ८।३०१.

१ (निर्णयो०). २ व्येन. ३ किं तर्हि न च त्वयं आरक्षिपुरुषेण वर्जितमनिशातेन यः क्रियते तच्चौर्यम्। दयथा कृत्वापि चेत्तापह्नुते यत्तेत्कृतमिदं तन्मयेति विद्यायान्यत्र संकिप्त्या इति। न तच्चौर्यं किं तर्हि स्यान्न साहसं अन्वयवत् मारक्षप्रदेशे प्रसभं प्रसप्तप्रकाशं तथा कृतमध्यमपह्नुते चेत्सेयमेव संज्ञाभेदो दण्डभेदामहि। (आदर्शपुस्तके पादटिप्पण्यां उल्लिखितोऽयं ग्रन्थः उपरि संशोध्य समुल्लिखितः).

* ममु., मच., नन्द., भाच. गोरावत्।

१ दार्थः। अपह्नुत्य यत्तेन मया कृतमित्याह कर्म.
२ क्षणं 'स्तेयं प्रसभं. ३ एवमन्विच्छेदसत्य.

अनिह्नवेन चायत्तकलहादिनिमित्तकं ताडनादि क्रियते तद्दण्डपारुष्यमित्युक्तम्। मवि.

राज्यकण्टकाः प्रकाशाप्रकाशतस्कराः। कण्टकशुद्धिः, तदर्थं चाराद्यन्वेषकविधिः।

**सम्यङ्निविष्टदेशस्तु कृतदुर्गश्च शास्त्रतः।**
**कण्टकोद्धरणे नित्यमातिष्ठेद्यत्नमुत्तमम्॥**

(१) देशनिवेशो दुर्गकरणं च यत्सप्तमाध्याये उक्तं तत्कृत्वा कण्टकोद्धरणं, तेनापि राष्ट्ररक्षा क्रियते। कण्टकशब्दः पीडाहेतुसामान्यात्तस्करादिषु प्रयुक्तः। मेधा.

(२) निविष्टदेशो जनाध्युषितदेशः। शास्त्रतः शास्त्रोक्तविधिना। कण्टकानां क्षुद्रशत्रूणां तस्करादीनामुद्धरणे। मवि.

(३) 'जाङ्गलं सस्यसंपन्नम्' इत्युक्तरीत्या सम्यगाश्रितदेशस्तत्र सप्तमाध्यायोक्तप्रकारेण कृतदुर्गश्चौरसाहसिकादिकण्टकनिराकरणे प्रकृष्टं यत्नं सदा कुर्यात्। ममु.

**रक्षणादार्यवृत्तानां कण्टकानां च शोधनात्।**
**नरेन्द्रास्त्रिदिवं यान्ति प्रजापालनतत्पराः॥**

(१) एतदेव (कण्टकोद्धरणं) दर्शयति। आर्यवृत्तं शास्त्रचोदितं, कर्तव्येतरानुष्ठाननिषेधौ, तद्वृत्तं येषामित्युत्तरपदलोपी समासः। तेन दीनानाथश्रोत्रिया अकरशुल्कदा गृह्यन्ते। तद्रक्षणाद्धि त्रिदिवगमनं युक्तम्। अन्येषां तु वृत्तिपरिक्रीतत्वादकरणे प्रत्यवायो यथोत्तरत्र वक्ष्यते— 'स्वर्गाच्च परिहीयते' इति। रक्षणे तु वृत्तिनिष्क्रयणेन प्रत्यवायाभावमात्रं न तु स्वर्गः। अथवा वृत्तिनियमापेक्षं त्रिदिवप्राप्तिवचनं, यथोक्तं प्राक्। अन्ये तु वृत्तिपरिक्रीतत्वदर्शनादर्थवादमात्रं राज्ञः स्वर्गवचनं, अवृत्तिदपरिपालनमपि वृत्तिप्रयुक्तं स्वराज्यभागस्थानीयास्ते राज्ञः। यथैव च शिल्पिजीविनः 'शिल्पिनो मासि मास्येकैकं कर्म कुर्युः' (गौध. १०।३०) इति वृत्त्यर्थं शिल्पं कुर्वाणा राज्ञा कर्म कार्यन्ते करग्रहणाय, एवं राजाऽपि वृत्तियुक्तः प्रजापालनप्रवृत्तो नित्यकर्मवदार्यपरिपालनं कार्यते शास्त्रेण। यथैव हि कामश्रुतितोऽग्न्याहितो नित्यान्यनुतिष्ठति न स्वर्गादिलाभाय। न हि तानि फलार्थतया नोदितानि, अथ च क्रियन्ते, तद्वदेतद्द्रष्टव्यम्। अतो यावती काचित्फलश्रुतिः सा सर्वाऽर्थवाद इति कोवर(?) विष्णुस्वामी। यदत्र तत्त्वं तद्दर्शितमधस्तात्। मेधा.

(२) यस्मात्साध्वाचाराणां रक्षणाच्चोरादीनां च शासनात्प्रजापालनयुक्ता राजानः स्वर्गं गच्छन्ति। तस्मात्कण्टकोद्धरणे यत्नं कुर्यात्। ममु.

**अशासंस्तस्करान् यस्तु बलिं गृह्णाति पार्थिवः।**
**तस्य प्रक्षुभ्यते राष्ट्रं स्वर्गाच्च परिहीयते॥**

(१) शासनं यथाशास्त्रं वधादि, दण्डमन्तरेण तस्कराणां निग्रहो रक्षा च न शक्यते। अतो वृत्तिं गृहीत्वा यस्तस्करवधाज्जुगुप्सते तस्योभयो दोषः। इह राष्ट्रकृतोऽमुत्र स्वर्गपरिहानिः। युक्ता च बलिपरिगृहीतस्य तन्निष्कृतिमकुर्वतो दोषवत्ता। मेधा.

(२) यश्च पुनर्नृपतिश्चौरादीननिराकुर्वन् षड्भागाद्युक्तं करं गृह्णाति तस्मै राष्ट्रवासिनो जनाः कुप्यन्ति। कर्मान्तरार्जिताऽप्यस्य स्वर्गप्राप्तिरनेन दुष्कृतेन प्रतिबध्यते। ममु.

(३) अशासन् अरक्षन्। भाच.

**निर्भयं तु भवेद्यस्य राष्ट्रं बाहुबलाश्रितम्।**
**तस्य तद्वर्धते नित्यं सिच्यमान इव द्रुमः॥**

(१) प्रसिद्धमेवैतच्छ्लोके तस्करवधविधिशेषतया अनूद्यते। मेधा.

---

(१) मस्मृ. ९।२५२ ग., शास्त्रतः (शाश्वतः) द्धरणे नि (द्धारणैर्नि) [देशस्तु (देशेषु) दुर्गश्च (दुर्गस्तु) Noted by Jha].

(२) मस्मृ. ९।२५३.

१ (च०). २ ननिषेधस्तद्वृ. ३ रक्षानुवृ. ४ अन्येषां तु. ५ त्वादर्शनमर्थ.

(१) मस्मृ. ९।२५४ [तस्य (यस्य) गाच्च (गात्स.) Noted by Jha]; व्यक. ११०; विर. २९४; विचि. १२४; दवि. ४ अशा......रान् (अंशांशं तस्कराद्); विव्य. ५१ यस्तु (यो हि).

(२) मस्मृ. ९।२५५ [तस्य...ते (तस्याभिवर्धते) सिच्य (सेव्य) Noted by Jha]; व्यक. ११० तु (वा); विर. २९४ तु (हि).

१ ग्रहरक्षा न. २ धर्मविशेष.

(२) यस्य राज्ञो बाहुवीर्याश्रयेण राष्ट्रं चौरादिभयरहितं भवति तस्य नित्यं तद्वृद्धिं गच्छति। उदकसेकेनेव वृक्षः। ममु.

[1]**विक्रोशन्त्यो यस्य राष्ट्राद्ध्रियन्ते दस्युभिः प्रजाः।**
**संपश्यतः सभृत्यस्य मृतः स न तु जीवति ॥**

(१) पूर्वोक्तयुक्तताऽप्रमादयोरन्यथात्वे[1] दोषमाह। यदि सम्यग्गुल्मस्थानानि प्रति न जागर्ति तदा छिद्रान्वेषिभिर्दस्युभिः चौरैः प्रजा ह्रियन्ते। तासु किं करिष्यति। अतस्तादृशो राजा मृत एव। जीवितं मरणमेव। अतोऽप्रमत्तेन भवितव्यम्। विक्रोशन्त्यः आक्रन्दन्त्यः। ह्रियन्ते संपश्यतः सभृत्यस्य। निर्दिष्टं द्रक्ष्यते। केवलं च भृत्यास्तदीयाः पश्यन्ति नानुधावन्ति न[2] मोक्षयन्ति। सर्वे ते मृतकल्पाः। मेधा.

(२) यस्य राज्ञः सभृत्यस्य पश्यत एव राष्ट्रादाक्रन्दन्त्यः प्रजाः शत्रुप्रभृतिभिः अपह्रियन्ते स स्वजीवितकार्याभावात् मृत एव न तु जीवति। गोरा.

[2]**द्विविधांस्तस्करान् विद्यात्परद्रव्यापहारिणः।**
**प्रकाशांश्चाप्रकाशांश्च चारचक्षुर्महीपतिः ॥**

(१) चाराः प्रच्छन्ना राष्ट्रे राजकृत्यज्ञानिनस्ते चक्षुषी इव यस्य स चारचक्षुः। प्रकाशतस्कराणां[3] नास्ति तस्करव्यवहारो यथा लोकेऽन्येषामटवीरात्रिचराणामस्ति[5], तैः सामान्योपादानं तद्वन्निग्रहार्थं क्रियते। मेधा.

(२) चार एव चौरज्ञानहेतुत्वाच्चक्षुरिव यस्यासौ राजा, चारैरेव प्रकटतया गूढतया द्विप्रकारन्यायेन परधनग्राहिणो जानीयात्। ममु.

[1]**प्रकाशवञ्चकास्तेषां नानापण्योपजीविनः।**
**प्रच्छन्नवञ्चकास्त्वेते ये स्तेनाटविकादयः ॥**

(१) तत्र ये क्रयार्थं मानतुलादिना मुष्णन्ति, द्रव्याणामागमस्थाननिर्गमनाक्षेपं कुर्वन्ति ते प्रकाशवञ्चका वाणिजकाः। प्रच्छन्नास्तु ये रात्रौ मुष्णन्ति ते स्तेनाः, आटविका विजने प्रदेशे वसन्ति। अपरे तु प्रसह्य हारिणो न केवलमेत एव किं तर्हीमे चान्ये; यानूर्ध्वं वक्ष्यामः। मेधा.

(२) तेषां पुनश्चौरादीनां मध्याद्ये तुलाप्रतिमानोपचयापचयादिना हिरण्यादिपण्यविक्रयिणः परधनमनुचितेन गृह्णन्ति ते प्रकाशवञ्चकाः। स्तेनाश्चौराः सन्धिच्छेदादिना गुप्ताटव्याश्रयाश्च परधनं गृह्णन्ति ते प्रच्छन्नवञ्चकाः। ममु.

[2]**उत्कोचकाश्चौपधिका वञ्चकाः कितवास्तथा।**
**मङ्गलादेशवृत्ताश्च भद्राश्चेक्षणिकैः सह ॥**

(१) उत्कोचका ये कस्यचित्कार्ये[1] कस्यचिद्राजामात्यादेः प्रवृत्तौ अर्थग्रहणेन कार्यसिद्धौ[2] प्रवर्तन्ते[3]। औपधिकाः छद्मव्यवहारिणः। अन्यद् ब्रुवन्ति अन्यदाचरन्ति, प्रत्यक्षं प्रीतिं दर्शयित्वा अपकारे वर्तन्ते। विनाऽप्यर्थग्रहणेन निमित्तान्तरतः अन्यतोऽपरस्य कार्यसिद्धिमवश्यं विज्ञाय मया तवैतत्क्रियत इति परं

---

(१) **मस्मृ.** ७।१४३ [ मृतः स ( मृतस्तु ) न तु ( न स, न च, स न ) Noted by Jha ]; **व्यक.** ११० न तु ( च न ); **विर.** २९४ न तु ( न हि ).

(२) **मस्मृ.** ९।२५६ हारिणः ( हारकान् ); **व्यक.** १०९; **स्मृच.** ३१७; **विर.** २८९; **व्यनि.** ५०१; **सवि.** ४६० द्या ( न्द्या ); **विता.** ७७७ त्पर ( त्सर्वं ); **सेतु.** २२७; **समु.** १४९.

१ योरप्रमा. २ (न०). ३ शस्तस्क. ४ नातित. ५ मामस्तैः.

(१) **मस्मृ.** ९।२५७ [ स्तेषां ( स्त्वेषां ) स्त्वेते...दयः ( स्त्वेवं स्तेनाटव्यादयो जनाः, स्त्वेते स्तेनाटव्यादयो जनाः, श्चैव स्तेना अटविका जनाः, स्त्वेषां ये स्तेनाटविकादयः ) Noted by Jha ]; **व्यक.** १०९ कास्त्वेते ( का ज्ञेया ); **विर.** २९१ स्त्वेते...दयः ( स्तेषां स्तेनाटव्यादयो जनाः ); **दवि.** ११८ पू. : १२१ विरवत्, उत्त.; **समु.** १४९ ये स्तेना ( स्तेना आ ).

(२) **मस्मृ.** ९।२५८ [ पूर्वार्धे ( उत्कोचकाश्चौपधिकान् वञ्चकान् कितवांस्तथा ), वृत्ताश्च ( वृत्तांश्च ), भद्रा...सह ( भद्रश्च प्रेक्षणिकैः सह, भद्राश्चेक्षणिकास्तथा, मद्राश्चेक्षणिकास्तथा, भद्राश्चेक्षणिकांस्तथा ) Noted by Jha ]; **व्यक.** १०९ काश्चौ ( काः सो ); **विर.** २९१ श्चे ( श्चै ) शेषं व्यकवत्; **दवि.** ११८ उत्कोच ( औत्कोचि ) श्चे ( श्चै ); **समु.** १४९ श्चे ( श्चै ).

१ त्कार्येण क. २ वृत्तो ग्रहणानिकार्यसिद्धौ. ३ वर्तते।.

गृह्णन्ति, भीषिकाप्रदर्शनं वा उपधिः[1]। वञ्चकाः कितवा धनग्रहणार्थे सदा देविन इत्यर्थः। पृथगर्थे वा पदं वञ्चकाः[2], विप्रलम्भकाः। इद कार्यं वयमेव करिष्यामस्तव नान्येऽत्रस्था[3] इत्युक्त्वा न कुर्वन्ति[4], उपेत्य नानाकारैर्नानाविधैरुपायैर्ग्रामीणान्[5] मुष्णन्ति। शिवमाधवादयः शिवमादित्यं उपजीवन्ति[6]। मङ्गलादेशवृत्ताः शान्त्युपदेशिका[7] ज्यौतिषिकादयः। अथवा एतां देवतां त्वदर्थेनाहं प्रीणयामि दुर्गां मार्तण्डं चेति तथा आढ्यानां धनमुपजीवन्ति। अथवा मङ्गलं तवास्त्विति[8] वादिनः मङ्गलादेशवृत्ताः। अभद्रा[9] भद्राः। प्रेक्षणिकाः सर्वस्य करदर्शनेन प्रशंसन्ति पुरुषलक्षणानि। मेधा.

(२) उत्कोचका उत्कोचग्राहिणः। औपधिकाः स्तुत्यादिकृतेनोपधिना छलेन गृह्णन्तः। वञ्चका वेषान्तरेण भ्रममुत्पाद्य आदातारः। कितवा द्यूतकृतः। मङ्गलादेशो मङ्गलस्तुतिपाठः वृत्तं चरितं येषाम्। भद्राः सुरूपतामात्मनो विधाय स्त्र्यादिव्यामोहकाः। ईक्षणिकाः प्रेक्षणीयकर्तारो नटादयः। मवि.

(३) उत्कोचका ये कार्यिभ्यो धनं गृहीत्वा कार्यमयुक्तं कुर्वन्ति। औपधिका भयदर्शनाद्ये धनमुपजीवन्ति। वञ्चका ये सुवर्णादि द्रव्यं गृहीत्वा परद्रव्यप्रक्षेपेण वञ्चयन्ति। कितवा द्यूतसमाह्वयदेविनः। धनपुत्रलाभादिमङ्गलमादिश्य ये वर्तन्ते ते मङ्गलादेशवृत्ताः। भद्राः कल्याणाकारप्रच्छन्नपापा ये धनग्राहिणः। ईक्षणिका हस्तरेखाद्यवलोकनेन शुभाशुभफलकथनजीविनः। ममु.

**असम्यक्कारिणश्चैव महामात्राश्चिकित्सकाः।**
**शिल्पोपचारयुक्ताश्च निपुणाः पण्ययोषितः॥**

(१) महामात्रा मन्त्रिपुरोहितादयो राजनैकटिकास्ते चेदसम्यक्कारिणः। चिकित्सका वैद्याः। शिल्पोपचारयुक्ता चित्रपत्त्रच्छेदरूपकारादयः। उपचार उपायनं, अनुपयुज्यमानस्वशिल्पकौशलं दर्शयित्वाऽनुष्ठाय धनं नयन्ति, एवं पण्ययोषितो निपुणाश्चोपचारेणासत्प्रीतिदर्शनेन। असम्यक्कारिण इति सर्वत्रानुयुज्यते। मेधा.

(२) महामात्राः अमात्या राज्ञः, तथा चिकित्सका भिषजः। असम्यक्कारिणोऽयुक्तकारिणः। शिल्पयुक्ताः चित्रकारादयः। उपकारयुक्ताः केशादिसंस्कर्तारः। निपुणाः स्वस्ववृत्तिकुशलाः। पण्ययोषितो वेश्याः। मवि.

(३) महामात्रा हस्तिशिक्षाजीविनः। चिकित्सकाः चिकित्साजीविनः। असम्यक्कारिण इति महामात्रचिकित्सकविशेषणम्। शिल्पोपचारयुक्ताः चित्रलेखाद्युपायजीविनः तेऽप्यनुपजीव्यमानशिल्पोपायप्रोत्साहनेन धनं गृह्णन्ति। पण्यस्त्रियश्च परवशीकरणकुशलाः। ममु.

(४) शिल्पोपकारयुक्ताः छत्रतालवृन्ताद्युपकारकारिणः। नन्द.

**एवमाद्यान् विजानीयात्प्रकाशाँल्लोककण्टकान्।**
**निगूढचारिणश्चान्याननार्यानार्यलिङ्गिनः॥**

(१) एवमाद्यान्, न शक्यते धूर्तानां परद्रव्यापहारिणां[1] प्रकारान् संख्यातुमित्याद्यग्रहणं, तथा ह्यासक्तं[2] कथयन्ति अवधीरयन्तीमनुरागिणीं[3], तथाऽभृत्यो[4] भृत्यवदात्मानं दर्शयित्वा नयति हिरण्यं ऋजुप्रकृतेर्न चार्थभृतः, त्वं ब्रह्मा त्वं बृहस्पतिरित्युक्त्वा मूर्खाढ्यान्नयन्ति देहि प्रसादेन कतिपयैर्वाऽहोभिः प्रत्यर्पयामीति सिद्धे प्रयोजने तनुतरो भवति प्रियवाद्यप्रियवादी संपद्यते। निगूढचारिणः। मेधा.

(२) विजानीयात् किमन्याय्यं कुर्वन्तीति। प्रकाशान् धनिनः समक्षं ग्रहीतॄन्। निगूढकारिणो निह्नवेनाहर्तॄन्। आर्यलिङ्गिनो ब्रह्मचर्यादिवेषान्। मवि.

(३) एवमादीन् प्रकाशं लोकवञ्चकान् चारैर्जानीयात्।

---

(१) मस्मृ. ९।२५९ [ पचार ( पकार ) Noted by Jha ]; व्यक. १०९; विर. २९१; दवि. ११८ पचार ( पकार ); समु. १४९.

१ उपधावनग्रहणार्थे. २ पादवञ्चकाः. ३ नान्यत्र. ४ कुर्वत उ. ५ कारणनाना. ६ ( उप० ). ७ यान्तु. ८ तथाऽस्त्विति. ९ सर्वस्य करवर्धने अभद्रा भद्राप्रेक्षणकाः प्रशंसिपुरुपलक्षणाः।.

(१) मस्मृ. ९।२६० माद्यान् ( मादीन् ) [ विजानीयात् ( विजातीयान् ) Noted by Jha ]; व्यक. १०९; मवि. चारि ( कारि ); विर. २९१; दवि. ११८; समु. १४९ विरवत्.

१ हाराणां. २ ह्यशक्यं क. ३ वधार. ४ तथा भृत्यो.

अन्यानपि प्रच्छन्नचारिणः शूद्रादीन् ब्राह्मणादिवेषधारिणो धनग्राहिणो जानीयात् । ममु.

**तान् विदित्वा सुचरितैर्गूढैस्तत्कर्मकारिभिः ।**
**चारैश्चानेकसंस्थानैः प्रोत्साह्य वशमानयेत् ॥**

(१) तत्कर्मकारिभिः तुल्यकर्मकारिभिर्विद्यापूर्वं ये तत्कर्म कृतवन्तः । अथवा संप्रत्येव तत्कर्म कार्यन्ते अन्तर्भावसिद्ध्यर्थं लब्धान्तरा आगत्य कथयिष्यन्ति । तथान्यैरपि चारैरनेकसंस्थानैः । मेधा.

(२) सुचरितैः सम्यक्चरद्भिः, तत्कर्मकारिभिः चोरत्वेन तेष्वात्मानं प्रकाशयद्भिः गूढैश्चारैः अनेकसंस्थानैः अनेकवेशैः प्रोत्साह्य चौर्यादिकरणे प्रवर्त्य वशमानयेत् गृह्णीयात् । मवि.

(३) तानुक्तान् वञ्चकान् सभ्यैः प्रच्छन्नैः तत्कर्मकारिभिः वणिजां स्तेये वणिग्भिरित्येवमादिभिः पुरुषैरेतद्व्यतिरिक्तैः सप्तमाध्यायोपदिष्टकापटिकादिभिश्चारैरनेकस्थानस्थैर्ज्ञात्वा प्रोत्साह्य स्ववशान् कुर्यात् । ममु.

**तेषां दोषानभिख्याप्य स्वे स्वे कर्मणि तत्त्वतः ।**
**कुर्वीत शासनं राजा सम्यक् सारापराधतः ॥**

(१) दोषान् स्तेयादीन् अभिख्याप्य लोके लोकानुद्वेगार्थम् । स्वे स्वे कर्मणि वित्तग्रहणघातनादौ कृते । सारापराधत इति, मुषितवस्तुनः सारतां ज्ञात्वा सम्यक् च चौरापराधं ज्ञात्वेत्यर्थः । मवि.

(२) तेषां प्रकाशाप्रकाशतस्कराणां स्वकर्मणि चौर्यादौ ये पारमार्थिका दोषाः संधिच्छेदादयस्तान् लोके प्रख्याप्य तद्गतधनशरीरादिसामर्थ्यापेक्षयाऽपराधापेक्षया च राजा दण्डं कुर्यात् । ममु.

(३) अभिख्याप्य लोकैः कथयित्वा । सारशब्दोऽपहृतधनपरः तेनापहृतधनानुसारिणा अपराधेन तान् दण्डयेदित्यर्थः । विर. २९३

(४) सारापराधतः, सारतश्च अपराधतश्च । नन्द.

**न हि दण्डादृते शक्यः कर्तुं पापविनिग्रहः ।**
**स्तेनानां पापबुद्धीनां निभृतं चरतां क्षितौ ॥**

(१) पापविनिग्रहः पापान्निवृत्तिः स्तेनानाम् । मवि.

(२) यस्माच्चौराणां पापाचरणबुद्धीनां विनीतवेषेण पृथिव्यां चरतां दण्डव्यतिरेकेण पापक्रियायां नियमं कर्तुमशक्यमत एषां दण्डं कुर्यात् । ममु.

तस्करादिकण्टकान्वेषणविधिः

**सभाप्रपापूपशालावेशमद्यान्नविक्रयाः ।**
**चतुष्पथाश्चैत्यवृक्षाः समाजाः प्रेक्षणानि च ॥**
**जीर्णोद्यानान्यरण्यानि कारुकावेशनानि च ।**
**शून्यानि चाप्यगाराणि वनान्युपवनानि च ॥**
**एवंविधान्नृपो देशान् गुल्मैः स्थावरजङ्गमैः ।**
**तस्करप्रतिषेधार्थं चारैश्चाप्यनुचारयेत् ॥**

(१) सभा ग्रामनगरादौ नियतं जनसमूहस्थानं, प्रपा जलदानगृहं, अपूपविक्रयवेश्म, पण्यस्त्रीगृहं, मद्यान्न-

---

(१) मस्मृ. ९।२६१ त्साह्य (त्साद्य) [ त्साह्य ( च्छाद्य, त्सार्य ) Noted by Jha ]; व्यक. ११० सुच ( तु च ) कारि ( वेदि ); विर. २९३ सुच ( तु च ) गूढै ( स्तैस्तै ); व्यनि. ५०४ सुच ( तु च ) कारि ( चारि ) प्रोत्साह्य ( प्रसह्य ); समु. १४९ व्यनिवत्.

(२) मस्मृ. ९।२६२ [ ख्याप्य ( ज्ञाप्य ) Noted by Jha ]; व्यक. ११० षानभिख्याप्य ( षमभिख्याय ); विर. २९३ प्य ( य ); विचि. १२३ त्त्वतः ( त्ततः ); व्यनि. ५०४; दवि. ८१ पराधतः ( नुसारतः ); सेतु. २२९ दविवत्; समु. १४९.

१ ( तत्कर्मकारिभिः ० ). २ थान्यैरपि चारैस्तत्कर्मकारिभिरने.

(१) मस्मृ. ९।२६३ [ निभृतं ( निगूढं ) Noted by Jha ]; व्यक. ११० पापवि ( न्यायवि ); विर. २९३ शक्यः कर्तुं ( कर्तुं शक्यः ).

(२) मस्मृ. ९।२६४; अप. २।२६८ मनुनारदौ; व्यक. ११७; विर. ३३६; व्यनि. ५०५ पूप ( द्यूत ) वेश ( वेश्म ) याः ( या ) उत्तरार्धे ( चतुष्पथं चैत्यवृक्षः समाजप्रेक्षणादि च ); समु. १४९ जाः ( जः ).

(३) मस्मृ. ९।२६५; अप. २।२६८ जी ( शी ) चाप्य ( वाप्य ) मनुनारदौ; व्यक. ११७; विर. ३३६; व्यनि. ५०५; समु. १४९.

(४) मस्मृ. ९।२६६; अप. २।२६८ श्चाप्य ( रप्य ) मनुनारदौ; व्यक. ११७; विर. ३३६; व्यनि. ५०५ लैः स्था ( लमस्था ); समु. १४९.

विक्रयस्थानानि, चतुष्पथाः, प्रख्यातवृक्षमूलानि, जनसमूहस्थानानि, जीर्णवाटिकाः, अटव्यः, शिल्पिगृहाणि, शून्यगृहाणि, आम्रादिवनानि, कृत्रिमोद्यानानि । एवंप्रकारान् देशान् सैन्यैः पदातिसमूहैः स्थावरजङ्गमैरेकस्थानस्थितैः प्रचारिभिश्चान्यैः चारैः तस्करनिवारणार्थं चारयेत् । प्रायेणैवंविधे देशेऽन्नपानस्त्रीसंभोगमन्वेषणार्थं तस्करा अवतिष्ठन्ते । ममु.

(२) अपूपशाला कन्दुकशाला । वेशो वेश्यागृहं, मद्यान्नविक्रया मद्यान्नविक्रयस्थानानि । चैत्यवृक्षाः प्रौढपादपाः । सभाया उपात्तत्वात्तदन्यमेलके समाजपदं, कदाचित्तत्रापि चोरसंभवात् । प्रेक्षणानि प्रेक्षणीयनृत्यादिस्थानानि । कारुकावेशनानि शिल्पिगृहाणि । गुल्मैः पदातिसमूहैः, अस्यैव विशेषणं स्थावरजङ्गमैः । तेन स्थितैः संचरद्भिः पदातिसमूहैः चारैश्च तस्करप्रतिषेधार्थं संभविचौराणि स्थानान्यनुचारयेदित्यर्थः ।

विर. ३३६-७

**तत्सहायैरनुगतैर्नानाकर्मप्रवेदिभिः ।**
**विद्यादुत्सादयेच्चैव निपुणैः पूर्वतस्करैः ॥**

(१) तत्सहायैस्तेषामेव तस्कराणां सहायतां गतैः । सम्यक् तेषामनुगतैः । नानाकर्मप्रवेदिभिः तत्कर्मप्रवेदिभिः । नानाकर्मप्रचारिभिरिति क्वचित्पाठः । उत्साहयेत् चौर्यं कुर्म इत्युक्त्वा उद्यमं कारयेत् । पूर्वतस्करैः अन्यराष्ट्रे कृतचौर्यैः । मवि.

(२) तेषां साहाय्यं प्रतिपद्यमानैस्तच्चरितानुवृत्तिभिः संधिच्छेदादिकर्मानुष्ठानवेदिभिः पूर्वचौरैः चाररूपैः चारमायानिपुणैस्तस्करान् जानीयात् उत्सादयेच्च । ममु.

(३) स्वानुगतैः आत्मवशैः । नन्द.

**भक्ष्यभोज्योपदेशैश्च ब्राह्मणानां च दर्शनैः ।**
**शौर्यकर्मापदेशैश्च कुर्युस्तेषां समागमम् ॥**

(१) ते पूर्वचौरीभूताः आगच्छतास्मद्गृहं गच्छामस्तत्र मोदकपायसादीन्यश्नीम इत्येवं भक्ष्यभोज्यव्याजेन, अस्माकं देशे ब्राह्मणोऽस्ति सोऽभिलषितार्थसिद्धिं जानाति तं पश्याम इत्येवं ब्राह्मणानां दर्शनैः, कश्चिदेक एव बहुभिः सह योत्स्यते तं पश्याम इत्येवं शौर्यकर्मव्याजेन, तेषां चौराणां राज्ञो दण्डधारकपुरुषाः समागमं कुर्युर्ग्राहयेयुश्च । ममु.

(२) समागमे राजपुरुषैर्ग्रहणयोग्ये देशे । नन्द.

**ये तत्र नोपसर्पेयुर्मूलप्रणिहिताश्च ये ।**
**तान् प्रसह्य नृपो हन्यात् समित्रज्ञातिबान्धवान् ॥**

(१) नोपसर्पेयुर्जातशङ्काः । मूलप्रणिहिताः स्वराष्ट्रस्थितप्रकृत्यादिप्रेषिताः । प्रसह्य तत्र गत्वा बलात् । मवि.

(२) ये चौरास्तत्र भक्ष्यभोज्यादौ निग्रहणशङ्कया नोपसर्पन्ति ये च मूले राजनियुक्तपुराणचौरवर्गे प्रणिहिताः सावधानभूताः तैः सह संगतिं भजन्ते तांश्चौरान् तेभ्य एव ज्ञात्वा तदेकतापन्नमित्रपित्रादिज्ञातिस्वजनसहितान् बलादाक्रम्य राजा हन्यात् । ममु.

(३) तत्र समागमे ये यदृच्छया नोपसर्पेयुरिति । मूलप्रणिहिताः प्रणिहितमूलाः ज्ञातकारणाः ; भक्ष्यभोज्यापदेशेनात्मवधं जानन्त इति यावत् । नन्द.

**न होढेन विना चौरं घातयेद्धार्मिको नृपः ।**
**सहोढं सोपकरणं घातयेदविचारयन् ॥**

धार्मिको राजा हृतद्रव्यसंधिच्छेदोपकरणव्यतिरेकेण अनिश्चितचौरभावं न घातयेत् किन्तु द्रव्येण चौर्योपकरणेन च निश्चितचौरभावमविचारयन् घातयेत् । ममु.

---

(१) **मस्मृ.** ९।२६७; **गोरा.** [ त्साद ( त्साह ) Noted by Jha ]; **अप.** २।२६८ तत्स ( तान् स ) वेदि ( वादि ) त्साद ( त्साह ) क्रमेण मनुनारदौ; **मवि.** ' प्रचारिभिः ' इति क्वचित्पाठः, त्साद ( त्साह ); **व्यनि.** ५०५ यैरनु ( यैः स्वानु ); **समु.** १४९ यैरनु ( यैः सहानु ) त्साद ( त्साह ); **नन्द.** त्साद ( त्साह ) शेषं व्यनिवत्.

(२) **मस्मृ.** ९।२६८ [ ज्योपदे ( ज्यप्रदे ) Noted by Jha ]; **अप.** २।२६८ ज्योप ( ज्याप ) क्रमेण मनुनारदौ; **व्यनि.** ५०५ मां ( मौं ) कुर्यु....गमम् ( कुर्यात्तेषां समागतम् ); **मच.** अपवत्; **समु.** १४९ ज्योप ( ज्याप ) शौ ( चौ ) कुर्युस्ते ( कुर्यात्ते ); **नन्द.** ज्योप ( ज्याप ) गमम् ( गमे ).

(१) **मस्मृ.** ९।२६९ [ मित्र ( पुत्र ) Noted by Jha ]; **व्यनि.** ५०५ पूर्वार्धे ( ये तत्र नोपसर्पन्ति मूलप्रणिहितान् जनान् ) सह्य ( गृह्य ); **समु.** १४९.

(२) **मस्मृ.** ९।२७०; **अप.** २।२७५; **व्यनि.** ५०५; **समु.** १४९.

स्तेनातिदेशः

**ग्रामेष्वपि च ये केचिच्चौराणां भक्तदायकाः ।**
**भाण्डावकाशदाश्चैव सर्वांस्तानपि घातयेत् ॥**

(१) भाण्डं मूलधनं शस्त्रादिक्रयणार्थम् । अवकाशः शयनादिस्थानम् । एतच्च चौरताज्ञाने सति । मवि.

(२) ग्रामादिष्वपि ये केचिच्चौराणां चौरत्वं ज्ञात्वा भक्तदाः, चौर्योपयुक्तभाण्डादि गृहविश्रामं ये ददति तानपि नैरन्तर्याद्यपराधगोचरापेक्षया घातयेत् । ममु.

**अग्निदान् भक्तदांश्चैव तथा शस्त्रावकाशदान् ।**
**संनिधातॄंश्च मोषस्य हन्याच्चौरानिवेश्वरः ॥**

(१) शीतापनोदनाद्यर्थं योऽग्निं ददाति, शस्त्रं कर्तरिकादि, मोषस्य संनिधातारः सर्वे चौरवत् ज्ञेयाः । शस्त्रावकाशदग्रहणं प्रागुक्तमप्युपसंहारार्थमुच्यते । मेधा.

(२) अग्निदानं गृहदाहाद्यर्थं ततः करिष्यतीति ज्ञात्वाऽपि । संनिधातॄन् मोषस्थानसमीपनेतॄन् । मोषस्य चोरस्य । मवि.

(३) ग्रन्थिभेदादिकारिणो विज्ञाय अग्निभक्तशस्त्रावस्थानप्रदान् मुष्यत इति मोषश्चौरधनं तस्यावस्थापकान् चौरवद्राजा निगृह्णीयात् । ममु.

(४) एकं भक्तपदं सिद्धान्नपरं, अपरं भक्तपदं तद्व्यतिरिक्ताशनीयपरं, भाण्डं शस्त्राद्यचौर्योपकरणं, अवकाशोऽवस्थानदेशः, अग्निश्चौर्यानुकूलः, संनिधातॄंश्च मोषस्य, मोषणीयस्य द्रव्यस्यापहारानुकूलसंनिधानकारकान् । एतच्च भयाज्ञानविरहेण नेयम् । विर. ३३९

(५) किञ्च अग्निदानिति । भक्तं भक्तसंयुक्तं गरदादि दातॄन् । शस्त्रावकाशदान् शस्त्रैः शरीरस्यावकाशदातॄन् तच्छेदकान् । संनिधातॄन् मोषस्य, मुष्टस्य ज्ञात्वापि क्रयादिकारिणो वा भक्तदायकादीनामुक्तत्वात् । ईश्वर इत्यनेन समर्थः । सामन्ता अपि तथा कुर्युरिति ध्वनितम् । मच.

(६) मोषस्य मोषितद्रव्यस्य समोषसाधनस्य वा । नन्द.

(७) मोषस्य मुषितस्य वस्तुनः, संनिधातॄन् समीपवर्तिनः, ईश्वरः चौरानिव शिष्यात् क्षिपेत् । भाच.

**योऽदत्तादायिनो हस्ताल्लिप्सेत ब्राह्मणो धनम् ।**
**याजनाध्यापनेनापि यथा स्तेनस्तथैव सः ॥**

(१) अतिदेशोऽयम् । यो ब्राह्मणश्चौरानुपजीवति स चोरवद्दण्ड्यः । याजनाध्यापनेनापि । अपिः क्रियान्तरसूचकः । तेन प्रतिग्रहप्रीतिदाया अपि गृह्यन्ते । क्षत्रियादीनामन्यथैव वार्तादिस्वकर्मणा चोरधनं गृह्णताम् । ब्राह्मणग्रहणं तु मया किल धर्मेणार्जितं याजयतेत्यभिमाननिवृत्त्यर्थम् । अदत्तमादत्ते गृह्णातीत्यदत्तादायी चोरः । लिप्सेत लब्धुमिच्छेदगृहीतास्वपि दक्षिणासु तत्संबन्धादेव चौरनिग्रहः । मेधा.

(२) अदत्तग्राहिणश्चौरस्य ब्राह्मणो याजनाध्यापनप्रतिग्रहैरपि परकीयं धनमण्वपि गृह्णाति सोऽपि चौरो विज्ञेयः । अतश्चासौ चौरवद्दण्ड्यः । *गोरा.

(३) अदत्तादायिनश्चौरस्य हस्ताद्यो ब्राह्मणो याजनाध्यापनप्रतिग्रहैरपि परकीयधनं ज्ञात्वा लब्धुमिच्छेत् स चौरवच्चौरतुल्यो ज्ञेयः, अतः स इव दण्ड्यः । ममु.

(४) अदत्तादायिनश्चोरस्य लिप्सेतेति ग्रहणपरं,

---

(१) **मस्मृ.** ९।२७१; **अपु.** २२७।५२ वकाश (रकोश); **अप.** २।२७६ दाश्चै ( दांश्चै ); **व्यक.** ११७; **विर.** ३३९ याज्ञ-; **रत्न.** १२६; **व्यनि.** ५०७ अपवत्, याज्ञघात ( ताड ); **विता.** ७९३ भाण्डा ( भक्ता ) उत्त.; **बाल.** वल्क्यः; २।२७६; **समु.** १५२.

(२) **मस्मृ.** ९।२७८ रानि ( रमि ) [ मोषस्य ( मोक्षस्य ) Noted by Jha ]; **अप.** २।२७६; **व्यक.** ११७; **व्यनि.** ५०९ **विर.** ३३९ निवे ( न्नरे ); **विचि.** १४४; **दवि.** ८२; **बाल.** २।२७६ रानिवेहन्यात् ( शिष्यात् ); **सेतु.** २४७; **समु.** १५८ भक्त (गर) श्वरः ( रमिवेश्वरम् ); **विव्य.** ५२. निधा ( विधा ) यमः;

१ मोक्षस्य. २ तारः ( कर्तारः ).

* मवि., भाच. गोरावत् ।

(१) **मस्मृ.** ८।३४०; **मिता.** २।११४ नेना ( नाद्वा ); **अप.** २।२७६ योऽद ( अद ); **व्यक.** ११८ नापि ( नैव ); **विर.** ३४०; **पमा.** ४८२ ( = ); **विचि.** १४४; **दवि.** ८४; **सवि.** २८७ योऽद ( अद ) नो हस्ता ( नश्चोरा ) ब्रा ( ब्र ) स्मृत्यन्तरम्; **व्यप्र.** ४१५-६; **विता.** २७९ ( = ); **राकौ.** ४४२; **बाल.** २।२७६; **सेतु.** २४७; **समु.** ९८; **विव्य.** ५२.

सम्प्रयोगस्य निदिध्यासनादिवदर्थत्वेनाविवक्षितत्वात् । धनमिति परकीयमिति ज्ञात्वेति शेषः ।

इहापि मनुष्यमारणप्रकरणपरिसमाप्तिनिरुक्तन्यायाद् यथा तथेति श्रवणाच्च स्तेनद्रव्यक्रेतुस्तत्परिग्रहीतुश्च स्तेनत्वातिदेशमात्रमेव, वास्तवस्य स्तेयस्याभावात् । तदपि तदुक्तदण्डप्राप्त्यर्थमेव प्रकरणात्, न तु प्रायश्चित्ताद्यतिदेशपरम् । अतः स्तेनहस्ताद्ब्राह्मणस्वमपि सुवर्णं क्रीत्वा गृहीत्वा वा महापातकित्वं न भवतीति ध्येयम् । दवि. ८४

(५) अदत्तमादातुं शीलं यस्य सोऽदत्तादायी तस्य यज्ञाद्यर्थधनस्वत्वानुत्पत्तेरिति भावः । मच.

(६) अदत्तादायीति स्तेनसाहसिकयोर्ग्रहणम् । नन्द.

**राष्ट्रेषु रक्षाधिकृतान् सामन्तांश्चैव चोदितान् ।**
**अभ्याघातेषु मध्यस्थान् शिष्याच्चौरानिव द्रुतम् ॥**

(१) कृतौ (?) सामन्तान् समीपवासिनः, चोदितान् आहूतान् । अभ्याघातेषु चौरैः क्रियमाणेषु घातेषु । मध्यस्थान् उदासीनतया स्थितान् । मवि.

(२) ये राष्ट्रेषु रक्षानियुक्ताः, ये च सीमान्तवासिनः क्रूराः सन्तः चौर्योपदेशे मध्यस्था भवन्ति तान् चौरवत् क्षिप्रं दण्डयेत् । ममु.

(३) राष्ट्राधिकृतान् ग्रामवासिनः, देशितान् ग्रामादिरक्षार्थमादिष्टान्, प्रजानां चौरादिभिरुपहृतेषु क्रियमाणेषु मध्यस्थान् उपेक्षकान् चौरवद्दण्डयेदिति वाक्यार्थः । विर. ३४१

(४) अभ्याघातेषु चोरादपहृतद्रव्येषु चोरघातकेषु वा, मध्यस्थान् चोरोऽपि न चोरोऽयमिति वादिनः । मच.

(१) मस्मृ. ९।२७२ [ राष्ट्रेषु रक्षाधि ( राष्ट्रे पुरे वाधि ) द्रुतम् ( द्रुतान् ) Noted by Jha ]; अपु. २२७।५२ ( राष्ट्रेषु राष्ट्राधिकृतान् सामन्तान् पापिनो हरेत् ) एतावदेव; अप. २।२७६ रक्षा ( राष्ट्रा ) ध्याचौ ( ध्यांश्चौ ); व्यक. ११८ रक्षाधिकृतान् ( राष्ट्राधिकामान् ); विर. ३४१ रक्षा ( राष्ट्रा ) चोदि ( देशि ) घाते ( गते ); विचि. १४६ चोदि ( देशि ) घाते ( गते ) रानिव ( रमवि ); दवि. ८३ चोदि ( देशि ) निव द्रुतम् ( निवेश्वरः ); बाल. २।२७६; सेतु. २४९ चि ( दि ) चोदि ( देशि ) रानिव ( रमिव ); समु. १५२ रक्षा ( राष्ट्रा ) श्चैव चोदि ( श्च यथोदि ); विव्य. ५२.

**यश्चापि धर्मसमयात्प्रच्युतो धर्मजीवनः ।**
**दण्डेनैव तमप्योषेत्स्वकाद्धर्माद्धि विच्युतम् ॥ ***
**ग्रामघाते हिताभङ्गे पथि मोषाभिदर्शने ।**
**शक्तितोऽनभिधावन्तो निर्वास्याः सपरिच्छदाः ॥**

(१) शक्तौ सत्यामालस्यादिना । ते निर्वास्याः । ये तु चौरैः कृतसंकेतास्तेषां पूर्वत्र वध उक्तो घातयेदिति । परिच्छदो गवाश्वादिः । तदपि निर्वास्येनापहर्तव्यं, नासपरिच्छदः हर्तव्यो धनं तु हर्तव्यम् । मेधा.

(२) तटाभङ्गे सेत्वादिभङ्गे । हिताभङ्ग इति क्वचित्पाठः । हिता नदीमध्यसेतुः । पथि मोषादि चौर्यसाहसादि तेषां मर्षणे सहने । मवि.

(३) ग्रामलुण्ठने तस्करादिभिः क्रियमाणे, हिताभङ्गे जलसेतुभङ्गे जाते । 'क्षेत्रोत्पन्नसस्यनाशने वृतिभङ्गे च' इति मेधातिथिः । पथि चौरदर्शने तन्निकटवर्तिनो यथाशक्ति ये रक्षां न कुर्वन्ति ते शय्यागवाश्वादिपरिच्छदसहिता देशान्निर्वासनीयाः । ममु.

**राज्ञः कोषापहर्तॄंश्च प्रतिकूलेषु च स्थितान् ।**
**घातयेद्विविधैर्दण्डैररीणां चोपजापकान् ॥**

* व्याख्यासंग्रहः स्थलादिनिर्देशश्च साहसप्रकरणे ( पृ. १६२९ ) द्रष्टव्यः ।

(१) मस्मृ. ९।२७४ तोऽन ( तो ना ) [ हिताभङ्गे ( इडाभङ्गे, तडागभङ्गे, सेतुभङ्गे ) Noted by Jha ]; अप. २।२७६ हिता ( हिडा ); व्यक. ११८; मवि. हिता ( तटा ) भिदर्शने ( दिमर्षणे ); विर. ३४१; विचि. १४६; बाल. २।२७६ तोऽन ( तो ना ); सेतु. २४९ ऽनभि ( न हि ); समु. १५२ हिता ( हिडा ) मोषाभिद ( चोराभिम ) शक्तितोऽन ( शक्तास्त्वन ); विव्य. ५३ षाभि ( षादि ).

(२) मस्मृ. ९।२७५ [ प्रतिकूलेषु च ( प्रातिकूल्येष्वव, प्रतिकूलेषु वा, प्रतिकूल्येष्वव ) घात.....कान् ( अरीणामुपधावतो घातयेद्विविधैर्वधैः ) Noted by Jha ]; मिता. २।३०२ जाप ( कार ); अप. २।२८२; व्यक. १२२ षु च ( ऽथवा ) चोप ( चाप ); विर. ३६७ हर्तॄं ( हन्तॄं ) षु च ( ष्वव ) [ ररीणां ( वीराणां ) Noted by Jha ]; पमा. ५८१ ररीणां....कान् ( हरेत् सर्वस्वमेव च ); विचि. १६० राज्ञ ( राज ) हर्तॄं ( हन्तॄं ) षु च ( ष्वव ); व्यनि.

१ कर्तव्यो.

(१) कोशो राज्ञां धनसंचयस्थानं, तत्रापहर्तारो द्रव्यजातिपरिमाणानपेक्षमेव वध्याः। ये च प्रातिकूल्येन वर्तन्ते, यद्राज्ञां देशान्तरादानेतुमभिप्रेतं तद्देशदुर्लभमजाविकाश्वादि, प्राच्यानामुदीच्यानां कलिङ्गदेशोद्भवहस्त्यादि तदानयनप्रतिबन्धे ये वर्तन्ते, तथा यानि मित्राणि तानि शत्रून् कुर्वते कृत्वा शत्रुभिः संयोजयन्ति। अरीणामुपजापकाः प्रोत्साहकास्तान् घातयेत्, स्वतन्त्रप्रयोजनत्वान्नावश्यं घातनमित्युक्तम्। मेधा.

(२) अरीणां संबन्धिन उपजापकान् स्वप्रकृतिभेदकान्। मवि.

(३) राज्ञो धनगृहाद्धनापहारिणः, तथा तदाज्ञाव्याघातकारिणः, शत्रूणां च राज्ञा सह वैरवृद्धिकारिणोऽपराधापेक्षया करचरणजिह्वाच्छेदनादिभिर्नानाप्रकारदण्डैर्घातयेत्। ममु.

(४) उपजापकान् तत्पक्षपातिनो भूत्वा राज्ञश्छिद्रप्रकटकान्। मच.

(५) अरीणामुपजप्तॄन् मित्राण्यरयो यथा भवेयुस्तथा भेदकान् इत्यर्थः। कृतसन्धीनामरीणामुपजापकानिति वा। नन्द.

**¹चिकित्सकानां सर्वेषां मिथ्याप्रचरतां दमः।**
**अमानुषेषु प्रथमो मानुषेषु तु मध्यमः॥**

(१) चिकित्सका भिषजस्तेषां मिथ्याप्रचाराणामौषधदानमुभयथा संभवति। यदि वाऽविज्ञातशास्त्रप्रयोगतया शास्त्रे परिचितेऽपि वाऽतत्परतयाऽर्थलिप्सया। अमानुषेषु गवाश्वहस्त्यादिषु प्रथमः साहसदण्डोऽनुष्ठातव्यः। एवं मानुषेषु तु मध्यम इति। तथाप्रचारेण यद्यात्स्वेव विपद्येत तदा महान् दण्डः कल्पनीयः। मेधा.

(२) सर्वेषां कायशल्यादिभिषजां दुश्चिकित्सां कुर्वतां दण्डः कर्तव्यः। तत्र गवाश्वादिविषये दुश्चिकित्सायां प्रथमसाहसदण्डो मानुषविषये पुनर्मध्यमसाहसः। ममु.

चौरादिकण्टकनिग्रहो राज्ञो धर्मः

**परमं यत्नमातिष्ठेत्स्तेनानां निग्रहे नृपः।**
**स्तेनानां निग्रहादस्य यशो राष्ट्रं च वर्धते॥**

(१) कश्चित् करुणावान् 'क्रूरं हिंसाकर्म' इति मन्यमानो न प्रवर्तते। अतस्तत्प्रवृत्त्यर्थं स्तेननिग्रहस्तुत्यर्थवादः प्रक्रम्यते। नात्र हिंसादोषोऽस्ति प्रत्युत दृष्टादृष्टोपकारहेतुत्वात्स्तेनहिंसैव श्रेयस्करी। वेदतुल्यतां च ख्यापयितुमर्थवादा भूयांसस्तत्र हि प्रायेण सार्थवादका विध्युद्देशा इति तत्प्रतीत्यनुसरणेन वैदिकोऽयमर्थ इति प्रसिद्धिः। भवन्ति चात्र केचित्प्रतिपत्तारो ये स्तुतिभिरतितरां प्रवर्तन्ते। परमं यत्नं प्रकृष्टमतिशयवत्तात्पर्यं आश्रयेत् चरैश्चारयेत् साक्षात्प्रकाशं चातिप्रयत्नतः। स्तेनाः चौराः। निग्रहो नियमनवधबन्धनादि। एवं कृते यशः ख्यातिर्भवति। निरुपद्रवोऽस्य राज्ञो देशः, स्तेना नाभिभवन्ति, निशा दिवा तुल्या तत्र, इति सर्वत्र स्थितं भवति। राष्ट्रं वर्धते। राष्ट्रं जनपदस्तस्मिन्निवासिनश्च पुरुषाश्चौरैरनुपद्रूयमाणा वर्धन्ते। श्रीभिः प्रमोदमाना बहुपर्यन्तदेशान्तरस्था अपि निरुपद्रवं राष्ट्रमाश्रयन्ते। ततो वर्धते। मेधा.

(२) चौरनियमे प्रकृष्टमभियोगं राजा कुर्यात्। यस्मात्तन्निग्रहात् राज्ञः प्रजा निरुपद्रवतया च देशो जनधनबाहुल्येन वृद्धिमेति। *गोरा.

* ममु. गोरावत्।

५०८ (राज्ञः कोशापहर्तॄंश्च हन्यादेवाविचारयन्) नारदः, एतावदेव : ५०८ प्रतिकूलेषु च (प्रातिकूल्येष्वव) उत्तरार्धे (अरीणामुपजप्तॄंश्च शातयेद्विविधैर्वधैः); दवि. ३१६ विरवत्; वीमि. २।३०२ षु च सवि. ४९३ (=) मितावत्; व्यप्र. ५६९ षु च (ष्वव) शेषं (व्यव) जाप (जाय); व्यउ. १६५ जाप (जीव) क्रमेण याज्ञवल्क्यः; पमावत्; व्यम. ११० षु च (ष्वव); विता. ८२७; बाल. २।२७६; सेतु. ३०६ पूर्वार्धे (कोषाणामपहर्तॄंश्च प्रतिकूलेष्ववस्थितान्) याज्ञवल्क्यः; समु. १६५ व्यमवत्; भाच. जाप (याज).

(१) मस्मृ. ९।२८४; व्यनि. ५१० बृहस्पतिः; समु. १५८ क्रमेण यमः.

१ माजानेयाश्वादि.

(१) मस्मृ. ८।३०२ [हाद (हाच्चा) Noted by Jha]; गोरा. यशो (प्रजा); व्यक. ११० राष्ट्रं च (राज्यं वि); विर. २९३; विचि. १२४; स्मृचि. २५; सेतु. २२९; विव्य. ५१ हाद (हणा).

१ शब्दोऽनु. २ रिति. ३ न्ते दे.

**अभयस्य हि यो दाता स पूज्यः सततं नृपः ।**
**सत्रं हि वर्धते तस्य सदैवाभयदक्षिणम् ॥**

(१) अभयं चोरादिभ्योऽधिकृतेभ्यश्चासद्दण्डनिवारणेन यो ददाति स सर्वदैव पूज्यो भवति स्वैरकथास्वपि राज्याच्च्युतो वनस्थोऽपि । सत्रं क्रतुविशेषो गवामयनादि, तदस्य वर्धते निष्पद्यते । सर्वाङ्गमुत्पन्नं एवंगुणमित्येलद्वर्धत इत्यनेनाह । अहरहः सत्रफलं प्राप्नोतीत्यर्थः । अभयं यत्र दक्षिणा । अन्येषु सत्रेषु दक्षिणा नास्ति । इदं तु सर्वेभ्योऽपि विशिष्टं यद्दक्षिणा । वत्सगवाश्वादिभिः (?) दक्षिणा विलक्षणा इत्यर्थवान् सत्रव्यतिरेकः । मेधा.

(२) चौरपापस्य निग्रहणेन साधूनामभयं ददाति स सदा सर्वस्य पूज्यो भवति । यस्मात् सत्रं क्रतुविशेषवत् स्तेननिग्रहः संपद्यते । स्तेननिग्रहाख्यं तस्यान्यसत्रविलक्षणमतिशयेन संपद्यते । अन्यत् किल सत्रं नियतकालं भवति, इदं सदैव भवति च, अदक्षिणं च अन्यत् सत्रं, इदं पुनरभयं दक्षिणा यस्य तदभयदक्षिणम् । * गोरा.

**सर्वतो धर्मषड्भागो राज्ञो भवति रक्षतः ।**
**अधर्मादपि षड्भागो भवत्यस्य ह्यरक्षतः ॥**

(१) सर्वतः सकाशाद्यज्ञादेः तथा ग्रामवासिभिः वनवासिभिश्च कृताद्धर्मात् षड्भागं राजा लभते । एवमधर्मादपि चोरैः प्रच्छन्नकृताद्राज्ञः षड्भागो भवति, न केवलं स्तेनैर्ये मुष्यन्ते तदरक्षातो राज्ञामधर्मो, यावद्ये हरन्ति तेषामपि चौरभावेनाधर्मोदयस्तदंशेनापि राजानः संबध्यन्ते । तान् निगृह्णतां अदृष्टदोषसंबन्धनिवारणमपि । रक्ष्याणां रक्षणे अधिकृतस्य राज्ञस्तदकरणाद्युक्तः प्रत्यवायः । ननु च भृतिपरिक्रीतत्वाद्धर्मषड्भागवचनमयुक्तम् । उक्तं दीनानाथपरिव्रजितादयः संन्यासिकरप्रदाः परिपूर्णस्वधर्मपालने च न काप्यनुपपत्तिः । मेधा.

(२) सर्वतो भृतिप्रदानव्यतिरिक्ताच्च श्रोत्रियादीनां साधूनां सकाशाद्धर्मषड्भागो राज्ञः प्रजारक्षणाद्भवति । अरक्षतश्च अधर्मादपि लोके चर्यमाणात् षड्भागोऽस्य भवति । तस्माद्यत्नतः स्तेननिग्रहेण प्रजासंरक्षणं कुर्यात् । न च वृत्तिपरिक्रीतत्वाद्राज्ञो धर्मप्राप्तिरयुक्ता । वृत्तिपरिक्रयवद्धर्मभागपरिक्रयस्यापि शास्त्रीयत्वात् । गोरा.

(३) प्रजा रक्षतो राज्ञः सर्वस्य भृतिदातुर्वणिगादेः भृत्यदातुश्च श्रोत्रियादेः सकाशाद्धर्मषड्भागो भवति । * ममु.

**यदधीते यद्यजते यद्ददाति यदर्चति ।**
**तस्य षड्भागभाग्राजा सम्यग्भवति रक्षणात् ॥**

(१) यदुक्तं सर्वत इति तस्य प्रपञ्चोऽयम् । अध्ययनादयो धर्मार्थतयाऽन्यत्र ज्ञापिताः प्रसिद्धरूपाश्च । अर्चनं देवगुरूणां पूजनम् । तस्येति कर्मणोऽध्ययनादेः पदार्थस्येति योजनीयम् । क्रियायाः स्त्रीलिङ्गत्वात् । न च षड्भाग इति वचनात् कर्तुः पञ्च कर्मफलांशाः षष्ठो नृपतेः, समग्रकर्मफलभोक्तृत्वस्याधिकारतः कर्तुरवगतत्वात् । अपि तु सम्यग्रक्षणात्स्वकर्मानुष्ठानात् तावन्मात्रं राज्ञः फलमुत्पद्यत इति । नान्यकृतस्य शुभस्याशुभस्य वा अन्यत्र गमनं, नाकर्तुः फलमस्तीति स्थितम् । मेधा.

(३) यः कश्चिदध्ययनयजनयाजनदेवतार्चनादि करोति तस्य यत्फलं तस्य फलस्य राज्ञा सम्यक् प्रजापालनात् षड्भागः प्राप्यते । गोरा.

**रक्षन् धर्मेण भूतानि राजा वध्यांश्च घातयन् ।**
**यजतेऽहरहर्यज्ञैः सहस्रशतदक्षिणैः ॥**

(१) भूतानि स्थावरजङ्गमानि चौरेभ्यो रक्षन्, वध्यांश्च शास्त्रतो वधार्हांस्तांश्च घातयन् सहस्रशतदक्षि-

---

* ममु. गोरावत् ।

(१) मस्मृ. ८।३०३; **व्यक.** ११० सत्रं हि वर्धते ( वृत्तं हि वर्तते ); **विर.** २९३-४ हि व ( विव ); **विचि.** १२४ हि यो (तु यो); **स्मृचि.** २५; **सेतु.** २२९ विचिवत्.

(२) **मस्मृ.** ८।३०४ [ भवत्यस्य ( भवत्येव ) Noted by Jha]; **विचि.** २६३ राज्ञो भवति ( भवत्यस्य हि ) पू.; **दवि.** ५ ह्यरक्षतः ( ह्यरक्षणात् ).

१ श्वादिभिः + ( ये मुष्यन्ते तदरक्षातो राज्ञामधर्मो यावद्ये हरन्ति ।). २ प्रका. ३ चौर्यभा. ४ तानि निगृह्णतः. ५ रक्षैव । तत्राधि.

* शेषं गोरावत् ।

(१) **मस्मृ.** ८।३०५ [ यद्ददाति ( यज्जुहोति ) Noted by Jha ]; **विचि.** २६३.

(२) **मस्मृ.** ८।३०६; **विचि.** २६३-४; **स्मृचि.** २५ यजतेऽ ( यजेता ).

१ पालनेकानुप. २ (न च०). ३ वचनं क. ४ शात ष.

शालीनां पौण्डरीकादीनां कर्तुगां फलमन्वहं राजा प्राप्नोतीति स्तुतिः। मेधा.

(२) भूतानि स्थावरजङ्गमानि शास्त्रव्यवस्थया राजा रक्षन् वध्यान् स्तेनादीन् यथाशास्त्रं घातयन् लक्षदक्षिणानां यज्ञानां संबन्धि फलं प्रत्यहमर्जयति। तत्र महाप्रयाससकर्मसंबन्धि फलं कथमल्पप्रयाससाध्यकर्मणः प्राप्यते। तथा सति को नाम प्रयासेषु वर्तेत इति चोदनीयम्। फलोपभोगकालाल्पभूयस्त्वे च विशेषसंभवात्। एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम्। गोरा.

योऽरक्षन् बलिमादत्ते करं शुल्कं च पार्थिवः।
प्रतिभागं च दण्डं च स सद्यो नरकं व्रजेत्॥

(१) बलिप्रभृतीनि राजग्राह्यकरनामानि देशभेदेषु यानि माणवकवत्प्रसिद्धानि, तत्र बलिर्धान्यादेः षष्ठो भागः, करो द्रव्यादानं, शुल्कं वणिक्प्राप्यभागः, प्रतिभागं फलाभरणिकाद्युपायनम्। राजैतद् गृह्णाति चौरेभ्यश्च न रक्षति, स सद्य आयुःक्षयान्नरकं गच्छेत्। गृहीत्वा राजभागं रक्षा कर्तव्या। नरकायुःक्षयभयादिति श्लोकतात्पर्यम्। मेधा.

(२) यो राजा प्रजासंरक्षणमकुर्वन् धान्यादेः षड्भागादिकं करं गुल्मदास्यादिकं स्थलपथादिजीविभ्यो गतागतिभ्यो भूतेर्भोगं फलं फलकुसुमाद्युपायनं शुल्कं दण्डं व्यवहारादौ गृह्णाति स आयुःक्षयेण सत्यमेव नरकं याति। गोरा.

(३) प्रीतिभोगमिति क्वचित्पाठः, तत्र प्रीत्योपढौकितं फलादीत्यर्थः। मवि.

(४) यो राजा रक्षामकुर्वन्, बलिं धान्यादेः षड्भागं, ग्रामवासिभ्यः प्रतिमासं वा भाद्रपौषनियमेन ग्राह्यं (करं), शुल्कं स्थलजलपथादिना वणिज्याकारिभ्यो नियतस्थानेषु द्रव्यानुसारेण ग्राह्यं दानमिति प्रसिद्धं, प्रतिभागं फलकुसुमशाकतृणाद्युपायनं प्रतिदिनग्राह्यं, दण्डं व्यवहारादौ गृह्णाति स मृतः सन् सद्य एव नरकं याति। ममु.

अरक्षितारं राजानं बलिषड्भागहारिणम्।
तमाहुः सर्वलोकस्य समग्रमलहारकम्॥

पूर्वस्य शेषोऽयं निन्दार्थवादः। न रक्षति, अत्तोपजीविता प्रजानां राजभागग्रहणेन। एतदेव स्पष्टयति। बलिषड्भागहारिणं तं तादृशं राजानमाहुः शिष्टाः सर्वलोकस्य सर्वस्याः प्रजायाः समग्रं मलं पापं तस्य हारकं स्वीकर्तारं, सर्वेण प्रजापापेन दूष्यत इत्यर्थः। मेधा.

अनपेक्षितमर्यादं नास्तिकं विप्रलुम्पकम्।
अरक्षितारमत्तारं नृपं विद्यादधोगतिम्॥

मर्यादा शास्त्रशिष्टसमाचारनिरुढा धर्मव्यवस्था या साऽनवेक्षिताऽतिक्रान्ता येन। नास्ति परलोको नास्ति दत्तं नास्ति हुतमिति नास्तिकः। प्रथमो रागादिना त्यक्तधर्मो, द्वितीयो वस्तुविपरीतनिश्चयः। विलुम्पति हरति धनान्यसद्दण्डैः प्रजानां, तत्तुल्योऽरक्षिता। तमधोगतिं विद्यान्नरकपतितमधोगतं विद्यान्नरकपतितमेवाचिरात्। पाठान्तरं, 'असत्यं च नृपं त्यजेत्।' अन्यदुक्त्वा अन्यत्करोति यस्तं त्यजेत्तद्विषये नासीत। मेधा.

अधार्मिकं त्रिभिर्न्यायैर्निगृह्णीयात् प्रयत्नतः।
निरोधनेन बन्धेन विविधेन वधेन च॥
निग्रहेण च पापानां साधूनां संग्रहेण च।
द्विजातय इवेज्याभिः पूयन्ते सततं नृपाः*॥
क्षन्तव्यं प्रभुणा नित्यं क्षिपतां कार्यिणां नृणाम्।
बालवृद्धातुराणां च कुर्वता हितमात्मनः॥

(१) मस्मृ. ८।३०७ [ प्रतिभागं ( सुतिभागं, प्रतिभोगं, प्रीतिं भोगं ) Noted by Jha ]; गोरा. प्रतिभागं ( भूतिभोगं ); मवि. भागं ( भोगं ) 'प्रीतिभोगमि'ति क्वचित्पाठः; स्मृचि. २५ मविवत्; दवि. ५ मविवत्; मच. प्रतिभागं ( प्रीतिभोगं ); नन्द. मचवत्; भाच. मचवत्.

१ सुपे मा. २ लभ.

* अनयोर्व्याख्यासंग्रहः स्थलादिनिर्देशश्च दण्डमातृकायां ( पृ. ५७७ ) द्रष्टव्यः।

(१) मस्मृ. ८।३०८ ख., राजानं ( अत्तारं ) [ हारकम् ( हारिणम् ) Noted by Jha ]; मेधा. राजानं ( अत्तारं ); मवि. मेधावत्.

(२) मस्मृ. ८।३०९ [ प्रलुम्प ( प्रलोप ) विद्याद ( गच्छेद ) Noted by Jha ]; मेधा. पेक्षि ( वेक्षि ) नृपं ... ... तिम् ( असत्यं च नृपं त्यजेत् ) इति पाठान्तरम्; भाच. पेक्षि ( वेक्षि ).

१ ( द्वितीयो० ).

यः क्षिप्तो मर्षयत्यार्तैस्तेन स्वर्गे महीयते ।
यस्त्वैश्वर्यान्न क्षमते नरकं तेन गच्छति* ॥

स्तेयमहापातकदण्डविधिः । दण्ड्यस्य मोक्षे राजा दोषभाक् ।

[१]राजा स्तेनेन गन्तव्यो मुक्तकेशेन धावता ।
आचक्षाणेन तत्स्तेयमेवंकर्माऽस्मि शाधि माम् ॥

[२]स्कन्धेनादाय मुसलं लगुडं वाऽपि खादिरम् ।
शक्तिं चोभयतस्तीक्ष्णामायसं दण्डमेव वा ॥

(१) अविशेषोपादाने सुवर्णहारी स्तेनो द्रष्टव्यः । तस्यैव शास्त्रान्तरे गमनविधानात् । न चेदमागमनपरं विधिशास्त्रं दण्डविधित्वात् । उक्तं हि 'स्तेनस्यातः प्रवक्ष्यामि विधिं दण्डविनिर्णये' इति (मस्मृ. ८।३०१)। अतोऽनुवाद[१]मात्रं राजसकाशं सुवर्णचौरेण गन्तव्यमिति । मुक्तकेशेन धीमता धैर्यवता । धावतेति पाठान्तरम् । आचक्षाणेन कथयता पथि तत्पातकमेवंकर्माऽस्मि ब्राह्मणस्य मयेयत्सुवर्णं हृतमिति कुरु निग्रहं मे ।

स्कन्धेनेति । वर्णानामनुक्रमेण मुसलादीनामुपदेशं मन्यन्ते । तदयुक्तम् । वाशब्दो न समर्थितः स्यात् । न च ब्राह्मणस्येदं प्रायश्चित्तमिच्छन्ति, तत्प्रायश्चित्तेषु निरूपयिष्यामः । खदिरजातिर्लगुड एव, न मुसलेनानुषक्तव्यः । मेधा.

(२) 'सुवर्णस्तेयकृद्विप्रः' (मस्मृ. ११।९९) इत्यादिना प्रायश्चित्तप्रकरणे वक्ष्यमाणस्तेनकर्तव्यः (?) अनेन श्लोकद्वयेन अस्मिन् दण्डप्रकरणेऽनूद्यते सुवर्णस्तेनं प्रति दण्डाख्यराजकर्तव्यस्योपदेशार्थः । ब्राह्मणसुवर्णचौरेण मुक्तकेशेनादराद्वेगगतिना ब्राह्मणसुवर्णमियन्मयाऽपहृतं इत्येवं तत्स्तेयं ख्यापयता मुसलाख्यमायुधं खदिरमयं वा लगुडं शक्त्याख्यं चायुधं तीक्ष्णोभयप्रान्तमयोमयं वा दण्डं स्कन्धेन गृहीत्वा राजसमीपं गन्तव्यम् । गत्वा च ब्राह्मणसुवर्णापहारी चाहं, अनेन मुसलादिना मां जहीत्येवं राज्ञे वक्तव्यम् । गोरा.

सुवर्णस्तेयकृद्विप्रो राजानमभिगम्य तु ।
स्वकर्म ख्यापयन् ब्रूयान्मां भवाननुशास्त्विति ॥

गृहीत्वा मुसलं राजा सकृद्धन्यात्तु तं स्वयम् ।
वधेन शुद्ध्यति स्तेनो ब्राह्मणस्तपसैव तु ॥

[३]तपसाऽपनुनुत्सुस्तु सुवर्णस्तेयजं मलम् ।
चीरवासा द्विजोऽरण्ये चरेद्ब्रह्महणो व्रतम् ॥

[४]एतैर्व्रतैरपोहेत पापं स्तेयकृतं द्विजः* ॥

[५]शासनाद्वा विमोक्षाद्वा स्तेनः स्तेयाद्विमुच्यते ।
अशासित्वा तु तं राजा स्तेनस्याप्नोति किल्बिषम् ॥

(१) शासनान्मुसलादिभिः प्रहरणात् क्षत्रियादिः पापान्मुच्यते । विमोक्षादुत्सर्गात् । गच्छ क्षान्तमिति । 'ब्राह्मणस्तपसैव' इति वधतपसी विहिते । तत्र वधस्तावत् ब्राह्मणस्य नास्ति, तपस्तु प्रायश्चित्तम् । न च त[१]पसि इच्छातो राजाभिगमनमस्ति । तस्मात् क्षत्रियादीनामेष विमोक्षः । स च धनदण्डं गृहीत्वा । यत आह अशासित्वेत्यादि । न च विमो[२]क्षणात् शुद्धौ सत्यां राज्ञस्तद-

---

* अनयोर्व्याख्यासंग्रहः स्थलादिनिर्देशश्च दर्शनविधौ (पृ. ७८) द्रष्टव्यः ।

(१) मस्मृ. ८।३१४ ख., धावता ( धीमता ); मेधा. धावता ( धीमता ); अप. ३।२५७ पू.

(२) मस्मृ. ८।३१५ [ वाऽपि ( वाऽथ ) Noted by Jha ]; मिता. ३।२५७ लगुडं ( लकुटं ) शक्तिं...... क्ष्णा ( असिं चोभयतस्तीक्ष्ण ); अप. ३।२५७ शक्तिं......क्ष्णा (असिं चोभयतस्तीक्ष्ण).

१ दमगमनस्यात्र रा. २ व्यम् ।.

* एषां व्याख्यासंग्रहः प्रायश्चित्तकाण्डे संग्रहीष्यते ।

(१) मस्मृ. ११।९९; अपु. १६९।२०; गौमि. १२।४०. [अवशिष्टस्थलादिनिर्देशः प्रायश्चित्तकाण्डे संग्रहीष्यते ।]

(२) मस्मृ. ११।१००: मस्मृ. ८।३१५ इत्यस्योपरिष्टात् प्रक्षिप्तत्वेनायमेव श्लोकः समुद्धृतः, ति ( ते ) व तु ( व वा ); अपु. १६९।२१ तु तं स्वयम् ( स्त्वयंगतम् ) द्ध्यति ( द्ध्यते ) व तु ( व वा ); मिता. ३।२५७ व तु ( व वा ); मभा. १२।४१ मितावत्; गौमि. १२।४१ पू., स्मरणम् : १२।४३ व तु ( व च ) उत्त. [ अवशिष्टस्थलादिनिर्देशः प्रायश्चित्तकाण्डे संग्रहीष्यते । ]

(३) मस्मृ. ११।१०१ [ हणो ( हणि, हति ) Noted by Jha ]; मभा. १२।४१. [अवशिष्टस्थलादिनिर्देशः प्रायश्चित्तकाण्डे संग्रहीष्यते ।]

(४) मस्मृ. ११।१०२.

(५) मस्मृ. ८।३१६; गोरा. अशासित्वा ( प्रशाधित्वा ); मभा. १२।४२ चतुर्थपादः, स्मृत्यन्तरम्.

१ तप इ. २ क्षणशु.

शासनात् दोषोपपत्तिः। न च शासनमपि विहितं मोक्षोऽपि विहितः, तत्र यस्मिन्पक्षे शासनं तदपेक्षं दोषवचनम्। पाक्षिकं हि तथा कल्पेत। न च नित्यवच्छुतस्य पाक्षिकत्वं युक्तं कल्पयितुम्। तथा च सामान्येन वसिष्ठादय आहुः—'एनो राजानमृच्छति उत्सृजन्तं सकिल्बिषम्। तं चेत् घातयते राजा घ्नन् धर्मेण न दुष्यति॥' (वस्मृ. १९।३१)। नायं विकल्पो युक्तः।

क्वचिदियं हिंसा प्रतिषिद्धा 'न हिंस्याद्भूतानि' इति रागादिना पुरुषार्थतया प्राप्ता। क्वचिद्विहिता क्रत्वर्थत्वेन 'यो दीक्षितो यदग्नीषोमीयमि'ति। इयं तु शासनविमोक्षणवचनात् न हि नाम प्रतिषिद्धा उक्ते सति विधौ। कथं न प्रतिषेधो, 'न हिंस्याद्भूतानी'ति सामान्यतः प्रतिषेधो विधिविशेषमन्तरेण न शक्यो बाधितुम्।

अथोच्यते। नैवायं प्रतिषेधस्य विषयः। कर्मार्थत्वात्। कथं पुनरन्तरेण विधिं कर्मार्थता शक्याऽवगन्तुम्। लोकत इति चेल्लौकिकी तर्हि प्रवृत्तिः। कथं तर्हि (न) प्रतिषेधस्तत्रावतरेत्। ननु च प्रधाने प्रवृत्तिर्निरूप्यताम्। यदि तावद्वैदिकी प्रवृत्तिस्ततस्तदङ्गे हिंसायामपि तत एव, एका हि प्रवृत्तिरङ्गप्रधानयोः। अथ लिप्सातोऽङ्गेऽपि तत एव प्रवृत्तिः। सुतरां तर्हि हिंसेयं लौकिकी। जीविकार्थिनो हि प्रजापालनाधिकारनियमोऽत्र वैधः। तेनेयमङ्गस्थाऽपि हिंसा श्येनेन तुल्यत्वात्प्रतिषेधविषयः। न च लौकिकमस्या नियतमङ्गत्वम्। नैं हिंसामन्तरेण प्रजापालनमशक्यम्। निरोधादिनाऽपि शक्यत्वात्। नैष नियम एकरूपाङ्गप्रधानयोः प्रवृत्तिरिति। श्येनाग्नीषोमीययोरनेन न विशेषः स्यादतो लिप्सालक्षणेऽपि प्रधानेऽङ्गे विधिलक्षणमभ्युपेतव्यम्। नैं चैषां हिंसा विधिलक्षणा शक्याऽभ्युपगन्तुं, स्वरूपस्य कार्यस्य च लौकिकत्वात्पालनस्य हिंसायाश्च। अथ विधिलक्षणा, षोडशिग्रहणवद्विकल्पितुमर्हति शासनवचनेन प्रतिषिद्धा।

अन्ये तु मन्यन्ते। द्वे एते वाक्ये। शासनादिति स्तेनस्य शुद्धिरुच्यते। परेणार्धेन राज्ञस्तदशासने दोषः। तत्र यदि राजा शासनदोषमात्मन्यङ्गीकृत्य मुञ्चेत् मुच्येतैवैनसः। एवं ब्राह्मणस्यापि स्वयमागतस्य वधः शुद्धिहेतुः 'लक्ष्यं वा स्याज्जन्ये शस्त्रभृतामि'ति (गौध.२२।२) वचनात्। 'न शारीरो ब्राह्मणदण्डः'इति (गौध.१२।४३)। तेन राजा यदि प्रतिषेधातिक्रमेण हन्यात् ब्राह्मणः शुध्येदेव। अशासित्वा मुसलादिभिरहत्वा स्तेनस्य यत्पापं तेन युज्यते। मेधा.

(२) राजसंबन्धिहननेन परित्यागेन वा स चौरस्तस्मात्पापात् प्रमुच्यते। तं पुनः स्तेनं 'न जातु ब्राह्मणं हन्यात्सर्वपापेष्वपि स्थितम्' इति (मस्मृ.८।३८०) वक्ष्यमाणत्वात् ब्राह्मणतस्करहन्ता राजा तस्य संबन्धि यत्पापं प्राप्नोति तस्मादसौ राज्ञा न हन्तव्यः। इत्येवम्परमेतत्सर्वमिहाभिधानम्। गोरा.

(३) सकृन्मुसलादिप्रहारेण प्राणपरित्याजनान्मृतककल्पस्य जीवतोऽपि परित्यागाद्वा स चौरस्तस्मात्पापात् प्रमुच्यते। अत एव याज्ञवल्क्यः—'मृतकल्पः प्रहारार्तो जीवन्नपि विशुध्यति' इति। तं पुनः स्तेनं करुणादिभिरहत्वा स्तेनस्य यत्पापं तद्राजा प्राप्नोति। ममु.

(४) किल्बिषं पापं सहस्रदण्डं वा। *मच.

**अन्नादे भ्रूणहा मार्ष्टि पत्यौ भार्याऽपचारिणी।**
**गुरौ शिष्यश्च याज्यश्च स्तेनो राजनि किल्बिषम्॥**

(१) अन्नमत्तीत्यन्नादो भ्रूणहा ब्रह्महा तदीयमन्नं यो भुङ्क्ते तस्मिंस्तद्ब्रह्महत्यापापं मार्ष्टि निरस्य न्यस्यति श्लेषयति। यथा मलिनं वस्त्रमुदके मृज्यते तन्मलं तत्र संक्रामत्येवं, अर्थवादश्चायम्। तस्य तत्पापमुत्पद्यते, न पुनर्ब्रह्मघ्नो नश्यति। पत्यौ भर्तरि, भार्याऽपचारिणी जारिणी, स चेत्क्षमते। अत्रापि भर्तुरुत्पद्यते पापं, न तत्र तस्या अपैति। गुरौ शिष्यश्च याज्यश्च, शिष्यः सूर्याभ्युदितादिभिरपराध्य तु गुरौ क्षममाणे तत्पापं प्रक्षिपति। एवं याज्यो याजके। सोऽपि गुरुरेवेत्यतो याजकग्रहणं न कृतम्। एवं चौरो राजनि। न चेद्राज्ञा निगृह्यते। याज्योऽपि कर्मणि प्रवृत्ते विधिमपक्रामति

१ वञ्चना म. २ युक्तो स. ३ तत्र प्र. ४ नो हिं. ५ स्यादाग्नी. ६ (न०). ७ चैष हिं.

* शेषं ममुवत्।

(१) मस्मृ. ८।३१७.

१ न रा. २ रस्यति. ३ नर्ब्रह्मो विशिष्यति.

चेद्याजकवचने नावतिष्ठते तदा त्याज्यो न पुनस्तस्य ताडनादि शिष्यवत्कर्तव्यम् । अन्नादादिषु सर्वेष्वन्यत्र विधिरस्तीति नासिद्धिरतोऽर्थवादोऽयम्। + मेधा.

(२) स्तेनश्च राजनि सहमाने सति । असति तस्मात् राज्ञा वक्तव्यः । * गोरा.

(३) स्तेनस्य परस्य पापेन राजा तज्जातीयपापवान् भवतीति स्तेनदृष्टान्तेनान्येषामपि परपापवत्त्वमाह— अन्नाद इति । अन्नादे तदन्नभोक्ता भ्रूणहा स्वकिल्बिषं मार्ष्टि संक्रामयतीत्यन्वयः । पतिपदमुपलक्षणं येन येन संगता तं तमपि । अत एवोक्तं 'निःश्वासाद्गात्रसंस्पर्शादि'-त्यादि। याज्यश्च याजक इति शेषः । एतेनान्यपापेनान्यस्यापि तज्जातीयपापजन्म विवक्षितं न तु पापिनः पापनाश इति केचित् । तत्र 'दानेनाकार्यकारिणः' ( मस्मृ. ५।१०७) इति वचनात् शुध्यन्त्येव ते सर्वदा, अन्यथा बहुवित्तव्ययायासप्रायश्चित्तादौ तादृशे कोऽपि न प्रवर्तेत। अत एव यो यस्यान्नं समश्नाति स तस्याश्नाति किल्बिषमिति संगतम् । अत्र भ्रूणहेत्यादित्रयं सिद्धवत्कृत्य राजनि पापसंक्रान्तिरुक्ता, अतश्चतुर्णां परस्परदृष्टान्तता तेन पापिनोऽन्नं न भोक्तव्यं भार्यादिकं च शासनीयमिति भावः । मच.

चौरस्य पापस्य च दण्डेन प्रायश्चित्तवच्छुद्धिः

**राजभिर्धृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः ।**
**निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥**

(१) यदुक्तं पापकारिणो निग्रहेण कर्मकृतो रक्षन्त इति तत्स्फुटयति । धृतो विनिपा[२]तितो दण्डो येषां राजभिस्ते कृत्वा पापानि कृतपापा राजनिग्रहेण निर्मला निरस्तपापा भवन्ति । अपगते च पापे यदेषां स्वर्गारोहकं कर्म तेन स्वर्गं प्राप्नुवन्ति । महद्धि पापं शुद्धस्य कर्मणः फलस्य प्रतिबन्धकम्। सुकृतिनो नित्यं सुकृतकर्मकारिणः । यथा सन्तो धार्मिकास्तद्वत्। असतामधर्मो नैवोत्पद्यते । एषामुत्पन्नो निग्रहणेन विनाशित इति प्राक्प्रध्वंसाभावयोर्विशेषः । मानवग्रहणं तु प्रकरणाच्चौराणामेव । दण्डशब्दस्तु शारीरनिग्रहविषयो न हि प्रकरणमतिक्रामति । धनदण्डो हि राजार्थः । वृत्तिर्हि सा राज्ञः । शारीरे तु दण्डे दण्ड्यमानार्थता न शक्यते निह्नोतुम् । स्वकृसंस्कारो हिंसा । अथेयं बुद्धिः, पालनमेव हिंसामन्तरेण न निष्पाद्यते, तच्च राजार्थमिति कुतो मार्यमाणार्थता मारणस्य । अथ किम् । पालनं न पाल्यमानार्थदृष्टमेवापह्नूयते । न हि तद्राष्ट्रमुपादेयं, राज्ञैव स्वरक्षार्थं करशुल्कादिभृत्या उपादीयन्ते। अतः सुतरां रक्षोपयोगित्वं हिंसायां हिंस्यमानार्थता सिद्धिः । कथं वा हिंसया विना न रक्षानिवृत्तिर्यदि तावदेवमर्थं निगृह्यन्ते, पुनरकार्यमावर्तयिष्यते, तन्निरोधनादपि शक्यते नियन्तुम् । अथ तान्निगृहीतान् दृष्ट्वा भयादन्ये न प्रवर्तयिष्यन्त इति । धनदण्डेनापि शक्यते दुःखयितुम् । हन्यमानेष्वपि सहस्रशः प्रवर्तन्ते । तस्मादियं हिंसा रक्षा सती हिंस्यमानसंस्कार इति मन्तव्यम् । अतश्च [२]करणादिच्छेदने नियमो हस्त्यादिविधिश्च दण्ड्येऽदृष्टमाधास्यति न राजार्थो भविष्यति । तस्माच्छारीरदण्डे पापान्मुक्तिर्न धनदण्ड इति स्थितम् तथा च महापातकिनां हृतसर्वस्वानामप्सु प्रवेशितदण्डानां संव्यवहारपरिहारार्थमङ्कनं वक्ष्यति । यदि च धनदण्डेन शुध्येयुः पुनरङ्कनमनर्थकं स्यात् ।अत्र च स्वयमागतस्य नानीतस्य च[३] विशेषो यः स्तेन एव विशेषो भवतु । इदं तु सर्वं शारीरदण्डविषयम् । मेधा.

(२) ते समुद्धृताः पापानि कृत्वा, पूर्वार्जनं तथा क्रतुवरान् कृत्वा, स्वर्गमपापाः सन्तः शिष्टा इव शुभकारिणो व्रजन्ति, ये तत्पापनिमित्तं राजभिः कृतदण्डा भवन्ति । इह पापानीति बहुवचनात् हिरण्यस्तेनविषय एव दण्डेन न कार्यनिष्कृतिः अपि तु सकलैनस्विविषयेत्यवसीयते । न च स्वयमागतविषयैव । दण्डेन पापनिष्कृतिः, न हठदण्डितविषये इति मन्तव्यम् । हठदण्डितस्यापि 'यदि संसाधयेत्तच्चे'त्यादिनिष्कृतेर्दर्शितत्वात् । याम्ययातनाभिर्वा कथं परवशस्य निष्कृतिः स्यात् । गोरा.

---

+ मनु. मेधावत् । * शेषं मेधावत् ।

(१) मस्मृ. ८।३१८ क., घ., भिर्धृत ( भिः कृत ), ग., भिर्धृत ( निर्धूत ), [ भिर्धृत ( निर्हृत, निर्धृत ) Noted by Jha ]; मभा. १२।४०; उ. २।२९।९; विचि. १८९ (=); दवि. ११.

१ नाशुद्धि. २ पातिते द.

१ हणानु प्र. २ कार. ३ ( च० ).

(३) सुवर्णस्तेयादीनि पापानि कृत्वा पश्चाद्राजभिर्विहितदण्डा मनुष्याः सन्तः प्रतिबन्धकदुरिताभावात्पूर्वार्जितपुण्यवशेन साधवः सुकृतकारिण इव स्वर्गं गच्छन्ति । एवं प्रायश्चित्तवद्दण्डस्यापि पापक्षयहेतुत्वमुक्तम् । ममु.

प्रकाशतस्करदण्डाः

**[१]समैर्हि विषमं यस्तु चरेद्वै मूल्यतोऽपि वा ।**
**स प्राप्नुयाद्दमं पूर्वं नरो मध्यममेव वा ॥**

(१) येषां द्रव्याणां समत्वेन विनिमय उक्तो यथा 'तिला धान्येन तत्समाः' इति (मस्मृ. ११।९४)। तत्र यदि विषममाचरति, व्यवहारार्थं तिल दत्त्वा बहुधान्यं व्रीह्यादि गृह्णीयात्, असति वा विनिमये मूल्यतः क्रयव्यवहारेण व्रीह्यादिधान्येभ्योऽधिकेन मूल्येन क्रीणाति । अथवा कस्यचिदुत्तरीयमुपबर्हणमस्ति विक्रेतव्यं, कस्यचिदन्तरे शाटकाः, तत्र यस्योपबर्हणमस्ति तस्यान्तर उपयुज्यन्ते, उपबर्हणेन च ते सममूलाः, तत्र तदीयां कार्यवत्तां ज्ञात्वा समत्वेन न ददात्यधिकमूल्यं गृह्णाति, स उच्यते समैर्विषमं चरति मूल्येन, तयोः क्रेतुर्विक्रेतुश्च तौ दण्डौ, चरति मूल्यत इत्येकार्थः, तथैव वाशब्दोऽस्मिन्पक्षे पादपूरण एव । प्रथममध्यमोक्त्या क्रयविक्रयौ विकल्पितौ द्रव्यसारापेक्षया । मेधा.

(२) समैः सममूल्यदातृभिः सहोत्कृष्टापकृष्टविषयद्रव्यदानेन यो व्यवहरत्यसौ पूर्वसाहसं प्राप्नोति । समे च द्रव्ये बहुत्वं च मूल्यमाददानो मध्यमसाहसमित्यर्थः । अप. २।२४४

(३) समैर्ऋजुशीलैः विषमं वक्रं विचरेत् व्यवहारं कुर्यात् । मूल्यतो विषमं चरेत् अधिकं गृह्णीयात् । व्यवहारमात्रे पूर्वं दमम् । मूल्यतो मध्यमम् । मवि.

(४) समैः सममूल्यदातृभिः सहोत्कृष्टापकृष्टद्रव्यदानेन यो विषमं व्यवहरति, सममूल्यं द्रव्यं दत्त्वा यः कस्यचिद्बहुमूल्यं कस्यचिदल्पमूल्यमिति विषमं मूल्यं गृह्णाति, सोऽनुबन्धविशेषापेक्षया प्रथमसाहसं मध्यमसाहसं वा दण्डं प्राप्नुयात् । ममु.

(५) समैः सममूल्यदातृभिः नानापुरुषैः सह उत्कृष्टापकृष्टविषमद्रव्यदानेन यो व्यवहरति असौ पूर्वसाहसं प्राप्नोति । समैर्वा द्रव्यैः क्रेतव्यैर्मूल्यतो विषमं चरन् योऽधिकमूल्यं गृह्णन् मध्यमसाहसं प्राप्नोतीत्यर्थः । हलायुधस्तु विनिमयप्रवृत्तयोरेकतरस्यार्थित्वं ज्ञात्वा अल्पमूल्येन बहुमूल्यस्य विनिमयव्यवहारं विषमं यश्चरति, यो वा क्रेतुरर्थिताविशेषं ज्ञात्वा अल्पमूल्यं वस्तु बहुमूल्येन विक्रीणीते, स धनापेक्षया प्रथमं साहसं मध्यमं साहसं वा दण्ड्य इत्याह । विर. २९६

(६) समैः साधारणैर्वस्तुभिर्विषमं विलक्षणं वस्तु परिवर्तेन मूल्येन वा गृह्णन् षष्ठभागहानौ सार्धपणशतद्वयं, पञ्चमादिभागहानौ तु पञ्चपणशतं दमं दाप्य इत्यर्थः । विचि. १२५

(७) द्वयोः सकाशात् समं मूल्यं तयोरेकस्योत्कृष्टमन्यस्यापकृष्टं पण्यं वैषम्येण ददानः पूर्वसाहसं दाप्यः । समे द्रव्ये क्रेतव्ये क्वचिदधिकं मूल्यं वैषम्येण गृह्णन् मध्यमसाहसं दाप्य इत्यर्थ इति रत्नाकरः ।

विनिमयप्रवृत्तयोः क्रयप्रवृत्तयोर्वा द्वयोरेकतरस्यार्थित्वं ज्ञात्वाऽल्पमूल्येन बहुमूल्यं परिवर्तयन् अल्पमूल्ये विक्रेये बहुमूल्यं गृह्णन् पूर्वसाहसं मध्यमसाहसं वा धनापेक्षया दाप्य इत्यर्थ इति हलायुधः ।

अत्र पूर्वव्याख्याने पूर्वमध्यमसाहसयोर्या विषमव्यवस्था श्रूयते साऽपहृतद्रव्यन्यूनाधिकभावमादाय समर्थनीया अन्यथा अदृष्टार्थत्वापातात् । दवि. ९०-९१

(८) समपण्ये मानतुलादिना यो विषमं चरेत्, यो वा मूल्यतो विषमं चरेत्, पूर्वं दमं प्रथमं साहसम् । नन्द.

**[१]अबीजविक्रयी चैव बीजोत्कृष्टा तथैव च ।**
**मर्यादाभेदकश्चैव विकृतं प्राप्नुयाद्वधम् ॥**

(१) मस्मृ. ९।२८७ स प्रा ( समा ) [ ममेव ( म एव ) Noted by Jha ]; अपु. २२७।५६-७ ( समैश्च विषमं यो वा चरते मूल्यतोऽपि वा। समाप्नुयान्नरः पूर्वं दमं मध्यममेव वा॥); अप. २।२४४; व्यक. ११०; विर. २९६ द्वै (द्वा); विचि. १२५ मेव वा ( मेव च ); दवि. ९० र्हि ( श्च ) यस्तु ( यत्र ) द्वै ( द्वा ); सेतु. २३०; समु. १५९ चरेद्वा ( कारयेत् ).

१ क्तौ क्र.

(१) मस्मृ. ९।२९१ ग., घ., बीजोत्कृष्टा ( बीजोत्कृष्टं )

(१) अबीजं बीजमित्युक्त्वा विक्रीणीते स्वरूपलोपेन, धान्यशाकादीनां बीजानि [1]चिरप्रोक्षितानि क्षेत्रे प्ररोहन्ति न च तानि शक्यन्ते वन्ध्यानीति। क्षेत्रात्तु बीजमुत्कर्षेति शोभनं यद्बीजं क्षिप्रं प्ररोहति तदुत्कृष्य तदाभासं प्रतिधान्यादि क्षिप्त्वा विक्रीणीते। अथवा न्युप्तं बीजं क्षेत्रादेवोद्धृत्य नयन्ति। मर्यादा शास्त्रदेशाचारनिरूढा स्थितिः। विकृतं कर्णनासादिकर्तनम्। मेधा.

(२) अबीजविक्रयी बीजमेतदित्युक्त्वा। बीजस्योत्क्रष्टा बीजकाले महर्घताकामोत्कर्षकारी। मर्यादाया ग्रामादिसमयस्य भेदकः। विकृतं कुत्सितं नासाच्छेदादि। मवि.

(३) अबीजं बीजप्ररोहासमर्थं व्रीह्यादि प्ररोहसमर्थमिति कृत्वा यो विक्रीणीते, तथाऽपकृष्टमेव कतिपयोत्कृष्टप्रक्षेपेण सर्वमिदं सोत्कर्षमिति कृत्वा यो विक्रीणीते, यश्च ग्रामनगरादिसीमां विनाशयति स विकृतनासाकरचरणकर्णादिरूपं वधं प्राप्नुयात्। ममु.

(४) अबीजविक्रयी, अबीजं बीजतया यो विक्रीणीते; बीजोत्कर्षी, उप्तं बीजं बलेन योऽपहरति; मर्यादाभेदकः, देशजातिकुलशास्त्रराजलोकस्थित्यतिक्रमकारी।

विर. २९६

(५) यश्च परोप्तं क्षेत्रं बलेन वहति स बीजोत्क्रोष्टेति मिश्राः। दवि. ९२

---

[ बीजोत्क्रष्टा ( बीजात्क्रष्टा, वीर्यात्क्रष्टा, बीजोत्कृष्टयः, बीजोत्कृष्टः, बीजोत्कृष्टाः, बीजोत्कृष्टोः ) विकृतं ( विविधं ) Noted by Jha ]; **अप.** २।२४४ चैव ( यश्च ) कश्चै ( नाचै ) द्वधम् ( द्दमम् ); **व्यक.** ११० त्क्रष्टा ( त्कृष्टा ); **विर.** २९६ चैव ( यस्तु ) त्क्रष्टा ( त्कर्षी ); **विचि.** १०२-३ त्क्रष्टा ( त्कर्षा ) विकृतं प्राप्नुयात् ( प्राप्नुयाद्विकृतं ) : १२५-६ चैव ( यस्तु ) विकृतं प्राप्नुयात् ( प्राप्नुयाद्विकृतं ); **दवि.** ९१ चैव ... ... ष्टा ( यस्तु बीजोत्क्रोष्टा ) : २६१ चैव ( यस्तु ) त्क्रष्टा ( त्कृष्टा ) विकृतं ( विचित्रं ); **सेतु.** १९६ क्रयी ( क्रये ) त्क्रष्टा ( त्कृष्टी) श्चैव ( स्यैव ) विकृतं प्राप्नुयात् ( प्राप्नुयाद्विकृतं ) : २३१ विरवत्; **समु.** १५९; **विव्य.** ४८ त्क्रष्टा ( त्कृष्टा ).

[1] चिरप्रोषिता.

**राज्ञः [1]प्रख्यातभाण्डानि प्रतिषिद्धानि यानि च।**
**तानि निर्हरतो लोभात् सर्वहारं हरेन्नृपः॥**

(१) राज्ञः संबन्धितया प्रख्यातानि यानि भाण्डानि राजोपयोगितया, यथा प्राच्येषु हस्तिनः, काश्मीरेषु कुङ्कुमं पट्टोर्णादीनि, प्रतीच्येष्वश्वाः, दाक्षिणात्येषु मणिमुक्तादीनि, यद्यस्य राज्ञो विषये सुलभं अन्यत्र दुर्लभं तत् तत्र प्रख्यातं भवति। तेन हि राजान इतरेतरं संदधते। प्रतिषिद्धानि यानि राज्ञा मदीयादेशान्नैतदन्यत्र नेयं अत्रैव वा विक्रेयं, यथा दुर्भिक्षे धान्यमित्येवमादीनि। लोभान्निर्हरतो देशान्तरं नयतो विक्रीणानस्य वा सर्वहारं हरेत्, सर्वहरणं सर्वहारः। अयं धनलोभान्नयतो दण्डः। राजान्तरोपायनार्थे त्वधिकतरः शारीरोऽपि दुर्गावरोधादिः। *मेधा.

(२) तानि लोभादन्यत्र देशे विक्रीणानस्य वणिजो राजा सर्वहारं कुर्यात्, यत्किञ्चित् भाण्डेनार्जितं तत्सर्वं हरेदित्यर्थः। विर. ३०१

**[2]शुल्कस्थानं परिहरन्नकाले क्रयविक्रयी।**
**मिथ्यावादी च संख्याने दाप्योऽष्टगुणमत्ययम्॥**

(१) क्रयविक्रयी वाणिजक उच्यते। शुल्कस्थानं परिहरन् उत्पथेन गच्छन्नकाले वा रात्रौ शुल्काध्यक्षेषु गतेषु। संख्याने मिथ्यावादी न्यूनं कथयति गणनायाम्। उपलक्षणं चैतत्संख्यानं, तेन प्रच्छादनेऽप्येष एव विधिः। दाप्योऽष्टगुणमत्ययं, दण्डं, यावदपह्नुते तावदष्टगुणं, यावान्वा तस्यापह्नुतस्योचितः शुल्कस्तमष्टगुणं दाप्यः। आद्यमेव युक्तम्। अत्ययशब्दो हि तत्र समञ्जसः तद्धेतुत्वाद्द्रव्ये। अन्ये त्वकाले क्रयविक्रयी इति संबन्धं कुर्वन्ति। अकालश्चागृहीते शुल्के रहसि वा,

---

* व्याख्यानान्तराणि मेधावत्।

(१) **मस्मृ.** ८।३९९ [ हरेन्नृपः ( नृपो हरेत् ) Noted by Jha ]; **अप.** २।२५० निर्हरतो ( निक्षिपतो ) : २।२६१ राज्ञः (राज्ञा) हारं हरे ( स्वं हारये ); **व्यक.** १११; **विर.** ३००; **विचि.** १२९; **दवि.** ९२; **बाल.** २।२६१; **सेतु.** ३०२ राज्ञः ( राज ); **समु.** १५९.

(२) **मस्मृ.** ८।४००; **व्यक.** ११० ख्याने ( स्थाने ); **विर.** २९७; **दवि.** ९३; **बाल.** २।२६२; **समु.** १५९.

[1] दण्डो या. [2] क्रय इ.

प्रतिषेधोऽयम् । मेधा.

(२) शुल्कमोषणायोत्पथेन गच्छति । अकाले रात्र्यादौ वा क्रयविक्रयं करोति । शुल्कखण्डनार्थं विक्रेयद्रव्यस्याल्पां संख्यां वक्ति । राजदेयमपलपितमष्टगुण दण्डरूपतया दाप्यः । ममु.

प्रकाशतस्करप्रकरणे प्रसङ्गात् अर्घमानादिव्यवस्थाविधिः

**[१]आगमं निर्गमं स्थानं तथा वृद्धिक्षयावुभौ ।**
**विचार्य सर्वपण्यानां कारयेत्क्रयविक्रयौ ॥**

(१) आपणभूमौ ये विक्रेतारस्ते न स्वेच्छया मूल्यं कर्तुं लभेरन् नापि राजा क्रीणीयात् स्वरुचिकृतेन मूल्येन । कथं तर्हीदमिदं निरूप्य, आगमं, किं प्रत्यागच्छति देशान्तरादुत न, तथेयतो दूरादागच्छति । एवं निर्गमस्थाने, किं संप्रत्येव विक्रीयत उत तिष्ठति । संप्रति निष्क्रामतो द्रव्यस्य स्वल्पोऽपि लाभो महाफलः तदुत्थितेन मूल्येन द्रव्यान्तराविषयेण पुनर्लाभो स्थानात् । वृद्धिक्षयौ, कियत्यस्य वृद्धिस्तिष्ठति कीदृशो वा क्षय इति, एतत्सर्वं परीक्ष्य स्वदेशे क्रयविक्रयौ कारयेत् । यथा न वणिजां पीडा भवति नापि क्रेतॄणां, तथाऽर्घं व्यवस्थापयेत् । मेधा.

(२) आगममेतावता व्ययेनागमनमत्रेति । एवं निर्गमश्चकारात् स्थानमेतदवशिष्टं तिष्ठतीति । वृद्धिमेतावद्धर्धत इति । क्षयमानीयमानद्रव्यस्यैवापचय इतस्ततः पातेन । मवि.

(३) आगमं देशान्तरीयस्य विक्रय्यस्य दूरदुर्गमासन्नसुगमदेशादेशवर्तिन आगमनम् । निर्गमं निर्गमनं स्वदेशीयपण्यस्य तादृशदेशे गमनम् । स्थानं चिरमचिरं वा कालमेतस्मिन् क्रीते इयान् भक्तादिव्ययो वृत्त इत्यवस्थानम् । तथा वृद्धिक्षयौ एतावान् लाभ उपक्षयो वा भवति इति विचार्य परामृष्य यथा क्रयकर्तॄणामनुचिते लाभहानी न भवतः, तथा राजा क्रयविक्रयौ कारयेत् । विर. ३०१-२

(४) शस्यपदमुपलक्षणमात्रार्थं वा, बहुवचनं कडारा इतिवत् । तेन पञ्चविधपण्यपरिग्रहः । दवि. ९८

**[१]पञ्चरात्रे पञ्चरात्रे पक्षे पक्षेऽथवा गते ।**
**कुर्वीत चैषां प्रत्यक्षमर्घसंस्थापनं नृपः ॥**

(१) आगमनिर्गमनादेर्द्रव्यस्यानित्यत्वादुपचयापचयावर्घस्यानेकरूपौ । ततोऽर्घसंस्थापनं पञ्चरात्रे पञ्चरात्रे प्रत्यक्षीकार्यं, न सकृत्कृतं मन्तव्यं, नापि वणिजो विश्वसितव्याः । किं तर्हि, स्वयं प्रतिजागरणीयम् । यद्द्रव्यं चिरेण निष्क्रामति तत्र पक्षेऽर्घगवेषणमन्यत्र पाञ्चरात्रिकम् । मेधा.

(२) आगमनिर्गमोपाययोगादेः पण्यानामनियतत्वादस्थिरार्घादीनां पञ्चरात्रे पञ्चरात्रे गते, स्थिरप्रायार्घाणां पक्षे पक्षे गते वणिजामर्घविदां प्रत्यक्षं नृपतिराप्तपुरुषैः व्यवस्थां कुर्यात् । ममु.

**[२]तुलामानं प्रतीमानं सर्वं च स्यात्सुलक्षितम् ।**
**षट्सु षट्सु च मासेषु पुनरेव परीक्षयेत् ॥**

(१) तुला प्रसिद्धा, मानं प्रस्थो द्रोण इत्यादि । प्रतीमानं सुवर्णादीनां परिच्छेदार्थं यत्क्रियते, सर्वं तत्सुलक्षितं राजचिह्नैरङ्कितं कार्यं, स्वयं प्रत्यक्षेण परिच्छिद्य स्वमुद्रया । परीक्षयेत् षट्सु षट्सु मासेषु पुनः परीक्षां कारयेदाप्तैरधिकारिभिः यथा न विचालयन्ति केचित् । * मेधा.

* गोरा., ममु., मच., भाच. मेधावत् ।

(१) मस्मृ. ८।४०१ [ विचार्य ( विज्ञाय ) Noted by Jha ]; अप. २।२५१ निर्गमं ( निगमं ) सर्व ( सर्वं ); व्यक. १११; विर. ३०१ पण्या ( शस्या ); दवि. ९८ विरवत्; बाल. २।२५३; समु. ९०.

(१) मस्मृ. ८।४०२; मिता. २।२५१ पक्षेऽथवा ( मासे तथा); अप. २।२५१ पूर्वार्धे ( पञ्चरात्रे सप्तरात्रे पक्षे मासे तथा गते ); व्यक. १११; विर. ३०१; पमा. ४६१; दवि. ९८; नृप्र. २६९ पक्षेऽथ ( मासेऽथ ) चैषां ( चैत्र ); वीमि. २।२५१ मितावत्; विता. ७७३ मर्घ ( मर्घ्य ) शेषं मितावत्; राकौ. ४९३ मितावत्; समु. ९१ अपवत्.

(२) मस्मृ. ८।४०३ [ सर्वं च स्यात्सुलक्षितम् ( सर्वं तु स्यात्सुलक्षितम्, सर्वं तत्स्यात्सुलक्षितम्, सर्वं स्यात्सुपरीक्षितम्, सर्वतः स्यात्सुलक्षितम् ) Noted by Jha ]; अप. २।२४४ च स्यात्सुल ( तत्स्यात्सुर ); व्यक. १११ अपवत्; मवि. च स्यात्सुल ( पार्थिवल ); विर. ३०१; दवि. ९७; मच. च स्यात्सुल ( तत्स्यात्स्वल); बाल. २।२५१ त्सुल ( त्स्वल ); समु. ९१ मविवत्.

१ द्रमा. २ सर्वतोभागे त.

(२) तुलामानं कार्पासादितुलारूपं मानम्। प्रतीमानं माषकादिप्रतिकृतप्रमाणम्। पार्थिवेन लक्षितं मुद्रितम्। मवि.

**शुल्कस्थानेषु कुशलाः सर्वपण्यविचक्षणाः।**
**कुर्युरर्घं यथापण्यं ततो विंशं नृपो हरेत्॥**

(१) येषु प्रदेशेषु शुल्कमादीयते तानि शुल्कस्थानानि राजभिर्वणिग्भिश्च[1] प्रतिदेशनियतानि कल्पितानि। तेषु स्थानेषु ये कुशलाः शौल्किकाः ये धूर्तैर्न च शक्यन्ते वञ्चयितुं, तथा सर्वेषां पण्यानामागमक्षयक्रयसारासारादि-[2]विधिज्ञाः विचक्षणास्ते भाण्डस्यागतस्थे[3] देशान्तरे[4] नीयमानस्य वाऽर्घं कुर्युः। ततो विंशतिभागं राजा गृह्णीयात्। किं पुनरर्घकरणेन, एतावदेव वक्तव्यं, पण्यानां विंशतिभागमिति। सत्यम्। यदा स्वरूपेण द्रव्यं राजा न गृह्णाति, स्वरूपकान्युपयुज्यन्ते शाटकादीनि[5], विंशतिविंशतिभागः प्राग्विंशतेर्न पाटनमन्तरेणोपपद्यत इत्येवमर्थमर्घकरणम्। अविक्रेयाणामात्मोपयोगिनां नास्ति शुल्क इति ज्ञापयितुं यथापण्यम्। एवं कालानुरूप्येण, न सर्वपण्यं सर्वदा विक्रीयत एकरूपेणार्घेण, अतो देशकालापेक्षया पण्यानामर्घव्यवस्था न नियतोऽर्घ इति। मेधा.

(२) शुल्कस्थानेषु पण्यविक्रयस्थानेषु। अर्घं मूल्यं कुर्युर्व्यवस्थापयेयुः नियुक्ताः। विंशं विंशतिभागैकभागं हरेदर्घकरणनिमित्तम्। मवि.

(३) स्थलजलपथव्यवहारतो राजग्राह्यो भागः शुल्कम्। तस्यावस्थानेषु ये कुशलाः तथा सर्वपण्यानां सारासारज्ञास्ते पण्येषु यमर्घं मूल्यमनुरूपं कुर्युस्ततो लाभधनाद्विंशतिभागं राजा गृह्णीयात्। *ममु.

(४) एतच्च परदेशपण्याभिप्रायं विष्ण्वनुसारात्। विर. ३०४

* गोरा. ममुवत्। गोरा. व्याख्यानं अशुद्धिसंदेहान्न संगृहीतम्।

(१) मस्मृ. ८।३९८ [ नृपो हरेत् ( हरेन्नृपः ) Noted by Jha ]; अप. २।२६१; व्यक. १११; विर. ३०४; विचि. १२९; बाल. २।२६१; समु. ९१.

१ ग्भिः स्वप्र. २ क्रयविक्रयसारसादि. ३ स्यान्यदे. ४ न्तरानी. ५ साट.

(५) एवं राजकीयदण्डस्य राजसूयवत्प्राकरणिकत्वाच्छुल्कादेरपि तदन्तर्गतत्वं प्रकटयन्नाह—शुल्केति। क्रयस्थानेषु जलस्थलव्यवहर्तृभ्यो ग्राह्यो भागः शुल्कः। अयं तु मूल्यनिर्णयनिमित्तः। सर्वपण्यविचक्षणाः तत्सारासारज्ञाः। अर्घं मूल्यम्। यथापण्यं, पण्यं विक्रयद्रव्यं तदनुरूपम्। ततो लाभधनाद्विंशतिभागं हरेदित्यन्वयः। मच.

प्रकाशतस्करदण्डाः ( पूर्वतोऽनुवृत्ताः )

**सर्वकण्टकपापिष्ठं हेमकारं तु पार्थिवः।**
**प्रवर्तमानमन्याये छेदयेल्लवशः क्षुरैः +॥**

(१) यावन्तः केचन कण्टकाः पूर्वमुक्तास्तेषां पापतमः सुवर्णकारः। यदि निर्धारणे षष्ठी। कथं न 'न निर्धारण' इति ( व्यासू. २।२।१० ) समासाभावः। तस्य च पापतमत्वं स्वल्पेनैवापहरणेन महत एनस उत्पत्तिर्ब्राह्मणस्वर्णापहरणे च महापातकं अतस्तमन्याये प्रवर्तमानं छेदयेत्खण्डशः। परिवर्तनतुलान्तरतापच्छेदादिभिः अपहरन्ति, गृह्णते। न चात्र ह्रियमाणद्रव्यपरिमाणापेक्षा, न स्वामिजात्यपेक्षा। अभ्यासस्त्वपेक्ष्यत इति, महत्त्वाद्दण्डस्य। अन्याये तु प्रवृत्तौ धनदण्डेन क्षुरमांसलवच्छेदो विनिमातव्यः। शारीरनिग्रहे निगृह्यमाणानां पापमपैतीति प्रतिपादितम्। मेधा.

(२) तदेवब्राह्मणराजस्वर्णविषयं द्रष्टव्यम्। * मिता. २।२९७

(३) तद्ब्राह्मणसुवर्णापहारिसुवर्णकारविषयम्। अप. २।२९६

(४) सर्वेभ्यः कण्टकेभ्यः क्षुद्रशत्रुभ्यः पापिष्ठम्। मवि.

(५) सर्वकण्टकानां मध्येऽतिशयेन पापतमं सुवर्णकारं तुलाच्छद्मकषपरिवर्तापद्रव्यप्रक्षेपादिना हेमादिचौर्ये

+ भाच. व्याख्यानं अशुद्धिसंदेहान्नोद्धृतम्।

* सवि. मितावत्।

(१) मस्मृ. ९।२९२; मिता. २।२९७; अप. २।२९६; व्यक. ११२; विर. ३०९; रत्न. १२४; विचि. १३१; व्यनि. ५१२; दवि. १०१; सवि.४९३; वीमि. २।२९७ (=); व्यप्र. ३८८ प्रवर्ते ( अवर्त ); व्यउ. १२६ व्यप्रवत्; विता. ७८०; सेतु. २३३; समु. १५९.

प्रवर्तमानमनुबन्धापेक्षया अङ्गाविशेषेण सर्वदेहं वा खण्डशश्छेदयेत् ।　　ममु.

(६) कण्टकः प्रकाशतस्करः ।　　+ विर. ३०९

(७) प्रवर्तमानमिति नित्यप्रवृत्तौ लट् । तेनाभ्यासे शास्तिरियमित्याहुः ।　　विचि. १३१

**शाल्मलीफलके श्लक्ष्णे नेनिज्यान्नेजकः शनैः ।**
**न च वासांसि वासोभिर्निर्हरेन्न च वासयेत्* ॥**

(१) शाल्मली नाम वृक्षस्तद्विकारे फलके । स हि प्रकृत्यैव दृढो भवति । न च वाससोऽपि पातैरवयवा अस्य च्यवन्ते । ते हि च्युता वासः पाटयेयुः । न चायं जातिनियमोऽदृष्टाय । तेनान्यदपि यत्काष्ठमेवं-स्वभावं तत्फलके न दोषः । श्लक्ष्णेऽपरुषे च । वासांस्यन्यदीयानि अन्यदीयैर्वासोभिर्न निर्हरेत्, बद्ध्वोपरिवेष्ट्य तीर्थे प्रक्षालयितुं न नयेत् । बन्धनाद्वाससां विनाशो मा भूत् । अधिकं हि तानि पीडितानि भवन्ति । न च वासयेत् अन्यदीयानि वासांस्यन्यस्मै न प्रयच्छेत्, वसनार्थं न दद्यात् । एतद्धि वासनं वस्तेऽपरस्तं रजको वासयति । अश्रुतत्वाद्दण्डस्य प्रकृतमाषकयोजना कर्तव्या ।　　मेधा.

(२) वासोभिर्बद्ध्वा वासांसि न नयेत् । न वासये-त्स्वगृहे न स्थापयेदित्यर्थः । धनमादायाच्छादनार्थं न दद्यादित्यर्थः ।　　अप. २।२३८

(३) नेनिज्यात् क्षालयेत् । नेजकश्चैलनिर्णेजकः । निर्हरेत् परिवर्तयेत् । वासयेत् चिरं स्थापयेत् । × मवि.

(४) शाल्मल्यादिवृक्षसंबन्धिफलके अपरुषे रजकः शनैः शनैः वासांसि प्रक्षालयेन्न परकीयैर्वस्त्रैरन्यवस्त्राणि नयेन्न चान्यवासांस्यन्यपरिधानार्थं दद्यात् । यद्येवं कुर्यात्तदाऽसौ दण्ड्यः स्यात् ।　　+ममु.

(५) वासयेदाच्छादयेत् अन्यं स्वं वा ।　　मच.

(६) न निर्हरेत् न मेलयेत् ।　　× व्यप्र. २८९

**तन्तुवायो[१] दशपलं दद्यादेकपलाधिकम् ।**
**अतोऽन्यथा वर्तमानो दाप्यो द्वादशकं दमम् ॥**

(१) तन्तून् वयति तन्तुवायः कुविन्दः, शाटकादेः[१] पटस्य कर्ता । स सूत्रपलानि दश गृहीत्वा शाटकं वयन्नेकपलाधिकं वस्त्रं दद्यात् । अनया वृद्ध्या सर्वं दद्यात् । स्थूलसूक्ष्मादिवाससां रोमवतां च कल्पना कर्तव्या । अन्यथा द्वादशपणो दण्डः । वृद्ध्यदानेऽयं दण्डो, मूलच्छेदे तु सूत्राणि गणोक्तः । एवं विंशतिपलं यदि न ददाति वृद्धिं, द्विगुणो दण्डः । एवं कल्पना कार्या त्रिगुणश्चतुर्गुण इत्यादि । अन्ये तु दण्डं राजभाग-मित्याहुः ।　　मेधा.

(२) द्वादशकार्षापणपरिमाणो दण्डो द्वादशकः ।　　अप. २।१८१

(३) तन्तूनां दशपलं गृहीतमेकपलाधिकं संमाय स्वामिने पटादीन् कृतान् प्रयच्छेत् । एवं गणनयैव सर्वत्र संख्यानम् । द्वादशकं तस्य तन्तोर्द्वादशं भागम् ।　　मवि.

(४) तन्तुवायो वस्त्रनिर्माणार्थं दश पलानि सूत्रं गृहीत्वा पिष्टभक्ष्याद्यनुप्रवेशादेकादशपलं वस्त्रं दद्यात् । यदि ततो न्यूनं दद्यात् तदा द्वादश पणान् राज्ञा दाप्यः स्वामिनश्च तुष्टिः कर्तव्यैव ।　　*ममु.

(५) स्थूलसूत्रविषयमेतदग्रिमानुसारात् । याज्ञवल्क्यः— 'शते दशपला वृद्धिरौर्णे कार्पासिके तथा । मध्ये पञ्चपला

---

+ शेषं मेधावत् ।　　* मिता. व्याख्यानं 'वसानस्त्रीन् पणान् दण्ड्य' इति याज्ञवल्क्यवचने द्रष्टव्यम् ।

× भाच. मविवत् ।

(१) **मस्मृ.** ८।३९६; **मिता.** २।२३८ ली ( ले ) नेनि ......शनैः ( निज्याद्वासांसि नेजकः ); **अप.** २।२३८ मितावत्; **व्यक.** ११३ न्न च ( न्न वि ); **विर.** ३१३ नेनिज्या ( निर्णिज्या ); **पमा.** ४५६; **दीक.** ५३ उत्त.; **दवि.** ११२ ली ( ले ) श्लक्ष्णे ( सूक्ष्मे ) नेनिज्या ( निर्णिज्या ) र्निर्ह ( र्निह ) च वास ( विवास ); **व्यप्र.** २८९ मितावत्; **विता.** ५७०, ७६४ मितावत्; **समु.** ८९ ली ( ले ) नेनि ...... शनैः ( मृज्याद्वासांसि नेजकः ) र्निर्ह ( र्ने ह ).

१ प्रयच्छन् वस.

+ गोरा. ममुवत् ।　× शेषं मितावत् ।

* भाच. ममुवत् ।

(१) **मस्मृ** ८।३९७ वायो दशपलं ( वायः पलं दत्त्वा ) पलं......पलाधि ( फलं ...... फलादि ) Noted by Jha ]; **अप.** २।१८१; **व्यक.** ११३; **विर.** ३१२; **व्यनि.** ५१३ पलं ( पलात् ); **समु.** ९०.

१ शाटका.

तौले सूक्ष्मे तु द्विपला स्मृता ॥' (यास्मृ. २।१७९)। स्थूलमध्यमयोर्विशिष्योपादानेन 'शते दशपला वृद्धिरि'-त्यत्र तदतिरिक्तं स्थूलं सूत्रं लगति। *विर. ३१२

(६) पटकृद्दशपलाद्दशभ्यो लाभेभ्यः एकफलाधिकमेकमधिकं लाभं राज्ञो दद्यात्। द्वादशकं फलद्वादशभागम्। नन्द.

[१]कितवान् कुशीलवान् क्रूरान् पाषण्डस्थांश्च मानवान्।
विकर्मस्थान् शौण्डिकांश्च क्षिप्रं निर्वासयेत्पुरात्॥

(१) कितवान् द्यूतसमाह्वयकर्तॄन्। कुशीलवान् नटान्। केरानतिवक्रचेष्टितान्। पाषण्डान् बौद्धादीन्। विकर्मस्थानधर्महेतुकर्मकर्तॄन्। पतितानन्त्यजादीन्। शौण्डिकान् मद्यविक्रेतॄन्। निर्वासयेत् बहिरेव वासयेत्। मवि.

(२) कितवानां नीचकारित्वप्रख्यापनायात्र कुशीलवाद्यनेकनीचसाहचर्यकरणमिति मन्तव्यम्। दुःसङ्गेन कुमार्गित्वं अविलम्बेन प्रजानामापद्यत इति क्षिप्रग्रहणं कृतम्। स्मृच. ३३०

(३) द्यूतादिसेविनो, नर्तकगायकान्, वेदविद्विषः, श्रुतिस्मृतिबाह्यव्रतधारिणः, अनापदि परकर्मजीविनः, शौण्डिकान् मद्यकरान् मनुष्यान् क्षिप्रं राजा राष्ट्रान्निर्वासयेदिति। कितवप्रसङ्गेनान्येषामप्यभिधानम्। ममु.

(४) कितवा वञ्चकाः द्यूतकाराः। कुशीलवाः स्वकौशलबलेनानिच्छतोऽपि पुरुषान् ये वञ्चयन्ति ते मताः। केराः परस्त्रीपुरुषसंकेतकारिणः। पाषण्डस्थाः क्षपणकादिपाषण्डाश्रिताः। विकर्मस्था अत्यन्तविरुद्धकर्मशीलाः। शौण्डिका अत्यन्तमद्यपानप्रसक्ताः। विर. ३१५

(५) एवञ्च कुशीलवादीनां वञ्चनादिभिरर्थापहारित्वं अपेक्षितम्। पूर्वापरनिबन्धेषु स्तेयप्रकरणे पाठस्वरसात् शौण्डिकादेरपि तादृशस्यैवायं दण्डो न च तत्तज्जातिमात्रस्य अदृष्टार्थत्वापातात्।

कुल्लूकभट्टेन तु वाक्यस्यास्य द्यूतप्रकरणान्तःपातित्वात् कितवप्रसङ्गेनान्येषामभिधानमित्युक्तम्।

नारायणेन तु निर्वासयेत् बहिरेव वासयेत् इति व्याख्यातम्। अतः कुशीलवान्नटानित्यादिव्याख्यानाच्च प्रकाशतस्करत्वमेषामेव न मन्यत इति गम्यते। अथ येषु प्रकाशतस्करत्वेनोपदिष्टेषु विशिष्य दण्डो नोपदिष्टस्तेषु कथं तन्निर्णयो दोषानुसारादिति प्राञ्चः।

तथाहि सर्वानेतानभिधाय—'नैगमाद्या भूरिधना दण्ड्या दोषानुसारतः। यथा ते नातिवर्तन्ते तिष्ठन्ति समये यथा॥' इति व्यासवचनं निबन्धेषु पठितम्। तत्र प्रतिभाति, समभिव्याहृतानामेकत्र यो दण्डः श्रुतः स एवान्यत्रापि बोद्धव्यः साहचर्यात्। तेषु द्वित्राणां यत्र दण्डभेदश्रुतिस्तत्रापराधस्य गौरवलाघवाभ्याम-भ्यासानभ्यासाभ्यां वा दण्ड्यस्य धनवत्त्वाधनवत्त्वादिभिर्व्यवस्था।

यत्र तु एकत्रापि दण्डश्रुतिर्नास्ति तत्र तुल्यन्यायतया दोषानुसारेण वा तत्कल्पनमिति। सोऽयं प्रकार एवंजातीयेऽन्यत्रापि द्रष्टव्यः। दवि. ११५-६

[१]एते राष्ट्रे वर्तमाना राज्ञः प्रच्छन्नतस्कराः।
विकर्मक्रियया नित्यं बाधन्ते भद्रिकाः प्रजाः॥

(१) एते कितवादयः तथा प्रच्छन्नतस्करा वेषान्तरधराश्चौरा विकर्मक्रियया सज्जनेष्वपि द्यूतादिक्रियाप्रवर्तनेन बाधन्ते बाधां कुर्वन्ति। भद्रिकाः सद्वृत्ताः। अत्र कितवप्रसङ्गादप्युक्तम्। मवि.

(२) एते कितवादयो गूढचौरा राष्ट्रे वसन्तो नित्यं वञ्चनात्मकक्रियया सज्जनान् पीडयन्ति। *ममु.

---

* शेषं ममुवत्।

(१) मस्मृ. ९।२२५ [कुशीलवान् (शीलवान्) क्रूरान् (केरान्) Noted by Jha]; व्यक. ११३; मवि. क्रूरान् (केरान्) निर्वा (न वा); स्मृच. ३३० कितवान् कुशीलवान् क्रूरान् (कुशीलवांश्च कितवान्); विर. ३१५ क्रूरान् (केरान्); पमा. ५७८ क्रूरान् (कौलान्) ण्डस्थांश्च (ण्डानपि); दवि. ११५ विरवत्; १५५ विरवत्, प्रथम-चतुर्थपादौ; मच. विरवत्; बाल. २।२०३ शीलवान् (शीलान्) क्रूरान् (चौरान्); समु. १६४ स्मृचवत्; नन्द. क्रूरान् (कैलान्); भाच. क्रूरान् (चौरान्).

* भाच. ममुवत्।

(१) मस्मृ. ९।२२६; स्मृच. ३३०; विर. ३१५; बाल. २।२०३; समु. १६४ राष्ट्रे (राज्ये).

(३) प्रच्छन्नतस्करास्तत्तुल्याः । विर. ३१५

(४) अत एषां निरासे यत्नाधिक्यं सूचयति— एत इति । वर्तमानाः स्वस्वकर्मणा विकर्मक्रियया विकर्मणा चौर्यादिना क्रियया देहधारणादितया बाधन्ते साधुभिः संगमय्य स्वदोषैस्तान् दूषयन्तीति भावः । भद्रिका भद्रेण साधुना धनपुत्रादिसूचककर्मणा जीवतीः । मच.

(५) भद्रिकाः सुशीलाः बाधन्ते दुःशीलाः कुर्वन्ति । नन्द.

अप्रकाशतस्करदण्डाः

[१]संधिं भित्त्वा तु ये चौर्यं रात्रौ कुर्वन्ति तस्कराः।
तेषां छित्त्वा नृपो हस्तौ तीक्ष्णे शूले निवेशयेत् ÷॥

(१) संधिः गृहवास्तुगर्भः । मवि.

(२) यतो हस्तश्छिन्नस्तत्र शूलद्वयं निवेशयेदित्यर्थः । अप. २।२७३

(३) तानिति शेषः । स्मृच. ३१८

(४) ये रात्रौ संधिच्छेदं कृत्वा परधनं तस्करा मुष्णन्ति तेषां राजा हस्तद्वयं छित्त्वा तीक्ष्णे शूले तानारोपयेत् । ममु.

(५) तानिति विभक्तिव्यत्ययेनानुषङ्गः । विर. ३१६

(६) संधिं भित्तिम् । मच.

(७) संधिः कपाटयन्त्रादिकम् । नन्द.

---

÷ मिता. व्याख्यानं 'क्षुद्रमध्यमहाद्रव्य' इति याज्ञवल्क्यवचने द्रष्टव्यम् ।

(१) **मस्मृ.** ९।२७६ क., घ., भित्त्वा (छित्त्वा), ग., भित्वा (छित्त्वा) तीक्ष्णे (तीक्ष्ण); **अपु.** २२७।५३-४ भित्वा (कृत्वा); **मिता.** २।२७५ (क) तीक्ष्णे (तीक्ष्ण) (ख) भित्त्वा (छित्त्वा) तीक्ष्णे (तीक्ष्ण); **अप.** २।२७३; **व्यक.** ११३ अपुवत्; **स्मृच.** ३१८; **विर.** ३१६ अपुवत्; **रत्न.** १२४; **विचि.** १३३-४ तीक्ष्णे (तीक्ष्ण) शेषं अपुवत्; **व्यनि.** ५०८ भित्त्वा (छित्त्वा); **दवि.** १२४ तीक्ष्णे (तीक्ष्ण) शेषं व्यनिवत्; **नृप्र.** २६५ दविवत्, स्मरणम्; **सवि.** ४६१ तीक्ष्णे (तीक्ष्ण); **व्यप्र.** ३८८ सविवत्; **व्यउ.** १२७ सविवत्; **व्यम.** १०२ सविवत्; **विता.** ७८२ सविवत्; **सेतु.** २३५ अपुवत्; **समु.** १५०; **विव्य.** ५१ विचिवत्.



पुरुषाणां कुलीनानां नारीणां च विशेषतः ।
मुख्यानां चैव रत्नानां हरणे वधमर्हति + ॥

(१) सत्कुले जाताः विद्यादिगुणयोगिनः कुलीनाः, नारीणां च विशेषतो गुणरूपसौभाग्यसंपन्नानामित्यर्थः । चशब्दात् कुलीनानामित्येव । परस्परापेक्षाणि नारीणां विशेषणानि । मुख्यानि उत्तमानि । रत्नानि वज्रवैडूर्यमरकतप्रभृतीनि । अत्रापि सुवर्णशततुल्यानीत्यपेक्ष्यं अन्यथोत्तमत्वमापेक्षिकमिति दण्डो न व्यवतिष्ठेत । वधमर्हत्यनुबन्धाद्यपेक्षया सर्वत्रार्हत्यर्थो योजनीयः । अकुलीनानामविशिष्टानाममुख्यानां च हरणे त्वेकादशगुण इत्येव । मेधा.

(२) वधः उत्कृष्टापकृष्टापेक्षया मारणाङ्गछेदादिः । मवि.

(३) महाकुलजातानां मनुष्याणां विशेषेण स्त्रीणां महाकुलप्रसूतानां श्रेष्ठानां च रत्नानां वज्रवैदूर्यादीनामपहारे वधमर्हति । ममु.

(४) नारीणां विशेषतः कुलजानाम् । कपिञ्जलानितिवत् त्रित्वं विवक्षितम् । मच.

(५) ह्रियमाणहरणयोर्जातिगुणाद्यपेक्षया वधशब्दार्थः कल्पनीयः छेदनरूपो मारणरूपो वा । नन्द.

[२]असंदितानां संदाता संदितानां च मोक्षकः ।
दासाश्वरथहर्ता च प्राप्तः स्याच्चोरकिल्बिषम् ॥

---

+ मिता. व्याख्यानं 'क्षुद्रमध्यमहाद्रव्य' इति याज्ञवल्क्यवचने द्रष्टव्यम् ।

(१) **मस्मृ.** ८।३२३; **मिता.** २।२७५ च वि (वा वि) मुख्या...त्नानां (रत्नानां चैव सर्वेषां); **व्यमा.** ३१६ मुख्या......त्नानां (रत्नानां चैव सर्वेषां) उत्त.; **अप.** २।२७५; **व्यक.** ११३-४ : ११५ उत्त.; **विर.** ३१७ : ३२४ उत्त.; **पमा.** ४४३ मुख्या...त्नानां (रत्नानां चैव मुख्यानां); **दवि.** १२५ : १४५ उत्त.; **नृप्र.** २६५ व्यमावत्; **सवि.** ४५६ व्यमावत्; **व्यप्र.** ३९०; **व्यउ.** १२८ क्रमेण व्यासः; **व्यम.** १०२ उत्त.; **विता.** ७८३ उत्त. : ७८४ (=) व्यमावत्; **सेतु.** २३६ : २४१ उत्त.; **समु.** १५० पमावत्.

(२) **मस्मृ.** ८।३४२ ग., पूर्वार्धे (असंधितानां संधाता संधितानां च मोक्षकः), [संदाता (संध्याता) Noted by

१ विशेषे त्वे.

(१) पश्वादयो विमुक्तशृङ्खलादिबन्धना मुक्तादियव-भूयिष्ठेषु विजनेषु वार्यन्ते । ततश्चेन्निद्रायति स्वामिनि पाले वा कश्चित् संदानवतः कुर्यात् । खलीनकबन्धा-दिना नूनं निनीषत्यसाविति शङ्कया चौरवद्दण्ड्यः। यस्तु स्वामिगृहच्युतं यूथभ्रंशागतं वा रक्षितुमेव वा बध्नीयान्न तस्य दोषः, एवं गवादीनामपि गले दामादि-संदाने[१] एष एव दमः । ये च संदिताः पादस्थशृङ्खला-दिना, तेषां मोक्षकः । दासांश्च रहसि प्रोत्साह्य भक्तदासादीनपहरति 'अहं ते बहु ददामि किमेतं भजसे' इति । कुलीनानां हरणे वध उक्तः 'पुरुषाणामि'त्यत्र (मस्मृ. ८।३२३), अनेन दासानामुच्यते[२] । यत एव तत्रैव कुलीनानामित्युक्तं, एवं प्रोत्साह्य नयनग्रहणं न कर्तव्यम् । तच्च[३] बलादिना चौर्येण वेति । अश्वरथहर्तेति । अश्वानां रथानां च । महापशूनामित्यत्र राजसंबन्धिनो-ऽश्वा, इमे तु जानपदानाम् । तत्र राजेच्छया दण्डः । इह तु नियतो वधः । यद्यपि बहवश्चोरदण्डास्तथापि स्मृत्यन्तरे 'बन्दिग्राहांस्तथा वाजिकुञ्जराणां च हारिणः । प्रसह्य घातिनश्चैव शूलमारोपयेन्नरान् ॥' इति (यास्मृ. २।२७३) । इहापि सामान्यदण्डो येन येनेत्युपक्रम्य तत्तदेव हरेदिति । अन्ये त्वश्वयुक्तो रथ इति सामान्यं मन्यन्ते प्रदर्शनाच्चाश्वगोरथादीनाम् । तत्र केवला-नामश्वानां रथस्य च दण्डश्चिन्त्यः । स्मृत्यन्तरे केवला-नामश्वानां चोरदण्डस्योक्तत्वात् रथयुक्तानामपि सिद्धः । ये तु प्रोत्साह्य नयनं हरणं मन्यन्ते तेषामश्वरथशब्देन रथकारो लक्ष्यते, रथकर्तेति । तच्च सर्वशिल्प्यर्थम् । शिल्पिनां हरणे चौरदण्डः । अश्वानामपि प्रोत्साहनं वडवादर्शनेन । मेधा.

(२) असंदितानां अबद्धानां अस्वामिकतयोत्सृष्टानां संवाहनादिकर्ता संदाता । संदितानामन्यपशूनां तद्वि-रोधाचणरबुद्ध्या मोक्षकः । दासाश्वरथहर्ता कथञ्चित् प्रतारणादिना तैः स्वकर्म कारयन् । तेन तदस्तेयेऽपि तत्कर्मस्तेयात्तत्स्तेयातिदेशः । मवि.

(३) अबद्धानामश्वादीनां परकीयानां यो दर्पेण बन्धयिता, बद्धानां मन्दुरादौ मोचयिता, यो दासा-श्वरथापहारी स चौरदण्डं प्राप्नुयात् । स च गुरुलघ्व-पराधानुसारेण मारणाङ्गच्छेदनधनाद्यपहाररूपो बोद्धव्यः । * ममु.

(४) संधाता हरणहेतुबन्धनकारी, मोक्षकोऽपि हरणहेतुमोक्षणकारी विवक्षितः । चौरकिल्बिषं चौरदण्डं शारीरमार्थं वा । विर. ३१९

महापशूनां हरणे शस्त्राणामौषधस्य च ।
कालमासाद्य कार्यं च राजा दण्डं प्रकल्पयेत् ॥

(१) महापशवो हस्त्यश्वादयः, तेषां हरणे, काल-कार्यापेक्षा दण्डप्रक्लृप्तिः । ननु च सर्वत्रैव कालाद्य-पेक्षोक्ता । तथा च 'कालदेशवयःशक्तीश्चिन्तयेद्दण्ड-कर्मणी'ति । सत्यम् । विज्ञाते दण्डस्वरूपे न्यूनाधिक-भावोऽनुबन्धाद्यपेक्षः । यथा वधविधौ ताडनमारणादि-कल्पनापेक्षया । इहात्यन्तविलक्षणो दण्डः । तथाहि विंशतिपणोऽपि खड्गः शत्रोरुद्यतशस्त्रस्य संनिधौ यदि ह्रियते तेन कार्यातिशयेन तेन च कालेन मारणं दण्डः । अन्यदा द्विगुण एकादशगुणो वा । तथौषध-मलभ्यत्वेन महाप्रयोजनं तदुपयोगवेलायां ह्रियते । लभ्यमानमपि क्वाथाद्यपेक्षं कालातिक्रमणेन महदातुरस्य दुःखं जनयतीति । तत्र महान् दण्डः । अन्यदा तु स्वल्प इति । न तत्रान्तरमन्तरेणेदृशं वैषम्यं लभ्यते । अन्यथा स एवैकः श्लोको दण्डविधौ पठितव्यः स्यात् । तस्माद्वक्तव्यमिदं विग्रहकालेऽश्वादीनां राजापेक्षो[१] दण्डः । शस्त्राणां राजोपयोगिनां कदाचित् क्षमा कदाचित् महान् दण्डः । गोमहिष्यादीनां तु प्रजासंबन्धिनां न

Jha ]; व्यक. ११४; विर. ३१९ पूर्वार्धे ( असंधितानां संधाता संधितानां विमोक्षकः ); विचि. १३६ च मो ( विमो ) हर्ता ( हन्ता ); दवि. १२८ उत्त. : १२९ च मो ( विमो ); समु. १५७ पूर्वार्धे ( असंहितानां संधाता संहितानां च मोक्षकः ).

१ संजात ए. २ च्यन्ते ।. यद्येवं तत्रैव कुलीन-मित्युक्तमेवं प्रो. ३ तत्र प्रवला.

* गोरा. ममुवत् । गोरा. व्याख्यानं अशुद्धिसंदेहान्नोध्दृतम् ।

(१) मस्मृ. ८।३२४ राजा दण्डं ( दण्डं राजा ); अप. २।२७५; व्यक. ११४; विर. ३१९; विचि. १३५ राजा दण्डं ( राजदण्डं ); दवि. १२९ रणे ( रणात् ) शेषं मस्मृ-वत्; सेतु. २३७.

१ राज्यापे.

राज्ञा क्षन्तव्यं, कार्ये च यदश्वादिभिः कर्तव्यं तदप्यपेक्ष्यम्। विग्रहोऽपि यदि पर्वतादौ भवति तत्र नातीवाश्वैः प्रयोजनं, भवन्त्येव दण्डादयः। कालमासाद्य ज्ञात्वा निरूप्य, दण्डं कल्पयेत्। स एवात्र प्रभवति न शास्त्रम्। मेधा.

(२) हस्त्यश्वगोमहिष्यादीनां महतां पशूनां हरणे खड्गादीनां कल्याणघृतादेश्च, कालं विग्रहदुर्भिक्षात्मकं, कार्यं चापहारप्रयोजनं द्यूतवैररज्ज्ववसादादिरूपं पर्यालोच्य राजा न्यूनाधिकं दण्डं प्रकल्पयेत्। अनुबन्धं परिज्ञाय। अनेनैतल्लाघवार्थमपि सादरार्थमुच्यते। शस्त्रौषधहस्त्याद्यपहारे विग्रहादौ स्थूलानर्थोत्पादनात्। *गोरा.

(३) महापशूनामश्वादीनां हरणे वधः। शस्त्राणामौषधस्य च हरणे तदेकादशगुणमित्यादिः कार्यबहुत्वाल्पत्वमपेक्ष्य दण्डः। तथा शस्त्रादीनां युद्धकालादौ हरणे ततो द्विगुणमित्याद्युन्नेयमित्यर्थः। मवि.

**[१]गोषु ब्राह्मणसंस्थासु छूरिकायाश्च भेदने।**
**पशूनां हरणे चैव सद्यः कार्योऽर्धपादिकः॥**

(१) ब्राह्मणसंस्था ब्राह्मणाश्रिता ब्राह्मणस्वामिकाः। तासां हरणे षष्ठ्यर्थे सप्तमी। पशूनां चाजैडकादीनाम्। बहुवचनं सर्वत्रात्र विवक्षितम्। सद्यस्तत्क्षणादविचार्य। पादस्यार्धमर्धपादं तदस्यास्तीत्यर्धपादिकः। तच्च संभवति यदि पादार्ध छिद्यते, तेन स्तेनार्धपादच्छेदनं कर्तव्यमिति वाक्यार्थः। खरिका यया गोरथक्षेत्रादौ वाह्यते बलीवर्दः। भेदने, वाह्यमानायाः प्रतोदेन पीडोत्पादनं भेदनं, वाहनोपलक्षणार्थं व्याचक्षते। पूर्वोऽवश्यं वाहयन् दुःखयति, अवश्यमयं दण्ड इत्येवान्ये पठन्ति। अन्ये तु पादस्य पश्चाद्भागं चतुर्थे (?) खरिकामाहुः। खरिकेति या प्रसिद्धा। पलायनशीलायाः पालोऽर्धपादिकः कार्यः। अन्ये त्वधिकरणसप्तमीं मत्वा गोसंस्थदध्यादीन्यध्याहरन्ति। तदयुक्तम्। श्रुतपदसंबन्धसंभवे कुतोऽध्याहारः। मेधा.

(२) ब्राह्मणसंस्थासु ब्राह्मणसंबन्धिनीषु। स्थूरपृष्ठेन भारवोढा वृषः तद्भारः स्थूरिका तस्या भेदने पाटयित्वा तद्गतधान्यादेरपहार इत्यर्थः। पशूनां महिषादीनाम्। अर्धपादिकः छिन्नार्धपादद्वयः। मवि.

(३) ब्राह्मणसंबन्धिनीनां गवामपहारे वन्ध्यायाश्च गोर्वाहनार्थे नासाच्छेदने पशूनां चाजैडकादीनां दण्डभूयस्त्वाद्यागाद्यर्थानां हरणेऽनन्तरमेव छिन्नार्धपादिकः कार्यः। *ममु.

(४) स्फुरिका वन्ध्या, भेदनमिह वाहनार्थं नासाभेदनम्। पशवश्चात्र अविबिडालनकुलव्यतिरिक्तक्षुद्रपशवः। विर.३२०

(५) तूलिका नासा, भेदनं रन्ध्रकरणम्। विचि. १३५

(६) पशवोऽत्राजाविकबिडालनकुलव्यतिरिक्ताः क्षुद्रपशव इति रत्नाकरः। मध्यमाः पशव इति प्रतिभाति। ब्राह्मणस्वामिकया गवा साहचर्यात् पशूनां महिषादीनामिति नारायणव्याख्यानाच्च। न च नारदीयस्फुराच्छेदनविरोधः। तन्मतेऽपि तुल्यत्वात्।

वस्तुतस्तु नारदवचने गोपदमुत्कृष्टगवीपरं, मनुवचने त्वप्रकृष्टगवीपरं, पशुपदं चात्राब्राह्मणस्वामिकाप्रकृष्टगवादिपरमिति न विरोधगन्धः। अर्धपादिकः छिन्नार्धपादद्वय इति नारायणः। दवि. १३१

**[१]कोष्ठागारायुधागारदेवतागारभेदकान्।**
**हस्त्यश्वरथहर्तॄंश्च हन्यादेवाविचारयन्+॥**
**अङ्गुली ग्रन्थिभेदस्य छेदयेत्प्रथमे ग्रहे।**
**द्वितीये हस्तचरणौ तृतीये वधमर्हति॥**

---

* ममु., मच., नन्द., भाच. गोरावत्।

(१) मस्मृ. ८।३२५ [ छूरिका ( खरिका, क्षुरिका ) Noted by Jha ]; गोरा. छूरि ( नासि ); व्यक. ११४ छूरि ( स्थूरि ) हरणे चैव ( चैव हरणे ); मवि. छूरि ( स्थूरि ); ममु. गोरावत्; विर. ३१९ छूरि ( स्फुरि ) हरणे चैव ( चैव हरणे ); विचि. १३५ छूरि ( तूलि ); दवि. १३१ विरवत् : १३९ मविवत्; मच. मविवत्; सेतु. २३७ विचिवत्; समु. १५१ पादि ( पाद ) शेषं मविवत्; दिव्य. ५२ रणे ( रतः ) शेषं विचिवत्.

१ क्षम्। : २ दार्ध तेन छिद्यते तेना.

* गोरा., मच. ममुवत्।

+ व्याख्यासंग्रहः स्थलादिनिर्देशश्च साहसप्रकरणे ( पृ. १६२९ ) द्रष्टव्यः।

(१) मस्मृ. ९।२७७ ली ( लीः ); मिता. २।२७४

(१) ग्रन्थिं भिनत्तीति ग्रन्थिभेदः। भेदनं मोक्षो ग्रन्थेः, वस्त्रप्रान्तादौ ग्रन्थिः। यद्वा यद्द्रव्यं गृहीतं तत्केनचिच्छलेन ग्रन्थिमवमोच्य ये निनीषन्ति ते ग्रन्थिभेदाः। तेषां प्रमथायां प्रवृत्तौ अङ्गुलीनां छेदः, द्वितीयस्यां प्रवृत्तौ हस्तचरणयोस्तृतीयस्यां मारणम्। *मेधा.

(२) अङ्गुली अङ्गुष्ठतर्जन्यौ, ग्रन्थिभेदस्य ग्रन्थिविस्रस्य सुवर्णादि हरतः प्रथमे ग्रहे प्रथमवारे। एवं द्वितीय इत्यादौ। एतेनान्यत्रापि पुनः पुनः करणे दण्डाधिक्यं द्रष्टव्यम्। मवि.

**[1]क्षेत्रिकस्यात्यये दण्डो भागाद्दशगुणो भवेत्।**
**ततोऽर्धदण्डो भृत्यानामज्ञानात्क्षेत्रिकस्य तु ॥**

(१) क्षेत्रस्वामिनः स्वक्षेत्रेऽत्ययोऽतिक्रमोऽपराधो यदि भवेत्स्वकृतः[1], अकाले वापनं, [2]निदाघे अयोग्यबीजवापः, स्वपशुभिर्भक्षणं, [3]गृहे वाऽविदितफलप्रवेश इत्यादि, तदा राज्ञो यावान् भाग आगच्छति तं दशगुणं दण्डनीयः। अथ तस्याज्ञातमेतत्प्रयुक्तैर्भृत्यैः क्षेत्रजागर्यानियुक्तैर्वा अपराद्धं, तदा अर्धदण्डो भृत्यानामत्यये [4]क्षेत्रिकस्य दण्ड इति संबन्धः। क्षेत्रप्रसङ्गादत्र (स्वामिपालविवादे) इदमुक्तम्। मेधा.

(२) क्षेत्राधिकृतस्यैव पशुभिः सस्यात्यये कृते राज्ञो ग्राह्यस्वभागाद्दशगुणोऽन्योऽपि भागो दण्डत्वेन ग्राह्यः। क्षेत्रिकाज्ञाने पालमात्रदोषात्तन्नाशे ग्राह्यस्वभागात्पञ्चगुणो भागो भृत्यानां पालानां दण्डः। भृत्येन च क्षेत्रिकाय सदो देयस्तुल्यन्यायत्वात्। मवि.

(३) क्षेत्रकर्षकस्यात्मपशुसस्यभक्षणेऽयथाकालं वपनादौ वाऽपराधे सति यावतो राजभागस्य तेन हानिः कृता ततो दशगुणदण्डः स्यात्। क्षेत्रिकाविदिते भृत्यानामुक्तापराधे क्षेत्रिकस्यैव दशगुणार्धदण्डः। क्षेत्रसस्यप्रसङ्गाच्चेदमुक्तं (स्वामिपालविवादे)। *ममु.

(४) मनुः— 'धान्यं दशभ्यः कुम्भेभ्यो हरतो ह्यधिको वधः। शेषेऽप्येकादशगुणं दाप्यस्तस्य च तद्धनम्॥ क्षेत्रिकस्यात्यये दण्डो भागाद्दशगुणो भवेत्। अतोऽर्धदण्डो भृत्यानामज्ञानात्क्षेत्रिकस्य तु ॥' कुम्भो विंशतिः प्रस्थाः, शेषे दशकुम्भाधिकन्यूने। तस्य च तद्धनं स्वामिनो यदपहृतं तद्दाप्यः [ क्षेत्रिकस्यात्यये कृषीवलभागापहरणे 'धान्यापहार्येकादशगुणं दण्ड्यः शस्यापहारी च' ( विस्मृ. ५।७९–८० )। मनूक्तधान्यापहारे एकादशगुणदण्डाभिधानं स्वामिने च हृतधान्यदानं च प्रथमधान्यचौर्यविषयम्। बार्हस्पत्यं तु स्वामिने एकादशगुणधान्यदानं राज्ञश्च तद्द्विगुणधनदानं चौर्याभ्यासविषयमित्यविरोधः। हलायुधस्तु द्वितीये श्लोके क्षेत्रस्वामिनोऽत्ययेन दोषेण यदा शस्यनाशो भवति, तदा राज्ञा स्वग्राह्यभागाद्दशगुणं दण्डनीयः। एतज्ज्ञानाच्च। भृत्यदोषेण शस्यनाशे भृत्य एव तदर्धेन दण्ड्य इत्यर्थमाह। विर. ३२२-३

**[1]धान्यं दशभ्यः कुम्भेभ्यो हरतोऽभ्यधिकं वधः।**
**शेषेऽप्येकादशगुणं दाप्यस्तस्य च तद्धनम्+ ॥**

(१) कुम्भशब्दः परिमाणविशेषे वर्तते न घटमात्रे। क्वचिद्विंशतिप्रस्थाः क्वचिद्द्वाविंशतिरिति देशभेदात् व्यवस्था। दशभ्योऽधिकं हरतो वधविधिरुक्तार्थोऽनु-

---

* ममु., मच., नन्द. मेधावत्।

(ख) ली (लीः); अप. २।२७४; स्मृच. ३१८; विर. ३२१; पमा. ४४० मितावत्; रत्न. १२५; विचि. १३६ ली (लं) मे ग्रहे (मागमे) [मे ग्रहे (मागसि) Noted by Jha]; व्यनि. ५०८-९ ली ग्रन्थि (लिं संधि); दवि. १३२ चरणौ (पादौ च); नृप्र. २६४; सवि. ४६२ छेदयेत्प्रथमे (भेदयेत्प्रथम); व्यप्र. ३८९; व्यउ. १२७; व्यम. १०२ (=); विता. ७८२ ली (लीं); समु. १५०.

(१) मस्मृ. ८।२४३ क., घ., कस्या (यस्या); व्यक. ११४; विर. ३२२ ततो (अतो); विचि. १३७-८ (=); दवि. १३९; सेतु. २३९ नात्क्षेत्रि (नात्कर्ष); समु. ११८.

१ कृते अ. २ निदानं अ. ३ गिरणं वा विदितफलके प्रायश इत्यादि. ४ क्षेत्रक.

* गोरा., मच., भाच. ममुवत्। गोरा., नन्द. अशुद्धिसंदेहान्नोद्धृतम्।

+ विर. व्याख्यानं 'क्षेत्रिकस्यात्यये दण्डो' इति पूर्वश्लोके द्रष्टव्यम्।

(१) मस्मृ. ८।३२०; अपु. २२७।३५-६ दाप्यस्त...... नम् (तस्य दण्डं प्रकल्पयेत्); मिता. २।२७५ शेषेऽप्ये (शेषेष्वे); अप. २।२७५; व्यक. ११४ धिकं (धिको);

बन्धादिना नियम्यते । शेषेषु दशसु प्राकृत एकादशगुणो दण्डः । तस्य च तद्धनमिति सर्वत्र स्तेये योज्यम् । धान्यं व्रीहियवादिसस्तदशानीति स्मर्यते । मेधा.

(२) विंशतिद्रोणकः कुम्भः । × मिता. २।२७५

(३) कुम्भो द्रोणद्वयम् । तदुक्तम्–'पलद्वयं तु प्रसृतं द्विगुणं कुडवं मतम् । चतुर्भिः कुडवैः प्रस्थः प्रस्थाश्चत्वार आढकः ॥ आढकैस्तैश्चतुर्भिश्च द्रोणस्तु कथितो बुधैः । कुम्भो द्रोणद्वयं शूर्पः खारी द्रोणास्तु षोडश ॥' इति । दशभ्यः कुम्भेभ्योऽधिकधान्यहारिणो वधः । शेषेऽनधिके हृते यत्र धान्यापहारे यो दण्डस्तमेकादशगुणं दण्डं दाप्यः । यावदपहृतं तावच्च स्वामिने । अप. २।२७५

(४) कुम्भः पलशतद्वयम् । वधस्ताडनादि । ब्राह्मणादिद्रव्ये त्वङ्गच्छेदादिः । शेषे ततः प्राक् तस्य तद्धनं दाप्य इत्युभयत्र । मवि.

(५) शेषशब्दो यद्यप्युक्तसंख्यातिरिक्ते न्यूनाधिकसंख्याके वर्तितुमर्हति, तथाऽपि लघुदण्डाभिधानान्न्यूनसंख्याक एव वर्तते इति मन्तव्यम् । कुम्भशब्दः खारीपर्यायः, तत्र क्वचिद्देशे कुम्भशब्दप्रयोगात् । खार्याः पुनरियत्ता स्मृत्यन्तरे दर्शिता--- 'अङ्गुल्यग्रत्रयग्राह्या शाणमित्यभिधीयते । शाणं पाणितलं मुष्टिः प्रसृतिश्च तथाऽञ्जलिः ॥ कुडपश्च तथा प्रस्थ आढको द्रोण एव च । मानी खारी च विज्ञेयाः संख्यायाश्चतुरुत्तराः ॥' इति । 'दाप्यस्तस्य च तद्धनम्' इत्यनेन यद्यपि प्रकृतं धान्यात्मकमेव धनं तत्स्वामिने स्तेनापहृतं दाप्य इति प्रतिभाति, तथाऽपि 'स्तेनाः सर्व एवापहृतं दाप्याः' इति विष्णुस्मरणात् सर्वत्र कृते स्तेये योज्यम् । स्मृच. ३१९

(६) द्विपलशतं द्रोणो विंशतिद्रोणश्च कुम्भः, दशसंख्येभ्यः कुम्भेभ्योऽधिकं धान्यं हरतो वधः । स हर्तृस्वामिगुणवत्तापेक्षया ताडनाङ्गच्छेदमारणात्मको ज्ञेयः । शेषे पुनरेकस्मादारभ्य दशकुम्भपर्यन्तहरणे निह्नुतैकादशगुणं दण्डं दाप्यः । स्वामिनश्चापहृतं दाप्यः ।*ममु.

(७) प्रमाणस्थपुरुषस्य प्रमाणस्थकरचरणस्य द्वादशभिः प्रसृतिभिः कुडवो भवति । चतुर्भिः कुडवैः प्रस्थो भवति । विंशतिप्रस्थैः कुम्भ इति रत्नाकरादयः । ईदृशदशकुम्भाश्च पुरुषाहारमानेन खारीति मैथिलाः । इतोऽप्यधिकं धान्यमपहरन् मारणीयः । न्यूनं त्वपहरन् तत्समं धान्यं स्वामिनि तदेकादशगुणं च राजनि दण्डत्वेन दाप्य इत्यर्थः । अन्ये तु— 'पलं च कुडवः प्रस्थ आढको द्रोण एव च । धान्यमानेन बोद्धव्याः क्रमशोऽमी चतुर्गुणाः ॥ द्रोणैः षोडशभिः खारी विंशत्या कुम्भ उच्यते । कुम्भैस्तु दशभिर्वाहो धान्यसंख्या प्रकीर्तिता ॥' विंशत्या द्रोणैरित्यन्वयः । एतद्वाक्यानुसारेण च कुम्भमाहुः । विचि. १३७

(८) कुम्भो विंशतिः प्रस्था इति रत्नाकरः । विंशतिद्रोण इति मिताक्षराकारः । कुल्लूकभट्टोऽप्याह द्विपलशतं द्रोणः, विंशतिद्रोणः कुम्भ इति । यत्तु घृतद्रोणेन परिमितः कुम्भ इति गोपथब्राह्मणं तद्द्रवद्रव्यविषयम् । माषकं पञ्चकृष्णलम्— 'माषकाणि चतुःषष्टिः पलमेकं विधीयते । द्वात्रिंशत्पलिकं प्रस्थं स्वयमुक्तमथर्वणा ॥ आढकस्तु चतुःप्रस्थैश्चतुर्भिर्द्रोण आढकैः ॥' स्कन्दपुराणे--- 'पलद्वयं हि प्रसृतिस्तद्द्वयं कुडवं स्मृतम् । चतुर्भिः कुडवैः प्रस्थमाढकैश्च चतुर्गुणैः ॥ चतुर्गुणो भवेद्द्रोण इत्येतद्द्रव्यमानकम् ॥' तमेनं द्रोणं पूर्णपात्रं व्यवहरन्ति । चतुर्वर्गचिन्तामणौ द्रवद्रव्यविषये स्कन्दपुराणमिति कृत्वा वचनमिदमवतारितम् । एवमेव प्रसृतिप्रभृति द्रोणान्तमुक्त्वा भविष्यपुराणे— 'कुम्भो द्रोणद्वयं सूर्यः खारी द्रोणास्तु षोडश ।' सूर्य इति द्रोणस्य नामान्तरं, केचित्सूर्प इति पठन्ति । विष्णुधर्मोत्तरे कुडवप्रभृति द्रोणान्तमुक्त्वा— 'द्रोणैः

---

× शेषं 'क्षुद्रमध्यमहाद्रव्य' इति याज्ञवल्क्यवचने द्रष्टव्यम् । **स्मृच.** ३१९; **विर.** ३२२ ऽभ्यधिकं (ह्यधिको); **पमा.** ४४२; **रत्न.** १२५ धिकं (धिके); **विचि.** १३७ भ्यधि (प्यधि) बृहस्पतिः; **स्मृचि.** २५ रत्नवत्; **दवि.** ३८ कं वधः (को दमः) पू. : १३४ भ्यधि (प्यधि); **नृप्र.** २६४ भ्याधिकं (प्यधिको); **व्यप्र.** ३९० शेषेऽप्ये (शेषेष्वे) द्धनम् (द्धनात्); **व्यउ.** १२८ रत्नवत्; **व्यम.** १०२ भ्याधिकं (प्यधिके) शेषेऽप्ये (शेषेष्वे); **विता.** ७८३ धिकं (धिके) शेषेऽप्ये (शेषेष्वे); **बाल.** २।२७५ 'शेषे त्वे' इति पाठः; **सेतु.** २३८ (=) भ्यधि (प्यधि); **समु.** १५१; **विध्य.** ऽभ्यधि (ह्यधि) क्रमेण याज्ञवल्क्यः.

१ तत्तस्य.

* मच. ममुवत् ।

षोडशभिः खारी विंशत्या कुम्भ उच्यते। कुम्भैस्तु दशभिः खारी धान्यसंज्ञा प्रकीर्तिता ॥' इत्युक्तम्। विंशत्येति द्रोणैरित्यनुषङ्गः। धान्येति यवादीनामपि द्रवद्रव्याणामपि चोपलक्षणं स्कन्दपुराणीयसामान्याभिधानस्वरसादिति महार्णवकारः।

बालभूषणे चण्डेश्वरः—'कुडवाद्या वेदगुणा प्रस्थाढद्रोणमानकाः खार्यः। कुम्भो विंशतिखार्या दृष्टो लोके यथाक्रमशः ॥' लोके मिथिलादौ। तदेवं द्रोणद्वयेन विंशत्या द्रोणैरिति च द्विविधः कुम्भः। दानविवेके तु पणसहस्रपरिमितः कुम्भ इत्युक्तम्। एवं च नानार्थ एव कुम्भशब्दः। वराहपुराणे— 'पलद्वयं तत्प्रसृतिर्मुष्टिरेकपलं स्मृतम्। अष्टमुष्टिर्भवेत् कुञ्चिः कुञ्चयोऽष्टौ च पुष्कलम् ॥ पुष्कलानि च चत्वारि आढकः परिकीर्तितः। चतुराढको भवेद्द्रोण इत्येतन्मानलक्षणम् ॥' तथा— 'चतुर्भिः सेरिकाभिश्च प्रस्थ एकः प्रकीर्तितः ॥' तत्र हेमाद्रिः— सेरिका कुडवः। तथा कल्पतरुः— सेरिका कुडवः स च द्वादशप्रसृतिपरिमितः। द्वादशप्रसृतिभिः सेरिका तच्चतुष्टयं प्रस्थ इति समयप्रकाश–रत्नाकर–स्मृतिसागरेष्वप्युक्तम्।

तथा भूपालपद्धतौ प्रमाणस्थपुरुषस्य प्रमाणस्थकरचरणस्य द्वादशप्रसृतिभिः कुडव उत्तरोत्तरं चतुर्गुणाः प्रस्थाढकद्रोणा भवन्ति। ततश्चतुःषष्ट्या कुडवैर्द्रोण इत्युक्तम्। एवमेव कल्पतरुकारः। यत्तु पठन्ति— 'पञ्चकृष्णलको माषस्तैश्चतुःषष्टिभिः पलम्। द्वात्रिंशता पलैः प्रस्थो मागधेषु व्यवस्थितः ॥ आढकस्तैश्चतुर्भिस्तु द्रोणः स्याच्चतुराढकः ॥' तथा— 'सर्वेषामेव मानानां मागधं श्रेष्ठमुच्यते ॥' तदेतन्मागधमात्र इत्याहुः। तत्र, गोपथब्राह्मणसंवादित्वेन साधारण्यौचित्यात् मागधेष्विति व्यवहरणपरम्। एवञ्च श्रेष्ठतापि न परिमाणाधिक्यात्, अपि तु वेदमूलकत्वादिति ध्येयम्।

दवि. १३४–६

(९) कुसूलात् किञ्चिन्न्यूनं धान्यभाजनं कुम्भः, दशभ्यः कुम्भेभ्य इत्येकपुरुषस्य संवत्सरभोजनपर्यन्तधान्यग्रहणं, ततोऽभ्यधिके हरणे दण्डः स्यात्। दशभ्यः कुम्भेभ्यो न्यूने हरणे हृतादेकादशगुणं धान्यं हर्ता दण्डत्वेन दाप्यः। धान्यस्वामिने तद्धृतं धान्यं च दाप्यम्। ब्राह्मणधान्यहरणे क्षत्रियादीनामयमेव दण्डोऽवगन्तव्यः। नन्द.

(१०) अभ्यधिके हरतः वधः ताडनादि। एतद्विप्रविषयम्। क्षत्रियादावधगच्छेदित्यर्थः। भाच.

**तथा धरिममेयानां शताद्भ्यधिके वधः।**
**सुवर्णरजतादीनामुत्तमानां च वाससाम् *॥**

(१) धरणं धरिमा, तुला, तेन मीयन्ते परिच्छिद्यन्ते तानि धरिममेयानि। घृतादीनां द्रवाणां प्रस्थादिमेयताऽस्तीति, कठिनानां परिमेयता भवतीति, तदर्थमाह सुवर्णरजतादीनाम्। आदिग्रहणादेव रजते लब्धे पुनरुपादानात्तुल्यग्रहणार्थात् प्रवालादीनि गृह्यन्ते। न तु ताम्रलोहादीनि। तेषां शतादूर्ध्वं हरणे वधः। किं पुनरेतच्छतं, पलानामुत कर्षाणामेव कार्षापणानां वा? केचिदाहुः पलानामिति। न त्वत्र विशेषो हेतुरस्ति, तस्माद्यस्मिन् देशे धरिममानकाले यया संख्यया व्यवहारः। शतमिदं सुवर्णस्य, क्वचित्तोलके क्वचित्पलेषु, यथादेशं व्यवस्था। उत्तमानां च वाससां कौशेयपट्टादीनामिति। शतादभ्यधिके वध इत्यनुषङ्गः। अत्रापि शाटकयुगमेकमिति संख्यायते। पुष्पपटाद्युपबर्हणं त्वेकमेवेति। ननु च सुवर्णरजतादीनामित्येव सिद्धे परिमेयग्रहणमनर्थकम्? नानर्थकं, कर्पूरागरुकस्तूरिकादीनां

* दण्डविवेके उक्तानां ग्रन्थानामनुवादः।

(१) **मस्मृ.** ८।३२१; **गोरा.** उत्तमानां (महार्घाणां); **मिता.** २।२७५ तथा धरिममेयानां (रत्नानां चैव सर्वेषां); **अप.** २।२७५; **व्यक.** ११४; **मभा.** १२।४१ (=) धरिममेयानां (परिमेयानां) पू.; **स्मृच.** ३१९ धरिम (गणिम); **विर.** ३२३; **पमा.** ४४२ तथा......वधः (रत्नानां चैव सर्वेषां शताद्यधिके वधः); **रत्न.** १२५ उत्त.; **विचि.** १३८ तथा (तुला) भ्यधि (प्यधि); **स्मृचि.** २५; **दवि.** १४३ के वधः (को दमः); **नृप्र.** २६४ मितावत्; **सवि.** ४६२ वाससाम् (साहसाः) शेषं मितावत्; **व्यप्र.** ३९० उत्त.; **व्यउ.** १२८ उत्त., क्रमेण व्यासः; **व्यम.** १०२ उत्त.; **सेतु.** २४१ तथा धरिम (तुलापरिम) भ्यधि (प्यधि); **समु.** १५०. [**मिता.**, **पमा.**, **सवि.**, **नृप्र.** एषु ग्रन्थेषु श्लोकार्धौ व्यत्यासेन पठितौ ]।

१ वधः केचिदाहुः। पलानामिति। न तत्र विशेषहेतुरित्यनु.

महार्घाणां ग्रहणार्थम्। आदिग्रहणाद्धि तैजसानि गृह्यन्ते, निष्कादिपरिमाणव्यपदेश्यानि वा। न हि कर्पूरादीनां कर्षादिव्यपदेशोऽस्ति। यद्यपि सुवर्णवद्रजतेऽपि शतसंख्या तथापि प्रायश्चित्तभेदवद्दण्डभेदोऽपि युक्तो विषमसमीकरणस्य न्याय्यत्वादतो यावत्सुवर्णगतस्य मूल्यं तावति रूपे गृहीते वधः। कर्पूरादीनां तु पलानामेव शतसंख्या। ×मेधा.

(२) धरिमेण तुलया मीयन्त इति धरिममेयानि, तान्येव सुवर्णरजतादीनामित्यनेन विशेषितानि। यदि सुवर्णरजतादीनामित्येतावन्मात्रमुच्यते ततो लोहानामेव ग्रहणं स्यात्। अथ धरिममेयानामित्येवोच्येत, तदा गुडादीन्यपि गृह्येरन्। उभयोपादाने तु लोहव्यतिरिक्तानामपि मुक्ताप्रवालादीनां तुलामेयानां परिग्रहः। महार्घत्वेन सुवर्णरजतप्रकारत्वात्। प्रकारवचनश्चायमादिशब्दः। अत एव गुडादीनां धरिममेयत्वेऽपि निवृत्तिः। अमहार्घत्वेन सुवर्णतुल्यताविरहात्। तेन लोहानामपि त्रपुसीसादीनामसाराणां नेह ग्रहणम्। उत्तमानि च वासांसि पत्तो (त्रो)र्णनेत्रपटीप्रभृतीनि।

अप. २।२७५

(३) धरिमा तुला तन्मेयानां सुवर्णरजतव्यतिरिक्तानां ताम्रादीनां, शतात् निष्कशतात्। एतच्च षोडशमाषकरूपसुवर्णचतुष्टयरूपनिष्कव्यवस्थया ग्राह्यम्। अत्रापि वधो मारणं ब्राह्मणद्रव्यत्वे अन्यत्र त्वङ्गच्छेदादि। सुवर्णेति। सुवर्णरजतोत्तमवाससामल्पानामपि हरणे वध एवेत्यर्थः। *मवि.

(४) यथा धान्येन वध उक्तस्तथा तुलापरिच्छेद्यानां सुवर्णरजतादीनामुत्कृष्टानां च वाससां पट्टादीनां पलशताधिकेऽपहृते वधः कर्तव्य एव। विषमसमीकरणं चात्र देशकालापहर्तृद्रव्यस्वामिजातिगुणापेक्षया परिहरणीयम्। एवमुत्तरत्रापि ज्ञेयम्। +ममु.

(५) हेम्नो रजतस्य वा शतकर्षाधिकस्य तथा वाससो वा शताधिकमूल्यस्य हर्ता वध्यः। विचि. १३८

(६) धरिमेति, धरणं तुला तेन परिच्छेद्यानां कार्पासादिद्रव्याणां पलशतादधिकेऽपहृते वधः। ÷मच.

× गोरा., स्मृच. मेधावत्। * भाच. मविवत्।
+ मेधावद्भावः। ÷ शेषं ममुवत्।

[१]पञ्चाशतस्त्वभ्यधिके हस्तच्छेदनमिष्यते।
शेषेष्वेकादशगुणं मूल्याद्दण्डं प्रकल्पयेत्॥

(१) सुबोधोऽयम्। मूल्यादिति नापहृतमेव द्रव्यं देयं, कचित्तज्जातीयं नैव प्राप्यते। अतो रूपकैर्धान्यादिना वा विनिमेयम्। मेधा.

(२) पञ्चाशत इति ताम्रादिविषयम्। शेषे पञ्चाशत ऊने। ×मवि.

(३) पूर्वोक्तानां पञ्चाशदूर्ध्वं शतं यावदपहारे कृते हस्तच्छेदनं मन्वादिभिरभिहितम्। शेषेष्वेकपलादारभ्य पञ्चाशत्पलपर्यन्तापहारे अपहृतगुणादेकादशगुणं दण्डं दाप्यः। +ममु.

[२]सीताद्रव्यापहरणे शस्त्राणामौषधस्य च।
कालमासाद्य कार्यं च राजा दण्डं प्रकल्पयेत्॥

(१) कृष्यमाणा भूमिः सीता, तद्द्रव्याणि लाङ्गलकुद्दालकादीनि, तदपहरणे दण्डः प्रकल्प्यः। किं इच्छयैव? नेत्याह। कालमासाद्य कार्यं च, कर्षणकाले प्रत्यासन्ने महान् दण्डः। अकृष्टे च यदा तस्मिन् महतः फलस्य नाशस्तदा भूयानेव। आसाद्यासन्नं ज्ञात्वेत्यर्थः। अन्यदा तु द्रव्यजात्याद्यनुरूपः। एवं शस्त्राणां च खड्गादीनां युद्धकाले, औषधस्य भेषजार्थमुपयोगकाले, तेन चौषधेन हृतेनानुपयुक्तेन यद्यातुरस्य महती पीडा

× भाच. मविवत्। + गोरा., मच., नन्द. ममुवत्।

(१) मस्मृ. ८।३२२ ष्वेका (त्वेका) [मिष्यते (मुच्यते) ष्वेका (चैका) Noted by Jha]; मिता. २।२७५; अप. २।२७५ ष्वेका (त्वेका); व्यक. ११४ ल्याद्द (ल्यं द); स्मृच. ३१९; विर. ३२३ ष्वेका (ऽप्येका); पमा. ४४३ अपवत्; रत्न. १२५ विरवत्; विचि. १३८ विरवत्; स्मृचि. २५ ल्याद्द (ल्यद) शेषं विरवत्; दवि. १४३ विरवत्; नृप्र. २६४-५; सवि. ४६२ शेषे (शते); व्यप्र. ३९०; व्यउ. १२८ विरवत्, क्रमेण व्यासः; व्यम. १०२ द्दण्डं (द्दण्डः); विता. ७८४ नारदः; सेतु. २४१ विरवत्; समु. १५०.

(२) मस्मृ. ९।२९३ [प्रकल्पयेत् (प्रवर्तयेत्) Noted by Jha]; मवि. शस्त्राणां (शष्पाणां); विर. ३२४ हरणे (हारे तु); दवि. १४६ हरणे (हारे तु) काल......च (कार्ष्ये [फालो] माषोदकानां च); समु. १५१.

जायतेऽन्यच्च तस्मिन् काले न लभ्यते तल्लभ्यमपि बाधकादिसंस्कारापेक्षया विशेषेणोपयोगार्थमेवमाद्यपेक्षा राजदण्डप्रकल्पनायै प्रभवेत्। शस्त्राणां राजोपकरणानाम्। अन्यथाऽपि जनपदस्य भ्रातृव्यतस्कराशङ्किनस्तदा महान् दण्डः। स्वल्पे स्वल्पः। मेधा.

(२) सीताद्रव्यं हलादि। शष्पाणां औषधिद्रव्याणाम्। शस्त्राणामिति क्वचित्। कालं कृषिसमयादिं, कार्यं दुर्भिक्षादिना बहुप्रयोजनतां ज्ञात्वा दण्डतारतम्यं कुर्यात्। मवि.

(३) कृष्यमाणभूमिद्रव्याणां हलकुद्दालादीनामपहरणे, खड्गादीनां च शस्त्राणां, औषधस्य च कल्याणघृतादेश्चौर्ये सत्युपयोगकालेतरकालापेक्षया प्रयोजनापेक्षया च राजा दण्डं कुर्यात्। ममु.

**यस्तु रज्जुं घटं कूपाद्धरेद्भिन्द्याच्च यः प्रपाम्।**
**स दण्डं प्राप्नुयान्माषं तच्च तस्मिन् समाहरेत्॥**

(१) प्रपिबन्त्यस्यामिति प्रपा, जलाधारस्थानं उद्धृतजलनिधानं वा। माषस्य जातिर्न निर्दिष्टा। सा मरुजाङ्गलानूपभेदा द्रष्टव्या। तच्च रज्ज्वादि समाहरेद्द्द्यात्तस्मिन् स्थाने न राजनि। मेधा.

(२) कूपसमीपे रज्जुघटयोर्जलोद्धारणाय धृतयो रज्जुं घटं वा हरेत्। यो वा पानीयदानगृहं विदारयेत् स सौवर्णं माषं दण्डं प्राप्नुयात्। 'यन्निर्दिष्टं तु सौवर्णं माषं तत्र प्रकल्पयेत्' इति कात्यायनवचनात्। तच्च रज्ज्वादि तस्मिन् कूपे समर्पयेत्। *ममु.

**सूत्रकार्पासकिण्वानां गोमयस्य गुडस्य च।**
**दध्नः क्षीरस्य तक्रस्य पानीयस्य तृणस्य च॥**

**वेणुवैणवभाण्डानां लवणानां तथैव च।**
**मृन्मयानां च हरणे मृदो भस्मन एव च॥**
**मत्स्यानां पक्षिणां चैव तैलस्य च घृतस्य च।**
**मांसस्य मधुनश्चैव यच्चान्यत्पशुसंभवम्॥**
**अन्येषां चैवमादीनां मद्यानामोदनस्य च।**
**पक्वान्नानां च सर्वेषां तन्मूल्याद्द्विगुणो दमः॥**

(१) सूत्रमूर्णासणादि। लवणानि सैन्धवबिडलवणादीनि। यच्चान्यत्पशुसंभवमामिषादि। अन्येषामपूपमोदकादीनाम्। आदिशब्दः प्रकारे, प्रकारः सादृश्यं तुल्यता सदृशकार्यकरणोपयोगादिरूपा। तथा च सर्पिर्मण्डेक्षुखण्डशर्कराकिलाटकूर्चिकाद्या अपूपा गृह्यन्ते। पशुसंभवं राङ्कवाजिनाद्यपीच्छन्ति केचित्। आदिग्रहणात्प्रकृतेर्विकृतिरपि। यच्चोभयोपादानं दध्नः क्षीरस्य चेति तदुदाहरणार्थम्। एवं सूत्रग्रहणेन सूत्रमयं वासोऽपि गृह्यते। नलिकादीनां सत्यपि सूत्रमयत्वे पशुसंभवत्वे उत्तमत्वादुत्तमानां चेति अयमपवादविषयः। प्रकृत्यन्तरे

---

* गोरा., मवि., मच., नन्द., भाच. ममुवत्।

(१) **मस्मृ.** ८।३१९ क., घ., भिन्द्या (भिद्या), ग., तच्च (तं च); **अपु.** २२७।३४-५ यः प्रपाम् (तां प्रपाम्) उत्तरार्धे (स दण्डं प्राप्नुयान्मासं दण्ड्यः स्यात्प्राणिताडने); **अप.** २।२७५ स दण्डं (दण्डं स); **व्यक.** ११५; **विर.** ३२८; **विचि.** १४१ रज्जुं घटं (रज्जुघटं); **स्मृचि.** २५ विचिवत्; **दवि.** १५०; **सेतु.** २४३ रज्जुं घटं (रज्जुघटं) प्रपाम् (प्रपा) तच्च (तं च); **समु.** १५१.

(२) **मस्मृ.** ८।३२६ [गोमयस्य (आवसस्य) Noted by Jha]; **अप.** २।२७५; **व्यक.** ११५; **विर.** ३२६; **पमा.** ४४४; **विचि.** १४०; **दवि.** १४८; **व्यप्र.** ३९१; **व्यउ.** १२९ क्रमेण नारदः; **सेतु.** २४१-२ : ३२३ किण्वानां (क्लिन्नानां); **समु.** १५१.

(१) **मस्मृ.** ८।३२७ वैणव (वैदल); **अप.** २।२७५; **व्यक.** ११५; **विर.** ३२६; **पमा.** ४४४; **विचि.** १४०; **दवि.** १४८; **व्यप्र.** ३९१; **व्यउ.** १२९ (=); **सेतु.** २४२, ३२३; **समु.** १५१.

(२) **मस्मृ.** ८।३२८; **अप.** २।२७५; **व्यक.** ११५ यच्चा (यद्वा); **विर.** ३२६; **पमा.** ४४४ मत्स्यानां (अजानां); **विचि.** १४०; **दवि.** १४८; **व्यप्र.** ३९१ तैलस्य च (लवणस्य) शेषं पमावत्; **व्यउ.** १२९ पमावत्; **सेतु.** २४२, ३२३; **समु.** १५१ मांस (माष) शेषं पमावत्.

(३) **मस्मृ.** ८।३२९ नां म (नाम); **अप.** २।२७५; **व्यक.** ११५ षां चैव (षामेव); **विर.** ३२६ न्नानां च (नां चैव) शेषं व्यकवत्; **ममु.** श्लोकव्याख्याने 'नां मद्यानां' इति पाठः स्वीकृतः; **पमा.** ४४४; **विचि.** १४० षां चैव (षामेव) उत्तरार्धे (फलानां चैव सर्वेषां हरणे द्विगुणो दमः।); **दवि.** १४८ व्यकवत्; **व्यप्र.** ३९१; **व्यउ.** १२९ मद्याना (माषाणा); **सेतु.** २४२, ३२३ विचिवत्; **समु.** १५१; **नन्द.** नां मद्या (नामाद्या); **भाच.** नां मद्या (नामद्या).

तैलशब्दः स्नेहवाची, न तिलविकार एव। तेनातसी-प्रियङ्गुपञ्चाङ्गुलतैलादयोऽपि गृह्यन्ते। मेधा.

(२) ऊर्णादिसूत्रस्य कार्पासिकस्य च किण्वस्य सुराबीजद्रव्यस्य च, सूक्ष्मवेणुखण्डनिर्मितजलाहरणभाण्डादीनां, यदप्यन्यत्पशुसंभवं च मृगचर्मखड्गशृङ्गादि, अन्येषामप्येवंविधानामसारप्रायाणां मनःशिलादीनां, मद्यानां द्वादशानां, पक्वान्नानामोदनव्यतिरिक्तानामप्यपूपमोदकादीनां च कार्पासादिशब्दार्थानां प्रसिद्धानां न्यापहारे कृते मूल्याद्द्विगुणो दण्डः कार्यः। ममु.

(३) किण्वं सुराप्रकृतिद्रव्यम्। आद्यानां भक्ष्याणाम्। नन्द.

(४) अद्यानां अदनीयानाम्। भाच.

**पुष्पेषु हरिते धान्ये गुल्मवल्लीनगेषु च।**
**अन्येष्वपरिपूतेषु दण्डः स्यात्पञ्चकृष्णलः॥**

(१) नवमालिकादीनि पुष्पाणि। हरितं धान्यं क्षेत्रस्थं अपक्वम्। नगा वृक्षाः। अन्येष्वपरिपूतेषु बहुवचनात्परिपवनस्य च धान्येष्वेव तुषपलालादिविमोक्षरूपस्य संभवादुत्तरश्लोके धान्यग्रहणमेवाकृष्यते। गुल्मादीनां हि सत्यपि पलाशव्यामिश्रत्वे पुष्पाणां च, न परिपूतव्यवहारः। सप्तमी हरणापेक्षा। तत्तु पूर्वस्मादनुवर्तते। अत्र पञ्चकृष्णलो दण्डः। कृष्णलानां द्रव्यजातिः अल्पत्वमहत्त्वप्रयोजनापेक्षा। सुवर्णस्येति पूर्वे। मेधा.

(२) पुष्पेषु नीलीक्षेत्रेषु धान्येषु गुल्मलतावृक्षेषु पुरुषभारप्रायेषु वक्ष्यमाणात् श्लोकात् परिपवनसंभवाच्च धान्येषु खलवासितापहृतेषु, देशकालापेक्षया सुवर्णस्य रूप्यस्य वा पञ्चकृष्णलपरिमाणो दण्डः स्यात्। गोरा.

(३) हरिते माषादौ शमीधान्ये, धान्ये शूकधान्ये। एष्वल्पेषु तथाऽपरिपूतेष्वपृथक्कृतबुसेषु। मवि.

(४) पुष्पेषु, हरिते क्षेत्रस्थे धान्ये, गुल्मलतावृक्षेष्वपरिवृतेषु अनपावृतवृक्षेषु, वक्ष्यमाणश्लोके धान्यादिषु निर्देशात्परिपवनसंभवाच्च धान्येषु अन्येषु समर्थपुरुषभारहार्येषु हृतेषु देशकालाद्यपेक्षया सुवर्णस्य रौप्यस्य वा पञ्चकृष्णलमाषपरिमाणो दण्डः स्यात्। ममु.

(५) हरिते धान्ये क्षेत्रस्थघासरूपे धान्येऽपहृते। नगो वृक्षः। अल्पेषु एकपुरुषोद्वाह्यादपि न्यूनेषु। अपरिपूतेषु अनपहृतकल्केषु। धान्येष्विति वचनविपरिणामेनान्वयः। *विर. ३२५

(६) सुवर्णमाषः 'पञ्चकृष्णलको माष' इत्युक्तेः, न तु रूप्यमाषकः। ×मच.

**परिपूतेषु धान्येषु शाकमूलफलेषु च।**
**निरन्वये शतं दण्डः सान्वयेऽर्धशतं दमः॥**

(१) मूलं इक्षुः, फलं द्राक्षादि। निरन्वये द्रव्यहरणे। अन्वयोऽनुनयः स्वामिनः प्रीत्यादिप्रयोगः। यत्त्वदीयं तन्मदीयमेवेत्यनया बुद्ध्याऽहं प्रवृत्तो न चेदेवं तद्गृहाणेत्येवमादिवचनं, तद्यत्र न क्रियते तन्निरन्वयम्। साहसप्रकारत्वादधिको दण्डः। अन्वयेन सह सान्वयः। येन सह कश्चिदपि संबन्धो नास्त्येकग्रामवासादिस्ततः शतं दण्ड्यः। अथवा अनारक्षं निरन्वयम्। सति तु रक्षके उभयापराधादल्पो दण्डः। खलस्थेषु धान्येष्वयं दण्डः। तत्र हि परिपूयन्ते। गृहस्थेषु त्वेकादशगुणः प्रागुक्तः। +मेधा.

(२) अपासितेषु शेषेषु शाकादिषु वाऽपहृतेषु स्वामिना सह संग्रामेऽपहारे पणशतं दण्डः। संगतेषु पुनः पञ्चाशतं दण्डः। गोरा.

(३) परिपूतेष्वपास्तबुसेषु। शाकमूलफलेषु बहुमूल्यात्यन्तोपयुक्तेषु। निरन्वये तद्द्रव्यसंबन्धयोग्यता-

---

(१) मस्मृ. ८।३३० [ पुष्पेषु ( लतासु ) Noted by Jha ]; गोरा. [ अन्ये ( अल्पे ) Noted by Jha ]; व्यक. ११५ अन्ये ( अल्पे ) लः ( लाः ); मवि. अन्ये (अल्पे); विर. ३२५ व्यकवत्; विचि. १३९ पुष्पे....धान्ये ( पुष्पे हरितधान्ये च ) शेषं व्यकवत्; दवि. १३८ मविवत् : १४६ व्यकवत्; सेतु. २३९ व्यकवत्; समु. १५१.

१ हरन्ति धा. २ शे व्या. ३ ( न० ).

* दवि. विरवत् मचवच्च। × शेषं ममुवत्।

+ विर. मेधावत्। भाच. मेधातिथ्युक्तद्वितीयपक्षवत्।

(१) मस्मृ. ८।३३१; व्यक. ११५ मनुयमौ; विर. ३२४; विचि. १३९; दवि. १३७, १४६ दण्डः (दण्ड्यः); सेतु. २३९ उत्तरार्धे ( निरन्वयः शतं दण्ड्यः सान्वयोऽर्धशतं दमम् ); समु. १५१ उत्तरार्धे ( निरन्वयः शतं दण्ड्यः सान्वयो द्विशतं दमम् ).

१ मूलमिक्षुद्राक्षादि।

पादकज्ञानोपाधिकोऽन्वयो यस्तमभिधाय यत्र हरणं न भवति तत्र । तद्विपरीतं सान्वयम् । मवि.

(४) निष्पुलाकीकृतेषु वृक्षेषु धान्येषु शाकादिषु चापहृतेषु, अन्वयो द्रव्यस्वामिनां संबन्धः, येन सह कश्चिदपि संबन्धो नास्त्येकग्रामवासादिस्तत्र शतं दण्ड्यः । सान्वये तु पञ्चाशत्पणो देयः । खलस्थेषु च धान्येष्वयं दण्डस्तत्र हि परिपूयन्ते । गृहेष्वेकादशगुणो दण्डः प्रागुक्तः । ममु.

(५) तद्विशेषेषु धान्यादिचतुष्टयेषु व्यवस्थया शतमर्धशतं वा दमं दापयन् तान् उद्दिशति— परीति । परिपूतेषु यज्ञाद्यर्थं संस्कृतेषु अपसारिततुषेषु वा । निरन्वये संपूर्णहृते, द्रव्यस्वामिना एकग्रामवासाद्यसंबन्ध इति केचित् । ×मच.

**यश्चैतान्युपक्लृप्तानि द्रव्याणि स्तेनयेन्नरः ।**
**तं शतं दण्डयेद्राजा यश्चाग्निं चोरयेद्गृहात् * ॥**

(१) एतानि सूत्रादीनि, उपक्लृप्तानि प्रत्यासन्नदानोपभोगादिकार्यकालानि, अथवा संस्कृतानि कृतसामर्थ्याधानानि । यथा तदेव सूत्रं तन्तुवायहस्ते वायनार्थं दत्तं किञ्चिद् द्विगुणीक्रियते, किञ्चित्परिवर्त्यते, एवं दधि मन्थनमरीचशर्करादिसंस्कृतं, क्षीरं घृतमित्यादेः संस्कारः, तत्र शतं दण्डः । आद्यमिति पाठे प्रथमसाहसः । अग्निं गृहात्, परिगृहीतं शालाग्निहोत्रेत्याद्यर्थं[१], हेमन्ते वा शीतार्दितानां दरिद्राणामप्रणीतमपि, अग्नेरुपकल्पनं पाककाले[२] शीतादिनिवृत्त्यर्थं वा तापनकाले । अविशेषेणायमग्नेर्दण्डः स्वल्पस्य बहोरुपक्लृप्तस्यानुपक्लृप्तस्य च । सत्यपि सूत्रादिदण्डे आदिग्रहणेनाग्नेस्तन्मूल्यादि न[३] संभवति । क्रयविक्रयव्यवहाराप्रसिद्धेः । यावता वेन्धनेनाग्निरुपहृत्य परिमाण उत्पद्यते यावतीभिर्दक्षिणाभिस्तन्मूल्याद्द्विगुणो दण्डः संभवति, शक्यते व्यपदेष्टुं, तुष्ट्युत्पत्तिश्च स्वामिनः स्थितैव । अतस्त्रेताग्निहरणे यावत्पुनराधाने गच्छति प्रायश्चित्तेष्टौ च तावदग्निमते देयः[४] । अतोऽयमग्नेर्दण्डः शालाप्रणीताग्निविषय एव, स्वल्पत्वात् । त्रेतायां तु तन्मूल्याद्द्विगुण इति । तथा च सुलभेष्वधिकारनिवृत्तिमकुर्वंस्तु यागाङ्गद्रव्येष्वपह्रियमाणेषु 'कुशकरकाग्निहोत्रद्रव्याण्यपहरतोऽङ्गच्छेदः स्यात्' इति शङ्खः । अग्निषु तु हृतेष्वधिकार एव निवर्तते । तत्र कथं महान् दण्डो न स्यात् ? मेधा.

(२) एतानि सूत्रादीनि द्रव्याणि उपभोगार्थमुद्यमितानि यो मनुष्यश्चोरयेत्, यश्चाग्निं लौकिकमपि चोरयेत् तं प्रथमसाहसं राजा दण्डयेत् । अग्नेश्च मूल्यव्यवहाराप्रसिद्धेस्तन्मूल्यात् द्विगुणो दम इत्येतदसंभवे सति सूत्रादिभ्यः पृथग्ग्रहणम् । गोरा.

(३) उपक्लृप्तानि भोजनादिप्रयोजनार्थं सज्जितानि । आद्यं प्रथमसाहसम् । अग्निं त्रेताग्निमाधानादिसंस्कृतम् । मवि.

(४) यः पुनरेतानि सूत्रादिद्रव्याण्युपभोगार्थं कृतसंस्काराणि मनुष्यश्चोरयेत्, यश्च त्रेताग्निं गृह्याग्निं वाऽग्निगृहाच्चोरयेत्तं राजा प्रथमं साहसं दण्डयेत् । अग्निस्वामिनश्चाधानोपक्षयो दातव्यः[१] । गोविन्दराजस्तु लौकिकाग्निमपि चोरयतो दण्ड इत्याह, तदयुक्तम् । अल्पापराधे गुरुदण्डस्यान्याय्यत्वात् । * ममु.

(५) उपक्लृप्तानां कार्यार्थं संनिधापितानाम् । अग्निरिह लौकिकः । 'विषये लौकिकं स्यादि'ति नयात्, विषये संशये । विर. ३२६

अप्रकाशचौर्याभ्यासे शारीरो दण्डः

**[१]येन येन यथाङ्गेन स्तेनो नृषु विचेष्टते ।**
**तत्तदेव हरेत्तस्य प्रत्यादेशाय पार्थिवः ॥**

(१) भूयोभूयः प्रवृत्तस्यायं दण्डः । यो धनेन दण्डितोऽपि न मार्गे अवतिष्ठते तस्य त्रिचतुर्दण्डितस्या-

× नन्द. मचवत् । * दण्डविवेके गोविंदराजसर्वज्ञनारायणकुल्लूकरत्नाकराणामनुवादः ।

(१) मस्मृ. ८।३३३ यश्चै (यस्त्वे): क., ग., घ., तं शतं (तमाद्यं); अपु. २२७।३७; अप. २।२७५ यश्चैता (यज्ञार्था); विर. ३२६; विचि. १४०; दवि. १४८; सेतु. २४२ उत्त. : ३२३; समु. १५१ यश्चै (यस्त्वे) तं शतं (तमाद्यं).

१ त्यादि सं. २ अग्निगृ. ३ दिकं हे. ४ कालः शी. ५ कालः । अ. ६ (न०).

* विचि., मच., भाच. ममुवत् ।

(१) मस्मृ. ८।३३४; मेधा. ८।२९ पू.; समु. १५१.

१ दानव्यः अ.

नवतिष्ठमानस्य द्रव्यजातिपरिमाणानपेक्षः संधिच्छेदाद्य-नपेक्षः चौर्यक्रियामात्राश्रितोऽङ्गच्छेदः। यस्य यस्याङ्गस्य बलमाश्रित्यावतिष्ठते स्तेनश्चौर्ये प्रवर्तते तत्तदस्य हरेत् छिन्द्यात्। यथा कश्चित्पादबलमाश्रित्यावष्टम्य पलायते न मामनुगन्तुं कश्चिदपि शक्नोतीति तस्य पादच्छेदः। अन्यः संधिभेदज्ञोऽहमिति, तस्य हस्तच्छेदः। प्रत्यादेशाय प्रतिरूपफलदर्शनाय। स्वावष्टम्भेन साभिमानं सक्रोधं सावज्ञं न्यक्करणं वा प्रत्यादेशः। य एवं करोति तस्य तस्याहमेवं कर्तेति व्याख्यापनं प्रत्यादेशः। मेधा.

(२) यच्च येन हस्तपादादिकाङ्गेन येन प्रकारेण ग्रन्थिच्छेदनिःश्रेण्यारोहणादिना चोरो मनुष्येषु विरुद्धं धनापहारादि कर्तुमीहते तत्तदेवाङ्गं तस्याभ्यासप्रवृत्तौ सत्यां तदपराधच्छेदनाय राजा छेदयेत्। गोरा.

(३) विचेष्टते विरुद्धं चेष्टते द्रव्यं हरति। हरेदपनयेदतिशयितापराधे। प्रत्यादेशायान्यस्यापि निषेधाय। मवि.

(४) येन येनाङ्गेन हस्तपादादिना येन प्रकारेण संधिच्छेदादिना चौरो मनुष्येषु विरुद्धं धनापहारादिकं चेष्टते तस्य तदेवाङ्गं प्रसङ्गनिवारणाय राजा छेदयेत्। तत्र धनस्वाम्युत्कर्षापेक्षया अयमङ्गच्छेदः। *ममु.

वर्णतः स्तेयदोषतारतम्यम्

**अष्टापाद्यं तु शूद्रस्य स्तेये भवति किल्बिषम्।**
**षोडशैव तु वैश्यस्य द्वात्रिंशत्क्षत्रियस्य तु॥**
**ब्राह्मणस्य चतुःषष्टिः पूर्णं वाऽपि शतं भवेत्।**
**द्विगुणा वा चतुःषष्टिस्तद्दोषगुणविद्धि सः ×॥**

(१) 'तद्दोषगुणविद्धि स' इति हेत्वभिधानाद्विदुषां दण्डोऽयम्। यत्र खलु जन एकं कार्षापणं दाप्यते तत्र विद्वान् शूद्रोऽष्टगुणं, अष्टभिः आपाद्यते संबध्यते यत्किल्बिषं पापं, तदेवमुच्यते। अष्टभिर्वा आपाद्यत आहन्यते गुण्यत इति यावत्, उभयथाऽप्यष्टगुणस्य वाचकोऽष्टापाद्यशब्दः। एवं तदेव द्विगुणं वैश्यस्य, स हि साक्षादध्ययनज्ञानयोरधिकृतः। शूद्रस्तु कथञ्चिद् ब्राह्मणापाश्रितस्तत्संगत्या कियदपि ज्ञास्यति। क्षत्रियस्तु रक्षाधिकारदोषेण समाने विद्वत्त्वे ततोऽपि द्विगुणं दण्ड्यते। ब्राह्मणे तु दण्डविधौ न तृप्यति। चतुःषष्टिः[3] शतमष्टविंशाधिकशतमिति वा। तस्य हि प्रवचनमुपदेष्टृत्वं वा, अधिकं च रक्षा ततो भवेत्। प्राकृतजनस्य तिर्यक्प्रख्यस्य कोऽपराधः। अविद्वांसो गुणदोषानभिज्ञा अकार्ये प्रवर्तन्ते। विद्वानपि तथैव चेद्वर्तेत, हन्त हतं जगत्, तृतीयस्य शिक्षितुरभावात्, तदुक्तं 'द्वौ लोके धृतव्रतौ राजा ब्राह्मणश्च बहुश्रुतः' इति (गौध. ८।१)। राज्ञः पूर्वेण दण्डाधिक्यमनेन ब्राह्मणस्य, आधिक्यमात्रविधिश्चायं न यथाश्रुतसंख्याविधिः ब्राह्मणदण्डेऽनवस्थाश्रवणात्, अयं वा अयं[6] वेति, न च विकल्पो युक्तो व्यवस्थाहेतुत्वाभावात्। तुल्यबलस्यैव विषयस्यानुपपत्तेः। को हि राजा द्विगुणमुत्सृज्य चतुःषष्टिं ग्रहीष्यति। यदि परमदृष्टार्थे दण्डे विकल्पः, उपपद्येत। न चादृष्टार्थोऽयमित्युक्तम्। तथा च गौतमो (१२।१४) 'विदुषोऽतिक्रमे दण्डभूयस्त्वम्' इत्याह। तस्मादनवस्थाविधित्वं व्याहरन्ति। न च गुणापेक्षो विकल्पो युक्तो अष्टादिश्लोकेनैव सिद्धत्वात्। अर्थवादाच्चात्र विध्यवगतिः

* मच., नन्द., भाच. ममुवत्। × मिता. व्याख्यानं 'क्षुद्रमध्यमहाद्रव्य' इति याज्ञवल्क्यवचने द्रष्टव्यम्।

(१) **मस्मृ.** ८।३३७ स्य तु (स्य च) [ व तु (व च) Noted by Jha]; **मिता.** २।२७५; **अप.** २।२७५; **व्यक.** ११८ अष्टापाद्यं तु (अष्टपादं हि); **विर.** ३४२ द्यं तु (द्यं हि) स्य तु (स्य च); **पमा.** ४४२ स्य तु (स्य च); **विचि.** १४४ द्यं तु (द्यं च) शैव (शास्य) याज्ञवल्क्यः; **व्यनि.** ५१४ द्यं तु (द्यं हि); **दवि.** ३७ त्रिं (विं); **नृप्र.** २६४ षम् (षी); **व्यप्र.** ३९०; **व्यउ.** १२८; **विता.** ७८८; **सेतु.** ३२८ याज्ञवल्क्यः; **समु.** १५१.

(२) **मस्मृ.** ८।३३८; **मिता.** २।२७५ विद्धि सः

१ हं त.

(वेदिनः); **अप.** २।२७५ विद्धि (वद्धि); **व्यक.** ११८ वाऽपि (चाऽपि) विद्धि सः (विद्विषः); **पमा.** ४४२ [ वाऽपि (चाऽपि) द्दोषगुणविद्धि सः (ज्ञानगुणवेदिनः) Noted by Jha]; **विचि.** १४४; **व्यनि.** ५१४; **दवि.** ३७ मितावत्; **नृप्र.** २६४ द्दोषगुणविद्धि सः (द्देशगुणवेदिनः); **व्यप्र.** ३९० मितावत्; **व्यउ.** १२८ मितावत्; **विता.** ७८८ पू.; **सेतु.** ३२८ पूर्णं (पूर्वं) णा (णं) याज्ञवल्क्यः; **समु.** १५१ मितावत्.

१ लज. २ गुणामष्ट. ३ चष्टिशतमष्टाविंशं वा शतमिति। त. ४ हन्त ज. ५ मात्रावि. ६ चेति. ७ नष्टा. ८ ध्यगतिः.

स चाधिक्याविधौ लब्धालम्बन इति न यथाश्रुतपरिकल्पने विकल्पने समर्थः । *मेधा.

(२) यस्मिंस्स्तेये यो दण्ड उक्तः स गुणदोषज्ञस्य शूद्रस्याष्टभिरापाद्यते गुणतोऽष्टगुणः कार्यः । षोडशगुणो विदुषो वैश्यस्य, द्वात्रिंशद्गुणः शास्त्रोक्तस्य क्षत्रियस्य, चतुःषष्टिगुणो ब्राह्मणस्य द्विचतुःषष्टिगुणो वा पूर्णं वा शतं गुणातिशयापेक्षया, यस्मादसौ ब्राह्मणः स्तेयगुणदोषज्ञः । ×गोरा.

(३) अष्ट दण्डा आपाद्या येन किल्बिषेण स्तेयेन तदष्टापाद्यम् । +अप. २।२७५

(४) अष्टापाद्यमष्टगुणं, यदपहृतं द्रव्यं तन्मूल्यादष्टगुणितो दण्डो ग्राह्य इत्यर्थः । एतच्च प्रागुक्तप्रतिनियतदण्डरज्जुघटादिस्तेयव्यतिरेकेण, किंविषयस्यापराधस्याष्टगुणत्वं, अष्टगुणदण्डापनोद्यतैव ।

ब्राह्मणस्येति । ब्राह्मणस्य पक्षत्रयं निर्गुणगुणवदतिगुणापेक्षया । अत एव तृतीये हेतुतया ज्ञानमुक्तम् । दोषः पापः गुणः पुण्यम् । केचित्तु दोषगुणित्वं सर्वविशेषणम् । तथा च तदज्ञस्य शूद्रस्य स एवाष्टगुणः, एवं क्षत्रियादेरपीत्याहुः । अन्ये तु शूद्रादिपदानि राजसेवकशूद्रादिपराणि, अत्र तेषामितरशूद्राद्यपेक्षयाऽष्टगुणत्वादित्याहुः । मवि.

(५) तद्दोषगुणविद्धि स इति सर्वत्र संबध्यते । ÷ममु.

(६) ब्राह्मणस्य तु चतुःषष्ट्यादिविकल्पस्तपोविद्यादिक्रमापेक्षया । ब्राह्मणस्य दण्डाधिक्ये हेतुस्तद्दोषेत्यादि । अन्येषां तद्वत्त्वं विप्रोपदेशादिति भावः । विदुषि विप्रे चतुःषष्टिं, तपोयुक्ते तस्मिन् शतं, तपोऽभियुक्ते तस्मिन् अष्टाविंशत्युत्तरशतमित्युन्नेयम् । ÷मच.

(७) ज्ञानतारतम्यतश्च दण्डतारतम्यं श्लोकद्वयेनाह— अष्टापाद्यं त्विति । स्तेये कृते आपाद्यमापादयितव्यं किल्बिषं दण्डः शूद्रस्याष्ट भवति अपहृतद्रव्याष्टगुणं भवतीत्यर्थः अज्ञत्वात् । वैश्ये तु षोडशगुणमल्पज्ञत्वात् । क्षत्रियस्य द्वात्रिंशद्गुणं ज्ञत्वात् । ब्राह्मणस्येति । ब्राह्मणस्य चतुःषष्टिगुणं ज्ञतमत्वात् । ब्राह्मणविषये विज्ञानतारतम्याभिप्रायेणोक्तं पूर्णं वाऽपीत्यादि, तद्दोषगुणवित्तस्य स्तेयस्य करणं दोषोऽकरणं गुण इत्येवं वेत्ति । यद्वा गुण आवर्तनमुत्तरोत्तराधिक्यं वेत्तीति तद्दोषगुणविद्धि यस्मात् स ब्राह्मणः तस्मात्तस्य दण्डो देय इति । एवं हेतुवचनबलादेवैष ज्ञानवैषम्यप्रयुक्तो दण्डे वैषम्याविधिः क्षत्रियादिष्वपि कल्पनीयः । अन्ये त्वाहुः । किल्बिषशब्दोऽयं दोषवचनः नार्थदण्डवचनः, तत्र हेतुर्वाग्दण्डपारुष्ययोर्जात्युत्कर्षवशेन दण्डलाघववचनमिति । *नन्द.

(८) शूद्रस्य अष्टभिर्भागो ग्राह्यो भवति । वैश्यस्य षोडशो भागः हरेत् । किल्बिषं दण्डनिमित्तापराधम् । भाच.

* विर. मेधावत् । × विचि., व्यप्र. गोरावत् ।
+ शेषं मेधावत् । ÷ शेषं गोरावत् ।

स्तेयदोषप्रतिप्रसवः

**वानस्पत्यं मूलफलं दार्वग्न्यर्थं तथैव च ।**
**तृणं च गोभ्यो ग्रासार्थमस्तेयं मनुरब्रवीत् ॥**

(१) वनस्पतिरेव वानस्पत्यं वृक्षाः । स्वार्थे प्रत्ययः । ग्रासार्थं गृह्यमाणमस्तेयं वंशाङ्कुरादि । मूलफलं वनस्पतीनां, अन्यत् बिससस्यादि । सूत्रादिगणे ('सूत्रकार्पास' मस्मृ. ८।३२६) अग्रासार्थं मूलफलाहरणे दण्ड उक्तः । अस्तेयवचनं ग्रासार्थं, मात्रार्थमक्षीणवृत्तेरपि कथञ्चिज्जातलौल्यस्य स्मृत्यन्तरदर्शनात्स्वापरिवृत्तेश्च दण्डः । तथा च गौतमः — 'पुष्पाणि स्ववदाददीत फलानि चापरिवृतानाम्' (गौध. १२।२५) इति । दार्वग्न्यर्थं, आहिताग्नेरसंनिहिते वनस्पतावुद्वात्यग्नौ तद्धारणार्थं काष्ठमदोषं, पालाशीर्वा समिधो व्यादध्यात् । अप्रचुरपलाशे च ग्रामे कथं स्यादिति यदि गृह्णीरन् न दोषः । तृणं च गोभ्यः । तादर्थ्ये चतुर्थी । गोग्रहणात् प्रस्तारार्थं दोष एव । ये तु ग्रासार्थपदेन गवामभि-

* दण्डविवेके नन्दनावतरणवद्भावः ।

(१) मस्मृ. ८।३३९; विचि. १४७ ग्न्यर्थं (ग्न्यर्थे); व्यनि. ५१५ दा (द); बाल. २।२७५ मूलफलं (फलं मूलं); सेतु. २५० ग्न्यर्थं (न्यार्थे) र्थम (र्थं न); समु. १५२; विव्य. ५३.

१ स्पत एव वा.

संबन्धमिच्छन्ति तेषां गोभ्य इति नोपपद्यते । षष्ठी हि तत्र युक्ता । मेधा.

(२) 'पुष्पाणि फलानि अपरिवृतानाम्' इति गौतमस्मरणात् अपरिवृतवनस्पत्यादिसंबन्धि मूलफलं, गवाग्निसाहचर्ये दृष्टार्थं, शास्त्रिताग्न्यर्थं च दारु, गत्यन्तराभावे च गोग्रासार्थं तृणं परकीयमपि अस्तेयं मनुराह, अतश्चात्र दण्डाद्यभावः । गोरा.

(३) वानस्पत्यं वनस्पतिर्वृक्षमात्रं तद्भवम् । तेनौषधीमात्रव्यवच्छेदः । एतच्चारण्यगतं, 'अपरिवृतानाम्' इति गौतमस्मरणात् । अपरिवृताऽपरिगृहीता अत्रेष्टा । अग्न्यर्थं वैतानिकाग्न्यर्थम् । एवं च वृक्षास्तृणकाष्ठादीनि च गृहाच्छादनाद्यर्थमरण्यादपि राजाऽननुमत्या नीतानि स्तैन्यनिमित्तान्येवेत्युक्तम् । मवि.

(४) तस्मान्न दण्डो नाऽप्यधर्मः । * ममु.

(५) उपसंहारस्य फलवादेन राज्ञो महत्कार्यं दण्डमित्यत्र सूचितस्य प्रतिप्रसवमाह— वानस्पत्यमिति । वानस्पत्यं वनस्पत्युद्भवम् । 'ग्राम्येच्छया गोप्रचारो भूमी राजवशेन वा । द्विजस्तृणैधःपुष्पाणि सर्वतः स्ववदाहरेत् ॥' इति याज्ञवल्क्योक्तेः ( यास्मृ. २।१६६ ) । गोप्रचारः गोचरणार्था भूमिः । स्ववदात्मीयवत् । तथा गौतमोऽपि—'वीरुद्वनस्पतीनां च पुष्पाणि स्ववदाददीत फलानि चापरिवृतानाम्' ( गौध. १०।२५ ) । मच.

(६) वनस्पतयो वृक्षवल्यादयस्तत्र भवः वानस्पत्यः मूलफलादिरहित इति शेषः, अग्न्यर्थं, गोभ्यो गवाम् । नन्द.

[१]द्विजोऽध्वगः क्षीणवृत्तिर्द्वाविक्षू द्वे च मूलके ।
आददानः परक्षेत्रान्न दण्डं दातुमर्हति ॥

(१) द्विजग्रहणं शूद्रप्रतिषेधार्थम् । अध्वगो नैकग्रामवासी । तत्रापि क्षीणवृत्तिः क्षीणपथ्योदनः । द्वाविक्षू दण्डौ, मूलके, प्रदर्शनार्थं चैतत्परिमितहरीतकमुद्गादिशमीधान्यानाम् । तथा च 'शमीत्रपुसयुग्यघासेषु च न प्रतिषेधः' इति स्मृत्यन्तरम् । परक्षेत्रात् परकीयस्थानादित्यर्थः परिवृतादपि । मेधा.

(२) द्विजातिः पथिकः क्षीणपाथेयः द्वाविक्षू द्वे च मूलके त्रपुसादि परक्षेत्रात् गृह्णन् दण्डं दातुं योग्यो न भवति । *गोरा.

(३) आददानो अनुक्त्वाऽपि । मवि.

(४) इक्षुमूलयोर्ग्रहणं प्राणधारणार्थानां फलादीनामप्युपलक्षणार्थम् । नन्द.

[१]चणकव्रीहिगोधूमयवानां मुद्गमाषयोः ।
अनिषिद्धैर्ग्रहीतव्यो मुष्टिरेकः पथि स्थितैः ॥
[२]यज्ञश्चेत्प्रतिरुद्धः स्यादेकेनाङ्गेन यज्वनः ।
ब्राह्मणस्य विशेषेण धार्मिके सति राजनि ॥
[३]यो वैश्यः स्याद्बहुपशुर्हीनक्रतुरसोमपः ।
कुटुम्बात्तस्य तद्द्रव्यमाहरेद्यज्ञसिद्धये ॥

(१) अत्राङ्गग्रहणान्न केवलं सर्वासां दक्षिणानामसंपत्तौ । वैश्यानामिदमाहरणं विधीयते । अपि च तस्मिन्नपि पश्वादावाहरेदिति तत्स्वीकारोत्पत्तिमात्रमुच्यते । नोपायविशेषः । अतश्च याञ्चया विनिमयेन चौर्येण वाऽपहर्तव्यम् । ननु च चौर्येण स्वाम्यं नोत्पद्यत इत्युक्तम् । नैष दोषः । इह स्वशब्देनैवोक्तं हर्तव्यमिति । एवं ह्याह, 'हर्तव्यं हीनकर्मणः' इति (मस्मृ. ११।१६) अयं चापहारः प्रागारब्धयागस्य सर्वाङ्गोपेतस्यैकाङ्गासंपत्तौ प्रारिप्स्यमानस्य वेति न विशेषहेतुरस्ति, ब्राह्मणस्य विशेषेणेति वचनात् क्षत्रियवैश्ययोरप्यास्ति, तदेकाङ्गग्रहणमस्मिन्निमित्ते । ननु 'न क्षत्रियो याचेदि'ति क्षत्रियस्य याञ्चा प्रतिषिद्धा । अत्यल्पमिदमुच्यते । ब्राह्मणस्यापि चौर्यं निषिद्धम् । तस्मात्तस्मिन्निमित्ते नास्त्यर्जनोपायनियमः । धार्मिके सतीत्यनुवादोऽयम् । यो हि धर्मज्ञो राजा

---

* शेषं गोरावत् ।

(१) मस्मृ. ८।३४१; मिता. २।२७५; पमा. ४४४; विचि. १४६; नृप्र. २६५; सवि. ४६५; व्यप्र. ३९१; व्यउ. १२९; विता. ७९६; सेतु. २४९; समु. १५२; विव्य. ५३.

* ममु. गोरावत् ।

(१) मिता. २।२७५; पमा. ४४४ कः ( का ); दवि. ४१ व्यो ( व्या ) कः ( का ); नृप्र. २६५; सवि. ४६५ दविवत्; व्यप्र. ३९१ पमावत्; व्यउ. १२९; विता. ७९६; समु. १५२.

(२) मस्मृ. ११।११. (३) मस्मृ. ११।१२.

तस्मिन्निमित्ते चौर्यं विहितमिति । अन्यस्य तु निगृहीतत्वात्कुतः प्रवृत्तिः । बहुपशुग्रहणं धनमात्रोपलक्षणार्थम् । ( हीनक्रतुरित्युपलक्षणार्थं ) कुतः, कर्मयोगादन्यदपि दानादि न करोति । ( आहिताग्नौ ) सत्यप्यसोमपे । कुटुम्बात् गृहादित्यर्थः । गृहाद्धि चौर्यं दोषवत्तरमतस्तदनुज्ञायते । न पुनरप्येवमेव नियमोऽन्यतोऽपि यत् खलादेः संपद्यते तत्कर्तव्यमेव । वक्ष्यति च 'खलात्क्षेत्रादगाराद्वा' ( मस्मृ. ११।१७ ) इति । मेधा.

(२) क्षत्रियादेर्यजमानस्य यदि यज्ञ इतराङ्गसंपत्तौ सत्यामेकेनाङ्गेन विना निरुद्धः स्यात्तदा यो वैश्यो बहुपश्वादिधनः तस्य प्राक् यज्ञसिद्ध्यर्थं चौर्येणाहरेत् । एतच्च धर्मप्रधाने राजनि सति कार्यम् । स हि शास्त्रमनुतिष्ठन्तं उपेक्षते । गोरा.

(३) यज्वनः क्षत्रियस्य विशेषेण तु ब्राह्मणस्य । एकेनाङ्गेनाप्राप्तेन आज्यस्य पशोर्वस्त्रादीनां वा दक्षिणानामन्यतमस्याभावेन प्रतिरुद्धः प्रतिबद्धः । धार्मिके सतीत्यधार्मिकस्य राज्ञो यज्ञसंपत्त्यनुरोधेन वैश्यधनापहरणानुपपत्तेरुक्तम् ।

य इति । हीनक्रतुरकृतपञ्चमहायज्ञः । असोमपः अपीतसोमः । एतेन सोमपस्य पञ्चयज्ञाकरणेऽपि श्रेष्ठतोक्ता । तस्य वैश्यस्य कुटुम्बात् कुटुम्बार्थधनादाकृष्यैकमंशं राजा ब्राह्मणाय दद्यात् । मवि.

(४) क्षत्रियादेर्यजमानस्य विशेषतो ब्राह्मणस्य यदि यज्ञ इतराङ्गसंपत्तौ सत्यामेकेनाङ्गेनासंपूर्णः स्यात्तदा यो वैश्यो बहुपश्वादिधनः पाकयज्ञादिरहितोऽसोमयाजी तस्य गृहात्तदङ्गोचितं द्रव्यं बलेन चौर्येण वाहरेत् । एतच्च धर्मप्रधाने सति राजनि कार्यम् । स हि शास्त्रार्थमनुतिष्ठन्तं न निगृह्णाति । ममु.

(५) विहितदक्षिणा तु शूद्रादिप्रतिग्रहेणापि देयेत्याह— यज्ञश्चेति पञ्चभिः । प्रतिरुद्धः असमाप्तकल्पः । एकेन दक्षिणारूपेण । धार्मिक इति विशेषणाद्बलादपि वैश्यादिभ्यो दक्षिणा ग्राह्येति शेषः । ब्राह्मणस्य विशेषेणेति विशेषणं दक्षिणार्थं क्षत्रियस्यापि भिक्षासूचकम् ।

किञ्च य इति । कुटुम्बात् गृहादपि ग्राह्यम् । यज्ञसिद्धये यज्ञसमाप्तये । तद्द्रव्यं दक्षिणारूपमिति भावः । मच.

(६) अथ वर्षत्रयपर्याप्तभृत्यवृत्तिना वक्ष्यमाणेन किञ्चिन्न्यूनधनेन स्नातकेन निवेदितस्य कोशहीनस्य राज्ञः कर्तव्यमाह— यज्ञश्चेत्प्रतिरुद्धः स्यादिति । श्लोकद्वयमेकं वाक्यं, सति राजनि दानशीले राजनि विद्यमानेऽपि एकेनाङ्गेनैकाङ्गवैकल्येन यज्ञः प्रतिरुद्धश्चेद्विघ्नितश्चेत् राज्ञः कोशाभावादिति भावः ।

य इति । हीनक्रतुः अनग्न्याधानादिकान्तस्य वैश्यस्य कुटुम्बात् गृहाद्यज्ञसिद्धये एकाङ्गहीनयज्ञस्य समाप्तयें यावता द्रव्येण स यज्ञः सिद्ध्यति तावद्द्रव्यमाहरेत् प्रसह्य गृह्णीयात्, स राजेति विपरिणामः । राजैव कर्ता न यज्वा, कुत एतत् ? राज्ञ एवाहरणबलोपपत्तेः । महाभारतेऽप्यस्य वचनस्य चतुर्थः पादो 'यज्ञार्थं पार्थिवो हरेत्' इति पठ्यते । तेनापि राजैव कर्ता व्याख्येयो न यज्वेति । नन्द.

आहरेत् त्रीणि वा द्वे वा कामं शूद्रस्य वेश्मनः ।
न हि शूद्रस्य यज्ञेषु कश्चिदस्ति परिग्रहः ॥

(१) वैश्यासंभवे शूद्रादप्याहर्तव्यम् । त्रीणि वा द्वे वेत्यङ्गप्रकरणादङ्गानि वेदितव्यानि । अत्रार्थवादो न हि शूद्रस्येति । यद्यपि पूर्वमनेकोपायकृतमाहरणं विहितं तथापि भिक्षणमत्र नास्ति । न यज्ञार्थं धनं शूद्राद्विप्रो भिक्षेतेति । ननु च स्मृत्यन्तरेऽविशेषेण शूद्रधनेन यागः प्रतिषिद्धः । अस्योपदेशस्य सामर्थ्याच्छूद्रात्प्रतिगृह्णीतेति द्रष्टव्यम् । अन्ये त्वाहुः । ब्राह्मणेन स्वीकृतत्वान्नैव तच्छूद्रधनमिति । यस्तु प्रतिषेधः स शूद्रस्य शान्तिकपौष्टिकादि येन धनेन करोति ऋत्विग्वत्तत्र द्रष्टव्यः । इह तु भूतपूर्वगत्या शूद्रधनव्यपदेशोऽस्य स्यात् । सांप्रतिकत्वाभावे च सा । मेधा.

(२) यज्ञस्य द्वित्र्याङ्गकवैकल्ये सति, तानि त्रीणि वाऽङ्गानि द्वे वाऽङ्गे, निर्विकल्पं शूद्रगृहाच्चौर्येण आहरेत्, यस्मात् शूद्रस्य यज्ञसंबन्धो मनागपि नास्ति । यज्ञार्थं च धनम् । तथा च 'यज्ञाय सृष्टानि धनानि धात्रा' इति स्मर्यते । भिक्षितशूद्रधनस्य प्रतिषेधो भविष्यति 'न यज्ञार्थं धनं शूद्रादि'ति । गोरा.

(३) यदि तु यज्ञाङ्गद्वयत्रयस्यासंपत्तिस्तदा शूद्रस्यैव

(१) मस्मृ. ११।१३.

तथाविधस्य धनादित्याह— आहरेदिति। यज्ञेषु परिग्रहो यज्ञनिमित्तधनपरिग्रहो, यज्ञार्थता धनस्य। मवि.

(४) यज्ञस्य द्वित्र्यङ्गवैकल्ये सति तानि त्रीणि चाऽङ्गानि द्वे वाऽङ्गे वैश्यादलाभे सति निर्विशङ्कं शूद्रस्य गृहाद्बलेन चौर्येण वाहरेत्। यस्माच्छूद्रस्य कचिदपि यज्ञसंबन्धो नास्ति। 'न यज्ञार्थं धनं शूद्राद्विप्रो भिक्षेत' इति वक्ष्यमाणप्रतिषेधः शूद्राद्याचनस्य न तु बलग्रहणादेः। ममु.

(५) कश्चिदिति यज्ञोद्देशेन 'न यज्ञार्थं धनं' इत्यादिवचनविरोधात् तत्समाप्त्यर्थं तु न दोषः। मच.

(६) वैश्याभावे राजा किं कुर्यादित्यपेक्षायामाह— आहरेत् त्रीणि वा द्वे वेति। न केवलमङ्गं राजा शूद्रस्य गृहादाहरेत् किन्तु त्रिभिरङ्गैः। यज्ञप्रतिग्रहहेतुरुत्तरार्धेनोक्तः, परिग्रहः संबन्धः। नन्द.

**[१]योऽनाहिताग्निः शतगुरयज्वा च सहस्रगुः।**
**तयोरपि कुटुम्बाभ्यामाहरेदविचारयन्॥**

(१) ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यामप्येवंविधाभ्यां आहर्तव्यमिति श्लोकार्थः। गोग्रहणं तावत्परिमाणधनोपलक्षणार्थम्। अयज्वाऽसोमयाजी। *मेधा.

(२) योऽनाहिताग्निर्गोशतपरिमाणधन आहिताग्निरपि वा असोमयाजी गोसहस्रपरिमाणधनस्तयोरपि गृहाभ्यां प्रकृतमङ्गद्वयं त्रयं वा क्षिप्रमाहरेत्। वैश्यादपहरणस्योक्तत्वात् ब्राह्मणाच्च वक्ष्यमाणत्वात् इदं क्षत्रियविषयम्। ×गोरा.

(३) द्वित्राणामाहरणे तेषां क्लेशाभावात्। मच.

**आदाननित्याच्चादातुराहरेदप्रयच्छतः।**
**तथा यशोऽस्य प्रथते धर्मश्चैव प्रवर्धते॥**

(१) अयं सर्ववर्णविषयः श्लोकः। आदाननित्यो यः सर्वकालं कृषिप्रतिग्रहकुसीदादिभिर्धनमर्जयति, न च ददाति, तत उपायान्तराण्याश्रयणीयानि। अदातुरित्ययागशीलस्यापि द्रष्टव्यम्। मेधा.

(२) प्रतिग्रहादिना आदानं धनग्रहणं नित्यं यस्यासौ आदाननित्यो ब्राह्मणस्तस्मादिष्टापूर्तदानरहितात् यज्ञाङ्गयाच्ञायां कृतायामददन् चौर्येण हरेत्। एवंकृते अस्यापहर्तुः ख्यातिः प्रकाशते धर्मश्च वृद्धिमेति। *गोरा.

(३) अदातुरदानशीलादादाननित्यान्नित्यार्जकात् अप्रयच्छतः तदा तद्धनमददतोऽपि त्रैवर्णिकादाहरेत्। एकमङ्गं द्वयं त्रयमित्यन्येषूक्तमतस्तु बह्वपि ग्राह्यम्। ब्राह्मणस्य त्वयज्वनोऽपि धनमनादेयमिति वक्ष्यति। एतच्च राजा स्वकोशे सत्यपि गृहीत्वा दद्यादिति ग्राह्यम्। मवि.

(४) आदाननित्यात् प्रतिग्रहपरात्। अदातुः स्वरसतः। अप्रयच्छतः अनिषेधकात्। अस्य अयज्वनो यज्वनो वा। यशोऽमुकस्य धनेनास्मद्यागः समाप्त इति वर्धते परधर्मोत्पादकत्वोपकारात्। मच.

(५) एवं कुर्वतो राज्ञः फलमाह— आदाननित्याच्चादातुरिति। अदातुरित्यप्रयच्छतोऽदातुः कदर्यादिति यावत्। तद्द्रव्यमाहरेत्तथा कुर्वतो राज्ञो यशः प्रथते। नन्द.

**[१]तथैव सप्तमे भक्ते भक्तानि षडनश्नता।**
**अश्वस्तनविधानेन हर्तव्यं हीनकर्मणः॥**

(१) आत्मकुटुम्बावसादेऽपि पूर्ववत्परादानं कर्तव्यम्। अश्वस्तनग्रहणादेकदिननिवृत्त्यर्थमेवानुजानाति नाधिकम्। हीनकर्मण इति [१]किमर्थम्? स्मृत्यन्तरे— 'हीनादादेयमादौ स्यात्तदलाभे समादपि। असंभवे त्वाददीत विशिष्टादपि धार्मिकात्॥' सप्तमे भक्ते, त्र्यहं येन न भुक्तं चतुर्थेऽहनि प्रातर्भोजनार्थं परादाने प्रवर्तेत। 'सायंप्रातर्भुञ्जीते'त्यहन्यहनि भक्तद्वयं विहितम्। मेधा.

---

* ममु., मच., नन्द., भाच. मेधावत्।

× मवि. गोरावत्।

(१) **मस्मृ.** ११।१४ [ तयोरपि ( द्वयोरपि ) Noted by Jha ]; **व्यनि.** ५१६; **समु.** १५२.

(२) **मस्मृ.** ११।१५ [ तथा ( यथा ) प्रवर्धते ( विवर्धते, प्रवर्तते ) Noted by Jha ].

* ममु. गोरावत्।

(१) **मस्मृ.** ११।१६; **मिता.** २।२७५ क्ते ( क्तं ); **पमा.** ४४४; **दवि.** ४१; **नृप्र.** २६५ मितावत्; **व्यप्र.** ३९१ भक्ता ( नक्ता ) कर्मणः ( कर्मणा ) : ४२४; **व्यउ.** १२९ श्नता ( श्नतः ) पू.; **विता.** ७९७; **समु.** १५२; **नन्द.** विधा ( निधा ).

१ कर्मार्थम्.

(२) सायंप्रातर्भोजनोपदेशात् त्र्यहमभुक्ते चतुर्थे प्रातः सप्तमे भक्ते यागादिकर्मरहितादाह्निकमात्रपर्याप्तं यथैव यज्ञाप्रतिरोधस्तथैव हर्तव्यम्। *गोरा.

(३) हीनकर्मणः पतितादेरपि। मवि.

(४) अनश्नता चातुर्वर्ण्येन। हीनकर्मणः कदर्यादपि। मच.

(५) एवं यज्ञापदि राज्ञः कर्तव्यमुक्तमधुना क्षुत्पीडापदि पुरुषेण कर्तव्यमाह—तथैव सप्तमे भक्त इति। सप्तमे भक्तानि षडनश्नता त्र्यहमभुञ्जानेन सप्तमे भक्ते सप्तम्यां भुक्तं तु चतुर्थेऽहनि हीनकर्मणः स्वस्माद्धीनकर्मणः पुरुषात्, अश्वस्तननिधानाय श्वो भवं श्वस्तनं निधानं न्यासः श्वस्तनं च तन्निधानं चेति श्वस्तननिधानं तदभावायाश्वस्तननिधानाय, एवमापद्विषये परस्वहरणं यथोक्तं कुर्वन् राज्ञा न दण्ड्यः। नन्द.

(६) हीनकर्मणः शूद्रात्। भाच.

**खलात्क्षेत्रादगाराद्वा यतो वाऽप्युपलभ्यते।**
**आख्यातव्यं तु तत्तस्मै पृच्छते यदि पृच्छति॥**[1]

(१) यतो वाऽपीति, आरामादेरपि, आख्यातव्यं पृच्छत इत्येव। यदि पृच्छतीति वचनं, न हठात्पुनः प्रेषणादिना प्रश्नमसौ कारयितव्यः। अथवा पृच्छते धनस्वामिने। यदि पृच्छति राजेति। राजपुरापनीत एव विषयभेदो दर्शयितव्यः। तथा च गौतमः—'आचक्षीत राज्ञा पृष्ट' इति (गौध. १८।३४)। भक्तच्छेदे यज्ञप्रतिबन्धतः प्रकरणविशेषादुभयत्रार्थं विधिर्ज्ञेयः। मेधा.

(२) धान्यादिक्षोदनात् क्षेत्राद्वा यतो वाऽन्यस्माद्देशाद्धीनकर्मसंबन्धेन लभ्यते ततो हर्तव्यं, यदि वाऽसौ धनस्वामी पृच्छति तदा तस्य पृच्छतः तच्चौर्यं सनिमित्तकम्। *गोरा.

(३) खलादेरपि रक्षितात् स्वयमेवाहर्तव्यं प्रार्थनेन वा ग्राह्यम्। न तेनास्य पतितग्रहणदोषः। दिने वारद्वयभोजननियमाद्भोजनद्वयं भवतीति व्यवस्थया सप्तमे भक्त इत्युक्तम्। आख्यातव्यमिति। तस्मै तथाऽन्यस्मा अपि अरक्षितादाने कुतः प्राप्तमिदमिति पृष्टेन नाक्षेप्तव्यं, तथा पत्युरित्यर्थः। मवि.

(४) अश्वस्तननिधानाय भक्तं द्रव्यं कुतो हर्तव्यमित्यपेक्षायामाह—खलात्क्षेत्रादगाराद्वेति। यतो वाऽप्युपपद्य लभ्यते ततो हर्तव्यमित्यनुषञ्जनीयम्। नन्द.

**ब्राह्मणस्वं न हर्तव्यं क्षत्रियेण कदाचन।**
**दस्युनिष्क्रिययोस्तु स्वमजीवन् हर्तुमर्हति॥**[1]

(१) क्षत्रियेणेति क्षत्रियग्रहणं वैश्यशूद्रयोरपि प्रदर्शनार्थम्। कदाचनेति महत्यामापदीत्यर्थः। दस्युनिष्क्रिययोर्ब्राह्मणयोरेव। दस्युस्तस्करो निष्क्रियस्त्वकर्मानाश्रमी। मेधा.

(२) उक्तेष्वपि निमित्तेषु ब्राह्मणधनं क्षत्रियेण न हर्तव्यम्। अर्थाच्च वैश्यशूद्राभ्यामपि न हर्तव्यम्। प्रतिषिद्धकृद्विहिताननुष्ठानयोः पुनर्ब्राह्मणयोरत्यन्तापदि क्षत्रियो हर्तुमर्हति। *गोरा.

(३) दस्युः शूद्रः, निष्क्रियौ क्षत्रियविशौ, तेषां वित्तमजीवन् क्षत्रियो राजा गृह्णीयात्। मवि.

(४) तत्र प्रतिप्रसवमाह— ब्राह्मणेति। क्षत्रियेणेत्युपलक्षणं वैश्यशूद्रयोः दस्युनिष्क्रिययोः अजीवन् वृत्त्यन्तराभावात्। निष्क्रियो धर्महीनः। मच.

(५) तद्द्रव्यं तस्मै स्वामिने जात्या स्वस्मादपकृष्टाद्धर्तव्यं नोत्कृष्टादित्याह— ब्राह्मणस्वं न हर्तव्यमिति। ब्राह्मणक्षत्रियग्रहणमुत्कृष्टापकृष्टजात्युपलक्षणार्थम्। अस्यापवादेनोत्तरार्धेनोक्तं दस्युः सहिंसः निष्क्रियस्त्यक्तनिजधर्मक्रियः, दस्युनिष्क्रिययोर्ब्राह्मणयोरिति विपरिणामः। अजीवन् वृत्तिहीनः। नन्द.

(६) दस्यति यः स दस्युः निष्क्रियः तस्करानाश्रमिणौ तयोः स्वं द्रव्यं क्षत्रियः अजीवन् हर्तुं स्वीकर्तुं अर्हति। भाच.

**योऽसाधुभ्योऽर्थमादाय साधुभ्यः संप्रयच्छति।**
**स कृत्वा प्लवमात्मानं संतारयति तावुभौ॥**[2]

(१) प्लवः समुद्रतरणः। उभौ यस्यापहरति यस्मै

---

* ममु. गोरावत्।

(१) मस्मृ. ११।१७; व्यप्र. ४२४ तु (च).

* ममु. गोरावत्।

(१) मस्मृ. ११।१८; व्यनि. ५१६; समु. १५२.

(२) मस्मृ. ११।१९; व्यनि. ५१६; समु. १५२.

च प्रयच्छति । दोषोऽर्थवादः ।   मेधा.

(२) यो हीनकर्मादिभ्यः संप्रयच्छति स कृत्वा प्लवमात्मानमुक्तेभ्यो विहितेषु निमित्तेषु उत्तरूपं यज्ञाङ्गादिधनं हृत्वा साधुभ्य ऋत्विगादिभ्यो ददाति स यस्यापहरति तं धनसंरक्षणदुःखाद्यस्मै ददाति तं दौर्गत्यादेरित्येवं द्वावपि तौ नौरूपमात्मानं कृत्वा दुःखान्मोचयति।   गोरा.

(३) आत्मानं प्लवं कृत्वेत्यात्मनस्तरणं तारणं परस्येति दर्शयति। तथा च राज्ञा दस्युनिष्क्रिययोर्द्रव्यं गृहीत्वाऽपि देयमित्यर्थः। तावुभावित्यर्थलाभेन साधूनन्यांश्च तद्वित्तविनियोगेन।   मवि.

(४) यो हीनकर्मादिभ्य उत्कृष्टेभ्योऽभिहितेष्वपि निमित्तेषूक्तानुरूपं यज्ञाङ्गादि साधनं कृत्वा साधुभ्य उत्कृष्टेभ्य ऋत्विगादिभ्यो धनं ददाति स यस्यापहरति तद्दुरितं नाशयति यस्मै तद्ददाति तद्दौर्गत्याभिघातादित्येवं द्वावप्यात्मानं उडुपं कृत्वा दुःखान्मोचयति।   ×ममु.

(५) चातुर्वर्ण्यस्य बलबुद्धिमतः उपायान्तरमाह— य इति। असाधुभ्यो दस्य्वादिभ्यः। साधुभ्यो यागादिशीलेभ्यः। उभौ दातृप्रतिग्राहकौ। प्लवं प्लवस्थानीयम्।   मच.

(६) अपरमपि परस्वादानविषयमाह— योऽसाधुभ्योऽर्थमादायेति। असाधुभ्योऽयज्ञशीलेभ्यः, तौ उभौ तानुभयान्।   नन्द.

**यद्धनं यज्ञशीलानां देवस्वं तद्विदुर्बुधाः।**
**अयज्वनां तु यद्वित्तमासुरस्वं तदुच्यते॥**

(१) अयमस्यार्थवाद एव। गुणवद्भ्यो नापहर्तव्यं निर्गुणेभ्यस्तु न दोषः।   मेधा.

(२) यजनस्वभावानां संबन्धि यद्द्रव्यं तद्यागादौ विनियोगाद्देवस्वं विद्वांसो मन्यन्ते। यागशून्यानां यत्पुनर्द्रव्यं तद्विकर्मविनियोगाद्धर्माभावादसुरसंबन्धि। अतस्तदपहृत्य यागसंपादनेन देवस्वं कर्तव्यम्।   ×गोरा.

(३) यज्वाऽयज्वनोर्धनेषु देवासुरस्वदृष्टिमारोपयति— यदिति।   मच.

(४) अत्रोपपत्तिमाह—यद्धनं यज्ञशीलानामिति।   नन्द.

**न तस्मिन् धारयेद्दण्डं धार्मिकः पृथिवीपतिः।**
**क्षत्रियस्य हि बालिश्याद्ब्राह्मणः सीदति क्षुधा॥**

(१) अस्मिन्निमित्ते चौरत्वेनानीतेभ्यो राज्ञा दण्डो न कर्तव्यो यतस्तस्यैव बालिश्यान्मौर्ख्यात् क्षुधाऽवसीदन्ति। क्षुधेत्यविवक्षितम्। उभयोः प्रकरणादर्थवादत्वात्।   मेधा.

(२) तस्मिन्निमित्तेषु चौर्यं कुर्वाणे ब्राह्मणे धर्मप्रधानो राजा दण्डं न कुर्यात्। यस्माद्राजमौर्ख्यात् ब्राह्मणः क्षुदवसादं प्राप्नोति।   ×गोरा.

(३) आरोपस्य फलमाह— नेति।   मच.

स्तेनप्रकरणोपसंहारः

**अनेन विधिना राजा कुर्वाणः स्तेननिग्रहम्।**
**यशोऽस्मिन् प्राप्नुयाल्लोके प्रेत्य चानुत्तमं सुखम्॥**

अनेनानन्तरप्रक्रान्तेन मार्गेण चौरनिग्रहं कुर्वाणो, यशः सकलजनसाधुवादो, अस्मिँल्लोके यावज्जीवं, प्रेत्य मृतश्चानुत्तमं स्वर्गाख्यं सुखमश्नुते इति। प्रकरणोपसंहारोऽयम्।   मेधा.

करग्रहणविचारः

**अन्धो जडः पीठसर्पी सप्तत्या स्थविरश्च यः।**
**श्रोत्रियेषूपकुर्वंश्च न दाप्याः केनचित्करम्॥**

(१) सप्तत्या स्थविरः, प्रकृत्या विरूप इतिवत्तृतीया। सप्ततिर्वर्षाणि यस्य जातस्य स एवमुच्यते। श्रोत्रियेषु वेदाध्यायिषूपकुर्वन् पादशुश्रूषादिना कारुकर्मणा वा, एते न कर्मवत्कारुशिल्पिनो, 'मासि मासी'त्यादि दाप्याः।

---

× भाच. ममुवत्।

(१) मस्मृ. ११।२०; व्यनि. ५१६ तु (च) मासु (मसु); समु. १५२ मासु (मसु).

× ममु. गोरावत्।

(१) मस्मृ. ११।२१.

(२) मस्मृ. ८।३४३; व्यनि. ५१६.

(३) मस्मृ. ८।३९४ [दाप्याः केनचित्करम् (दाप्यः केनचिद्दमम्) Noted by Jha]; मच. दाप्याः (दाप्यः).

१ त्वाच. २ नान्त.

क्षीणकोशेनापि न दाप्याः इति केनचिद्ग्रहणम् । मेधा.

(२) अन्धबधिरपङ्गवः सप्ततिवर्षात्प्रभृति च वृद्धः श्रोत्रियाणां च शुश्रूषादिनोपकारकः केनचिदपि क्षीणकोशेनापि राज्ञा धान्यषड्भागं शुल्कदानादिकं राजदेयं न दापनीयः । *गोरा.

(३) जडः विकलवागादिः । पीठसर्पी पीठद्वयेन गच्छन् खञ्जः । श्रोत्रियेषूपकुर्वन् तेषां परिचर्यापरः शूद्रादिः । करं निवासनिमित्तकम् । मवि.

(४) दण्डप्रसङ्गेन करादानं बुद्धिस्थं क्वचिन्निवर्तयति अन्ध इति । जडो बधिरः, पीठसर्पी पङ्गुः परायत्तगमनेन पीठवत्सर्प्तुं शीलमस्येति, सप्तत्या स्थविरः सप्तत्युत्तरवयाः एतांश्चतुरः शुश्रूषया धनैर्वोपकुर्वन् न करं दाप्य इत्यन्वयः । श्रोत्रियेष्विति विषयसप्तमी । केनचिद्राज्ञा, करपदं दण्डशुल्कयोरुपलक्षणम् । मच.

(५) पीठसर्पी पङ्गुः, सप्तत्या वयसा सप्तत्या, अब्राह्मणा अप्येते करं न दाप्याः । नन्द.

**श्रोत्रियं व्याधितार्तौ च बालवृद्धावकिञ्चनम् ।**
**महाकुलीनमार्यं च राजा संपूजयेत् सदा ॥**

(१) संपूजनमनुग्रहः । अनेकार्थत्वाद्धातूनां न हि बालादीनामन्या पूजोपपद्यते । श्रोत्रियोऽत्र ब्राह्मण एवेति स्मरन्ति । आर्तः प्रियवियोगादिना । अकिञ्चनो दुर्गतः । महाकुलीनः ख्यातिधनविद्याशौर्यादिगुणे कुले जातो महाकुलीनः । आर्यः ऋजुप्रकृतिरवक्रः । एतेषां दानमानादिभिरनुग्रहः कर्तव्यः । केचिदकिञ्चनं महाकुलीनविशेषणं व्याचक्षते । मेधा.

(२) अध्ययनानुष्ठानवन्तं ब्राह्मणं रोगिणं प्रियवियोगाक्रान्तं बालवृद्धदरिद्रमहाकुलीनोत्पन्नार्जवोपेतान् राजा दानमानप्रियकरणेन सर्वदा पूजयेत् । गोरा.

(३) आर्यं आर्यप्रधानम् । मवि.

(४) न केवलमनादानं यदि ते निःस्वास्तेभ्यः प्रत्युतान्धादिद्वादशेभ्यो दानमेवेत्याह— श्रोत्रियमिति । आर्तः पुत्रादिनाशेन । अकिञ्चनः निःस्वः । आर्योऽवक्रबुद्धिर्व्यवहारेऽपि । मच.

* ममु. गोरावत् ।

(१) मस्मृ. ८।३९५ [ व्याधितार्तौ ( व्याधितार्तं ) Noted by Jha].

(५) पुनर्वृद्धग्रहणं आदरातिशयार्थम् । नन्द.

## याज्ञवल्क्यः

### स्तेयलक्षणम्

इदानीं स्तेयं प्रस्तूयते । तल्लक्षणं च मनुनाऽभिहितम्— 'स्यात्साहसं त्वन्वयवत्प्रसभं कर्म यत्कृतम् । निरन्वयं भवेत्स्तेयं कृत्वाऽपह्नुवते च यत् ॥' इति ( मस्मृ. ८।३३२ ) । अन्वयवत् द्रव्यरक्षिराजाध्यक्षादिसमक्षम् । प्रसभं बलावष्टम्भेन यत्परधनहरणादिकं क्रियते तत्साहसम् । स्तेयं तु तद्विलक्षणं निरन्वयं द्रव्यस्वाम्याद्यसमक्षं वञ्चयित्वा यत्परधनहरणं तदुच्यते । यच्च सान्वयमपि कृत्वा न मयेदं कृतमिति भयान्निह्नुते तदपि स्तेयम् । नारदेनाप्युक्तम् — 'उपायैर्विविधैरेषां छलयित्वाऽपकर्षणम् । सुप्तमत्तप्रमत्तेभ्यः स्तेयमाहुर्मनीषिणः ॥' इति । मिता.

### प्रकाशतस्करदण्डाः

**मानेन तुलया वाऽपि योंऽशमष्टमकं हरेत् ।**
**दण्डं स दाप्यो द्विशतं वृद्धौ हानौ च कल्पितम् ॥**

(१) अकूटेनैव कौशलात्— 'मानेन तुलया वाऽपि योंऽशमष्टमकं हरेत् । दण्डं स दाप्यो द्विशतं वृद्धौ हानौ च कल्पितम् ॥' एतदपि स्तेयद्रव्यसारतापेक्षया व्यवस्थापनीयम् । स्पष्टमन्यत् । विश्व. २।२५०

(२) यः पुनर्वणिक् व्रीहिकार्पासादेः पण्यस्याष्टममंशं कूटमानेन कूटतुलया वा अन्यथा वा परिहरति असौ पणानां द्विशतं दण्डनीयः । अपहृतस्य द्रव्यस्य पुनर्वृद्धौ हानौ च दण्डस्यापि वृद्धिहानी कल्प्ये । *मिता.

(३) मानेन कुडवादिना । +अप.

(४) मानं प्रस्थद्रोणादि, तुला सुवर्णादितुलनदण्डः ।

* विर., पमा., विचि. मितावत् । + शेषं मितावत् ।

(१) **यास्मृ.** २।२४४; **अपु.** २५८।३८ दण्डं...... शतं ( द्वाविंशतिपणान् दाप्यो ); **विश्व.** २।२५०; **मिता.**; **अप.**; **व्यक.** ११०; **विर.** २९५ योंऽशमष्टमकं ( यो योंऽशमष्टमं ); **पमा.** ४५८; **विचि.** १२४-५ मकं ह ( ममाह ); **दवि.** ८९ योंऽश ... रेत् ( यो हरेदंशमष्टमम् ) स ( प्र ); **वीमि.**; **विता.** ७६८; **राकौ.** ४९३ विरवत्; **सेतु.** २३० विचिवत्; **समु.** १५९ मकं ह ( ममाह ) च ( प्र ); **विव्य.** ५१ शमष्टमकं ( शादधिकमा ).

एतच्च प्रतिमानस्याप्युपलक्षणम् । ÷दवि. ९९

(५) अपिशब्देन गणनावञ्चनादिपरिग्रहः । चकारान्मूल्यविशेषापहृतद्रव्यस्य न्यूनाधिकभावः समुच्चीयते । ÷वीमि.

**भेषजस्नेहलवणगन्धधान्यगुडादिषु ।**
**पण्येषु प्रक्षिपन् हीनं पणान् दाप्यस्तु षोडश ॥**

(१) सादृश्यादिना क्रेतुर्भ्रमं चिकीर्षुः— 'भेषजस्नेहलवणगन्धधान्यगुलादिषु । पण्येषु हीनं क्षिपतः पणान् दाप्यस्तु षोडश ॥' हीनं हीनमूल्यम् । ऋज्वन्यत् । विश्व. २।२५१

(२) भेषजमोषधद्रव्यम् । स्नेहो घृतादिः । लवणं प्रसिद्धम् । गन्धद्रव्यमुशीरादि । धान्यगुडौ प्रसिद्धौ आदिशब्दाद्धिङ्गुमरीचादि । एतेष्वसारद्रव्यं विक्रयार्थं मिश्रयतः षोडशपणो दण्डः । *मिता.

(३) हीनं अल्पमूल्यम् । ÷अप.

(४) हीनमपद्रव्यं, एतच्च विक्रेतव्ये प्रक्षेपमात्रेण बोद्धव्यम् । बृहस्पतिस्तु तादृशे विक्रीते सति द्विगुणपण्यदानं दण्डं च वदतीत्यविरोधः । विर. २९७

(५) यथोक्तं द्रव्यं विक्रीणन्परद्रव्येण विमिश्रित्य यो विक्रीणीते तस्य षोडशपणा दण्ड इत्यर्थः । गुरुमूल्यकद्रव्येषु बृहस्पत्युक्ता लघुमूल्यकेषु याज्ञवल्क्योक्ता व्यवस्था इत्यविरोधः । विचि. १२६

(६) अत्राऽपद्रव्यप्रक्षेपस्य विक्रयपर्यन्ततायां दोषत्वमन्यथाऽदृष्टार्थत्वाभिपातः । अभिसंधिमात्रस्याऽपि दण्डप्रयोजकत्वकल्पनायामतिप्रसंगश्च स्यात्, अतो वचनमिदमल्पव्यामिश्रणपरं श्रुतभेषजादिमात्रविषयं वा । तस्य कस्यचित् स्वरूपेणैवाल्पत्वात् क्वचिदपकर्षस्याल्पस्यैव समवायादिति प्रतिभाति । दवि. १०१

(७) तुशब्देन द्विशतादिपूर्वोक्तदण्डव्यवच्छेदः । ÷वीमि.

**तुलाशासनमानानां कूटकृन्नाणकस्य च ।**
**एभिश्च व्यवहर्ता यः स दाप्यो दममुत्तमम् ॥**

(१) स्वाभिप्रेतव्यवहारसिद्ध्यर्थं— 'तुलाशासनमानानां कूटकृन्नाणकस्य च । एभिश्च व्यवहर्ता यः स दाप्यो दममुत्तमम् ॥' शासनग्रहणं सर्वलेख्यलक्षणार्थम् । मानानि सेतिकाप्रस्थप्रभृतीनि । स्पष्टमन्यत् । विश्व. २।२४६

(२) तुला तोलनदण्डः । शासनं पूर्वोक्तम् । मानं प्रस्थद्रोणादि । नाणकं मुद्रादिचिह्नितं द्रम्मनिष्कादि । एतेषां यः कूटकृत् देशप्रसिद्धपरिमाणादन्यथा न्यूनत्वमाधिक्यं वा द्रम्मादेरव्यवहारिकमुद्रात्वं वा ताम्रादिगर्भत्वं वा करोति, यश्च तैः कूटैर्जानन्नपि व्यवहरति, तावुभौ प्रत्येकमुत्तमसाहसं दण्डनीयौ । ×मिता.

(३) शासनं 'दत्त्वा भूमिं निबन्धं च' इत्यत्रोक्तम् । ÷अप.

(४) शासनं राजनिबद्धचिह्नमुद्रा । विर. २९९

(५) आद्यचकारेण कूटकारयितुर्द्वितीयचकारेण कूटव्यवहारयितुः संग्रहः । ÷वीमि.

**अकूटं कूटकं ब्रूते कूटं यश्चाप्यकूटकम् ।**
**स नाणकपरीक्षी तु दाप्य उत्तमसाहसम् ॥**

---

÷ शेषं मितावत् । * पमा. मितावत् ।

(१) **यास्मृ.** २।२४५; **अपु.** २५८।३९; **विश्व.** २।२५१ प्रक्षिपन् हीनं ( हीनं क्षिपतः ); **मिता.**; **अप.** उत्तरार्धे ( पण्येषु हीनं क्षिपतः पणा दण्डस्तु षोडश ); **व्यक.** ११० उत्तरार्धे ( पण्येषु हीनं क्षिपतः पणा दण्डस्त्रयोदश ); **विर.** २९७ अपवत्; **पमा.** ४५८ दाप्य ( दण्ड्य ); **विचि.** १२६ अपवत्; **व्यनि.** ५११ अपवत्; **दवि.** १०० अपवत्; **वीमि.**; **विता.** ७६८; **राकौ.** ४९३ गन्ध ( हिङ्गु ); **समु.** १५९ धान्य ( द्रव्य ).

÷ शेषं मितावत् । × पमा. मितावत् ।

(१) **यास्मृ.** २।२४०; **अपु.** २२७।६०-६१ मानानां ( कर्ता च ) णकस्य ( शकस्य ) : २५८।३४ दम ( दण्ड ); **विश्व.** २।२४६; **मिता.**; **अप.**; **व्यक.** १११; **विर.** २९९; **पमा.** ४५७ श्च ( स्तु ); **विचि.** १२७ न्नाण ( त्कान ); **दवि.** ९६ दम ( दण्ड ); **नृप्र.** २६९ न्नाण ( न्नाण [ श ] ) श्च ( स्तु ); **वीमि.**; **विता.** ७६८ कृन्ना ( कं ना ); **राकौ.** ४९२ दविवत्; **सेतु.** २३१; **समु.** १५९ दविवत्.

(२) **यास्मृ.** २।२४१; **अपु.** २५८।३५ क्षी तु ( क्षायां ) उत्तम ( प्रथम ); **विश्व.** २।२४७ उत्तम ( प्रथम ); **मिता.**; **अप.**; **व्यक.** १११; **विर.** २९९ अकूटं ( न कूटं ); **पमा.** ४५७; **विचि.** १२७ नाण ( कान ); **दवि.** ९७ अकूटं

(१) जानन्नपि तु लोभादिना— 'अकूटं कूटकं ब्रूते कूटं यश्चाप्यकूटकम् । स नाणकपरीक्षी तु दाप्यः प्रथमसाहसम् ॥' तुशब्दः सुवर्णमाणिक्यादावतिरिक्त-दण्डज्ञापनार्थः । विश्व. २।२४७

(२) नाणकपरीक्षिणं प्रत्याह— अकूटमिति । यः पुनर्नाणकपरीक्षी ताम्रादिगर्भमेव द्रम्मादिकं सम्यगिति ब्रूते, सम्यक् वा कूटकमिति असावुत्तमसाहसं दण्ड्यः । +मिता.

(३) यो नाणकस्य द्रम्मादेः परीक्षया जीवति स चेदकूटं समीचीनमसमीचीनमिति ब्रूयात्कूटं चाकूट-मिति । तदैव स उत्तमसाहसं दण्ड्यः । एतच्च तत्त्व-वेदिनो रागद्वेषादिवशादन्यथा ब्रुवतो दमविधानम् । *अप.

(४) कानको मुद्रापो मुद्रापरीक्षकः । ×विचि. १२८

(५) इदं आशयापराधे, तद्व्यतिरेके तूत्तमादल्प-मर्हतीत्याहुरिति रत्नाकरः । अत्र यद्यप्याशयापराधाभावे दण्डाभाव एव उचितस्तथापि परीक्षणासमर्थस्य तत्र प्रवृत्तिरेव दोष इत्यभिसंधाय दण्डाभिधानमिति प्रति-भाति । दवि. ९७

(६) चकारेण कूटं जानन्नपि न जानामीति ब्रूते इति समुच्चीयते । ÷वीमि.

[^1]संभूय कुर्वतामर्घं सबाधं कारुशिल्पिनाम् ।
अर्घस्य ह्रासं वृद्धिं वा जानतां दम उत्तमः ॥

---

+ पमा. मितावत् । * विर. अपवत् ।
× शेषं अपवत् । ÷ शेषं मितावत् ।

( अकूटे ) कूटं ( कूटे ); **वीमि.** प्यकूटकम् ( प्यकूटकृत् ); **विता.** ७६८; **राकौ.** ४९३ अकूटं ( अकूटे ) दाप्य ( दण्ड्य ); **सेतु.** २३२; **समु.** १५९.

(१) **यास्मृ.** २।२४९; **अपु.** २५८।४० उत्तरार्धे ( अर्घस्य ह्रासं वृद्धिं वा सहस्रो दण्ड उच्यते ); **विश्व.** २।२५५ सबा ( साबा ) उत्तरार्धे ( अर्घस्य हानौ वृद्धौ वा साहस्रो दण्ड उच्यते ); **मिता.** नतां ( नतो ); **अप.** सबा ( संबा ) उत्तरार्धे ( अर्घस्य ह्रासे वृद्धौ वा साहस्रो दण्ड उच्यते ); **व्यक.** १११ सबा ( साबा ) उत्तरार्धे ( अर्घस्य हानिं वृद्धिं च साहस्रो दण्ड उच्यते ); **विर.** ३०० सबा ( साबा ) उत्तरार्धे ( अर्घस्य हानिं वृद्धिं च साहसं दण्ड उच्यते ); **पमा.** ४५८; **विचि.** १२८ व्यकवत्; **दवि.** ९७ तामर्घं सबा ( तां सर्वं साबा ) उत्तरार्धो व्यकवत्; **वीमि.**; **विता.** ७६९ ह्रासं वृद्धिं ( वृद्धिं ह्रासं ) नतां ( नतो ); **राकौ.** ४९३ सबा ( साबा ); **सेतु.** ३०१-२ उत्तरार्धे ( अर्घस्य हानिं वृद्धिं च सहस्रो दण्ड उच्यते ); **समु.** ९१ सबा ( साबा ).

(१) एवं तावत् प्रत्येकव्यतिक्रमेऽनुशासनमुक्तम् । इदानीं कारुकादीनां संभूयव्यतिक्रमेऽनुशासनमाह— संभूयेति । संभूयैकमत्येन कारुशिल्पिनां साबाधं पीडा-करमन्यशिल्पिजनस्य तन्निष्पादितद्रव्यस्य वा कुर्वतां कार्षापणसहस्रं दण्डः शिल्पार्घस्य हानौ वृद्धौ वा कर्तव्यः । ये हि भाजनादीनि द्रव्याणि स्वयमेव कृत्वा विक्रीणन्ति, ते शिल्पिनः कांस्यकारादयः । ये तु परकी-यान्येव गृहादीनि निष्पादयन्ति, ते कारवः । तेषामा-गन्तुकशिल्पिजनस्यानवकाशार्थं कारयितृजनार्थिताति-शयाद्वा अर्घस्य हानिं वृद्धिं वा यदा कुर्युः, तदाऽयं दण्ड इत्यवसेयम् । विश्व. २।२५५

(२) वणिजः प्रत्याह—संभूयेति । राजनिरूपिता-र्घस्य ह्रासं वृद्धिं वा जानन्तोऽपि वणिजः, संभूय मिलित्वा, कारूणां रजकादीनां, शिल्पिनां चित्रकारा-दीनां, सबाधं पीडाकरमर्घान्तरं लाभलोभात् कुर्वन्तः पणसहस्रं दण्डनीयाः । ×मिता.

(३) पण्यानां राजकृतमर्घं विदित्वा ततोऽन्यथाभूत-मर्घं वाणिज्याजीविनां कारुशिल्पिप्रभृतिजनस्य सबाधं पीडाकरं कुर्वतां राजकृतार्घापेक्षयाऽर्घस्य ह्रासे वृद्धौ वा पणसहस्रपरिमितो दण्डः कार्यः । *अप.

(४) कारवोऽत्र प्रतिमाघटकादयः, शिल्पिनश्चित्र-कारादयः । तेषां साबाधमतिपीडाकरमर्घं ये वणिजः संभूय कुर्वन्ति, ये वा राजस्थापितस्य मूल्यस्य ह्रासं वृद्धिं च संभूय कुर्वते तेषां सहस्रपणात्मको दण्ड इत्यर्थः । +विर. ३००

[^1]संभूय वणिजां पण्यमनर्घेणोपरुन्धताम् ।
विक्रीणतां वा विहितो दण्ड उत्तमसाहसः ॥

---

× पमा., वीमि., विता. मितावत् । * मितावद्भावः ।
+ विचि., दवि. विरवत् ।

(१) **यास्मृ.** २।२५०; **विश्व.** २।२५६; **मिता.**; **अप.**

(१) उक्तादेव हेतोः— 'संभूय वणिजां पण्यमनर्घेणोपरुन्धताम् । विक्रीणतां वा विहितो दण्ड उत्तमसाहसः ॥' विश्व. २।२५६

(२) ये पुनर्वणिजो मिलित्वा देशान्तरादागतं पण्यमनर्घेण हीनमूल्येन प्रार्थयमाना उपरुन्धन्ति, महार्घेण वा विक्रीणते, तेषामुत्तमसाहसो दण्डो विहितो मन्वादिभिः । *मिता.

(३) राजनिर्मितमर्घमगणयित्वा स्वयं कल्पितेन महताऽर्घेण वणिजां मिलितानां वणिगन्तरैराहृतं पण्यमुपरुन्धतां विरुद्धं विक्रयं कुर्वतां, तथा राजकृतादर्घाद्विहीनार्घापादनेन स्वकीयस्य पण्यस्य निर्गम(मं) कुर्वतामुत्तमसाहसो दण्डः । अप.

(४) अनर्घेण अनुचितमूल्येन । दवि. ९२

प्रकाशस्तेयप्रकरणे प्रसंगतः अर्घस्थापनाविधिः

**राजनि स्थाप्यते योऽर्घः प्रत्यहं तेन विक्रयः ।**
**क्रयो वा निःस्रवस्तस्माद्वणिजां लाभकृत् स्मृतः ॥**

(१) केन तर्ह्यर्घेण पण्यानां विक्रय इति । उच्यते— 'राजनि स्थाप्यते योऽर्घः प्रत्यहं तेन विक्रयः । क्रयो वा ।' कार्य इति शेषः । यश्चासौ राजकुलाधिष्ठितनिपुणवणिङ्निरूपितो दिवसार्घः, तेन क्रीतानां पुनर्विक्रयः कस्मात्, यस्माच्च— 'विक्रयो वाऽपि वणिजां लाभतः स्मृतः ॥' स्मृत इति वचनाल्लाभेनापि विक्रयो धर्म इति ज्ञायते । विश्व. २।२५७

(२) केन पुनरर्घेण पणितव्यमित्यत आह—राजनीति । राजनि संनिहिते सति यस्तेनार्घः स्थाप्यते निरूप्यते तेनार्घेण प्रतिदिनं क्रयो विक्रयो वा कार्यः । निर्गतः स्रवो निःस्रवो विशेषस्तस्माद्राजनिरूपितार्घाद्यो निःस्रवः स एव वणिजां लाभकारी न पुनः स्वच्छन्दपरिकल्पितात् । मनुना चार्घकरणे विशेषो दर्शितः— 'पञ्चरात्रे पञ्चरात्रे पक्षे मासे तथा गते । कुर्वीत चैषां प्रत्यक्षमर्घसंस्थापनं नृपः ॥' इति । +मिता.

(३) राजभिर्योऽर्घः स्थापितो निर्मितस्तेन वणिग्भिः प्रत्यहं विक्रयः क्रयश्च कार्यः । तस्मादर्घाद्यो निःस्रवो द्रव्योत्कर्षः स एव वणिजां प्रशस्तो लाभः । नान्यथा । *अप.

(४) राज्ञानि राजविषये राज्ञे वा योऽर्घः स्थापितः तेनैव क्रयविक्रयौ, तस्मात्क्रयाद्विक्रयाद्वा यो निश्चयो लाभः स एव तेषां लाभकृत् उपचयकृत् नान्यो दण्डापादकत्वादिति द्वितीयश्लोकार्थः । *विर. ३०२

(५) अथैवं दण्डवर्जनं वृत्तिश्च तेषां कथं स्यादत आह— राजनीत्यादिना । राजसंनिधौ तदनुमत्या वणिग्भिर्योऽर्घो व्यवस्थाप्यते, प्रत्यहं तेनार्घेण विक्रयः क्रयश्च वणिजां कार्यः । तस्मात् क्रेयविक्रेयाद्यो निर्गतः स्रवोऽवशेषः वृद्धिभाग इति यावत् स एव लाभकृद्वणिजां वृत्तेर्हेतुरित्यर्थः । *वीमि.

**स्वदेशपण्ये तु शतं वणिग् गृह्णीत पञ्चकम् ।**
**दशकं पारदेश्ये तु यः सद्यः क्रयविक्रयी ॥**

(१) लाभकल्पना तु वणिजां किं यदृच्छयैव । नेत्युच्यते । कथं तर्हि— 'स्वदेशपण्ये तु शतं वणिग् गृह्णीत पञ्चकम् । दशकं पारदेश्ये तु यः सद्यः क्रयविक्रयी ॥' इति । यो यस्य पण्यस्य सद्यः क्रयविक्रयी, स तस्य दशकं पञ्चकं वा गृह्णीयादित्यर्थः । विश्व. २।२५८

---

* विर., पमा., विचि., दवि., वीमि., विता. मितावत् । तां वा वि ( तामभि ); व्यक. १११ सः ( सम् ); विर. ३०० णोप ( णाव ) वा वि ( वाभि ); पमा. ४५८ जां ( जा ) वा ( च ); विचि. १२८ णोप ( णाव ); दवि. ९२ विरवत्; वीमि.; विता. ७६९; सेतु. ३०२ जां ( जः ) णोप ( णाप ); समु. ९१.

(१) यास्मृ. २।२५१; अपु. २५८।४१ र्घः ( र्थः ) निःस्रव ( विक्रय ); विश्व. २।२५७ निःस्रवस्तस्माद्व ( विक्रयो वाऽपि व ) कृत् ( तः ); मिता.; अप. राजनि स्थाप्यते ( राजभिः स्थापितो ) कृत् ( कः ); व्यक. १११ जां ( जो ) कृत् ( कः ); विर. ३०२ निःस्रव ( निश्चय ) जां ( जो ); पमा. ४५८; दवि. १०० राजनि स्था ( राज्ञा संस्था ) पू.; वीमि.; विता. ७७० निःस्र ( विस्र ); राकौ. ४९३ प्यते ( पिते ); समु. ९१ राजनि स्थाप्यते ( राजभिः स्थापितो ).

+ पमा. मितावत् । * मितावद्भावः ।

(१) यास्मृ. २।२५२; अपु. २५८।४२; विश्व. २।२५८; मिता.; अप. श्ये ( शे ); व्यक. १११; विर. ३०२; पमा. ४५८; दवि. ९९; सवि. ३१२ शतं वणिग् ( वणिक् शतं ) उत्तरार्धे ( परदेशे तु दशकं यः सद्यः पण्यविक्रयी ); वीमि.; विता. ७७०; राकौ. ४९३; समु. ९१ देश ( देश्य ) पार ( पर ).

(२) स्वदेशप्राप्तं पण्यं गृहीत्वा यो विक्रीणीते, असौ पञ्चकं शतं पणशते पणपञ्चकं लाभं गृह्णीयात् । परदेशात्प्राप्ते । पुनः पण्ये शतपणमूल्ये दशपणान् लाभं गृह्णीयात् । यस्य पण्यस्य ग्रहणदिवस एव विक्रयः संपद्यते । यः पुनः कालान्तरे विक्रीणीते तस्य कालोत्कर्षवशाल्लाभोत्कर्षः कल्प्यः । एवं च यथार्घे निरूपिते पणशते पञ्चपणो लाभो भवति तथैवार्घो राज्ञा स्वदेशपण्यविषये स्थापनीयः । *मिता.

**पण्यस्योपरि संस्थाप्य व्ययं पण्यसमुद्भवम् ।**
**अर्घोऽनुग्रहकृत्कार्यः क्रेतुर्विक्रेतुरेव च ॥**

(१) राज्ञा तु किं यदृच्छयैवार्घः स्थाप्यः । नेत्याह— 'पण्यस्योपरि संस्थाप्य व्ययं पण्यसमुद्भवम् । अर्घोऽनुग्रहकृत्कार्यः क्रेतुर्विक्रेतुरेव च ॥' विश्व. २।२५९

(२) पारदेश्यपण्येऽर्घनिरूपणप्रकारमाह— पण्यस्योपरीति । देशान्तरादागते पण्ये देशान्तरगमनप्रत्यागमनभाण्डग्रहणशुल्कादिस्थानेषु यावानुपयुक्तोऽर्थस्तावन्तमर्थं परिगणय्य पण्यमूल्येन सह मेलयित्वा, यथा पणशते दशपणो लाभः संपद्यते तथा क्रेतृविक्रेत्रोरनुग्रहकार्यर्घो राज्ञा स्थापनीयः । मिता.

(३) क्रयदिनाद्दिनान्तरविक्रयविषयमाह— पण्यस्योपरीति । स्वदेशपरदेशादागतस्य पण्यस्योपरि तत्प्रतिबद्धो व्ययः संस्थाप्यः, पण्येनैव तन्निबन्धनं सकलं व्ययं परिशोध्य क्रेतुर्विक्रेतुश्च तुल्यानुग्रहहेतुरर्घो राज्ञा परिकल्पनीयः । अप.

(४) दूरदेशस्थत्वादिना चिरविक्रयविलम्बे तु दत्तपण्यमूल्योपरि पण्यानयनरक्षणादिसमुद्भवं व्ययं व्ययितं धनं संस्थाप्य मेलयित्वा मूल्यव्यययोर्मिलितयोः शतपणमूल्यकयोस्तु देशविदेशभेदेन पञ्चदशपणो यो निःस्रवो भवति, तथा क्रेतुर्विक्रेतुश्चाऽनुग्रहकृदुपकारी अर्घो राज्ञा कार्यः । चकारात्पौरजनस्य समुच्चयः । एवकारेण राज्ञोऽर्घकरणे उपेक्षा व्यवच्छिद्यते । वीमि.

* अप., विर., पमा., दवि., वीमि., विता. मितावत् ।

(१) यास्मृ. २।२५३; अपु. २५८।४३; विश्व. २।२५९; मिता.; अप. ग्रहकृत् (ग्राहकः); व्यक. १११; विर. ३०२; पमा. ४५९; वीमि.; विता. ७७३ (=); समु. ९१.

अकाशास्त्रेयोक्तदण्डप्रकरणानुवृत्तिः

**भिषङ्मिथ्याचरन् दाप्यस्तिर्यक्षु प्रथमं दमम् ।**
**मानुषे मध्यमं राजपुरुषेषूत्तमं दमम् ॥**

(१) अज्ञानाद् विपर्ययतो वा— 'भिषङ्मिथ्याचरन् दाप्यस्तिर्यक्षु प्रथमं दमम् । मानुषे मध्यमं दाप्य उत्तमं राजमानुषे ॥' पशवो वर्णापशदाश्च तिर्यञ्चः । विट्छूद्राः मानुषम् । क्षत्रिया ब्राह्मणाश्च राजमानुषम् । एवं मिथ्याचरतो वैद्यस्य प्रथमसाहसादयो दण्डाः । उदाहरणार्थं चैतत् । सर्वथा चिकित्स्यस्वरूपं पीडाविशेषं च वैद्यकृतमालोच्य यथार्हं दण्डकल्पनेत्यवसेयम् । विश्व. २।२४८

(२) चिकित्सकं प्रत्याह— भिषङ्मिथ्याचरन्निति । यः पुनर्भिषक् मिथ्या आयुर्वेदानभिज्ञ एव जीवनार्थं चिकित्सितज्ञोऽहमिति तिर्यङ्मनुष्यराजपुरुषेषु चिकित्सामाचरत्यसौ यथाक्रमेण प्रथममध्यमोत्तमसाहसान् दण्डनीयः । तत्रापि तिर्यगादिषु मूल्यविशेषेण वर्णविशेषेण राजप्रत्यासत्तिविशेषेण दण्डानां लघुगुरुभावः कल्पनीयः । मिता.

(३) तिर्यक्षु गवादिषु मिथ्याचिकित्सामाचरन् वैद्यः प्रथमसाहसं दण्डं दाप्यः । मानुषे मध्यमसाहसं, राजसंबन्धिमानुषे तु पुनरुत्तमसाहसं दाप्यः । अयथाशास्त्रं मिथ्या । +अप.

**कूटस्वर्णव्यवहारी विमांसस्य च विक्रयी ।**
**त्र्यङ्गहीनस्तु कर्तव्यो दाप्यश्चोत्तमसाहसम् ॥**

\+ वीमि. अपवत् ।

(१) यास्मृ. २।२४२; अपु. २५८।३६ पुरुषे...दमम् (मानुषेषूत्तमं तथा); विश्व. २।२४८ उत्तरार्धे (मानुषे मध्यमं दाप्य उत्तमं राजमानुषे); मिता. दाप्य (दण्ड्य); अप. पुरुषेषू (मानुषे तू); व्यक. ११२ अपुवत्; विर. ३०६ अपुवत्; पमा. ४५७ मितावत्; दवि. १०४ पुरुषे... दमम् (मानुषे तूत्तमं तथा); वीमि. मितावत्; राकौ. ४९३ अपवत्; विता. ७६८; समु. १५८ पुरु (मानु).

(२) यास्मृ. २।२९७; अपु. २५८।७५-६ स्वर्णव्यव (वादी स्वर्ण) त्र्यङ्गहीनस्तु (अङ्गहीनश्च); विश्व. २।३००. नस्तु (नास्तु) व्यो (व्या) प्य (प्या); मिता. (ख) त्र्य (अ); अप. २।२९६; व्यक. ११२ त्र्य (अ) शेषं विश्व-

(१) प्रच्छन्नतास्कर्ययोगात्तु— 'कूटस्वर्णव्यवहारी विमांसस्य च विक्रयी। त्र्यङ्गहीनास्तु कर्तव्या दाप्याश्चोत्तमसाहसम् ॥' धूपितरञ्जितादि कूटस्वर्णम्। श्वसृगालादिप्रभवं विमांसम्। तद्विशेषापेक्षयैव धनदण्डः। त्र्यङ्गहीनत्वं च व्यस्तसमस्ततया योज्यम्। द्वौ हस्तावेकश्च पादस्त्र्यङ्गानि। स्पष्टमन्यत्। विश्व. २।३००

(२) रसवेधाद्यापादितवर्णोत्कर्षैः कूटैः स्वर्णैर्व्यवहारशीलो यः स्वर्णकारादिः, यश्च विमांसस्य कुत्सितमांसस्य श्वादिसंबद्धस्य विक्रयशीलः सौनिकादिः। चशब्दात्कूटरजतादिव्यवहारी च। ते सर्वे प्रत्येकं नासाकर्णकरैस्त्रिभिरङ्गैर्हीनाः कार्याः। चशब्दात्त्र्यङ्गच्छेदेन समुच्चितमुत्तमसाहसं दण्डं दाप्याः। यत्पुनर्मनुनोक्तं—'सर्वकण्टकपापिष्ठं हेमकारं तु पार्थिवः। प्रवर्तमानमन्याये छेदयेल्लवशः क्षुरैः ॥' इति (मस्मृ. ९।२९२)। तद्देवब्राह्मणराजस्वर्णविषयम्। * मिता.

(३) असुवर्णे सुवर्णबुद्धिं परस्योत्पाद्य यो व्यवहरति, यश्च विरुद्धं विड्वराहादिमांसं समीचीनमांसबुद्धिमुत्पाद्य विक्रीणीते, स त्रिभिरङ्गैर्नासाकर्णहस्तैर्हीनः कार्यः। उत्तमसाहसं च दण्ड्यः। +अप.

(४) त्रिभिर्नासादन्तकरैः। विर. ३०९

(५) आद्येन चकारेण ब्राह्मणस्य शरीरदण्डानर्हस्य निर्वासनादि समुच्चिनोति। द्वितीयेन मिलितस्य दण्डद्वयस्य कर्तव्यत्वमभिप्रैति। तुशब्देन— 'सर्वकण्टकपापिष्ठमि'ति देवब्राह्मणस्वर्णपरमन्यत्र व्यवच्छिनत्ति। वीमि.

**[१]मृच्चर्ममणिसूत्रायःकाष्ठवल्कलवाससाम्।**
**अजातौ जातिकरणे विक्रेयाष्टगुणो दमः ॥**

---

* दवि. मितावत्। + मितावद्भावः। विचि. अपवत्।

वत्; विर. ३०९ नस्तु (नाश्च) व्यो (व्या) प्यश्चो (व्यास्तू) कात्यायनः; विचि. १३१ त्र्य (अ) नस्तु (नः प्र); व्यनि. ५१२ विमां (कुमां); दवि. १०२, ३०८ नस्तु (नास्तु) व्यो (व्याः) दाप्य (शास्या); सवि. ४९२ व्यनिवत्; वीमि.; व्यउ. १६४; व्यम. १०९ मितावत्; विता. ७६३ मितावत्; राकौ. ४९४ त्र्य (अ) दाप्य (दण्ड्य); सेतु. २२४, २३३ विचिवत्; समु. १५९ मितावत्; विव्य. ५१ विमां (अमां) नस्तु (नः प्र).

(१) यास्मृ. २।२४६; विश्व. २।२५२ उत्तरार्धे (अजा-

(१) क्रेतुः पण्यस्वरूपाज्ञानमभिप्रेत्य—'मृच्चर्ममणिसूत्रायःकाष्ठवल्कलवाससाम्। अजातेर्जातिकरणाद् विक्रयेऽष्टगुणो दमः ॥' मृदादीनामजात्यं जात्यमिति कृत्वा विक्रीणन्नुक्तषोडशपणादष्टगुणं दण्ड्यः। स्पष्टमन्यत्। विश्व. २।२५२

(२) न विद्यते बहुमूल्या जातिर्यस्मिन्मृच्चर्मादिके तदजाति, तस्मिन् जातिकरणे, विक्रयार्थं, गन्धवर्णरसान्तरसंचारणेन बहुमूल्यजातीयसादृश्यसंपादनेन। यथा मल्लिकामोदसंचारेण मृत्तिकायां सुगन्धामलकमिति। मार्जारचर्मणि वर्णोत्कर्षापादनेन व्याघ्रचर्मेति। स्फटिकमणौ वर्णान्तरकरणेन पद्मराग इति। कार्पासिके सूत्रे गुणोत्कर्षाधानेन पट्टसूत्रमिति। कालायसे वर्णोत्कर्षाधानेन रजतमिति। बिल्वकाष्ठे चन्दनामोदसंचारणेन चन्दनमिति। कङ्कोले त्वगाख्यं लवङ्गमिति। कार्पासिके वाससि गुणोत्कर्षाधानेन कौशेयमिति। विक्रेयस्यापादितसादृश्यमृच्चर्मादेः पण्यस्याष्टगुणो दण्डो वेदितव्यः। * मिता.

(३) मृदादीनां मध्ये किंचिदनुत्कृष्टजातीयमपि तदुत्कृष्टजातीयद्रव्यसादृश्यमापाद्य क्रेतारं प्रति समीचीनमेतदिति भ्रान्त्यापादनेनासमीचीनं द्रव्यं दत्वा यः समीचीनद्रव्यमूल्यमादत्ते, तस्य तत एव मूल्यादष्टगुणो दण्डः। +अप.

**समुद्रपरिवर्तं च सारभाण्डं च कृत्रिमम्।**
**आधानं विक्रयं वाऽपि नयतो दण्डकल्पना ॥**

---

* विर., विचि., दवि., वीमि., विता. मितावत्।
+ मितावद्भावः। विचि. अपवत्।

तेर्जातिकरणाद् विक्रयेऽष्टगुणो दमः); मिता.; अप. क्रेया (क्रयेऽ); व्यक. ११२; विर. ३०९ क्रेया (ज्ञेयोऽ) कात्यायनः; पमा. ४५८; विचि. १३२ विरवत्, उत्त.; व्यनि. ५१२ त्रायः (त्राणां) तौ जा (तेर्जा) क्रेया (क्रयेऽ); दवि. १०२ वल्कल (पाषाण) क्रे (क्री); वीमि.; विता. ७६८; सेतु. २३३ सूत्रा (मुद्रा) जाति (जात) क्रेया (ज्ञेयोऽ) कात्यायनः; समु. १५९.

(१) यास्मृ. २।२४७; विश्व. २।२५३; मिता. (ख) मुद्र (मुद्र); अप.; व्यक. ११२ वा (चा); विर. ३१० विश्ववत्, कात्यायनः; पमा. ४५८ वा (चा);

[1]भिन्ने पणे तु पञ्चाशत्पणे तु शतमुच्यते ।
द्विपणे द्विशतो दण्डो मूल्यवृद्धौ च वृद्धिमान् ॥

(१) यदि तु समुद्गकादिस्थं दर्शयित्वा समुद्गकान्तरपरिवर्तनेन कर्पूरादिसारद्रव्यं कृत्रिमकरणेन वा कश्चिदाधानं विक्रयं वा कुर्यात्, तस्यापि व्याजव्यवहारिणः— 'समुद्गपरिवर्तं च सारभाण्डं च कृत्रिमम् । आधानं विक्रयं वाऽपि नयतो दण्डकल्पना ॥' उक्तार्थः श्लोकः ।

किं स्वमत्यैव दण्डकल्पना । नेत्याह— 'भिन्ने पणे तु पञ्चाशत्पणे तु शतमुच्यते । द्विपणे द्विशतो दण्डो मूल्यवृद्धौ तु वृद्धिमान् ॥' अनिर्दिष्टविषये तु द्रव्ये मूल्यानुसारिणी दण्डकल्पनेत्यभिप्रायः ।

विश्व. २।२५३-४

(२) मुद्गं पिधानम् । मुद्गेन सह वर्तत इति समुद्गं करण्डकम् । परिवर्तनं व्यत्यासः योऽन्यदेव मुक्तानां पूर्णं करण्डकं दर्शयित्वा हस्तलाघवेनान्यदेव स्फटिकानां पूर्णं करण्डकं समर्पयति, यश्च सारभाण्डं कस्तूरिकादिकं कृत्रिमं कृत्वा विक्रयमाधिं वा नयति, तस्य दण्डकल्पना वक्ष्यमाणा वेदितव्या । कृत्रिमकस्तूरिकादेर्मूल्यभूते पणे भिन्ने न्यूने । न्यूनपणमूल्य इति यावत् । तस्मिन् कृत्रिमे विक्रीते पञ्चाशत्पणो दण्डः । पणमूल्ये पुनः शतम् । द्विपणमूल्ये द्विशतो दण्डः, इत्येवं मूल्यवृद्धौ दण्डवृद्धिरुन्नेया ।

+मिता.

(३) मुद्रया द्वारबन्धेन सह वर्तत इति समुद्रम् । तदन्यत्समीचीनं प्रदर्श्यान्यत्ततोऽपकृष्टं क्रेत्रे चोत्तमर्णाय वा कौशलेन भ्रान्तिं जनयन्नर्पयति । यश्चासारमल्पमूल्यं मृदादिकं सारभाण्डतया कस्तूरिकादिमहार्घपण्यतया परं प्रत्याधानकृते नयति विक्रीणीते वा तस्य दण्डकल्पनोच्यते । भिन्ने पणे पणादल्पमूल्ये द्रव्य आहिते विक्रीते वा पञ्चाशत्पणो दण्डः । पणमूल्ये तु पणशतम् । द्विगुणमूल्ये तु द्वे पणशते । इत्थं यावन्तः पणा मूल्यस्य वर्ते(र्ध)न्ते तावन्ति पणशतानि दण्डे वर्धनीयानि । ×अप.

(४) समुद्गं संपुटं, कृत्वेति पूरणीयम् । ऊनसुवर्णादिपूर्णसंपुटपरिवर्तं कृत्वा आधानं धारणं नयतः, सारभाण्डं च कस्तूरिकादि कृत्रिमं कृत्वा विक्रयं नयतः, दण्डकल्पना कार्या ।

* विर. ३१०

[1]अग्नौ सुवर्णमक्षीणं रजते द्विपलं शते ।
अष्टौ त्रपुणि सीसे च ताम्रे पञ्च दशायसि ॥

(१) आवर्तनायामग्नौ क्षिप्तं सुवर्णमक्षीणं, तावदेवेत्यर्थः। रजतादौ पलशताद् द्विपलादिकः क्षयः । अनेन प्रकारेणोपक्षीणं सुवर्णकारादयो न दापनीयाः । विश्व.२।१८२

(२) दोह्यादिपरीक्षाप्रसंगेन स्वर्णादेरपि परीक्षामाह— अग्नौ सुवर्णमक्षीणमिति । वह्नौ प्रताप्यमानं सुवर्णं न क्षीयते । अतः कटकादिनिर्माणार्थं यावत्स्वर्णकारहस्ते प्रक्षिप्तं तावत्तुलितं तैः प्रत्यर्पणीयम् । इतरथा क्षयं दाप्या दण्ड्याश्च । रजते तु शतपले प्रताप्यमाने पलद्वयं क्षीयते । अष्टौ त्रपुणि सीसे च । शते इत्यनुवर्तते । त्रपुणि सीसे च शतपले प्रताप्यमानेऽष्टौ पलानि क्षीयन्ते । 'ताम्रे पञ्च दशायसि' ताम्रे शतपले पञ्चपलानि । अयसि दशपलानि क्षीयन्ते । अत्रापि शत इत्येव । कांस्यस्य तु त्रपुताम्रयोनित्वात्तदनुसारेण क्षयः कल्पनीयः ।

---

+ पमा., विचि., वीमि., विता. मितावत् ।

विचि. १३२ (=) विश्ववत्; दवि. १०३ विश्ववत्; वीमि. विश्ववत्; विता. ७६९; सेतु. २३४ विश्ववत्, कात्यायनः; समु. १५९.

(१) यास्मृ. २।२४८; विश्व. २।२५४ च ( तु ); मिता. (क) तु प (च प); अप. विश्ववत्; व्यक. ११२; विर. ३१० द्विपणे ( द्विगुणो ) कात्यायनः; पमा. ४५८ भिन्ने ( हीने ) च ( तु ); विचि. १३२ द्विपणे ( द्विगुणो ); दवि. १०३; वीमि. विचिवत्; विता. ७६९ विश्ववत्; सेतु. २३४ कात्यायनः; समु. १५९ पमावत्.

× मितावद्भावः । * शेषं मितावत् । दवि. विरवत् ।

(१) यास्मृ. २।१७८; अपु. २५७।२९ रजते द्विपलं ( द्विपलं रजते ); विश्व. २।१८२ रज... शते ( द्विपलं रजते शतम् ) त्रपुणि (तु त्रपु); मिता.; अप.; व्यक. ११३ त्रपुणि सीसे च ( तु त्रपुसीसेषु ) शेषं अपुवत्; विर. ३११ रज... शते ( द्विपलं रजते शतम् ) त्रपुणि सीसे च ( तु त्रपुसीसेषु ); विचि. १३३ रजते द्विपलं ( द्विपलं राजते ) त्रपुणि सीसे च ( हि त्रपुसीसे तु ); व्यनि. ५१३ पूर्वार्धो विश्ववत्, ताम्रे (ताम्रः); मच. ८।३९७ रजते द्विपलं (द्विपलं रजते) उत्तरार्धे ( अष्टौ तु त्रपुसीसेषु ताम्रे पञ्च दशानि तु ); वीमि.; व्यप्र. २८९; व्यम. ८५; विता. ५७१; राकौ. ४७३; सेतु. २३४ अपुवत्; समु. ९०.

ततोऽधिकक्षयकारिणः शिल्पिनो दण्ड्याः । * मिता.

(३) दशायसि शुद्धे । विर. ३१२

(४) चकारेण कांस्यस्य त्रपुताम्रयोनिकस्य तदंशानुसारेण क्षयः समुचीयते । × वीमि.

**शते दशपला वृद्धिरौर्णे कार्पाससौत्रिके ।**
**मध्ये पञ्चपला वृद्धिः सूक्ष्मे तु त्रिपला मता ॥**

(१) तौलिकादिभिस्तु वस्त्रनिर्माणायार्पिते सूत्रे— 'शते दशपला वृद्धिरौर्णे कार्पासिके तथा । मध्ये पञ्चपला हानिः सूक्ष्मे तु त्रिपला मता ॥' पलशते दशपलान्यौर्णकार्पासिकयोर्वृद्धिः स्थूले सूत्रे स्यात् । मध्यमे तूक्तवृद्धितः पञ्चपलहान्या वृद्धिरित्यर्थः । सूक्ष्मे तु त्रिपला वृद्धिः । तथा च नारदो दशपलां वृद्धिमुक्त्वाह— ' स्थूलसूत्रवतामेषां मध्यानां पञ्चकं शतम् । त्रिपलं तु सुसूक्ष्माणाम्...॥' इति । विश्व. २।१८३

(२) क्वचित्कम्बलादौ वृद्धिमाह— शते दशपलेति । स्थूलेनौर्णसूत्रेण यत्कम्बलादिकं क्रियते तस्मिन् शतपले दशपला वृद्धिर्वेदितव्या । एवं कार्पाससूत्रनिर्मिते पटादौ वेदितव्यम् । मध्ये अनतिसूक्ष्मसूत्रनिर्मिते पटादौ पञ्चपला वृद्धिः । सुसूक्ष्मसूत्ररचिते शते त्रिपला वृद्धिर्वेदितव्या । एतच्चाप्रक्षालितवासोविषयम् ।

\+ मिता.

* अप. मितावत् । × शेषं मितावत् ।
\+ अप., विर., वीमि. मितावत् ।

(१) **यास्मृ.** २।१७९; **अपु.**२५७।३० ससौत्रिके ( सिके तथा ) वृद्धिः सू. ( ज्ञेया सू. ); **विश्व.** २।१८३ ससौत्रिके ( सिके तथा ) वृद्धिः सू. ( हानिः सू. ); **मिता.**; **अप.** ससौत्रिके ( सिके तथा ); **व्यक.** ११३ ससौत्रिके ( सिके तथा ) वृद्धिः सू. ( सौत्रे सू. ); **विर.** ३१२ ससौत्रिके ( सिके तथा ) वृद्धिः ... ... मता ( तौले सूक्ष्मे तु द्विपला स्मृता ); **विचि.** १३३ मता ( स्मृता ) शेषं व्यकवत्; **व्यनि.** ५१४ ससौत्रिके ( सिके तथा ) वृद्धिः सू. ( सूत्रे सू. ); **मच.** ८।३९७ व्यानिवत्; **वीमि.** वृद्धिः सू. ( सौत्रे सू. ); **व्यप्र.** २८९ सौत्रि ( सूत्र ); **व्यम.** ८६ रौर्णे ( रौर्ण ); **विता.** ५७१ व्यप्रवत्; **राकौ.** ४७३ दश ( दशा ) रौर्णे ( रौर्ण ) वृद्धिः सू. ( सूत्रे सू. ); **सेतु.** २३५ कार्पा ( कर्पा ) शेषं विचिवत्; **समु.** ९० रौर्णे ( रूर्णा ) सौत्रि ( सूत्र ) सूक्ष्मे तु ( सुसूक्ष्मे ).



**कार्मिके रोमबद्धे च त्रिंशद्भागः क्षयो मतः ।**
**न क्षयो न च वृद्धिश्च कौशेये वल्कलेषु च ॥**

(१) अस्य विशेषेऽपवादः— चार्मिक इति । चर्मकृतं चार्मिकं कुरुण्ठादि । रोमबद्धं दूष्यपटादि । तत्र हि छेदनात् त्रिंशद्भागः क्षयः । कौशेयवाल्कलयोस्तु साम्यमेव । कौशेयं त्रसरीमयम् । स्पष्टमन्यत् । विश्व.२।१८४

(२) द्रव्यान्तरे विशेषमाह— कार्मिक इति । कार्मिकं कर्मणा चित्रेण निर्मितम् । यत्र निष्पन्ने पटे चक्रस्वस्तिकादिकं चित्रं सूत्रैः क्रियते तत्कार्मिकमित्युच्यते । यत्र प्रावारादौ रोमाणि बन्ध्यन्ते स रोमबद्धः, तत्र त्रिंशत्तमो भागः क्षयो वेदितव्यः । कौशेये कोशप्रभवे वाल्कलेषु वृक्षत्वङ्निर्मितेषु वसनेषु वृद्धिह्रासौ न स्तः किन्तु यावद्वयनार्थं कुविन्दादिभ्यो दत्तं तावदेव प्रत्यादेयम् । *मिता.

(३) चकारैर्गोधूमादीनां बहूनामनुक्तानां पेषणादौ क्षयवृद्ध्योरभावः समुचीयते । ×वीमि.

**देशं कालं च भोगं च ज्ञात्वा नष्टे बलाबलम् ।**
**द्रव्याणां कुशला ब्रूयुर्यत्तद्दाप्यमसंशयम् ॥**

(१) वृद्ध्यनुसारेणैव क्षयमालोच्य रजकादिभिर्वस्त्रादीनाम्—'देशं कालं च भोगं च ज्ञात्वा नष्टे बलाबलम् । द्रव्याणां कुशला ब्रूयुर्यत् तद् दाप्यमसंशयम् ॥' स्वदेशोत्पन्नं परदेशोत्पन्नं चिरन्तनमल्पकालिकं

* अप. मितावत् । × शेषं मितावत् ।

(१) **यास्मृ.** २।१८०; **अपु.** २५७।३१ श्च ( स्तु ); **विश्व.** २।१८४ का ( चा ) वृद्धिश्च ( वृद्धिः स्यात् ) वल्कलेषु च ( वाल्कले तथा ); **मिता.** ( क ) वल्क ( वाल्क ); **अप.** वृद्धिश्च ( वृद्धिः स्यात् ) वल्क (वाल्क); **व्यक.**११२ त्रिंशद्भागः ( विंशभागः ) शेषं अपवत्; **विर.** ३१३ वृद्धिश्च ( वृद्धिः स्यात् ); **मच.** ८।३९७ द्धे च ( द्धे तु ) वृद्धिश्च ( वृद्धिस्तु ) वल्क ( वाल्क ); **वीमि.**; **व्यप्र.** २८९-९० द्धे ( न्धे ) वल्क ( वाल्क ); **व्यम.** ८६; **विता.** ५७१ द्धे ( न्धे ); **समु.** ९० वितावत्.

(२) **यास्मृ.** २।१८१; **अपु.** २५७।३२; **विश्व.** २।१८५; **मिता.**; **अप.** प्यम ( प्या अ ); **व्यक.** ११३; **विर.** ३१४; **व्यनि.** ५१४; **दवि.**११३ भोगं च ( विज्ञाय ); **सवि.** ४९५ ( = ); **वीमि.**; **राकौ.** ४७३; **समु.** ९०.

भुक्तमभुक्तं दुर्लभमदुर्लभं वेत्येवं नष्टे द्रव्ये बलाबलं ज्ञात्वा द्रव्याणां बलाबलज्ञानकुशला यन्मूल्यं ब्रूयुः, तन्निर्विचारं नाशयिता दद्यात्। राज्ञा चाददद् दाप्यः। एवं परीक्ष्य क्रीते क्रेतुर्व्यभिचारतो राजदण्डादिप्रसङ्गः। न च विक्रेता व्यभिचरन्नपि विक्रीतं प्राप्नुयादिति स्थितम्। तथा च स्वायम्भुवम्— 'परेण तु दशाहस्य न दद्यान्नापि दापयेत्। आददानो ददच्चैव दण्ड्यो राज्ञा शतानि षट्॥' इति (मस्मृ. ८।२२३)। विश्व.२।१८५

(२) द्रव्यानन्त्यात्प्रतिद्रव्यं क्षयवृद्धिप्रतिपादनाशक्तेः सामान्येन ऱ्हासवृद्धिज्ञानोपायमाह— देशं कालमिति। शाणक्षौमादौ द्रव्ये नष्टे ऱ्हासमुपगते द्रव्याणां कुशलाः द्रव्यवृद्धिक्षयाभिज्ञाः देशं कालमुपभोगं तथा नष्टद्रव्यस्य बलाबलं सारासारतां च परीक्ष्य यत्कल्पयन्ति तदसंशयं शिल्पिनो दाप्याः। + मिता.

(३) चकारेण ऱ्हासयोग्यस्थाने ऱ्हासनीयमिति समुच्चीयते। * वीमि.

**वसानस्त्रीन् पणान् दण्ड्यो नेजकस्तु परांशुकम्।**
**विक्रयावक्रयाधानयाचितेषु पणान् दश॥**

(१) प्रक्षालनार्थमर्पितम्—'वसानस्त्रीन् पणान् दाप्यो रजकस्तु परांशुकम्। विक्रयापक्रयाधानयाचितेषु पणान् दश॥' परांशुकमुत्कृष्टं वस्त्रम्। तत्परिधाने रजकस्य त्रिपणो दमः। एवं मध्यमाधमेषु पणापचयकल्पना। तथाऽभ्यासापेक्षया व्यतिरेककल्पना। विक्रयादिकरणेषु तु स्वामिनो मूल्यं, राज्ञे दण्डश्चेत्यवसेयम्। भाण्ड(ट) केनार्पणमपक्रयः। आधमनमाधानम्। स्पष्टमन्यत्। विश्व. २।२४४

(२) साहसप्रसङ्गात्तत्सदृशापराधेषु निर्णेजकादीनां दण्डमाह— वसानस्त्रीनिति। नेजको वस्त्रस्य धावकः स यदि निर्णेजनार्थं समर्पितानि वासांसि स्वयमाच्छादयति तदा असौ पणत्रयं दण्ड्यः। यः पुनस्तानि विक्रीणीते, अवक्रयं वा, एतावत्कालमुपभोगार्थं वस्त्रं दीयते मह्यमेतावद्धनं देयमित्येवं भाटकेन यो ददाति, आधित्वं वा नयति, स्वसुहृद्भ्यो याचितं वा ददाति, असौ प्रत्यपराधं दशपणान् दण्डनीयः। तानि च वस्त्राणि श्लक्ष्णशाल्मलीफलके क्षालनीयानि न पाषाणे, न च व्यत्यसनीयानि, न च स्वगृहे वासयितव्यानि, इतरथा दण्ड्यः। 'शाल्मलीफलके श्लक्ष्णे निज्याद्वासांसि नेजकः। न च वासांसि वासोभिर्निर्हरेन्न च वासयेत्॥' इति मनुस्मरणात् (मस्मृ. ८।३९६)। यदा पुनः प्रमादात्तानि नाशयति तदा नारदेनोक्तं द्रष्टव्यम्— 'मूल्याष्टभागो हीयेत सकृद्धौतस्य वाससः। द्विः पादस्त्रिस्तृतीयांशश्चतुर्धौतेऽर्धमेव च॥ अर्धक्षयात्तु परतः पादांशापचयः क्रमात्। यावत्क्षीणदशं जीर्णं जीर्णस्यानियमः क्षये॥' इति। अष्टपणक्रीतस्य सकृद्धौतस्य वस्त्रस्य नाशितस्याष्टमभागपणोनं मूल्यं देयम्। द्विर्धौतस्य तु पादोनं पणद्वयोनं, त्रिर्धौतस्य पुनस्तृतीयांशन्यूनम्। चतुर्धौतस्यार्धं पणचतुष्टयं देयम्। ततः परं प्रतिनिर्णेजनमवशिष्टं मूल्यं पादाद्यपचयेन देयं यावज्जीर्णम्। जीर्णस्य पुनर्नाशितस्येच्छातो मूल्यदानकल्पनम्। *मिता.

(३) अवक्रयोऽत्र भाटकम्। आधानं बन्धकम्। याचितं सुहृदे याचितस्य दानम्। ×विर.३१४

अप्रकाशतस्करदण्डाः

**बन्दिग्राहांस्तथा वाजिकुञ्जराणां च हारिणः।**
**प्रसह्य घातिनश्चैव शूलमारोपयेन्नरान्॥**

\+ अप. मितावद्भावः। * शेषं मितावत्।

(१) **यास्मृ.** २।२३८; **अपु.** २५८।३३ याव (याप); **विश्व.** २।२४४ दण्ड्यो ने (दाप्यो र) याव (याप); **मिता.**; **अप.** दण्ड्यो (दाप्यो); **व्यक.** ११३ अपवत्; **विर.** ३१३ अपवत्; **पमा.** ४५५; **दीक.** ५३ नेज (रज); **विचि.** १३१ अपवत्; **दवि.** ११३ अपवत्; **नृप्र.** २७०; **वीमि.** अपवत्; **व्यप्र.** २८९; **व्यम.** ८५; **विता.** ५६९ परां (वरां): ७६४; **राकौ.** ४९२ दण्ड्यो ने (दाप्यो र); **सेतु.** २३२-३ राकौवत्; **समु.** ९०.

* अप., वीमि. मितावत्। × विचि., दवि. विरवत्।

(१) **यास्मृ.** २।२७३; **अपु.** २५८।६१-२; **विश्व.** २।२७७; **मेधा.** ८।३४२; **मिता.** शूलमा (शूलाना); **अप.**; **व्यक.** ११४; **स्मृच.** ३१२ मितावत्, स्मृत्यन्तरम्; **विर.** ३२० ग्रा (ग्र); **पमा.** ४४१ घातिन (घातकां) रान् (रः) शेषं मितावत्; **रत्न.** १२६ मितावत्; **विचि.** १३५ विरवत्; **व्यनि.** ५०९ नश्चै (नं चै); **दवि.** १३० विरवत्; **नृप्र.** २६३; **सवि.** ४५८ बन्दिग्रा (बन्दीग्र) वाजि (राज) शेषं मितावत्: **वीमि.**; **व्यप्र.** २८९ रान् (रः)

(१) चोरादिविशेषे तु वधप्रकारमाह — बन्दिग्राहांस्तथेति । तथाशब्दः प्रकारार्थः । नरवचनमब्राह्मणार्थम् । स्पष्टमन्यत् । विश्व. २।२७७

(२) अपराधविशेषेण दण्डविशेषमाह— बन्दिग्राहांस्तथेति । बन्दिग्राहादीन् बलावष्टम्भेन घातकांश्च नरान् शूलानारोपयेत् । अयं च वधप्रकारविशेषोपदेशः । 'कोष्ठागारायुधागारदेवतागारभेदकान् । हस्त्यश्वरथहर्तृंश्च हन्यादेवाविचारयन् ॥' इति मनुस्मरणात् ( मस्मृ. ९।२८० ) । मिता.

(३) शूलारोपणं च वधपर्यन्तम् । प्रसह्य घातिनो जनसमक्षं मनुष्यादिहन्तारः । अप.

(४) मिताटीका— ननु 'शूलानारोपयेन्नरान्' इत्यनेन बन्दिग्राहादीनां शूलारोपणमात्रं प्रतीयते न वधः । ततश्च 'श्रोत्रियायोपकल्पयेत्' इत्यत्र यथा विधिसिद्धिस्तथा शूलारोपणमात्रेणैव विधिसिद्धेस्तन्मात्रमेव कृत्वा पुनरुत्तरणीया न वध्याः स्युरित्यत आह । अयं च वधप्रकार इति । अग्न्यगारेति मनुवचनेनैवैतेषामपि वधसिद्धौ केन प्रकारेण वध इत्याकाङ्क्षायां शूलारोपणरूपवधप्रकारविशेषोऽस्मिन् वचने विधीयत इत्यर्थः । *सुबो.

(५) बन्दीकृत्य धनवतः पुरुषान् गृह्णन्ति तान् बन्दिग्राहान् अश्वगजान्यतरहारिणो बलान्मनुष्यघातिनश्च चौरान् नरान् शूले वधार्थमारोपयेत् । वीमि.

**उत्क्षेपकग्रन्थिभेदौ करसंदंशहीनकौ ।**
**कार्यौ द्वितीयापराधे करपादैकहीनकौ ॥**

(१) द्रव्यादिविशेषापेक्षया तु— 'उत्क्षेपकग्रन्थिभेदौ करसंदंशहीनकौ । कार्यौ द्वितीयेऽपराधे करपादैकहीनकौ ॥' उत्क्षेपकः पटाक्षेपकः । ग्रन्थिभेदको ग्रन्थिभेत्ता । तावुभावपि करसंदंशहीनौ प्रथमेऽपराधे कार्यौ । करसंदंशोऽङ्गुलयः, तद्धीनौ । यद्वा करसंपुटः करसंदंशः, तद्धीनौ । अन्यतरहस्तच्छेदनमित्यर्थः । द्वितीयेऽपराधे त्वेको हस्तः पादश्च । स्पष्टमन्यत् ।
विश्व. २।२७८

(२) वस्त्राद्युत्क्षिपति अपहरतीत्युत्क्षेपकः । वस्त्रादिबद्धं स्वर्णादिकं विस्रस्योत्कृत्य वा योऽपहरति असौ ग्रन्थिभेदः । तौ यथाक्रमं करेण संदंशसदृशेन तर्जन्याङ्गुष्ठेन च हीनौ कार्यौ । द्वितीयापराधे पुनः, करश्च पादश्च करपादं तच्च तदेकं च करपादैकं तद्धीनं ययोस्तौ करपादैकहीनकौ कार्यौ । उत्क्षेपकग्रन्थिभेदकयोरेकमेकं करं पादं च छिन्द्यादित्यर्थः । एतदप्युत्तमसाहसप्रातियोग्यद्रव्यविषयम् । 'तदङ्गच्छेद इत्युक्तो दण्ड उत्तमसाहसः' इति नारदवचनात् । तृतीयापराधे तु वध एव । तथा च मनुः— 'अङ्गुलीर्ग्रन्थिभेदस्य छेदयेत्प्रथमे ग्रहे । द्वितीये हस्तचरणौ तृतीये वधमर्हति ॥' इति (मस्मृ. ९।२७७) । *मिता.

(३) योऽङ्गुष्ठाङ्गुलिभ्यां परस्वमुत्क्षिपति अपहरति, यश्च ग्रन्थिं भिनत्ति, तौ करसंदंशेनाङ्गुष्ठाङ्गुलिभ्यामपराधहेतुभूताभ्यां हीनौ कार्यौ । द्वितीयेऽपराध एकेन करेणैकेन च पादेन हीनौ कार्यौ । अप.

(४) करसंदंशः कराङ्गुष्ठप्रदेशिन्यौ, करसंदंशस्य भेदो ययोस्तौ तथेति व्यधिकरणेऽपि बहुव्रीहिः ।
विर. ३२१

(५) यश्चौरार्थं परपशूनभ्याजयति बन्धनविमोक्षं वा तेषां करोति तस्याङ्गुष्ठतर्जन्यौ छेद्ये इत्यर्थः ।
विचि. १३७

(६) अत्र मिताक्षराकारः— एतद्वचनमुत्तमसाहसप्रातियोग्यापहारविषयम् । 'तदङ्गच्छेद इत्युक्तो दण्ड उत्तमसाहसः' इति नारदवचनादित्याह । तच्चिन्त्यं, 'तन्मूल्याद्द्विगुणो दण्ड' इत्यादौ साहसप्रकरणीये वाक्ये प्रथमसाहसादिसामान्यदण्डविधानमपहारव्यतिरिक्तविषय-

---

* बाल. सुबोवत् ।

शेषं मितावत्; **व्यउ.** १२७ व्यप्रवत्; **व्यम.** १०३ मितावत्; **विता.** ७५१ ग्रा ( ग्र ) शेषं मितावत्; **सेतु.** २३७; **समु.** १४६ मितावत्, स्मृत्यन्तरम्; **विव्य.** ५२ रिणः ( रकः ) घातिन ( ग्राहिण ).

(१) **यास्मृ.** २।२७४; **अपु.** २५८।६२-३; **विश्व.** २।२७८ या ( येऽ ); **मिता.**; **अप.**; **व्यक.** ११४ संदंश ( नासावि ); **विर.** ३२१ दंशहीन ( दंशभेद ) या ( ये ); **रत्न.** १२४; **विचि.** १३७ दंशहीन ( दंशभेद ) पू.; **दवि.** १३३ विश्ववत्; **नृप्र.** २६३ दैक ( देन ); **सवि.** ४६१ पू.; **वीमि.**; **व्यप्र.** ३८८; **व्यउ.** १२६; **व्यम.** १०२ पादैक ( पादवि ); **विता.** ७८२; **समु.** १५०.

* वीमि. मितावत् ।

मिति स्वोक्तिविरोधात् ।

विमांसविक्रयादावसाहसेऽपि याज्ञवल्क्येन करादिच्छेदस्य विधानात् । नारदवचनस्य विषयान्तरेषु चरितार्थत्वात् तस्य सामान्यमुखप्रवृत्तत्वेन दण्डविशेषानवरुद्धविषयकत्वाच्च ।

तथा हि तदङ्गं साहसकरणभूतमङ्गमिति सर्वेषु निबन्धेषु व्याख्यातम् । न चोत्क्षेपकग्रन्थिभेदौ संदंशमात्रसाध्यौ न वा पादस्य तत्रोपयोगो दण्डसमुच्चयश्च वचनाभावेऽनुबन्धगौरवाद्यभावे च दुर्वच एव प्रमाणाभावात् । संदंशादिच्छेदविधेरुपस्थितेन ग्रन्थिभेदोत्क्षेपलक्षणेन निमित्तेनान्वये निमित्तान्तरानपेक्षितत्वाच्च । दवि. १३३-४

(७) अङ्गुष्ठतर्जन्योर्ग्रन्थिमोचने साधकतमत्वेनात्र संदंशशब्देन तयोर्ग्रहणम् । व्यप्र. ३८८

स्तेये दण्डविवेकसाधनो न्यायः, स्तेयप्रकाराश्च

**क्षुद्रमध्यमहाद्रव्यहरणे सारतो दमः ।**
**देशकालवयःशक्ति संचिन्त्यं दण्डकर्मणि ॥**

(१) यश्चायमुक्तः शारीरो दण्डः, यश्च स्मृत्यन्तरोक्तो धनदण्डः, तत्र सर्वत्र साधारणोऽयं न्यायबीजसंक्षेपः— क्षुद्रमध्येति । अन्यत्रापीति शेषः ।

विश्व. २।२७९

(२) जातिद्रव्यपरिमाणतो मूल्याद्यनुसारतो दण्डः कल्पनीय इति जातिद्रव्यपरिमाणपरिग्रहविनियोगवयःशक्तिगुणदेशकालादीनां दण्डगुरुलघुभावकारणानामानन्त्यात्प्रतिद्रव्यं वक्तुमशक्तेः सामान्येन दण्डकल्पनोपायमाह— क्षुद्रमध्येति । क्षुद्राणां मध्यमानामुत्तमानां च द्रव्याणां हरणे सारतो मूल्याद्यनुसारतो दण्डः कल्पनीयः । क्षुद्रादिद्रव्यस्वरूपं च नारदेनोक्तम्— 'मृद्भाण्डासनखट्वास्थिदारुचर्मतृणादि यत् । शमीधान्यं कृतान्नं च क्षुद्रं द्रव्यमुदाहृतम् ॥ वासः कौशेयवर्जं च गोवर्जं पशवस्तथा । हिरण्यवर्जं लोहं च मध्यं व्रीहियवा अपि ॥ हिरण्यरत्नकौशेयस्त्रीपुङ्गोगजवाजिनः । देवब्राह्मणराज्ञां च द्रव्यं विज्ञेयमुत्तमम् ॥' त्रिप्रकारेष्वपि द्रव्येष्वौत्सर्गिकः प्रथममध्यमोत्तमसाहसरूपो दण्डनियमस्तेनैव दर्शितः— 'साहसेषु य एवोक्तस्त्रिषु दण्डो मनीषिभिः । स एव दण्डः स्तेयेऽपि द्रव्येषु त्रिष्वनुक्रमात् ॥' इति । मृन्मयेषु मणिकमल्लिकादिषु गोवाजिव्यतिरिक्तेषु च महिषमेषादिपशुषु ब्राह्मणसंनिधिषु च कनकधान्यादिषु तरतमभावोऽस्तीति उच्चावचदण्डविशेषाकाङ्क्षायां मूल्याद्यनुसारेण दण्डः कल्पनीयः ।

तत्र च दण्डकर्मणि दण्डकल्पनायां तद्धेतुभूतं देशकालवयःशक्तीति सम्यक् चिन्तनीयम् । एतच्च जातिद्रव्यपरिमाणपरिग्रहादीनामुपलक्षणम् । तथाहि— 'अष्टापाद्यं स्तेयकिल्बिषं शूद्रस्य । द्विगुणोत्तराणीतरेषां प्रतिवर्णम् । विदुषोऽतिक्रमे दण्डभूयस्त्वम् ।' इति (गौध. १२।१२-१४)। अयमर्थः— किल्बिषशब्देनात्र दण्डो लक्ष्यते । यस्मिन्नपहारे यो दण्ड उक्तः स विद्वच्छूद्रकर्तृकेऽपहारेऽष्टगुण आपादनीयः । इतरेषां पुनर्विट्क्षत्रब्राह्मणादीनां विदुषां स्तेये द्विगुणोत्तराणि किल्बिषाणि षोडशद्वात्रिंशच्चतुःषष्टिगुणा दण्डा आपादनीयाः । यस्माद्विद्वच्छूद्रादिकर्तृकेष्वपहारेषु दण्डभूयस्त्वम् । मनुनाऽप्ययमेवार्थो दर्शितः— 'अष्टापाद्यं तु शूद्रस्य स्तेये भवति किल्बिषम् । षोडशैव तु वैश्यस्य द्वात्रिंशत्क्षत्रियस्य तु ॥ ब्राह्मणस्य चतुःषष्टिः पूर्णं वाऽपि शतं भवेत् । द्विगुणा वा चतुःषष्टिस्तद्दोषगुणवेदिनः ॥' इति (मस्मृ. ८।३३७-८)। तथा परिमाणकृतमपि दण्डगुरुत्वं दृश्यते । यथाह मनुः— 'धान्यं दशभ्यः कुम्भेभ्यो हरतोऽभ्यधिकं वधः । शेषेष्वेकादशगुणं दाप्यस्तस्य च तद्धनम् ॥' इति (मस्मृ. ८।३२०)। विंशतिद्रोणकः कुम्भः । हर्तुर्ह्रियमाणस्वामिगुणापेक्षया सुभिक्षदुर्भिक्षकालाद्यपेक्षया ताडनाङ्गच्छेदनवधरूपा दण्डा योज्याः । तथा संख्याविशेषादपि दण्डविशेषो रत्नादिषु— 'सुवर्णरजतादीनामुत्तमानां च वाससाम् । रत्नानां चैव सर्वेषां शतादभ्यधिके वधः ॥ पञ्चाशतस्त्वभ्यधिके हस्तच्छेदनमिष्यते । शेषेष्वेकादशगुणं मूल्याद्दण्डं प्रकल्पयेत् ॥' (मस्मृ. ८।३२१-२)। तथा द्रव्यविशेषादपि 'पुरुषाणां कुलीनानां नारीणां वा विशेषतः । रत्नानां चैव सर्वेषां हरणे वधमर्हति ॥'

(१) यास्मृ. २।२७५; विश्व. २।२७९; मिता.; अप.; व्यक. ११५ उत्तरार्धे ( देशं कालं वयः शक्तिं संचिन्त्य दण्डकर्मणि ); विर. ३२८ व्यकवत्; स्मृचि. २५ देश......क्ति ( देशं कालं वयः शक्तिः ); दवि. १४२ व्यकवत्; वीमि.; विता. ७८४ क्ति ( क्तिः ) न्त्यं ( न्त्य ); समु. १५१.

(मस्मृ. ८।३२३)। अकुलीनानां तु दण्डान्तरम्—'पुरुषं हरतो दण्डः प्रोक्त उत्तमसाहसः। स्त्र्यपराधे तु सर्वस्वं कन्यां तु हरतो वधः॥' इति। क्षुद्रद्रव्याणां तु माषतो न्यूनमूल्यानां मूल्यात्पञ्चगुणो दमः। 'काष्ठभाण्डतृणादीनां मृन्मयानां तथैव च। वेणुवैणवभाण्डानां तथा स्नाय्वस्थिचर्मणाम्॥ शाकानामार्द्रमूलानां हरणे फलमूलयोः। गोरसेक्षुविकाराणां तथा लवणतैलयोः॥ पक्वान्नानां कृतान्नानां मत्स्यानामामिषस्य च। सर्वेषां मूल्यभूतानां मूल्यात्पञ्चगुणो दमः॥' इति नारदस्मरणात्।

यः पुनः प्रथमसाहसः क्षुद्रद्रव्येषु शतावरः पञ्चशतपर्यन्तोऽसौ माषमूल्ये तदधिकमूल्ये वा यथायोग्यं व्यवस्थापनीयः। यत् पुनर्मानवं क्षुद्रद्रव्यगोचरवचनं 'तन्मूल्याद्द्विगुणो दम' इति तदल्पप्रयोजनशरावादिविषयम्। तथाऽपराधगुरुत्वादपि दण्डगुरुत्वम्। यथा—'संधिं भित्त्वा तु ये चौर्यं रात्रौ कुर्वन्ति तस्कराः। तेषां छित्त्वा नृपो हस्तौ तीक्ष्णशूले निवेशयेत्॥' इत्येवं सर्वेषामानन्त्यात्प्रतिद्रव्यं वक्तुमशक्तेर्जातिपरिमाणादिभिः कारणैर्दण्डगुरुलघुभावः कल्पनीयः। पथिकादीनां पुनरल्पापराधे न दण्डः। यथाह मनुः—'द्विजोऽध्वगः क्षीणवृत्तिर्द्वाविक्षू द्वे च मूलके। आददानः परक्षेत्रान्न दण्डं दातुमर्हति॥' (मस्मृ. ८।३४१)। तथा—'चणकव्रीहिगोधूमयवानां मुद्गमाषयोः। अनिषिद्धैर्ग्रहीतव्यो मुष्टिरेकः पथि स्थितैः॥ तथैव सप्तमे भक्तं भक्तानि षडनश्नता। अश्वस्तनविधानेन हर्तव्यं हीनकर्मणः॥' इति (मस्मृ. ११।१६)। ×मिता.

(३) क्षुद्रद्रव्याणि मृद्भाण्डादीनि, मध्यमानि वस्त्रादीनि, महाद्रव्याणि हिरण्यादीनि, तेषां सारतो यथासारं दमो धनापहाराङ्कनगात्रच्छेदवधात्मा चौराणां कल्प्यः। देशश्च कालश्च वयश्च शक्तिश्च देशकालवयःशक्ति। एतत्सर्वं दण्डे कार्ये ब्राह्मणैः सह नृपेण चिन्तनीयम्। *अप.

(४) मिताटीका— परिग्रहविनियोगेति। 'ब्राह्मणपरिगृहीतायाः गोर्हरणेऽधिको दण्डः' इति। ब्राह्मणपरिग्रहो अधिकदण्डकारणं तथा सा गौर्दोहाय, यद्यग्निहोत्रे विनियुक्ता तस्या हरणे ततोऽप्यधिको दण्ड इति विनियोगोऽप्यधिकदण्डकारणम्। एवंविधपरिग्रहविनियोगयोरभावो न्यूनदण्डकारणं इत्यवबोद्धव्यम्। 'साहसेषु य एवोक्त' इत्यनेन नारदवचनेन क्षुद्रमध्यमोत्तमद्रव्यापहारेष्वविशेषेण यथाक्रमं प्रथममध्यमोत्तमसाहसदण्डप्राप्तौ विशेषप्रापकं मूलवचनं पूर्वार्धं तात्पर्यतो व्याचष्टे। मृन्मयेषु मणिमल्लिकादिष्विति। अत्र मृन्मयेष्वितीति क्षुद्रस्य द्रव्यस्योपलक्षकम्। 'गोव्यतिरिक्तेष्वि'ति मध्यमस्य, 'ब्राह्मणसंबन्धिष्वि'ति उत्तमस्येति विवेकः। मूल्याद्यनुसारेण दण्डः कल्पनीय इत्युक्तम्। तत्रादिशब्दवाच्यान् प्रदर्शयिषुर्मूलवचनस्योत्तरार्धं व्याचष्टे। तत्र दण्डकल्पनायामिति।

नन्वत्र वचन उपात्ता देशकालवयःशक्तय एव किं दण्डकल्पनायां हेतव इत्याशङ्क्य नैवमपि तु हेत्वन्तराण्यप्यनेन देशादिकेनोपलक्ष्यन्ते इत्याह। एतच्च जातिद्रव्येति। जात्यपेक्षया गुणापेक्षया च दण्डविधिं दर्शयति। तथा ह्यष्टापाद्यमिति। विट्क्षत्रियब्राह्मणादीनामिति। अत्र 'विदुषामि'त्येतत् विट्क्षत्रियादिविशेषणम्। शूद्रत्वद्विजात्यपेक्षया विद्वत्त्वरूपगुणापेक्षया च दण्डविधानमिति जातिगुणापेक्षा।

ननु 'हरतोऽभ्यधिकं वध' इति मनुना वधदण्डोऽभिहितः। वधशब्देन च ताडनादिप्राणवियोजनान्ता व्यापाराः कथ्यन्ते। ते सर्वत्र समुचिता एव प्रयोक्तव्या इत्यत आह। हर्तुर्ह्रियमाणेति। हर्तुर्गुणापेक्षया ह्रियमाणस्य द्रव्यस्वामिनो गुणापेक्षया चेत्यर्थः।

द्विजोऽध्वगः क्षीणवृत्तिरिति। क्षीणवृत्तिः क्षीणपाथेयः। अध्वगः पथिकः। द्विजो द्विजातिः। अध्वगक्षीणवृत्तिपदे द्विजविशेषणे। हीनकर्मण इति। हीनकर्मणोऽल्पाचाराद्धर्तव्यम्। न पुनरुत्कृष्टादित्यर्थः। *सुबो.

**चौरं प्रदाप्यापहृतं घातयेद्विविधैर्वधैः।**
**सचिह्नं ब्राह्मणं कृत्वा स्वराष्ट्राद्विप्रवासयेत्॥**

× वीमि. मितावद्भावः। * मितावद्भावः।

* बाल. सुबोवद्भावः।

(१) यास्मृ. २।२७०; अपु. २५८।५९; विश्व. २।२७४; मिता.; दा. २२४ पू.; अप. २।२७०: २।२७४ पू.; व्यक. ११६; विर. ३३१; पमा. ४४५ उत्त.; रत्न. १२५ पू.; विचि. १४३; व्यनि. ५०७ द्विप्र (दि प्र);

महापराधिनमपि ब्राह्मणं नैव घातयेत् ॥

(१) लोप्त्रादिभिश्चौर्ये स्पष्टीकृते— 'चोरं प्रदाप्यापहृतं घातयेद् विविधैर्वधैः ।' स्मृत्यन्तरोक्तदण्डैः शारीरैश्च नेत्राद्युद्धारलक्षणैः प्राणहरणशूलारोपणादिभिश्चेत्यभिप्रायः ।

एवमब्राह्मणम् । ब्राह्मणं तु कथं कुर्यात्— 'सचिह्नं ब्राह्मणं कृत्वा स्वराष्ट्राद् विप्रवासयेत् ।' सचिह्नं श्वपदाद्यङ्कितम् । स्पष्टमन्यत् । विश्व. २।२७४

(२) चौरे दण्डमाह— चौरमिति । यस्तु प्रागुक्तपरीक्षया तन्निरपेक्षं वा निश्चितचौर्यस्तं स्वामिने अपहृतं धनं स्वरूपेण मूल्यकल्पनया वा दापयित्वा विविधैर्वधैर्घातैर्घातयेत् । एतच्चोत्तमसाहसदण्डप्रातियोग्योत्तमद्रव्यविषयम् । न पुनः पुष्पवस्त्रादिक्षुद्रमध्यमद्रव्यापहारविषयम् । 'साहसेषु य एवोक्तस्त्रिषु दण्डो मनीषिभिः । स एव दण्डः स्तेयेऽपि द्रव्येषु त्रिष्वनुक्रमात् ॥' इति नारदवचनेन वधरूपस्योत्तमसाहसस्योत्तमद्रव्यविषये व्यवस्थापितत्वात् । यत्पुनर्वृद्धमनुवचनम्— 'अन्यायोपात्तवित्तत्वाद्धनमेषां मलात्मकम् । अतस्तान् घातयेद्राजा नार्थदण्डेन दण्डयेत् ॥' इति, तदपि महापराधविषयम् ।

चौरविशेषेऽपवादमाह— सचिह्नमिति । ब्राह्मणं पुनश्चौरं महत्यप्यपराधे न घातयेदपि तु ललाटेऽङ्कयित्वा स्वदेशान्निष्कासयेत् । अङ्कनं च श्वपदाकारं कार्यम् । तथा च मनुः— 'गुरुतल्पे भगः कार्यः सुरापाने सुराध्वजः । स्तेये च श्वपदं कार्यं ब्रह्महण्यशिराः पुमान् ॥' इति (मस्मृ. ९।२३७) । एतच्च दण्डोत्तरकालं प्रायश्चित्तमचिकीर्षतो द्रष्टव्यम् । यथाह मनुः— 'प्रायश्चित्तं तु कुर्वाणाः सर्वे वर्णा यथोदितम् । नाङ्क्या राज्ञा ललाटे तु दाप्यास्तूत्तमसाहसम् ॥' इति (मस्मृ. ९।२४०) । *मिता.

(३) इदं मध्यविधब्राह्मणपरम् । विचि. १४३

चौरान्वेषणम्

**ग्राहकैर्गृह्यते चौरो लोप्त्रेणाथ पदेन वा ।**
**पूर्वकर्मापराधी च तथा चाशुद्धवासकः ॥**

(१) यदि पुनः प्रत्येकं प्रतिग्रहादिना संभूयार्त्विज्यादिना वा कृच्छ्रार्जितं द्रव्यं कश्चिदपहृत्य गच्छेत् स कथं ज्ञातव्यः । ज्ञातस्य वा किं तस्य कर्तव्यमित्यपेक्षिते स्तेनस्वरूपनिरूपणायाह— ग्राहकैरिति । अपहृतद्रव्यस्वामिभिश्चोरत्वप्रतिपादनेन ग्राहकैर्गृह्यते चोरः । अथवा लोप्त्रेण अपहृतद्रव्येण, अपहरणदेशाद्वा निपुणैरुन्नीयमानेन पदेन, यद्वा पूर्वकर्मणा संभावितचौर्यापराधात्, तथाऽन्यैरपि स्मृत्यन्तरोक्तचोरत्वप्रतिपादकैर्वक्ष्यमाणैरशुद्धवासकादिभिः । अशुद्धो वासो यस्यासौ अशुद्धवासकः कुतस्त्योऽयमित्यविज्ञायमानो लुब्धवेश्यादिगृहनिवासी । विश्व. २।२७०

(२) तत्र तस्करग्रहणपूर्वकत्वाद्दण्डस्य ग्रहणस्य ज्ञानपूर्वकत्वात् ज्ञानोपायं तावदाह— ग्राहकैरिति । यश्चौरोऽयमिति जनैर्विख्याप्यते असौ ग्राहकै राजपुरुषैः स्थानपालप्रभृतिभिर्ग्रहीतव्यः । लोप्त्रेणापहृतभाजनादिना वा चौर्यचिह्नेन नाशदेशादारभ्य चौर्यपदानुसारेण वा ग्राह्यः । यश्च पूर्वकर्मापराधी प्राक् प्रख्यातचौर्यः । अशुद्धोऽप्रज्ञातो वासः स्थानं यस्यासावशुद्धवासकः सोऽपि ग्राह्यः । +मिता.

---

**नृप्र.** २६१ पू., २६२ उत्त.; **सवि.** ४६७ प्रवा ( निवा ) उत्त., मनुः; **वीमि.**; **व्यप्र.** ३९०; **व्यउ.** १२७ पू., १२८ उत्त.; **व्यम.** १०२; **विता.** ७९० पू., ७९२ उत्त.; **बाल.** २।८१ उत्त.; **सेतु.** २४४; **समु.** १५० पू., १५७ उत्त.

(१) **पमा.** ४४५. [ ( इदमुत्तरार्धं मुद्रितयाज्ञवल्क्यस्मृतिपुस्तकेषु नोपलभ्यते । मत्संगृहीतताडपत्रविलिखितपुस्तके तु वर्तते एव । व्याख्यातं चैतत् विज्ञानेश्वरेण । तस्य नासंमतमिति प्रतिभाति । मुद्रितमिताक्षरायां पुनर्नोपलभ्यते ) —इयं टिप्पणी पराशरमाधवे ४४५ पृष्ठे द्रष्टव्या ].

* अप., वीमि., व्यप्र., व्यम., विता. मितावत् ।

\+ व्यप्र., व्यउ., विता. मितावत् ।

(१) **यास्मृ.** २।२६६; **अपु.** २५८।५५ च तथा चा ( वा तथैवा ); **विश्व.** २।२७० धी च तथा चा ( धाद्वा तथैवा ); **मिता.**; **अप.**; **व्यक.** ११६ धी च तथा चा ( धात तथा वा ); **स्मृच.** ३१८ पू.; **विर.** ३३४; **पमा.** ४३६; **रत्न.** १२५; **स्मृचि.** २५ तथा चा (यथा वा); **नृप्र.** २६१ (=) धी च (धाच); **सवि.** ४५९ धी ( धे ); **वीमि.** तथा चा ( तथैवा ); **व्यप्र.** ३८५; **व्यउ.** १२३; **विता.** ७९० चा (वा); **राकौ.** ४८२ न वा ( न च ); **सेतु.** २४६ वीमिवत्; **समु.** १४९ वीमिवत्.

(३) चौरस्य दण्डनार्थं परिज्ञानोपायमाह — ग्राहकैरिति। ग्राहकैश्चौरग्रहणाधिकृतैः लोप्त्रादिना चौरो गृह्यते अवगम्यते। लोप्त्रमपहृतद्रव्यैकदेशः। पांसुकर्दमादिवर्ती पादाङ्कः पदं तस्य पुरुषस्य पादेन संमितम्। यस्य गृहं प्रति नष्टदेशादारभ्य पदपरम्परा जाता सोऽपि चौरः। अपहृतस्य गवादेः पदपरम्परा यस्य गृहं प्रति प्रवृत्ता सोऽपि चौरः। एतच्च चौर्याव्यभिचारिधर्मजातस्य प्रदर्शनार्थम्। तेन यन्नष्टावशिष्टं तण्डुलादि परस्परगृहे दृश्यते तस्यैकप्रकारकत्वे परस्परचौरत्वं श्रूयते। यश्च पूर्वं पूर्वं कृतेन चौर्यकर्मणाऽपराधीति ज्ञातः, यश्चाशुद्धवासको, न विद्यते शुद्धः समीचीनो वासो निवासस्थानं यस्य सोऽशुद्धवासकः, सोऽपि चौरः। अप.

(४) अशुद्धवासकः अपरिचितदेशवासः। +विर. ३३५

(५) यश्चानिश्चितवासस्थलः सोऽपि गृह्यते चौर्यकारित्वेन शङ्क्यते। +वीमि.

**[१]अन्येऽपि शङ्कया ग्राह्या जातिनामादिनिह्नवैः।**
**द्यूतस्त्रीपानसक्ताश्च शुष्कभिन्नमुखस्वराः॥**
**[२]परद्रव्यगृहाणां च पृच्छका गूढचारिणः।**
**निराया व्ययवन्तश्च विनष्टद्रव्यविक्रयाः॥**

+ शेषं मितावत्।

(१) याख्मृ. २।२६७; अपु. २५८।५६; विश्व. २।२७१; मिता.; अप. जातिनामा ( नामजात्या ); व्यक. ११६ शुष्कभिन्न ( भिन्नशुष्क ) शेषं अपवत्; विर. ३३४ व्यकवत्; पमा. ४३६; रत्न. १२५; स्मृचि. २५; नृप्र. २६१ (=); सवि. ४५९ न्ये ( न्यो ) ह्या ( ह्यः ); वीमि. अपवत्; व्यप्र. ३८५; व्यउ. १२३; विता. ७९० शङ्कया ( शङ्किता ); सेतु. २४६ व्यकवत्; समु. १४९.

(२) याख्मृ. २।२६८; अपु. २५८।५७; विश्व. २।२७२ णां ( णा ); मिता. ( क ) पृ ( प्र ); अप.; व्यक. ११६; विर. ३३५ पृ ( प्र ) या व्य ( यन्य ); पमा. ४३६ पृ ( प्र ); रत्न. १२५ या व्य ( यन्य ); स्मृचि. २५; नृप्र. २६१ णां च ( णां वा ) पृ ( प्र ); सवि. ४५९ णः ( भिः ); वीमि.; व्यप्र. ३८५ रत्नवत्; व्यउ. १२३; विता. ७९० रत्नवत्; सेतु. २४६ रत्नवत्; समु. १४९ विरवत्.

(१) लोप्त्रादिवच्च— अन्येऽपि शङ्कया ग्राह्या इति। प्रमाणान्तरमूलत्वादस्याः स्मृतेस्तदनुसारेणैव विविच्य व्याख्या कार्या। पदार्थास्तु निगदोक्ता एव। विश्व. २।२७१-२

(२) न केवलं पूर्वोक्ता ग्राह्याः किन्तु अन्येऽपि वक्ष्यमाणैर्लिङ्गैः शङ्कया ग्राह्याः। जातिनिह्नवेन नाहं शूद्र इत्येवंरूपेण, नामनिह्नवेन नाहं लपित्थ इत्येवंरूपेण, आदिग्रहणात्स्वदेशग्रामकुलाद्यपलापेन च लक्षिता ग्राह्याः। द्यूतपण्याङ्गनामद्यपानादिव्यसनेष्वतिप्रसक्तास्तथा 'कुतस्त्योऽसि त्वमि'ति चौरग्राहिभिः पृष्टो यदि शुष्कमुखो भिन्नस्वरो वा भवति तर्ह्यसावपि ग्राह्यः। बहुवचनात् स्विन्नललाटादीनां ग्रहणम्।

तथा ये निष्कारणं कियदस्य धनं किं वाऽस्य गृहमिति पृच्छन्ति, ये च वेषान्तरधारणेनात्मानं गूहयित्वा चरन्ति, ये च आयाभावेऽपि बहुव्ययकारिणः, ये वा विनष्टद्रव्याणां जीर्णवस्त्रभिन्नभाजनादीनामविज्ञातस्वामिकानां विक्रायकास्ते सर्वे चौरसंभावनया ग्राह्याः।

एवं नानाविधचौर्यलिङ्गान् पुरुषान् गृहीत्वा एते चौराः किं वा साधव इति सम्यक् परीक्षेत न पुनर्लिङ्गदर्शनमात्रेण चौर्यनिर्णयं कुर्यात्। अचौरस्यापि लोप्त्रादिचौर्यलिङ्गसंबन्धसंभवात्। यथाह नारदः—'अन्यहस्तात्परिभ्रष्टमकामादुत्थितं भुवि। चौरेण वा परिक्षिप्तं लोप्त्रं यत्नात्परीक्षयेत्॥' तथा— 'असत्याः सत्यसंकाशाः सत्याश्चासत्यसंनिभाः। दृश्यन्ते विविधा भावास्तस्मादुक्तं परीक्षणम्॥' *मिता.

(३) विनष्टद्रव्यविक्रयाः हृतद्रव्यैकदेशभूतद्रव्यविक्रयकर्तारः। विर. ३३५

**[१]गृहीतः शङ्कया चौर्ये नात्मानं चेद्विशोधयेत्।**
**दापयित्वा हृतं द्रव्यं चौरदण्डेन दण्डयेत्॥**

* अप., वीमि., व्यप्र., व्यउ., विता. मितावत्।

(१) याख्मृ. २।२६९; अपु. २५८।५८; विश्व. २।२७३; मिता. हृतं ( गतं ); अप. र्ये नात्मानं चेद्वि ( र्य आत्मानं चेन्न ); व्यक. ११७ नात्मानं चेद्वि ( आत्मानं चेन्न ); विर. ३३८ र्ये नात्मानं चेद्वि ( रो यद्यात्मानं न ) द्रव्यं ( दण्डं ); रत्न. १२५; दवि. ८४ चौर्ये ......... चेद्वि

(१) उक्तन्यायानुसारेण च--- 'गृहीतः शङ्कया चौर्ये नात्मानं चेद्विशोधयेत् । दापयित्वा हृतं द्रव्यं चोरदण्डेन दण्डयेत् ॥' स्मृत्यन्तरानुसारेण यथार्हं दण्डकल्पना । विश्व. २।२७३

(२) एवं चौर्यशङ्कया गृहीतेनात्मा संशोधनीय इत्याह--- गृहीतः शङ्कयेति । यदि चौर्यशङ्कया गृहीतस्तन्निस्तरणार्थमात्मानं न शोधयति तर्हि वक्ष्यमाण-धनदापनवधादिदण्डभाग् भवेत् । अतो मानुषेण तदभावे दिव्येन वा आत्मा शोधनीयः । ननु नाऽहं चौर इति मिथ्योत्तरे कथं प्रमाणं संभवति । तस्याभाव-रूपत्वात् । उच्यते । दिव्यस्य तावद्भावाभावगोचरत्वं 'रुच्या वाऽन्यतरः कुर्यात्' इत्यत्र प्रतिपादितम् । मानुषं पुनर्यद्यपि साक्षाच्छुद्धमिथ्योत्तरे न संभवति तथापि कारणेन संसृष्टे भावरूपमिथ्याकारणसाधनमुखेनाभावमपि गोचरयत्येव । यथा नाशापहारकाले अहं देशान्तरस्थ इत्यभियुक्तैर्भाविते चौर्याभावस्याप्यर्थात्सिद्धेः शुद्धिर्भव-त्येव । मिता.

(३) शङ्कया संदेहेन चौर्यविषयेण गृहीतोऽभियुक्तो यद्यात्मानं दिव्येन मानुषेण वा प्रमाणेन न शोधयेद् व्यपेतचौर्यशङ्कं न कुर्यात्, तदाऽपहृतं द्रव्यं दापयित्वा वक्ष्यमाणेन चौरदण्डेन दण्डनीयः । न चात्र वाच्यं चौरत्वेन आशङ्कितस्य प्रमाणानर्हता मिथ्यावादित्वा-दिति । यतो न मिथ्यावादित्वमात्रं साधनानर्हत्वे प्रयोज-कम् । किन्तु प्रथमवादिनोऽवष्टम्भाभियोक्तृत्वे सति । अतोऽत्र युक्तं यच्छङ्कितः प्रमाणं कुर्यादिति । न च चौर्याद्यभावे प्रमाणाभावः । तथा हि सति 'महाभियोगे-ष्वेतानि' 'रुच्या वाऽन्यतरः कुर्यात्' 'राजभिः शङ्कि-तानां च' इत्यादिवचनानि नैवाऽऽरभ्येरन् । न च वाच्यं मानुषप्रमाणानामभावो न साध्य इति । यस्माच्चौर्याद्य-भावाव्यभिचारिणं भावविशेषं साधयतां सिध्यत्येवाभाव-साधकत्वमपि । यथा यत्र कालेऽस्य द्रव्यं केनाप्यपहृतं तदा ततोऽपहारप्रदेशादतिदूरेऽहं व्यवस्थितो महता व्याध्यादिना क्लान्त इत्यादि भावयन् साधयत्येव आत्मनश्चौर्याद्यभावमिति । अत एव शङ्खः--- 'असाक्षि-प्रणिहिते दिव्यम्' इत्युक्त्वा 'अथवा मित्रैः सज्जनै-रात्मानं ना शोधयेदेव । स चेद्दण्ड्योऽर्थिनां चार्थं दापयेत् ।' इत्युक्तवान् । अप.

(४) तत्र न चौरत्वातिदेशः, अपि तु संसर्गादि-दर्शनेन चौरतया अभियुक्तस्य विचारवैमुख्यं चौरतामेव निश्चाययतीति युक्तं ततो हृतदापनम् । दवि. ८४

(५) अथशब्देन लोप्त्रलाभानन्तर्यार्थकेन तदसत्त्व एव पदचिह्नाद्यनुसरणमिति सूचयति । चकाराच्चौरप्रीतं तथाशब्देन निश्चितकुलादिकं च समुच्चिनोति । एवकारः पूर्वार्धेऽन्वितोऽन्यकोटिव्यवच्छेदार्थकतया निश्चयबोध-नार्थः । अपिकारेण चकारैश्च चौरभक्ताश्रयदानादि-कारिणो नानास्मृत्युक्तान् बहून् समुच्चिनोति । *वीमि.

स्तेनातिदेशः

**भक्तावकाशाग्न्युदकमन्त्रोपकरणव्ययान् ।**
**दत्त्वा चौरस्य वा हन्तुर्जानतो दम उत्तमः ॥**

(१) चौरोऽयं साहसिको वा प्रसह्य हन्तीत्येवं जानतश्चोरसाहसिकयोर्भक्तादिदानं कुर्वतो दण्ड उत्तम-साहसः । स्पष्टमन्यत् । विश्व. २।२८०

(२) अचौरस्यापि चौरोपकारिणो दण्डमाह—भक्तेति । भक्तमशनम् । अवकाशो निवासस्थानम् । अग्निश्चौरस्य शीतापनोदाद्यर्थः । उदकं तृषितस्य । मन्त्रः चौर्यप्रका-रोपदेशः । उपकरणं चौर्यसाधनम् । व्ययः अपहारार्थं देशान्तरं गच्छतः पाथेयम् । एतानि चौरस्य हन्तुर्वा दुष्टत्वं जानन्नपि यः प्रयच्छति तस्योत्तमसाहसो दण्डः ।

(यस्तु स्वमात्मानं न); नृप्र. २६१ द्रव्यं (दण्डं); वीमि. यें ...... चेद्वि ( र आत्मानं चेन्न ); विता. ७९२; राकौ. ४८२; समु. १५०.

* 'ग्राहकैर्गृह्यते' इत्यारभ्य प्रकृतश्लोकपर्यन्तं व्याख्यान-मिदम् ।

(१) यास्मृ. २।२७६; अपु. २५८।६३-४ वा हन्तुर्जा (हन्तुर्वा ज्ञा); विश्व. २।२८० वा हन्तुर्जा (हन्तुर्वा जा) दम (दण्ड); मिता.; अप. व्ययान् (व्ययम्) वा हन्तुर्जा (हर्तुर्वा जा); व्यक. ११७ दत्त्वा (कृत्वा) शेषं विश्ववत्; विर. ३३९ व्यकवत्; पमा. ४४६ मन्त्रो (शस्त्रो); विचि. १४५ व्यकवत्; दवि. ८१ विश्ववत्; सवि. ४६४ वा (चा); वीमि. विश्ववत्; व्यप्र. ३९१; व्यउ. १२९ भक्ता (भुक्ता) रण (रणे); विता. ७९४ हन्तु (हर्तु); सेतु. २४८ दत्त्वा (कृत्वा) दम (दण्ड) शेषं अपुवत्; समु. १५२ विश्ववत्.

चौरोपेक्षिणामपि दोषः— 'शक्ताश्च य उपेक्षन्ते तेऽपि तद्दोषभागिनः ।' इति नारदस्मरणात् । *मिता.

स्तेनालाभे हृतदानम्

**घातितेऽपहृते दोषो ग्रामभर्तुरनिर्गते ।**
**विवीतभर्तुस्तु पथि चौरोद्धर्तुरवीतके ॥**

(१) प्रयत्नेनान्विष्यमाणघातकचोराद्यनुपलब्धौ तु कथमिति— 'घातितापहृते दोषो ग्रामभर्तुरनिर्गते ।' पदादौ प्रयातचिह्न इति शेषः । 'विवीतभर्तुस्तु पथि ।' विवीताद्युपकण्ठ इति शेषः । तुशब्दोऽन्यस्यापि समर्थस्य यथासंनिधानं दोषवत्त्वज्ञापनार्थः । 'चोरोद्धर्तुरवीतके ।' पूर्वोक्ताद्यभावे चोरोद्धर्तुरेव दोषः । सर्वथा चाऽपहृतं द्रव्यं प्रयत्नेनान्विष्य राज्ञा लब्धव्यमित्यभिप्रायः । यद्वा अपहृते द्रव्ये घातिते च सद्रव्यके चोरे द्रव्यानुपलब्धौ कस्य दोष इत्यपेक्षिते ग्रामभर्तुरनिर्गत इत्यादि समानम् । विश्व. २।२७५

(२) चौरादर्शने अपहृतद्रव्यप्राप्त्युपायमाह— घातित इति । यदि ग्राममध्ये मनुष्यादिप्राणिवधो धनापहरणं वा जायते तदा ग्रामपतेरेव चौरोपेक्षादोषः तत्परिहारार्थं स एव चौरं गृहीत्वा राज्ञेऽर्पयेत् । तदशक्तौ हृतं धनं धनिने दद्याद्यदि चौरस्य पदं स्वग्रामान्निर्गतं न दर्शयति । दर्शिते पुनस्तत्पदं यत्र प्रविशति तद्विषयाधिपतिरेव चौरं धनं वाऽर्पयेत् । तथा च नारदः — 'गोचरे यस्य लुप्येत तेन चौरः प्रयत्नतः । ग्राह्यो दाप्योऽथवा शेषं पदं यदि न निर्गतम् ॥ निर्गते पुनरेतस्मान्न चेदन्यत्र पातितम् । सामन्तान् मार्गपालांश्च दिक्पालांश्चैव दापयेत् ॥' इति । विवीते त्वपहारे विवीतस्वामिन एव दोषः । यदा त्वध्वन्येव तद्भूतं भवत्यवीतके वा विवीतादन्यत्र क्षेत्रे तदा चौरोद्धर्तुर्मार्गपालस्य दिक्पालस्य वा दोषः । +मिता.

(३) विवीतं तृणादिप्रयोजनभूः । ÷अप.

(४) ग्रामः ग्रामाध्यक्षः । ग्रामग्रामबहिःसीमाभ्यन्तरतद्बहिःसीमाभ्यन्तरतद्बहिर्भूतदेशेषु चोरितं राज्ञा ग्रामरक्षकबहिःसीमारक्षकेभ्यो दापयितव्यम् । विर. ३४४

**स्वसीम्नि दद्याद्ग्रामस्तु पदं वा यत्र गच्छति ।**
**पञ्चग्रामी बहिः क्रोशाद्दशग्राम्यथवा पुनः ॥**

(१) असंनिहिते तु ग्रामभर्तरि— 'स्वसीम्नि दद्याद् ग्रामस्तु पदं वा यत्र गच्छति । पञ्चग्रामी बहिः कुष्टाद् दशग्राम्यपि वा तथा ॥' स्वशब्दो धनज्ञात्यर्थः । यत्र द्विपदचतुष्पदाद्यनवरतं संचरति, सा स्वसीमा । स्पष्टमन्यत् । विश्व. २।२७६

(२) यदा पुनर्ग्रामाद्बहिः सीमापर्यन्ते क्षेत्रे मोषादिकं भवति तदा तद्ग्रामवासिन एव दद्युः, यदि सीम्नो बहिश्चौरपदं न निर्गतम् । निर्गते पुनर्यत्र ग्रामादिके चौरपदं प्रविशति स एव चौरार्पणादिकं कुर्यात् । यदा त्वनेकग्राममध्ये क्रोशमात्राद्बहिः प्रदेशे घातितं मुषितं वा, चौरपदं च जनसंमर्दादिना भग्नं, तदा पञ्चानां ग्रामाणां समाहारः पञ्चग्रामी दशग्रामसमाहारो दशग्रामी वा दद्यात् । विकल्पवचनं तु यथा तत्प्रत्यासत्त्यपहृतधनप्रत्यर्पणादिकं कुर्यादित्येवमर्थम् । यदा त्वन्यतोऽपहृतं द्रव्यं दापयितुं न शक्नोति तदा स्वकोशादेव राजा दद्यात् । 'चौरहृतमवजित्य यथास्थानं गमयेत् स्वकोशाद्वा दद्यात्' इति गौतमस्मरणात् (गौध. १०।४६-७) । मुषितामुषितसंदेहे मानुषेण दिव्येन वा निर्णयः कार्यः । 'यदि तस्मिन् दाप्यमाने भवेन्मोषे तु संशयः । मुषितः शपथं दाप्यो बन्धुभिर्वाऽपि साधयेत् ॥' इति वृद्धमनुस्मरणात् । मिता.

(३) ग्रामसीम्न्येव यदि मोषो भवति, तदा स एव ग्रामो मुषितं दद्यात् । यदि तु पदं चौरमार्गो ग्रामसीम्नो

---

* अप., वीमि. मितावत् । + वीमि. मितावत् ।

(१) **यास्मृ.** २।२७१; **अपु.** २५८।६० पू.; **विश्व.** २।२७५ तेऽप ( ताऽप ); **मिता.**; **अप.**; **व्यक.** ११८ तेऽपह ( तेऽथ हृ ); **विर.** ३४३ पूर्वार्धे (ग्रामेषु च भवेद्दोषो ग्रामभर्तुरवीक्षिते ।) स्तु ( श्च ) रोद्ध ( रथ ); **पमा.** ४४७; **व्यउ.** १२५; **विता.** ७९४-५; **समु.** १५२.

÷ शेषं मितावत् ।

(१) **यास्मृ.** २।२७२; **अपु.** २५८।६०-६१ म्यथा ( म्योऽथ ); **विश्व.** २।२७६ क्रोशा ... ... पुनः ( कुष्टाद् दशग्राम्यपि वा तथा ); **मिता.**; **अप.**; **विर.** ३४४ क्रोशाद् ( कुष्टा द ); **पमा.** ४४७; **नृप्र.** २६३ द्ग्रामस्तु ( द्भूयस्तु ) क्रो ( को ); **व्यउ.** १२५; **व्यम.** १०२; **विता.** ७९५ क्रमेण नारदः; **समु.** १५२.

बहिः कंचन ग्रामं प्रति यायात्तदा स एव ग्रामो दद्यात्। यदा तु क्रोशमात्रव्यवस्थितानामनेकेषां ग्रामाणां मध्ये चौर्यं भवति, तदा तुल्याध्वानः पञ्च ग्रामाः समाहृता मोषं दद्युः। यदा पुनर्दश ग्रामा मोषस्थानात्तुल्यान्तराला भवन्ति तदा दशाऽपि समाहृता हृतं दद्युः। अप.

(४) यदि पदं वा गच्छति, यदि तु पदमेव गच्छति, तदा तत्स्वामिभ्य एव, यदा तु बहिःसीमायां चौरोद्धर्ता न कृतः, समन्ततश्च तस्यां वधश्चोरणं वा कृतं, तदा तत्संनिहितग्रामे समाधेयं तत्, तत्र पञ्चत्वदशत्वयोः प्रायिकतयाऽनुवादः। विर. ३४४

(५) मिताटीका— विकल्पवचनं तु यथा तत्प्रत्यासत्तीति। अपहृतभूप्रदेशाद्ये ग्रामाः संनिहिता त एव दद्युर्न पुनः पञ्चग्राम्येव दशग्राम्येवेत्येवं नियम इति। नियमनिवृत्त्यर्थं अथवेति विकल्पवचनमित्यर्थः। सुबो.

स्तेयदोषप्रतिप्रसवः

बुभुक्षितस्त्र्यहं स्थित्वा धान्यमब्राह्मणाद्धरेत्।
प्रतिगृह्य तदाख्येयमभियुक्तेन धर्मतः॥

(१) दुस्तरत्वादेव चापदाम्— 'बुभुक्षितस्त्र्यहं स्थित्वा धनमब्राह्मणाद्धरेत्। प्रतिगृह्य तदाख्येयमभियुक्तेन धर्मतः॥' स्वरूपपरिमाणाद्यविप्रतिपत्त्येत्यर्थः। विश्व. ३।४३

(२) यदा कृष्यादीनामपि जीवनहेतूनामसंभवस्तदा कथं जीवनमित्यत आह— बुभुक्षित इति। धान्याभावेन त्रिरात्रं बुभुक्षितोऽनश्नन् स्थित्वा अब्राह्मणाच्छूद्रात्तदभावे वैश्यात् तदभावे क्षत्रियाद्वा हीनकर्मण एकाहपर्याप्तं धान्यमाहरेत्। यथाह मनुः— 'तथैव सप्तमे भक्ते भक्तानि षडनश्नता। अश्वस्तनविधानेन हर्तव्यं हीनकर्मणः॥' इति (मस्मृ.११।१६)। तथा च प्रतिग्रहोत्तरकालं यदपहृतं तद्धर्मतो यथावृत्तमाख्येयम्, यदि नाष्टिकेन स्वामिना त्वयेदं किं नामापहृतमित्यभियुज्यते। यथाह मनुः—'खलात्क्षेत्रादगाराद्वा यतो वाऽप्युपलभ्यते। आख्यातव्यं तु तत्तस्मै पृच्छते यदि पृच्छति॥' इति (मस्मृ. ११।१७)। मिता.

(३) बुभुक्षितोऽनश्नंस्त्र्यहं त्रिरात्रं यावदास्थाय ब्राह्मणव्यतिरिक्तस्य स्वामिनो धान्यं हरेच्चोरयेत्तच्च धान्यं प्रतिगृह्योपादाय, किमिति त्वयैतदस्मदीयं धान्यं गृहीतमित्याक्षिप्तेन धर्मतस्तथ्यमेव तस्य कथनीयम्। मया त्रिरात्रमभुञ्जानेन स्थितवता प्राणधारणार्थं भवदीयं धान्यमपहृतमिति। ×अप.

पुष्पे[१] शाकोदके काष्ठे तथा मूलफले तृणे।
अदत्तादानमेतेषामस्तेयं तु यमोऽब्रवीत्॥
तृणं[२] काष्ठं फलं पुष्पं प्रकाशं वै हरन् द्विजः।
गोब्राह्मणार्थं गृह्णन् वै न स पापेन लिप्यते॥

## नारदः

स्तेयलक्षणं स्तेयप्रकाराश्च

सहसा क्रियते कर्म यत्किञ्चिद् बलदर्पितैः।
तत् साहसमिति प्रोक्तं सहो बलमिहोच्यते*॥
तस्यैव भेदः स्तेयं स्याद्विशेषस्तत्र तूच्यते।
आधिः साहसमाक्रम्य स्तेयमाधिश्छलेन तु*॥
तदपि[३] त्रिविधं प्रोक्तं द्रव्यापेक्षं मनीषिभिः।
क्षुद्रमध्योत्तमानां तु द्रव्याणामपकर्षणात्॥

(१) अपकर्षणमपहरणम्। दवि. १४०

(२) तदपि स्तेयं द्रव्यापेक्षं त्रिविधं ऊनमध्यमोत्तमम्। क्षुद्रद्रव्यापकर्षणादल्पं, मध्यमद्रव्यापकर्षणान्मध्यमं, उत्तमद्रव्यापकर्षणादुत्तमम्। नाभा. १५।१२ (पृ. १६१)

(१) **यास्मृ.** ३।४३; **विश्व.** ३।४३ धान्य (धन); **मिता.**; **अप.** ३।४२ तदा (तथा); **वीमि.**

× वीमि. अपवत्।

* व्याख्यासंग्रहः स्थलादिनिर्देशश्च साहसप्रकरणे (पृ. १६४१) द्रष्टव्यः।

(१) **व्यनि.** ५१५; **समु.** १५२ पुष्पे (पुष्प) नारदः.

(२) **व्यनि.** ५१५; **समु.** १५२ हरन् (हरेत्) स्मृत्यन्तरम्.

(३) **नासं.** १५।१२ नीषि (हर्षि); **नास्मृ.** १७।१३; **व्यक.** १०९; **स्मृच.** ८ प्रोक्तं (ज्ञेयं) कर्षणात् (हारतः); **विर.** २८८-९; **पमा.** ४३६ प्रोक्तं (ज्ञेयं) उत्तरार्धे (क्षुद्रमध्यममुख्यानां द्रव्याणामपहारतः); **रत्न.** १२३; **व्यनि.** ५०२ उत्त.; **दवि.** १४० द्रव्या (सर्वा) तु (च); **व्यप्र.** ३८६ प्रोक्तं (ज्ञेयं); **व्यउ.** १२३ व्यप्रवत्; **विता.** ७७७ त्रि (द्वि) शेषं व्यप्रवत्; **समु.** १४८ स्मृचवत्.

[1]मृद्भाण्डासनखट्वास्थिदारुचर्मतृणादि यत् ।
शमीधान्यं कृतान्नं च क्षुद्रद्रव्यमुदाहृतम् ॥
[2]वासः कौशेयवर्जं च गोवर्जं पशवस्तथा ।
हिरण्यवर्जं लोहं च मध्यं व्रीहियवा अपि ॥
[3]हिरण्यरत्नकौशेयस्त्रीपुंगोगजवाजिनः ।
देवब्राह्मणराज्ञां च विज्ञेयं द्रव्यमुत्तमम् ॥

(१) **नासं.** १५।१३ शमीधान्यं (फलं चान्य); **नास्मृ.** १७।१४; **मिता.** २।२७५ (क) क्षुद्र (क्षुद्रं); **अप.** २।२७५ खट्वास्थिदारु (खड्गादि चारु); **व्यक.** १०९; **स्मृच.** ८; **विर.** २८८ यत् (कम्); **पमा.** ४३६ दारु (तन्तु) क्षुद्र (क्षुद्रं) हारीतः; **रत्न.** १२३; **व्यनि.** ५०२; **स्मृचि.** २५; **दवि.**१४० खट्वा (खर्वा) यत् (कम्); **सवि.** ४५५ शमीधान्यं (शिबिरान्नं) मनुः; **वीमि.** २।२७३ क्षुद्र (क्षुद्रं); **व्यप्र.** ३८५ क्षुद्र (क्षुद्रं); **व्यउ.** १२३; **व्यम.** १०१; **विता.** ७७५ स्थि (दि); **समु.** १४८ दारु (चारु).

(२) **नासं.** १५।१४ वर्जं च (वर्जं यद्); **नास्मृ.** १७।१५; **मिता.** २।२७५ वर्जं (वर्ज्यं); **अप.** २।२७५ वा अपि (वं तथा); **व्यक.** १०९; **स्मृच.** ८ वर्जं च (वर्जं तु) अपि (दि च); **विर.** २८८ अपि (यपि); **पमा.** ४३६ वर्जं च (वर्जं तु) मध्यं...अपि (मध्यव्रीहियवादिकम्) हारीतः; **रत्न.** १२३ अपि (दि च); **व्यनि.** ५०२; **स्मृचि.** २५; **दवि.** १४०; **सवि.** ४५५ मध्यं... अपि (मध्यमं व्रीहयस्तथा) मनुः; **वीमि.** २।२७३ गोवर्जं (गोचर्यं); **व्यप्र.** ३८५ रत्नवत्; **व्यउ.** १२३ रत्नवत्; **व्यम.** १०१ रत्नवत्; **विता.** ७७५ रत्नवत्; **समु.** १४८ स्मृचवत्.

(३) **नासं.** १५।१५ नः (नाम्) विज्ञेयं द्रव्य (द्रव्यं विज्ञेय); **नास्मृ.** १७।१६; **मिता.** २।२७५ (क) विज्ञेयं द्रव्य (द्रव्यं विज्ञेय), (ख) ज्ञेय (ज्ञेयं) विज्ञेयं द्रव्य (द्रव्यं विज्ञेय); **अप.** २।२७५ विज्ञेयं द्रव्य (द्रव्यं विज्ञेय); **व्यक.** १०९ ज्ञेय (ज्ञेयं) गो (सौ); **स्मृच.** ८; **विर.** २८८ ज्ञेय (ज्ञेयं) गो (सौ) शेषं अपवत्; **पमा.** ४३६ गो (स) हारीतः; **रत्न.** १२३ ण्यरत्न (ण्यं रक्त) ज्ञेय (ज्ञेयं); **व्यनि.** ५०२ ण्य (ण्यं) ज्ञेय (ज्ञेयं); **स्मृचि.** २५; **दवि.** १४० विरवत्; **सवि.** ४५५ गो (सा) नः (भिः) शेषं अपवत्, मनुः; **वीमि.** २।२७३ अपवत्; **व्यप्र.** ३८५ ण्य (ण्यं); **व्यउ.** १२३ ज्ञेय (ज्ञेयं); **व्यम.** १०१ ज्ञेय (ज्ञेयं); **विता.** ७७५ ण्य (ण्यं) ज्ञेय (ज्ञेयं); **समु.** १४८ गो (स).

[1]उपायैर्विविधैरेषां छलयित्वाऽपकर्षणम् ।
सुप्तमत्तप्रमत्तेभ्यः स्तेयमाहुर्मनीषिणः ॥

(१) शमीधान्यं शिम्बिधान्यं माषमुद्गादि । कृतान्नं सिद्धान्नम् । कौशेयमतसीमयम् । हिरण्यं सुवर्णं रजतं च । अप. २।२७५

(२) शमीधान्यं शिम्ब्यां भवं मुद्गादि । लोहशब्दो धातुपरः । मध्यमिति मध्यमद्रव्यमित्यर्थः । उपायैः कूटतुलनसंधिभेदनादिभिः । छलयित्वा गोपयित्वा । अपकर्षणं अपहरणम् । विर. २८८

(३) मृद्भाण्डेति । मृन्मयं घटादि, आसनं पीठिका, खट्वा, अस्थि कङ्कतादि, काष्ठचर्मतृणादि, माषादिफलं, पक्वान्नादि, क्षुद्रद्रव्याणि । एषामपहरणे प्रथमं स्तेयम् ।

वास इति । कौशेयादन्यद् वस्त्रम् । कौशेयपर्युदासात् तत उत्कृष्टपत्रपट्टोर्णादिव्युदासोऽर्थात् । गोवर्जमजादयः पशवः । गोवर्जनाद् हस्त्यादिवर्जितम् । हिरण्यवर्जितानि ताम्रायस्त्रपुसीसादीनि । अत्रापि मण्यादिपर्युदासो द्रष्टव्यः । व्रीहियवादि द्रव्यं, तेषां हरणे मध्यमस्तेयम् ।

हिरण्येति । गतार्थः श्लोकः । एतदपहरणादुत्तमस्तेयम् ।

उपायैरिति । उपायैर्विविधैः संदेशकूटलेख्यसंधिच्छेदग्रन्थिभेदाद्यैरेषां त्रिप्रकाराणां च वञ्चयित्वा स्वामिनोऽपहरणं सुप्तमत्तप्रमत्तेभ्यश्च त्रिप्रकारं स्तेयमाहुः । नाभा. १५।१३-६ (पृ. १६१-२)

तस्करप्रकाराः

[2]द्विविधास्तस्करा ज्ञेयाः परद्रव्यापहारिणः ।
प्रकाशाश्चाप्रकाशाश्च तान् विद्यादात्मवान् नृपः ॥

(१) **नासं.** १५।१६; **नास्मृ.** १७।१७ धैरेषां छल (धैः सर्वैः कल्प) मत्तप्र (प्रमत्त); **मिता.** २।२६६; **व्यक.** १०९ त्तेभ्यः (त्तेषु); **स्मृच.** ८ छल (वञ्च); **विर.** २८८ षां (वं); **पमा.** ४३५; **रत्न.** १२३; **व्यनि.** ५०२ स्मृचवत्; **स्मृचि.** २५; **नृप्र.** २६० छल (कल्प); **व्यप्र.** ३८५; **व्यउ.** १२३; **विता.** ७७५; **राकौ.** ४८२ रेषां (स्तेषां); **समु.** १४८.

(२) **नासं.** १९।५३; **नास्मृ.** २१।१ विधा (विन्धा).

परद्रव्यापहरणशीला द्विप्रकाराश्चोराः प्रच्छन्नाश्च प्रकाशाश्च । ते राज्ञा ज्ञेयाः ।

नाभा. १९।५३(पृ.१८१)

[1]प्रकाशवञ्चकास्तत्र कूटमानतुलाश्रिताः ।
उत्कोचकाः सोपधिकाः कितवाः पण्ययोषितः ॥

[2]प्रतिरूपकराश्चैव मङ्गलादेशवृत्तयः ।
इत्येवमादयो ज्ञेयाः प्रकाशास्तस्करा भुवि ॥

(१) नैगमादिच्छद्मना परद्रव्यापहारिणश्चेत् प्रकाशतस्करा न स्वरूपत इत्यवगन्तव्यम् । स्मृच.३१७

(२) सोपधिकाः ये भयमाशां वा दर्शयित्वा परस्य धनमपहरन्ति । कितवाः छद्मनाऽर्थहराः । मङ्गलादेशकारिणः अनादेश्यमङ्गलादेशद्वाराऽर्थहराः । इत्येवमादय इत्यादिपदेन वाक्यान्तरस्थप्रकाशतस्करग्रहणम् । विर. २९०

(३) प्रकाशेति । तत्र द्विप्रकाराणां मध्ये प्रकाशचोरा एते वक्ष्यमाणाः । कूटमानाश्रिताः कूटतुलाश्रिताश्च वणिजः, उत्कोदका उत्कोचभक्षाः राजकुलाद्याश्रिताः, सोपधिका विप्रलम्भकाः, कितवाश्च, वेश्याश्च ।

प्रतिरूपेति । कूटशासनकार्षापणविवर्णादिकराः, ज्योतिषनैमित्तिकेक्षणिकादयः । एवमादयः प्रकाशलोकचोराः । तत्र यत्नः कर्तव्यः प्रतिमासतुलाद्यवेक्षणादिना । नाभा. १९।५४-५(पृ.१८१)

[1]अप्रकाशास्तु विज्ञेया बहिरभ्यन्तराश्रिताः ।
सुप्तमत्तप्रमत्तार्तान् मुष्णन्त्याक्रम्य ये नराः ॥

[2]देशग्रामगृहघ्नाश्च पथिघ्ना ग्रन्थिमोचकाः ।
इत्येवमादयो ज्ञेया अप्रकाशास्तु तस्कराः ॥

अप्रकाशास्त्विति । प्रच्छन्नचोरास्तु बहिर्ग्रामादट्व्याद्याश्रिताः ग्रामजनपदनगरपथ्यन्तराश्रिताश्च, सुप्तादीनां केचिच्छद्मना, प्रसह्य केचित् । तान् विदित्वा निगृह्णीयात् ।

देशेति । देशघातका ग्रामघातका गृहघातकाश्च मार्गमुषः ग्रन्थिच्छेत्तार एवम्प्रकाराः प्रच्छन्नचोराः ।

नाभा. १९।५६-७ (पृ. १८१-२)

[3]तान् विदित्वा तु कुशलैश्चारैस्तत्कर्मवेदिभिः ।
अनुसृत्य तु गृह्णीयाद्गूढप्रणिहितैश्चरैः ॥

तानेवम्प्रकारान् बुद्ध्वा कुशलैश्चोरैः तत्कर्मकारिभिश्चोरव्यञ्जनैः पुराणचोरैश्चानुसृत्य गृह्णीयात् । अमुत्रासत इति तैश्चारयित्वा गृह्णीयात् । अथवा चोरव्यञ्जनास्तैः सहैकार्थीभूताश्चोराः कस्मिंश्चिद् गृहे फल्गु द्रव्यं तत्र निधाय तान् नीत्वा मोषयित्वा प्रत्ययमुत्पाद्य पुनः ग्रामान्तरेषु मनुष्यान् गूढान् निधाय तत्र प्रवेश्य ग्राहयेयुः । नाभा. १९।५८ (पृ.१८२)

प्रकाशतस्करदण्डाः

[4]लोह्यानामपि सर्वेषां हेतुरग्निः क्रियाविधौ ।
क्षयः संस्क्रियमाणानां तेषां दृष्टोऽग्निसंगमात् ॥

---

(१) नासं. १९।५४ चकाः सो (दकाः सो); नास्मृ. २१।२ स्तत्र (स्तु ते) सोपधि (साहसि); व्यक. १०९ कितवाः (वञ्चकाः); स्मृच. ३१७ लाश्रि (लाः स्मृ); विर. २९०; पमा. ४३८; रत्न. १२४ व्यकवत्; व्यनि. ५०३ वञ्चका (तस्करा) शेषं व्यकवत्; दवि. ११८ उत्कोच (औत्कोचि); सवि. ४६० श्रिताः (स्तथा); व्यप्र. ३८६-७ व्यकवत्; व्यउ. १२४ व्यकवत्; व्यम. १०१ कितवाः पण्य (वञ्चकाः पाप) स्मृत्यन्तरम्; विता. ७७८ व्यकवत्; सेतु. २२८; समु. १४८ स्मृचवत्.

(२) नासं. १९।५५ शास्तस्करा भुवि (शा लोकवञ्चकाः); नास्मृ. २१।३ शास्तस्करा भुवि (शलोकतस्कराः); व्यक. १०९; स्मृच. ३१७; विर. २९० वृत्तयः (कारिणः); पमा. ४३८; रत्न. १२४; व्यनि. ५०३; सवि. ४६० पू.; व्यप्र. ३८७; व्यउ. १२४; व्यम. १०१ स्मृत्यन्तरम्; विता. ७७८; सेतु. २२८ शास्त (शत) शेषं विरवत्; समु. १४८.

(१) नासं. १९।५६ उत्तरार्धे (सुप्तान् मत्तान् प्रमत्तांश्च मुष्णन्त्याक्रम्य चैव ये); नास्मृ. २१।४ स्तु (श्च) उत्तरार्धे (मुष्यां प्रसक्ताश्च नरा मुष्णन्त्याक्रम्य चैव ते); व्यक. १०९ चार्तान् (चांश्च); विर. २९२; व्यनि. ५०३ व्यकवत्; सेतु. २२८ सुप्त (सम) मुष्णन्त्या (संतुष्या); समु. १४८.

(२) नासं. १९।५७; नास्मृ. २१।५ पथि (यश) स्तु (श्च).

(३) नासं. १९।५८ (तान् विदित्वा सुनिपुणैश्चोरैस्तत्कर्मकारिभिः । अनुसृत्य ग्रहीतव्या गूढैः प्रणिहितैर्नरैः ॥); व्यक. ११० श्चरैः (र्नरैः); विर. २९२.

(४) नासं. १०।१०; नास्मृ. १२।१०; ग्निः क्रियाविधौ

[1]सुवर्णस्य क्षयो नास्ति रजते द्विपलं शतम् ।
शतमष्टपलं ज्ञेयं क्षयस्तु त्रपुसीसयोः ॥
[2]ताम्रे पञ्चपलं विद्याद्विकारा ये च तन्मयाः ।
तद्धातूनामनेकत्वादयसोऽनियमः क्षये ॥

(१) क्रियाविधौ घटनकर्मणि, लोहानां धातूनां, सुवर्णशब्दोऽत्र शुद्धपरः अन्यादृशे तत्रापि क्षयात् । रजते द्विपलं शतं, पलशते ध्मायमाने पलद्वयं क्षयो भवति, एवमुत्तरत्रापि । तन्मयास्ताम्रमयाः कांस्यादयः, तद्धातूनामयोहेतुभूतानां पाषाणमृत्तिकादीनामनेकत्वाद्बाहुल्यादनियमः क्षये न नियमः कर्तुं शक्यते, अयःशब्दोऽपि शुद्धायोव्यतिरिक्तायःपरः । शुद्धे तु नियमोऽग्रत एव उक्तः । उक्तक्षयादप्यधिकक्षये सुवर्णकारादयो दण्ड्याः, तद्दाप्याश्चेति परिगणनफलम् । विर. ३११

(२) लोहानामपीति । लोहानामपि, न वस्त्राणामेव । सुवर्णादीनां सर्वेषां हेतुरग्निः कटकादिक्रियाविधौ । न ह्यग्निसंयोगमन्तरेणाविलीनानां कटकादयः शक्याः कर्तुम् । ततोऽग्निसंगमात् संक्रियमाणानां यः क्षयो दृष्टः स उच्यते क्रमेण ।

सुवर्णस्येत्यादि । सुवर्णं न क्षीयते । रजतं पलशते द्वे पले क्षीयते । पात्रादिकरणे त्रपुसीसयोः क्षयः शतेऽष्टौ पलानि । शते पञ्चपलं ताम्रे क्षयः । ताम्रविकारेषु सर्वेष्वेवम् । अयसो लोहस्य न क्षयनियमः तन्निमित्तानां येभ्यो लोहमुत्पद्यते तेषामनेकत्वात् कुतश्चिदुत्पन्नस्य कश्चित् क्षय इत्यनियमः ।

नाभा. १०।१०-१२ (पृ. ११२-३)

[3]तान्तवस्य च संस्कारे क्षयवृद्धी उदाहृते ।
तत्र कार्पासिकोर्णानां वृद्धिर्दशपला शते ॥

तन्तुविकारस्य वस्त्रकम्बलादेः संस्कारे कार्पासोर्णसूत्रयोः दशभिः पलैः कृतमेकादशपलं भवति । एवं शतपलस्य दशोत्तरं शतं भवति । तन्तुविकाराणामेषा वृद्धिरुक्ता ।

नाभा. १०।१३ (पृ. ११३)

[2]स्थूलसूत्रवतामेषां मध्यानां पञ्चकं शतम् ।
त्रिपलं तु सुसूक्ष्माणामतः क्षय उदाहृतः ॥

स्थूलसूत्रपटादीनामेषा वृद्धिरुक्ता— दशपलं शते । मध्यानां शते पञ्चपला वृद्धिः । सूक्ष्माणां शते त्रीणि पलानि सत्रिभागानि । एतेनान्तरालावस्थानामनुपातेन कर्तव्यो विभागः । क्षयमुदाहृतं वक्ष्यामः ।

नाभा. १०।१४ (पृ. ११३)

[3]त्रिंशांशो रोमबद्धस्य क्षयः कर्मकृतस्य च ।
कौशेयवल्कलानां तु नैव वृद्धिर्न च क्षयः ॥

(१) उक्तादधिकक्षये शिल्पी दण्ड्यः । अप. २।१८०

(२) रोमबद्धः कम्बलादिः । कर्मकृतः कृतकर्मनिष्पन्न एव कृतचित्रादिः । विर. ३१३

---

(ग्निक्रिया विधौ); व्यक. ११२; विर. ३११; व्यनि. ५१३ ग्निः (ग्नि) षां द्द (षामि); नृप्र. १८४ ग्निः (ग्नि) क्षय ... ...णानां (संक्षयः स्तूयमानानां); समु. ९० नामपि (नां चैव) ग्निः (ग्नि) षां द्द (षामि).

(१) नासं. १०।११ ते (तं) यस्तु (यः स्यात्); नास्मृ. १२।११ रज (राज); व्यक. ११२ र्णस्य (र्णेषु) रज (राज); विर. ३११ र्णस्य (र्णे तु); व्यनि. ५१२ शतमष्ट (शते त्वष्ट) यस्तु (यं तु); नृप्र. १८४ यस्तु (यः स्यात्); समु. ९० लं शतम् (लं शते) शेषं व्यनिवत्.

(२) नासं. १०।१२ तद्धा (तद्धे); नास्मृ. १२।१२ क्षय (दाय); व्यक. ११२; विर. ३११ विद्या (दद्या) च (तु); व्यनि. ५१२ ऽनियमः (नियमं); नृप्र. १८४ विद्यात् (ज्ञेया [ये]); समु. ९० याः (लाः).

(१) नासं. १०।१३ तत्र (यत्र) ला (लं); नास्मृ. १२।१३ तत्र (सूत्र) ला शते (लं शतम्); अप. २।१८० च (तु); व्यक. ११३ च (तु); विर. ३१२; नृप्र. १८४-५ वस्य च (वानां तु) द्धी उदाहृते (द्धिरुदाहृता) तत्र (सू [त] त्र) नां (नि) पला शते (पलं श [स्तृ] तम्).

(२) नासं. १०।१४ षां (षा) शतम् (शते) मतः (मन्तः); नास्मृ. १२।१४ ताम्रे (तां ते) सुसू (ससू) मतः ... ...हृतः (मेषा वृद्धिरुदाहृता); विश्व. २।१८३ चतुर्थपादं विना; अप. २।१८० सतम् (शते) लं (ला); व्यक. ११२; विर. ३१३ कं शतम् (विंशतिः); नृप्र. १८४ सूत्र (स्तन्तु) पकं (शतं).

(३) नासं. १०।१५ बद्ध (बिद्ध); नास्मृ. १२।१५ स्य च (स्य तु) नै (सै); अप. २।१८० नां तु (दीनां); व्यक. ११३ स्य च (स्य तु) शेषं अपवत्; विर. ३१३ पू.; व्यनि. ५१४ बद्ध (बन्ध) कर्म (चर्म) नां तु (दीनां); नृप्र. १८५ तु (च).

(३) पुष्पपट्टानां च रोमविद्धस्य छेदकृतः क्षयः त्रिंशांशः। उत्पादितशिल्पविशेषाणां तु कौशेयानां वल्कलानां च न वृद्धिर्न च क्षयः समान्येव सूत्राण्येतानि भवन्ति। नाभा. १०।१५ (पृ. ११३)

**मूल्याष्टभागो हीयेत सुकृद्धौतस्य वाससः।**
**द्विः पादस्त्रिस्त्रिभागस्तु चतुर्धौतेऽर्धमेव च॥**
**अर्धक्षयात्तु परतः पादांशापचयः क्रमात्।**
**यावत्क्षीणदशं जीर्णं जीर्णस्यानियमः क्षये *॥**

(१) सकृद्धौतस्य वाससः अष्टपणमूल्यवाससः मूल्याष्टमभागमपनीय सप्तपणान् रजको दाप्यः। द्विः-कृत्वो धौतस्य पादश्चतुर्थो भागः, त्रिःकृत्वो धौतस्य तृतीयो भागः, चतुःकृत्वो धौतस्यार्धम्। अर्धक्षयात्तु परतः यावत्क्षीणदशं वस्त्रं, तावत् क्रमेण पादस्यांशस्यापचयः। जीर्णे त्वनियमः, तत्र मध्यस्थैरुक्तानुसारेणोहः कर्तव्य इत्यर्थः। ×विर. ३१४

(२) मूल्येति। सकृद्धौतस्य दीनारमूल्यस्य पादार्धं हीयेत। तन्मूल्यार्धैकादशभिर्ग्राह्यम्। द्विर्धौतस्येत्येवं सर्वत्र। द्विर्धौतस्य पाद ऊनः, त्रिर्धौतस्य त्रिभागोनः, एवं चतुर्धौतमर्धमूल्यं भवति।

अर्धेति। पञ्चमादारभ्याष्टमो भागोऽपचीयते। पञ्चमे साष्टभागमर्धम्। षष्ठे सपादम्। एवं यावत् क्षीणदशं जीर्णम्। ततः क्षयनियमो नास्ति। इच्छातः क्रयः। नाभा. १०।८-९ (पृ.११२)

अप्रकाशतस्करदण्डाः

**स्वदेशघातिनो ये स्युस्तथा मार्गनिरोधकाः।**
**तेषां सर्वस्वमादाय राजा शूले निवेशयेत्॥**

(१) यस्य राज्ञो देशे चौरा वसन्ति, तद्राजदेशः तेषां चौराणां स्वदेशः, तद्घातिनः, स्वदेशघातिनः, एतेन परदेशघाते चौरैः क्रियमाणे तेषां सर्वस्वग्रहणं न कर्तव्यं तद्राजानुकूलत्वात्, परेण तु करणीयमेव सामर्थ्ये सतीति भावः। विर. ३१७

(२) अत्र वाक्यस्यास्य रत्नाकरादौ पान्थमुषमुपक्रम्यावतारणेऽपि तत्र परिसंख्यायकस्य स्वदेशीयमार्गनिरोधस्य समभिव्याहारदर्शनेऽपि परदेशीयद्विचतुष्पदहारिणोऽपि दण्डाभावो न्यायसाम्यादिति प्रतिभाति। एवञ्च 'परदेशाहृतं द्रव्यमि'त्यादिकात्यायनवचनेन सममेकमूलकत्वमेवेति। दवि. १२५

(३) स्वदेशं घ्नन्ति ये मार्गं च, तेषां सर्वस्वं गृहीत्वा धनं भूयो हस्तपादादिच्छेदनं, मरणं न विद्यते, निन्दा यस्यां क्रियायामिति (तां) प्रवर्तयेत्। नाभा. १९।६७ (पृ. १८४)

अप्रकाशस्तेये दण्डविवेकसाधनो न्यायः

**प्रथमे ग्रन्थिभेदानामङ्गुल्यङ्गुष्ठयोर्वधः।**
**द्वितीये चैव यच्छेषं तृतीये वधमर्हति॥**

(१) अङ्गुल्यङ्गुष्ठयोर्वधः छेदनम्। शेषमत्र

---

* श्लोकद्वयस्य मिता.व्याख्यानं 'वसानस्त्रीन् पणान् दण्ड्यः' इति याज्ञवल्क्यवचने (पृ. १७३६) द्रष्टव्यम्।

× दवि. विरवत्।

(१) **नासं.** १०।८ स्तु (श्च); **नास्मृ.** १२।८ चतुर्धौते (चतुःकृत्वो); **मिता.** २।२३८ स्त्रिभागस्तु (स्तृतीयांशः); **अप.** २।१८१ व च (व तु) शेषं नास्मृवत्; **व्यक.** ११३ अपवत्; **विर.** ३१४ चतुः......च (चतुःकृत्वाऽर्धमेव तु); **पमा.** ४५६ मितावत्; **दवि.** ११३ नास्मृवत्; **नृप्र.** १८५ अपवत्; **व्यप्र.** २८९ मितावत्; **व्यम.** ८५ गो (गे) शेषं मितावत्; **विता.** ५६८ पू. : ५६९ मितावत्, उत्त. : ७६७ मितावत्; **राकौ.** ४९२ मितावत्; **समु.** ८९ मितावत्.

(२) **नासं.** १०।९; **नास्मृ.** १२।९; **मिता.** २।२३८ (क) क्षये (क्षयः); **अप.** २।१८१ जीर्णं (वस्त्रं) क्षये (क्षयः); **व्यक.** ११३ दांशाप (दशोऽप) जीर्णं (वस्त्रं); **विर.** ३१४ जीर्णं (वस्त्रं); **पमा.** ४५६ क्षये (क्षयः); **दवि.** ११३ जीर्णं जीर्णस्या (वस्त्रं जीर्णः स्यात्); **नृप्र.** १८३-४; **व्यप्र.** २८९ पू.; **व्यम.** ८५ पू.; **विता.** ५६९ पू., ७६७; **राकौ.** ४९२ विरवत्; **समु.** ८९ पू. : ९० पमावत्, उत्त.

(१) **नासं.** १९।६७ मार्गनिरोधकाः (मार्गोपरोधिनः) राजा......येत् (भूयो निन्दां प्रवर्तयेत्); **नास्मृ.** २१।७ मार्गनिरोधकाः (यष्टावरोधिनः) राजा......येत् (भूयो निन्दां प्रकल्पयेत्); **व्यक.** ११३ रोधकाः (रोधिनः); **विर.** ३१७ नारदकात्यायनौ; **व्यनि.** ५०८ व्यकवत्, नारदकात्यायनौ; **दवि.** १२५ नारदकात्यायनौ; **सेतु.** २३६ नारदकात्यायनौ.

(२) **नासं.** १९।९०-९१ तृती......ति (दण्डः पूर्वश्च साहसः); **नास्मृ.** २१।३२ यच्छे......ति (तज्ज्ञेयं दण्डः पूर्वस्तु साहसः); **विर.** ३२२; **पमा.** ४४१; **रत्न.** १२५ पू.; **व्यप्र.** ३८९ ल्यङ्गुष्ठ (ग्रहस्त) पू.; **व्यउ.** १२७.

करचरणरूपमेव पूर्ववाक्यानुसारात्, तृतीये वधं मारणमेव । विर. ३२२

(२) ग्रन्थिच्छेदानां प्रथमे ग्रहणे अङ्गुल्यङ्गुष्ठयोः छेदः दक्षिणहस्तस्य । द्वितीये पुनरपि ग्रहणे शेषस्याङ्गुलित्रयस्य छेदः । नाभा. १९।९०-९१ (पृ. १८८)

**गोषु ब्राह्मणसंस्थासु स्थूरायाश्छेदनं भवेत् ।**
**दासीं तु हरतो नित्यमर्धपादावकर्तनम् ॥**

(१) ब्राह्मणसंस्थासु ब्राह्मणस्वामिकासु । स्फुरा पार्ष्णेरुपरिभागः । विर. ३१९

(२) ब्राह्मणसंस्थासु ब्राह्मणस्वामिकासु । एवञ्च दासीषु ब्राह्मणस्वत्वेन गौरवाद्दण्डाधिक्यदर्शनाद्दासेष्वपि ब्राह्मणस्वामिकेषु चौरदण्डः शारीरमार्थे वाऽधिकं वाच्यमन्यस्वामिकेष्वल्पमिति प्रतिभाति । दवि. १२८

**येन येन यथाङ्गेन स्तेनो नृषु विचेष्टते ।**
**छेत्तव्यं तत्तदेवास्य तन्मनोरनुशासनम् ॥**

हस्तादीनां येनाङ्गेन चौर्यं करोति, तदेव छेत्तव्यम् । नाभा. १९।९२ (पृ. १८८)

**गरीयसि गरीयांसमगरीयसि वा पुनः ।**
**स्तेने निपातयेद्दण्डं न यथा प्रथमे तथा ॥**

महति महान्तमल्पमल्पे दण्डं निपातयेत् चोरे । सर्वत्र द्वितीयादिषु ततोऽधिकं, न तुल्यम् । नाभा. १९।९३ (पृ. १८८)

अप्रकाशतस्करदण्डप्रकरणानुवृत्तिः

**महापशून् स्तेनयतो दण्ड उत्तमसाहसः ।**
**मध्यमो मध्यमपशून् पूर्वः क्षुद्रपशौ हृते ॥**

(१) मध्यमं मध्यमसाहसम् । पूर्वं प्रथमसाहसम् । स्मृच. ३१९

(२) अत्रापि महापशवो विरुद्धदण्डा अनवरुद्धा विवक्षिताः । विर. ३२१

(३) महापशवो हस्त्यश्वादयः । विचि. १३५

(४) महान्तः पशवो हस्त्यादयः, मध्यमा वृषादयः । एतद्विशेषविहितेतरविषयम् । दवि. १२९

**काष्ठभाण्डतृणादीनां मृन्मयानां तथैव च ।**
**वेणुवैणवभाण्डानां तथा स्नाय्वस्थिचर्मणाम् ॥**
**शाकानामार्द्रमूलानां हरणे फलपुष्पयोः ।**
**गोरसेक्षुविकाराणां तथा लवणतैलयोः ॥**

---

(१) **नासं.** १९।९१; **नास्मृ.** २१।३३ दाव (दवि); **व्यक.** ११४ उत्तरार्धे ( दासीं च हरतो मध्यस्तथा पादस्य छेदनम् ); **विर.** ३१९ स्थू (स्फु) उत्तरार्धे (दासीषु हरतो मध्यस्तथा पादस्य छेदनम्); **दवि.** १२८ स्थू (स्फु) उत्तरार्धे ( दासीं तु हरतो मध्यस्तथा पादस्य छेदनम् ) : १३१ स्थू ( स्फु ) पू.

(२) **नासं.** १९।९२; **नास्मृ.** २१।३४ छेत्तव्यं तत्तदेवास्य ( तत्तदेवास्य छेत्तव्यं ); **व्यक.** ११५ नास्मृवत्.

(३) **नासं.** १९।९३; **नास्मृ.** २१।३५.

(४) **नास्मृ.** २१।२९ शून् स्ते ( शंस्तु ) उत्तरार्धे ( मध्यमो मध्यमपशुं पूर्वः क्षुद्रपशुं हरन् ); **अप.** २।२७५ क्रमेण मनुः; **व्यक.** ११४ सः (सम्) मो (मं); **स्मृच.** ३१९ पूर्वः (पूर्वं) शेषं व्यकवत्; **विर.** ३२१ मपशून् (मपशौ); **रत्न.** १२५ पशौ हृते ( पशुं हृतः ) शेषं स्मृचवत्; **विचि.** १३५; **व्यनि.** ५१० शौ हृते (शोर्हृतौ); **दवि.** १२८ क्षुद्र (क्षुद्रे); **सवि.** ४६२ शून् स्ते (शुं स्ते) उत्तरार्धे (मध्यमं मध्यमपशौ पूर्वं शूद्रपशौ हृते ); **व्यप्र.** ३८९ शौ हृते ( शून् हृतः ); **व्यउ.** १२७ शौ हृते ( शून् हृतः ) शेषं स्मृचवत्; **व्यम.** १०२ ण्ड उ (ण्डमु) शौ हृते (शून् कृते) शेषं स्मृचवत्; **विता.** ७८३ स्तेन ( श्चोर ) शेषं व्यप्रवत्; **सेतु.** २३७; **समु.** १५० मो (मं) पूर्वः (पूर्वं).

(१) **नासं.** १९।८२ भाण्ड ( काण्ड ); **नास्मृ.** २१।२२ भाण्ड ( काण्ड ) तथा... ... ...णाम् ( वेतसस्यास्थिचर्मणोः ); **मिता.** २।२७५; **अप.** २।२७५ क्रमेण मनुः; **व्यक.** ११५; **विर.** ३२७; **पमा.** ४४३; **विचि.** १४०-४१; **दवि.** १४९ चर्म (चर्मि); **सवि.** ४५६-७; **व्यप्र.** ३९१; **व्यउ.** १२८; **विता.** ७८४ था स्नाय्वस्थि (थाऽस्नाय्वस्थि); **सेतु.** २४२ तथा स्नाय्व (तथान्नाथ); **समु.** १५१.

(२) **नासं.** १९।८२-३ नामार्द्र (हरित); **नास्मृ.** २१।२३ कानामार्द्रे ( कहरित ) फल ( तृण ); **मिता.** २।२७५ पुष्प (मूल); **अप.** २।२७५ नामार्द्र ( नां सार्द्र ) क्रमेण मनुः; **व्यक.** ११५; **विर.** ३२७; **पमा.** ४४३ मितावत्; **विचि.** १४१ क्षुवि ( तद्वि ); **दवि.** १४९ मितावत्; **सवि.** ४५७ शाका (शाखा) पुष्प (मूल); **व्यप्र.** ३९१ मितावत्; **व्यउ.** १२८ मितावत्; **विता.** ७८४ मितावत्; **सेतु.** २४२ विचिवत्; **समु.** १५१ मितावत्.

**पक्वान्नानां कृतान्नानां मद्यानामामिषस्य च ।**
**सर्वेषामल्पमूल्यानां मूल्यात्पञ्चगुणो दमः ॥**

(१) इदं प्रचुरकाष्ठादिविषयम् । विचि. १४१

(२) काण्डशब्देन पूर्वाधन्व(?)शरादय उच्यन्ते । तृणशब्देन दर्भमुञ्जादय उच्यन्ते । हरितशब्देन घास उच्यते यवसादिः । मूलं कन्दादि । पक्वान्नं मोदकादि । कृतान्नं सक्तुपृथुकलाजादि ।

नाभा. १९।८२-४ (पृ.१८७)

**तुलाधरिममेयानां गणिमानां च सर्वशः ।**
**एभ्यस्तूत्कृष्टमूल्यानां मूल्याद्दशगुणो दमः ॥**

(१) तुलाधरिमं कर्पूरादि, मेयं व्रीह्यादि, गणिमं पूगादि । एभिः काष्ठादिभिः । विर. ३२३

(२) तुलाधरिमं कर्पूरादि । मेयं व्रीह्यादि । गणिमं पूगैलाप्रभृति । एभिः काष्ठादिभिः । तेन पूर्वोक्तकाष्ठाद्यपेक्षयाऽधिकमूल्यानां धरिममेयगणिमानामन्यतमस्यापहारे तन्मूल्याद्दशगुणो दण्ड इत्यर्थः । विचि. १३८

(३) तुलाधारिमं कार्पासादि । मेयं व्रीह्यादि । गणिमं हरीतकीविभीतकादि । एतेषां हृतानां यन्मूल्यं, तस्य पञ्चगुणो दण्डः । एभ्यः काष्ठादिभ्यः उत्कृष्टमूल्यानां वस्त्रकुङ्कुमचन्दनादीनां हरणे मूल्याद् दशगुणो दण्डः । दीनारमूल्ये हृते दश दीनारा दाप्याः, एको मुषितस्य, नव राज्ञः ।

नाभा.१९।८४-५ (पृ. १८७)

**धान्यं दशभ्यः कुम्भेभ्यो हरतोऽभ्यधिकं वधः ।**
**न्यूनं वैकादशगुणं दण्डं दाप्योऽब्रवीन्मनुः ॥**

धान्यं दशभ्यः कुम्भेभ्योऽभ्यधिकं हरतो वधः । पुण्ड्रवर्धनश्रीवर्धनादीनामेकादशगुणमित्येव । समं मुषितस्य, शेषं राज्ञः । नाभा. १९।८५-६ (पृ.१८७)

**सुवर्णरजतादीनामुत्तमानां च वाससाम् ।**
**रत्नानां चैव सर्वेषां शतादभ्यधिके वधः ॥**

रत्नानां वज्रमणिमुक्तादीनां शतादभ्यधिकं हरतो वधः । नाभा. १९।८६-७ (पृ.१८७)

**पुरुषं हरतः पात्यो दण्ड उत्तमसाहसः ।**
**सर्वस्वं स्त्रीं तु हरतः कन्यां तु हरतो वधः ॥**

(१) हस्ताविति छित्त्वेति शेषः । कामधेनौ— दृष्टमिति पठितम् । सर्वस्वामिति नारीं हरतः सर्वस्वग्रहणं दण्ड इत्यर्थः । दवि. १२६

(२) पुरुषस्त्वविशिष्टः । हरत उत्तमसाहसः । स्त्रियं हरतः सर्वस्वम् । कन्यां तु वधः ।

नाभा. १९।८७-८ (पृ. १८७)

**साहसेषु य एवोक्तस्त्रिषु दण्डो मनीषिभिः ।**
**स एव दण्डः स्तेयेऽपि द्रव्येषु त्रिष्वनुक्रमात् ॥**

---

(१) **नासं.** १९।८३-४; **नास्मृ.** २१।२४; **मिता.** २।२७५ मद्या ( मत्स्या ) षामल्पमूल्यानां ( षां मूल्यभूतानां ); **अप.** २।२७५ मद्या ( मधू ) क्रमेण मनुः; **व्यक.** ११५ मामिष ( मोदन ); **विर.** ३२७-८ व्यकवत्; **पमा.** ४४३ मद्या ( मत्स्या ); **विचि.** १४१ व्यकवत्; **दवि.** ३७ उत्त. : १५० षामल्प ( षां स्वल्प ) शेषं व्यकवत्; **सवि.** ४५७ पमावत्; **व्यप्र.** ३९१ द्यानामामिष ( त्स्यानामौषध ); **व्यउ.** १२८ व्यप्रवत्; **विता.** ७८४ व्यप्रवत्, पू.; **सेतु.** २४२ ल्यात्पञ्चगुणो ( ल्यात्स्यात् षड्गुणो ) शेषं व्यकवत्; **समु.** १५१ न्नानां ( नां तु ) शेषं पमावत्.

(२) **नासं.** १९।८४-५ धरि ( धारि ); **नास्मृ.** २१।२५ शः ( तः ) द्दश ( दृष्ट ); **अप.** २।२७५ क्रमेण मनुः; **व्यक.** ११४ धरि ( धारि ) एभ्य ( एभि ); **विर.** ३२३ एभ्य ( एभि ); **विचि.** १३८; **दवि.** १४३ भ्यस्तू ( भिरु ); **सेतु.** २४० धरि ( परि ) शेषं विरवत्.

(१) **नासं.** १९।८५-६ न्यूनं वै ( घ्नते त्वे ); **नास्मृ.** २१।२६.

(२) **नासं.** १९।८६-७ सुवर्ण ( हिरण्य ) सर्वेषां ( मुल्यानां ); **नास्मृ.** २१।२७ सर्वेषां ( मुल्यानां ); **अपु.** २२७।३६ (सुवर्णरजतादीनां नृस्त्रीणां हरणे वधः) एतावदेव; **व्यक.** ११४; **विर.** ३२४; **रत्न.** १२५; **दवि.** १४४; **नृप्र.** २६४ ( = ); **व्यम.** १०२; **विता.** ७८३-४.

(३) **नासं.** १९।८७-८ पात्यो दण्ड उ ( वासो दण्डस्तू ) हर...वधः ( कन्यां तु हरतो वध एव च ); **नास्मृ.** २१।२८; **व्यक.** ११४ पात्यो ( हस्तौ ) स्त्रीं तु हरतः ( हरतो नारीं ); **रत्न.** १२५ स्त्रीं तु हरतः ( हरतो नारीं ) उत्त.; **दवि.** १२६ व्यकवत्; **व्यप्र.** ३८९ रत्नवत्, उत्त.; **व्यउ.** १२७ रत्नवत्, उत्त.; **व्यम.** १०२ रत्नवत्, उत्त.; **विता.** ७८३ तु ( च ) शेषं रत्नवत्, उत्त.; **बाल.** २।२७५ ( सर्वस्वं हरतः स्त्री तु कन्यापहरणे वधः । ) उत्त., कात्यायनः; **समु.** १५० रत्नवत्, उत्त.

(४) **नासं.** १५।२०; **नास्मृ.** १७।२१; **मिता.** २।२७०, २७५; **अप.** २।२७५ द्रव्येषु त्रि ( त्रिषु द्रव्ये );

(१) त्रिषु प्रथममध्यमोत्तमेषु, द्रव्येषु त्रिषु क्षुद्रमध्यमहत्सु, एष प्रथममध्यमोत्तमसाहसदण्डातिदेशः क्षुद्रमध्यमहत्सु द्रव्येषु विरुद्धदण्डानवरुद्धेषु द्रष्टव्यः। विर. ३२९

(२) यथैव साहसेषु प्रथममध्यमोत्तमेषु क्रमेण प्रथममध्यमोत्तमसाहसदण्डाः प्रोक्ताः, तथा क्रमेण क्षुद्रमध्यमोत्तमानि द्रव्याणि मृद्भाण्डवासोहिरण्यादीनि, क्षुद्रमध्यमोत्तमद्रव्यापहारेषु प्रथममध्यमोत्तमसाहसदण्डाः, देशकालपुरुषापराधान् परीक्ष्य सर्वत्र । नाभा. १५।२० (पृ.१६३)

**न त्वहोढान्विताश्चौरा वध्या राज्ञा ह्यनागसः।**
**सहोढान् सोपकरणान् क्षिप्रं राजा प्रवासयेत् ॥**

(१) सहोढान् सलोप्त्रान्, सोपकरणान् ससंधिभेदनादीन् । विर. ३३१

(२) लोप्त्रादिरहिता अनागममविचार्य न वध्याः। चोरा ये तु सहोढाः संधिच्छेदाद्युपकरणयुक्ताश्च, क्षिप्रमेव हन्तव्याः पूर्वोक्तेन न्यायेन। नाभा. १९।६६ (पृ. १८७)

पश्चात्तप्तस्तेनदण्डः

**राजा स्तेनेन गन्तव्यो मुक्तकेशेन धावता।**
**आचक्षाणेन तत्स्तेयमेवंकर्मास्मि शाधि माम् ॥**

पश्चात्तापेनैवं कर्तव्यम्। इदं मयामुष्य हृतं, शाधि मामिति। नाभा. १९।१०४ (पृ. १९०)

**अनेना भवति स्तेनः स्वकर्मप्रतिवेदनात्।**
**राजानं तत्स्पृशेदेन उत्सृजन्तं सकिल्बिषम् ॥**

चोरस्तेनापापो भवति। दुष्टमुत्सृजन्तं तत्कृतं पापं राजानं गच्छति। स तत्फलं भुङ्क्ते। नाभा. १९।१०५ (पृ. १९०)

**राजभिर्धृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः।**
**निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥**

(१) दण्ड्यास्तु तेन दण्डेन क्षीणपापा भवन्तीत्याह नारदः— राजभिरिति। स्मृच. १२८

(२) तत् प्रायश्चित्तदण्डरूपदण्डपरम्। प्रकरणात्। अत एव कल्पतरौ सुवर्णस्तेयमुसलाघातप्रकरणे एव तल्लिखितमिति। विचि. १८९

(३) एतत् प्रतिपाद्यते— न शासनं शिष्टपरिपालनार्थमेवादृष्टार्थमपि। तेऽप्येवमनुगृहीता भवन्ति। सर्वहितत्वमेव राज्ञ इति। नाभा. १९।१०६ (पृ.१९०)

**शासनाद्वाऽपि मोक्षाद्वा स्तेनो मुच्येत किल्बिषात्।**
**अशासत् तमसौ राजा स्तेनस्याप्नोति किल्बिषम् ॥**

यदि शिष्यते अथ मुच्यते सर्वथा स्तेनः शुद्धो भवति। अशासत् तेन कृतं पापं राजा आप्नोति। तस्मादवश्यं धर्मार्थमधर्मनिवृत्त्यर्थं दृष्टार्थं चोरार्थं च शासयेदिति बहुफलत्वमनुशासनस्योक्तम्। नाभा. १९।१०७ (पृ.१९०)

**गुरुरात्मवतां शास्ता राजा शास्ता दुरात्मनाम्।**
**अतः प्रच्छन्नपापानां शास्ता वैवस्वतो यमः ॥**

इहाशिष्टा यमेन शास्यन्ते, शिष्टास्तु न यमेन। तस्मादिह शासनं सुष्ठु दृष्टार्थमिति तेषां वृत्त्यर्थमेव। शास्तेति। 'अनित्यमागमशासनमि'त्येतत् ज्ञापितं 'युवोरनाकौ' इत्यादिना। नाभा. १९।१०८ (पृ.१९०)

---

**व्यक.** ११५; **विर.** ३२८ येऽपि (येषु); **पमा.** ४४२ एवोक्तस्ति (एवास्ते त्रि); **रत्न.** १२५; **विचि.** १४१ विरवत्; **दवि.** १४३ विरवत्; **नृप्र.** २६२; **सवि.** ४५५ मनुः; **व्यप्र.** ३८९; **व्यउ.** १२७; **विता.** ७७७; **राकौ.** ४८२ अपवत्, मनुः; **सेतु.** २४३ विरवत्; **समु.** १५१.

(१) **नासं.** १९।६६ पूर्वार्धे (लोप्त्रादिरहिताश्चोरा राज्ञाऽवध्या ह्यनागमम्) क्षिप्रं राजा प्र (चोरान् क्षिप्रं वि); **नास्मृ.** २१।६ ह्यना (अना) उत्तरार्धे (सहोढान् स्तेयकारणात्क्षिप्रं चोरान्प्रशासयेत्); **व्यक.** ११६ गसः (गमाः) वास (माप); **विर.** ३३१ गसः (गमाः).

(२) **नासं.** १९।१०४ धावता (धीमता); **नास्मृ.** २१।४६.

(३) **नासं.** १९।१०५; **नास्मृ.** २१।४७ स्तेनः (तेन) वेद (पाद) उत्तरार्धे (राजा ततः स्पृशेदेनमुत्सृजेत्तु ह्यकिल्बिषम्).

(१) **नासं.** १९।१०६; **नास्मृ.** २१।४८; **स्मृच.** १२८; **विचि.** १८९; **प्रका.** ८१; **समु.** ७०.

(२) **नासं.** १९।१०७; **नास्मृ.** २१।४९ नाद्वाऽपि (नाद्वा वि) मुच्येत (मुच्यति) सत् तमसौ राजा (सनात्तु तद्राजा).

(३) **नासं.** १९।१०८ अतः (अथ); **नास्मृ.** २१।५० राजा शास्ता (शास्ता राजा).

विदुषः स्तेनस्य वर्णभेदेन दण्डतारतम्यम्

अष्टापाद्यं तु शूद्रस्य स्तेये भवति किल्बिषम् ।
व्यष्टापाद्यं तु वैश्यस्य द्वात्रिंशत् क्षत्रियस्य तु ॥
ब्राह्मणस्य चतुष्षष्टिं मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ।
विद्यापि च विशेषेण विद्वत्स्वभ्यधिकं भवेत् ॥

हृतस्याष्टगुणं शूद्रस्य स्तेये दण्ड इति केचित् । अन्येऽष्टगुणोऽधर्मः तस्य हृतस्य य उक्तः स्तेय इति । पूर्वपूर्वाद् द्विगुणमुत्तरोत्तरस्य । शूद्रादीनां वा स्वहरणे एवमेव धर्म इति । हृतं वा दापयित्वा ततोऽष्टगुणं दण्डः शूद्रस्य, षोडशगुणं वैश्यस्य, द्वात्रिंशद्गुणं क्षत्रियस्य, चतुष्षष्टिगुणं ब्राह्मणस्य इति ।

नाभा. १९।१०९-१०(पृ.१९१)

स्तेयदोषप्रतिप्रसवः

समित्पुष्पोदकादानेष्वस्तेयं सपरिग्रहात् * ॥
वर्तमानोऽध्वनि श्रान्तो गृह्णन्नेकाशनः स्वयम् ।
ब्राह्मणो नापराध्नोति द्वाविक्षू पञ्च मूलिकान् × ॥

चौरान्वेषणम्

सहोढग्रहणात्स्तेयं होढेऽसत्युपभोगतः ।
शङ्का त्वसज्जनैकार्थ्यादनायव्ययतस्तथा ॥

(१) सहोढग्रहणात् सलोप्त्रग्रहणात् होढेऽसत्युपयोगतः असति होढे लोप्त्र उपयोगतः अन्यथालभ्यकर्पूराद्युपयोगतः स्तेयं ज्ञेयम् । शङ्का तु स्तेयस्य असज्जनैकार्थ्यात्, असज्जनैर्मद्यपानाद्यासक्तैः ऐकार्थ्यात् एकप्रयोजनकत्वात्, अनायव्ययतस्तथा शङ्केति प्रथमश्लोकार्थः ।

विर. ३३४

(२) लोप्त्रेणापहृतद्रव्यैकदेशेन सह ग्रहणादवसराभावे स्तेयम् । लोप्त्राभावे अतिभोगात् पूर्वावस्थाया गन्धमाल्यवस्त्रादीनाम् । शङ्कया सर्वं दृष्ट्वा शङ्कित इवोद्विग्न इव भवति, तत्रापि स्तेयं संभाव्यम् । शङ्काभावे न निश्चयः तदन्वसज्जनैर्द्यूतकदासीपत्यादिदुष्टजनैरेककार्यत्वात् संभाव्यं स्तेयम् । न विद्यते (आयः) आगमो यस्य सोऽनायः । अनायस्य व्ययोऽनायव्ययः । अनायव्ययाच्च संभाव्यमेवम् ।

नाभा. १५।१७ (पृ. १६२)

अन्यहस्तात्परिभ्रष्टमकामादुत्थितं भुवि ।
चौरेण वा परिक्षिप्तं लोप्त्रं यत्नात् परीक्षयेत् ॥

तस्माच्चौरत्वनिश्चयो दृष्टेनादृष्टेन वा प्रमाणेनैवेति स्थितम् ।

दवि. ८१

अहोढान् विमृशेच्चौरान् गृहीत्वा परिशङ्कया ।
भयोपधाभिश्चित्राभिर्ब्रूयुस्तथ्यं यथा हि ते ॥

(१) अहोढान् होढरहितान्, तथा गृहीतपरिशङ्कया उपधाभिश्चित्राभिर्व्याजैर्नानाविधैः देशादिकं प्रष्टव्यास्ते यथातथ्यं ब्रूयुरित्युत्तरश्लोकार्थः । विर. ३३४

(२) सलोप्त्रानपि चोरान् सहोढा दृष्टा इत्येतावता न शासितव्याः, विचारयेदेव अचौरशङ्कया । माण्डव्य-

---

* व्याख्यानं स्थलादिनिर्देशश्च दण्डमातृकाप्रकरणे ( पृ. ५९१ ) द्रष्टव्यः ।

× व्याख्यानं दण्डमातृकाप्रकरणे ( पृ. ५९१ ) द्रष्टव्यम् ।

(१) **नासं.** १९।१०९; **नास्मृ.** २१।५१ व्यष्टापाद्यं तु ( द्विरष्टापाद्यं ).

(२) **नासं.** १९।११० पू.; **नास्मृ.** २१।५२ चतुष्षष्टिं मनुः ( चतुष्षष्टीत्येवं ).

(३) **व्यनि.** ५१५ न्नेकाशनः ( न्ननशनं ) पञ्च मूलिकान् ( द्वे च मूलके ). [ अवशिष्टस्थलादिनिर्देशः दण्डमातृकाप्रकरणे ( पृ. ५९१ ) द्रष्टव्यः ].

(४) **नासं.** १५।१७ त्युप ( लति ); **नास्मृ.** १७।१८ होढेऽस ( होढम ) कार्थ्यादनाय ( कत्वादन्याय ); **अप.** २।२६८ णात्स्ते ( णे स्ते ) ढेऽस ( ढे स ); **व्यक.** ११६ भोग ( योग ) स्तथा ( स्तदा ); **विर.** ३३३ भोग ( योग ); **सेतु.** २४५ ढेऽस ( ढे स ) भोग ( योग ).

(१) **मिता.** २।२६७; **पमा.** ४३७ ण वा ( णापि ); **दवि.** ८१ त्थितं भुवि ( द्धृतं पथि ) परि ( प्रति ); **नृप्र.** ३६१ दुत्थितं ( दन्वितं ) परि ( प्रति ) लोप्त्रं यत्नात् ( लोचयन् तत् ); **सवि.** ४५९ भुवि ( तु वा ) चौरेण वा परि ( चौरैर्वापि प्रति ); **व्यप्र.** ३८६ परि ( प्रति ); **व्यउ.** १२४ व्यप्रवत्; **विता.** ७९१ व्यप्रवत्; **समु.** १४९.

(२) **नासं.** १९।६८ अहो ( सहो ) युस्तथ्यं ( युः सत्यं ); **नास्मृ.** २१।८ त्वा परि ( तान् यदि ) उत्तरार्धं ( भयोपधाभिश्चित्राभिर्ब्रूयुस्तथा यथा कृतम् ); **अप.** २।२६८ त्वा परिशङ्क ( तान् परिसंख्य ); **व्यक.** ११६ अहो ( सहो ) त्वा प (तप) भयो ( नयो ); **विर.** ३३४ त्वा प (तप ) भयो ( तथो ); **व्यनि.** ५०६ (=) उत्त.; **सेतु.** २४५ गृहीत्वा ( गृहीत ) भयो ( तथो ); **समु.** १४९ उत्त., स्मृत्यन्तरम्.

वदचौरस्यापि होढसंभवात् । यावदव्यभिचारि लिङ्गं दृष्टमिति । तदभावे भयोत्पादनैश्चित्रैस्ताडननिर्भर्त्सनपुत्रदारच्छेदनागस्तिप्रदानरूपाभि (?)र्यथा ते संत्रस्ताः सत्यं वदन्ति तथा । नाभा. १९।६८ (पृ. १८४)

[1]देशं ग्रामं दिशं नाम जातिं वा संप्रतिश्रयम् ।
कृतं कार्यं सहायाश्च प्रष्टव्याः स्युर्निगृह्य ते ॥

देशं कुतस्त्या यूयमिति, कस्मिन् काले इहागताः, कस्यां दिशि कस्मिन् देशे कुतो वा प्रविष्टाः, जातिर्भवतां का, किं नाम रूपं च, केन वेषेण प्रविष्टा इहेति, प्रतिश्रयश्चेह क्कासीदागच्छतां वेति, चौर्येण चेहत्या भक्तदानोपकरणप्रच्छादनादिना साहाय्यं के कृतवन्त इति निगृह्य प्रष्टव्याः । नाभा. १९।६९ (पृ. १८४)

[2]वर्णस्वराकारभेदात् ससंदिग्धनिवेदनात् ।
अदेशकालदृष्टत्वान्निवासस्याविशोधनात् ॥

वर्णभेदात् पृष्टः सन् विवर्णो भवति । स्वरभेदात् सगद्गदो भवति । आकारभेदात् त्रासविषादादियोगास्पृष्टः स्पष्टं ब्रवीति । अदेशे च विविक्ते शून्ये, अकाले च रात्र्यादौ दृष्टे, कोषित इति तस्य स्पष्टं निर्णयावचनात् परिच्छिद्यते चोर इति । नाभा. १९।७० (पृ.१८४)

[3]असद्व्ययात्पूर्वचौर्यादसत्संसर्गकारणात् ।
लेशैरप्यवगन्तव्या न होढेनैव केवलम् ॥

असद्व्ययात् द्यूतपानदास्यादिषु व्ययात् । पूर्वचौर्यात् पूर्वकाले चोरत्वेनोपलब्धत्वात् संदिग्धत्वेऽपि संभाव्यते । दुष्टैः सह संसर्गात् । एतैर्लिङ्गैर्लेशैरपि ग्राह्याः । न लोप्त्रेणैव, लोप्त्राभावे एतैर्लिङ्गैर्गृह्णीयात् । नाभा. १९।७१(पृ. १८५)

[1]दस्युवृत्ते यदि नरे शङ्का स्यात् तस्करेऽपि वा ।
यदि स्पृश्येत लेशेन कार्यः स्याच्छपथं नरः ॥

(१) लेशेन युक्तिलेशेन मुखशोषणादिना । विर. ३३८

(२) अशुभवृत्ते मनुष्ये चोरो न वेति शङ्का स्याद् यदि, स यथोक्तानामन्यतमेन लेशेन युक्तः स्यात्, गोबीजकाञ्चनपुत्रमस्तकादिभिः दिव्यैर्वा शपथं कारयितव्यः । 'तस्करेऽपि चे'ति पाठे दस्युवृत्ते शङ्कायां मानुषः शपथः, तस्करे दिव्य इति । नाभा. १९।७२ (पृ. १८५)

[2]गवादिषु प्रनष्टेषु द्रव्येष्वपहृतेषु वा ।
पदेनान्वेषणं कुर्युरा मूलात्तद्विदो जनाः ॥

(१) गवादिषु द्रव्येषु प्रनष्टेषु स्वयमेवापभ्रष्टेषु केनापि हृतेषु वा तत्पादेनान्वेषणं कार्यम् । विर. ३३६

(२) गवादिषु गोऽजाविमहिषाश्वादिषु प्रनष्टेषु, द्रव्येषु वा संधिच्छेदनादिनाऽपहृतेषु गवादिषु, मनुष्यपदेन यतोऽपहृतं द्रव्यं तत आरभ्य यत्र प्रविष्टं गच्छेत् घोषे वा तावदन्वेषणं कुर्युः अपूर्वमानुषादिपदज्ञानकुशलाधिष्ठिताः । नाभा. १५।२१ (पृ. १६३)

---

(१) **नासं.** १९।६९ पूर्वार्धे (देशं कालं तथा जातिं नाम रूपं प्रतिश्रयम्) कृतं......याश्च (कृत्यं कर्म सहायांश्च); **नास्मृ.** २१।९ ग्रामं (कालं) नाम जातिं (जातिं नाम) उत्तरार्धे (कृत्यं कर्मकरा वा स्युः प्रष्टव्यास्ते विनिग्रहे); **अप.** २।२६८ कृतं कार्यं (कृतकार्यं) निं (विं); **व्यक.** ११६ वा सं (वासं) कृतं कार्यं (कृतकार्यं); **विर.** ३३४ याश्च (यास्तु) शेषं व्यकवत्; **व्यनि.** ५०६ (=) निं (विं); **सेतु.** २४५ विरवत्; **समु.** १४९ सहायाश्च (सभायां च) स्मृत्यन्तरम्.

(२) **नासं.** १९।७० न्निवासस्या (द्वासस्याप्य); **नास्मृ.** २१।१० ससंदिग्ध (संसदि त्व) शेषं नासंवत्; **अप.** २।२६८ दृष्टत्वान्निवासस्या (दृष्टत्वान्निवेशस्य); **व्यक.** ११६ काल (काले) स्यावि (स्य वि); **विर.** ३३४ ससंदिग्ध (संदिग्धवि) दृष्ट (वृत्त); **व्यनि.** ५०६ स्यावि (स्य वि); **सेतु.** २४५ विरवत्; **समु.** १४९ वर्णस्वरा (स्वरवर्णा) शोध (रोध) स्मृत्यन्तरम्.

(३) **नासं.** १९।७१; **नास्मृ.** २१।११ लेशै (लेख्यै); **व्यक.** ११६ प्यव (प्यनु); **विर.** ३३४ व्यकवत्; **व्यनि.** ५०६ (=) लेशै (एतै) व्या (व्यो) ढेनैव केवलम् (ढैरपि केवलैः); **सेतु.** २४५ लेशैरप्यव (शेषैरप्यनु); **समु.** १४९ लेशै (एतै) ढेनैव केवलम् (ढैरेव केवलैः) स्मृत्यन्तरम्.

(१) **नासं.** १९।७२ रेऽपि (रो न); **नास्मृ.** २१।१२ नरः (ततः); **व्यक.** ११७; **विर.** ३३८ शङ्का स्यात् (शङ्कते) श्येत (शति) पथं नरः (पथस्तथा).

(२) **नासं.** १५।२१; **नास्मृ.** १७।२२ पदेना (पदस्या); **अप.** २।२६८ वा (च); **व्यक.** ११६ अपवत्, पू.; **विर.** ३३५ वा (च) पदे (पादे); **सेतु.** २४६-७ पु प्र (ष्वप) ष्वपह (षूपह) वा (च).

ग्रामे व्रजे विवीते वा यत्र तन्निपतेत् पदम् ।
वोढव्यं तद्भवेत्तेन न चेत्सोऽन्यत्र तन्नयेत् ॥

(१) ततो यस्य ग्रामे व्रजे विवीते वा तत्पदं निपतेत्, तेन ग्रामादिमता तद्वोढव्यं, अपगतं गवादि देयत्वेन स्वीकार्यम् । विर. ३३६

(२) ग्रामादौ यत्र तत्पदं प्रविष्टं, तेन ग्रामादिना चोरदोषोऽनुभवितव्यः, स ग्रामादिस्ततो ग्रामान्निर्गत्यान्यत्र न नयेच्चेत् । अन्यत्र स मुच्यते यो नयेत् । इतरस्याप्येषैव गतिः । नाभा. १५।२२ (पृ. १६३)

पदे प्रमूढे भग्ने वा विषमत्वाज्जनान्तिके ।
यस्त्वासन्नतरो ग्रामो व्रजो वा तत्र पातयेत् ॥

(१) पदे कियद्दृष्टेऽग्रे, तथाऽपरिचिते तत्संनिहितग्रामे पातयेत् । विर. ३३६

(२) ग्रामाद् बहिरटव्यां प्रमूढं न ज्ञायते तत्पदमतश्चेतश्च पदबहुत्वात् । भग्नं वोपर्युपरि गमागमवैषम्यात् । यत्र पदं भग्नं प्रनष्टं प्रमूढं वा, तस्य देशस्य संनिकृष्टतरे ग्रामे व्रजे वा तच्चौर्यं पातयेत् । तथा सति त एव रक्षिष्यन्ति तद्भयात् । एवं कृते चोराणां प्रवेशनिर्गमाभावान्निश्चोरता भवति । नाभा. १५।२३ (पृ.१६३)

समेऽध्वनि द्वयोर्यत्र स्तेनप्रायोऽशुचिर्जनः ।
पूर्वापराधैर्दुष्टो वा संसृष्टो वा दुरात्मभिः ॥

(१) संनिहितग्रामद्वैधे यत्र ग्रामे स्तेनप्रायो दुर्जनो वसति तत्र पातयेत् । विर. ३३६

(२) यत्र तत्पदं भग्नं प्रमूढं वा तस्य देशस्य तुल्याध्वानौ ग्रामौ यदि स्यातां, यस्मिन् देशे चोरप्रायो निःसत्यशौचो जनः पूर्वकार्य एव संभावितः निषाददासीपतिद्यूतकरशौण्डिकादिभिः संसृष्टः, तत्र पातयेदित्येव । तत्र हि संभाव्यते चोरत्वम् । तथाभूतो जनः शक्तोऽत्यनार्यप्रायः । तस्मिन् सत्यनार्यप्राये न्याय्यं पातयितुम् । नाभा. १५।२४ (पृ. १६४)

ग्रामेष्वन्वेषणं कुर्युश्चण्डालवधकादयः ।
रात्रिसंचारिणो ये च बहिः कुर्युर्बहिश्चराः ॥

ग्रामेषु चोरान्वेषणं कुर्युः । ग्रामग्रहणे नगरस्यापि द्रष्टव्यम् । चण्डालाश्च वधकाश्च चेटिकागोमलिकाशौण्डिकादयश्चराः, रात्रिसंचारिणो ये च भाण्डवाहिकुभिण्डिकपुरुषाः, ग्रामादिषु बहिरन्वेषणं कुर्युरित्येव । नाभा. १५।२५ ( पृ. १६४ )

नैवान्तरीक्षान्न दिवो न समुद्रान्न चान्यतः ।
दस्यवः संप्रवर्तन्ते तस्मादेवं प्रकल्पयेत् ॥

सभाप्रपापूपशालावेशमद्यान्नविक्रयाः ।
चतुष्पथाश्चैत्यवृक्षाः समाजप्रेक्षणानि च ॥

शून्यागाराण्यरण्यानि देवतायतनानि च ।
चारैर्विचेयान्येतानि चोरग्रहणतत्परैः ॥

सभादीनि नित्यं चारैः परीक्ष्याणि तेऽत्र चोरचिह्नैः ग्रहीतव्याः, तदन्वेषणतत्परैः परीक्ष्य एतैर्ग्रहीतव्यास्ते । नाभा. १९।५९-६० (पृ. १८२)

तथैवान्ये प्रणिहिताः श्रद्धेयाश्चित्रवादिनः ।
चोरा ह्युत्साहयेयुस्तांस्तस्करान् पूर्वतस्कराः ॥

तथाऽन्ये प्रणिहिताश्चोराः तैः संहत्य दर्शितप्रत्ययाः 'अन्तर्धानमन्त्रोऽयं अनेन मन्त्रेणापिहितो न दृश्यते

(१) नासं. १५।२२ तन्नि (संनि); नास्मृ. १७।२३ वीते (विक्ते) तन्नि (संनि); अप. २।२६८; विर. ३३५; सेतु. २४७ वोढव्यं ( वोद्धव्यं ).

(२) नासं. १५।२३; नास्मृ. १७।२४; अप. २।२६८; व्यक. ११६ पदे (पादे); विर. ३३५ प्रमू (प्रगू); सेतु. २४७ ज्जना (ज्जला) पात (यात).

(३) नासं. १५।२४ स्तेन ( स्तेय ) राधैर्दु ( दानैर्द्द ); नास्मृ. १७।२५ स्तेन ( तेन ) राधै (वादै); अप. २।२६८; व्यक. ११७; विर. ३३५ समे (सीमा) दु (द्वि); सेतु. २४७ समे (सीमा) पृ.

(१) नासं. १५।२५; नास्मृ. १७।२६; अप. २।२६८; व्यक. ११७; विर. ३३६ श्चण्डा (श्चाण्डा).

(२) अप. २।२६८; विर. ३३५; सेतु. २४७ वः संप्र (वश्च प्र).

(३) नासं. १९।५९; अप. २।२६८ जप्रेक्ष (जाः प्रेक्ष) मनुनारदौ.

(४) नासं. १९।६०; व्यक. ११७ चारै......तानि ( विचित्रैश्चारयेच्चारैः ) उत्त.; विर. ३३७ व्यकवत्, उत्त.

(५) नासं. १९।६१; व्यक. ११७; विर. ३३७ तथैवा ( तथा चा ) चोरा ( चारा ) ह्ये ( दये ).

मनुष्यः' इति पूर्वं राज्ञा संकेतिते गृहे दिवस एव प्रविश्य भाजनादि गृहीत्वा निष्क्रामन्ति । गृहजनश्च तूष्णीमास्ते । ततोऽपरस्मिन् गृहे गूढमनुष्ये प्रवेश्य ते तथोत्पादितप्रत्ययाः चित्रवादिनः 'इदं चेदं चास्मिन् गृहेऽस्ति पर्याप्तमेतदस्माकमि'ति प्रोत्साह्य प्रवेश्य ग्राहयेयुः । नाभा. १९।६१ (पृ. १८२)

[1]अन्नपानमहादानैः समाजोत्सवदर्शनैः ।
तथा चौर्यापदेशैश्च कुर्युस्तेषां प्रसर्पणम् ॥

श्रद्धेयवाक्याः पुराणचोराः तैः सहैकीभूता भोजनं चोद्दिश्य पानं वा 'यूयं निमन्त्रिताः आगच्छतास्मद्गृहे भोक्तुमि' ति दारकस्य बहुदण्डनमिति निमित्तमुद्दिश्य, महादानं वा अहमस्मिन् देशे वस्तुमुत्सहे देशान्तरं यास्यामि यन्ममास्ति तद् युष्मभ्यं दास्यामि अमनुष्यायां वेलायामागच्छतेति, समाजं वा पुत्रं वा पश्यामः उत्सवं वेति, रात्रावागच्छत अदो गृहं तन्मुष्णाम इति, एवमेषां समागमं कारयेयुः । समागतान् ग्राहयेयुः ।

नाभा. १९।६२ ( पृ. १८३)

[2]ये तत्र नोपसर्पन्ति चारैः प्रणिहितैरपि ।
तेऽपि स्युः संग्रहीतव्याः सपुत्रज्ञातिबान्धवाः ॥

ये तथा प्रणिहिता अपि तस्मिन् समागमे नोपसर्पन्ति, ये गताः तेऽप्यनुगत्य सपुत्रदाया(?) ग्रहितव्याः ।

नाभा. १९।६३ ( पृ. १८३ )

[3]अचौरा अपि दृश्यन्ते चौरैः सह समागताः ।
यदृच्छया नैव तु तान् नृपो दण्डेन संस्पृशेत् ॥

अचोरा अपि यदृच्छया चौरैः समागता दृश्यन्ते । तान् विचार्य राजा मुञ्चेत् । न तावता अविचार्यैव शासितव्याः, चौरैः सह दृष्टा इत्येतावता नाविचार्य शासितव्याः । विचार्य शासयेदित्यर्थः ।

नाभा. १९।६४ (पृ. १८३)

[1]यांस्तत्र चोरान् गृह्णीयात्तान् विताड्य निबध्य च ।
अवघुष्य च सर्वत्र हन्याच्चित्रवधेन तु ॥

तथा गृहीतान् चोरान् ताडयित्वा लगुडादिना, गर्दभादिना च भ्रामयित्वा, अवघुष्य च सर्वत्र चतुष्पथचत्वरशृङ्गाटकेष्वेवंकर्माण इति छेदनताडनदहनादिभिर्मारयितव्यास्ते अन्ये मैवं कुरुतेति प्रत्यादेशार्थम् ।

नाभा. १९।६५ ( पृ.१८३ )

स्तेनातिदेशः

[2]चोराणां भक्तदा ये स्युस्तथाप्युदकदायकाः ।
आवासदा देशिकदास्तथैवान्तरदायकाः ॥
[3]क्रेतारश्चैव भाण्डानां प्रतिग्राहिण एव च ।
समदण्डाः स्मृताः सर्वे ये च प्रच्छादयन्ति तान् ॥

(१) आह्वायकाश्चौराणां प्रेरकाः तेषामादेशकारिणः । अथवा आदेशकारास्तेषां प्रेरकाः । अन्तरदायकाश्चौराव-

(१) **नासं.** १९।६२; **व्यक.** ११७ चौ (शौ) प्रसर्पणम् (समागमम्); **विर.** ३३७ अन्नपान (अर्थदानैः) र्यां (रो) प्रसर्पणम् (समागमम्).

(२) **नासं.** १९।६३ चारैः (सृताः) तैरपि (ता अपि) पि स्युः सं (भिसृत्य) ज्ञाति (पशु); **अप.** २।२६८ सर्पन्ति (सर्पेयुः) पुत्र (मित्र); **व्यक.** ११७; **विर.** ३३७.

(३) **नासं.** १९।६४ उत्तरार्धे (यादृच्छिकान् नैव तु तान् राजा दण्डेन शासयेत्); **अप.** २।२६८ मनुनारदौ; **व्यक.** ११७; **विर.** ३३७; **व्यनि.** ५०६; **समु.** १४९-५०.

(१) **नासं.** १९।६५ विताड्य ( आताड्य ) हन्याच्चि (वध्याश्चि) तु (ते); **अप.** २।२६८ यात्ता ( युक्ता ) निबध्य ( विडम्ब्य ) घुष्य (घोष्य) मनुनारदौ; **व्यक.** ११७ निबध्य (विडम्ब्य); **विर.** ३३७ यां (तां) ताड्य निबध्य (भाव्य विलोभ्य); **पमा.** ४४९ ड्य निबध्य (ड्याभिबन्ध्य) घुष्य ( कृष्य ); **व्यनि.** ५०६ निबध्य (विलुप्य); **समु.** १४९ वध्य ( वन्ध्य ) घुष्य (जित्य).

(२) **नासं.** १९।७३; **नास्मृ.** २१।१३ प्यु ( ग्न्यु ) कदास्त (काश्च त) वान्तर (वोत्तर); **व्यक.** ११७ (आह्वायकादेशकारास्तथा चान्तरदायकाः) उत्त.; **विर.** ३४० (आह्वायकादेशकारास्तेषामन्तरदायकाः) उत्त.; **रत्न.** १२६ (आह्वापकादेशकारास्तथैवान्तरदायकाः) उत्त.; **विचि.** १४५ (आह्वापकादेशकारास्तथा चान्तरदायकाः) उत्त.; **दवि.** ८३ (आह्वायकादेशकारास्तथा चान्तरदायकाः) उत्त., कात्यायनः; **वीमि.** २।२७३ व्यकवत्, उत्त.; **विता.** ७९४ ( आह्वायकादेशकारास्तथा चान्तरदायकाः) उत्त.; **सेतु.** २४८ दविवत्, उत्त.

(३) **नासं** १९।७४; **नास्मृ.** २१।१४ ताः सर्वे ( तास्तु ते ); **अप.** २।२७६; **व्यक.** ११७ उत्त.; **विर.** ३४० उत्त.; **रत्न.** १२६ सर्वे (ह्येते) उत्त.; **विचि.** १४५ उत्त.; **दवि.** ८३ उत्त., कात्यायनः; **वीमि.** २।२७३ उत्त.; **विता.** ७९४ रत्नवत्, उत्त.; **सेतु.** २४८ रत्नवत्, उत्त.

काशदायकाः। समदण्डाश्चौरेण। तान् चौरान्।

विर. ३४०

(२) देशिकदा मार्गदेशिकं ददति। अन्तरदाः छिद्रदाः। क्रेतारश्चाप्रकाशं द्रव्याणाम्। चोरहस्तादमूल्येन प्रतिग्राहिणश्च, चोरैरानीय स्थापयन्ति। चोरान् ये प्रच्छादयन्ति च। एते सर्वे चोरतुल्या निग्राह्याः।

नाभा. १९।७३-४ (पृ. १८५)

**[1]भक्तावकाशदातारः स्तेनानां ये प्रसर्पताम्।**
**शक्ताश्च ये उपेक्षन्ते तेऽपि तद्दोषभागिनः॥**

स्तेनानां मुषितुं गच्छतां, मुषित्वा वोपसर्पतां, ये भक्तदाः ज्ञानपूर्वकमवकाशदातारश्च प्रच्छादनार्थं मोषनिधानार्थम्। 'जनिकर्तुः प्रकृतिः' (व्यासू. १।४।३०) इति ज्ञापकात् तृजन्तेन समासः। अभिधावतेत्युद्घोषिते त्रातुं शक्ताः सन्तो ये चौदासीन्येन आसते, ते सर्वे चोरतुल्याः।

नाभा. १५।१८ (पृ. १६२)

**[2]उत्क्रोशतां जनानां च ह्रियमाणे धने तथा।**
**श्रुत्वा ये नाभिधावन्ति तेऽपि तद्दोषभागिनः॥**

अपि चेति न पूर्व एव एतेऽपीति समुच्चयार्थः। उत्क्रोशतां धनं गृहीत्वा चोरा गच्छन्ति परित्रायध्वं परित्रायध्वमिति, धने ह्रियमाणे आह्वानं कुर्वतां ये न धावन्ति शक्ता अशक्ता वा, तेऽपि तद्दोषेण संबध्यन्ते।

नाभा. १५।१९ (पृ.१६२-३)

**[3]राष्ट्रेषु राष्ट्राधिकृताः सामन्ताश्चैव चोदिताः।**
**अभ्याघातेषु विज्ञेया यथा चोरास्तथैव ते॥**

राष्ट्रेष्वधिकृताः प्रत्यन्तेषु च निवेशिताः अयुक्तचौरैर्धरणिकादयः(?) प्रतिवेशाश्चाभिधावतेति चोदिताः अभ्याघातेषु यदि नाभिधावन्ति, चोरवत् ते विज्ञेयाः। अवश्यं तेषां चोरैः सह संविदस्तीति गम्यते।

नाभा. १९।७५ (पृ.१८५)

स्तेनालाभे हृतदानम्

**[1]गोचरे यस्य मुष्येत तेन चौरः प्रयत्नतः।**
**ग्राह्यो दाप्योऽथवा मोषं पदं यदि न निर्गतम्॥**

(१) गोचरे विषये।

विर. ३४४

(२) यस्य वसत्यां मुषितं ग्रामस्य ग्रामण्यो वा, तेन प्रयत्नतः चोरा मृग्याः। अन्यथा मोषं दाप्यः। पदं चिह्नं ततो ग्रामात् निर्गतं यदि न दर्शयेत्। अथान्यस्य गोचरं प्रविष्टनष्टं चोरलिङ्गं दर्शयेत्, शुद्धो भवति।

नाभा. १९।७६ (पृ. १८५)

**[2]निर्गते तु पदे तस्मात् न चेदन्यत्र पातितम्।**
**सामन्तान् मार्गपालांश्च दिक्पालांश्चैव दापयेत्॥**

(१) पदे चौरमार्गे तस्माद्ग्रामान्निर्गते, तद्यदि न ग्रामान्तरे पातितं चौरेण तदा सामन्तादीन् दापयेत्।

अप. २।२७१

---

(१) **नासं.** १५।१८ शक्ताश्च (शक्तौ च); **नास्मृ.** १७।१९; **मिता.** २।२७६ उत्त.; **व्यक.** ११७; **विर.** ३३९ नां ये (नां तु); **पमा.** ४४७ उत्त.; **रत्न.** १२६; **विचि.** १४५ नां ये (नां च); **दवि.** ८३; **नृप्र.** २६६ उत्त.; **सवि.** ४६४ उत्त.; **वीमि.** २।२७३; **व्यप्र.** ३९२ ये उ (यदु) उत्त.; **व्यउ.** १२९ उत्त.; **व्यम.** १०२; **विता.** ७९४ स्तेनानां (चौराणां); **सेतु.** २४८ नां ये (नां च) ये उ (यदु); **समु.** १५२; **विव्य.** ५२ विन्विवत्.

(२) **नासं.** १५।१९ ने तथा (नेऽपि च); **नास्मृ.** १७।२०; **अप.** २।२७६ धने (जने); **पमा.** ४४७ च (तु); **व्यनि.** ५०८ च (तु); **व्यप्र.** ३९२ च (तु); **व्यउ.** १२९ नाभि (नापि); **समु.** १५२ तथा (तदा).

(३) **नासं.** १९।७५; **नास्मृ.** २१।१५ षु विज्ञेया (तु मध्यस्था).

(१) **नासं.** १९।७६ मुष्येत (मुषितं) ग्राह्यो (गृह्य) थवा (न्यथा); **नास्मृ.** २१।१६ चौरः (चौराः) ग्राह्यो (मृग्या) थवा (न्यथा); **भिता.** २।२७१ मुष्ये (लुप्ये) मोषं (शेषं); **अप.** २।२७१; **व्यक.** ११८ थवा (न्यथा); **विर.** ३४४ मुष्येत (दृश्येत) ग्राह्यो दाप्योऽथ (मृग्यो वाप्यथ); **पमा.** ४४८ मोषं (द्रव्यं); **नृप्र.** २६२ गोचरे (गोपदे) मोषं (शेषं): २६६ पमावत्; **व्यउ.** १२५; **व्यम.** १०२ पमावत्; **विता.** ७९५; **समु.** १५२ पमावत्.

(२) **नासं.** १९।७७ न चेद ...... तम् (नष्टेऽन्यत्र निपातिते); **नास्मृ.** २१।१७ पूर्वार्धे (निर्गते तु यदा यस्मिन्नष्टेऽन्यत्र न पातयेत्); **भिता.** २।२७१ तु पदे (पुनरे); **अप.** २।२७१; **व्यक.** ११८; **विर.** ३४४; **पमा.** ४४८ र्गते (र्गतं) पातितम् (याति तत्) शेषं मितावत्; **नृप्र.** २६२ तु पदे तस्मात् (पुनरेतत्स्यात्): २६६ तु पदे तस्मात् (पुनरेतस्य); **व्यउ.** १२५ चेद (तद) शेषं मितावत्; **व्यम.** १०२ मितावत्; **विता.** ७९५ र्गते (र्गतं) शेषं मितावत्; **समु.** १५२ मितावत्.

(२) तस्मान्निर्गते तु पदे तत्र पदं याति, तत्स दद्यात्; न चेद्गतिर्दृश्यते, तदा सामन्तादयो दद्युरित्यर्थः। विर. ३४४

(३) नष्टेऽन्यत्र निपातिते निर्गते तस्माद् गोचरादन्यगोचरं प्राप्य नष्टे, अन्यत्र तु निपातिते तस्य पूर्वैव गतिः, अनिपातिते नष्टे सामन्तादयो दाप्याः। नाभा. १९।७७ (पृ. १८६)

[१]गृहे वै मुषिते राजा चौरग्राहांस्तु दापयेत्।
आरक्षकान् राष्ट्रिकांश्च यदि चौरो न लभ्यते॥
[२]यदि वा दाप्यमानानां तस्मिन् मोषे ससंशये।
मुषितः शपथं कार्यो मोषवैशोध्यकारणात्॥

तेषां दाप्यमानानां दण्डवासिकादीनां च यदि मोषे संशयः स्यात् नाल्पं मोष इति, मुषितः शपथं कारयितव्यः मोषविशोधननिमित्तप्रत्ययकारणात्। कृते शपथे, दाप्याः। अथ न संशयस्तेषां, दाप्या एव। नाभा. १९।७९ (पृ. १८६)

[३]अचोरे दापिते मोषे चोरान्वेषणकारणात्।
उपलब्धे लभेरंस्ते द्विगुणं तत्र दापितात्॥

अचोरे अविद्यमानचोरे मिथ्याभियोगान्मोषे दापिते चोरान्वेषणार्थमुपलब्धे मिथ्याभावे अभियोक्ता तेभ्यो द्विगुणं दाप्यः। राजकुले च यथार्हं दण्ड्यः। अन्य आह— अनुपलभ्यमाने चोरे मिथ्यादापिते मोषे यदि चोरमन्विष्यानयेयुः, चोरो द्विगुणं तेभ्यो दाप्यः। मोषं च मुषितस्य, राजकुले च दण्डमिति। नाभा. १९।८० (पृ. १८६)

[४]चौरैर्हृतं प्रयत्नेन सरूपं प्रतिपादयेत्।
तदभावे तु मूल्यं स्याद् दण्डं दाप्यश्च तत्समम्॥

चौरैः हृतं द्रव्यं मुषितं प्रयत्नेन सरूपं यथाभूतं तथाभूतं प्रतिपादयेद् इदं द्रव्यं दीनारादि यच्च न चास्मादासमादिपुरादि(?) चेति। अप्रतिपादनेनानीते मोषे विसंवदिते मूल्यं चोरसमं दण्ड्यः। नाभा. १९।८१ (पृ. १८६)

[१]स्तेनेष्वलभ्यमानेषु राजा दद्यात् स्वकाद्धनात्।
उपेक्षमाणो ह्येनस्वी धर्मादर्थाच्च हीयते॥

चोरेष्वलभ्यमानेषु राजा स्वधनाद् दद्यात् तद्धनं, नास्ति तस्य रक्षितव्यस्यारक्षणात् स्वदोषान्नष्टत्वात्। उपेक्षमाणोऽददत् स्वधनाच्चोरमन्विष्यादापयंश्च स्वार्थात् तन्निमित्ताद्धीयते। तस्माद् यथोक्तं कर्तव्यम्। नाभा. १५।२६ (पृ. १६४)

[२]वार्त्तां त्रयीमप्यथ दण्डनीतिं
राजाऽनुवर्तेत सदाऽप्रमत्तः।
हन्यादुपायैर्विविधैर्गृहीत्वा
पुरे च राष्ट्रे च विघुष्य चोरान्॥

वार्त्तां कृषिगोरक्षवाणिज्यलक्षणां, त्रयीमृग्यजुस्सामलक्षणां, दण्डनीतिं च सदा राजा अनुवर्तेत। कुटुम्बिनो ब्राह्मणादीन् न पीडयेदित्यर्थः। अर्थशास्त्रं च मनसा नित्यमवेक्षेतेत्यर्थः। अथवा कृष्यादि सदा कुर्यात्। तेनोक्तानि च कर्माणि नित्यं कुर्यात्। अर्थशास्त्रे च यथोक्तं तथा कुर्यात्। किञ्च उपायैर्यथोक्तैरनेकप्रकारैश्चोरान् गृहीत्वा पुरे च राष्ट्रे च चकाराद् ग्रामे च विघुष्य प्रकाशयान्यमोषत्रासजननार्थं हन्यादित्युपसंहारार्थः। नाभा. १९।११९ (पृ. १९२)

## बृहस्पतिः

स्तेनप्रकाराः

[३]प्रकाशाश्चाप्रकाशाश्च तस्करा द्विविधाः स्मृताः।
प्रज्ञासामर्थ्यमायाभिः प्रभिन्नास्ते सहस्रधा॥

---

(१) नासं. १९।७८ वै (तु) चौर...येत् (दापयेद्दण्डवासिकान्) आर...कांश्च (आरक्षिकान् बाहिकांश्च); नास्मृ. २१।१८.

(२) नासं. १९।७९; नास्मृ. २१।१९ दाप्यमानानां (दोषकर्तैव) ससं (तु सं) कार्यो मोषवैशोध्य (शाप्यो मोषे वै शुद्धि).

(३) नासं. १९।८०; नास्मृ. २१।२० (अचौरो बोधितो मोषं चौरो वै शुद्ध्यकारणात्। चौरे लब्धे लभेयुस्ते द्विगुणं प्रतिपादिताः॥).

(४) नासं. १९।८१; नास्मृ. २१।२१ चौरैर्हृतं प्रयत्नेन (चौरहृतं प्रपचैत्र); विव्य. ५३ सरू (स्वरू).

(१) नासं. १५।२६; नास्मृ. १७।२७ द्धनात् (द्गृहात्); व्यनि. ५१४ काद्ध (तो ध); समु. १५२ स्तेने (चोरे) काद्ध (तो ध).

(२) नासं. १९।११९; नास्मृ. २१।६१ त्रयीम (तु यां चा) र्तेत सदाऽप्र (र्तेन्मततप्र) हन्या... ...चोरान् (हन्यादुपायैर्निपुणैर्गृहीतान् तथैव शास्त्रेव निगृह्य पापान्).

(३) व्यक. १०९; स्मृच. ३१७ तस्करा द्विविधाः

प्रज्ञा परद्रव्यहरणानुकूला, माया परव्यामोहनम्।
विर. २८९

[1]नैगमा वैद्यकितवाः सभ्योत्कोचकवञ्चकाः।
दैवोत्पातविदो भद्राः शिल्पज्ञाः प्रतिरूपकाः॥
[2]अक्रियाकारिणश्चैव मध्यस्थाः कूटसाक्षिणः।
प्रकाशतस्करा ह्येते तथा कुहकजीविनः॥

(१) के पुनः प्रकाशतस्करा इत्यपेक्षिते स्वयमेवाह —नैगमा इति। प्रतिरूपकाः प्रतिरूपकराः।
स्मृच. ३१७

(२) नैगमा अत्र कपटतुलादिधारणद्वारा अर्थहारिणः। वैद्या रोगं प्रकोप्यार्थहारिणः। कितवा कूटदेवनद्वारा अर्थहारिणः। सभ्याः पार्षदाः अर्थलोभेनान्यायवादिनः। उत्कोचकाः कार्याधिकृताः सन्तः उत्कोचग्राहकाः। वञ्चकाः संभूयोद्यतानां प्रच्छाद्येतरार्थग्राहिणः। दैवं भाग्यमुत्पातोद्भूतं तद्विदो मिथ्योक्त्याऽर्थहराः। भद्राः शान्तिनियुक्ताः शान्तिमकृत्वैवार्थहराः। शिल्पज्ञाः कूटशिल्पेनार्थहराः। प्रतिरूपकाः कूटशिवाङ्कादिद्वारा अर्थहराः। अक्रियाकारिणो भृतका भृतिं गृहीत्वा अक्रियाकारिणः। मध्यस्था मूल्यव्यवस्थापकाः कूटमूल्यव्यवस्थापनेनार्थहराः। कूटसाक्षिणोऽयथावादेन परव्यवहारसाक्षिणः। कुहकजीविन इन्द्रजालादिनार्थहारिणो विवक्षिताः।
विर. २८९-९०

(३) वञ्चकाः संभूयोद्यतानां प्रच्छाद्यैकतरार्थहारिण इति रत्नाकरः। ये सुवर्णादिद्रव्यं गृहीत्वाऽपद्रव्यप्रक्षेपेण वञ्चयन्ति इति मनुटीका। दैवं भाग्यमुत्पातोद्भूतं तद्विदो मिथ्योक्त्या अर्थहारिण इति रत्नाकरः। हलायुधस्तु 'तथैवोत्पातविद' इति पठित्वा ये मिथ्यैवोत्पातदर्शनेन गृह्णन्तीत्याह। भद्राः शान्तिनियुक्ताः शान्तिमकृत्वैवार्थहरा इति रत्नाकरः। कल्याणाकारतया प्रच्छन्नपापा धनग्राहिण इति मनुटीकायां कुल्लूकभट्टः। स्वरूपतामात्मनो निधाय स्त्र्यादिव्यामोहका इति सर्वज्ञः। शिल्पज्ञाः कूटशिल्पेनार्थहराः प्रतिरूपकाः कूटशिवाङ्कादिद्वारा अर्थहरा इति रत्नाकरः। मिथ्याश्रमणलिङ्गदण्डादिधारिण इति हलायुधः।
*दवि. ११७

[1]संधिच्छिदः पान्थमुषो द्विचतुष्पदहारिणः।
उत्क्षेपकाः शस्यहरा ज्ञेयाः प्रच्छन्नतस्कराः॥

उत्क्षेपकाः रक्षकस्याग्रत एवानवहितस्य दृष्टिं वञ्चयित्वा अर्थहारिणः। शस्यहरशब्देन एतद्वाक्यपूर्वोक्तप्रच्छन्नहारकमात्रं विवक्षितम्।
×विर. २९२

प्रकाशतस्करदण्डाः

[2]शुल्कं दद्युस्ततो मासमेकैकं पण्यमेव च।
अर्घावरं च मूल्येन वणिजस्ते पृथक् पृथक्॥
[3]प्रच्छाद्य दोषं व्यामिश्र्य पुनः संस्कृत्य विक्रयी।
पण्यं तद्द्विगुणं दाप्यो वणिग्दण्डं च तत्समम्॥

---

(द्विविधास्तस्कराः); विर. २८९ तस्क ...... स्मृताः (द्विविधास्तस्करा मताः) स्तथा (स्तशः); पमा. ४३७; रत्न. १२४; सवि. ४६०; व्यप्र. ३८६; व्यउ. १२८ स्तथा (स्तशः); विता. ७७७ उत्त.; सेतु. २२७ स्तथा (स्तशः) शेषं स्मृचवत्; समु. १४८.

(१) व्यक. १०९; स्मृच. ३१७; विर. २८९; पमा. ४३८; रत्न. १२४; दवि. ११६ भ्योत्को (भ्या उ) रूप (रूपि); व्यप्र. ३८६; व्यउ. १२४; व्यम. १०१ विदो भद्राः (कराः क्षुद्राः) क्रमेण नारदः; विता. ७७८; सेतु. २२७; समु. १४८.

(२) व्यक. १०९; स्मृच. ३१७ ह्येते (एते) जीवि (जीव); विर. २८९; पमा. ४३८; रत्न. १२४; दवि. ११७; व्यप्र. ३८६; व्यउ. १२४; व्यम. १०१ क्रमेण नारदः; विता. ७७८; सेतु. २२८; समु. १४८.

* शेषं विरवत्। × दवि. विरवत्।

(१) विर. २९२ पान्थ (प्रान्त); पमा. ४३८; व्यनि. ५०३ ष्पद (ष्पाद); दवि. १२१ व्यनिवत्; सेतु. २२८; समु. १४८ नारदः.

(२) मभा. १०।३४ दद्युस्त (दद्यात्त) अर्घावरं च (अर्घार्घावर); गौमि. १०।३५.

(३) अप. २।२४४ पूर्वार्धे (प्रच्छन्नदोषव्यामिश्रं पुनः संस्कृतविक्रयी) पण्यं (पण्ये); विर. २९७ पण्यं तद्द्वि (पण्यं तु द्वि) पूर्वार्धं अपवत्; पमा. ४३९ श्र्य (श्रं) ग्दण्डं (ग्दण्ड्यः); रत्न. १२४; विचि. १२६ च्छाद्य (च्छन्न) श्र्य (श्रं) त्य (त); व्यनि. ५१३ प्रच्छा...श्र्य (अभिन्नदोषव्यामिश्रं) वणि...मम् (मणिगण्डश्च तत्समः); दवि. १०० तद्द्वि (च द्वि) शेषं अपवत्; व्यप्र. ३८७; व्यउ. १२६; व्यम. १०१ ग्दण्डं (ग्दत्तं); विता. ७७९ पण्यं (पण्यान्); सेतु. २३१ पूर्वार्धे (प्रच्छन्नदोषव्यामिश्रपुनःसंस्कृतविक्रयी); समु. १५०.

(१) प्रच्छन्नदोषो ·गोपितदोषः । व्यामिश्रमनभिमतद्रव्येण । पुनः संस्कृतं पुरातनमेव संभावनादिना नवीकृतम् । विर. २९७

(२) संगुप्तदोषमपद्रव्यमिश्रितं वा शाणादिना पुनर्नवीकृतं वा यो विक्रीणीते स कृतभाजनाद्द्विगुणं भाजनादिकं क्रेतरि क्रीतद्रव्यसमं च दण्डं राजनि दाप्य इत्यर्थः । विचि. १२६

¹अल्पमूल्यं तु संस्कृत्य नयन्ति बहुमूल्यताम् ।
स्त्रीबालकान् वञ्चयन्ति दण्ड्यास्तेऽर्थानुसारतः॥

²हेममुक्ताप्रवालाद्यान् कृत्रिमान् कुर्वते तु ये ।
क्रेतुर्मूल्यं प्रदाप्यास्ते राज्ञा तद्द्विगुणं दमम् ॥

द्विगुणं विक्रीततादृग्द्रव्यमूल्यापेक्षया ।

विर. ३११

³अज्ञातौषधिमन्त्रस्तु यश्च व्याधेरतत्त्ववित् ।
रोगिभ्योऽर्थं समादत्ते स दण्ड्यश्चौरवद्भिषक् ॥

¹अन्यायवादिनः सभ्यास्तथैवोत्कोचजीविनः ।
विश्वस्तवञ्चकाश्चैव निर्वास्याः सर्व एव ते ॥

सभ्याः पार्षदाः । अर्थलाभेनान्यायवादिनः । विस्रब्धवञ्चकाः सम्यङ्निर्णयानुकूलवञ्चनव्यतिरिक्तवञ्चनकर्तारः । उत्कोचादायिनो द्विविधाः— उत्कोचग्राहिणस्तदाजीविनश्च । दवि. १०५

कूटाक्षदेविनः क्षुद्रा राजभागहराश्च ये ।
गणका वञ्चकाश्चैव दण्ड्यास्ते कितवाः स्मृताः * ॥

²ज्योतिर्ज्ञानं तथोत्पातमविदित्वा तु ये नृणाम् ।
श्रावयन्त्यर्थलोभेन विनेयास्ते प्रयत्नतः ॥

अर्थलोभेनेति वचनादर्थानुसारी दण्डः ।

दवि. ११२

³दण्डाजिनादिभिर्युक्तमात्मानं दर्शयन्ति ये ।
हिंसन्ति छद्मना नृणां वध्यास्ते राजपूरुषैः ॥

⁴मध्यस्था वञ्चयन्त्येकं स्नेहलोभादिना यदा ।
साक्षिणश्चान्यथा ब्रूयुर्दाप्यास्ते द्विगुणं दमम् ॥

---

(१) अप. २।२४६ सारतः ( रूपतः ); व्यक. ११२ अपवत्; विर. ३१० ण्ड्यास्तेऽ ( ण्ड्या अ ); पमा. ४३९; रत्न. १२४; विचि. १३२ अल्प ( स्वल्प ) ण्ड्यास्तेऽर्थानुसारतः ( ण्ड्या अर्थानुरूपतः ); व्यनि. ५१३; दवि. १०१; व्यप्र. ३८८; व्यउ. १२६; व्यम. १०१ अल्प ( स्वल्प ) स्त्रीबालकान् ( ये चाज्ञकान् ); विता. ७७९-८० अल्प (स्वल्प) स्त्री ( ये ); सेतु. २३४ ण्ड्यास्तेऽर्थानुसारतः ( ण्ड्या अर्थानुरूपतः ); समु. १५०.

(२) अप. २।२४६ द्यान् कृत्रिमान् ( द्यं कृत्रिमं ) क्रेतुर्मू ( क्रेत्रे मू ); व्यक. ११२ अपवत्; विर. ३१०-११ द्यान्... ...र्वते ( द्यं कुर्वते कृत्रिमं ) क्रेतुर्मू( क्रेत्रे मू ) ज्ञा तद्द्वि ( ज्ञे च द्वि ); पमा. ४४० मुक्ता ( रत्न ); रत्न. १२४ पमावत्; विचि. १३३ विरवत्; व्यनि. ५१३ द्यान् कृत्रिमान् ( नां कृत्रिमं ) क्रेतु...स्ते ( ते तन्मूल्यं प्रदाप्यास्तु ); दवि. १०१ विरवत्; व्यप्र. ३८८ पमावत्; व्यउ. १२६ पमावत्; व्यम. १०१ मुक्ता ( रत्न ) तद्द्वि ( च द्वि ); विता. ७८० पमावत्; सेतु. २३४ विरवत्; समु. १५० मुक्ता ( रत्न ) ज्ञा ( ज्ञे ).

(३) अप. २।२४२ पूर्वार्धे ( अजानन्नौषधं तन्त्रं यश्च व्याधेरतन्त्रवित् ) समा ( उपा ); व्यक. ११२ ज्ञातौषधि ( जातौषध ); विर. ३०६ षधि ( षध ); पमा. ४३९; रत्न. १२४; व्यनि. ५१० षधि ( षध ) यश्च ( यस्तु ) ऽर्थं समा ( ह्यर्थमा ); दवि. १०४ मनुः ; व्यप्र. ३८७; व्यउ. १२६

* व्याख्यासंग्रहः स्थलादिनिर्देशश्च द्यूतसमाह्वये द्रष्टव्यः ।

ज्ञातौ ( ज्ञानौ ); व्यम. १०१; विता. ७७९; समु. १५०.

(१) व्यक. ११२; विर. ३०७ श्वस्त ( स्रब्ध ); पमा. ४३९; रत्न. १२४; विचि. १३०-३१ विरवत्; दवि. १०५ विरवत् : ३३८ ( अन्यायवादिनः सभ्या निर्वास्याः सर्व एव ते ) एतावदेव; व्यप्र. ३८७; व्यउ. १२६; व्यम. १०१; विता. ७७९; सेतु. २३२ विरवत्.

(२) व्यक. ११२; विर. ३०८ प्रयत्नतः ( ऽपि यत्नतः ); पमा. ४३९; रत्न. १२४; दवि. ११२ विरवत्; व्यप्र. ३८७; व्यउ. १२६; व्यम. १०१ तु ये ( तथा ) श्रावयन्त्यर्थलोभेन ( शकुनादि च ये ब्रूयुः ); विता. ७७९; सेतु. २३२ विरवत्.

(३) व्यक. ११२ दिभिर्यु ( दिना यु ); स्मृच. ३२५ दिभिर्यु ( दिना यु ) नृणां ( शून्ये ); विर. ३०८-९ व्यकवत् ; पमा. ४३९ न्ति छ ( न्तश्छ ); रत्न. १२४; विचि. १३१ पूर्वार्धे ( दण्डादियुक्तमात्मानं दर्शयन्ति मृषा तु ये ) नृणां ( नॄन् ये ); दवि. ११५, ११७ दिभिर्यु ( दिना यु ) नृणां ( चार्थं ); व्यप्र. ३८८; व्यउ. १२६; विता. ७७९ नृणां ( नॄंश्च ); समु. १५० दिभिर्यु ( दिना यु ) हिंस ( गृह्ण ) नृणां ( चार्थं ).

(४) व्यक. ११३ यदा ( यतः ); विर. ३१४; पमा.

[1]मन्त्रौषधिबलात्किञ्चित्संभ्रान्तिं दर्शयन्ति ये ।
मूलकर्म च कुर्वन्ति निर्वास्यास्ते महीभुजा ॥

यावन्ति वञ्चयन्ति तद्द्विगुणं, मूलकर्म वशीकरणमत्र ।

विर. ३१५

अप्रकाशतस्करदण्डाः

[2]संधिच्छेदकृतो ज्ञात्वा शूलमाग्राहयेत् प्रभुः ।
तथा पान्थमुषो वृक्षे गले बद्ध्वाऽवलम्बयेत् ॥

[3]एकस्मिन् यत्र निधनं प्रापिते दुष्टचारिणि ।
बहूनां भवति क्षेमस्तस्य पुण्यप्रदो वधः ॥

[4]मनुष्यहारिणो राज्ञा दग्धव्यास्तु कटाग्निना ।
गोहर्तुर्नासिकां छित्त्वा बद्ध्वाऽम्भसि निमज्जयेत् ॥

कटेन वेष्टयित्वा तत्प्रभवेणाग्निना दाह्या इत्यर्थः ।

विर. ३१७

[5]प्रथमे ग्रन्थिभेदानां अङ्गुल्यङ्गुष्ठयोर्वधः ।
द्वितीये हस्तपच्छेदं तृतीये वधमर्हति ॥

---

४४०; रत्न. १२४; दवि. १०६ यदा ( तथा ); व्यप्र. ३८८; व्यउ. १२६; व्यम. १०१ वञ्चयन्त्येकं स्नेह ( वञ्चकाः स्युश्चेद्राग ); विता. ७८० स्या वञ्चयन्त्येकं ( स्थो वञ्चयेल्लोकं ); समु. १५० स्नेह ( राग ).

(१) व्यक. ११३; स्मृच. ३२६; विर. ३१५ त्संभ्रान्तिं दर्श ( यावन्ति वञ्च ); दवि. ११५; सवि. ४७५ भ्रा ( श्रा ) दर्श ( जन ); समु. १५८.

(२) अप. २।२७३ पूर्वार्धे ( संधिच्छिद्रो हृतं त्याज्याः शूलमारोपयेत्ततः ); व्यक. ११३; स्मृच. ३१८ उत्त.; विर. ३१७ पूर्वार्धे ( संधिच्छिदो हृतं त्याज्याः शूलमारोहयेत्ततः ); पमा. ४४० गले ( गलं ); रत्न. १२५ उत्त.; दवि. १२४ पूर्वार्धे (संधिच्छिद्रो हृतं दाप्याः शूलमारोपयेत्ततः); सवि. ४६१ पमावत्, उत्त.; व्यप्र. ३८८ वृक्षे ( वृक्षं ); व्यउ. १२७; व्यम. १०२ उत्त.; विता. ७८२ ऽवल ( च ल ) उत्त.; सेतु. २३५ ( संधिच्छिद्रोऽसकृद्ये तान् शूलमारोपयेत्ततः ) पू. : २३६ उत्त.; समु. १५०.

(३) स्मृच. ३१८; समु. १५०.

(४) व्यक. ११४ द्ध्वाऽम्भसि नि (द्ध्वा चाम्भसि); स्मृच. ३१८ उत्त.; विर. ३१७ पू.; पमा. ४४० स्तु (स्ते) छित्त्वा......नि (छिन्द्यात् बद्ध्वा वाऽम्भसि); रत्न. १२५ उत्त.; विचि. १३४; दवि. १२५ पू.; सेतु. २३६ पू.; समु. १५० व्यास्तु ( व्या वै ); विव्य. ५१ पू.

(५) स्मृच. ३१८ दानां ( दान्तं ) पू.; सवि. ४६२ पू.; समु. १५०.

[1]उत्क्षेपकस्य संदंशश्छेत्तव्यो राजपूरुषैः ।
धान्यहर्ता दशगुणं दाप्यः स्याद्द्विगुणं दमम् ॥

[2]तृणं वा यदि वा काष्ठं पुष्पं वा यदि वा फलम् ।
अनापृच्छ्य तु गृह्णानो हस्तच्छेदनमर्हति ॥

(१) तृणमिति, तद्द्विजव्यतिरिक्तविषयमनापद्विषयं वा गवादिव्यतिरिक्तविषयं वेति । मिता. २।१६६

(२) तृणमिति बृहस्पतिवचनमप्यतिप्रसङ्गविषयमेव । तृणाद्यपहारविषयेण मूल्यद्विपञ्चगुणदण्डेन समं हस्तच्छेदस्य वैषम्येण विकल्पायोगादिति द्रष्टव्यम् ।

दवि. १४२

[3]वृत्तस्वाध्यायवान् स्तेयी बन्धनात् क्लिश्यते चिरम् ।
स्वामिने तद्धनं दाप्यः प्रायश्चित्तं च कार्यते ॥

[4]इष्टकापूर्णसंयुक्तो रक्तमाल्यविभूषितः ।
घोषितस्तेन चौर्येण स्तेनो राज्ञा निहन्यते ॥

अन्नप्रदाता स्तेनानां स्तेन एव स उच्यते ।
तस्य हत्वा तु सर्वस्वं श्वपदं तु मुखेऽङ्कयेत् ॥

भित्त्वा गृहं गृहीत्वा स्वं कृत्वा संस्कारमेव च ।
राजा साहसिकं राष्ट्रात् .........त्यजेत् ॥

चौरान्वेषणम्

[5]संसर्गचिह्नलोप्त्रैश्च विज्ञाता राजपूरुषैः ।
प्रदाप्यापहृतं शास्या दमैः शास्त्रप्रचोदितैः ॥

---

(१) स्मृच. ३१८ संदश ( संदेशः ) पू.; विर. ३२२ हर्ता ( हारा ) प्यः स्या ( प्यास्त ) उत्त.; पमा. ४४० स्य संदंशश्छे ( स्तु संदंशैर्भे ); रत्न. १२४ पू.; व्यप्र. ३८८ पू.; व्यउ. १२६ पू., व्यासः; विता. ७८२ पू.; समु. १५०.

(२) मिता. २।१६६ (=) पृच्छ्य तु ( पृच्छन् हि ); अप. २।१६६ पृच्छ्य ( पृष्टं ) स्मृत्यन्तरम् : २।२७५ पृच्छ्य तु ( पृच्छंस्तु ) स्मृतिः ; व्यक. ११५; विर. ३२९; विचि. १४२; दवि. ४२ (=) तु ( हि ) : १४२; विता. ६६९ (=) तु ( हि ); सेतु. २४३-४ पृच्छ्य ( पृष्टं ); समु. १५१ स्मृत्यन्तरम्.

(३) अप. २।२७० नात् क्लि ( ने क्ले ); विर. ३३१ च कार्यते ( तु कारयेत् ); विचि. १४३-४ च ( स ); दवि. ६७; सेतु. २४५ वृत्त ( व्रत ) च ( न ).

(४) व्यनि. ५०७.

(५) व्यक. ११०; स्मृच. ३१८ सर्ग ( सर्गैः ) ता (तो)

(१) संसर्गः कुत्सितसंसर्गः। चिह्नं चौर्यसाधनसंग्रहवत्त्वादिकम्। लोप्त्रं स्तेयावाप्तं धनम्। प्रदाप्यः स्वामिन इति शेषः। स्मृच. ३११८

(२) संसर्गो निर्णीतचौरैः सह मिलनम्। चिह्नमसाधारणं चौर्यादिचिह्नलिङ्गम्। लोप्त्रं मुषितद्रव्यम्। विर. २९३

(३) संसर्गः प्रमितैश्चौरैः सह मिलनम्। चिह्नं चौरत्वलिङ्गं संधिखनित्रादि। लोप्त्रं चोरितद्रव्यम्। एषामन्यतमेनापि चौरमवधार्य चोरितद्रव्यं तद्द्वारा द्रव्यस्वामिने प्रदाप्य राजा शास्त्रदृष्टेन दण्डेन तं शमयेदित्यर्थः। विचि. १२४

(४) इह संसर्गादिकं राजपुरुषाणां ग्रहणनिमित्तं न तु निश्चायकमविनाभावाभावात्। दवि. ८१

स्तेयदोषप्रतिप्रसवः

त्रपुषे वारुके द्वे तु पञ्चाम्रं पञ्चदाडिमम्।
खर्जूरबदरादीनां मुष्टिं गृह्णन्न दुष्यति॥

## कात्यायनः

स्तेयसाहसयोर्लक्षणम्

[१]प्रच्छन्नं वा प्रकाशं वा निशायामथवा दिवा।
यत्परद्रव्यहरणं स्तेयं तत्परिकीर्तितम्॥
सान्वयस्त्वपहारो यः प्रसह्य हरणं च यत्।
साहसं च भवेदेवं स्तेयमुक्तं विनिह्नवः *॥

प्रकाशतस्करदण्डाः

[२]तुलामानप्रतीमानप्रतिरूपकलक्षितैः।
चरन्नलक्षितैर्वाऽपि प्राप्नुयात्पूर्वसाहसम्॥

(१) प्रतिमानं परिमाणमिति प्रसिद्धम्। तुलामानप्रतिमानैः प्रतिरूपकैराभासलक्षितैर्वा चरन् व्यवहरन् पूर्वसाहसं प्राप्नुयात्। एतच्चाष्टमांशाधिकहरणपक्षे, तेन न पूर्वयाज्ञवल्क्येन विरोधः। विर. २९५-६

(२) तच्च सुवर्णादिमाननिश्चयार्थं राजचिह्नाङ्कितं शिलाशकलादि, प्रतिमानेति प्रसिद्धम्। दवि. ८९

[३]अविद्वान् याजको वा स्यात् प्रवक्ता चानवस्थितः।
तावुभौ चोरदण्डेन विनीय स्थापयेत्पथि॥
[३]उत्कोचजीविनो मत्तान् शोधयित्वा स्वमण्डलात्।
सर्वस्वहरणं कृत्वा राजा विप्रान् विवासयेत्।
इतरानपि तत्कृत्वा वधाद्यैरेव योजयेत्॥

अप्रकाशतस्करदण्डाः

[३]स्वदेशघातिनो ये स्युस्तथा मार्गनिरोधकाः।
तेषां सर्वस्वमादाय राजा शूले निवेशयेत् *॥
[४]येन येन परद्रोहं करोत्यङ्गेन तस्करः।
छिन्द्यात्तत्तु नृपस्तस्य न करोति यथा पुनः॥

इति कात्यायनवचनं तदव्यक्तमेवातिप्रसङ्गविषयं 'न करोति यथा पुनरि'त्यभिधानात्। एवञ्च यत्र दण्डे विशेषो न श्रूयते तत्रैव तदव्यक्तव्यवस्थानुसारेणैव तत्कल्पनमिति प्रतिभाति। दवि. १४२

[५]सर्वस्वं हरतः स्त्रीं तु कन्यापहरणे वधः।
वाजिवारणबालानां चाददीत बृहस्पतिः॥

---

* व्याख्यासंग्रहः स्थलादिनिर्देशश्च साहसप्रकरणे (पृ. १६४८) द्रष्टव्यः।

* व्याख्यासंग्रहः नारदे अस्मिन्नेव प्रकरणे (पृ. १७४८) द्रष्टव्यः।

प्या (प्योऽ) स्या (स्यो); विर. २९३; पमा. ४३९ लोप्त्रै प्या (प्योऽ) स्या (स्यो); रत्न. १२५ ता (तो) स्या (रूपै) शास्या (दण्ड्या); विचि. १२३-४; व्यनि. ५०४ ज्ञाता (ज्ञेयो) (स्यो); दवि. ८० चिह्नलोप्त्रै (लोप्त्रप्या (प्योऽ) शास्या (राज्ञा); चिह्नै) चोदि (देशि); विता. ७९० स्या (स्यो) उत्त.; सेतु. २२९ वितावत्; समु. १५० चिह्नलोप्त्रै (लोप्त्रचिह्नै).

(१) कात्यायनस्मृतिसारोद्धारः (By Prof. P. V. Kane) Page 99 Verse 822 A. गृहस्थरत्नाकर.

(२) दा. २२४; दात. १८२ उत्त.; विच. ९६ उत्त.

(३) व्यक. ११०; विर. २९५ प्रती (प्रति); विचि. १२५; दवि. ८९ प्रतीमान (प्रतिमानैः); विव्य. ५१ त्पूर्वसाहसम् (त्स शतद्वयम्).

(१) विश्व. ३।२५२; कात्यायनस्मृतिसारोद्धारः (By Prof. P. V. Kane) Page 100 Verse 828.

(२) समु. १६५.

(३) अप. २।२७३; विर. ३१७ नारदकात्यायनौ; व्यनि. ५०८ धकाः (धिनः) नारदकात्यायनौ; दवि. १२५ नारदकात्यायनौ; सेतु. २३६ नारदकात्यायनौ.

(४) अप. २।२७४ त्यङ्गेन (त्यंशेन) तत्तु (दक्ष); व्यक. ११५ त्तत्तु (त्तं तं); विर. ३२९; विचि. १४१-२ त्तु नृ (त्तन्नृ); दवि. १४२ त्तु नृपस्तस्य (त्तस्य नृपतिः).

(५) व्यक. ११४; विर. ३१८ उत्त.; रत्न. १२५

सर्वस्वमित्यनुषङ्गः, हरणे इत्यपि पूरणीयम् ।

विर. ३१८

[1]मानवाः सद्य एवाहुः सहोढानां प्रवासनम् ।
गौतमानामनिष्टं यत्प्राण्युच्छेदाद्विगर्हितम् ॥
[2]सहोढमसहोढं वा तत्त्वागमितसाहसम् ।
प्रगृह्य चिह्नमावेद्य सर्वस्वैर्विनियोजयेत् ॥
[3]अयःसंदानगुप्ताश्च मन्दभक्ता बलान्विताः ।
कुर्युः कर्माणि नृपतेरामृत्योरिति कौशिकः ॥

(१) अत्र कात्यायनवाक्ये वृत्तस्वाध्यायवतः प्रवासनं, तच्छून्यस्य धनवतः सर्वस्वहरणं, निर्धनस्य तु तथाविधस्य बन्धनादिकमभिप्रेतं ब्राह्मणविषयं चैतत् । तत्त्वागमितसाहसं तत्त्वेन आगमितं ज्ञापितं साहसं चौर्यं यस्य स तथा । पूर्वं बलान्विताः सन्तः अयःसंदानगुप्ता लौहनिगडबद्धाः मन्दभक्ताः कर्ममात्रौपयिकबलजनकभोजनभाजः कर्माणि कुर्युरामृत्योरिति योजना ।

विर. ३३२

(२) सहोढं लोप्त्रम् । सर्वस्वेनेति । इदं तु वृत्तस्वाध्यायरहितधनवद्ब्राह्मणपरम् । निगडबन्धनकिञ्चिद्भक्ष्यदानराजदास्याचरणं तु तादृशनिर्धनब्राह्मणपरम् ।

विचि. १४३

[4]परदेशाद्धृतं द्रव्यं स्वदेशे यः समाहरेत् ।
गृहीत्वा तस्य तद्द्रव्यमदण्डं तं विसर्जयेत् ॥

वैदेशेन देशान्तरादागतेन इति हलायुधः । तदेतदसाधारणनिमित्तकमपि सर्वजातिसाधारणमुक्तम् ।

दवि. ४२

[1]येन दोषेण शूद्रस्य दण्डो भवति धर्मतः ।
तेन चेत्क्षत्रविप्राणां द्विगुणो द्विगुणो भवेत् ॥

अविद्वच्छूद्रापेक्षया विदुषः शूद्रस्याष्टगुणो यो दण्डः तादृशमेव विट्क्षत्रियविप्राणां तेन द्विगुणो द्विगुणः षोडशगुणद्वात्रिंशद्गुणचतुःषष्टिगुणो दण्ड इत्यर्थः ।

विर. ३४२

चौरान्वेषणम्

[2]अन्यहस्तात्परिभ्रष्टमकामादुद्धृतं भुवि ।
चौरेण वा परिक्षिप्तं लोप्त्रं यत्नात् परीक्षयेत् ॥

स्तेनातिदेशः

[3]चौराणां भक्तदा ये स्युस्तथाग्न्युदकदायिनः ।
क्रेतारश्चैव भाण्डानां प्रतिग्राहिण एव च ।
समदण्डाः स्मृता ह्येते ये च प्रच्छादयन्ति तान् ॥

(१) भाण्डानां चोरितद्रव्याणां, प्रतिग्राहिणः तेषां मुषितधनप्रतिग्रहकर्तारः ।

विर. ३४०

(२) चोरितद्रव्याणां तथा ज्ञातानां क्रेता ग्रहीता संगोप्ता च चौरसमदण्ड्य इत्यर्थः ।

विचि. १४५

स्तेनालाभे हृतदानम्

[4]गृहेषु मुषितं राजा चौरग्राहांस्तु दापयेत् ।
आरक्षकांस्तु दिक्पालान् यदि चौरो न लभ्यते ॥

---

बाला ( लोहा ) चाद ( वाद ) उत्त.; **दवि.** १३० उत्त., व्यासः ; **व्यप्र.** ३८९ बाला ( लोहा ) उत्त., नारदः; **व्यउ.** १२७ व्यप्रवत्, नारदः ; **व्यम.** १०२ व्यप्रवत्, नारदः ; **विता.** ७८३ रत्नवत्, नारदः; **बाल.** २।२७५; **सेतु.** २३७; **समु.** १५० व्यप्रवत्, नारदः.

(१) **व्यक.** ११६ पू.; **विर.** ३३२; **दवि.** ६६ पू.

(२) **अप.** २।२७५ ह्य चिह्न ( ह्याऽऽच्छिन्न ) विंनियो ( विंप्रयो ); **विर.** ३३२ प्रगृ ( संगृ ); **विचि.** १४३ तत्त्वा ( मत्वा ) ह्य चि ( ह्याच्चि ) स्वैर्विनि ( स्वेन वि ); **दवि.** ६६ ( सहोढमसहोढं वा सर्वस्वैर्विप्रयोजयेत् ) एतावदेव; **सेतु.** २४४.

(३) **अप.** २।२७५ दान ( धान ) श्च ( स्तु ); **विर.** ३३२; **विचि.** १४३ बला ( गुणा ); **दवि.** ६६ बलान्विताः ( महाबलाः ); **सेतु.** २४४-५ दानगुप्ता ( धानयुक्ता ).

(४) **अप.** २।२७५ स्वदे...हरेत् ( वैदेहेयेन यदा भवेत् ); **विर.** ३३३; **दवि.** ४२ स्वदे...रेत् ( वैदेशेन यदा भवेत् ).

(१) **विर.** ३४२ चेत् ( विट् ) अवशिष्टस्थलादिनिर्देशः दण्डमातृकाप्रकरणे ( पृ. ५९५ ) द्रष्टव्यः ।

(२) **अप.** २।२६८; **विर.** ३३७.

(३) **व्यक.** ११७ दायिनः (दायकाः) ह्येते ( सर्वे ); **विर.** ३४० ह्येते ( सर्वे ) अन्त्यार्धद्वयम्; **पमा.** ४४६ दायिनः ( दायकाः ); **दीक.** ५४ विरवत्, अन्त्यार्धद्वयम्; **विचि.** १४५ श्चैव ( श्चौर ) अन्त्यार्धद्वयम्; **व्यनि.** ५०७ विरवत्, अन्त्यार्धद्वयम्; **दवि.** ८३ विरवत्, अन्त्यार्धद्वयम्; **व्यप्र.** ३९२ क्रेता ( छेत्ता ); **व्यउ.** १२९ व्यप्रवत्; **सेतु.** २४८-९ अन्त्यार्धद्वयम्; **समु.** १५२; **विव्य.** ५२ ता ह्येते ( ताश्चैव ) अन्त्यार्धद्वयम्.

(४) **अप.** २।२७१ षु ( तु ) आरक्षकांस्तु ( अरक्षकांश्च );

(१) चौरग्राहश्चौरान्वेषणे विशिष्य नियुक्तः। आरक्षको ग्रामरक्षानियुक्तः। दिक्पालो दिक्षु नियुक्तो, देशपतिर्यस्य प्रसिद्धिः। अत्र च गृहेष्विति उपलक्षणं यथासंभवमुषितदातृत्वम्। विर. ३४३

(२) गृहेष्वित्युपलक्षणम्। यदि चौरोऽन्विष्यमाणो न लभ्यते तदा तदनुसंधायकद्वारा वा देशपतिद्वारा वा चोरितं धनं राजा दापयेदित्यर्थः। आरक्षकः कोटवार इति प्रसिद्धः। देशपतिस्तद्देशरक्षाधिकृतः।

विचि. १४७

(३) दिक्पालो दिक्षु नियुक्तः स च स्थानपाल इति मिताक्षरा। देशपतिरिति प्रसिद्धो देशपाल इति रत्नाकरः। यत्र ग्रामे विशिष्टरक्षानियुक्तो नास्ति तद्विषयमिदम्। *दवि. ८६-७

**[१]अचौराद्दापितं द्रव्यं चौरान्वेषणतत्परैः।**
**उपलब्धे लभेरंस्ते द्विगुणं तत्र दापयेत्॥**
**[२]ग्रामान्तेषु हृतं द्रव्यं ग्रामाध्यक्षं प्रदापयेत्।**
**विवीते स्वामिना देयं चौरोद्धर्ता त्ववीतके॥**

विवीते अरण्ये। स्वामिना राज्ञा चौरोद्धर्त्रा चौराश्रयभूतेनाविवीते क्षेत्रादौ। विचि. १४८

**[३]स्वदेशे यस्य यत्किञ्चित् हृतं देयं नृपेण तत्।**
**गृह्णीयात्तत्स्वयं नष्टं प्राप्तमन्विष्य पार्थिवः॥**
**[४]चौरैर्हृतं प्रयत्नेन स्वरूपं प्रतिपादयेत्।**
**तदभावे तु मूल्यं स्यादन्यथा किल्बिषी नृपः॥**
**लब्धे तु चौरे यदि च मोषस्तस्मान्न लभ्यते।**
**दद्यात्तमथवा चौरं दापयेत्तु यथेष्टतः॥**

(१) चौरं वा धनं वेति विकल्पः। विर. ३४५

(२) मोषो मुषितद्रव्यं स यत्र चौरसकाशान्न लभ्यते तत्र मूल्यं वा राजा स्वयं स्वामिने दद्यात् चौरमेव वा तस्मिन् विसृजेत्। इच्छया तु तथा कुर्याद्यथा चौरस्तमस्मै ददातीत्यर्थः। दवि. ८६

स्तेयदोषप्रतिप्रसवः

**[२]त्रपुषे वारुके द्वे तु पञ्चाम्रं पञ्चदाडिमम्।**
**खर्जूरबदरादीनां मुष्टिं गृह्णन्न दुष्यति॥**

## व्यासः

स्तेनप्रकाराः

**[३]प्रकाशाश्चाप्रकाशाश्च द्विविधास्तस्कराः स्मृताः।**
**स्वचिह्नैरेव विज्ञेयाश्चारैस्तस्करवेदिभिः॥**

स्वचिह्नैः चौरचिह्नैर्मोषादिभिः। विर. २८९

**[४]प्रकाशापणसंस्थाश्च नानापण्योपजीविनः।**
**प्रकाशवञ्चका ज्ञेया भिषक्प्रभृतयोऽपरे॥**

आपणः पण्यवीथी। विर. २९१

**[५]तुलामानविशेषेण लेख्येन गणनेन च।**
**अर्थस्य वृद्धिह्रासेन मुष्णन्ति वणिजो नरान्॥**

---

* शेषं विरवत्।

व्यक. ११८ पितं (पिते) कात्यायननारदौ; विर. ३४३; विचि. १४७ हांस्तु (हांश्च); दवि. ८६; सेतु. २५०.

(१) व्यक. ११७; विर. ३३८; दवि. ८४ स्ते (स्तत्).

(२) अप. २।२७१ न्तेषु (न्तरे) त्ववी (विवी); व्यक. ११८ न्तेषु (न्ते तु) त्ववी (विवी); विर. ३४५; विचि. १४८ द्धर्ता (द्धर्त्रा) त्ववी (विवी); दवि. ८७ पू.; सेतु. २५० विचिवत्.

(३) अप. २।२७१ ण तत् (ण तु); व्यक. ११८; विर. ३४५ यत्कि (वा कि); विचि. १४८; सेतु. २५१ मन्विष्य (मन्यस्य).

(४) अप. २।२७१; व्यक. ११८ नारदकात्यायनौ; विर. ३४५ तु (ऽपि) नृपः (नरः); विचि. १४८ पाद (दाप) नृपः (नरः); दवि. ८६; सेतु. २५१.

(१) अप. २।२७१ ब्धे तु (ब्धेऽपि) च (तु); व्यक. ११८ च (वा); विर. ३४५ ब्धे तु (ब्धे च) येत्तु यथेष्टतः (येद्वा यथेच्छतः); दवि ८६ ब्धे तु (ब्धे च); सेतु. २५१ मथवा (दर्थं वा) येत्तु यथेष्टतः (येद्वा यथोदितः).

(२) कात्यायनस्मृतिसारोद्धारः (By Prof. P. V. Kane) Page 99 Verse 822 A. गृहस्थरत्नाकर.

(३) व्यक. १०९ द्विविधास्तस्कराः (तस्करा द्विविधाः) स्व (सु); विर. २८९; रत्न. १२५ व्यकवत्; सेतु. २२७ उत्त., मनुः.

(४) व्यक. १०९; विर. २९१.

(५) व्यक. ११०; विर. २९५; विचि. १२४ अर्थ (अर्घ) नरान् (जनान्); दवि. ९० गणनेन (गणितेन) पू.; सेतु. २२९ नरान् (जनान्); विव्य. ५१ नरान् (परान्).

[1]तद्द्रव्यसदृशैरन्यैर्हीनमूल्यैर्विमिश्रणम् ।
कुर्वन्त्यौपधिकाश्चान्ये पण्यानां परिवर्तने ॥
अनिच्छन्तमभूमिज्ञं संयोज्य व्यसने नरम् ।
अपकर्षन्ति तद्द्रव्यं वेश्याकितवशिल्पिनः ॥

अनिच्छन्तं प्रवृत्त्यनुन्मुखम् । अभूमिज्ञं कार्याकार्यज्ञानहीनम् । एतेनैषां विश्रब्धवञ्चकत्वमुक्तम् ।

विर. ३०७

[2]न्यायस्थाने येऽधिकृता गृहीत्वार्थं विनिर्णयम् ।
कुर्वन्त्युत्कोचकास्ते तु राजद्रव्यविनाशकाः ॥

विनिर्णयं विरुद्धनिर्णयम् । विर. ३०७

[4]स्त्रीपुंसौ वञ्चयन्तीह मङ्गलादेशवृत्तयः ।
गृह्णन्ति छद्मना चार्थमनार्यास्त्वार्यलिङ्गिनः ॥
[5]उत्क्षेपकः संधिभेत्ता पान्थमुट् ग्रन्थिभेदकः ।
स्त्रीपुंगोऽश्वपशुस्तेयी चौरो नवविधः स्मृतः ॥

उत्क्षेपको धनिनामनवधानमवधार्यान्तिकस्थं धनमुद्धृत्य ग्राहकः । संधिभेत्ता गृहाणां विच्छेदाय कृतसंचरस्थाने पृष्ठसंधावववस्थाय तत्रत्यभित्तिभेत्ता । पान्थमुट् उत्कटकान्तारादौ पथिकानां धनापहारकः । ग्रन्थिभेदकः परिधानादिग्रथितधनं ग्रहीतुं तद्ग्रन्थिमोचकः । 'स्त्रीपुंगोऽश्वपशुस्तेयी'ति द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणः शब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते । अत एव नवविध इत्युक्तम् ।

स्मृच. ३१८

[1]साधनाङ्गान्विता रात्रौ विचरन्त्यविभाविताः ।
अविज्ञातनिवासाश्च ज्ञेयाः प्रच्छन्नतस्कराः ॥

(१) रात्राविति प्रायिकाभिप्रायेणोक्तम् । दिवाऽप्यरण्यादावविभावितानां विचरतां संभवात् ।

स्मृच. ३१८

(२) साधनाङ्गान्विताः स्तेयकरणखनित्राद्यन्विताः । अविज्ञातनिवेशाः अनवगतप्रवेशकाः । विर. २९२

प्रकाशतस्करदण्डाः

[2]नैगमाद्या भूरिधना दण्ड्या दोषानुरूपतः ।
यथा ते नातिवर्तन्ते तिष्ठन्ति समये तथा ॥

दोषानुरूपतो दण्ड्या न पुनर्धनानुरूपत इत्यर्थः । दोषानुरूपतोऽस्मिन् दोषे ग्राह्य एतावान् दण्ड इति विध्यनुरूपत इत्यर्थः । ते च विधयो विस्तारभयान्न प्रदर्शिताः, ग्रन्थान्तरे द्रष्टव्याः । स्मृच. ३१७

---

(१) **व्यक.** ११० श्रणम् ( श्रितम् , र्तने ( र्तनम् ); **विर.** २९५ पधि ( पाधि ); **विचि.** १२४ द्रव्यसदृशैरन्यै ( द्रव्यं सदृशैर्द्रव्यै ) पधि ( पथि ) र्तने ( र्तनम् ); **सेतु.** २३० रन्यै ( र्द्रव्यै ) पधि ( पथि ); **विव्य.** ५१ पधि ( पथि) .

(२) **व्यक.** ११२; **विर.** ३०७; **विचि.** १३०; **दवि.** १०५; **सेतु.** २३२.

(३) **व्यक.** ११२; **स्मृच.** ३३२; **विर.** ३०७ येऽधि ( ह्यधि ); **पमा.** ५८० येऽधि ... ...र्थं ( गृहीत्वार्थं अधर्मेण ) उत्तरार्धं ( करोत्युत्तरकार्याणि राजद्रव्यविनाशकाः ); **दवि.** १०५ येऽधि ( स्त्वधि ); **व्यप्र.** ५६९ येऽधि......त्वार्थं ( गृहीत्वार्थमधर्मेण ); **समु.** १६५ न्याय ( न्यास ).

(४) **व्यक.** ११२ र्यास्त्वा ( र्याश्चा ); **स्मृच.** ३१७ सौ ( सो ); **विर.** ३०८ र्यास्त्वा ( र्या आ ); **रत्न.** १२४; **दवि.** ११९ वृत्तयः ( कारिणः ) स्त्वा ( श्चा ); **सवि.** ४६० चा ( ह्य ) ङ्गिनः ( ङ्गकाः ); **व्यप्र.** ३८७; **व्यउ.** १२५; **समु.** १४९.

(५) **व्यक.** १०९ गोऽश्व ( सोश्व ); **स्मृच.** ३१८; **विर.** २९२ गोऽश्व ( सयोः ); **पमा.** ४३८ मुट् ग्रन्थिभेदकः (उद्ग्रन्थिकादयः) उत्तरार्धे ( स्त्रीपुंसयोः पशुस्तेयी चोरा नवविधाः स्मृताः ); **व्यनि.** ५०३ मुट् ग्रन्थि ( उद्ग्रन्थि ); **रत्न.** १२४; **सवि.** ४६१ गोऽश्व ( सोश्व ) नारदः; **दवि.** १२१ संधिभेत्ता ( च संविज्ञो ) गोऽश्व ( मोषः ); **व्यप्र.** ३८७; **व्यउ.** १२४; **व्यम.** १०१ भेदकः ( मोचकः ); **विता.** ७८१ संधि ( कुड्य ) गोऽश्व ( सोश्व ) नव ( नाना ); **समु.** १४९.

(१) **व्यक.** १०९ निवासा ( विशेषा ) तस्कराः ( वञ्चकाः ); **स्मृच.** ३१७ नाङ्गा ( नाद्य ) तस्कराः ( वञ्चकाः ); **विर.** २९२ वासा ( वेशा ); **पमा.** ४३८; **व्यनि.** ५०३; **दवि.** १२१ साध ( शोध ) विच ( ये च ) वासा ( वेशा ); **सवि.** ४६१ नाङ्गा ( नाद्य ) नारदः; **व्यप्र.** ३८७; **व्यउ.** १२४; **व्यम.** १०१ पूर्वार्धे ( साधनाद्यन्विता रात्रौ यदि प्रच्छन्नचारिणः ); **विता.** ७८१ पूर्वार्धे ( साधनाद्यन्विता रात्रौ विरता भविता दिवा ); **समु.** १४९.

(२) **व्यक.** ११३; **स्मृच.** ३१७; **विर.** ३१५ तथा ( यथा ); **रत्न.** १२४; **दवि.** ११६ रूपतः ( सारतः ) तथा ( यथा ); **व्यप्र.** ३८७ नाति ( न नि ); **व्यउ.** १२६; **समु.** १४९.

अप्रकाशतस्करदण्डाः

[1]संधिच्छेत्ताऽनेकविधं धनं प्राप्नोति वै गृहात् ।
प्रदाप्यः स्वामिने सर्वं तीक्ष्णशूले निवेशयेत् ॥

(१) यः प्राप्नोति तं प्रदाप्य पश्चाच्छूले निवेशयेदित्यर्थः । स्मृच. ३१८

(२) तस्य हृतदापनमात्रे तात्पर्यमनेकधनलाभाभिधानं तु पक्षप्राप्तानुवाद एव । दवि. १२४

[2]स्त्रीहर्ता लोहशयने दग्धव्यो वै कटाग्निना ।
नरहर्ता हस्तपादौ छित्त्वा स्थाप्यश्चतुष्पथे ॥
[3]पुरुषं हरतः प्रोक्तो दण्ड उत्तमसाहसः ।
सर्वस्वं हरतो नारीं कन्यां तु हरतो वधः ॥

(१) अत्र चैकवस्तुहरणे परस्परविरुद्धशारीरार्थदण्डानां हारकोत्कृष्टापकृष्टजातीयत्वधनवत्त्वाधनवत्त्वकार्योत्कर्षापकर्षैर्व्यवस्था कार्या । विर. ३१८

(२) इदं ( नरहर्तेति ) मध्यविधपुरुषापहरणे । इदं (सर्वस्वमिति) अपकृष्टनार्यपहरणे । विचि. १३५

[4]अश्वहर्ता हस्तपादौ कटिं छित्त्वा प्रमाप्यते ।
पशुहर्तुस्त्वर्धपादं तीक्ष्णशस्त्रेण कर्तयेत् ॥

एतच्च विशिष्टाश्वहरणे, सामान्याश्वहरणे विष्णुना एककरपादिकत्वप्रतिपादनात् । एतदपि (पशुहर्तुरिति) विरुद्धदण्डनमनवरुद्धहरणे । विर. ३२१

[1]उत्क्षेपकग्रन्थिभेदौ संदंशेन वियोजयेत् ॥
[2]मध्यहीनद्रव्यहारी पुष्पमूलफलस्य च ।
दाप्यस्तु द्विगुणं दण्डमथवा पञ्च कृष्णलान् ॥

मध्यहीनद्रव्यं लवणादि । पञ्च कृष्णलान् कृष्णलशब्देन त्रियवमितद्रव्यमभिप्रेतम् । विर. ३२५

[3]अल्पधान्यापहरणे क्षीरे तद्विकृतौ तथा ।
स्वामिने तत्समं दाप्यो दण्डं च द्विगुणं नृपे ॥

अत्र पञ्चगुणदण्डावरुद्धक्षीरादितोऽल्पे क्षीरतद्विकृती ग्राह्ये इत्यविरोधः । विर. ३२८

चौरान्वेषणम्

[4]ते पदेनानुगन्तव्या विभाव्या लोप्त्रदर्शनैः ।
द्यूतस्त्रीपानसक्त्या च निरायव्ययकर्मभिः ॥

स्तेनालाभे हृतदानम्

[5]प्रत्याहर्तुमशक्तस्तु धनं चौरैर्हृतं यदि ।
स्वकोशात्तद्धि देयं स्यादशक्तेन महीक्षिता ॥

स्तेयदोषप्रतिप्रसवः

[6]पक्वंपक्वं प्रचिन्वीत मूलच्छेदं तु वर्जयेत् ।
मालाकार इवारामे न यथाऽङ्गारकारकः ॥

---

(१) **स्मृच.** ३१८ संधिच्छेत्ता ( संधिं भित्त्वा ); **विर.** ३१६ तीक्ष्ण ( हृतं ); **विचि.** १३४ दाप्यः ( दाप्य ) तीक्ष्ण ( हृतं ); **दवि.** १२४ शूले ( नृपे ) शेषं विचिवत्; **सवि.** ४६१ संधिच्छेत्ता ( संधिं छित्त्वा ) दाप्यः ( दाप्य ); **सेतु.** २३५ ( = ) तीक्ष्ण ( कृतं ); **समु.** १५० स्मृचवत्; **विव्य.** ५१ विरवत्.

(२) **व्यक.** ११४; **स्मृच.** ३१८ नर ( नृ ) दौ+( च ); **विर.** ३१७-८; **रत्न.** १२५; **विचि.** १३४ बृहस्पतिः; **दवि.** १२५; **सवि.** ४६२ दग्धव्यो वै ( दह्यते वा ); **व्यप्र.** ३८९; **व्यउ.** १२७; **व्यम.** १०२; **विता.** ७८२; **सेतु.** २३६ विचिवत्; **समु.** १५० स्मृचवत्; **विव्य.** ५१ विचिवत्.

(३) **मिता.** २।२७५ ( = ) तः प्रोक्तो दण्ड ( तो दण्डः प्रोक्त ) सर्वं...री ( स्त्र्यपराधे तु सर्वस्वं ); **अप.** २।२७५ ( = ) प्रोक्तो ( हरतौ ); **विर.** ३१८; **विचि.** १३५; **सवि.** ४५६ तः प्रोक्तो दण्ड ( तो दण्ड उक्त ) शेषं मितावत्, मनुः ; **विता.** ७८४ ( = ) मितावत्; **सेतु.** २३६; **समु.** १५० सविवत्, स्मृत्यन्तरम्; **विव्य.** ५१.

(४) **अप.** २।२७३ स्त्व ( श्वा ); **व्यक.** ११४ अपवत्; **स्मृच.** ३१९ श्वहर्ता हस्त ( श्वापहरणे ); **विर.** ३२१ अपवत्; **रत्न.** १२५ उत्त.; **विचि.** १३५ पू., १३६ उत्त., स्त्व ( श्वा ) तीक्ष्णशस्त्रेण ( अतीक्ष्णे शस्त्रे ); **दवि.** १३० पू. : १३२ स्त्वर्धपादं ( श्वार्धपादः ) उत्त.; **सवि.** ४६२ प्यते ( पयेत् ) र्धं ( ग्र ) शेषं स्मृचवत्; **व्यप्र.** ३८९ उत्त.; **व्यउ.** १२७ उत्त.; **व्यम.** १०२ उत्त.; **विता.** ७८३ उत्त.; **सेतु.** २३७ पू. : २३८ स्त्व ( श्वा ) उत्त.; **समु.** १५० स्मृचवत्; **विव्य.** ५२ प्यते ( पयेत् ) उत्त.

(१) **व्यक** ११४; **विर.** ३२१; **दवि.** १३२ वि (नि).

(२) **व्यक.** ११५; **विर.** ३२५; **दवि.** १४७ स्तु ( स्तद् ); **सेतु.** २४१ दविवत्.

(३) **व्यक.** ११५; **विर.** ३२८ धान्या ( मूल्या ); **विचि.** १४०; **सेतु.** २४१, २४३.

(४) **व्यनि.** ५०६; **समु.** १४९.

(५) **व्यम.** ८८ क्षिता ( भृता ) कृष्णद्वैपायनः; **विता.** ५६७ रैर्हृ ( रह ); **समु.** १५२-३.

(६) **मभा.** १२।२५.

## उशना

अप्रकाशतस्करदण्डः

सुवर्णस्तेयकृत् षड्वर्षं ब्राह्मणो व्रतं चरेत्[१]। वैश्यस्य क्षत्रियवच्चोरदण्डः।

## यमः

अप्रकाशतस्करदण्डः

फलेषु[२] हरिते धान्ये शाकमूले ससिग्रुजे।
अल्पेषु परिपूतेषु दण्डः स्यात् पञ्चकृष्णलाः॥

स्तेयदोषप्रतिप्रसवः

अस्तेयमग्नये[३] काष्ठमस्तेयं च तृणं भवेत्।
कन्याहरणमस्तेयं याऽवरा याऽनलङ्कृता॥

अन्यस्मै दातुमलङ्कृतां नाहरेत्। व्यनि. ५१५

पथिकः[४] क्षीणवृत्तिस्तु द्वाविक्षू द्वे च मूलके।
आददानः परक्षेत्रात् न दण्डं दातुमर्हति॥

## लोकाक्षिः ( लौगाक्षिः? )

अप्रकाशतस्करदण्डः

अनुभूतचिह्नानि[५] मुषित्वा गृह्णतः पूर्वसाहसं दण्डः, तद्द्रव्यद्विगुणं च राजा हरेत्।

## कण्वः

अप्रकाशतस्करदण्डः

श्रोत्रियस्वहरणे[६] द्विगुणम्।

## वृद्धमनुः

अप्रकाशतस्करदण्डः

अन्यायोपात्तवित्तत्वाद्धनमेषां[७] मलात्मकम्।
ततस्तान् घातयेद्राजा नार्थदण्डेन दण्डयेत्॥

(१) इति, तदपि महापराधविषयम्। मिता. २।२७०

(२) एतत् ब्राह्मणेतरचौरविषयम्। विर. ३३२

स्तेनालाभे हृतदानम्

तस्मिंश्चेद्दाप्यमानानां[१] भवेन्मोषे तु संशयः।
मुषितः शपथैः शाप्यो बन्धुभिर्वा विशोधयेत्॥
यस्मादपहृताल्लब्धं[२] द्रव्यात्स्वल्पं तु स्वामिना।
तच्छेषमाप्नुयात्तस्मात्प्रत्यये स्वामिना कृते॥

(१) मुषितामुषितसंदेहे मानुषेण दिव्येन वा निर्णयः कार्यः। मिता. २।२७२

(२) इयन्मुषितं इयद्वेति मुषितः शपथं कारयितव्यो निर्णयार्थं बन्धुभिर्वा विशोधयेत्। इयन्मुषितं मयेति मुषितेन प्रत्यये कृते, तदेकदेशे चौराल्लब्धे, तस्मादेव शेषो ग्राह्यः यद्यसौ बलवत्प्रमाणं स्वकर्तृकशेषानपहारं दर्शयतीत्यर्थः। विर. ३४६

## अग्निपुराणम्

प्रकाशतस्करदण्डः

द्रव्यमादाय[३] वणिजामनर्घेणावरुन्धताम्।
राजा पृथक्पृथक् कुर्याद्दण्डमुत्तमसाहसम्॥
द्रव्याणां दूषको यश्च प्रतिच्छन्दकविक्रयी।
मध्यमं प्राप्नुयाद्दण्डं कूटकर्ता तथोत्तमम्॥

स्तेयदोषप्रतिप्रसवः

ब्राह्मणः[४] शाकधान्यादि ह्यल्पं गृह्णन्न दोषभाक्।
गोदेवार्थं हरंश्चाऽपि हन्याद्दुष्टं वधोद्यतम्॥

---

(१) **मभा.** १२।४१. (२) **व्यक.** ११५.

(३) **व्यनि.** ५१५; **समु.** १५१ भवेत् ( गवे ).

(४) **व्यनि.** ५१५. (५) **मभा.** १०।४२.

(६) **मभा.** १२।४१.

(७) **मिता.** २।२७० तत ( अत ); **व्यक.** ११६ मितावत्, बृहस्पतिः; **विर.** ३३२ नमे ( नं ये ); **दीक.** ५४ तत ( अत ) शेषं विरवत्; **विचि.** १४२-३ नमे ( नं ते ) नारदः; **दवि.** ५९; **वीमि.** २।२७३ मितावत्, मनुः; **समु.** १५० मितावत्, स्मृत्यन्तरम्.

(१) **मिता.** २।२७२ तस्मिंश्चेद्दाप्यमानानां ( यदि तस्मिन् दाप्यमाने ) थैः शा ( थं दा ) विशो ( ऽपि सा ); **अप.** २।२७१ न्मोषे ( द्दोषे ) थैः शा ( थं दा ) कात्यायनः; **व्यक.** ११८ थैः शा ( थान् दा ) र्वा वि ( र्वाऽपि ); **विर.** ३४५; **पमा.** ४४९ मितावत्; **दवि.** ८८ थैः शा ( थान् दा ); **विता.** ७९२ विशोध ( ऽपि दाप ) शेषं मितावत्; **समु.** १५२ मितावत्.

(२) **अप.** २।२७१ क्रमेण कात्यायनः; **व्यक.** ११८; **विर.** ३४६; **विचि.** १४८; **सेतु.** २५१.

(३) **अपु.** २२७।५७-५९.

(४) **अपु.** २२७।३८.

## मत्स्यपुराणम्

प्रकाशतस्करदण्डः

[१]वासांसि फलके सूक्ष्मे निर्णेज्यानि शनैः शनैः ।
अतोऽन्यथा यः कुर्वीत दण्डः स्याद्रूप्यमाषकम् ॥

स्तेयदोषप्रतिप्रसवः

[२]त्रपुषोर्वारुके द्वे द्वे तावन्मात्रं फलेषु च ।
शाकं स्तोकप्रमाणेन गृह्णानो नैव दुष्यति ॥

## शुक्रनीतिः

कूटपण्यविक्रेतृदण्डः, स्तेयप्रसङ्गेन शिल्पिनां विविधभृति-विचारश्च

[३]कूटपण्यस्य विक्रेता स दण्ड्यश्चौरवत्सदा ॥
दृष्ट्वा कार्याणि च गुणान् शिल्पिनां भृतिमावहेत् ।
पञ्चमांशं चतुर्थांशं तृतीयांशं तु कर्षयेत् ॥
अर्धं वा राजताद्राजा नाधिकं तु दिने दिने ।
विद्रुतं न तु हीनं स्यात्स्वर्णं पलशतं शुचि ॥
चतुःशतांशं रजतं ताम्रं न्यूनं शतांशकम् ।
वङ्गं च जसदं सीसं हीनं स्यात्षोडशांशकम् ॥
अयोऽष्टांशं त्वन्यथा तु दण्ड्यः शिल्पी सदा नृपैः ॥
सुवर्णे द्विशतांशं तु रजतं च शतांशकम् ॥
हीनं सुघटिते कार्ये सुसंयोगे तु वर्धते ।
षोडशांशं त्वन्यथा हि दण्ड्यः स्यात्स्वर्णकारकः ॥
संयोगघटनं दृष्ट्वा वृद्धिं ह्रासं प्रकल्पयेत् ।
स्वर्णस्योत्तमकार्ये तु भृतिस्त्रिंशांशकी मता ॥
षष्ट्यंशकी मध्यकार्ये हीनकार्ये तदर्धकी ।
तदर्धा कटके ज्ञेया विद्रुते तु तदर्धकी ॥
उत्तमे राजते त्वर्धा तदर्धा मध्यमा स्मृता ।
हीने तदर्धा कटके तदर्धा संप्रकीर्तिता ॥
पादमात्रा भृतिस्ताम्रे वङ्गे च जसदे तथा ।
लोहेऽर्धा वा समा वाऽपि द्विगुणा त्रिगुणाऽथवा ॥
धातूनां कूटकारी तु द्विगुणो दण्डमर्हति ।
लोकप्रचारैरुत्पन्नो मुनिभिर्विधृतः पुरा ॥
व्यवहारोऽनन्तपथः स वक्तुं नैव शक्यते ॥

(१) दवि. ११२. (२) दवि. ४०.
(३) शुनि. ४।८१५-२६.

# वाक्पारुष्यम्

## वेदाः

ब्राह्मणं प्रति अकुशलोक्तिनिषेधः

**न[1] त्वेवान्यत्कुशलाद्ब्राह्मणं ब्रूयादतिद्युम्न एव ब्राह्मणं ब्रूयान्नातिद्युम्नेन च ब्राह्मणं ब्रूयान्नमोऽस्तु ब्राह्मणेभ्य इति शौरवीरो माण्डूकेयः।**

## गौतमः

शूद्रकृतवाग्दण्डपारुष्यदण्डसामान्यविधिः

**शूद्रो[2] द्विजातीनभिसंधायाभिहत्य च वाग्दण्डपारुष्याभ्यामङ्गं मोच्यो येनोपहन्यात्।**

'दण्डो दमनादित्याहुस्तेनादान्तान् दमयेत्' इति सामान्येनाभिहितम्। तत्र क्वापराधे कियान् दण्ड इति तद्वक्तव्यमित्याह—शूद्र इति। शूद्र उक्तः। स द्विजातीनुपनीतान् ब्राह्मणादीनतिसंधाय बुद्धिपूर्वमतिक्रम्य न तु परिहासादिना। अभिहत्य च अभिशब्दो बुद्धिपूर्वज्ञापनार्थः। अभिहत्य ताडयित्वा। क्रमेण वाग्दण्डपारुष्याभ्याम्। तत्र वाक्पारुष्येणातिसंधाय दण्डपारुष्येणाभिहत्येति क्रमो द्रष्टव्यः। वाक्पारुष्येणातिक्रमणमतिक्रम्य परुषादिवचनम्। परुषशब्द उग्रपर्यायः। उग्रया वाचा अतिक्रम्य उग्रेण च दण्डेनाभिहत्य चेत्यर्थः। ततश्च उपलादिना न दोषः। अङ्गं शरीरावयवः मोच्यः छेद्यः येन हस्तादिना उपहन्यात् पीडयेत्। एवञ्च विनाऽपि दण्डेन दण्डपारुष्यं भवतीति ज्ञापयति। वाक्पारुष्ये वाक्छेदनम्। हस्तादिना दण्डपारुष्ये तदङ्गछेदनमिति द्रष्टव्यम्। चशब्दादुभयापराधे उभयं मोच्यः। *मभा.

वेदाध्यायिशूद्रदण्डः

**अथ[1] हास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रपूरणमुदाहरणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेदः।**

पञ्चवर्षादूर्ध्वमयं, अथशब्दोपादानात्। तथा च स्मृत्यन्तरम्— 'वेदं श्रुत्वा तु पञ्चाब्दः शूद्रश्चेद्दण्डभाग्भवेत्। अप्राप्तपञ्चवर्षो न दण्डमर्हति कुत्रचित्॥' इति। हशब्दो बुद्धिपूर्वसूचनार्थः। न गोप्तुरेवेत्येवमर्थमस्यशब्दस्योपादानम्। वेदं साङ्गम्। कुतः? 'साङ्गो वेदः स्त्रीशूद्रसकाशे नाध्येतव्यः' इति गृह्यस्मृतिदर्शनात्। उपशब्देन समीपवाचिना अक्षरश्रवण एव दोष इति दर्शयति। ततश्च ध्वनिमात्रश्रवणे न दोषः। हशब्देन बुद्धिपूर्व एव दण्डविधानात् प्रमादात् कदाचिदक्षरश्रवणेऽपि दोषाभावो द्रष्टव्यः। त्रपुजतुभ्यां त्रपुणा जतुना चेति द्रष्टव्यम्। तप्ताभ्यामिति च द्रष्टव्यं, पूरणोपदेशसामर्थ्यात्। श्रोत्रद्वयपरिग्रहार्थः प्रतिशब्दः उदाहरणे द्विजातिभिः सह जिह्वाच्छेदः कर्तव्यः। धारणे स्वयमेवोदाहरण इत्यर्थः। परशुना शरीरभेदः कर्तव्यः। ×मभा.

* गौमि., विर., व्यप्र. मभावत्।

× गौमि. मभावत्।

(१) **शाआ.** ७।९,१०,११.

(२) **गौध.** १२।१; **अप.** २।२०७ तीनभि (तिमभि) च्यो येनो॰ (च्यं यो नाभि); **व्यक.** १०३ याभि (य नि); **मभा.** नभि (नति); **गौमि.** १२।१ मङ्गं (मङ्ग); **उ.** २।२७।१४ मभावत्; **विर.** २५२ नभि (न्वाचाऽभि) च वाग्दण्डपारुष्याभ्यामङ्गं (दण्डेनाङ्गं); **विचि.** १११ व्यकवत्; **व्यप्र.** ३८२; **व्यउ.** १२१; **सेतु.** २१२ याभि (य नि) नोप (नाप).

(१) **गौध.** १२।४; **अप.** २।२०७ थ हा (था) णे जि (णाज्जि); **व्यक.** १०३ थ हा (था); **मभा.** श्रोत्र+ (प्रति); **गौमि.** १२।४ मभावत्; **विर.** २५४ थ हा (था) श्रोत्र (कर्ण); **विचि.** १११ थ हा (था) भ्यां (ना); **व्यनि.** ४८८ थ हा (था) शेषं मभावत्; **दवि.** ३२१ थ हा (था) ण्वत (णुत) श्रोत्र (कर्ण) धारणे+(च) भेदः (च्छेदः); **सेतु.** २९७ भेदः (च्छेदः) शेषं व्यकवत्; **समु.** १६१ व्यनिवत्.

त्रैवर्णिककृतवाक्पारुष्ये दण्डः

**[१]शतं क्षत्रियो ब्राह्मणाक्रोशे ।**

क्षत्रियश्चेद् ब्राह्मणमाक्रोशेद्वाचा परुषया निन्देत् ततः शतं दण्ड्यः । दण्डप्रकरणे सर्वत्र ताम्रिकस्य कार्षापणस्य ग्रहणमिति स्मार्तो व्यवहारः । शतं कार्षापणानि दण्ड्यः । दण्डपारुष्ये द्विगुणम् । अथाह बृहस्पतिः— 'वाक्पारुष्ये कृते यस्य यथा दण्डो विधीयते । तस्यैव द्विगुणं दण्डं कारयेन्मरणादृते ॥' इति । ×गौमि.

**[२]अध्यर्धं वैश्यः ।**

वैश्यस्तु ब्राह्मणाक्रोशेऽध्यर्धं शतं दण्ड्योऽर्धाधिकं पञ्चाशदधिकं शतं दण्ड्यः । गौमि.

**[३]ब्राह्मणस्तु क्षत्रिये पञ्चाशत् ।**

आक्रुष्टे इति वर्तते । ब्राह्मणेन क्षत्रिये आक्रुष्टे ब्राह्मण अश्रोत्रियश्चेत् कुतः? तुशब्दोपादानात्, पञ्चाशद्दण्ड्यः । समवर्णेषु द्वादश वा कल्प्यं अवचनीयेषु द्विगुणं कल्प्यम् । *मेभा.

**[४]तदर्धं वैश्ये ।**

वैश्ये आक्रुष्टे ब्राह्मणः पञ्चविंशतिर्दण्ड्यः । *मभा.

**[५]शूद्रे न किञ्चित् ।**

आक्रुष्टे न किञ्चिद् ब्राह्मणो दण्ड्यः । अवचनादेव सिद्धमिति चेत् न, क्षत्रियवैश्ययोर्दण्डप्रापणार्थत्वात् । एवञ्च तद्विषये दण्डः कल्प्यः, क्षत्रिये चतुर्विंशतिपणं, षट्त्रिंशतं वैश्य इति । तथाह उशना —'शूद्रमाक्रुश्य क्षत्रियश्चतुर्विंशतिदण्डभाग् वैश्यः षट्त्रिंशत्' इत्यादि । *मभा.

**[६]ब्राह्मणराजन्यवत्क्षत्रियवैश्यौ ।**

यत् ब्राह्मणक्षत्रिययोः परस्पराक्रोश उक्तं तत् क्षत्रियवैश्ययोरपि द्रष्टव्यम् । क्षत्रिये शतं वैश्ये पञ्चाशदिति । एवमन्तरजानामपि द्रष्टव्यम् । तथाह जमदग्निः— 'मातृतुल्यमनुलोमानां पितृतुल्यं प्रतिलोमानाम्' इति । *मभा.

## हारीतः

असमवर्णकृतवाक्पारुष्यदण्डसामान्यविधिः

**अधोवर्णानामुत्तमवर्णाक्रोशाक्षेमाभिभवे अष्टौ पुराणाः+ ।**

**अनृताभिशंसने तदङ्गच्छेदः पञ्चशतं वा । आद्येषु पादो न वा किञ्चित् । स्वामित्वादादिवर्णत्वाच्च । उत्तमानामीशानतमो ब्राह्मणः + ।**

वेदाध्यायिशूद्रदण्डः

**तस्माद्वेदश्रुतिश्रवणे शूद्रस्य त्रपुसीसौ विप्लाव्य कर्णौ पूरयेत् ।**

विप्लाव्य द्रवीकृत्य । विर. २५४

मिथ्यावाक्पारुष्ये दण्डसामान्यविधिः

**[२]मिथ्यादूषिणां मेलकानां च राजा जिह्वां छिन्द्यात् दण्डयेद्वा सहस्रम् ।**

मिथ्यादूषिणां मिथ्यावाक्पारुष्यकारिणां, मेलकानां वाक्पारुष्यमेलयितॄणां, क्वचित्पाठो मिथ्यादृष्टीनामिति, तत्रापि स एवार्थो विवक्षितः । विर. २५९

## आपस्तम्बः

शूद्रकृतवाक्पारुष्ये दण्डः

**[३]जिह्वाच्छेदनं शूद्रस्य आर्यं धार्मिकमाक्रोशतः ।**

---

× मभा. गौभिवत् । * गौमि. मभावत् ।

(१) गौध. १२।६; मभा.; गौमि. १२।६.

(२) गौध. १२।७; मभा.; गौमि. १२।७.

(३) गौध. १२।८; मभा.; गौमि. १२।८.

(४) गौध. १२।९; मभा.; गौमि. १२।९.

(५) गौध. १२।१०; मभा.; गौमि. १२।१० शूद्रे न (न शूद्रे).

(६) गौध. १२।११; मेधा. ८।२६८; मिता. २।२०७ श्यौ (श्ययोः); मभा.; गौमि. १२।११; नृप्र. ३७७ (वत्०) श्यौ (श्ययोः); विता. ७२७ मितावत्.

* गौमि. मभावत् ।

+ व्याख्यासंग्रहः स्थलादिनिर्देशश्च दण्डपारुष्यप्रकरणे द्रष्टव्यः ।

(१) विर. २५४; दवि. ३२१.

(२) व्यक. १०४ (च०) छिन्द्यात् (छित्वा); विर. २५८ (च राजा०) 'मिथ्यादृष्टीनां' इति क्वचित्पाठः; दवि. २१५ षिणां (षितानां) (च राजा०) सह (साह); व्यप्र. ३८४ (सहस्रम्०); व्यउ. १२२ व्यप्रवत्.

(३) आध. २।२७।१४; हिध. २।१९; व्यक. १०३; विर. २५३ आर्यं (अति); व्यप्र. ३८२; व्यउ. १२१.

शूद्रो द्विजातीनामन्यतमं धार्मिकं स्वकर्मस्थं यद्याक्रोशति निन्दति गर्हते, तदा तस्य जिह्वा छेत्तव्येति। उ.

**वसिष्ठः**

पातकाभिशंसने दण्डः

[1]पतितं पतितेत्युक्त्वा चौरं चौरेति वा पुनः।
वचनात्तुल्यदोषः स्यात् मिथ्या द्विर्दोषतां व्रजेत्॥

**विष्णुः**

हीनवर्णकृतवाक्पारुष्ये दण्डः

हीनवर्णोऽधिकवर्णस्य येनाङ्गेनापराधं कुर्यात् तदेवास्य शातयेत् *।

[2]आक्रोशयिता च विजिह्वः।

[3]दर्पेण धर्मोपदेशकारिणो राजा तप्तमासेचयेत्तैलमास्ये।

[4]द्रोहेण च नामजातिग्रहणे दशाङ्गुलोऽस्य शङ्कुर्निखेयः।

उत्तमवर्णस्य धर्मोपदेशकारिणाम्। अस्य हीनवर्णस्य मुखे ज्वलन्नयोमयः शङ्कुः। वै.

[5]प्रातिलोम्येन पारुष्ये द्विगुणो दमः।

अयमर्थः— द्विगुणास्त्रिगुणा दमाः ब्राह्मणाक्षेपकारिणोः क्षत्रियवैश्ययोः पञ्चाशत्पणापेक्षया द्विगुणाः शतं पणाः, त्रिगुणाः सार्धशतं पणा दण्डो वेदितव्य इति। सवि. ४७८

वाक्पारुष्यविशेषाः, तत्र दण्डाश्च

[6]श्रुतदेशजातिकर्मणामन्यथावादी कार्षापणशतद्वयं दण्ड्यः।

[7]काणखञ्जादीनां तत्त्ववाद्यपि कार्षापणद्वयम्।

* स्थलादिनिर्देशः दण्डपारुष्यप्रकरणे द्रष्टव्यः।

(१) वस्मृ. २०।४०. (२) विस्मृ. ५।२३.

(३) विस्मृ. ५।२४. (४) विस्मृ. ५।२५.

(५) सवि. ४७८.

(६) **विस्मृ.** ५।२६; **अप.** २।२०७ शतद्वयं (शतं); **व्यक.** १०३; **विर.** २५५ (शत०).

(७) **विस्मृ.** ५।२७ तत्त्व (तथा); **व्यक.** १०२ काण (दण्डः काण) तत्त्व (तथा) बृहस्पतिः; **विर.** २४८ काण (दण्ड्यः काण); **विचि.** ११० (काणखञ्जादीनां तथा) एतावदेव, बृहस्पतिः; **व्यनि.** ४८६ द्वयम्+(दण्डः); **दवि.** २१० विरवत्; **व्यप्र.** ३८४ तत्त्ववाद्यपि (तथावाच्यपि); **व्यउ.** १२२ व्यप्रवत्; **सेतु.** २१० (काणखञ्जादीनाम्) एतावदेव; **समु.** १६० द्वयम्+(दण्ड्यः).

[1]गुरूनाक्षारयन् कार्षापणशतम्।

[2]परस्य पतनीयाक्षेपे कृते तूत्तमसाहसम्। उपपातकयुक्ते मध्यमम्। त्रैविद्यवृद्धानां क्षेपे जातिपूगानां च। ग्रामदेशयोः प्रथमम्।

[3]न्यङ्गतायुक्ते क्षेपे कार्षापणशतम्।

[4]मातृयुक्ते तूत्तमम्।

(१) परस्येति। उत्तमवर्णाक्षेपविषयमेतत्। त्रैविद्येति। अल्पाशयदोषविषयमेतत्। अप. २।२१०-११

(२) तत्त्वं याथार्थ्यं, सगुणातिदरिद्रविषयमेतत्। विर. २४८

एतदपि व्यङ्गता शक्ते बोद्धव्यम्। बाह्वादयश्चाङ्गानि। विर. २५०

त्रैविद्यवृद्धानामित्यत्र उत्तमसाहसमित्यनुषङ्गः, जातिपूगानामित्यत्र मध्यममित्यनुषङ्गः। विर. २५६

(३) उपपातकं गोवधादि, पूगानां सभ्यादिसंघानाम्। न्यङ्गमश्लीलम्। वै.

[5]काणं वाऽप्यथवा खञ्जमन्यं वाऽपि तथाविधम्।
तथ्येनाऽपि वदन् दाप्यो दण्डं कार्षापणावरम्॥

(१) **विस्मृ.** ५।२८ क्षारयन् (क्षिपन्); **अप.** २।२०५ णश (णं श); **व्यक.** १०३; **विर.** २५०; **व्यप्र.** ३८२; **व्यउ.** १२१; **सेतु.** २१४.

(२) **विस्मृ.** ५।२९-३२ थमम् (थमसाहसम्); **अप.** २।२१०-११ नीया (नीये) क्षेपे जाति (जाति); **व्यक.** १०४; **विर.** २५६ तूत्त (उत्त); **दवि.** २०८ तूत्त (उत्त); **व्यप्र.** ३८४ परस्य (परस्परं) युक्ते+(तु); **व्यउ.** १२२ व्यप्रवत्.

(३) **विस्मृ.** ५।३३ (ख) युक्ते (युक्ता); **व्यक.** १०२ न्यङ्ग (व्यङ्ग); **विर.** २५० न्यङ्गतायु (व्यङ्गता उ).

(४) **विस्मृ.** ५।३४; **व्यक.** १०३ त्तमम् (त्तमसाहसम्); **विर.** २५२.

(५) **विर.** २४७-८ मनुनारदविष्णवः.

कार्षापणावरं कार्षापणद्वयं कार्षापणोऽवरः कनिष्ठो यस्येति व्युत्पत्त्या । विर. २४८

तुल्यकालं रूक्षयोः सम एव दण्डः ।

समासमवर्णाक्रोशक्षेपादिषु दण्डाः

सैमवर्णाक्रोशने द्वादश पणान् दण्ड्यः । हीनवर्णाक्रोशने षट् ।

यैथाकालमुत्तमसवर्णाक्षेपे तत्प्रमाणो दण्डः । त्रयो वा कार्षापणाः । शुक्तवाक्याभिधाने त्वेवमेव ।

(१) अल्पधनविषयमेतत् । अप. २।२०४

(२) समवर्णाक्रोशने समवर्णमात्राक्रोशने । विर. २४७

(३) कालोऽत्राक्षेपकालस्तमनतिक्रम्येति यथाकालम् । तत्प्रमाणः षट्कार्षापणप्रमाणो दण्डः कार्यः । वै.

## शङ्खः शङ्खलिखितौ च

समासमवर्णाक्षेपातिक्रमादिषु दण्डाः

यैथाकालमुत्तमवर्णाक्षेपे तत्प्रसादो दण्डस्त्रयो वा कार्षापणाः । शुक्तवाक्याभिधानेऽप्येवमेव ।

सैवर्णव्यतिक्रमे द्वादश कार्षापणाः । यथारूपविशिष्टाक्षेपे ह्यविशिष्टस्य चतुर्विंशतिरविशिष्टातिक्रमे च विशिष्टस्य ततोऽर्धम् ।

तत्प्रसादो वाक्पारुष्यकृता कार्यः, दण्डो राज्ञस्त्रयो वा कार्षापणा देयाः । वाशब्दः समुच्चये । शुक्तं परुषं परुषवाक्येऽतिदेशात्तदन्यवाक्पारुष्यपरः । उत्तमवर्णाक्षेप इत्यत्राक्षेपशब्दः यथारूपविशिष्टस्य जात्यादिमतोऽविशिष्टेन जात्यादिहीनेनाक्षेपे कृते तस्य चतुर्विंशतिः पणाः । अविशिष्टस्य विशिष्टेनाक्षेपे कृते वाक्पारुष्ये तदर्धमित्यर्थः । विर. २४८

वर्णभेदेन आक्रोशदण्डाः

आक्रोशे ब्राह्मणस्य क्षत्रियः पणशतं दण्ड्यः, शतार्धं वैश्यस्य, पञ्चविंशतिं शूद्रस्य ।

अधिकृतविप्रगुरुभर्त्सने दण्डाः

तैथाऽधिकृतान् विप्रान् गुरूंश्च निर्भर्त्सनं मुण्डनं ताडनं वा, गोमयानुलेपनं खरारोहणं दर्पहरो दण्डो वा ।

(१) आक्रोश इत्यधिकृत्याहतुः शंखलिखितौ — तथेति । अप. २।२०५

(२) क्रोशत इत्यनुवृत्तौ शङ्खलिखितौ— तथेति । अपराधतारतम्यमपेक्ष्यात्र व्यवस्थितविकल्पः । विर. २५०

## कौटिलीयमर्थशास्त्रम्

वाक्पारुष्यम्

वाक्पारुष्यम् । वाक्पारुष्यमुपवादः कुत्सनमभिभर्त्सनमिति ।

शरीरप्रकृतिश्रुतवृत्तिजनपदानां शरीरोपवादेन काणखञ्जादिभिः सत्ये त्रिपणो दण्डः । मिथ्योपवादे षट्पणो दण्डः ।

---

(१) सवि. ४७७.

(२) विस्मृ. ५।३५-६ षट्+( दण्ड्यः ); अप. २।२०४ षट् ( तु षट् ); व्यक. १०२ ( सम...…दण्ड्यः० ); विर. २४७; विचि. ११० ( सवर्णाक्रोशने सार्धद्वादशपणो दण्डः । हीनवर्णे काकिण्यधिकषट्पणो दण्डः । ) बृहस्पतिः; व्यप्र. ३८० ( हीन……षट्० ); व्यउ. ११९ व्यप्रवत्; व्यम. ९९ व्यप्रवत्; सेतु. २१० समव ( सव ) पणान् ( पणा ); समु. १६० शने ( शे ) शेषं व्यप्रवत्.

(३) विस्मृ. ५।३७-९ (ख) शुक्त ( शुष्क ); अप. २।२०४ सव ( समव ) शुक्त ( शुल्क ).

(४) व्यक. १०२ वर्णा ( सवर्णा ); विर. २४८ .

(५) अप. २।२०४ ; व्यक. १०२ ष्टाक्षेपे ( ष्टे क्षेपे ) ष्टातिक्रमे + ( च ); विर. २४८ ( ह्य० ) ( अविशिष्टातिक्रमे ………… र्धम्०); व्यप्र. ३८० सवर्ण …… पणाः ( समवर्णव्यतिक्रमे द्वादशपणाः ) ष्टातिक्रमे ( ष्टस्यातिक्रमे ); व्यउ. १२० (कार्षा०) ष्टातिक्रमे ( ष्टस्यातिक्रमे ).

(१) व्यक. १०३; विर. २५१ णस्य ( णः ) यः पणशतं ( यस्य शतं ); व्यप्र. ३८१; व्यउ. १२० .

(२) अप. २।२०५ र्त्सनं ( र्त्सयतो ) ( ताडनं वा० ) नुले ( ले ) रोह ( रोप ) हरो ( हारो ); व्यक. १०२ ताडनं वा ( ताडनं ) नुले ( ले ) दर्पहरो ( द्रव्यहारो ); विर. २५० विप्रान् गुरूंश्च ( गुरून् विप्रांश्च ) मुण्डनं ताडनं वा ( ताडनं ); दवि. २१२ नुले ( प्रले ) शेषं विरवत्; व्यप्र. ३८२ र्भर्त्सं ( र्वास ) हरो दण्डो (हरणं वाग्दण्डो); व्यउ. १२१ व्यप्रवत्.

(३) कौ. ३।१८.

शोभनाक्षिदन्त इति काणखञ्जादीनां स्तुतिनिन्दायां द्वादशपणो दण्डः।

वाक्पारुष्यमिति सूत्रम्। वक्तव्यवचनं वाक्पारुष्यम्। तत्र तद्दण्डश्चाभिधीयत इति सूत्रार्थः। तत् त्रिधा विभजते—वाक्पारुष्यमित्यादि। उपवादोऽङ्गवैकल्यादिवचनं, कुत्सनं कुष्ठोन्मादादिवचनं, अभिभर्त्सनं घातादिभयोपदर्शनम्।

शरीरेत्यादि। शरीरं प्रकृतिः स्त्रीपुरुषादिलक्षणा श्रुतं वृत्तिर्जनपद इति पञ्च विषया वाक्पारुष्यस्य, तेषां शरीरादीनां मध्ये, काणखञ्जादिभिः काण एकदृक् खञ्जः कोलः आदिना कुणिदन्तुरादिग्रहणं एतैः काणखञ्जकुणिशब्दैः शरीरोपवादेन, सत्ये काणत्वादौ यथार्थे सति त्रिपणो दण्डः। मिथ्योपवादे षट्पणो दण्डः।

शोभनाक्षिदन्त इतीति। शोभनाक्षः शोभनदन्त इति रीत्या, काणखञ्जादीनां, स्तुतिनिन्दायां स्तुतिव्याजेन निन्दायां कृतायां, द्वादशपणो दण्डः। श्रीमू.

कुष्ठोन्मादक्लैब्यादिभिः कुत्सायां च। सत्यमिथ्यास्तुतिनिन्दासु द्वादशपणोत्तरा दण्डास्तुल्येषु। विशिष्टेषु द्विगुणः। हीनेष्वर्धदण्डः। परस्त्रीषु द्विगुणः। प्रमादमदमोहादिभिरर्धदण्डाः।

कुष्ठोन्मादयोश्चिकित्सकाः संनिकृष्टाः पुमांसश्च प्रमाणम्। क्लीबभावे स्त्रियः मूत्रफेनः अप्सु विष्ठानिमज्जनं च।

प्रकृत्युपवादे ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रान्तावसायिनामपरेण पूर्वस्य त्रिपणोत्तराः दण्डाः। पूर्वेणापरस्य द्विपणाधराः। कुब्राह्मणादिभिश्च कुत्सायाम्।

तेन श्रुतोपवादो वाग्जीवनानां, कारुकुशीलवानां वृत्त्युपवादः, प्राग्घूणकगान्धारादीनां च जनपदोपवादा व्याख्याताः।

कुत्सनविषयमाह— कुष्ठोन्मादक्लैब्यादिभिः कुत्सायां चेति। कुष्ठी उन्मत्तः क्लीब इत्यादिप्रकारेण कुत्सने च, द्वादशपणो दण्डः इति वर्तते। सत्यमिथ्यास्तुतिनिन्दासु कुष्ठादिसत्यत्वे तन्मिथ्यात्वे कुष्ठ्यादीन् प्रति कल्य इत्यादिरीत्या स्तुतिनिन्दायां च; द्वादशपणोत्तराः उत्तरोत्तरद्वादशपणाधिकाः द्वादशपणश्चतुर्विंशतिपणः षट्त्रिंशत्पणः इत्येवंरूपाः दण्डाः भवन्ति, तुल्येषु समानेषु विषये। विशिष्टेषु गुणाधिकेषु विषये, द्विगुणः दण्डः। हीनेषु अर्धदण्डः। परस्त्रीषु विषये द्विगुणः। प्रमादमदमोहादिभिः कुत्सायां अर्धदण्डाः उक्ताः; सर्वे दण्डा अर्धहीनाः।

कुत्सनस्य सत्यासत्यविषयकनिर्णयप्रमाणापेक्षायामाह—कुष्ठोन्मादयोश्चिकित्सका इत्यादि। क्लीबभावे, स्त्रियः, मूत्रफेनः अनुपलभ्यमानो मूत्रे फेनः, अप्सु विष्ठानिमज्जनं च, प्रमाणम्।

प्रकृतिविषयस्योपवादस्य दण्डमाह— प्रकृत्युपवादे ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रान्तावसायिनामपरेण पूर्वस्येत्यादि। अन्तावसायिना चण्डालेन शूद्रस्य, शूद्रेण वैश्यस्य, वैश्येन क्षत्रियस्य, क्षत्रियेण ब्राह्मणस्य, चोपवादे, उत्तरोत्तरत्रिपणाधिकाः दण्डाः। पूर्वेण अपरस्य उपवादे द्विपणाधराः उत्तरोत्तरद्विपणावराः दण्डाः। कुब्राह्मणादिभिश्च कुत्सायां, द्विपणाधरा इत्येव।

प्रकृत्युपवाददण्डविधानं श्रुतोपवादादिष्वतिदिशति—तेनेति। उक्तेन प्रकृत्युपवादेन, वाग्जीवनानां श्रुतोपवादः विद्याकुत्सनं, कारुकुशीलवानां वृत्त्युपवादः जीविकाकुत्सनं, प्राग्घूणकगान्धारादीनां हूणका नाम जनपदविशेषः कामगिर्युत्तरतोवृत्तिरुदीच्यः तस्य पूर्वावयवः प्राग्घूणकाः भाषायां तु 'चण्डा(ल)राष्ट्रमि'त्युक्तम्। गान्धाराः प्रसिद्धाः तदादीनां जनपदोपवादाश्च जनपददोषोद्भावनेन कुत्सनानि च, व्याख्याताः। प्राग्घूणकेति चायं भाषापाठः। अर्थशास्त्रस्यादर्शे तु क्वचित् प्राकारणकारयोर्मध्ये वर्णस्यैकस्य लेखनस्थानमुत्सृष्टम्। क्वचित् प्राणकेति पाठः। श्रीमू.

[1]यः परं 'एवं त्वां करिष्यामि' इति करणेनाभिभर्त्सयेदकरणे, यस्तस्य करणे दण्डः ततोऽर्धदण्डं दद्यात्।

अशक्तः कोपं मदं मोहं वाऽपदिशेत्, द्वादशपणं दद्यात्।

(१) कौ. ३।१८.

(१) कौ. ३।१८.

जातवैराशयः शक्तश्चापकर्तुं यावज्जीविकावस्थं दद्यात् ।

**स्वदेशग्रामयोः पूर्वं मध्यमं जातिसंघयोः ।**
**आक्रोशाद् देवचैत्यानामुत्तमं दण्डमर्हति ॥**

अभिभर्त्सनविषयमाह— य इति । यः परं अन्यं, 'एवं त्वां करिष्यामि' इति 'तव पादं भङ्क्ष्यामि भुजं भङ्क्ष्यामि' इत्येवं, करणेन शरीरावयवेन, अभिभर्त्सयेत् तर्जयेत्, अकरणे उक्तस्याक्रियायां, तस्य अभिभर्त्सकस्य, करणे यो दण्डः 'पाणिपाददन्तभङ्गे' इत्यादिना दण्डपारुष्ये वक्ष्यमाणः, ततोऽर्धदण्डं दद्यात् ।

अशक्त इति । उक्तपादभङ्गादिकरणाशक्तः, कोपं मदं मोहं वा, अपदिशेत् पादभङ्गादेरुक्तिकारणं वदेच्चेत्, द्वादशपणं दण्डं स दद्यात् । शक्तस्य कोपाद्यपदेशो न स्वीकार्य इत्यभिप्रायः ।

जातवैराशय इति । तथाभूतः, अपकर्तुं शक्तश्च जनः, उक्तविधमभिभर्त्सनं कुर्वन्निति शेषः, यावज्जीविकावस्थं यावज्जीवस्थेयं आस्वमरणप्रतिभुवं, दद्याद् धर्मस्थेभ्य इत्यार्थम् ।

अध्यायान्ते श्लोकमाह— स्वदेशग्रामयोरिति । तयोः, आक्रोशात् निन्दनात्, पूर्वं दण्डं पूर्वसाहसं अर्हति । जातिसंघयोः अर्थात् स्वीययोः, आक्रोशात् मध्यमं मध्यमसाहसं दण्डं, अर्हति । देवचैत्यानां आक्रोशात् उत्तमं उत्तमसाहसं दण्डं, अर्हति । श्रीमू.

## मनुः

समासमवर्णानां परस्पराक्रोशे दण्डाः

**एषोऽखिलेनाभिहितो धर्मः सीमाविनिर्णये ।**
**अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वाक्पारुष्यविनिर्णयम् ॥**

(१) पूर्वोपसंहारोऽपरसंक्षेपोपन्यासः श्लोकार्थः । दण्डवाचिके इत्युक्तौ क्रमभेदो लाघवात्, वाक्पारुष्यं स्यात्ततो दण्डव्यापारः । द्वन्द्वे चेतरेतरयोगात् व्यस्तक्रमसमासार्थप्रतिपत्तेरेकैकस्योभयार्थप्रतिपादनात् दण्डशब्देन वागर्थोऽप्युपात्त इति कः क्रमभेदः । तथा च यथासंख्यसूत्रारम्भो महाभाष्यकारेण समर्थितः एतदेव दर्शनमाश्रित्य, संज्ञासमासनिर्देशादिति । मेधा.

(२) एषोऽनन्तरोक्तो धर्मादनपेतः सीमाविनिर्णयो निःशेषेणोक्तः । अनन्तरं परुषभाषणविषयनिर्णयं प्रकर्षेण वक्ष्यामि, दण्डपारुष्यतो वाक्पारुष्यस्य प्रायेणासहत्वम् । प्रथमं वाक्पारुष्यविचारः अनुक्रमण्यां पुनः 'पारुष्ये दण्डवाचिके' इति, वृत्तानुरोधाद्दण्डशब्दस्य पूर्वाभिधानम् । गोरा.

(३) एष सीमानिश्चये धर्मो निःशेषेणोक्तः । अत ऊर्ध्वं वाक्पारुष्यं वक्ष्यामि । दण्डपारुष्याद्वाक्पारुष्यप्रवृत्तेः पूर्वमभिधानम् । अनुक्रमश्रुत्यां तु 'पारुष्ये दण्डवचिके' इति दण्डशब्दस्य अल्पस्वरत्वात्पूर्वनिर्देशः । ममु.

**शतं ब्राह्मणमाक्रुश्य क्षत्रियो दण्डमर्हति ।**
**वैश्योऽध्यर्धशतं द्वे वा शूद्रस्तु वधमर्हति ॥**

(१) परुषवचनमाक्रोशः । स च बहुधा, नृशंसाश्लीलभाषणात् मर्मणि तोदः, अभिशापः अकारणं 'हन्त वृषलो भूयाः', असता दुःखोत्पादनं 'कन्या ते गर्भिणी' ति, पातकोपपातकैर्योजनमिति । तत्र द्वयोर्ब्राह्मणाक्रोशे क्षत्रियवैश्ययोरयं दण्डः । अन्यत्र 'पतनीये कृते क्षेपे दण्डो मध्यमसाहसः' इत्यादिः (यास्मृ. २।२१०) स्मृत्यन्तरोक्तः । तस्य शूद्रस्य च वधः । ताडनजिह्वाच्छेदनमारणादिरूपः आक्रोशभेदात् वेदितव्यः । मेधा.

(१) **मस्मृ.** ८।२६६; **विर.** २४२ धर्मः ( धर्म्यः ) र्णये ( र्णयः ) त ऊर्ध्वं ( तः परं ); **सेतु.** २०२ र्णये ( र्णयः ) त ऊर्ध्वं ( तः परं ); **समु.** १५९ उत्त.

१ इत्युक्त्वा क्र.

(१) **मस्मृ.** ८।२६७ ध्यर्ध ( प्यर्ध ) [ ऽध्यर्ध (सार्ध, वर्ध) Noted by Jha ]; **अपु.** २२७।२३ माक्रुश्य ( मानस्य ) उत्तरार्धे ( वैश्यश्च द्विशतं राम शूद्रश्च बन्धमर्हति ); **मिता.** २।२०७; **अप.** २।२०७ मस्मृवत्; **व्यक.** १०३ मनुनारदौ; **विर.** २५० ध्यर्ध ( ध्यर्ध ); **पमा.** ४३१ मस्मृवत्; **रत्न.** १२०; **व्यनि.** ४८६ र्धशतं द्वे वा ( र्धं शतं चैव ) मनुनारदौ; **स्मृचि.** २४ विरवत्; **दवि.** २०५ द्वे वा ( त्वेव ); **नृप्र.** २७७ मस्मृवत्; **सवि.** ४७८ मस्मृवत्; **व्यप्र.** ३८१; **व्यउ.** १२०; **व्यम.** ९९; **विता.** ७२७ द्वे वा ( विघात् ) शेषं विरवत्; **सेतु.** २११ ऽध्य ( द्य ) द्वे वा ( द्वेधा ); **समु.** १६० द्वे वा ( चैव ).

१ अकरणहन्ता वृषलभूयाः । असतां दुःखो. २ णक्रो. ३ यावै.

(२) 'वादेष्वि'ति (मस्मृ. ८।२६९) वक्ष्यमाणत्वात् मातृभगिन्याद्यश्लीलपत्नीयवर्जं परुषं, ब्राह्मणमाक्रुश्य पणशतं क्षत्रियो, वैश्योऽध्यर्धशतं द्वे वा, शूद्रस्तु वधमर्हति। पुनराक्रोशविशेषापेक्षया ताडनजिह्वाकर्तनाद्यमर्हति। गोरा.

(३) आक्रुश्य 'त्वं पापिष्ठोऽसि' इत्यादिना। अध्यर्धशतं सार्धशतं अल्पाक्षेपे। द्वे वेत्यतिशयिते। एते सर्वे पणाः। वधस्ताडनम्। मवि.

(४) द्विजस्य चौरेत्याक्षेपरूपं परुषमुक्त्वा क्षत्रियः पणशतं दण्डमर्हति। एवं सार्धशतं द्वे वा शते लाघवगौरवापेक्षया वैश्यः। शूद्रोऽप्येवं ब्राह्मणाक्रोशे ताडनादिरूपं वधमर्हति। ममु.

(५) आक्रुश्य मध्यमेन वाक्पारुष्येणेति शेषः, इति पारिजातः। अध्यर्धं सार्धं शतं, द्वे वेति आक्रोशगौरवापेक्षया। वधस्ताडनजिह्वाच्छेदाद्यात्मकः। विर. २५०-५१

(६) इदमत्र चिन्त्यं वाक्यस्यास्य मध्यपारुष्यविषयत्वेनान्तरोक्तं वैश्यमित्यादि बृहस्पतिवचनं प्रथमपारुष्यविषयं प्राप्तं दण्डलाघवदर्शनात्। तथा च शूद्रस्योत्तमे पारुष्ये को नाम दण्डोऽस्तु न तावज्जिह्वाच्छेद एव मध्यमेनावरोधात्। नान्यः— अनभिधानादिति।

अत्र उत्तमे ब्राह्मणाक्षेपे जिह्वाच्छेदो द्रष्टव्य औचित्यात्, 'अनृताभिशंसने तदङ्गच्छेदः' इति हारीतवाक्ये रत्नाकरकृतैव तीव्राक्रोशे जिह्वाच्छेदव्याख्यानाच्चेति। दवि. २०६

(७) द्वे वेति गुणवद्ब्राह्मणापेक्षया। वधं ताडनादिरूपं, हुङ्काराद्यल्पाक्रोशे, उत्तरत्र जिह्वाच्छेदस्य वक्ष्यमाणत्वात्। *मच.

**[1]पञ्चाशद्ब्राह्मणो दण्ड्यः क्षत्रियस्याभिशंसने।**
**वैश्ये स्यादर्धपञ्चाशत् शूद्रे द्वादशको दमः॥**

(१) अभिशंसनं सर्वप्रकार आक्रोशः। पतनीयादन्यः। तत्र दण्डान्तरविधानात्। निमित्तसप्तमी चैषा। वैश्य इति विषयसप्तमी। ब्राह्मणस्याक्रोष्टुराक्रुश्यमानस्य च दण्ड उक्तः। क्षत्रियादीनां त्वितरेतरं स्मृत्यन्तरमन्वेषणीयम्। तथा च गौतमः—'ब्राह्मणराजन्यवत् क्षत्रियवैश्यौ' (गौध. १२।११) परस्पराक्रोशे। क्षत्रियश्चेद्वैश्यमाक्रोशेत् पञ्चाशतं दण्ड्यः। वैश्यः क्षत्रियं, शतम्। एवं क्षत्रियः शूद्रमाक्रोशेत् पञ्चविंशतिं दण्ड्यः। वैश्यः पञ्चाशतम्। शूद्रस्य तु तदाक्रोशे गुणापेक्षिको दण्डो वक्ष्यते। मेधा.

(२) ब्राह्मणेन क्षत्रियवैश्यशूद्रेषु उक्ताद्याक्षेपे कृते पञ्चाशत् पञ्चविंशतिः द्वादश पणान् यथाक्रमं ब्राह्मणो दण्ड्यः। * गोरा.

(३) अभिशंसने आक्रोशे। वैश्ये आक्रुश्यमाने विप्रेण। एवं शूद्र इत्यत्रापि। मवि.

**[1]विप्रक्षत्रियवत्कार्यो दण्डो राजन्यवैश्ययोः।**
**वैश्यक्षत्रिययोः शूद्रे विप्रे यः क्षत्रशूद्रयोः।**
**[2]समुत्कर्षापकर्षाभ्यां विप्रदण्डस्य कल्पना।**
**राजन्यवैश्यशूद्राणां वधवर्जमिति स्थितिः॥**

समुत्कर्षेति। क्षत्रादीनामपि स्वावरवर्णेष्वाक्रोशे विप्रस्येव दण्डक्लृप्तिरित्यर्थः। मवि.

समवर्णाक्रोशे तदत्यन्तनिन्दायां च दण्डः

**[3]समवर्णे द्विजातीनां द्वादशैव व्यतिक्रमे।**
**वादेष्ववचनीयेषु तदेव द्विगुणं भवेत्॥**

---

* नन्द., भाच. मचवत्।

(१) मस्मृ. ८।२६८; अपु. २२७।२४ दण्ड्यः (दम्यः) स्याद (वाऽप्य); मिता. २।२०७; अप. २।२०७ श्ये स्याद (श्यस्याऽप्य); व्यक. १०३; विर. २५१ पञ्चाशद्ब्राह्मणो (विप्रः पञ्चाशतं) श्ये स्यादर्ध (श्यस्य त्वर्ध) द्वादशको (तु द्वादशो); पमा. ४३१; रत्न. १२० पञ्चाशद्ब्राह्मणो (विप्रः पञ्चाशतं); दीक. ५१ रत्नवत्; व्यनि. ४८७ पञ्चाशद्ब्राह्मणो दण्ड्यः (विप्राः पञ्चाशतं दण्ड्याः) मनुनारदौ; स्मृचि. २४ को (मो); सवि. ४७८ श्ये स्यादर्ध (श्यस्य त्वर्ध); व्यप्र. ३८१ रत्नवत्; व्यउ. १२० रत्नवत्; विता. ७२७; सेतु. २११ रत्नवत्; समु. १६० णो दण्ड्यः (णे दण्डः).

* ममु., मच., नन्द. गोरावत्।

(१) मस्मृ. ८।२६९ इत्यस्योपरिष्टात् प्रक्षिप्तश्लोकोऽयम्।

(२) मस्मृ. ८।२६९ इत्यस्योपरिष्टात् प्रक्षिप्तश्लोकोऽयम्, र्षाभ्यां (र्षात्तु) वध (धन); स्मृचि. २४.

(३) मस्मृ. ८।२६९; अप. २।२०४ (=) र्णे (र्ण); व्यक. १०२ मनुनारदौ; स्मृच. ३२६ र्णे द्विजातीनां (र्णास्तु सर्वेषां) मे (मः) पू.; विर. २४९ मनुनारदौ;

(१) द्विजातिग्रहणमतन्त्रम् । समवर्णे द्वादश व्यतिक्रमे परस्पराक्रोशे दण्डः । साम्यं च जातिवित्तबन्धुवयःकर्मविद्याभिः, विशेषानुपदेशात् । तत्र समानजातीये वित्ताधिके द्विगुणं, तस्मिन्नेव बन्धुत्वाधिके त्रिगुणं, यावत्सर्वगुणातिगुणस्य षड्गुणम् । वादा आक्रोशा अवचनीया अत्यन्तनृशंसाः मातृभगिनीभार्यादिगताः । तदेव द्विगुणं दण्डपरिमाणम् । नपुंसकलिङ्गात् । सर्वशेषोऽयं न समवर्णविषय एव । अथवा तदेव शतमिति योजना । लिङ्गसामर्थ्याच्छतस्य च प्रथमश्लोके श्रुतत्वात् । अतोऽवचनीयेषु समवर्णेष्वपि द्विशतो दमः । लिङ्गोपपत्त्यर्थं परिमाणपदमश्रुतमध्याहर्तव्यम् । शते तु व्यवहितकल्पना ज्यायसी । मेधा.

(२) द्विजातीनां समजातिविषये उक्तरूपे आक्रोशे कृते व्यतिक्रमे सति द्वादशैव पणान् दण्ड्यः । अवचनीयेषु वादेषु मातृभगिन्याद्यश्लीलरूपेषु 'शतं ब्राह्मणमाक्रुश्य' इत्यादि यदुक्तं तदेव दण्डं द्विगुणं दण्डात् भवति । *गोरा.

(३) द्विजातीनां त्रयाणां व्यतिक्रमे आक्रोशे । अवचनीयेष्वश्लीलेषु 'त्वं स्वसृगामी'त्यादिषु आक्रोशमात्रतात्पर्येणोक्तेषु समवर्णेषु । मवि.

(४) द्विजातिपदमत्रातन्त्रं, व्यतिक्रमे वाक्पारुष्ये अप्रकाशनीयप्रकाशादन्यस्मिन्निति यावत् । वादेष्ववचनीयेष्वित्यनेन अप्रकाश्यप्रकाशको वादो विवक्षितः । विर.२४९

(५) व्यतिक्रमेऽल्पवाक्पारुष्ये । यदिदं द्वादशेत्युक्तं तदेव द्विगुणं भवेत् । नन्द.

(६) द्विजातीनां व्यतिक्रमे द्विजस्य द्विजः क्षत्रियस्य क्षत्रियः वैश्यस्य वैश्यः शूद्रस्य शूद्रः, व्यतिक्रमे द्वादशैव पणान् दण्ड्यः । व्यतिक्रमे द्विगुणं चतुर्विंशतिपणाः । भाच.

* ममु. गोरावत् ।

दवि. २०४ मनुनारदौ; सवि. ४७६ वर्णे द्विजातीनां ( जातौ तु सर्वेषां ) पू.; व्यप्र. ३८० मनुनारदौ; व्यउ. ११९-२० र्णे ( र्ण ); समु. १६०.

शूद्रकृते उच्चवर्णक्षेपे धर्मोपदेशे च दण्डाः

**[१]एकजातिर्द्विजातींस्तु वाचा दारुणया क्षिपन् ।**
**जिह्वायाः प्राप्नुयाच्छेदं जघन्यप्रभवो हि सः ॥**

(१) एकजातिः शूद्रः । स त्रैवर्णिकान् क्षिपन् आक्रोशन् दारुणया पातकादियोगिन्या वाचा नृशंसादिरूपया जिह्वाच्छेदं लभते । जघन्यप्रभव इति । पादाभ्यां ब्रह्मण उत्पन्न इति । हेत्वभिधानं प्रतिलोमानामपि ग्रहणार्थम् । तेऽपि जघन्यप्रभवा एव 'नास्ति पञ्चमः' इति वर्णान्तरनिषेधात् । मेधा.

(२) अत्यन्ताभ्यासे एतत् । अप. २।२०७

(३) शूद्रो द्विजातीन् पातकाभियोगिन्या वाचा आक्रुश्य जिह्वाच्छेदं लभेत । यस्मादसौ पादाख्यान्निकृष्टाङ्गाज्जातः । *ममु.

(४) एकजातिरिह शूद्रः उपनयनाभावात्, दारुणया मर्मस्पृशा पातित्यादिबोधिकया, जघन्यप्रभवः श्रुतौ पद्भ्यामुत्पन्नत्वेन बोधितत्वात् । एतेन संकरजातानामपि द्विजातिं प्रति दारुणाक्षेपे अयं दण्डः, तेषामपि जघन्यजातत्वात् । विर. २५४

(५) सः द्विजातिः जघन्यस्य शूद्रस्य प्रभवः । भाच.

**[२]नामजातिग्रहं तेषामभिद्रोहेण कुर्वतः ।**
**निक्षेप्योऽयोमयः शङ्कुर्ज्वलन्नास्ये दशाङ्गुलः ॥**

* गोरा., मच., नन्द. ममुवत् ।

(१) मस्मृ. ८।२७० [ तींस्तु ( तिं च ) Noted by Jha ]; अप. २।२०७ तींस्तु ( तिं तु ) पन् ( पेत् ); व्यक. १०३ तींस्तु ( तिं तु ) मनुनारदौ; विर. २५३ मनुनारदौ; पमा. ४३४ मनुनारदौ; व्यनि. ४८७ मनुनारदौ; स्मृचि. २४; दवि. २०६ तींस्तु ( तिं तु ) च्छेदं ( च्छेदं ) मनुनारदौ; बाल. २।२०७; सेतु. २१२ तींस्तु ( तिं तु ) प्राप्नुयाच्छेदं ( छेदमाप्नोति ) मनुनारदौ; समु. १६१.

(२) मस्मृ. ८।२७१ तेषां ( त्वेषा ); अप. २।२०७ हं ते ( हांस्ते ); व्यक. १०३ क्षेप्यो ( खेयो ) शेषं मस्मृवत्, मनुनारदौ; विर. २५३ क्षेप्यो ( खेयो ) मनुनारदौ; पमा. ४३४ तेषा ( चैषा ) क्षेप्यो ( खेयो ) मनुनारदौ; व्यनि. ४८७ व्यकवत्, मनुनारदौ; स्मृचि. २४ मभि ( मति ) क्षेप्यो ( धेयो ); दवि. २०६ तेषा ( त्वेषा ) निक्षेप्योऽयो (विधेयोऽयो) मनुनारदौ; मच. विरवत्; वीमि. २।२११ निक्षेप्यो

(१) अभिद्रोह आक्रोशः कुत्साबुद्धिः, ब्राह्मणक त्वं मा मया स्पर्धिष्ठाः। एवमन्यदपि योज्यम्। ग्रहणं ग्रहः। निरुपपदं नाम गृह्णाति कुत्साप्रत्यययोगेन वा, 'देवदत्तके'ति। अभिद्रोहेण क्रोधेनाभिद्रोहः क्रोधः गर्हा क्षेपः। न प्रणयेन। निक्षेप्यः प्रक्षेप्यः। शङ्कुः कीलकः। ज्वलन्नग्निना दीप्यमानोऽयोमयो लोहमयः। ※मेधा.

(२) अत्यन्ताभ्यासे एतत्। अप. २।२०७

(३) नामग्रहं मैत्र इति। जातिग्रहं ब्राह्मण इति। अभिद्रोहेणाक्रोशाभिमानेन कुर्वतः शूद्रस्य। ज्वलन्नतितप्तः। मवि.

(४) अमुकनामाऽसि त्वं अमुकजातिस्त्वम्। अभिद्रोहेण आक्रोशाभिमानेन ग्रहं कलहं कुर्वतः यस्तस्य आस्ये मुखे अयोमयः शङ्कुः दशाङ्गुलः ज्वलन् स्थाप्यः। भाच.

**धर्मोपदेशं दर्पेण विप्राणामस्य कुर्वतः।**
**तप्तमासेचयेत्तैलं वक्त्रे श्रोत्रे च पार्थिवः॥**

(१) अयं ते स्वधर्मः, इयं वा अत्रेतिकर्तव्यता, मैवं कार्षीः, छान्दसोऽसीत्येवमादि व्याकरणलेशज्ञतया[2] दुन्दुकत्वेन दर्पवन्तः शूद्रा उपदिशन्ति। तेषामेष दण्डः। यस्तु प्रणयात् ब्राह्मणापाश्रयादेव व्युत्पन्नो विस्मृतं कथञ्चिद्देशकालविभागं स्मारयेत्, पूर्वाह्णकालं नातिक्रामय, क्रियतां दैवं कर्म, देवांस्तर्पयोपवीती भव, मा प्राचीनावीतं कार्षीरिति, तस्य न दोषः। तप्तमग्निसंबन्धात् पीडाकरम्। आसेचयेत् क्षारयेत्। युक्तं वक्त्रे, मुखेनोपदेशकत्वात्। श्रोत्रस्य कोऽपराधः? प्रागसत्तर्कादिश्रवणम्। +मेधा.

(२) कथञ्चिद्धर्मलेशमवगम्यायं ते धर्मोऽनुष्ठेय इति ब्राह्मणस्याहङ्कारादुपदिशतोऽस्य शूद्रस्य मुखे कर्णयोश्च ज्वलत्तैलं राजा प्रक्षेपयेत्। ममु.

मिथ्याक्षेपे अङ्गवैकल्योक्तौ गुर्वाद्याक्षारणे च दण्डः

**श्रुतं देशं च जातिं च कर्म शारीरमेव च।**
**वितथेन ब्रुवन् दर्पाद्दाप्यः स्याद्द्विशतं दमम्॥**

(१) सत्ये च श्रुते, नैतदनेन सम्यक् श्रुतमित्याह। श्रुतमेव वाक्षिपति। नैतत्संस्कारकं यदनेन श्रुतमिति। ब्रह्मावर्तीयमभिजनाभिमानिनं बाह्यकोऽयमित्याह। एवं जातिब्राह्मणं क्षत्रियोऽयमित्याह, क्षत्रियं वा हेलया ब्राह्मण इति। कर्म, स्नातक इति। शरीरावयवः शारीरमव्यङ्गं[1], दुश्चर्मेति। वितथेन, वितथमनृतम्। 'प्रकृत्यादिभ्यः' इति तृतीया। अथवाऽयं धर्मो वैतथ्यं, तस्य वाच्यं प्रति कारणता युक्तैव। स्वगुणमदात् परावज्ञानं दर्पः। अज्ञानात् परिहासतो वा न दोषः। कस्य पुनरयं दण्डः। सर्वेषामिति ब्रूमः। शूद्राधिकाराच्छूद्रस्यैवेति परे। द्विजातिविषये वैतथ्ये। मेधा.

(२) शारीरं कर्म भारवहनादि, वितथेन ब्रुवन्न त्वश्रुतादि। दर्पादभिमानात्। अश्रुताद्यभिमानेन ब्रुवन् द्विज एव दण्ड्यो न तु शूद्रस्तस्य तु वध एव। ※मवि.

(३) समानजातिविषयमिदं दण्डलाघवात् न तु शूद्रस्य द्विजात्याक्षेपविषयम्। न त्वयैच्छ्रुतं, न भवान् तद्देशजातो, न तवेयं जातिर्न तव शरीरसंस्कारमुपनयनादि कृतमित्यहङ्कारेण मिथ्या ब्रुवन् द्विशतं दण्डं दाप्यः स्यात्। वितथेनेति तृतीयाविधाने 'प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्' इति तृतीया। ×ममु.

---

※ गोरा., ममु., विर., मच., नन्द. मेधावत्। दवि. व्याख्यानं पूर्वग्रन्थेषु गतार्थम्।

(विधेयो); सेतु. २१२ मभि (मति) मनुनारदौ; समु. १६१ ग्रहं तेषा (ग्रहे दोष) क्षेप्यो (खेयो).

(१) मस्मृ. ८।२७२ [दर्पेण (धर्मेण) Noted by Jha]; अप. २।२०७ विप्राणा (द्विजाना); व्यक. १०३ अपवत्, मनुनारदौ; विर. २५४ अपवत्, मनुनारदौ; स्मृचि. २४; दवि. ३२१ अपवत्, मनुनारदौ; समु. १६१.

१ गर्भः क्षे. २ ज्ञानतया.

+ सर्वव्याख्यानानि मेधावत्।

※ दवि. मविवत् ममुवत् विरवच्च, सर्वेषामनुवादात्। भाच. मविवत्।

× गोरा. ममुवत्। गोरा. व्याख्यानमशुद्धिसंदेहान्नोद्धृतम्।

(१) मस्मृ. ८।२७३; व्यक. १०३; विर. २५४ ब्रुवन् (वदन्); विचि. १११ (=); स्मृचि. २४ दमम् (दमः); दवि. २०७; सेतु. २१३.

१ रेऽव्यङ्गं.

(४) कर्म तपश्चर्यादिरूपं, शारीरं शरीरावयवं, वितथेनासत्येन। तेन श्रुतदेशजातितपश्चर्याशरीरावयव-विशेषमधिकृत्य दर्पादसत्यं वदति तत्र द्विशतं दण्डः। वितथेनेति 'प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानमि'ति तृतीया। श्रुतादिवितथवचनोदाहरणानि। नानेन वेदः श्रुतः। नास्यार्यावर्तो देशः। नायं विप्रः। नानेन तपः कृतम्। नायमदुश्चर्मा इत्यादि। दर्पः स्वगुणदार्ढ्यज्ञानेन पराव-ज्ञानम्। विर. २५५

(५) समवर्णे आह— श्रुतमिति। न त्वं द्विजातिर्न तवायमुचितो देश इत्येवं वितथेन वितथं ब्रुवन्, शूद्रः शूद्रस्यैव ब्रुवन्। 'प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानमि'ति तृतीया। अथवा स्वख्यात्यर्थे दर्पात् मिथ्या वदन् शूद्रो दण्डनीय इत्याह— श्रुतमिति। मयैतत्पुराणादिकं श्रुतं, मम मध्यदेशे वसतिः, अतीव कुलीनोऽहं, अतीव सत्कर्माऽस्मि, ममातीव चूडादिसंस्कारो वृत्त इति। अन्यथा वितथेनेत्यनुपपत्तेरिति। मच.

(६) सर्ववर्णानामविशेषेण दण्डमाह— श्रुतं देशं चेति। देशं जन्मभूम्यादिकम्। कर्म यज्ञादिकम्। शारीरमुपनयनादिकम्। वितथेन वैतथ्येन। नन्द.

**[1]काणं वाऽप्यथवा खञ्जमन्यं वाऽपि तथाविधम्।**
**तथ्येनापि ब्रुवन् दाप्यो दण्डं कार्षापणावरम्* ॥**

(१) एकेनाक्ष्णा विकलः काणः। खञ्जः पादविकलः। तथाविधं कुणिं [1]चिपटं, तथ्येन नासत्येन, अपिशब्दात् वितथेन, अकाणे काणे च काण इत्युक्ते कार्षापणावरो दण्डः। अत्यन्ताल्पो यदि दण्डः कथञ्चिदनुग्राह्यतया तदा कार्षापणोऽवरो दण्डः। अन्यथा द्वौ त्रयः पञ्च वा पुरुषविशेषापेक्षयाऽपि दण्ड्यः शूद्रः, सर्वे वा पूर्ववत्। मेधा.

(२) काणं पादविकलं वा अन्यमपि वा तथारूपं अङ्गविकलमन्धादिकं काणादिशब्देन सत्येनापि ब्रुवन् यदि सर्वनिकृष्टं कार्षापणं दण्डं दाप्यः। *गोरा.

(३) तदाक्षेप्तुरत्यन्तोत्कर्षे स्वल्पे वा आशयदोषे ग्राह्यम्। अप. २।२०४

(४) ब्रुवन् काणस्त्वं इत्यादिकमभिमानात् कार्षापणोऽ-त्यन्तावरो यत्र दण्डे तम्। अधिकसंभवे तु ततोऽपि किञ्चिदधिकं दाप्य इत्यर्थः। मवि.

(५) किञ्चान्यत् वस्तुतोऽङ्गहीनस्य तथावदने दण्ड-माह—काणमिति। तथाविधं विरूपम्। तथ्येनापीत्यत्रा-पेरवधारणार्थत्वात् परिहासवारणाय। कार्षापणावरं पणा-दपि न्यूनं पुनः प्रसङ्गवारणाय। मच.

**[1]मातरं पितरं जायां भ्रातरं श्वशुरं गुरुम्।**
**आक्षारयन् शतं दाप्यः पन्थानं चाददद्गुरोः ॥**

(१) आक्षारणं भेदनं द्वेषजननमनृतेन। 'एषा ते माता न स्नेहवती द्वितीये पुत्रेऽत्यन्ततृष्णावती कनक-मयमङ्गुलीयकं रहसि तस्मै दत्तवती' इत्येवमाद्युक्त्वा भेदयति। एवं पितापुत्रौ जायापती भ्रातॄन् गुरुशिष्यौ। तनयग्रहणं द्वितीयसंबन्धिप्रदर्शनार्थम्। अन्यथा मातर-मित्युक्ते मातरं पुत्राद्भिन्दतो दण्डः स्यात् न पुत्रं मातुः। यद्यपि भेदनमुभयाधिष्ठानं तथापि यन्मुखेन क्रियते स एव भेदयितव्य इति व्यवहारः। तत्रासति तनयग्रहणे प्रदर्शनार्थे यदैव मातरमाह—'नैष ते पुत्रोऽभक्तो दुःशीलश्च' इत्येवमादिना मातरमाक्षारयति तत्रैव स्यान्न पुत्रं, यथा दर्शितम्। अन्ये तु चित्तकदर्थनोत्पादनमा-

* मिता. व्याख्यानं 'सत्यासत्यान्यथास्तोत्रैः' इति याज्ञवल्क्यवचने द्रष्टव्यम्।

(१) **मस्मृ.** ८।२७४; **मिता.** २।२०४; **अप.** २।२०४ ऽप्यथ (यदि) पणा (पणं); **व्यक.** १०२ मनुनारदौ; **विर.** २४७-८ ब्रुवन् (वदन्) मनुनारदविष्णवः; **पमा.** ४३१; **रत्न.** १२१; **स्मृचि.** २४ मन्यं (मन्धं); **नृप्र.** २७६; **व्यप्र.** ३८४ मनुनारदौ; **व्यउ.** १२२ मनुनारदौ; **विता.** ७२४; **समु.** १६०.

१ विटपं त.

* ममु., नन्द., भाच. गोरावत्।

(१) **मस्मृ.** ८।२७५ श्वशुरं (तनयं); **अपु.** २२७।२८ जायां (ज्येष्ठं) दाप्यः (दण्ड्यः); **मिता.** २।२०४; **व्यक.** १०२ मस्मृवत्; **विर.** २५० मस्मृवत्; **पमा.** ४३१ चा (वा); **रत्न.** १२०; **व्यनि.** ४८५ गुरुम् (गुरून्) शेषं मस्मृवत्; **स्मृचि.** २४ चा (वा) शेषं मस्मृवत्; **दवि.** २११ मस्मृवत्: २१२ आक्षारयन् (आक्रोशयन्) इति धर्मकोषे पाठान्तरम्; **नृप्र.** २७६ भ्रातरं श्वशुरं (श्वशुरं भ्रातरं); **वीमि.** २।२०४; **व्यप्र.** ३८२; **व्यउ.** १२१ चा (वा); **व्यम.** ९९; **विता.** ७२४ चा (वा); **राकौ.** ४८८-९; **सेतु.** २१४ दाप्यः (दण्ड्यः) शेषं मस्मृवत्; **समु.** १६०

क्षारणमाहुः । प्रवत्स्यामि धनं श्रुतं वाऽर्जयितुं तीर्थान्युपसेवितुं, तत्प्रवासशङ्कया च मानसी तृष्णया पीडा भवतीति तथा न कर्तव्यम् । यावद्गुरवस्ते जीवेयुस्तावन्नान्यं समाचरेन्न तैरननुज्ञात इति च । यत्तु विद्वेषणादिना चित्ते खेदोत्पादनं तत्र शतान्न मुच्यते प्रतिरोद्धा गुरोरिति महत्त्वाद्दोषस्य । जायाया अनुकूलायाः पुत्रवत्याः, करोत्यन्यं विवाहमित्येतदाक्षारणम् । एवं गुणवतः पुत्रस्याक्षारणेऽन्यकरणम् । गुरोः सर्वप्रकारं पन्थानमत्यजतः शतं दण्डः । मेधा.

(२) 'क्षारिताक्षारितौ सद्भिरभिशस्तावुदाहृतौ' इति त्रिकाण्डदर्शनात् मातृपितृभार्याभ्रातृपुत्रगुरूणां महापातकाभिशापमुत्पादयन् गुरोश्च पन्थानमददत् शतं दण्ड्यः । अभ्यासानभ्यासाक्षारणेन वाऽत्र मातृभार्यादीनां दण्डस्य विषमसमीकरणं परिहरणीयम् । गोरा.

(३) यदा पुनः पुत्रादयो मात्रादीन् शपन्ति तदा शतं दण्डनीया इति तेनैवोक्तम्— मातरमिति । एतच्च सापराधेषु मात्रादिषु गुरुषु निरपराधायां च जायायां द्रष्टव्यम् । मिता. २।२०४

(४) आक्षारयन् अगम्यमैथुनेनाभिशंसन् । जायासंनिधेर्जायाया एव मातरं पितरं चेति ग्राह्यम् । तेनात्र जायां प्रति तव माता स्वैरिणीत्यादिरभिशापो द्रष्टव्यः । *मवि.

(५) 'आक्षारितः क्षारितोऽभिशप्तः' इत्याभिधानिकाः । मात्रादीन् पातकादिनाऽभिशपन्, गुरोश्च पन्थानमत्यजन् दण्ड्यः । भार्यादीनां गुरुलघुपापाभिशापेन दण्डसाम्यं समाधेयम् । मेधातिथिस्तु आक्षारणं भेदनमित्युक्त्वा मातृपुत्रपित्रादीनां परस्परभेदनकर्तुरयं दण्डविधिरिति व्याख्यातवान् । ×ममु.

(६) आक्षारयन् वाक्पारुष्यविषयीकुर्वन् । विर. २५०

(७) मिथ्याभिशापेन योजयन्निति हलायुधः । आक्षारयन् अगम्यमैथुनेनाभिशंसन्, तेन जायां प्रति

* माच. मविवत् ।

× गोरावद्भावः । मच. ममुवत् ।

तत्र माता स्वैरिणीत्यादिरभिलापो द्रष्टव्यः । एवं मात्रादिष्वपीति नारायणः ।

धर्मकोषे तु 'आक्रोशयन्' इति पठित्वा 'आक्रोशनं साक्षेपाह्वानमिति व्याख्यातम् । *दवि. २११-१२

(८) आक्षारयन् वाक्पारुष्येण क्रोधयन् मातापितृगुरुज्येष्ठभ्रातॄणामाक्षारणे सकृत्कृते अन्येषामसकृत्कृते दण्डः, अतुल्यकक्षित्वात् । नन्द.

पतितं पतितेत्युक्त्वा चौरं चौरेति वा पुनः ।
वचनात्तुल्यदोषः स्यान्मिथ्या द्विर्दोषतां व्रजेत् ॥

पतितं पातकिनम् । उक्त्वा आक्रोशबुद्ध्या तुल्यदोषोऽतस्तुल्यो दण्डः । एवं द्विर्दोषतां द्विगुणदोषतामित्यादि । मवि.

ब्राह्मणक्षत्रिययोः परस्पराक्रोशे विट्शूद्रयोः स्वजात्याक्रोशे च दण्डाः

ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यां तु दण्डः कार्यो विजानता ।[1]
ब्राह्मणे साहसः पूर्वः क्षत्रिये त्वेव मध्यमः ॥[2]

(१) ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यां परस्पराक्रोशे कृते तयोरयं दण्ड इत्येवमध्याहारेण योजना । तादर्थ्ये चतुर्थी वा । तद्विनयाय दण्डः कर्तव्यः । पातकस्याक्रोशे कृते अयं दण्डो दुःखोत्पादनरूपे । ×मेधा.

(२) वर्णानां स्वजातिविषये वाक्पारुष्यातिशये दण्डं श्लोकद्वयेनाह—ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यां त्विति । विजानता राज्ञा । ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यां वाक्पारुष्यातिशये कृते तयोर्दण्डौ कार्यावित्यर्थः । तावुत्तरार्धेनोक्तौ । नन्द.

* शेषं मेधा., मिता., ममु., विर. इत्येतेषां विवरणम् ।

× सर्वव्याख्यानानि मेधावत् ।

(१) मस्मृ. ८।२७७ इत्यस्योपरिष्टात् प्रक्षिप्तश्लोकोऽयम् ।

(२) मस्मृ. ८।२७६ [ तु दण्डः ( च दण्डः ) Noted by Jha ]; व्यक. १०३; विर. २५५ त्वेव ( ष्वेव ); दवि. २०१ विरवत्; वीमि. २।२११ विजानता ( विधानतः ) त्वेव ( चैव ); व्यप्र. ३८३ त्वेव ( त्वेष ); व्यउ. १२१; बाल. २।२०७; सेतु. २१२ त्वेव ( चैव); समु. १६० सः पूर्वः ( सं पूर्व ) त्वेव मध्यमः ( मध्यमं स्मृतम् ).

¹विट्शूद्रयोरेवमेव स्वजातिं प्रति तत्त्वतः ।
छेदवर्जं प्रणयनं दण्डस्येति विनिश्चयः ॥

(१) एवमेव प्रथममध्यमौ साहसावित्यतिदिश्यते । तेनैव क्रमेण वैश्यस्य शूद्राक्रोशे प्रथमः । शूद्रस्य वैश्याक्रोशे मध्यमः । छेदवर्जं दण्डस्य प्रणयनमिति 'एकजातिर्द्विजातीनि'त्यनेन जिह्वाच्छेदं प्राप्तं निवर्तयति । स्वजातिं प्रतीति । नैवं मन्तव्यं समानजातीयं प्रतीति । किं तर्हि, याऽत्र जातिरुपात्ता वैश्यशूद्राविति । स्वग्रहणं² श्लोकाभिप्रायं, परस्पराक्रोशे यावत् । स्वजातिमिति पूर्वत्रापि संबन्धनीयम् । प्रणयनं प्रवर्तनम् । क्षत्रियस्य वैश्यशूद्राक्षारणे प्रथमार्धसाहसः । एवं ब्राह्मणस्य वैश्यशूद्रयोः कल्प्यम् । मेधा.

(२) वैश्यशूद्रयोः परस्परजातिं प्रति पतनीयाक्रोशे ब्राह्मणक्षत्रियवत् । प्रथममध्यमसाहसात्मकं जिह्वाच्छेदवर्जं यथावद्दण्डस्य करणम् । एवं च ब्राह्मणक्षत्रियाक्रोशे एवं शूद्रस्य जिह्वाच्छेदनमवतिष्ठते । *गोरा.

(३) विट्शूद्रयोरेवमेवान्योन्याक्षारणे प्रथमो वैश्यस्य शूद्रस्य मध्यमः । तयोस्तु स्वस्वजात्याक्षारणे छेदवर्जं तत्तज्जात्युचितदण्डमात्रप्रणयनम् । तेनार्थाद् ब्राह्मणक्षत्रियाक्षारणे छेद एवेत्यर्थः । मवि.

(४) वैश्यशूद्रयोरप्येवमेव । स्वजातिं प्रति तुल्यजातिं प्रति तत्त्वतः स्वरूपगुणोत्कर्षापकर्षलक्षणात् । छेदवर्जमिति जिह्वाच्छेदनिवृत्त्यर्थम् । ×विर. २५६

(५) उक्तदण्डमन्यत्रातिदिशति — विडिति । शूद्राक्रोशिनि वैश्ये प्रथमः । वैश्याक्रोशिनि शूद्रे मध्यमः । स्वजातिं प्रति संनिधेः स्वस्य जातिर्यदनन्तरं तत्स्वजातिस्तेन वैश्यः क्षत्रियमाक्रुश्य प्रथमसाहसं दद्यात् । वैश्यमाक्रुश्य शूद्रो मध्यमसाहसं दद्यात् । अन्यथा 'समवर्णे द्विजातीनामि'ति वैश्यस्य द्वादशस्योक्तत्वात्तत्त्वतः परिहासं विना छेदवर्जे जिह्वाच्छेदं विना । अतो ब्राह्मणक्षत्रियाक्रोशिनि शूद्रे जिह्वाच्छेदः प्रथमोक्तः पर्याप्तः । मच.

(६) एवमेवेति मध्यमसाहसातिदेशः स्वजातिं प्रति वाक्पारुष्य इति शेषः । अपराधेऽपि स्वजातिं प्रतीत्यनुषङ्गः । शूद्रस्येति च विपरिणामः, तेनायमर्थः शूद्रस्य जिह्वाच्छेदवर्जनं दण्डप्रणयनं स्वजातिविषये न द्विजातिविषय इति । नन्द.

## याज्ञवल्क्यः

### वाक्पारुष्यलक्षणविभागौ

इदानीं वाक्पारुष्यं प्रस्तूयते । तल्लक्षणं चोक्तं नारदेन— 'देशजातिकुलादीनामाक्रोशं न्यङ्गसंयुतम् । यद्वचः प्रतिकूलार्थं वाक्पारुष्यं तदुच्यते ॥' इति । देशादीनामाक्रोशं न्यङ्गसंयुतम् । उच्चैर्भाषणमाक्रोशः, न्यङ्गमवद्यं तदुभययुक्तं यत्प्रतिकूलार्थमुद्वेगजननार्थं वाक्यं तद्वाक्पारुष्यं कथ्यते । तत्र कलहप्रियाः खलु गौडा इति देशाक्रोशः । नितान्तं लोलुपाः खलु विप्रा इति जात्याक्रोशः । क्रूरचरिता ननु वैश्वामित्रा इति कुलाक्षेपः । आदिग्रहणात्स्वविद्याशिल्पादिनिन्दया विद्वच्छिल्पादिपरुषाक्षेपो गृह्यते । तस्य च दण्डतारतम्यार्थं निष्ठुरादिभेदेन त्रैविध्यमभिधाय तल्लक्षणं तेनैवोक्तम्— 'निष्ठुराश्लीलतीव्रत्वादपि तत्त्रिविधं स्मृतम् । गौरवानुक्रमात्तस्य दण्डोऽपि स्यात्क्रमाद्गुरुः ॥ साक्षेपं निष्ठुरं ज्ञेयमश्लीलं न्यङ्गसंयुतम् । पतनीयैरुपाक्रोशैस्तीव्रमाहुर्मनीषिणः ॥' इति । तत्र धिङ्मूर्खं जाल्ममित्यादि साक्षेपम् । अत्र न्यङ्गमित्यसभ्यम् । अवद्यं भगिन्यादिगमनं तद्युक्तमश्लीलम् । सुरापोऽसीत्यादिमहापातकाद्याक्रोशैर्युक्तं वचस्तीव्रम् । मिता. २।२०४

### समगुणेषु सवर्णेषु निष्ठुराक्षेपे दण्डः

**सत्यासत्यान्यथास्तोत्रैर्न्यूनाङ्गेन्द्रियरोगिणाम् ।**
**क्षेपं करोति चेद्दण्ड्यः पणानर्धत्रयोदशान् ॥**

---

* मसु. गोरावत् । × दवि. विरवत् ।

(१) मस्मृ. ८।२७७ [ स्वजातिं ( सजातिं ) विनिश्चयः ( विनिर्णयः ) Noted by Jha ]; मिता. २।२०७ पू.; व्यक. १०४ रेव ( स्त्वेव ); विर. २५६ व्यकवत्; दवि. २०१ व्यकवत्; व्यप्र. ३८३ व्यकवत्; व्यउ. १२२ स्येति ( श्चेति ) शेषं व्यकवत्; विता. ७२७ पू.; बाल. २।२०७ उत्त.; समु. १६०.

१ जातीयम्. २ हणश्लो.

(१) यास्मृ. २।२०४; अपु. २५८।१ दशान् ( दश ); विश्व. २।२०८ न्यू ( हीं ) शेषं अपुवत्; मिता.; अप.; व्यक. १०२; विर. २४७ अपुवत्; पमा. ४३०; रत्न. १२१ दण्ड्यः ( दाप्यः ); स्मृचि. २४; व्यनि. ४८६; दवि. २१०; नृप्र. २७६; सवि. ४७७; वीमि.;

(१) प्रायेण द्यूतप्रभवत्वाद् वाग्दण्डपारुष्ययोर्विनाशकारणत्वसामान्याद्वा द्यूतव्यवहारानन्तरमारंभः। तत्रापि दण्डपारुष्यस्यापि कारणभूतत्वाद् वाक्पारुष्यमेव तावदुच्यते — सत्यासत्येति। हीनाङ्गाः खञ्जादयः। हीनेन्द्रियाः काणादयः। कुष्ठाद्यभिभूता रोगिणः। तेषां यद्यनपराधिनामेव चापलाद् विद्यमानेन्द्रियवैकल्यादिना सत्येनैव दुष्टया वाचा क्षेपं कुर्यात्, असत्येनापि हे काण इत्यकाणमेवाधिक्षिपेत्। अन्यथास्तोत्रेण वा सातिशयस्तुतिपदैः प्रसिद्धं मूर्खं हे चतुर्वेदिन्, इत्येवं वदन् अर्धत्रयोदशपणान् राजावेदने कृते दण्ड्यः। स्मृत्यन्तराच्च तस्यापि प्रसादनं कार्यम्। विश्व. २।२०८

(२) तत्र निष्ठुराक्रोशे सवर्णविषये दण्डमाह — सत्यासत्येति। न्यूनाङ्गाः करचरणादिविकलाः। न्यूनेन्द्रिया नेत्रश्रोत्रादिरहिताः। रोगिणो दुश्चर्मप्रभृतयः। तेषां सत्येनासत्येनान्यथास्तोत्रेण च निन्दार्थया स्तुत्या। यत्र नेत्रयुगलहीन एषोऽन्ध इत्युच्यते तत्सत्यम्। यत्र पुनश्चक्षुष्मानेवान्ध इत्युच्यते तदसत्यम्। यत्र विकृताकृतिरेव दर्शनीयस्त्वमसीत्युच्यते तदन्यथास्तोत्रम्। एवंविधैर्यः क्षेपं निर्भर्त्सनं करोत्यसौ अर्धाधिकत्रयोदशपणान् दण्डनीयः। 'काणं वाऽप्यथवा खञ्जमन्यं वाऽपि तथाविधम्। तथ्येनापि ब्रुवन् दाप्यो दण्डं कार्षापणावरम्॥' इति ( मस्मृ. ८।२७४ ) यन्मनुवचनं तदतिदुर्वृत्तवर्णविषयम्। यदा पुनः पुत्रादयो मात्रादीन् शपन्ति तदा शतं दण्डनीया इति तेनैवोक्तम् — 'मातरं पितरं जायां भ्रातरं श्वशुरं गुरुम्। आक्षारयन् शतं दाप्यः पन्थानं चाददद्गुरोः॥' इति ( मस्मृ. ८।२७५ )। एतच्च सापराधेषु मात्रादिषु गुरुषु निरपराधायां च जायायां द्रष्टव्यम्। मिता.

(३) द्वादश पणान् सार्धान् दण्ड्यः। अर्धः त्रयोदशो येषां पणानां तेऽर्धत्रयोदशाः पणाः। *अप.

(४) प्रथमवाक्पारुष्ये समजातिगुणविषयमेतत्। +विर. २४७

* शेषं मितावत्। पमा. अपवत्। वीमि. अपवत् विरवच्च।
\+ दवि., व्यप्र. विरवत्।

व्यप्र. ३८०; व्यउ. ११९; व्यम. ९९ अपुवत्; विता. ७२४; राकौ. ४८८; सेतु. २१० अपुवत्; समु. १६०.

समगुणेषु सवर्णेषु अश्लीलाक्षेपे दण्डः

**अभिगन्ताऽस्मि भगिनीं मातरं वा तवेति ह।**
**शपन्तं दापयेद्राजा पञ्चविंशतिकं दमम्॥**

(१) राजावेदने एव च— 'अभिगन्तासि भगिनीं मातरं वा तवेति हि। शपन्तं दापयेद् राजा पञ्चविंशतिकं दमम्॥' अयं च सवर्णानां समानगुणानां च दण्डकल्पः। विश्व. २।२०९

(२) अश्लीलाक्षेपे दण्डमाह— अभिगन्ताऽस्मीति। त्वदीयां भगिनीं मातरं वा अभिगन्ताऽस्मीति शपन्तं, अन्यां वा त्वज्जायामभिगन्तेत्येवं शपन्तं, राजा पञ्चविंशतिकं पणानां पञ्चाधिका विंशतिर्यस्मिन् दण्डे स तथोक्तस्तं दमं दापयेत्। मिता.

(३) प्रथमे वाक्पारुष्ये दण्ड उक्तः संप्रति मध्यमे वाक्पारुष्ये दण्डमाह—अभिगन्ताऽस्मीति। अप.

(४) तव भगिनीं मातरं वा अभिगन्ताऽस्मि मिथुनं भूयोऽपि भोक्ष्यमाणोऽहमिति शपन्तं उद्वेजयन्तं समजातिगुणं राजा पञ्चविंशतिपणमितं दमं दापयेत्। वाशब्दो अनास्थायां, तेन पुत्रीं जायां वा तवाभिगन्ताऽहमित्यादिकमपि संगृहीतम्। हशब्दः पादपूरणे। वीमि.

विषमगुणेषु सवर्णेषु निष्ठुराश्लीलाक्षेपेषु दण्डः

**अर्धोऽधमेषु द्विगुणः परस्त्रीषूत्तमेषु च॥**

(१) **यास्मृ.** २।२०५; **अपु.** २५८।२ ह ( च ); **विश्व.** २।२०९ स्मि ( सि ) ह ( हि ); **मिता.** २।२०५; **अप.**; **व्यक.** १०२; **विर.** २४९ स्मि ( सि ) वा ( च ) ह ( हि ); **पमा.** ४३३ अपुवत्; **रत्न.** १२० अपुवत्; **दीक.** ५१ तवेति ह ( तथाविधम् ); **विचि.** ११०-११ स्मि ( सि ) वा तवेति ह ( यभयेरिह ) शपन्तं ( पणं तु ); **व्यनि.** ४८६; **स्मृचि.** २४; **दवि.** २११ वा ( च ) ह ( हि ), विवादचिन्तामणौ 'मातरं यन्ममेति हि' इति पठितम्; **नृप्र.** २७६; **वीमि.**; **व्यप्र.** ३८३; **व्यउ.** १२१ ह ( हि ); **व्यम.** ९९ तवे ( न वे ) ह ( च ); **विता.** ७२५; **राकौ.** ४८८; **सेतु.** २१०; **समु.** १६०.

(२) **यास्मृ.** २।२०६; **अपु.** २५८।३; **विश्व.** २।२१०; **मिता.**; **अप.**; **व्यक.** १०२; **विर.** २४५; **रत्न.** १२०; **विचि.** ११०; **दवि.** २००; **नृप्र.** २७६; **वीमि.**; **व्यप्र.** ३८१ र्धो ( र्धा ); **व्यउ.** १२०; **विता.** ७२६; **सेतु.** २०९; **समु.** १६०.

(१) गुणवर्णवैषम्ये पुनः-'अर्धोऽधमेषु द्विगुणः परस्त्रीषूत्तमेषु च। दण्डप्रणयनं कार्यं वर्णजात्युत्तराधरम्॥' निरूप्येति शेषः। उक्तदण्डादर्धत्रयोदशपणावधिकाद् वर्णगुणाद्यधमेषु अर्धदण्डः। द्विगुणं च परस्त्रीषु। परशब्द उत्कृष्टार्थः। परैरुत्कृष्टैः गुणतो वर्णतो वा परिणीताः परस्त्रियः, तास्वधिक्षिप्तासु। उत्तमेषु च गुणवर्णादिभिः पुरुषेषु स्त्रीषु वा। अर्धवचनं द्विगुणवचनं चोभयमपि यथार्हदण्डोपलक्षणार्थमित्येतद् दर्शयति। दण्डप्रणयनं कार्यमिति न्यूनतया आधिक्येन वा यथार्हं वर्णजात्युत्तराधरमालोच्येत्यभिप्रायः। जातिशब्दश्च जन्मनिमित्तवाद् वयोवचनतया गुणलक्षणार्थोऽवसेयः।

विश्व. २।२१०

(२) एवं समानगुणेषु वर्णिषु दण्डमभिधाय विषमगुणेषु दण्डं प्रतिपादयितुमाह—अर्धोऽधमेष्विति। अधमेषु आक्षेप्त्रपेक्षया न्यूनवृत्तादिगुणेष्वर्धो दण्डः। पूर्ववाक्ये पञ्चविंशतेः प्रकृतत्वात्तदपेक्षयार्धः सार्धद्वादशपणात्मको द्रष्टव्यः। परभार्यासु पुनरविशेषेण द्विगुणः पञ्चविंशत्यपेक्षयैव पञ्चाशत्पणात्मको वेदितव्यः। तथोत्तमेषु च स्वापेक्षयाऽधिकश्रुतवृत्तेषु दण्डः पञ्चाशत्पणात्मक एव।

*मिता.

(३) प्रथमे मध्यमे च वाक्पारुष्ये सवर्णानां दण्ड उक्तः। तस्यैव दण्डनीयगुणसदसद्भावकृतं विशेषमाह—अर्धोऽधमेष्विति। विद्यानुष्ठानादिगुणवताऽधमेषु अधमगुणेषु आक्रुष्टेषूक्तस्यार्धमेव दण्डः स्यात्। तत्र प्रथमे वाक्पारुष्ये षट्पणाः। पणचतुर्थांशश्च दण्डार्थं, मध्यमे तु द्वादश सार्धाः। यस्तु परस्त्रीराक्षिपति, तथाऽल्पगुणश्च सन्नुत्तमगुणांस्तस्योक्तो द्विगुणो दण्डः। तत्र प्रथमे वाक्पारुष्ये पञ्चविंशतिः।

+अप.

(४) अर्धता चापराधानुरूपा। दण्डस्य अधमता वर्णतो गुणतश्च।

विचि. ११०

इन्द्रियनाशप्रतिज्ञयाक्षेपे पापाक्षेपे त्रैविद्यनृपदेवजातिपूगग्रामदेशाक्षेपे च दण्डाः

**बाहुग्रीवानेत्रसक्थिविनाशे वाचिके दमः।**
**शत्यस्तदर्धिकः पादनासाकर्णकरादिषु॥**

* विर., व्यप्र. मितावत्। दवि. विरवत् विचिवच्च।
+ वीमि. अपवत्।

(१) **यास्मृ.** २।२०८; **अपु.** २५८।५ दर्धे (तोऽर्धे);

(१) वधप्रतिज्ञया तु वाक्पारुष्ये— 'बाहुग्रीवानेत्रसक्थिविनाशे वाचिके दमः। शत्यस्तदर्धिकः पादनासाकर्णकरादिषु॥' इति। बाह्वादिच्छेदस्ते मया कर्तव्य इत्येवं तथाकरणसमर्थस्य ब्रुवतः शत्यो दमः कार्यः। शतेनाभिनिर्वृत्तः शत्यः। शतं दण्ड्य इत्यर्थः। पादादिच्छेदनप्रतिज्ञायां तु ततोऽर्धे, पञ्चाशदित्यर्थः। आदिशब्दश्च दण्डपारुष्योक्तदन्तभङ्गाद्यर्थः। ऊर्वस्थि सक्थीत्युच्यते। स्पष्टमन्यत्।

विश्व. २।२१२

(२) पुनर्निष्ठुराक्षेपमधिकृत्याह—बाहुग्रीवेति। बाह्वादीनां प्रत्येकं विनाशे, वाचिके वाचा प्रतिपादिते तव बाहू छिनद्मीत्येवंरूपे शत्यः शतपरिमितो दण्डो वेदितव्यः। पादनासाकर्णकरादिषु आदिग्रहणात् स्फिगादिषु वाचिके विनाशे तदर्धिकः तस्य शतस्यार्धं तदर्धं तदस्यास्त्यसौ तदर्धिकः पञ्चाशत्पणिको दण्डो वेदितव्यः।

*मिता.

(३) अत्र बाह्वादिपदेन प्रधानाङ्गविवक्षा, पादनासाकर्णकरादिपदेन चाऽप्रधानाङ्गविवक्षा। शत्यः शतपरिमितः।

विर. २४९

(४) दमः समानगुणजातिमतः।

+वीमि.

**अशक्तस्तु वदन्नेवं दण्डनीयः पणान् दश।**
**तथा शक्तः प्रतिभुवं दाप्यः क्षेमाय तस्य तु॥**

(१) प्रागुक्तं शक्तसंबन्धितया बाह्वादिच्छेदवाक्यम्—'अशक्तस्तु वदन्नेवं दण्डनीयः पणान् दश। तथा शक्तः प्रतिभुवं दाप्यः क्षेमाय तस्य तु॥' वाङ्मात्रेणापि

* अप. मितावत्। + शेषं मितावत्।

**विश्व.** २।२१२; **मिता.**; **अप.** अपुवत्; **व्यक.** १०२ अपुवत्; **विर.** २४९; **पमा.** ४३२; **रत्न.** १२०; **व्यनि.** ४८६ र्धिकः (र्धके); **स्मृचि.** २४-५; **दवि.** २११ नासाकर्ण (कर्णनासा); **सवि.** ४७८ र्धि (र्धे); **वीमि.**; **व्यप्र.** ३८३; **व्यउ.** १२१ के (को); **व्यम.** ९९; **विता.** ७२९; **समु.** १६०.

(१) **यास्मृ.** २।२०९; **अपु.** २५८।६ दाप्यः (दद्यात्); **विश्व.** २।२१३; **मिता.**; **अप.**; **व्यक.** १०२; **विर.** २४९; **पमा.** ४३२; **रत्न.** १२०; **व्यनि.** ४८६; **दवि.** २११; **वीमि.**; **व्यप्र.** ३८३; **व्यउ.** १२१; **व्यम.** ९९; **विता.** ७२९; **समु.** १६०.

वदतः कर्तुमशक्तस्य दशपणो दण्डः । शक्तस्तु प्रागुक्तदण्डं दाप्यः । त्रासापनोदनाय च समर्थं क्षेमाय प्रतिभुवं दाप्यः । विश्व. २।२१३

(२) यः पुनर्ज्वरादिना क्षीणशक्तिस्त्वद्बाह्वाद्यङ्गभङ्गं करोमीत्येवं शपत्यसौ दशपणान् दण्डनीयः । यः पुनः समर्थः क्षीणशक्तिं पूर्ववदाक्षिपत्यसौ पूर्वोक्तशतादिदण्डोत्तरकालं तस्याशक्तस्य क्षेमार्थं प्रतिभुवं दापनीयः । मिता.

(३) सामान्येनोक्तस्य विषयविशेषे व्यवस्थामाह—अशक्तास्त्विति । बाह्वादिच्छेदं कर्तुं समर्थः स यदि तं ब्रूयात्तदोक्तं दण्डं गृहीत्वा क्षिप्तस्य क्षेमाय परिरक्षणार्थं प्रतिभुवं दाप्यः । बाह्वादिच्छेदासमर्थस्तु चेद्दशैव पणान् दाप्यः । अप.

(४) तुशब्देनाधिकतमशक्तिकव्यवच्छेदः । तथाशब्देन प्रतिभुवोऽभावे राज्ञा बन्धनीय इति समुच्चीयते । उत्तमाधमभेदेनात्रापि न्यूनाधिक्यम् । *वीमि.

**पतनीयकृते क्षेपे दण्डो मध्यमसाहसः ।**
**उपपातकयुक्ते तु दाप्यः प्रथमसाहसम् ॥**

(१) ब्रह्महा गोघ्नो वा त्वमित्येवमादिके क्षेपे—'पतनीयकृते क्षेपे दण्ड्यो मध्यमसाहसम् । उपपातकयुक्ते तु दाप्यः प्रथमसाहसम् ॥' विश्व. २।२१४

(२) तीव्राक्रोशे दण्डमाह—पतनीयेति । पातित्यहेतुभिर्ब्रह्महत्यादिभिर्वर्णिनामाक्षेपे कृते मध्यमसाहसं दण्डः । उपपातकसंयुक्ते पुनर्गोघ्नस्त्वमसीत्येवमादिरूपे क्षेपे प्रथमसाहसं दण्डनीयः । ×मिता.

(३) मध्यमसाहसादिकं प्राग्लक्षितम् । इदं च समानगुणादिपरम् । उत्तमाधमभेदेन न्यूनाधिक्यं चोहनीयम् । वीमि.

**'त्रैविद्यनृपदेवानां क्षेप उत्तमसाहसः ।**
**मध्यमो जातिपूगानां प्रथमो ग्रामदेशयोः ॥**

(१) नृपग्रहणमाचार्यपितृश्रोत्रियादीनामपि सामान्यालक्षणार्थम् । पूगशब्दश्चात्र गणमात्रवचनः । ततश्च जातिपूगानां जातिमतां गणानां क्षत्रियादिसमुदायानामित्यर्थः । स्पष्टमन्यत् । विश्व. २।२१५

(२) त्रैविद्याः वेदत्रयसंपन्नास्तेषां, राज्ञां, देवानां च क्षेपे उत्तमसाहसो दण्डः । ये पुनर्ब्राह्मणमूर्धावसिक्तादिजातीनां पूगाः संघास्तेषामाक्षेपे मध्यमसाहसो दण्डः । ग्रामदेशयोः प्रत्येकमाक्षेपे प्रथमसाहसो दण्डो वेदितव्यः । मिता.

(३) ऋग्यजुःसामवेदिनां नृपतेर्ब्राह्मणादिदेवानां वा क्षेप्तुरुत्तमसाहसो दण्डः कार्यः । ब्राह्मणादिजातीनां पूगानां परिषदादीनां व्यवहारनिर्णयाद्येककार्यकारिणां विदुषामाक्षेप्तुर्मध्यमसाहसः, ग्रामस्य जनपदस्य वा क्षेपं कुर्वतः प्रथमसाहसः । अप.

(४) ग्रामदेशयोः प्रथम इत्यत्राप्युपपातकयुक्त इत्यनुषङ्गो युक्तः साहचर्यादिति केचित् । तन्न । आक्षेपविशेषेणैवाप्यनाक्षेप्याक्षेप्यतारतम्यापेक्षया यथोत्तरं दण्डापकर्षविधानात् पापपरत्वस्य स्मृत्यन्तरसंवादात् । दवि.२०९

इति याज्ञवल्क्यवचनं तत्र लघुतः क्षेपो विविक्षितः । दवि.२१४

(५) क्षत्रियादेस्तु द्वैगुण्यादिकमूहनीयम् । पतनीयाक्रोशे मनुः — 'ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यां तु दण्डः कार्यो

* शेषं मितावत् । × अप. मितावत् ।

(१) यास्मृ. २।२१०; अपु. २५८।७; विश्व. २।२१४ ण्डो (ण्ड्यो) सः (सम्); मेधा. ८।२६७ नीय (नीये) पू., स्मृत्यन्तरम्; मिता.; अप.; व्यक. १०३; विर. २५५ नीय (नीये) सः (सम्); पमा. ४३३; रत्न. १२१ नीय (नीये); दवि. २०८ कृते (कृता) सः (सम्); सवि. ४७८ कृते (कृति) तु (च); वीमि.; व्यप्र ३८३ ण्डो मध्य (ण्ड उत्त); व्यउ. १२१ व्यप्रवत्; विता. ७३०; राकौ. ४८९ रत्नवत्; सेतु. २११ विरवत्; समु. १६०.

(१) यास्मृ. २।२११; अपु. २५८।८ जाति (ज्ञाति); विश्व. २।२१५; मिता.; अप.; व्यक. १०४; विर. २५६-७ देवा (देशा); पमा. ४३४; रत्न. १२१ क्षेप (दण्ड) पू.; व्यनि. ४८८; दवि. २०९ : २१४ पू.; सवि. ४७९; वीमि.; व्यप्र. ३८४ उत्त.; व्यउ. १२२ उत्त.; व्यम. ९९ रत्नवत्, पू.; विता. ७३०; सेतु. २१४ विरवत्; समु. १६१.

विधानतः। ब्राह्मणे साहसः पूर्वः क्षत्रिये चैव मध्यमः ॥' शूद्रानुवृत्तौ बृहस्पतिः — 'विक्रोशकस्तु विप्राणां जिह्वाच्छेदनमर्हति ॥' तथा — 'नामजातिग्रहं तेषामभिद्रोहेण कुर्वतः । विधेयोऽयोमयः शङ्कुर्ज्वलन्नास्ये दशाङ्गुलः ॥' इदं तु मात्सर्यानुबन्धातिशयपूर्वकाक्रोशपरमित्याभाति । वीमि.

**राज्ञोऽनिष्टप्रवक्तारं तस्यैवाक्रोशकारिणम् ।**
**तन्मन्त्रस्य च भेत्तारं छित्त्वा जिह्वां प्रवासयेत् ॥**

(१) प्रसह्यकारितया तु— 'राज्ञोऽनिष्टप्रवक्तारं तस्यैवाक्रोशकं तथा। तन्मन्त्रस्य च भेत्तारं छित्त्वा जिह्वां प्रवासयेत् ॥' विश्व. २।३०५

(२) राज्ञोऽनिष्टस्यानभिमतस्यामित्रस्तोत्रादेः प्रकर्षेण भूयोभूयो वक्तारं, तस्यैव राज्ञ आक्रोशकारिणं निन्दाकरणशीलं, तदीयस्य च मन्त्रस्य स्वराष्ट्रविवृद्धिहेतोः परराष्ट्रापक्षयकरस्य वा भेत्तारं आमित्रकरणेषु जपन्तं तस्य जिह्वामुत्कृत्य स्वराष्ट्रान्निष्कासयेत् । कोशापहरणादौ पुनर्वध एव। 'राज्ञः कोशापहर्तॄंश्च प्रतिकूलेषु च स्थितान् । घातयेद्विविधैर्दण्डैररीणां चोपकारकान् ॥' इति (मस्मृ. ९।२७५) मनुस्मरणात् । विविधैः सर्वस्वापहाराङ्गच्छेदवधरूपैरित्यर्थः । सर्वस्वापहारेऽपि यद्यस्य जीवनोपकरणं तन्नापहर्तव्यं चौर्योपकरणं विना । यथाह नारदः — 'आयुधान्यायुधीयानां बाह्यादीन् बाह्यजीविनाम् । वेश्यास्त्रीणामलङ्कारान् वाद्यतोद्यादि तद्विदाम् ॥ यच्च यस्योपकरणं येन जीवन्ति कारुकाः । सर्वस्वहरणेऽप्येतन्न राजा हर्तुमर्हति ॥' इति । ब्राह्मणस्य पुनः 'न शारीरो ब्राह्मणे दण्डः' इति निषेधाद्वधस्थाने शिरोमुण्डनादिकं कर्तव्यम् । 'ब्राह्मणस्य वधो मौण्ड्यं पुरान्निर्वासनाङ्कने । ललाटे चाभिशस्ताङ्कः प्रयाणं गर्दभेन तु ॥' इति मनुस्मरणात् । *मिता.

(३) राज्ञो जनपदादिपालकस्य यदनिष्टमप्रियं शत्रुप्रशंसादि तस्यातिशयेन वक्तारं, तथा राजविषयस्याक्रोशस्य शपथस्य कर्तारं, तदीयमन्त्रस्य च संधिविग्रहादिविषयस्य भेत्तारं प्रकाशयितारं छिन्नजिह्वं कृत्वा प्रवासयेत् । अप.

(४) आद्यचकारेण— 'अपवक्तुश्च राजानं धर्मे च स्वे व्यवस्थितम् । जिह्वाच्छेदाद्भवेत् शुद्धिः सर्वस्वहरणे न चेत् ॥' इति नारदोक्तसर्वस्वापहारसमुच्चयः । द्वितीयचकारेण— 'राज्ञः कोशापहर्तॄंश्च प्रतिकूले व्यवस्थितान् । घातयेद्विविधैर्दण्डैररीणां चोपजापकान् ॥' इति मनूक्तस्य (मस्मृ. ९।२७५) तत्तदपराधेषु समुच्चयः । वीमि.

असमवर्णेषु क्षेपे दण्डाः

**दण्डप्रणयनं कार्यं वर्णजात्युत्तराधरैः + ॥**

(१) वर्णानां मूर्धावसिक्तादीनां च परस्पराक्षेपे दण्डकल्पनामाह—दण्डप्रणयनमिति । वर्णा ब्राह्मणादयः। जातयो मूर्धावसिक्ताद्याः । वर्णाश्च जातयश्च वर्णजातयः। उत्तराश्च अधराश्च उत्तराधराः वर्णजातयश्च ते उत्तराधराश्च वर्णजात्युत्तराधराः तैः वर्णजात्युत्तराधरैः, परस्परमाक्षेपे क्रियमाणे दण्डस्य प्रणयनं प्रकर्षेण नयनमूहनं वेदितव्यम् । तच्च दण्डकल्पनमुत्तराधरैरिति विशेषेणोपादानादुत्तराधरभावापेक्षयैव कर्तव्यमित्यवगम्यते । यथा मूर्धावसिक्तं ब्राह्मणार्द्धीनं क्षत्रियादुत्कृष्टं चाक्रुश्य ब्राह्मणः क्षत्रियाक्षेपनिमित्तात् पञ्चाशत्पणदण्डात् किञ्चिदधिकं पञ्चसप्तत्यात्मकं दण्डमर्हति । क्षत्रियोऽपि तमाक्रुश्य

---

(१) यास्मृ. २।३०२; अपु. २५८।७८-९ कारिणं (कं तथा); विश्व. २।३०५ अपुवत्; मिता.; अप. २।३०१; व्यक. १०४ अपुवत्; विर. २५७ अपुवत्; विचि. १११ अपुवत्; व्यनि. ४८९ अपुवत्; दवि. २१३ अपुवत्, शकारिणम् (शिनं तथा) इति मिताक्षरायां इत्याह; व्यप्र. ३८४ अपुवत्; व्यउ. १२२ अपुवत् : १६४ च (तु); व्यम. १०९;विता. ८२७; राकौ. ४९५ अपुवत्; सेतु. २१३ विरवत्; समु. १६५.

* दवि. मितावत् ।

+ विश्व.व्याख्यानं 'अधोंऽधमेषु' इति पूर्वार्धे (पृ. १७८१) द्रष्टव्यम् ।

(१) यास्मृ. २।२०६; अपु. २५८।३; विश्व. २।२१० धरैः( धरम् ); मिता.; अप.; व्यक. १०२; विर. २४५; रत्न. १२०; दवि. २००; नृप्र. २७६; सवि. ४७७ (=) रैः (रे); वीमि.; व्यप्र. ३८१; व्यउ. १२०; विता. ७२६; समु. १६०.

ब्राह्मणाक्षेपनिमित्ताच्छतदण्डाद्धीनं पञ्चसप्ततिमेव दण्डमर्हति । मूर्धावसिक्तोऽपि तावाक्रुश्य तमेव दण्डमर्हति । मूर्धावसिक्ताम्बष्ठयोः परस्पराक्षेपे ब्राह्मणक्षत्रिययोः परस्पराक्रोशनिमित्तकौ यथाक्रमेण दण्डौ वेदितव्यौ । एवमन्यत्राप्यूहनीयम् । * मिता.

(२) इदानीं ब्राह्मणादिवर्णानां मूर्धावसिक्तादिजातीनामन्योन्यमाक्रोश्याक्रोशकभावे राज्ञा दण्डः कल्पनीय इत्याह — दण्डप्रणयनमिति । वर्णानां जातीनां च मध्यादुत्तरैश्चाधराणामधरैश्चेतरेषामाक्षेपे कृते स्वयमभ्यूह्य दण्डप्रणयनं राजा कुर्यात् । तत्र मूर्धावसिक्ता अम्बष्ठादयः । अनुलोमजा मातृभिस्तुल्यवर्णाः । ततश्च ते क्षत्रियादिवदेव दण्डभाजः । अप.

(३) तत्रोत्तराधरैरिति विशेषानुपादानाद्यादृगुत्तराधरभावस्तादृगपेक्षयैव कार्यम् । विर. २४६

**प्रातिलोम्यापवादेषु द्विगुणत्रिगुणा दमाः ।**
**वर्णानामानुलोम्येन तस्मादर्धार्धहानितः ॥**

(१) एतदेवोदाहरणेन स्पष्टयति — प्रतिलोमापवादेष्विति । वर्णान्त्याः शूद्राः । तेषां प्रतिलोमापवादे ब्राह्मणादिक्रमेणोक्तदण्डस्य चतुर्गुणादिकल्पनम् । एवं वैश्यक्षत्रियानुलोमान्तरप्रभवयोर्गुणाद्युत्कर्षेऽपि योज्यम् । आनुलोम्येन तु तस्मादेवार्धहानतः उक्तदण्डादर्धापचयेन । शूद्रापवादे अर्धदण्डो वैश्यस्य, पादः क्षत्रियस्य, अर्धपादो ब्राह्मणस्य । एवं गुणाद्यानुलोम्येऽपि योज्यम् । विश्व. २।२११

(२) एवं सवर्णविषये दण्डमभिधाय वर्णानामेव प्रतिलोमानुलोमाक्षेपे दण्डमाह--प्रातिलोम्यापवादेष्विति । अपवादा अधिक्षेपाः । प्रातिलोम्येनापवादाः प्रातिलोम्यापवादास्तेषु ब्राह्मणाक्रोशकारिणोः क्षत्रियवैश्ययोर्यथाक्रमेण पूर्ववाक्याद्द्विगुणपदोपात्तपञ्चाशत्पणापेक्षया द्विगुणाः शतपणाः, त्रिगुणाः सार्धशतपणाः दण्डा वेदितव्याः । शूद्रस्य ब्राह्मणाक्रोशे ताडनं जिह्वाच्छेदनं वा भवति । यथाह मनुः — 'शतं ब्राह्मणं आक्रुश्य क्षत्रियो दण्डमर्हति । वैश्योऽध्यर्धशतं द्वे वा शूद्रस्तु वधमर्हति ॥' इति ( मस्मृ. ८।२६७ ) । विट्शूद्रयोरपि क्षत्रियादनन्तरैकान्तरयोस्तुल्यन्यायतया शतमध्यर्धशतं च यथाक्रमेण क्षत्रियाक्रोशे वेदितव्यम् । शूद्रस्य च वैश्याक्रोशे शतम् । आनुलोम्येन तु वर्णानां क्षत्रियविट्शूद्राणां ब्राह्मणेनाक्रोशे कृते तस्माद् ब्राह्मणाक्रोशनिमित्ताच्छतपरिमितात् क्षत्रियदण्डात् प्रतिवर्णमर्धस्यार्धस्य हानिं कृत्वाऽवशिष्टं पञ्चाशत्पञ्चविंशतिसार्धद्वादशपणात्मकं यथाक्रमं ब्राह्मणो दण्डनीयः । तदुक्तं मनुना— 'पञ्चाशद्ब्राह्मणो दण्ड्यः क्षत्रियस्याभिशंसने । वैश्ये स्यादर्धपञ्चाशच्छूद्रे द्वादशको दमः ॥' इति ( मस्मृ. ८।२६८ ) । क्षत्रियेण वैश्ये शूद्रे वाक्रुष्टे यथाक्रमं पञ्चाशत्पञ्चविंशतिकौ दमौ । वैश्यस्य च शूद्राक्रोशे पञ्चाशदित्यूहनीयम् । 'ब्राह्मणराजन्यवत्क्षत्रियवैश्ययोः' इति गौतमस्मरणात् । 'विट्शूद्रयोरेवमेव स्वजातिं प्रति तत्त्वतः ।' इति ( मस्मृ. ८।२७७ ) मनुस्मरणाच्च । *मिता.

## नारदः

वाक्पारुष्यनिरुक्तिः, तत्प्रकाराश्च

**[१]देशजातिकुलादीनामाक्रोशन्यङ्गसंयुतम् ।**
**यद्वचः प्रतिकूलार्थं वाक्पारुष्यं तदुच्यते ॥**

* दवि., व्यप्र. मितावत् ।

(१) याम्स्मृ. २।२०७; अपु. २५८।४ दर्धा ( देवा ); विश्व. २।२११ ( प्रतिलोमापवादेषु चतुस्त्रिद्विगुणा दमाः । वर्णान्येष्वानुलोम्येन तस्मादेवार्धहानतः ); मिता.; अप. प्रा (प्र) म्या ( मा ); व्यक. १०२ अपवत्; विर. २४५ प्रा ( प्र ); पमा. ४१८; दवि. २०० म्येन ( म्ये तु ); नृप्र. २७६; सवि. ४७८ (=) वादे ( राधे ) णत्रि ( णास्त्रि ) हानितः ( भागिनः ); वीमि. द्विगुणत्रि ( चतुस्त्रिद्वि ); विता. ७२७; समु. १६० णत्रि ( णास्त्रि ).

* अप., विर., दवि., वीमि. मितावत् ।

(१) नासं. १६,१७।१ संयु ( संहि ); नास्मृ. १८।१; अपु. २५३।२७ शन्यङ्ग ( शाध्यङ्ग ); मिता. २।२०४ क्रोश ( क्रोशं ); अप. २।२०४ नामा……..तम् ( नां क्रोशनं न्यङ्गसंज्ञितम् ); व्यक. १०१ शन्य……तम् ( शं व्यङ्गसंज्ञितम् ); स्मृच. ६; विर. २४२ संयु ( संज्ञि ); पमा. ४२८; रत्न. ११९; दीक. ५१; विचि. १०८-९ न्यङ्ग ( न्यङ्कु ); व्यनि. ४८३ विरवत्; स्मृचि. २४ मितावत्; दवि. १९६ विरवत्, विचिवच्च; नृप्र. २७५ न्यङ्ग ( व्यङ्ग ) वा… …ते ( तद्वाक्पारुष्यमुच्यते ); सवि. ४७६ शन्यङ्ग ( शं व्यङ्गय );

(१) देशादीनामाक्रोशं न्यङ्गसंयुतम् । उच्चैर्भाषणमाक्रोशः, न्यङ्गमवद्यं तदुभययुक्तं यत्प्रतिकूलार्थमुद्वेगजननार्थं वाक्यं तद्वाक्पारुष्यं कथ्यते । तत्र कलहप्रियाः खलु गौडा इति देशाक्रोशः । नितान्तं लोलुपाः खलु विप्रा इति जात्याक्रोशः । क्रूरचरिता ननु वैश्वामित्रा इति कुलाक्षेपः । आदिग्रहणात्स्वविद्याशिल्पादिनिन्दया विद्वच्छिल्पादिपरुषाक्षेपो गृह्यते ।

*मिता. २।२०४

(२) क्रोशनं आक्रोशनमाक्षेपः । न्यङ्गमसभ्यवचनम् ।

+अप. २।२०४

(३) यद्वचनं देशाद्याक्षेपार्थबोधकं, यच्चात्यन्तदुःखकरार्थकं तद्वाक्पारुष्यम् ।  स्मृच. ६

(४) आक्रोश आक्षेपः । आदिशब्देन बुद्ध्यादेरुपादानम् । न्यङ्गसंज्ञितं निकृष्टाङ्गसंज्ञावत् ।

×विर. २४२

(५) आक्रोश उच्चैर्भाषणं, न्यङ्कु अवद्यं ताभ्यां संयुतं यत्प्रतिकूलार्थकं वचः तद्वाक्पारुष्यमिति सामान्यलक्षणम् । मिताक्षराऽप्येवम् । अन्यत्तु सकलमपि व्याख्यानमयुक्तम् । सामान्यलक्षणाक्षमत्वात् ।

विचि. १०९

(६) यत्तु आक्रोशन्यङ्कुसंयुतमिति पठित्वा उच्चैर्भाषणमाक्रोशः, न्यङ्कु अवद्यं तदुभयसंयुक्तं यत् प्रतिकूलार्थमुद्वेगजनकं वाक्यं तद्वाक्पारुष्यमिति सामान्यलक्षणपरमिति मिताक्षराकृता व्याख्यातम् । तच्चिन्त्यम् । यत्रोच्चैरवद्यभाषणं नास्ति तत्र हूङ्कारानुकारादावव्याप्तेः ।

दवि. १९६-७

(७) यो यस्मिन् देशे जातस्तद्देशसंबद्धं, जातिर्ब्राह्मणादिः तज्जातिसंबद्धं च, तत्कुलसंबद्धं च, विद्याशिल्पस्वजनादिसर्वसंबद्धं चाक्रोशनं न्यङ्गरूपम् । तेषां तत्राक्रोशः प्रसिद्ध एव । न्यङ्गं मर्मगोप्यम् । तदुभयसंयुक्तं देशादिविषयं प्रतिकूलाभिधेयं वचः (वाक्)पारुष्यमुच्यते ।  ÷नाभा. १६,१७।१ (पृ. १६५)

[१]निष्ठुराश्लीलतीव्रत्वात्तदपि त्रिविधं स्मृतम् ।
गौरवानुक्रमात्तस्य दण्डोऽपि स्यात् क्रमाद्गुरुः ॥

अपि तावत् साहसं त्रिविधमित्युक्तं, तथैव वाक्पारुष्यमपि त्रिविधं निष्ठुरत्वादश्लीलत्वात् तीव्रत्वाच्च । गौरवानुक्रमादस्य त्रिविधस्य गौरवं क्रमेण । निष्ठुरादश्लीलं गुरु, ततोऽपि तीव्रं, तेनैव क्रमेण दण्डोऽपि त्रिविध एव लघुर्लघौ गुरौ गुरुः ।

नाभा १६,१७।२ (पृ. १६५)

[२]साक्षेपं निष्ठुरं ज्ञेयमश्लीलं न्यङ्गसंयुतम् ।
पतनीयैरुपक्रोशैस्तीव्रमाहुर्मनीषिणः ॥

(१) तत्र धिङ्मूर्खं जाल्ममित्यादि साक्षेपम् । अत्र

---

* सवि., व्यप्र., व्यउ., विता. मितावत् ।

\+ शेषं मितावत् । × उदाहरणानि मितावत् ।

वीमि. २।२०४ कोश (क्षेपं); व्यप्र. ३७९; व्यउ. ११८; विता. ७२१ मितावत्; राकौ. ४८८; सेतु. २०२ विचिवत्; समु. १५९ कोश (क्षेप); विव्य. ४९ विचिवत् .

÷ मितावद्भावः ।

(१) **नासं.** १६,१७।२ त्तस्य (दस्य) स्यात् क्रमाद्गुरुः (त्रिविधः स्मृतः); **नास्मृ.** १८।२ पि स्यात् (प्यत्र); **मिता.** २।२०४ (क) त्तदपि त्रि (दपि तत्त्रि); **अप.** २।२०४ पू., कात्यायनः; **व्यक.** १०१ पि स्यात् (प्युक्तः); **स्मृच.** ६ पू.; **विर.** २४२-३ व्यकवत्; **पमा.** ४२९ नास्मृवत्; **रत्न.** ११९; **विचि.** १०९ त्तस्य (त्तेषां) पि स्यात् (प्युक्त); **व्यनि.** ४८४ त्तस्य (दस्य) शेषं नास्मृवत्, कात्यायनः; **स्मृचि.** २४ त्तस्य (त्तेषां) शेषं मितावत्; **दवि.** १९६ त्तस्य (त्तेषां) शेषं व्यकवत्; **नृप्र.** २७५; **व्यप्र.** ३७९; **व्यउ.** ११९ (=); **विता.** ७२२; **सेतु.** २०३ दविवत्; **समु.** १५९ व्यकवत्.

(२) **नासं.** १६,१७।३; **नास्मृ.** १८।३ पत (पात); **मिता.** २।२०४ रुप (रुपा); **अप.** २।२०४ साक्षेपं (आक्षेपो) संयु (संज्ञि) रुप (रुपा) कात्यायनः; **व्यक.** १०१ न्यङ्गसंयु (व्यङ्गसंज्ञि) रुप (रुपा); **स्मृच.** ६; **विर.** २४३ संयु (संज्ञि) पत (तप); **पमा.** ४२९ पत (पात); **रत्न.** ११९ मितावत्; **विचि.** १०९ न्यङ्ग (न्यङ्कु) शेषं विरवत्; **व्यनि.** ४८४ संयु (संज्ञि); **स्मृचि.** २४ विचिवत्; **दवि.** १९६ न्यङ्गसंयु (न्यङ्कुसंज्ञि) क्रोशै (न्यासै); **नृप्र.** २७५ न्यङ्ग (व्यङ्ग) पक्रोशैः (पाक्रोशं); **व्यप्र.** ३७९ मितावत्; **व्यउ.** ११९ विरवत्; **विता.** ७२२ मितावत्; **राकौ.** ४८८ व्यनिवत्; **सेतु.** २०३ पूर्वार्धं व्यनिवत्, पत (ताप); **समु.** १५९; **विव्य.** ५० विचिवत्.

न्यङ्गमित्यसभ्यम् । अवद्यं भगिन्यादिगमनं तद्युक्तमश्लीलम् । सुरापोऽसीत्यादिमहापातकाद्याक्रोशैर्युक्तं वचस्तीव्रम् । * मिता. २।२०४

(२) धिङ्मूर्खान्त्यजेत्यादि साक्षेपं, न्यङ्कुरिहासत्यमवद्यं तेन भगिन्यादिगमनयुक्तमश्लीलं, सुरापोऽसीत्यादिमहापातकाक्रोशयुक्तं वचस्तीव्रमिति मिताक्षराकारः।

अत्राक्रोशन्यङ्कुसहितप्रतिकूलार्थानां त्रयाणामेषां विवरणमिति व्यवहारतरङ्गे गणेश्वरमिश्राः ।

युक्तं चैतत् — तथाहि अन्वर्थसंज्ञावगमितं वाक्करणकमनोविरूक्षणलक्षणं सामान्यलक्षणं देशाद्याक्रोशो न्यङ्कुसंज्ञितं निष्ठुरार्थमिति विभागः। तेषां लाघवगौरवातिगौरवानुसारिण्यो लघुगुरुगुरुतरदण्डसंवादिन्यो निष्ठुरादयः संज्ञाः, तासां विवरणं साक्षेपमित्यादि ।

दवि. १९६

(३) साधिक्षेपं मातैवंरूपा तव पिता च त्वमपि न किञ्चित् जानासि इत्यादि निष्ठुरम् । न्यङ्गसंयुतं अश्लीलम् । पतनीयैः चोरस्त्वं गुरुतल्पग इत्यादिभिरपवादैर्युतं वचस्तीव्रमुच्यते । उत्तरोत्तरो गुरुः ।

नाभा. १६,१७।३ (पृ. १६५)

**उद्दिश्यात्मानमन्यं वा क्षिपेद्यस्तु निरूप्य च ।**
**आक्रोष्टैव स मन्तव्यो यदि संस्पर्शनं तयोः ॥**

आक्षिपेन्निन्दयेत्, निरूप्य अभिसंधाय । यदि संस्पर्शनं तयोः, यदि आक्षेप्तुराक्षेप्यद्वेषः, एतच्चाभिसंधानज्ञापनार्थम् । विर. २४४

पातकाभिशंसने दण्डः

**पतितं पतितेत्युक्त्वा चौरं चौरेति वा पुनः ।**
**वचनात्तुल्यदोषः स्यान्मिथ्या द्विर्दोषतां व्रजेत् ॥**

(१) सत्यवादित्वेऽपि वाक्पारुष्यदण्डो नापैतीत्याह वचोभङ्ग्या नारदः— पतितमिति । वचनात्तथ्यवचनात् । * स्मृच. ३२७

(२) वचनाच्छास्त्ररूपात् । विर. २५८

(३) 'द्विर्दोषतां व्रजेदि'त्यन्यः । कृतप्रायश्चित्तं राज्ञा च दण्डितमपवदन् दण्ड्य इत्युक्तम् । कारणं चात्रोक्तम् । ब्राह्मणो राजा चाप्रतिहतौ ताभ्यां पूर्वं भृतत्वादिति । दण्डस्त्वविशेषित इति स विशेष्यते । द्वाभ्यामुक्ताभ्यां शुद्धं पूर्वं पतितं पतितेत्युक्त्वा प्रत्यक्षमामन्त्र्य, चोरं च तथा सुशुद्धं चोरेत्यामन्त्र्य अस्मादेव वचनात् पतितचोरतुल्यदोषः स्यात् । अस्मिन् व्याख्याने 'मिथ्या द्विर्दोषतामि' ति दुर्गमं एवं नेतव्यं स्यात् । अकारणमेवैवं दण्डितस्त्वं, एवञ्च तस्य प्रायश्चित्तं चरितमिति मिथ्यावचने द्विर्दोषत्वम् । अथवा न सम्यगुभयं कृतं, तस्माच्चोरः पतित इत्येवमुक्त्वा तुल्यदोषः स्यादसम्यक्करणे । सम्यक्करणे तु मिथ्यावचनाद् द्विर्दोषत्वमिति । आ ( सु ? )युक्तैर्वा दृष्टे व्यवहारे दण्डिते चोरेति ब्रुवंस्तुल्यदोषः, तेषां राज्ञा प्रमाणीकृतत्वात् । पुना राज्ञा दृष्टे सम्यगेव स्यात् द्विर्दोषतामिति । तथा वसिष्ठेनाप्युक्तं — 'भ्रूणहा प्रायश्चित्तं चरन् भ्रूणहणे भिक्षां देहीति ब्रूयाद् निरुक्ते ह्येनः कनीयो भवति' इत्युक्त्वेदमाह— 'पतितं पतिते'ति । एतद्विषयमेतदिति । स न वक्तव्यः इत्यस्य दृष्टान्तत्वेन चार्थवादः । भृगुसंहितायामपि 'काणं वाऽप्यथवा खञ्जमन्यं वाऽपी'त्यनन्तरं वाक्पारुष्यप्रकरणे यत् पठितं, केषाञ्चिन्नास्त्येव । तत्रापि संरब्धयोराक्रोशे सम्यङ्मिथ्यावचनयोर्दोष इत्याद्येतावत् । कृतपावनं दण्डितं च न किल्बिषेणापवदेत् इति सर्वविषयवचनाच्चोरपतितयोरेव विशेषेण वदतः संबोधनं च न सम्यक् विलक्ष्यते । प्रदर्शनार्थं वा कल्पनीयः । सर्वेष्वेव व्याख्यानेषु युक्तं विचार्यम् । यश्चौर्यादि न करोति, कथं तं चोरेति वचनात् तुल्यदोषता, मिथ्या वा द्विर्दोषता । अनेन न वक्तव्यमित्येतावतोऽर्थवादो मिथ्या द्विरिति वचने दण्ड्य इति, तत् पूर्वश्लोकेनैवोक्तत्वादनर्थकम् । द्विरिति च क्रियाभ्यावृत्तिवचनो दुर्गमः । असमासे दोषतामित्यसंबद्धं, कथं पुरुषो दोषतां व्रजेत् । अथ समासः, सुजर्थो नास्ति

* स्मृच., व्यप्र., व्यउ., विता. मितावत् ।

(१) विर. २४४.

(२) नासं. १६,१७।२० तां व्रजेत् ( भाग् भवेत् ); नास्मृ. १८।२१; व्यक. १०४; स्मृच. ३२७; विर. २५७-८; रत्न. १२१; व्यनि. ४८९ तां व्रजेत् ( वान् भवेत् ); सवि. ४७९ चतुर्थपादं विना, बृहस्पतिः; व्यप्र. ३८४; व्यउ. १२२; व्यम. ९९; सेतु. २१३; समु. १६०.

* व्यप्र. स्मृचवत् ।

उत्तरपदस्याक्रियावचनात्। तस्माच्चिन्त्यम्। अथवा अयमर्थः— वाक्पारुष्ये पठितत्वात् पतितं पतितबुद्ध्यैव न अदुष्टकर्मा क्रीडार्थक्रियया वा पतितेति समक्षमामन्त्र्य। 'पूर्वत्रासिद्धम्' (व्यासू. ८।२।१) इति चासिद्धत्वादसंहिता (?)। ततश्च पतित इत्युक्त्वा रोषेण चोरमपि तथैव। सकृद्वचनात् द्विरित्युक्तम्। अत्र वचनात् तुल्यदोषः स्यात्। तुल्यशब्दः साधारणदोषः स्याद्वा। दोषसंबन्धे वचनमात्रानुरूपो दण्डः। मिथ्या ब्रुवन् सकृदज्ञानाद् वदन्ननुरूपदण्ड इति द्विर्वचनादपेक्ष्यते। तथा च सुजर्थः संपन्नो भवति। सकृत् प्रमादाद् ब्रूयात्। दितीयं न प्रमादेन ब्रवीति, बुद्धिपूर्वं परोपघातार्थमेव। अतः परोपघातसामान्याद् दोषभाग् भवति। पूर्वमंशस्योक्तत्वादिति समस्तचोरदोषभाग् भवेत्। बुद्धिपूर्वमुभयोः परोपघातस्य तुल्यत्वात्। नाभा. १६,१७।२० (पृ. १६९-७०)

**दुष्टस्यैव तु यो दोषान् कीर्तयेत् क्रोधकारणात्।**
**अन्यापदेशवादी च वाग्दुष्टं तं नरं विदुः॥**

(१) क्रोधकारणादिति वदन् दुष्टपरिहरणकारणाद्दोषकीर्तनं न दोषकारीति दर्शयति। *स्मृच. ३२७

(२) अदुष्टस्यैवेत्येवकारोऽप्यर्थः। अन्यापदेशवादी योऽन्यमपदिश्यान्यदोषान् वदति। वाग्दुष्टं वाक्पारुष्यकर्तारम्। ×विर. २४५

**न किल्बिषेणापवदेत् शास्त्रतः कृतपावनम्।**
**न राज्ञा धृतदण्डं च दण्डभाक्तद्व्यतिक्रमात्॥**

(१) कृतपावनं कृतकिल्बिषनाशनं, अपवदेत् आक्रोशेत्, उद्धृतदण्डं कृतदण्डम्। अत्र हेतुर्दण्डभाक् तद्व्यतिक्रमादाक्रोशकर्ता यतः। विर. २५५

(२) कृतशास्त्रोक्तप्रायश्चित्तं राज्ञा च दण्डितं, व्यस्तसमस्तग्रहणं, न दोषेण दूषयेत्। दूषयन्तं दण्डयेत्। नाभा. १६,१७।१८ (पृ. १६८)

[१]**लोकेऽस्मिन् द्वाववक्तव्यावववध्यौ च प्रकीर्तितौ।**
**ब्राह्मणश्चैव राजा च तौ हीदं बिभृतो जगत्॥**

अत्र हेतुरुच्यते— लोकेऽस्मिन्निति। यतो लोकेऽस्मिन् द्वाववक्तव्यौ यथाब्रूतां तथा कर्तव्यम्। यच्च ताभ्यां कृतं तन्न विचार्यं प्रमाणीकर्तव्यम्। अदण्ड्यौ च अन्यथाकृतेऽपि। तत् प्रमाणमेव ब्राह्मणश्च राजा च। यतस्तौ जगद् बिभृतः। ब्राह्मणः प्रतिग्रहादिकेतरान् धर्मं स्थापयति। 'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥' इत्यादिना। राजा च पालनदानादिना। तस्मान्नापवदेत् ताभ्यां शोधितमिति। नाभा. १६,१७।१९ (पृ. १६८-९)

सवर्णक्षेपादौ दण्डाः

[२]**समवर्णे द्विजातीनां द्वादशैव व्यतिक्रमे।**
**वादेष्ववचनीयेषु तदेव द्विगुणं भवेत्॥**

ब्राह्मणस्य ब्राह्मणे क्षत्रियस्य क्षत्रिये वैश्यस्य वैश्येऽतिक्रम आक्रोशे प्रकृतत्वाद् द्वादशैव सर्वथा वचने पणः। अवचनीयेषु चतुर्विंशतिः।

नाभा. १६,१७।१६ (पृ. १६८)

[३]**ब्राह्मणोऽपि स्वजातीयमृणादिव्यपदेशतः।**
**वाक्पारुष्यं प्रकुर्वाणः स भवेदुपपातकी॥**

[४]**काणं वाऽप्यथवा खञ्जमन्यं वाऽपि तथाविधम्।**
**तथ्येनापि ब्रुवन् दाप्यो दण्डं कार्षापणावरम्॥**

---

* व्यप्र. स्मृचवत्। × दवि. विरवत्।

(१) **व्यक.** १०२ तु यो (हि यान्) कात्यायनः; **स्मृच.** ३२७; **विर.** २४५ दुष्टस्यैव तु (अदुष्टस्यैव) क्रोध (दोष) क्रमेण कात्यायनः; **रत्न.** १२१; **व्यनि.** ४८५ दुष्टस्यैव तु (अदुष्टस्यैव) क्रोध (कोप) कात्यायनः; **दवि.** १९९ क्रोध (दोष) क्रमेण कात्यायनः; **व्यप्र.** ३८०; **व्यउ.** ११८; **समु.** १६०.

(२) **नासं.** १६,१७।१८ भाक्त...मात् (येत् तद्व्यतिक्रमे); **नास्मृ.** १८।१९; **अप.** २।२०७ शा (शो) च (तु); **व्यक.** १०३ शा धृ (शोद्धृ); **विर.** २५५ (=) व्यकवत्; **दवि.** २०९ व्यकवत्.

(१) **नासं.** १६,१७।१९ वध्यौ (दण्ड्यौ); **नास्मृ.** १८।२० बिभृ (बिभ्र); **व्यक.** १०४; **विर.** २५७; **व्यनि.** ४८९ बिभृ (बिभ्र) शेषं नासंवत्; **दवि.** २१३; **सेतु.** २१३; **समु.** १६१ व्यनिवत्.

(२) **नासं.** १६,१७।१६ र्णे (र्ण) जाती (जादी); **नास्मृ.** १८।१७ र्णे द्वि (र्णेर्द्वि); **व्यक.** १०२ मनुनारदौ; **विर.** २४९ मनुनारदौ; **दवि.** २०४ मनुनारदौ; **व्यप्र.** ३८० मनुनारदौ.

(३) **व्यनि.** ४८९.

(४) **नासं.** १६,१७।१७ ऽप्यथ (यदि) णावरम्

(१) कार्षापणावरं कार्षापणद्वयं कार्षापणोऽवरः कनिष्ठो यस्येति व्युत्पत्त्या । विर. २४८

(२) काणखञ्जकुणिबधिरादींस्तथ्येनापि 'काणे'त्यादि ब्रुवन् दण्डं दाप्यः कार्षापणादधिकम् ।

नाभा. १६,१७।१७ (पृ. १६८)

असवर्णक्षेपाभिशंसनादौ दण्डाः

[१]शतं ब्राह्मणमाक्रुश्य क्षत्रियो दण्डमर्हति ।
वैश्योऽध्यर्धं शतं द्वे वा शूद्रस्तु वधमर्हति ॥

ब्राह्मणमाक्रुश्य वाक्पारुष्येण क्षत्रियादयो यथोक्तं दण्ड्याः । नाभा. १६,१७।१४(पृ.१६७)

[२]पञ्चाशद्ब्राह्मणो दण्ड्यः क्षत्रियस्याभिशंसने ।
वैश्ये स्यादर्धपञ्चाशच्छूद्रे द्वादशको दमः ॥

ब्राह्मणोऽपीतरानाक्रुश्य यथोक्तं पञ्चाशत् पञ्चविंशतिः द्वादश च दण्ड्यः । नाभा. १६,१७।१५(पृ.१६८)

शूद्रकृते ब्राह्मणराजन्याद्याक्षेपादौ दण्डाः

[३]एकजातिर्द्विजातींस्तु वाचा दारुणया क्षिपन् ।
जिह्वायाः प्राप्नुयाच्छेदं जघन्यप्रभवो हि सः ॥
[४]नामजातिग्रहं तेषामभिद्रोहेण कुर्वतः ।
निखेयोऽयोमयः शङ्कुर्ज्वलन्नास्ये दशाङ्गुलः ॥

शूद्रस्येति वचनात् तेषामिति बहुवचनाद् द्विजातीनां रोषेण नाम गृहीत्वा आक्रोशतः, नामग्रहणं सौतिलक दत्तिलकेति, जातिग्रहणं वा ब्राह्मणस्त्वमित्यादि कुर्वतो लोहमयः शङ्कुरष्टादशाङ्गुलो मुखे निखेयः ।

नाभा. १६,१७।२१(पृ. १७०)

[१]धर्मोपदेशं दर्पेण द्विजानामस्य कुर्वतः ।
तप्तमासेचयेत्तैलं वक्त्रे श्रोत्रे च पार्थिवः ॥

शूद्रस्य दर्पाद् धर्मोपदेशं वेदवेदाङ्गस्मृतिशास्त्रार्थोपदेशं कुर्वतः प्रतिषिद्धकरणत्वात् तप्तं तैलं मुखे श्रोत्रे च दापयेद् राजा । दण्डाभिप्रायेण वचनादग्निवर्णमिति गम्यते, नोष्णमात्रम् । नाभा. १६,१७।२२(पृ.१७०)

राज्ञः क्षेपे दण्डः

[२]अवक्रुश्य च राजानं वर्त्मनि स्वे व्यवस्थितम् ।
जिह्वाच्छेदाद्भवेच्छुद्धिः सर्वस्वहरणेन वा ॥

## बृहस्पतिः

पारुष्यभेदाः । वाक्पारुष्यप्रकाराः ।

[३]अप्रियोक्तिस्ताडनं च पारुष्यं द्विविधं स्मृतम् ।
एकैकं तु त्रिधा भिन्नं दमश्चोक्तस्त्रिलक्षणः ॥

---

(णातपरम् ); **नास्मृ.** १८।१८ णं वाऽ ( णम ) दाप्यो दण्डं ( दण्ड्यो राज्ञा ); **व्यक.** १०२ मनुनारदौ; **विर.** २४७–८ ब्रुवन् ( वदन् ) मनुनारदविष्णवः; **व्यप्र.** ३८४ मनुनारदौ; **व्यउ.** १२२ मनुनारदौ.

(१) **नासं.** १६,१७।१४; **नास्मृ.** १८।१५; **व्यक.** १०३ ध्यर्धं ( ध्यर्ध ) मनुनारदौ; **व्यनि.** ४८६ द्वे वा ( चैव ) मनुनारदौ.

(२) **नासं.** १६, १७।१५ पञ्चा...णो ( विप्रः पञ्चाशतं ) श्ये स्याद ( श्यं चैवा ) द्रे ( द्रं ); **नास्मृ.** १८।१६; **व्यनि.** ४८७ पञ्चा...दण्ड्यः ( विप्राः पञ्चशतं दण्ड्याः ) मनुनारदौ.

(३) **नास्मृ.** १८।२२; **व्यक.** १०३ तींस्तु ( तिं तु ) मनुनारदौ; **विर.** २५३ मनुनारदौ; **पमा.** ४३४ मनुनारदौ; **व्यनि.** ४८७ मनुनारदौ; **दवि.** २०६ तींस्तु ( तिं तु ) च्छेदं ( छ्रेदं ) मनुनारदौ; **सेतु.** २१२ तींस्तु ( तिं तु ) प्राप्नुयाच्छेदं ( छेदमाप्नोति ) मनुनारदौ.

(४) **नासं.** १६,१७।२१ शङ्कुर्ज्वलन्नास्ये ( शङ्कुः शूद्रस्याष्टौ); **नास्मृ.** १८।२३ तेषां ( त्वेषा ); **व्यक.** १०३ नास्मृवत्, मनुनारदौ; **विर.** २५३ मनुनारदौ; **पमा.** ४३४ तेपा (चैषा) मनुनारदौ; **व्यनि.** ४८७ नास्मृवत्, मनुनारदौ; **दवि.** २०६ नास्मृवत्, मनुनारदौ; **सेतु.** २१२ मभि ( मति ) खेयो ( क्षेप्यो ) मनुनारदौ.

(१) **नासं.** १६,१७।२२; **नास्मृ.** १८।२४; **व्यक.** १०३ मनुनारदौ; **विर.** २५४ मनुनारदौ; **पमा.** ४३४ दर्पे ( धर्मे ) द्विजाना ( विप्राणा ) सेच ( सिञ्च ) बृहस्पतिः; **व्यनि.** ४८८ बृहस्पतिः; **दवि.** ३२१ मनुनारदौ; **सेतु.** २९७.

(२) **नासं.** १६,१७।२७ अव ( उप ); **नास्मृ.** १८।३० अव (उप) च ( तु ) वर्त्मनि (कर्मणि) द्धिः (द्धः); **व्यक.** १०४; **विर.** २५७ वर्त्मनि ( कर्मणि ) हरणे ( ग्रहणे ); **विचि.** १११ पूर्वार्धे ( आक्रुश्य चैव राजानं धर्मे स्वे हि व्यवस्थितम् ) वा ( च ); **व्यनि.** ४८८ अव ( उप ); **दवि.** २१३ द्धिः ( द्धः ) हरणे ( ग्रहणे ); **वीमि.** २।३०२ अवक्रुश्य च ( अपवक्तुश्च ) वर्त्मनि ( धर्मे स्वे ) च्छुद्धिः ( द्बुद्धिः ) णेन वा ( णे न चेत् ); **व्यप्र.** ३८४; **व्यउ.** १२२; **सेतु.** २१३ क्रुश्य ( क्रम्य ) वर्त्मनि स्वे ( धर्मार्थे च ); **समु.** १६१ अव (अप) द्धिः (द्धः).

(३) **अप.** २।२०४; **व्यक.** १०१; **विर.** २४३

[1]देशग्रामकुलादीनां क्षेपः पापेन योजनम् ।
द्रव्यं विना तु प्रथमं वाक्पारुष्यं तदुच्यते ॥
[2]भगिनीमातृसंबन्धमुपपातकशंसनम् ।
पारुष्यं मध्यमं प्रोक्तं वाचिकं शास्त्रवेदिभिः ॥
[3]अभक्ष्यापेयकथनं महापातकदूषणम् ।
पारुष्यमुत्तमं प्रोक्तं तीव्रं मर्माभिघट्टनम् ॥

(१) द्रव्यं विनेत्यत्र द्रव्यशब्दोऽभिधेयपरः । तेनोच्यमानार्थव्यतिरेकेणैवंविधमभिधानं वाक्पारुष्यमित्यर्थः। अप. २।२०४

(२) द्रव्यं विना द्रव्यवैशिष्ट्यं विनेत्यर्थः । स्मृच. ६

(३) द्रव्यं विनेति द्रव्यशब्दोऽयमभिधेयपरः । तेनैवमभिधेयमभिधानं विनापि वाक्पारुष्यमित्यर्थः । भागिनीमातृसंबन्धमुपपातकशंसनं तव भगिनी तव माता मया ग्राह्येत्यभिकीर्तनमित्यर्थः । विर. २४४

(४) द्रव्यं विना पदार्थं विना तेनासत्यम् । इदं तु सर्वान्वयि । तेनासत्यं पापाभिधानं प्रथमम् । असत्यमुपपातकाभिधानं द्वितीयम् । असत्यमहापातकाभिशंसनमुत्तमं वाक्पारुष्यमित्यर्थः । विचि. १०९-१०

(५) वस्तुतस्तु मातृपदं मातृसपत्नीपरं तेन भगिनीं मातृसपत्नीं वा गतौ यतामीति कीर्तनमित्यर्थः । यथाव्याख्यानात्तस्योपपातकाभावात् । दवि. १९८

(६) अभिघट्टनं उत्पाटनम् । व्यप्र. ३८०

समासमजातिगुणकृतवाक्पारुष्येषु दण्डाः

[1]समजातिगुणानां तु वाक्पारुष्ये परस्परम् ।
विनयोऽभिहितः शास्त्रे पणा अर्धत्रयोदशाः ॥

अर्धत्रयोदशो येषां ते अर्धत्रयोदशाः सार्धद्वादशेत्यर्थः । *रत्न. १२०

[2]समानयोः समो दण्डो न्यूनस्य द्विगुणस्तु सः ।
उत्तमस्याधिकः प्रोक्तो वाक्पारुष्ये परस्परम् ॥

(१) अयुगपत्संप्रवृत्तयोः समानयोरपि विषमो

---

तु त्रिधा (च द्विधा); **विचि.** १०९ दम ( दण्ड ); **सेतु.** २०३ विचिवत्; **विव्य.** ५०.

(१) **अप.** २।२०४ ग्राम ( धर्म ); **व्यक.** १०१ पेन ( पे नि ); **स्मृच.** ६; **विर.** २४३-४ पेन ( पनि ); **पमा.** ४२९ द्रव्यं ( इष्टं ); **रत्न.** ११९ क्षेपः ( क्षेपं ); **विचि.** १०९ ग्राम ( काल ) शेषं व्यकवत्; **व्यनि.** ४८५ ग्राम ( जाति ); **वीमि.** २।२११ विचिवत्; **व्यप्र.** ३८०; **व्यउ.** ११९; **व्यम.** ९८ व्यकवत्; **विता.** ७२२ रत्नवत्; **सेतु.** २०३ ग्राम ( काल ) पेन ( पनि ); **समु.** १५९.

(२) **अप.** २।२०४ मातृ ( भ्रातृ ) बन्ध ( बद्ध ); **व्यक.** १०२; **स्मृच.** ६ न्धमु ( न्ध उ ); **विर.** २४४; **पमा.** ४३०; **रत्न.** ११९; **विचि.** १०९ स्मृचवत्; **व्यनि.** ४८५; **दवि.** १९८; **वीमि.** २।२११; **व्यप्र.** ३८०; **व्यउ.** ११९; **व्यम.** ९८ स्मृचवत्; **विता.** ७२२ संबन्धमु ( संयोग उ ) वाचिकं ( चाधिकं ); **सेतु.** २०३-४; **समु.** १५९.

(३) **अप.** २।२०४ त्रं......नम् ( त्रमर्मातिपातनम् ); **व्यक.** १०२; **स्मृच.** ६; **विर.** २४४ कथ ( प्रथ ); **पमा.** ४३०; **रत्न.** १२०; **विचि.** १०९; **व्यनि.** ४८५ दूषणम् ( शंसनम् ) तीव्रं ........नम् ( तीव्रमाहुर्मनीषिणः ); **दवि.** १९८; **वीमि.** २।२११; **व्यप्र.** ३८०; **व्यउ.** ११९; **व्यम.** ९८ त्रं ( त्र ); **विता.** ७२२ भिघ ( दिघ ); **सेतु.** २०४; **समु.** १५९.

* स्मृच., सवि., व्यप्र. रत्नवत् । स्मृच. व्याख्यानं अशुद्धिसंदेहान्नोद्धृतम् ।

(१) **अप.** २।२०४ णा अ ( णस्त्व ) दशाः ( दशः ); **स्मृच.** ३२६ दशाः ( दश ); **विर.** २४७ तु ( च ) णा अ ( णान ) दशाः ( दश ); **पमा.** ४३० णा अ ( णान ) दशाः ( दश ); **रत्न.** १२०; **विचि.** ११० णा अ (णास्त्व) दशाः ( दश ); **दवि.** २१० तु ( च ) दशाः ( दश ); **सवि.** ४७६ ऽ भि ( वि ); **वीमि.** २।२११ हितः ( मतः ) दशाः ( दश ); **व्यप्र.** ३८० सविवत्; **व्यउ.** ११९ सविवत्; **विता.** ७२३ (=); **सेतु.** २१० दविवत्; **समु.** १६०.

(२) **अप.** २।२०६; **व्यक.** १०२; **स्मृच.** ३२६ धिकः ( धिकः ); **विर.** २४५; **रत्न.** १२० स्मृचवत्; **विचि.** ११० स्तु ( श्च ); **व्यनि.** ४८६ णस्तु सः ( णः स्मृतः ) प्रोक्तो ( दण्डो ); **दवि.** २०० धिकः ( धिको ) शेषं व्यनिवत्; **सवि.** ४७७ न्यून......सः ( न्यूने स्याद्‌द्विगुणः स्मृतः ) धिकः प्रोक्तो ( धिकं प्रोक्तं ); **वीमि.** २।२११ स्याधिकः प्रोक्तो ( स्यधिकल्पोक्तो ) ष्ये ( ष्यं ); **व्यप्र.** ३८१ णस्तु सः ( णो दमः ); **व्यउ.** १२० धिकः ( धिकः ) शेषं व्यप्रवत्; **विता.** ७२६ स्मृचवत्; **सेतु.** २०९ विचिवत्; **समु.** १६० स्मृचवत्; **विव्य.** ५० णस्तु सः ( णः स्मृतः ) नारदः.

दण्डः। तथा च नारदः— 'पूर्वमाक्षारयेद्यस्तु नियतं स्यात्स दोषभाक्। पश्चाद्यः सोऽप्यसत्कारी पूर्वे तु विनयो गुरुः ॥' स्मृच. ३२६-७

(२) परस्परं वाक्पारुष्ये वृत्ते आक्षेपकस्य दण्डे यद्यसावाक्षेप्येण समो जात्यादिभिस्तदा समो दण्डोऽथ न्यूनः तदा तस्योक्ताद्द्विगुणः। अथोत्कृष्टस्तदा तस्योक्तादर्धो दण्ड इत्यर्थः। विर. २४५

[१] क्षिपन् स्वस्त्रादिकं दद्यात् पञ्चाशत्पणिकं दमम् ॥
[२] देशादिकं क्षिपन् दण्ड्यः पणानर्धत्रयोदश।
पापेन योजयन् दर्पाद् दण्ड्यः प्रथमसाहसम् ॥

असमवर्णकृतवाक्पारुष्ये दण्डाः

[३] विप्रे शतार्धं दण्डस्तु क्षत्रियस्याभिशंसने।
विशस्तथाऽर्धपञ्चाशत् शूद्रस्यार्धत्रयोदश ॥

विप्रे आक्षेप्तरीति शेषः। अभिशंसनमाक्रोशः। दवि. २०५

[४] सच्छूद्रस्यायमुदितो विनयोऽनपराधिनः।
गुणहीनस्य पारुष्ये ब्राह्मणो नापराध्नुयात् ॥
[५] वैश्यस्तु क्षत्रियाक्रोशे दण्डनीयः शतं भवेत्।
तदर्धं क्षत्रियो वैश्यं क्षिपन् विनयमर्हति ॥

(१) अप. २।२०५; **व्यक. १०३; विर. २५०; पमा. ४३१; व्यनि. ४८६; दवि. २१२; व्यप्र. ३८१** स्वस्त्रा (विप्रा): ३८३ स्वस्त्रा (श्वश्रा); **व्यउ. १२०** स्वस्त्रा (विप्रा): १२१ स्वस्त्रा (श्वश्रा); **सेतु. २१४; समु. १६०** त्पणि (त्पण).

(२) **अप. २।२११** दण्ड्यः (दाप्यः) दश (दशान्); **विर. २५७; दवि. २०९** दश (दशान्); **व्यप्र. ३८४** दण्ड्यः (दाप्यः); **व्यउ. १२२.**

(३) **व्यक. १०३; विर. २५१** विशस्तथाऽर्धं (वैश्यस्य त्वर्धं); **रत्न. १२०; दवि. २०५** विशस्तथाऽर्धं (वैश्यस्य चार्धं); **व्यप्र. ३८२** थाऽर्धं (थाऽर्धं); **व्यउ. १२०** व्यप्रवत्; **व्यम. ९९; सेतु. २११** प्रे (प्रः) ण्डस्तु (ण्ड्यस्तु) शेषं दविवत्; **समु. १६०.**

(४) **व्यक. १०३; स्मृच. ३२७** उत्त.; **विर. २५१; पमा. ४३४** मुदितो (मुद्दिष्टो); **रत्न. १२०; व्यनि. ४८७** पमावत्; **दवि. २०५; सवि. ४७९** उत्त.; **व्यप्र. ३८२; व्यउ. १२०; समु. १६०** पमावत्.

(५) **व्यक. १०३; विर. २५२** क्रोशे (क्षेपे); **पमा.**

शूद्राक्रोशे क्षत्रियस्य पञ्चविंशतिको दमः।
वैश्यस्य चैतद्द्विगुणः शास्त्रविद्भिरुदाहृतः ॥

शूद्रकृतद्विजक्षेपधर्मोपदेशादौ दण्डाः

[२] वैश्यमाक्षारयन् शूद्रो दाप्यः स्यात्प्रथमं दमम्।
क्षत्रियं मध्यमं चैव विप्रमुत्तमसाहसम् ॥

(१) प्रथमं दमं पणानां द्वे शते सार्धे, मध्यमं पञ्चशतानि, उत्तमं सहस्रम्। विर. २५२

(२) जिह्वाच्छेदनरूपोऽत्रोत्तमसाहसो द्रष्टव्यः। व्यप्र. ३८२

[३] धर्मोपदेशकर्ता च वेदोदाहरणान्वितः।
आक्रोशकस्तु विप्राणां जिह्वाच्छेदेन दण्ड्यते ॥

शूद्र इत्यनुवृत्तौ बृहस्पतिः— धर्मोपदेशेति। विर. २५२

वाक्पारुष्यप्रकरणोपसंहारः

[४] एष दण्डः समाख्यातः पुरुषापेक्षया मया।
समन्यूनाधिकत्वेन कल्पनीयो मनीषिभिः ॥

४३२ स्तु (स्य) शतं (प्रदो); **रत्न. १२०; व्यनि. ४८७; दवि. २०५** विरवत्, पू.; **व्यप्र. ३८२; व्यउ. १२०; सेतु. २११-२** विरवत्; **समु. १६०.**

(१) **व्यक. १०३** गुणः (गुणं) हृतः (हृतम्); **विर. २५२** क्रोशे (क्षेपे) पञ्च (पण) चै......णः (चेत्स्याद्द्विगुणं) हृतः (हृतम्); **पमा. ४३२** वैश्य......णः (बृहस्वे द्विगुणं तत्र) हृतः (हृतम्); **रत्न. १२०** व्यकवत्; **व्यनि. ४८७** तद्द्वि (व द्वि); **दवि. २०५** क्रोशे (क्षेपे) शेषं व्यकवत्; **व्यप्र. ३८२; व्यउ. १२०; सेतु. २१२** विरवत्, पू.; **समु. १६०** व्यकवत्.

(२) **अप. २।२०७; व्यक. १०३; विर. २५२; पमा. ४३२; रत्न. १२०; व्यनि. ४८७; दवि. २०५; व्यप्र. ३८२; व्यउ. १२०; समु. १६०.**

(३) **अप. २।२०७** स्तु (श्च) च्छेदे......ते (च्छेदनमर्हति); **व्यक. १०३; विर. २५२** स्तु (श्च); **रत्न. १२०; विचि. १११** देन (दाल); **दवि. ३२१** विरवत्; **वीमि. २।२११** आ (वि) च्छेदे......ते (च्छेदनमर्हति) उत्त.; **व्यप्र. ३८२; व्यउ. १२१; व्यम. ९९; सेतु. २१२** विरवत्; **समु. १६१** विरवत्.

(४) **अप. २।२११; व्यक. १०४; विर. २५७** मनीषिभिः (महर्षिभिः); **दवि. २०९; व्यप्र. ३८४; व्यउ. १२२.**

## कात्यायनः

वाक्पारुष्यप्रकाराः

[1]यस्त्वसत्संज्ञितैरङ्गैः परमाक्षिपति कचित् ।
अभूतैर्वाथ भूतैर्वा निष्ठुरा वाक् स्मृता तु सा ॥
[2]न्यङ्गावगूरणं वाचा क्रोधात्तु कुरुते यदा ।
वृत्तदेशकुलानां तु अश्लीला सा बुधैः स्मृता ॥

(१) न्यङ्गावगूरणं निकृष्टाङ्गप्रकाशनेन तिरस्करणम् ।

*अप. २।२०४

(२) कल्पतरौ न्यङ्गावगूरणमिति पठित्वा निकृष्टाङ्गप्रकाशनेन तिरस्करणमिति व्याख्यातम् । न्यग्भावकरणमिति तु माधवादिसंमतः पाठः । व्यप्र. ३७९

[3]महापातकयोक्त्री च रागद्वेषकरी च या ।
जातिभ्रंशकरी वाऽथ तीव्रा सा प्रथिता तु वाक् ॥
[4]हुङ्कारं कासनं चैव लोके यच्च विगर्हितम् ।
अनुकुर्यादनुब्रूयाद्वाक्पारुष्यं तदुच्यते ॥
[1]योऽगुणान् कीर्तयेत्क्रोधात् निर्गुणे वा गुणज्ञताम् ।
अन्यसंज्ञानियोजी च वाग्दुष्टं तं नरं विदुः ॥

(१) कात्यायनस्त्वन्यानपि वाक्पारुष्यभेदानाह—हुङ्कार इति । स्मृच. ६

(२) अगुणान् कीर्तयेद्गुणिनीति शेषः । अन्यसंज्ञानियोजी निन्दितसंज्ञाव्यपदेशकारी । * विर. २४५

वाक्पारुष्यदोषाल्पत्वे अर्धो दण्डः

[2]मोहात्प्रमादात्संहर्षात् प्रीत्या वोक्तं मयेति यः ।
नाहमेवं पुनर्वक्ष्ये दण्डार्धं तस्य कल्पयेत् ॥

परिहार्यवाक्पारुष्यकाराभिप्रायमेतत् । विर. २४६

वाक्पारुष्यदोषतदपवादौ, तत्साधनं च

[3]यत्र स्यात्परिहारार्थं पतितस्तेनकीर्तनम् ।
वचनात्तत्र न स्यात्तु दोषो यत्र विभावयेत् ॥

(१) वचनात् पतितादिकीर्तनादित्यर्थः । यत्राभियोगादौ पातित्यादिकं साधयेत् तत्रापि वचनाद्दोषो न स्यादित्यर्थः । स्मृच. ३२७

(२) यत्र परिहारार्थं पतितादिसंसर्गपरिहारार्थं पातित्यादि कीर्तितमिति विभावयति तत्र न दोष इत्यर्थः । विर. २५८

---

* व्यक., विर., दवि. अपवत् ।

(१) अप. २।२०४ ज्ञितै ( ज्ञकै ); व्यक. १०१ यस्त्व ( यत्त्व ); स्मृच. ६ तु सा ( बुधैः ) शेषं व्यकवत्; विर. २४३ र्वाथ ( रथ ); पमा. ४२९ माक्षि ( स्याक्षि ) अभूतै ( अमूलै ) भूतै ( मूलै ) तु सा ( बुधैः ); व्यनि. ४८४ पति ( पता ) शेषं व्यकवत्; दवि. १९७ व्यकवत् विरवच्च; व्यप्र. ३७९ व्यकवत्; व्यउ. ११९ व्यकवत्; सेतु. २०३ दविवत्; समु. १५९ स्मृचवत्.

(२) अप. २।२०४ क्रोधा (ऽऽक्रोशा) यदा (यदि); व्यक. १०१ तु (च); स्मृच. ६ न्यङ्गावगूरणं (न्यग्भावकरणं) त्तदे (त्तेदें) तु अश्ली (चाप्यश्ली); विर. २४३ तु (च); पमा. ४२९ न्यङ्गावगूरणं (न्यग्भावकरणं) त्तदे (त्तेदें) तु अ (वाऽप्य); व्यनि. ४८४ त्तदे (त्तैदें) तु (च); दवि. १९८ गूरणं वाचा ( पूरणं वचो ) तु ( च ), कामधेनावङ्गेति पठितमित्याह; व्यप्र. ३७९ न्यङ्गावगूरणं ( न्यग्भावकरणं ); व्यउ. ११९ व्यप्रवत् ; सेतु. २०३ न्यङ्गावगूरणं ( न्यक्कारगूहनं ) तु ( च ); समु. १५९ स्मृचवत्.

(३) अप. २।२०४ ; व्यक. १०१ ; स्मृच. ६ ; विर. २४३ वाऽथ ( या च ); पमा. ४२९ ; व्यनि. ४८४ योक्त्री च रागद्वे ( युक्ता च जगद्द्वे ) वाऽथ ( याऽथ ) तु ( च ); दवि. १९८ रागद्वेष ( राजस्तेय ) वाऽथ ( या च ); व्यप्र. ३७९ वाऽथ ( चाथ ); व्यउ. ११९ ; सेतु. २०३ वाऽथ ( या च ); प्रथि ( कथि ); समु. १५९ योक्त्री ( युक्ता ) सा प्र ( संप्र ).

(४) अप. २।२०४ ; व्यक. १०१ ; स्मृच. ६ रं (रः); विर. २४२ मनुः ; व्यनि. ४८३ कासनं चैव ( चैव त्वङ्कारं ) दनुब्रू ( दथ ब्रू ); समु. १५९-६० स्मृचवत्.

* दवि. विरवत् ।

(१) व्यक १०२ ; स्मृच. ६ नियोजी च ( नुयोगी वा ) तं नरं ( त्वन्तरं ); विर. २४४-५ त्क्रोधात् ( द्द्वेषात् ); दवि. १९९ योऽगु ( अगु ); व्यप्र. ३८० ; व्यउ. ११८ ; समु. १६० स्मृचवत्.

(२) व्यक. १०२ कात्यायनोशनसौ; विर. २४६ कात्यायनोशनसौ ; विचि. ११० वोक्तं ( चोक्तं ) कात्यायनोशनसौ; व्यनि. ४८५ त्प्रमा ... ..... र्षात् ( त्प्रमोहात्संघर्षात् ); दवि. २०४ वोक्तं ( चोक्तं ) नाहमेवं ( आह नैवं ) कात्यायनोशनसौ; सेतु. २१० वोक्तं ... यः ( चोक्तमपैति यत् ) कात्यायनोशनसौ.

(३) व्यक. १०४ कीर्तनम् ( कीर्तितः ); स्मृच. ३२७; विर. २५८; रत्न. १२१ हारा ( हासा ) षो य ( षम ); दवि. २१४ स्तेन ( त्वेन ) नारदः; व्यप्र. ३८१ पूर्वार्धे ( यच्च स्यात्परिहासार्थं पतितत्वेन कीर्तितम् ); व्यउ. ११८ कीर्तनम् ( कीर्तितम् ); विता. ७३० हारा ( हासा ); सेतु. २१३ न स्या ( तत्स्या ) शेषं व्यकवत्; समु. १६०.

**अन्यथा तुल्यदोषः स्यान्मिथ्योक्तौ तूत्तमः स्मृतः॥**

अन्यथा संसर्गपरिहारार्थमन्तरेण। विर. २५८

**[२] महता प्रणिधानेन वाग्दुष्टं साधयेन्नरम्।**
**अतथ्यं श्रावितं राजा प्रयत्नेन विचारयेत्॥**
**[३] अनृताख्यानशीलानां जिह्वाच्छेदो विशोधनम्॥**

वाग्दुष्टोऽत्र वाक्पारुष्यकारी। साधयेत् सत्यमसत्यं वा अनेनोक्तमिति चिन्तयेत्। जिह्वाच्छेद इत्यब्राह्मणविषयम्। विर. २५८

## व्यासः

पातकाभिशंसने दण्डाः

**[४] पापोपपापवक्तारो महापातकशंसकाः।**
**आद्यमध्योत्तमान् दण्डान् दद्युस्त्वेते यथाक्रमम्॥**

(१) उपपातकगणे यन्न निर्दिष्टं शास्त्रतः प्रतिषिद्धं च तदिह पापशब्दवाच्यम्। अप. २।२१०

(२) अत्र महापातकं प्रसिद्धं ततो न्यूनमुपपापमुपपातकमिति यावत्। ततो न्यूनं पापम्। तत्र पापे अधमो दण्डः, उपपापे मध्यमो महापातके तूत्तमः। विर. २५६

## उशना

असवर्णकृतवाक्पारुष्ये दण्डाः

**[५] शूद्रमाक्रुश्य क्षत्रियश्चतुर्विंशतिपणान् दण्डभाग् वैश्यः षट्त्रिंशत्।**

वाक्पारुष्यदोषाल्पत्वे अर्धो दण्डः

**[१] मोहात्प्रमादात्संहर्षात् प्रीत्या वोक्तं मयेति यः।**
**नाहमेवं पुनर्वक्ष्ये दण्डार्धं तस्य कल्पयेत्॥**

आनाम्नाते दण्डे विधिः

**[२] यत्र नोक्तो दमः पूर्वैरानन्त्यात्तु महात्मभिः।**
**तत्र कार्यं परिज्ञाय कर्तव्यं दण्डधारणम्॥**

## यमः

वेदाध्यायिशूद्रदण्डः

**[३] खण्डशश्छेदयेज्जिह्वामृचं वै यद्युदाहरेत्॥**

## जमदग्निः

असवर्णेषु वाक्पारुष्ये दण्डाः

**[४] मातृतुल्यमनुलोमानां पितृतुल्यं प्रतिलोमानाम्।**

## अग्निपुराणम्

वैश्यशूद्रकृते उच्चवर्णक्षेपे धर्मोपदेशे च दण्डाः

**[५] क्षत्रियस्याप्नुयाद्वैश्यः साहसं पूर्वमेव तु।**
**शूद्रः क्षत्रियमाक्रुश्य जिह्वाच्छेदनमाप्नुयात्॥**
**[६] धर्मोपदेशं विप्राणां शूद्रः कुर्वंश्च दण्डभाक्।**
**श्रुतदेशादिवितथी दाप्यो द्विगुणसाहसम्॥**
**उत्तमः साहसस्तस्य यः पापैरुत्तमान् क्षिपेत्।**
**प्रमादाद्यैर्मया प्रोक्तं प्रीत्या दण्डार्धमर्हति॥**

---

(१) **व्यक.** १०४ तुल्य (त्वल्प) स्मृतः (दमः); **विर.** २५८; **दवि.** २१४ क्तौ तू (क्तावु) नारदः.

(२) **व्यक.** १०४ प्रणिधानेन (तु प्रयत्नेन) श्रावितं (साधितं); **विर.** २५८; **दवि.** २१५ उत्त., नारदः.

(३) **व्यक.** १०४ दो वि (दाद्वि); **विर.** २५८; **दवि.** २१५ नारदः; **व्यप्र.** ३८४; **व्यउ.** १२२ ख्यानशीलानां (ख्यमेलकानां).

(४) **अप.** २।२१० स्त्वेते (स्ते ते); **व्यक.** १०४ स्त्वेते (स्ते वै); **विर.** २५६; **पमा.** ४३३ मनुः; **व्यनि.** ४८८ अपवत्, मनुः; **दवि.** २०८ अपवत्; **व्यप्र.** ३८३ अपवत्; **व्यउ.** १२२ मनुः; **सेतु.** २११ स्त्वेते (रेते); **समु.** १६०-६१ अपवत्, मनुः.

(५) **मभा.** १२।१० (पणान्०); **गौमि.** १२।१०.

(१) **अप.** २।२११ वोक्तं (चोक्तं); **व्यक.** १०२ कात्यायनोशनसौ; **स्मृच.** ३२७ हर्षा (घर्षा); **विर.** २४६ कात्यायनोशनसौ; **रत्न.** १२१ स्मृचवत्; **विचि.** ११० अपवत्, कात्यायनोशनसौ; **दवि.** २०४ वोक्तं (चोक्तं) नाहमेवं (आह नैवं) कात्यायनोशनसौ; **व्यप्र.** ३८४ स्मृचवत्; **व्यउ.** १२२ स्मृचवत्; **व्यम.** ९९ स्मृचवत्; **विता.** ७३० हर्षा (घर्षा) वोक्तं (चोक्तं); **सेतु.** २१० वोक्तं..... यः (चोक्तमपैति यत्) कात्यायनोशनसौ.

(२) **व्यक.** १०४; **स्मृच.** ३२८ पूर्वै (सर्वै); **विर.** २५९ तु (च); **विचि.** १११-२ पूर्वैरानन्त्यात्तु (सर्वै राजन्याच्च) कर्तव्यं (सर्वस्वं); **दवि.** २१४; **सवि.** ४८३ परि (प्रति) शेषं स्मृचवत्; **सेतु.** २१४ पूर्वै (सर्वै) तु (त्तु); **समु.** १६४ स्मृचवत्.

(३) **व्यनि.** ४८८; **समु.** १६१.

(४) **मभा.** १२।११. (५) **अपु.** २२७।२५.

(६) **अपु.** २२७।२६,२७.

# दण्डपारुष्यम्

## वेदाः

ब्राह्मणविषयकदण्डपारुष्ये दण्डविधिः

[1]**देवा वै यज्ञस्य स्वगाकर्तारं नाविन्दन्ते शंयुं बार्हस्पत्यमब्रुवन्निमं नो यज्ञं स्वगा कुर्विति। सोऽब्रवीद्वरं वृणै यदेवाब्राह्मणोक्तोऽश्रद्दधानो यजातै सा मे यज्ञस्याशीरसदिति तस्माद्यदब्राह्मणोक्तोऽश्रद्धानो यजते शंयुमेव तस्य बार्हस्पत्यं यज्ञस्याशीर्गच्छत्येतन्ममेत्यब्रवीत् किं मे प्रजाया इति योऽपगुरातै शतेन यातयाद्यो निहनत्सहस्रेण यातयाद्यो लोहितं करवद्यावतः प्रस्कद्य पाँसून् संगृह्णात्तावतः संवत्सरान् पितृलोकं न प्र जानादिति तस्माद्ब्राह्मणाय नाप गुरेत न नि हन्यान्न लोहितं कुर्यादेतावता हैनसा भवति।**

यस्मै देवाय यद्धविर्विहितं तस्य हविषः सांकर्यमन्तरेण तस्य तस्य देवस्य स्वगतं कुर्विति बृहस्पतिपुत्रं शंयुनामानं प्रति देवा अब्रुवन्। तदाऽसौ शंयुरप्येवं चिन्तितवान्— एतत्काम एतेन यज्ञेन यजेतेत्येतादृशेन ब्राह्मणेनानुक्तो यः कश्चिद्यजेत स्वेच्छयैव, यश्चान्यः श्रद्धारहितो यजते, तयोरुभयोर्यज्ञफलं ममास्त्विति वरः। तत आरभ्य तत्फलद्वयं शंयुमेव प्राप्नोति। पुनरपि शंयुरेवमुवाच— तदेतदुभयं मम संपन्नं, मदीयायाः पुत्रपौत्रादिरूपायाः प्रजायाः किं दास्यतेति। ततो देवा अपगोरणादिकर्तुर्यातना त्वत्पुत्राधीना भवत्विति वरं दत्तवन्तः। अपगोरणं ताडनोद्योगः। तमुद्योगं ब्राह्मणविषये यः करोति तं पुरुषं शतनिष्कदण्डेन यातयात् क्लेशयेत्। यो निहनत्ताडयेत्तं सहस्रनिष्कदण्डेन क्लेशयेत्। यस्तु ब्राह्मणशरीरे लोहितं ताडनेन ग्राहयति, लोहितं भूमौ पतित्वा यावतः परमाणून् व्याप्नोति तावतः संवत्सरानयं पितृलोकं न प्राप्नोति, किन्तु यमयातनामनुभवति तत्सर्वं त्वत्प्रजाधीनमिति वरः। यस्मादुक्तरीत्या ब्राह्मणाधिक्षेपादौ प्रत्यवायोऽस्ति तस्मात्तन्न कुर्यात्। करणे चैतावता पूर्वोक्तपापेन युक्तो भवति। तैसा.

(१) तैसं. २।६।१०।१-२.

* [1]**अभिक्रुद्धावगोरणे ब्राह्मणस्य वर्षशतमस्वर्ग्यम्।**

अभिक्रुद्धेन, न परिहासादिना, अवगोरणे प्रहरणोद्यमने ब्राह्मणस्यानपराधिनः। अपराधिनः आततायित्वप्रसङ्गेन न दोष इति। वर्षशतमस्वर्ग्यं नरकपतनम्। समानजातीयविषयमिदम्। क्षत्रियादिभिः कृते— 'द्विगुणं त्रिगुणं चैव चतुर्गुणमथापि वा। क्षत्रविट्शूद्रजातीनां ब्राह्मणस्य वधे कृते॥' इति प्राजापत्यस्मृतिलिङ्गात्। वर्षाणामपि द्विगुणत्रिगुणत्वादि कल्प्यम्। अनेनैव न्यायेन ब्राह्मणेन कृते क्षत्रविट्शूद्रजातीनां त्रिपादमर्धं पादमिति द्रष्टव्यम्। ब्राह्मणक्षत्रियवत् क्षत्रियवैश्ययोरपि, एवं क्षत्रियवैश्यवद्वैश्यशूद्रयोरपि कल्प्यम्। एवं सर्वस्योत्तमस्योत्तमस्य नीचेन नीचेन वधे कृते द्रष्टव्यम्। मभा.

[2]**निघाते सहस्रम्।**

आयुधेन पाणिना वा निघाते सहस्रं वर्षाणामस्वर्ग्यं, अधिकृतत्वात्। मभा.

[3]**लोहितदर्शने यावतस्तत्प्रस्कन्द्य पांसून् संगृह्णीयात्।**

रुधिरोत्पादने कृते तद्रुधिरं ब्राह्मणादवसृत्य यावतः पांसून् संगृह्णीयात् पिण्डीकुर्यात् तावन्ति वर्षसहस्राणि नरकपतनं, अपरिमितकालमित्यर्थः। दोषविशेषकथनं प्रायश्चित्तविशेषज्ञापनार्थम्। यथाह कण्वः— 'अवगूर्य

* उपरिनिर्दिष्टश्रुतिवचनं गौतमेन सायणापेक्षया अन्यथा व्याख्यातमित्येतत्प्रदर्शनार्थं गौतमसूत्राणि समुद्धृतानि।

(१) गौध. २१।२०; मभा.; गौमि. २१।२० गोरणे (गोरणं).

(२) गौध. २१।२१; मभा.; गौमि. २१।२१.

(३) गौध. २१।२२; मभा.; गौमि. २१।२२.

चरेत्कृच्छ्रमतिकृच्छ्रं निपातने। कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ कुर्वीत विप्रस्योत्पाद्य शोणितम् ॥' इति प्रायश्चित्तविशेषात् दण्डविशेषो द्रष्टव्यः। मभा.

## गौतमः

शूद्रकृते द्विजातिविषयके वाग्दण्डपारुष्ये दण्डविधिः

**शूद्रो द्विजातीनभिसंधायाभिहत्य च वाग्दण्डपारुष्याभ्यामङ्गं मोच्यो येनोपहन्यात् * ॥**

आर्यसाम्यप्रेप्सुशूद्रस्य दण्डः

**[१]आसनशयनवाक्पथिषु समप्रेप्सुर्दण्ड्यः।**

आसनादिष्वार्यैस्तुल्यत्वं स्वेच्छया कामयमानः। आसनादिषूच्छ्रितादिगुणेषु समत्वं, वाक्साम्यं समकालोच्चारणं, पथि साम्यं पृष्ठतो मुक्त्वा सह गमनम्। दण्डः स्थानाद्यपेक्षया शतादर्वाग् द्रष्टव्यः। ×मभा.

शिष्यशासनरूपे दण्डपारुष्ये दण्डः

**[२]शिष्यशिष्टिरवधेन। अशक्तौ रज्जुवेणुविदलाभ्यां तनुभ्याम्। अन्येन घ्नन्राज्ञा शास्यः+।**

## हारीतः

हीनवर्णकृतेषु उत्तमवर्णकृतेषु च वाग्दण्डपारुष्येषु दण्डविधिः

**[३]अधोवर्णानामुत्तमवर्णाक्रोशाक्षेपाभिभवे अष्टौ पुराणाः, ग्रीवासञ्जनगलस्तनकचवक्त्रग्रहणेषु त्रिंशत्। रोमोत्पाटनतर्जनावगूरणेषु त्रिषष्टिः। शिखाकर्णाङ्गभङ्गच्छेदेषु द्विशतम्। पादताडनेऽनृताभिशंसने तदङ्गच्छेदः पञ्चशतं वा। आद्येषु पादो न वा किञ्चित्। स्वामित्वादादिवर्णत्वाच्च। उत्तमानामीशानतमो ब्राह्मणः।**

(१) अधोवर्णोऽनन्तरो वर्णो विप्रस्य क्षत्रिय इत्यादिः। पुराणशब्दोऽत्र द्वात्रिंशद्रूप्यकृष्णलपरः। विर. २५१

अनृताभिशंसनमाक्रोशः, अङ्गमत्र जिह्वा, अपकृष्टवर्णेषु उत्कृष्टवर्णं प्रति मिथ्यातीव्राक्रोशे जिह्वाच्छेदः, पञ्चाशतं वा दण्ड्यः, आद्येषु उत्कृष्टवर्णेषु निकृष्टं प्रति मिथ्यातीव्राक्रोशे पञ्चाशत्पादः। मतान्तरमाह — न वा किञ्चित्, अत्र हेतुः, स्वामित्वादादिवर्णत्वाच्च, आदिवर्णत्वाच्छूद्रापेक्षया वैश्यादीनां प्रथमवर्णत्वात्। विर. २५३

त्रिंशत्पुराणा इत्यर्थः। एवमुत्तरत्र। आद्येष्वित्यादिना हीनवर्णस्य दण्डमुक्त्वा अधिकस्याप्युक्तः। विर. २६७

(२) [आदौ रत्नाकरानुवादः, तदुत्तरमेष ग्रन्थः]— वस्तुतस्तु, अभिशंसनमेव आक्रोशः। तस्मिन् असत्यार्थेऽतितीव्रे जिह्वाच्छेदोऽन्यत्र पञ्चशतपुराणो दण्डः। विषमयोस्तुल्यवद्विकल्पानुपपत्तेः, सत्ये तु पारिशेष्यादष्टौ पुराणाः।

यद्वा पादच्छेदनेऽनृताभिशंसने इति समभिव्याहारदर्शनात् पादताडने तदङ्गच्छेदः। अनृताभिशंसने पञ्चशतदण्ड इति व्यवस्थेति प्रतिभाति।

तथा न वा किञ्चिदिति मतं यद्यप्यसंकुचितविषयमिति युक्तं त्रैवर्णिकोपक्रमत्वात् हेतुसाधारण्याच्चेति। तथापि ब्राह्मणमात्रपरतया नेयम्। उपसंहारे ईशान-

---

* व्याख्यानं स्थलादिनिर्देशश्च वाक्पारुष्यप्रकरणे (पृ. १७६८) द्रष्टव्यः।

× गौमि. मभावत्।

+ व्याख्यानं अभ्युपेत्याशुश्रूषाप्रकरणे (पृ. ८१५) द्रष्टव्यम्।

(१) **गौध.** १२।५; **मभा.**; **गौमि.** १२।५; **विर.** २६९ सम (समत्वं) दण्ड्यः+(शतम्); **दवि.** ३२२ सम...ण्ड्यः (समत्वेप्सुर्दण्ड्यः शतम्).

(२) **गौध.** २।४९-५१; **व्यक.** १०६ विद (द); **विर.** २७२ व्यकवत्; **समु.** ९८. अवशिष्टस्थलादिनिर्देशः अभ्युपेत्याशुश्रूषाप्रकरणे (पृ. ८१५) द्रष्टव्यः।

(३) **व्यक.** १०३ अष्टौ (ह्यष्टौ) (ग्रीवा......पाद- ताडने॰) पादो न वा किञ्चित् (पादोनं वा) (ईशानतमो ब्राह्मणः॰) : १०५ क्षेपाभिभवे (भिभवाक्षेपेषु) सञ्जन (भञ्जन) पादो न वा किञ्चित् (पादोनं वा) मीशानतमो ब्राह्मणः (मीशानां मध्यमानामधोवर्णानामीशानतमा ब्राह्मणाः); **विर.** २५१ (क्रोशा॰) अष्टौ (ष्वष्टौ) (ग्रीवा...... ब्राह्मणः॰) : २५३ (अधोवर्णा......पादताडने॰) पञ्चशतं (पञ्चाशतं) (किञ्चित्॰) (ईशानतमो ब्राह्मणः॰) : २६६-७ पादो न वा किञ्चित् (पादोनं वा) दादि (दाद्य); **दवि.** २०२ अधो...क्रो (अधमवर्णस्योत्तमवर्णानामाक्रो) (ग्रीवा......द्विशतम्॰) पाद......शंसने (अनृताभिशंसने पादताडने) वा। आद्येषु (त्वाद्येषु) तमो+(हि) : २५४ अधो......क्रो (अधोवर्णस्योत्तमवर्णानामाक्रो) गलस्तन (गलहस्तन) ग्रहणेषु (प्रहरणेषु) पादो न वा (पादोनं) तमो+(हि).

तमो ब्राह्मण इत्यनुवाददर्शनात्। उपदधाति इत्यत्र सामान्येन प्राप्तेऽञ्जनद्रव्ये 'तेजो वै घृतम्' इत्यनुवाद-दर्शनेन तद्विशेषपरिनिष्ठावत्। न च स्वामित्वस्यैवाय-मित्यनुवाद इति वाच्यम्। ईशानतम इति तमोपादान-विरोधात्। अनुवादमात्रस्य वैयर्थ्याच्च।

न च, यथा— 'तिलांश्च विकिरेत्तत्र परितो बन्ध-येदजाम्। असुरोपहतं श्राद्धं तिलैः शुद्ध्यत्यजेन च ॥' इत्यत्र अजानात्मकदेशे फलसंबन्धप्रतिपादनार्थमजेनेत्य-नूद्यते। तथा इह किञ्चित् प्रयोजनमस्ति तस्मात् कामं पूर्वपूर्वो वर्ण उत्तरोत्तरस्यादित्वादभ्यर्हितत्वेन स्वामी। ब्राह्मणस्तु स्वामितमः स्वामिस्वामित्वात्। अतस्तस्यैव दण्डाभावो वैश्यक्षत्रिययोस्तु स्वाम्यतार-तम्यानुसारी दण्डलेशोऽस्त्येवेति तात्पर्यार्थो गम्यते।

स चायं दण्डाभावो निर्गुणशूद्रपरत्वेन व्यवतिष्ठते। गुणहीनस्येत्यादिवक्ष्यमाणबृहस्पतिवचनसंवादात्। अन्यत्र सर्वत्र दण्डोपदेशात् ब्राह्मणपदं च न कृषीवलादिसाधा-रणजातिमात्रपरमपि तु गुणवदभिप्रायम्। तस्यैवेशान-सामर्थ्यात्। तदेवं न वेति विकल्पस्य विषयव्यवस्था-यामष्टदोषदुष्टत्वमप्यपास्तं भवतीति चतुरस्रम्।

दवि. २०२-४

## आपस्तम्बः

दण्डपारुष्यानन्तर्भाविशिष्यशासनम्

**अपराधेषु चैनं सततमुपालभेत।**

**अभित्रास उपवास उदकोपस्पर्शनमदर्शनमिति दण्डा यथामात्रमानिवृत्तेः।**

(१) अपराधेषु कृतेष्वेनं शिष्यं सततमुपालभेत— इदमयुक्तं त्वया कृतमिति।

अभित्रास इति। अभित्रासो भयोत्पादनम्। उप-वासो भोजनलोपः। उदकोपस्पर्शनं शीतोदकेन स्नापनम्। अदर्शनं यथा आत्मानं न पश्यति तथा करणम्। गृहप्रवेशनिषेधः। सर्वत्र ण्यन्तात् प्रत्ययः। इत्येते दण्डाः शिष्यस्य यथामात्रं यावत्यपराधमात्रा तदनुरूपं व्यस्ताः समस्ताश्च। आनिवृत्तेः यावदसौ न ततोऽ-पराधान्निवर्तते तावदेते दण्डाः।

उ.

(२) उपालभेत रूक्षोक्तिभिस्तिरस्कुर्यात्। अति-त्रासोऽतिभीत्युत्पादनम्। उदकोपस्पर्शनमतिशयितजाड्य-काले। यथामात्रं सामर्थ्यापराधानुरूपमात्रम्। आनिवृत्तेः अपराधस्येति शेषः।

विर. २७३

आर्यसाम्यप्रेप्सुशूद्रस्य दण्डः

**वाचि पथि शय्यायामासन इति समीभवतो दण्डताडनम्।**

(१) यस्तु शूद्रो वागादिष्वार्यैः समीभवति, न तु न्यग्भूतः, तस्य दण्डेन ताडनं कर्तव्यम्। स दण्डेन ताडयितव्यः। अयमस्य दण्डः।

उ.

(२) शूद्र इत्यनुवृत्तावापस्तम्बः— वाचीति। पूर्ववाक्ये अस्मिन्नेव विषये दण्ड्यत्वाभिधानं पारुष्य-कर्तुर्धनवत्त्वपक्षे, इदं तु निर्धनत्वपक्षे दण्डताडनमित्य-विरोधः।

विर. २६९

## वसिष्ठः

वाग्दण्डपारुष्येषु दण्डसामान्यविधिः

**दण्डस्तु देशकालधर्मवयोविद्यास्थानविशेषैर्हिंसा-क्रोशयोः कल्प्य आगमाद् दृष्टान्ताच्च।**

वृक्षच्छेदनिषेधः

**पुष्पफलोपगान् पादपान् न हिंस्यात् कर्षणकर-णार्थे चोपहन्यात्। गार्हस्थ्याङ्गानां च।**

---

(१) आध. १।८।२९-३०; हिध. १।८ नमद (नान्यद); व्यक. १०६; विर. २७२ अभि (अति) (उपवास०) (अदर्शनं०); विचि. ११९ अभि......मिति (अतित्रास-मुपवासमुदकोपस्पर्शनमिति); व्यप्र. ३७८ अभि (अति) (अदर्शनं०) मात्रमानिवृत्तेः (तन्मात्रनिवृत्तिः); व्यउ. ११८ व्यप्रवत्; सेतु. २२१ चैनं (चैवं) शेषं विचिवत्.

(१) आध. २।२७।१५; हिध. २।१९; व्यक. १०६; गौमि. १२।५; विर. २६९; विचि. ११८ न इति (ने च); दवि. ३२२ (वाचि०) ण्डता (ण्डस्ता); सेतु. २२० विचिवत्.

(२) वस्मृ. १९।७.

(३) वस्मृ. १९।८-९ (ख) स्थ्याङ्गानां च (स्थ्यं गां च); व्यक. १०९ पुष्पफलो (फलपुष्पो) ङ्गानां (ङ्गे); विर. २८६ पुष्प...नां च (फलपुष्पोपगमान् वृक्षान् न हिंस्यात्कर्षणार्थं वोपहन्यात्। गार्हस्थ्याङ्गे च); दवि. २३० (फलपुष्पोपयोगान् पादपान्न हिंस्यात्) एतावदेव: ३२५ पुष्पफलो (फलपुष्पो) णकरणार्थे (णार्थे) चोप (वोप)

कर्षणार्थं कृषिहेतुहलाद्यर्थम्। संभवासंभवनिमित्तकविकल्पपरो वाशब्दः। गार्हस्थ्याङ्गं गृहस्थकर्म दृष्टमदृष्टं वा, येन गृहोपकरणं यज्ञोपकरणं च सिद्ध्यति। लक्ष्मीधरेण तु कार्षापणमिति पठितम्। तत्र अग्रिमस्वरसभङ्गप्रसङ्गात् प्रकाशहलायुधपारिजातविरोधान्मूलस्मृत्यदर्शनाच्चोपेक्षितम्। विर. २८६

## विष्णुः

हीनवर्णकृतेषु उत्तमवर्णकृतेषु च दण्डपारुष्येषु दण्डविधिः।

आर्यसाम्यप्रेप्सुशूद्रस्य दण्डः।

**[1]हीनवर्णोऽधिकवर्णस्य येनाङ्गेनापराधं कुर्यात्तदेवास्य शातयेत्।**

**[2]एकासनोपवेशी कट्यां कृताङ्को निर्वास्यः। निष्ठीव्योष्ठद्वयविहीनः कार्यः। अवशर्धयिता च गुदहीनः।**

प्रहारोद्यमनपादादिलुण्ठनकरादिभङ्गचेष्टादिरोधप्रहारादिषु दण्डविधिः

**[3]हस्तेनोद्गूरयित्वा दश कार्षापणान्। पादेन विंशतिम्। काष्ठेन प्रथमसाहसम्। पाषाणेन मध्यमम्। शस्त्रेणोत्तमम्।**

(१) अधमो यदा शस्त्रेणोत्तमस्योद्गूरणं करोति, तदा असौ उत्तमसाहसं दण्ड्य इति शस्त्रेणोत्तममित्यस्यार्थः। विर. २६३

(२) सजातीयविषयं सर्वमेतत्। 'हीनवर्णोऽधिकवर्णस्य येनाङ्गेनापराधं कुर्यात् तदेवास्य शातयेत्' इति सामान्यसूत्रात्। वै.

**[1]पादकेशांशुककरलुण्ठने दश पणान् दण्ड्यः।**

**[2]शोणितेन विना दुःखमुत्पादयिता द्वात्रिंशत्पणान्। सह शोणितेन चतुःषष्टिम्।**

**[3]करपाददन्तभङ्गे कर्णनासाविकर्तने मध्यमम्।**

**[4]चेष्टाभोजनवाग्रोधे प्रहारदाने च।**

**[5]नेत्रकन्धराबाहुसक्थ्यंसभङ्गे चोत्तमम्। उभयनेत्रभेदिनं राजा यावज्जीवं बन्धनान्न विमुञ्चेत्। तादृशमेव वा कुर्यात्।**

(१) शोणितेनेति। एतत्तु शस्त्रकरणकदुःखोत्पादने। विर. २६४

(२) नेत्रेति। पादमूलयोः संधिः सक्थि। तादृशं यादृशमन्यं कृतवान्। विचि. ११६

(३) प्रहारदाने च नेत्रकन्धरासक्थ्नामिति चकारो मध्यममित्यस्यानुप्रकर्षकः। भङ्गे चेति नेत्रादीनामित्यन्वयः। दवि. २५७

---

ज्ञानां (ज्ञे); सेतु. २९४ पुष्प...नां च (फलपुष्पोपभोगात् वृक्षान्न हिंस्यात्, कर्षणार्थं वोपहन्यात् गार्हस्थ्यस्याङ्गे च).

(१) **विस्मृ.** ५।१९.

(२) **विस्मृ.** ५।२०-२२; **व्यक.** १०६ (निष्ठीव्यो... हीनः०); **विर.** २६८ व्यकवत्; **दवि.** ३२२ एका (उत्कृष्टेन एका) वेशी + (अपकृष्टजः).

(३) **विस्मृ.** ५।६०-६४ (क) यित्वा (यिता), (ख) नोद्गूरयित्वा (नावगोरयिता); **व्यक.** १०५ तिम् (तिः) (पाषाणेन मध्यमम्०); **विर.** २६३ व्यकवत्; **विचि.** ११३-४ द्गूरयित्वा (द्गोरयिता) (पाषाणेन मध्यमम्०) त्तमम् (त्तमसाहसम्); **दवि.** २५० त्वा + (तु) (पाषाणेन मध्यमम्०); **व्यप्र.** ३७२ (पाषाणेन मध्यमम्०); **व्यउ.** ११३ व्यप्रवत्; **सेतु.** २१६ त्तमम् (त्तमसाहसम्) शेषं व्यप्रवत्.

(१) **विस्मृ.** ५।६५.

(२) **विस्मृ.** ५।६६-७; **व्यक.** १०५ शोणितेन विना (दण्ड्यः शोणितेन विना); **विर.** २६४ द्वात्रिंशत्प (त्रिंशतं प) शेषं व्यकवत्; **विचि.** ११५ विरवत्; **दवि.** २५५ व्यकवत्; **वीमि.** २।२२९ द्वात्रिंशत्प (त्रिंशतं प); **व्यप्र.** ३७२ ता (त्वा); **व्यउ.** ११३ व्यप्रवत्; **सेतु.** २१८ विरवत्.

(३) **विस्मृ.** ५।६८; **दवि.** २५० विक (वक).

(४) **विस्मृ.** ५।६९; **अप.** २।२२०; **दवि.** २५७ (च०).

(५) **विस्मृ.** ५।७०-७२; **अप.** २।२१९ (नेत्र...... त्तमम्०) बन्ध...ञ्चेत् (न मुञ्चेद्बन्धनात्) : २।२२० सक्थ्यंस (सक्थि) (उभय...कुर्यात्०); **व्यक.** १०५ सक्थ्यंस (सक्थ्नां); **विर.** २६५ सक्थ्यंस (सक्थ्नां च) विमु (मु); **दीक.** ५६ (नेत्रक...त्तमम्०) भेदिनं (भेदकं) याव... ञ्चेत् (बन्धनात् यावज्जीवं न मुञ्चेत्); **विचि.** ११६ कन्धरा (स्कन्ध) सक्थ्यंसभङ्गे (सक्थिभङ्गेषु) बन्ध...ञ्चेत् (न बन्धनान्मोचयेत्) (वा०); **दवि.** २५७ बाहुसक्थ्यंस (सक्थ्नां च) भेदिनं (भञ्जनं) विमु (मु); **सेतु.** २१९ राजा......भङ्गे (रसक्थिभङ्गेषु) भेदिनं (भेदनं) विमुञ्चेत् (मोचयेत्) (वा०).

एकं बहूनां प्रहरतां दण्डः

[1]एकं बहूनां निघ्नतां प्रत्येकमुक्ताद्दण्डाद् द्विगुणः। उत्क्रोशन्तमनभिधावतां तत्समीपवर्तिनां संसरतां च।

प्रत्येकस्य प्रत्येकमित्यर्थः। स्मृच. ३२९

पुरुषपीडायां पशुपीडायां पशुपक्षिकीटघातादिषु च दण्डः

[2]सर्वे च पुरुषपीडाकरास्तदुत्थानव्ययं दद्युः। ग्राम्यपशुपीडाकराश्च।

[3]पशूनां पुंस्त्वोपघातकारी च।

कार्षापणशतं दण्ड्य इत्यनुवृत्तौ विष्णुः— पशूनामिति। पुंस्त्वोपघातोऽण्डच्छेदः। विर. २७८

(१) **विस्मृ.** ५।७३-४ (ख) निघ्न (विघ्न); **अप.** २।२२१ निघ्न (घ्न) कमुक्ता (कं स्वोक्ता) (संसरतां०); **व्यक.** १०६ निघ्न (विघ्न) मुक्ताद्दण्डाद् (श उक्तो दण्डो) संसरतां (सतां) च (वा); **स्मृच.** ३२९ बहूनां निघ्नतां (घ्नतां बहुनां) मुक्ताद्दण्डाद् (स्योक्तदण्डो) (उत्क्रो...च०); **विर.** २६९ निघ्न (विघ्न) मुक्ताद्दण्डाद् (श उक्तो दण्डो) संसरतां (सतां); **रत्न.** १२२ मुक्ताद्दण्डाद् (स्योक्तो दण्डो) (संसरतां०); **दवि.** २४९ मुक्ताद् (स्योक्तद) (उत्क्रो... ... च०): ३०२ मुक्ताद् (स्योक्तद) (संसरतां०); **व्यप्र.** ३७५ निघ्न (घ्न) मुक्ताद्दण्डाद् (श उक्तो दण्डो) उत्क्रो (क्रो) संसरतां (सतां); **व्यउ.** ११४ निघ्न (घ्न) मुक्तदण्डाद् (श उक्तदण्डो) संसरतां च (सतां वा); **व्यम.** १०० मुक्ताद्दण्डाद् (श उक्तो दण्डो) (उत्क्रो......च०); **विता.** ७३८ मुक्ता......गुणः (श उक्तो द्विगुणो दण्डः) उत्क्रो (द्विगुण उत्क्रो) संसरतां (शतं); **समु.** १६२ स्मृचवत्.

(२) **विस्मृ.** ५।७५-६; **व्यक.** १०६; **स्मृच.** ३२९ स्थान (त्थं) दद्युः (दाप्याः); **विर.** २७१ स्तदु (स्समु); **पमा.** ४२० स्तदु (स्समु) दद्युः (दाप्याः); **रत्न.** १२२ (च०) शेषं पमावत्; **दवि.** २२१ च पु (पु) स्तदु (स्समु); **व्यप्र.** ३७५ च पु (पु) शेषं पमावत्; **विता.** ७४१ (समुत्थानव्ययं दाप्यो ग्राम्यं पशुपीडाकरश्च) एतावदेव; **समु.** १६३ स्मृचवत्.

(३) **विस्मृ.** ५।११९ (ख) (च०); **अप.** २।२२६ (च०); **व्यक.** १०७ अपवत्; **विर.** २७८ अपवत् : ३५५ स्त्वोप (स्वाभि); **पमा.** ४२३ अपवत्; **विचि.** १२२; **व्यनि.** ४९६ स्त्वो.........च (स्त्वघाती); **व्यप्र.** ३७७ घातकारी च (घाती); **व्यउ.** ११६ व्यप्रवत्; **सेतु.** २२४; **समु.** १६३ व्यप्रवत्.

[1]गजाश्वोष्ट्रगोघाती त्वेककरपादः कार्यः। विमांसविक्रयी च।

(१) विमांसं विरुद्धमांसं श्वशृगालादिमांसमिति यावत्। विर. २७९

(२) विरुद्धमांसं श्वविड्वराहादेस्तद्विक्रयशीलो विमांसविक्रयी। वै.

[2]ग्राम्यपशुघाती कार्षापणशतं दण्ड्यः। पशुस्वामिने च तन्मूल्यं दद्यात्।

ग्राम्यपशुपीडातिशयेन पशुमरणे त्वाह— ग्राम्येति। स्मृच. ३२९

[3]आरण्यपशुघाती पञ्चाशतं कार्षापणान्। पक्षिघाती मत्स्यघाती च दश कार्षापणान्। कीटोपघाती कार्षापणम्।

(१) **विस्मृ.** ५।४८-९; **अप.** २।२२६ गजाश्वो (अश्वो); **व्यक.** १०७ त्वे (द्वे); **विर.** २७९ गजा......कर (गवाश्वगजोष्ट्रोपघाती चैकैक); **पमा.** ४२३ गो......कार्यः (गोघातेऽप्येकपादः) विमांस (मांस); **विचि.** १२२ गजा (अजा) (गो०) त्वे (द्वे); **व्यनि.** ४९६ त्वेककर (द्वेक) विमांस (मांस); **दवि.** २२२ श्वोष्ट्र......कर (श्वगवोष्ट्रोपघाती चैक) (विमां......च०) : ३०९ (गजा... ...कार्यः०); **व्यप्र.** ३७७ (च०); **व्यउ.** ११६ गजा (गवा) (गो०) (च०); **बाल.** २।२२९ (च०); **सेतु.** २२४ (च०) शेषं विचिवत्; **विव्य.** ५० गजा (अजा) त्वे (ए) (विमां... ...च०).

(२) **विस्मृ.** ५।५०-५१ (च०); **अप.** २।२२६ म्य (म) ती+(च) ने च (नश्च); **व्यक.** १०७ ती+(च) पणशतं (पणं); **स्मृच.** ३२९ पणशतं (पणं) ने च (नश्च); **विर.** २७९ ने च (नश्च); **पमा.** ४२० घाती (घाते) पणशतं (पणं) च (तु) : ४२३ पणशतं दण्ड्यः (पणम्) ने च तन्मू (नश्च पशुमू); **विचि.** १२२ म्य (म) ती+(च) ने च (नः); **व्यनि.** ४९६ ती+(च) ने च (नश्च); **दवि.** २२२ विरवत्; **व्यप्र.** ३७५ पणशतं (पणं) च (तु) : ३७७ म्य (म) ती+(च); **व्यउ.** ११५ व्यप्र (पृ. ३७५) वत् : ११६ म्य (म); **बाल.** २।२२९ म्य (म); **सेतु.** २२४ ती+(च) (च०).

(३) **विस्मृ.** ५।५२-४ ती का (ती च का); **अप.** २।२२६ पञ्चाशतं कार्षापणान् (पञ्चशतं कार्षापणानाम्); **व्यक.** १०७ शतं (शत्); **विर.** २७९ आर (अर) शतं कार्षापणान् (शतं कार्षापणानाम्); **पमा.** ४२३; **विचि.** १२२ आर (अर)

अतज्जीविनामेत्र दण्ड इति कृत्यसागरस्मृतिसारौ। हलायुधस्त्वाह—परपरिगृहीतकीटमत्स्यादिवधे दण्डोऽयं स्वामिने मूल्यदानाभिधानादिति। दवि. २२२

वृक्षवल्लीतृणादिच्छेदे दण्डविधिः

**फलोपभोगद्रुमच्छेदी तूत्तमसाहसम्। पुष्पोपभोगद्रुमच्छेदी मध्यमम्। वल्लीगुल्मलताच्छेदी कार्षापणशतम्। तृणच्छेद्येकम्। सर्वे च तत्स्वामिनां तदुत्पत्तिम्।**

(१) सर्वे फलोपभोगद्रुमच्छेदकादयः, तत्स्वामिनां छिन्नद्रुमादिस्वामिनां, तदुत्पत्तिं फलोपभोगद्रुमाद्युत्पत्तिं पुनः प्ररोपितद्रुमादिभोगकालपर्यन्तं दाप्या इति शेषः। स्मृच. ३३०

(२) दद्युरिति शेषः। विर. २८६

(३) इहास्वामिकेषु वृक्षलतादिषु स्वयं परद्वारा वा छिन्नेषु छेत्तुर्दण्डो विध्यतिक्रमात् तेषामपि वृथाच्छेदस्य निषिद्धत्वात्। 'फलपुष्पोपयोगान् पादपान्न हिंस्यात्' इत्यादिवसिष्ठादिवचनदर्शनात्। 'फलदानां तु वृक्षाणां छेदने जप्यमृक्शतम्। गुल्मवल्लीलतानां च पुष्पितानां च वीरुधाम्॥' इत्यादिप्रायश्चित्तोपदेशाच्च। स च दण्डः प्रकीर्णकप्रकरणे विस्तरेण वक्ष्यते। सस्वामिकेषु तु तत्स्वामिने तत्प्रतिनिधितन्मूल्ययोरेकतरदानमपीति विशेषः। दवि. २३०

(४) फलैरुपगम्यन्त इति फलोपगमाः। फलोपकारिणः पनसाम्रादयः। पुष्पैरुपगम्यन्त इति पुष्पोपगमाः। पुष्पोपकारिणश्चम्पकादयः। वै.

---

पञ्चा (च पञ्चा) पक्षि... ...णान् (पक्षिमत्स्यघाती च दश कार्षापणम्) (कीटो... ...णम्०); **व्यनि.** ४९६ आर (अर) पञ्चा...णान् (कार्षापणपञ्चाशतम्) कीटो (क्रीडो); **दवि.** २२२ आर (अर); **व्यप्र.** ३७७ व्यकवत्; **व्यउ.** ११६ व्यकवत्; **बाल.** २।२२९; **सेतु.** २२४ दविवत्.

(१) **विस्मृ.** ५।५५-९ भोग (गम); **अप.** २।२२९ साहसम्+(दण्ड्यः) पुष्पो... ...द्रुम (पुष्पोपभोग); **व्यक.** १०८ भोग (ग); **स्मृच.** ३३० पुष्पो... ...ध्यमम् (पुष्पोपभोगच्छेदी मध्यमसाहसम्) द्येकम्+(च); **ममु.** ८।२८५ तूत्तम (तूत्तमं) द्येकम्+ (कार्षापणं च) (सर्वे... ...त्तिम्०); **विर.** २८५ भोग (ग) ध्यमम् (ध्यमसाहसम्); **पमा.** ४२६

## शङ्खलिखितौ

प्रहारोद्यमने निपातने च दण्डः

**[१]प्रहारोद्यमे षट्पञ्चाशन्निपातने तद्द्विगुणम्।**

प्रन्ह्रियतेऽनेनेति प्रहारोऽश्मदण्डादिः, षट्पञ्चाशत् षडधिकपञ्चाशत्, इदं चोत्तमवर्णेनाधमवर्णस्य दण्डोद्यमने बोद्धव्यम्। *विर. २६३

## कौटिलीयमर्थशास्त्रम्

दण्डपारुष्यम्

**[२]दण्डपारुष्यम्। दण्डपारुष्यं स्पर्शनमवगूर्णं प्रहतमिति।**

**नाभेरधःकायं हस्तपङ्कभस्मपांसुभिरिति स्पृशतस्त्रिपणो दण्डः। तैरेवामेध्यैः पादष्ठीविकाभ्यां च षट्पणः। छर्दिमूत्रपुरीषादिभिर्द्वादशपणः। नाभेरुपरि द्विगुणाः। शिरसि चतुर्गुणाः समेषु।**

**विशिष्टेषु द्विगुणाः। हीनेषु अर्धदण्डाः। परस्त्रीषु द्विगुणाः। प्रमादमदमोहादिभिरर्धदण्डाः।**

**पादवस्त्रहस्तकेशावलम्बनेषु षट्पणोत्तरा दण्डाः। पीडनावेष्टनाञ्जनप्रकर्षणाध्यासनेषु पूर्वः साहसदण्डः। पातयित्वाऽपक्रमतोऽर्धदण्डाः।**

---

* दवि. विरवत्।

तूत्तम (तूत्तमं) ध्यमम्+(साहसम्); **रत्न.** १२३ फलोप (फल) ध्यमम् (ध्यमसाहसम्); **विचि.** १२३ भोग (ग) द्येकम्+ (कार्षापणम्); **दवि.** २३० (फलोपगद्रुमच्छेदी तूत्तमसाहसम्) एतावदेव : ३२४ विरवत्; **मच.** ८।२८५ च्छेदी तू (च्छेत्ता तू) द्येकम्+(पणम्) (सर्वे... ...त्तिम्०); **व्यप्र.** ३७६ पुष्पो... ...मम् (पुष्पोपभोगच्छेदी मध्यमसाहसम्) सर्वे च (सर्वे); **व्यउ.** ११६ द्येकम् (चर्धकम्) शेषं व्यप्रवत्; **विता.** ७४५ भोग (भोग्य) पुष्पोपभोगद्रुम (पुष्पोपभोग्य) सर्वे च (सर्वे); **सेतु.** २९४ तू (उ) सर्वे च (सर्वे); **समु.** १६३ पुष्पो... ...मम् (पुष्पोपभोगच्छेदी मध्यमसाहसम्).

(१) **व्यक.** १०५ षट्... ...णम् (षट्कं च संनिपाते तु द्विमाषकः); **विर.** २६३; **दवि.** २५१; **सेतु.** २१७ तद्द्वि (द्वि).

(२) **कौ.** ३।१९.

शूद्रो येनाङ्गेन ब्राह्मणमभिहन्यात् तदस्य छेदयेत्। अवगूर्णे निष्क्रयः, स्पर्शेऽर्धदण्डः। तेन चण्डालाशुचयो व्याख्याताः।

दण्डपारुष्यमिति सूत्रम्। दण्डग्रहणं हस्तादेरप्युपलक्षणम्। दण्डहस्तादिभिः प्रहरणमिति सूत्रार्थः। तस्य त्रीन् प्रकारानाह— दण्डपारुष्यमिति। स्पर्शनं केवलं परामर्शनं, अवगूर्णं उद्यमनं, प्रहतं ताडनम्।

नाभेरित्यादि। तस्य, अधःकायं हस्तपङ्कभस्मपांसुभिः तत्प्रकारैश्च, स्पृशतः त्रिपणो दण्डः। तैरेवामेध्यैरिति। हस्तादिभिरेवाशुद्धैः, स्पृशतः, पादष्ठीविकाभ्यां च पादेन मुखकफादिनिरसनेन च, स्पृशतः, षट्पणः। छर्दीत्यादि स्पष्टम्।

समेषु दण्डमुक्त्वा उत्कृष्टादिष्वाह— विशिष्टेष्वित्यादि।

पादेत्यादि। पादादीनां ग्रहणेषु, षट्पणोत्तराः यथोत्तरं षट्पणाधिकाः पादग्रहणे षट् वस्त्रग्रहणे द्वादश हस्तग्रहणेऽष्टादश केशग्रहणे चतुर्विंशतिरिति रीत्या दण्डाः।

पीडनावेष्टनाञ्जनप्रकर्षणाध्यासनेष्वित्यादि। अवमर्दने परिवेष्टने कज्जलादिलेपने भूप्रकर्षणे देहोपर्यारुह्योपवेशने च, पूर्वः साहसदण्डः। पातयित्वाऽपक्रमतः भूमौ निपात्यापक्रमणाद्, अर्धदण्डः अर्धप्रथमसाहसदण्डः।

शूद्र इत्यादि स्पष्टम्। अवगूर्ण इति। हस्ताद्यङ्गोद्यमने, निष्क्रयः एकाङ्गवधनिष्क्रयः कण्टकशोधने वक्ष्यमाणो दण्डः। स्पर्शे उद्यतहस्तादिना स्पर्शनमात्रे, अर्धदण्डः अर्धनिष्क्रयः। तेन उक्तविधिना, चण्डालाशुचयः चण्डालप्रभृतयोऽशुचयः अर्थाद् ब्राह्मणाभिहननं स्वाङ्गेन कुर्वाणाः, व्याख्याताः विहितदण्डा वेदितव्याः। अनया रीत्या तेषामपि दण्डा यथोचितमूह्या इत्यर्थः। कौ.

हस्तेनावगूर्णे त्रिपणावरो द्वादशपणपरो दण्डः। पादेन द्विगुणः। दुःखोत्पादनेन द्रव्येण पूर्वः साहसदण्डः। प्राणाबाधिकेन मध्यमः।

काष्ठलोष्टपाषाणलोहदण्डरज्जुद्रव्याणामन्यतमेन दुःखमशोणितमुत्पादयतश्चतुर्विंशतिपणो दण्डः। शोणितोत्पादने द्विगुणः अन्यत्र दुष्टशोणितात्।

मृतकल्पमशोणितं घ्नतो हस्तपादपारञ्चिकं वा कुर्वतः पूर्वः साहसदण्डः। पाणिपाददन्तभङ्गे कर्णनासाच्छेदने व्रणविदारणे च अन्यत्र दुष्टव्रणेभ्यः।

सक्थिग्रीवाभञ्जने नेत्रभेदने वा वाक्यचेष्टाभोजनोपरोधेषु च मध्यमः साहसदण्डः। समुत्थानव्ययश्च। विपत्तौ कण्टकशोधनाय नीयेत।

महाजनस्यैकं घ्नतः प्रत्येकं द्विगुणो दण्डः।

अवगूर्णविधिमाह— हस्तेनेत्यादि। करेण अवगूर्णे उद्यमने, त्रिपणावरो द्वादशपणपरो दण्डः। पादेनावगूर्णे, द्विगुणः चतुर्विंशतिपणः। दुःखोत्पादकेन द्रव्येण कण्टकादिना, अवगूर्णे, पूर्वः साहसदण्डः। प्राणाबाधिकेन प्राणबाधाकरेण सर्पादिना, अवगूर्णे, मध्यमः साहसः।

काष्ठेत्यादि। काष्ठादीनां षण्णामन्यतमेन, दुःखं अशोणितं अरक्तं, उत्पादयतः, चतुर्विंशतिपणो दण्डः। शोणितोत्पादने, द्विगुणः अष्टाचत्वारिंशत्पणः। अन्यत्र दुष्टशोणिताद् दुष्टशोणितातिरिक्ते विषये, कुष्ठादिदुष्टशोणितोत्पादने तु न द्विगुणः, किन्तु अर्धमौचित्यात्।

मृतकल्पमिति। मृततुल्यत्वं यथा भवेत्तथा, अशोणितं अरक्तं, घ्नतः, हस्तपादपराञ्चिकां हस्तस्य पादस्य वा पराञ्चिकां पराञ्चनं अन्यथाभावं संधिविघटनमिति यावत्। परोपसृष्टादञ्चेर्धोत्वर्थनिर्देशे ण्वुल्। पारञ्चिकमिति पाठे त्वर्थव्युत्पत्ती चिन्त्ये। तां वा कुर्वतः, पूर्वः साहसदण्डः। पाणिपादेत्यादि। पाण्यादिभङ्गे, कर्णनासाच्छेदने, दुष्टव्रणव्यतिरेकेण व्रणानामुद्भेदने च, पूर्वः साहसदण्ड इति वर्तते।

सक्थीत्यादि। ऊरुकण्ठभङ्गे नेत्रभेदने वा वचनसंचरणाभ्यवहरणशक्तिप्रतिबन्धेषु च मध्यमः साहसदण्डः। समुत्थानव्ययश्च यथावत्कार्यक्रियापाटवं समुत्थानं तत्प्रत्यापत्त्यर्थो व्ययश्च, अपराधिना देयः। विपत्ताविति। मरणे, कण्टकशोधनाय कण्टकशोधनोक्तविधानाय, नीयेत।

(१) कौ. ३।१९.

महाजनस्येति । जनसमूहस्य, एकं जनं, घ्नतः, प्रत्येकं द्विगुणो दण्डः एकस्यैकं घ्नतो यो दण्डस्तद्द्विगुणो दण्डः । कौ.

**पर्युषितः कलहोऽनुप्रवेशो वा नाभियोज्य इत्याचार्याः ।**

**नास्त्यपकारिणो मोक्ष इति कौटल्यः ।**

**कलहे पूर्वागतो जयति, अक्षममाणो हि प्रधावति । इत्याचार्याः । नेति कौटल्यः । पूर्वं पश्चाद् वागतस्य साक्षिणः प्रमाणम् । असाक्षिके घातः कलहोपलिङ्गनं वा ।**

**घाताभियोगमप्रतिब्रुवतस्तदहरेव पश्चात्कारः ।**

**कलहे द्रव्यमपहरतो दशपणो दण्डः ।**

**क्षुद्रकद्रव्यहिंसायां तच्च तावच्च दण्डः ।**

**स्थूलकद्रव्यहिंसायां तच्च द्विगुणश्च दण्डः ।**

**वस्त्राभरणहिरण्यसुवर्णभाण्डहिंसायां तच्च पूर्वश्च साहसदण्डः ।**

**परकुड्यमभिघातेन क्षोभयतस्त्रिपणो दण्डः । छेदनभेदने षट्पणः । पातनभञ्जने द्वादशपणः प्रतीकारश्च ।**

**दुःखोत्पादनं द्रव्यमन्यवेश्मनि प्रक्षिपतो द्वादशपणो दण्डः । प्राणाबाधिकं पूर्वः साहसदण्डः ।**

**क्षुद्रपशूनां काष्ठादिभिर्दुःखोत्पादने पणो द्विपणो वा दण्डः । शोणितोत्पादने द्विगुणः ।**

**महापशूनामेतेष्वेव स्थानेषु द्विगुणो दण्डः, समुत्थानव्ययश्च ।**

**पुरोपवनवनस्पतीनां पुष्पफलच्छायावतां प्ररोहच्छेदने षट्पणः । क्षुद्रशाखाच्छेदने द्वादशपणः । पीनशाखाच्छेदने चतुर्विंशतिपणः । स्कन्धवधे पूर्वः साहसदण्डः । समुच्छित्तौ मध्यमः ।**

**पुष्पफलच्छायावद्गुल्मलतास्वर्धदण्डः । पुण्यस्थानतपोवनश्मशानद्रुमेषु च ।**

**सीमवृक्षेषु चैत्येषु द्रुमेष्वालक्षितेषु च ।**
**त एव द्विगुणा दण्डाः कार्या राजवनेषु च ॥**

पर्युषित इति । चिरातीतः, कलहः, अनुप्रवेशो वा हृतद्रव्यायत्तीकरणं वा, नाभियोज्यः अभियोक्तुमर्हो न भवति । इत्याचार्याः ।

कलहानुप्रवेशलक्षणापराधकारिणः अपराधः पर्युषित इत्येतावता मोक्षणं न भवति, किन्तु चिरादपि सोऽभियोज्य एवेत्येवं स्वमतमाह—नास्त्यपकारिण इत्यादि ।

कलह इति । कलहे, पूर्वागतः पूर्वावेदकः, जयति । कुतः हि यतः, अक्षममाणः प्रधावति परकृतमाबाधमसहमानो धर्मस्थायावेदयितुं त्वरितः पूर्वं गच्छति, अर्थात् पश्चादागतः पराजयते । इत्याचार्याः ।

नेति कौटल्य इति । पूर्वागमनं पश्चादागमनं वा यत्किञ्चित्करं, किं तर्हि तत्त्वनिर्णयसाधनमित्याकाङ्क्षायामाह—पूर्वं पश्चाद्वेत्यादि । असाक्षिके घातः कलहोपलिङ्गनं वेति । साक्ष्यभावे घातदर्शनेन तत्त्वनिर्णयः घातादर्शने लिङ्गैः कलहस्याभ्यूहनम् ।

घाताभियोगमिति । घातविषयमभियोगं, तदहरेव तस्मिन्नेव दिने, अप्रतिब्रुवतः, पश्चात्कारः पराजयः ।

कलह इत्यादि । कलहायमानयोर्द्वयोर्द्रव्यमपहरतोऽन्यस्य दशपणो दण्डः । अपहृतद्रव्यप्रत्यानयनं तु सिद्धमेव । इह 'द्विशतपणो दण्डः' इति तु भाषानुसारेण पाठोऽनुमेयः ।

क्षुद्रकेत्यादि । क्षुद्रकद्रव्यहिंसायां क्षुद्रकद्रव्याणां पुष्पफलादीनां हिंसायां कलहकारिभिरुपहनने, तच्च हिंसितं क्षुद्रद्रव्यं च स्वामिने देयमिति शेषः । तावच्च तत्परिमाणं द्रव्यं च दण्डो भवति ।

स्थूलकेत्यादि । कालायसादिस्थूलकद्रव्यहिंसायां, तच्च, द्विगुणः तद्द्रव्यद्विगुणो दण्डश्च ।

वस्त्राभरणेत्यादि शोणितोत्पादने द्विगुण इत्येतदन्तं सुबोधम् । 'पातनभञ्जने द्वादशपणः' इति क्वचिन्न पठ्यते ।

महापशूनामिति । गवादीनां, एतेष्वेव स्थानेषु दुःखोत्पादनादिषु क्षुद्रपशूक्तेषु विषयेषु, द्विगुणो दण्डः । समुत्थानव्ययश्च तत्स्वस्थीकरणार्थो व्ययश्च देयः ।

पुरोपवनेत्यादि । प्ररोहच्छेदने पल्लवच्छेदने, स्कन्धवधे प्रधाणभञ्जने । समुच्छित्तौ उन्मूलने । शेषं स्पष्टम् ।

पुष्पफलच्छायावद्गुल्मलतास्विति । पुष्पादिमत्सु

(१) कौ. ३।१९.

स्तम्बेषु वल्लीषु च विषये प्ररोहच्छेदनादौ, अर्धद्रेण्डः वनस्पत्युक्तदण्डस्यार्धम् । पुण्यस्थानतपोवनश्मशानद्रुमेषु च, अर्धदण्ड इति संबध्यते ।

सीमवृक्षेष्वित्यादिरध्यायान्तश्लोकः सुबोधः । कौ.

## मनुः

शूद्रकृतेषु त्रैवर्णिकविषयकदण्डपारुष्येषु दण्डविधिः ।
आर्यसाम्यप्रेप्सुशूद्रस्य दण्डः ।

**एष दण्डविधिः प्रोक्तो वाक्पारुष्यस्य तत्त्वतः ।**
**अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि दण्डपारुष्यनिर्णयम् ॥**

(१) दण्डपारुष्यं दण्डेन दुःखोत्पादनं, यथा कण्टकादेः पुरुषस्य[1] स्पर्शः पीडाकर एवं पीडाकरत्वसामान्यात् पारुष्यशब्दप्रयोगः । तत्र निर्णयो दण्डविशेषनिर्णयः । पूर्वप्रकरणोपसंहारापरोपन्यासार्थः[2] श्लोकः । मेधा.

(२) एषोऽनन्तरो वाक्संबन्धिनः पारुष्यस्य दण्डप्रकारो यः प्रागुक्तोऽस्मादनन्तरं हस्तकाष्ठशस्त्रादिसंबन्धिनः पारुष्यस्य दुःखोत्पादनहेतोः ताडनहिंसनादेर्दण्डनिर्णयं वक्ष्यामि । *गोरा.

(३) तत्त्वतो धर्मतः । मवि.

(४) दण्डपारुष्यस्य प्रतिव्यक्ति दण्डनिर्णयं अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामीत्यर्थः । दण्डपारुष्यव्यक्तयस्तु दिङ्मात्रतः परिशिष्टकारेण प्रदर्शिताः— 'दुःखं रक्तं व्रणं भङ्गं छेदनं भेदनं तथा । कुर्याद्यः प्राणिनां तद्धि दण्डपारुष्यमुच्यते ॥' स्मृच. ३२७

**[2]येन केनचिदङ्गेन हिंस्याच्छ्रेयांसमन्त्यजः ।**
**छेत्तव्यं तत्तदेवास्य तन्मनोरनुशासनम् ॥**

(१) अन्त्यजः शूद्रश्चण्डालपर्यन्तः । श्रेष्ठः त्रैवर्णिकः । तं चेद्धिंस्यादङ्गेन केनचित् साक्षाद्दण्डखड्गादिप्रहरणव्यवधानेन वा तदङ्गमस्य छेत्तव्यम् । हिंसा च क्रोधेन प्रहरणं, ताडनेच्छया हस्ताद्युद्यम्य वेगेन निपातनं न मारणमेव । तत्तदिति वीप्सा अङ्गमिति छेत्तव्यमिति चैकत्वविवक्षा मा विज्ञायीति, तेनानेकेनाङ्गेन प्रहरणेऽनेकस्यैव छेदः । अनुशासनमुपदेशः[2], मनुकृतैषा मर्यादा । अनुशासनग्रहणं कारुणिकस्य राज्ञः प्रवृत्त्यर्थम्[3] । मेधा.

(२) अन्त्यजः शूद्रो येन केनचिद्धस्तपादादिना वा न साक्षाद्दण्डादिना व्यवहितेन वा द्विजमेव प्रहरेत्तत्तदेवाङ्गमस्य छेदनीयमित्येवं मनुसंबन्धी उपदेशः । मनुग्रहणमादरार्थं, अस्यैवोत्तरप्रपञ्चः । *गोरा.

(३) द्विजातिमात्रस्यापराधे शूद्रस्याङ्गच्छेदविधानाद्वैश्यस्यापि क्षत्रियापकारिणोऽयमेव दण्डस्तुल्यन्यायत्वात् । ×मिता. २।२१५

(४) अत्र च श्रेयांसमिति वचनात् क्षत्रियवैश्यपीडाकरमपि शूद्राङ्गं छेद्यम् । अप. २।२१५

(५) अथ दण्डपारुष्यमाह— येन केनचिदिति । श्रेयांसं स्वस्य पूर्ववर्णम् । अन्त्यजस्तस्मादपरवर्णः । नन्द.

(६) अन्त्यजः शूद्रः श्रेष्ठं विप्रं येन केनचित् अङ्गेन हिंस्यात् करेण पादेन वा तत्तदेव अङ्गमस्य शूद्रस्य छेत्तव्यं, तन्मनोरनुशासनम् । भाच.

**पाणिमुद्यम्य दण्डं वा पाणिच्छेदनमर्हति ।**
**पादेन प्रहरन् कोपात् पादच्छेदनमर्हति ॥**

* ममु., मच. गोरावत् ।

(१) मस्मृ. ८।२७८; स्मृच. ३२७; विर. २५९; सवि. ४८० तत्त्व ( सत्त्व ); सेतु. २१४; समु. १६१.

(२) मस्मृ. ८।२७९ च्छ्रेयांस ( चेच्छ्रेष्ठ ) [ च्छ्रेयांसमन्त्यजः ( चेदवकृष्टजः ) Noted by Jha ]; मेधा. ८।२९ उत्त.; मिता. २।२१५; अप. २।२१५; व्यक. १०५; गौमि. १२।१ (येनाङ्गेनावरो वर्णो ब्राह्मणस्यापराध्नुयात् । तदङ्गं तस्य छेत्तव्यं तन्मनोरनुशासनम् ॥ ); उ. २।२७।१४ गौमिवत्; स्मृच. ३२८; विर. २६८; पमा. ४१७ च्छ्रेयांस ( चेच्छ्रेष्ठ ); रत्न. १२२; विचि. ११७; स्मृचि. २३ पमावत्; दवि. २५२; नृप्र. २७३; सवि. ४८१ भृगुः; व्यप्र. ३७४; व्यउ. ११४; व्यम. १००; विता. ७३७; सेतु. २१७,२२०; समु. १६२.

* ममु., स्मृच., विर., पमा., दवि., मच., व्यप्र. गोरावत् ।

× सवि. मितावत् ।

(१) मस्मृ. ८।२८०; मिता. २।२१५; अप. २।२१५; व्यक. १०५ हरन् ( हरेत ); स्मृच. ३२८; विर. २६८; पमा. ४१८; रत्न. १२२ पू.; विचि. ११४,

१ पुरुष. २ हारोपन्या.

१ र्शापितेना. २ पदेशोपनुक्त. ३ त्त्यर्थः.

(१) उद्यम्य उत्क्षिप्यैव कोपात्ताडनेच्छोस्तदङ्ग(?)-मनिपातयतोऽप्यस्य पाणिश्छेत्तव्यः । दण्डग्रहणं समानपीडाकरस्य हिंसासाधनस्योपलक्षणार्थम् । तेन मृदुशिफादावन्यो दण्डः । पादेन प्रहरन्निति । अत्राप्युद्यम्येत्यपेक्षितव्यम् । अवगुरतोऽप्येष एव । मेधा.

(२) हस्तं दण्डं वाऽवगूर्य हस्तच्छेदनयोग्यो भवति। पादेन क्रोधेन प्रहरन् पादच्छेदनार्हो भवति। +गोरा.

(३) उद्यममात्रे त्वाह— पाणिमिति । प्रहरन् प्रहारार्थमुद्यमं कुर्वन् प्रहरंश्च । मवि.

(४) येनकेनचिदङ्गेनेति सामान्योक्तिं स्वयमेव मनुर्विशेषनिष्ठां कर्तुमाह— पाणिमिति । पाणिं दण्डं वोद्यम्येत्यत्र प्रहरन्नित्यनुषज्यते । स्मृच. ३२८-९

(५) येनेत्यस्य विवरणं पाणिमिति पञ्चभिः । दण्डः लगुडादिः । अस्थिभेदनपर्यन्तं कोपादित्यनुवर्तते, तदभावे वाग्दण्डादिः । मच.

(६) उक्तमर्थं चतुर्भिः श्लोकैः प्रपञ्चयति । पाणिमुद्यम्येति । पादेन प्रहरन् पादप्रहारहेतोः पादमुद्यम्येत्यर्थः । नन्द.

(७) पाणिं हस्तं वा उद्यम्य हिंस्यात्तर्हि पाणिच्छेदनं अर्हति । भाच.

**सहासनमभिप्रेप्सुरुत्कृष्टस्यापकृष्टजः ।**
**कट्यां कृताङ्को निर्वास्यः स्फिचं वाऽस्यावकर्तयेत् ॥**

+ ममु. गोरावत् ।

११७; स्मृचि. २३; दवि. २५५; सवि. ४८२ उत्तरार्धं तु यमस्य; वीमि. २।२२९; व्यप्र. ३७४; व्यउ. ११४ पू.; व्यम. १०० पू.; विता. ७३७ पू.; सेतु. २१७ वा (तु); समु. १६२; विव्य. ५०.

(१) मस्मृ. ८।२८१; अप. २।२१५ पकृ (वकृ) स्फिचं (स्फिचौ) स्याव (प्यस्य); व्यक. १०५ पकृ (वकृ) मनुनारदौ; गोमि. १२।५ कृष्टजः (कृष्टकः) चं वाऽस्याव (जौ वाऽप्यस्य); विर. २६८ स्याव (स्य प्र) मनुनारदौ; पमा. ४१९; विचि. ११४ : ११७-८ पकृ (वकृ); व्यनि. ४९३ स्याव कर्त (स्य निकृन्त) मनुनारदौ; स्मृचि. २३ पकृ (वकृ) स्फिचं (स्फिजं); दवि. ३२१ वाऽस्या.....येत् (त्वास्यावकर्पयेत्) धर्मकोषे तु 'मेढ्रं वाऽप्यस्य कर्तयेदि'ति पठितं इत्युक्तं, मनुनारदौ; वीमि. २।२२९ पकृ (वकृ); समु.

१ यतोऽस्य.

(१) उत्कृष्टो ब्राह्मणो जातितो दौःशील्यादवकृष्टोऽपि; इतरे वर्णा औत्तराधर्येण परस्परापेक्षयोत्कृष्टाश्चावकृष्टाश्च, तत्रेहावकृष्टज इति जनिना जन्मावकर्ष उपात्तः, तत्संनिधानादुत्कर्षोऽपि जन्मनैव । जन्मना च निरपेक्षोत्कर्षो ब्राह्मणस्य नापकर्षः । तेन शूद्रस्यायं ब्राह्मणेन सहैकमासनमारूढवतो दण्डः । कटिः श्रोणी, तत्र कृतचिह्नः । अङ्कविधौ न सुधाकुङ्कुमादिना चिह्नकरणमात्रमपि । अयं तु दण्डख्यापनार्थम् । अतिक्रमाद्बिभियुरिति । तेन देशान्तरे यदनपायि तच्चिह्नमायसो लेखनादुपदिश्यते । तथा च वक्ष्यति 'उद्वेजनकरैर्दण्डैश्चिह्नयित्वे'ति (मस्मृ. ८।३५२) । राष्ट्राच्च निष्कास्यः । स्फिक् श्रोण्येकदेशः । सव्यो दक्षिणश्च । तं चावकर्तयेत् चिह्नेन । विकल्पविधानात्तावन्मात्रच्छेदो न सर्वस्य स्फिजः । अभिप्रेप्सुरिति च नेच्छामात्रेण । किं तर्हि । प्राप्तवत एव । इच्छाया शक्यापह्नवत्वाद्दण्डस्य च महत्त्वात् । * मेधा.

(२) ब्राह्मणेन सहैकस्मिन्नासने निकृष्टजन्मा शूद्र उपविशन् कट्यां कृततप्तायःस्थिरचिह्नो देशान्निर्वासनीयः । स्फिजाख्यं वा श्रोण्यधः कर्तनं कुर्यात् । ×गोरा.

(३) उत्कृष्टस्योत्तमजातेः । अपकृष्टः क्षत्रियादिः । कट्यामिति क्षत्रविशोः । शूद्रस्य च तदुभयस्य सहासनेच्छायाम् । स्फिचमिति शूद्रस्य ब्राह्मणसहासनेच्छायाम् । मवि.

(४) ब्राह्मणेन सहासनोपविष्टः शूद्रः कट्यां तप्तलोहकृतचिह्नोऽपदेशो निर्वासनीयः, स्फिचं वाऽस्य यथा न म्रियेत तथा छेदयेत् । +ममु.

(५) गुणदोषवशाद्विकल्पः । नन्द.

**अवनिष्ठीवतो दर्पाद्द्वावोष्ठौ छेदयेन्नृपः ।**
**अवमूत्रयतो मेढ्रमवशर्धयतो गुदम् ॥**

* विर. मेधावत् । दण्डविवेके मन्वर्थविवृतिविवादरत्नाकरयोरुद्धारः ।

× भाच. गोरावत् । + मच. ममुवत् ।

१६२-३ स्फिचं वाऽस्याव (स्फिजौ वास्य नि); विव्य. ५० पकृ (वकृ).

(१) मस्मृ. ८।२८२ [मेढ्रं (शिश्नं) Noted by Jha]; अपु. २२७।३० अवमू (अपमू) मवशर्ध (मपशब्द); मिता. २।२१५; अप. २।२१५; व्यक. १०५

(१) मूत्रेणावसिञ्चतोऽभिमुखं वा तदवमानार्थं क्षिपतोऽसत्यपि संस्पर्शेऽवमानयतें मूत्रेणेति, निष्कर्तव्यः, समानफलत्वाद्रेतस्यापि दण्डोऽयम्। निष्ठीवनं नासिकास्यश्रावः, तस्य घ्राणेन क्षेपे नासापुटच्छेदः 'येनाङ्गेन' इत्युक्तत्वात्। शर्धनं कुत्सितो गुर्दशब्दः। दर्पान्न प्रमादात्। मेधा.

(२) निष्ठीवनेन श्लेष्मणा अमर्षेण श्लेष्माणं वमयन् शूद्रस्य द्वावप्योष्ठौ छेदयेत्, एवं मूत्रेणावमानयतो लिङ्गं, अधमाङ्गध्वनिना अवमानयतः पायुं छेदयेत्। गोरा.

(३) अवनिष्ठीवतः उत्तमस्योपरि निष्ठीवतः। एवमवमूत्रणमुपरि मूत्रणम्। अवशर्धनं कुत्सितगुदशब्दकरणं तदुपरि। *मवि.

(४) कोपाद्दर्पादिति च वदन् मोहप्रमादादिना प्रहारावनिष्ठीवनादिकं कुर्वन् न दण्ड्य इति दर्शयति। स्मृच. ३२९

(५) दर्पेण श्लेष्मणा ब्राह्मणानपमानयतः शूद्रस्य राजा द्वावोष्ठौ छेदयेत्। मूत्रप्रक्षेपेणापमानयतो मेढ्रम्। शर्धनं कुत्सितो गुदशब्दस्तेनावमानयतो दर्पान्न प्रमादाद्गुदं छेदयेत्। ममु.

**केशेषु गृह्णतो हस्तौ छेदयेदविचारयन्।**
**पादयोर्दाढिकायां च ग्रीवायां वृषणेषु च ॥**

(१) दर्पादित्यनुवर्तते। परिभवबुद्ध्या केशेषु ब्राह्मणं गृह्णतः शूद्रस्य हस्तौ छेदयेत्। द्विवचनमेकेनापि द्वाभ्यां तुल्यपीडाकरणे उभयच्छेदो नैकस्यैव। दाढिका श्मश्रु। अन्यदपि यदङ्गं गृह्यमाणं ग्रीवादितुल्यपीडाकरं तत्र सर्वथाऽप्ययमेव दण्डः। अविचारयन् पीडा कियत्यस्य गृहीतस्य संजाता महती स्वल्पा वेति। एतदनुबन्धश्लोकप्राप्तं विचारणं निवार्यते। ग्रहणमात्रे दण्डः। *मेधा.

(२) केशपादश्मश्रुग्रीवावृषणानां चान्यतमस्मात् ब्राह्मणं शूद्रस्य हस्ताभ्यामाकर्षयतो हस्तौ अविलम्बमानो राजा छेदयेत्। गोरा.

(३) वृषणेषु वृषणादिष्वित्यर्थः। नान्यथा बहुवचनोपपत्तिः। अप. २।२१५

(४) केशेष्वेकेन हस्तेन गृह्णतोऽप्युभयहस्तच्छेदनविधिः द्विवचनात् गम्यते। दाढिका पुरुषस्य प्रधानं लिङ्गमुच्यते। स्मृच. ३२९

(५) दर्पादित्यनुवर्तते। अहङ्कारेण केशेषु ब्राह्मणं गृह्णतः शूद्रस्य पीडाऽस्य जाता न जाता वेत्यविचारयन् हस्तौ छेदयेत्। पादयोः श्मश्रुणि च ग्रीवायां वृषणे च हिंसार्थं गृह्णतो हस्तद्वयच्छेदमेव कुर्यात्। +ममु.

(६) पादयोरित्यादिषु गृह्णत इत्येव। नन्द.

सवर्णविषयकदण्डपारुष्ये दण्डविधिः

**त्वग्भेदकः शतं दण्ड्यो लोहितस्य च दर्शकः।**
**मांसभेत्ता तु षण्निष्कान् प्रवास्यस्त्वस्थिभेदकः ॥**

---

* विर. मविवत्।

मनुनारदौ; **स्मृच.** ३२८; **विर.** २६८ मनुनारदौ; **पमा.** ४१८; **विचि.** ११४, ११८ निष्ठीवतो (ष्ठीवयतो); **व्यनि.** ४९३ मनुनारदौ; **स्मृचि.** २३; **दवि.** २५३ शर्ध (शब्द) मनुनारदौ; **सवि.** ४८२ शर्ध (मेह) यमः; **वीमि.** २।२२९ विचिवत्; **व्यप्र.** ३७४ मनुनारदौ; **व्यउ.** ११५ ष्ठीवतो (ष्ठीकृतो) मनुनारदौ; **विता.** ७३७; **सेतु.** २१७ शर्ध (शब्द); **समु.** १६२ शर्ध (शर्द); **विव्य.** ५० मूत्र (मेह) शेषं विचिवत्.

(१) **मस्मृ.** ८।२८३ [हस्तौ (हस्तं) दाढिकायां (नासिकायां) Noted by Jha]; **अप.** २।२१५ यां च (यां तु) षु च (षु तु); **व्यक.** १०५ मनुनारदौ; **स्मृच.** ३२९ दविचा (दवधा); **विर.** २६८ मनुनारदौ; **पमा.** ४१९; **विचि.** ११४, ११८; **व्यनि.** ४९३ दाढिकायां (नासिकायां) षु च (तथा) मनुनारदौ; **स्मृचि.** २३; **दवि.** २५४ मनुनारदौ; **सवि.** ४८२ पू., यमः; **वीमि.** २।२२९; **व्यप्र.** ३७४ मनुनारदौ; **व्यउ.** ११५ मनुनारदौ; **सेतु.** २१७; **समु.** १६२; **विव्य.** ५०.

* मवि. मेधावद्भावः। + मच. ममुवत्।

(१) **मस्मृ.** ८।२८४ [भेत्ता (भेदी, भेदे) Noted by Jha]; **मिता.** २।२१८ तु (च); **अप.** २।२१८; **व्यक.** १०५; **स्मृच.** ३२८; **विर.** २६४ च दर्शकः (प्रवर्तकः); **पमा.** ४१५ भेत्ता तु षण्नि (च्छेदे शतं नि); **रत्न.** १२२; **विचि.** ११५; **व्यनि.** ४९१; **स्मृचि.** २३; **दवि.** २५६ च द (प्रद); **सवि.** ४८० भेद (च्छेद)

१ कर उभ.

(१) द्विजातीनामयं परस्परापराधे, शूद्रस्य तु शूद्रापराधे मन्यते। यः केवलामेव त्वचं भिन्द्यात् विदारयेत् न लोहितं दर्शयेत् तस्य शतं दण्डः। तावदेव लोहितदर्शने। यद्यपि त्वग्भेदमन्तरेण न लोहितं दृश्यते तथाप्यधिकापराधादधिकदण्डे प्राप्ते शतवचनं नियमार्थम्। अन्ये तु कर्णनासिकादेरपि स्रवति शोणितं बहिस्त्वग्भेदेऽपि तदर्थमुच्यत इत्याहुस्तदयुक्तम्। अन्तर्भेदे हि महत्त्वात् महादण्डो युक्तस्तस्माद्यत्रेषत्स्रवति शोणितं तत्र शतं शिरोभेदे तु मांसवत्। निष्कशब्दः सुवर्णपरिमाणवाचीत्युक्तम्। प्रवास्योऽस्थ्नां भेदकस्तत्प्रयोजक इति। घञन्तेन समासं कृत्वा तं करोतीति पठितव्यः, अस्थिभेदकृदिति। प्रवासनमर्थशास्त्रप्रवृत्त्या मारणं निर्वासनं वा। दण्डविधौ ह्यर्थशास्त्रश्रवणं दृश्यते। तथाहि दशबन्धमिति बार्हस्पत्य औशनस्ये च प्रयोगः। निर्वासनं ब्राह्मणस्य नान्येषाम्। मेधा.

(२) चर्ममात्रभेदकृत् समानजातिः, न तु शूद्रो ब्राह्मणस्य, दण्डलाघवात् पणशतं दण्डनीयः। तथा रुधिरोत्पादी शतमेव दण्ड्यः। मांसभेदकृत् षण्निष्कान् दण्ड्यः। अस्थिभेदी देशान्निर्वास्यः। *गोरा.

(३) निबन्धातिशये सति लोहितदर्शकस्य शतमन्यथा चतुःषष्टिः। अप. २।२१८

(४) त्वग्भेदक इत्यादि समावकृष्टविषयापराधकरणे। शतं पणान्। षण्निष्कान् दीनारान्। प्रवास्यो देशान्निर्वास्यो गृहीतसर्वस्वः। अस्थिभेदकोऽस्थिभङ्गप्रहारकृत्। मवि.

(५) मांसभेत्ता व्रणकर्ता। स्मृच. ३२८

(६) अत्र 'सह शोणितेने'त्यनेन विष्णुना शोणितेन चतुःषष्टिपणदण्डाभिधानादधिकत्वग्भेदादिप्रयुक्तशोणिते इदं बोद्धव्यम्। विर. २६४

(७) निष्कोऽत्र राजतो विशेषणाभावात् आनुरूप्याच्च। +दवि. २५६

वनस्पतिच्छेदने दण्डविधिः

**वनस्पतीनां सर्वेषामुपभोगो यथायथा।**
**तथातथा दमः कार्यो हिंसायामिति धारणा॥**

(१) वनस्पतिग्रहणं सर्वस्थावरप्रदर्शनार्थम्। फलपुष्पपत्रच्छायादिना महोपभोग्यस्य वृक्षस्य हिंसायां विनाशे[1] दमः दण्ड उत्तमसाहसः। स मध्यमस्य मध्यमो निकृष्टस्य प्रथमस्तथा स्थानविशेषो द्रष्टव्यः, पत्रच्छेदः फलच्छेदः शाखाच्छेद इति। फलानामपि विशेषो महार्घता दुष्प्रापता, तथा स्थानविशेषोऽपि द्रष्टव्यः। सीम्नि चतुष्पथे तपोवन इति। ×मेधा.

(२) वनस्पतिवृक्षाणां सर्वेषां येन येन प्रकारेण उपभोगः छायादानात्मकेन निकृष्टः कुसुमदानरूपेण मध्यमः फलदानात्मकेन उत्कृष्टः तदपेक्षया छेदने दण्डः कार्यः। छायामात्रोपभोगिनि वटादौ स्वल्पो दण्डः, पुष्पोपभोगिनि मल्लिकादौ मध्यमः, फलोपभोगिन्याम्रादौ उत्कृष्टः। *गोरा.

(३) नृकायदण्डप्रसङ्गेन स्थावरस्यापि। 'योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः स्थाणुमन्ये नु संयन्ती'ति श्रुतेः, 'तस्मात्पश्यन्ति पादपाः' इति स्मृतेः, तेषां कायाभिमानित्वेन हिंस्यत्वात्तत्कर्तुः प्रथमसाहसादिदण्डो ज्ञेय इत्याह — वनस्पतीनामिति। तथाच विष्णुः— 'फलोपभोगद्रुमच्छेत्ता तूत्तमसाहसं पुष्पोपभोगच्छेदी कार्षापणशतं तृणच्छेद्येकपणम्' इति। छेद्यत्र हिंसकः। धारणा शास्त्रमर्यादा। मच.

---

* मसु., मच., भाच. गोरावत्।

च दर्शकः (तदर्धकः) भेत्ता (च्छेत्ता); वीमि. २।२२० मितावत्; व्यप्र. ३७२; व्यउ. ११३ मितावत्; विता. ७३८ मितावत्; सेतु. २१८; समु. १६२; विव्य. ५० भेत्ता तु (स्य भेत्ता).

\+ शेषव्याख्याने सर्वज्ञनारायणकुल्लूकभट्टयोरुद्धारः।

× विर., दवि., व्यप्र. मेधावत्।

* मवि., मसु., नन्द., भाच. गोरावत्।

(१) मस्मृ. ८।२८५ क., ख., भोगो (भोगं); अप. २।२२९; व्यक. १०८; विर. २८४ कात्यायनः; पमा. ४२५; रत्न. १२३; विचि. १२२; दवि. ३८ षामुपभोगो (षां विनियोगो) कात्यायनः ; २२९ भोगो (योगो) : ३२३ कात्यायनः; सवि. ४८४ भोगो यथायथा (भोगे यथातथम्) मिति धारणा (मविचारणे); व्यप्र. ३७६; व्यउ. ११६; व्यम. १००; विता. ७४४; समु. १६३.

1 नाशमाह दण्ड.

प्राणिपीडने दण्डविधिः

**मनुष्याणां पशूनां च दुःखाय प्रहृते सति ।**
**यथायथा महद्दुःखं दण्डं कुर्यात्तथातथा ॥**

(१) यदुक्तं त्वग्भेदक इति तस्य विशेषोऽयम् । असति मनुष्यग्रहणे प्राणिमात्रहिंसाविषयत्वेऽस्य श्लोकस्य महापशूनां क्षुद्राणां च पशुपक्षिमृगाणां तुल्यदण्डता मा भूदिति तदर्थमिदम् । यथायथा महद्दुःखमिति । स्वल्पे भेदने शोणिते च प्राणिनां महत्त्वादल्पत्वं प्रहारस्य शतादूनोऽपि दण्डः, महति शतादभ्यधिकोऽपि । अन्ये तु महद्ग्रहणं महति दुःखे दण्डवृद्ध्यर्थे, नाल्पेऽपचयार्थे, यथाश्रुतमेव । तत्र दुःखाय प्रहृते दुःखोत्पत्त्यर्थे प्रहारे । प्रमादे तु न वृद्धिः । 'अनुबन्धं परिज्ञाय' इति अस्यैव श्लोकद्वयमुदाहरणं भङ्ग्या व्याख्येयम् । मेधा.

(२) मनुष्याणां पशूनां च पीडोत्पादनार्थे प्रहारे दत्ते सति यथायथा महती पीडा त्वग्भेदादावपि मर्मभेदनादिना भवति तथातथा त्वग्भेदकरो शतं दण्ड्य इत्येवमादितोऽधिकमपि दण्डं कुर्यात् । * गोरा.

(३) दुःखाय न मरणाय । मवि.

(४) मनुष्याणां पशूनां पीडोत्पादनार्थे प्रहारे कृते सति यथायथा पीडाधिक्यं तथातथा दण्डमप्यधिकं कुर्यात् । एवं च मर्मस्थानादौ त्वग्भेदनादिषु कृतेषु 'त्वग्भेदकः शतं दण्ड्यः' इत्युक्तादप्यधिको दण्डो दुःखविशेषापेक्षया कर्तव्यः । ममु.

(५) दुःखाय दुःखोदयमभिसंधाय, तेन प्रमादकृते, बलादिकृते च न दोष इति दर्शितम् । ×विर. २६६

* ममु., मच., नन्द. गोरावत् ।

× दवि. विरवत् ।

(१) **मस्मृ.** ८।२८६ [ महद्दुःखं ( भवेद्दुःखं ) Noted by Jha ]; **व्यक.** १०५ हृते ( हते ); **स्मृच.** ३२८; **विर.** २६६ हृते ( कृते ); **पमा.** ४१७ हृते ( हते ) महद्दुःखं ( भवेद्दुःखं ) कात्यायनः; **विचि.** ११६-७; **व्यनि.** ४९२; **स्मृचि.** २४; **दवि.** २५८ विरवत्; **सवि.** ४८३ (=); **व्यप्र.** ३७३ व्यकवत्, कात्यायनः; **व्यउ.** ११४ कात्यायनः; **सेतु.** २२०; **समु.** १६२ हृते ( सृते ) कात्यायनः.

१ ह्णात् म. २ दस्तु.

**अङ्गावपीडनायां च व्रणशोणितयोस्तथा ।**
**समुत्थानव्ययं दाप्यः सर्वदण्डमथापि वा ॥**

(१) अङ्गानामवपीडना दृढरज्ज्वादिग्रहणसंधिविश्लेषणादिना, तत्र यावता धनेन पथ्यभिषगौषधादिमूल्येन प्रत्यापत्तिमायाति तावदसौ पीडितस्य दाप्यः । एवं प्राणशोणितयोरवपीडनायामिति समस्तमपि योज्यम् । अथवा प्राणशोणितयोः समुत्थानव्ययं दाप्य इति संबन्धः, सामर्थ्यादपचितयोरिति लभ्यते । समुत्थानं प्रकृत्यापत्तिः । प्राणो बलम् । प्रहारेणास्वस्थस्य भोजनादृते कार्श्याद्युत्पत्तौ बलमपचीयते । तत्राङ्गेऽनष्टे प्रत्यागते च यावद्बललाभस्तावत्तदुपयोगे यत्किञ्चिद्घृततैलादि दापनीयः । एवं शोणिताद्युत्पत्तौ तद्दुर्बलीभूतस्य व्याध्यन्तरं वा प्राप्तस्याप्रकृतशरीरावस्थाप्राप्तेः समुत्थानव्ययं दाप्यः । न चेत्तद्गृह्णाति तदा तच्च दण्डं च परिपिण्ड्य सर्वं राज्ञे दद्यात् । मेधा.

(२) अङ्गेनोदरबाह्वादीनां येन वस्त्रादिबन्धनादिना पीडनानि कृतानि, तथा प्राणस्य वायोर्येन निरोधादिना पीडनानि कृतानि, रुधिरस्यापि येन दृढमुष्टिरज्ज्वाद्याकर्षणेन बहिःस्रवणवर्जितमपि पीडनं कृतं, स शरीरस्य प्राग्रूपापत्त्युत्पादकमौषधादिव्ययं तस्य राज्ञा दापनीयः आत्मीयश्च दण्डं, यदाऽसौ समुत्थानव्ययं न गृह्णाति तदा तद्व्ययं दण्डं चोभयमपि दण्डार्थं राज्ञा दापनीयः । गोरा.

(३) अङ्गावपीडनमङ्गभङ्गः । व्रणो मांसभेदः । शोणितं त्वग्भेदेन रक्तोत्पादः । समुत्थानं संरोहणम् । तद्यावता भवति भग्नादीनां तावत् भग्नाङ्गादिभ्यो

(१) **मस्मृ.** ८।२८७ [ समुत्थानव्ययं ( संवर्धनव्ययं ) Noted by Jha ]; **मेधा.** व्रण ( प्राण ); **गोरा.** नायां ( नानां ) व्रण ( घ्राणे ) सर्वं ( शत ); **व्यक.** १०६ व्रण ( प्राण ); **मवि.** प्राणपदं व्रणपदस्थाने क्वचित् पठ्यते; **विर.** २७० व्यकवत्; **व्यनि.** ४९४ नायां च ( ने चास्य ); **स्मृचि.** २४ व्यकवत्; **दवि.** २२० ङ्गाव ( ङ्गानां ) समुत्थानव्ययं ( सर्वस्वं च व्ययं ); **मच.** मेधावत्; **बाल.** २।२२२ ङ्गाव ( ङ्गानां ) व्रण ( प्राण ); **समु.** १६२ स्तथा ( रपि ) सर्वं ( सर्वे ).

१ ग्रहणसंबन्धि. २ दपीडि. ३ नानाभि. ४ द्युपपत्तौ.

दापनीयः। प्राणपदं व्रणपदस्थाने क्वचित्पठ्यते, तत्र प्राणो बलं तस्य समुत्थानं प्रागवस्थाप्राप्तिः। तथा सर्वं दण्डं प्रागुक्तं यथायोग्यं दण्ड्यः। वेति समुच्चये। *मवि.

(४) अङ्गानां करचरणादीनां व्रणशोणितयोश्च पीडनायां सत्यां समुत्थानव्ययं यावता कालेन पूर्वावस्थाप्राप्तिः समुत्थानसंबन्धो भवति तावत्कालेन पथ्यौषधादिना यावान् व्ययो भवति तमसौ दापनीयः। अथ तं व्ययं पीडोत्पादको न दातुमिच्छति, तदा यः समुत्थानव्ययो यश्च दण्डस्तमेनं दण्डत्वेन राज्ञा दाप्यः। ममु.

(५) तेषामेव पीडाविशेषनिमित्तं दण्डविशेषमाह— अङ्गेति। अङ्गानां करचरणादीनाम्। प्राणे निश्वासावरोधने कृते। समुत्थानव्ययं येन व्ययेनौषधादिना समुत्थातुमर्हति तं दातुं नेच्छति तावदेवासौ दाप्यः 'त्वग्भेदकः शतमि'त्यनेनोक्तं सर्वं तावदभावे सर्वस्वं देयमित्याह— सर्वेति। एतत्तु वधमुद्दिश्य पीडामात्र इति पूर्वस्माद्भेदः। मच.

(६) अङ्गावपीडनायां कृतायां व्रणशोणितयोश्च कृतयोः समुत्थानं नामावृत्त्यावर्तितं तदर्थं व्ययं समुत्थानव्ययमपीडिताय राज्ञा विचिकित्सादिहेतोर्दाप्यः, अपि च सर्वं दण्डम्। अथवैतस्मिन्निमित्ते यावद्राज्ञः प्रदेयं दण्डात्मकं द्रव्यं तावत्पीडितायापि पीडको दाप्यः। नन्द.

गृहोपकरणादिद्रव्यभाण्डपुष्पमूलफलादिनाशने दण्डविधिः

**[1]द्रव्याणि हिंस्याद्यो यस्य ज्ञानतोऽज्ञानतोऽपि वा।**
**स तस्योत्पादयेत्तुष्टिं राज्ञे दद्याच्च तत्समम्॥**

(१) [1]द्रव्याणि गृहोपकरणानि शूर्पोलूखलघटस्थालीपिठरादीनि अन्यानि वाऽनुक्तदण्डविशेषाणि तेषां हिंसा प्राग्रूपनाशः सत्यपि कार्यक्षमत्वे। ज्ञानतोऽज्ञानत इति, प्रमादकृते बुद्धिपूर्वे चाविशेषेण हिंसता, तस्य द्रव्यस्वामिनो जनयेत्परितोषं तद्रूपान्यदानेन मूल्येन प्रणयेन वा। राज्ञे तु द्रव्यमूल्यं द्रव्यं वा दद्यात्। अस्य क्वचिदपवादः 'चर्मचार्मिके'त्यादि। मेधा.

(२) चर्मचार्मिकादिवक्ष्यमाणातिरिक्तानि कटकाङ्गदादीनि द्रव्याणि यस्य संबन्धीनि यो हठात् प्रमादाद्वा नाशयेत्स तस्य प्रतिसंस्कारादिना तुष्टिमुत्पादयेत्, राज्ञे विनाशितद्रव्यसमानं दण्डं दद्यात्। *गोरा.

(३) हिंस्यात् विनाशभङ्गादिना। तुष्टिमुत्पादयेत् वाचाऽपि। तत्समं तन्मूल्येन तुल्यं दण्डम्। ज्ञानतोऽज्ञानतस्त्वर्थमित्यर्थसिद्धत्वान्नोक्तम्। तुष्ट्युत्पादने तु न विशेष इति तदपेक्षया ज्ञानतोऽज्ञानत इत्युक्तम्। ×मवि.

(४) द्रव्यनाशोऽपि हिंसाविशेषोऽतस्तत्रापि स्वामिनो मूल्यद्रव्यादिना तुष्टिं विदधदपि राजकीयदण्डमर्हतीत्याह— द्रव्याणीति। तुष्टिं प्रणिपातेन धनेन वा। राज्ञस्तु तत्समं नाशितद्रव्यमूल्यसमं दद्यात्। मच.

(५) द्रव्याणि वस्त्रादीनि, तुष्टिमुत्पादयेत्तदा द्रव्यदानादिना। तत्समं हिंसितद्रव्यसमं, अज्ञानतो हिंसायां तुष्टिः, ज्ञानतो हिंसायां तुष्टिः राज्ञे तत्समं द्रव्यदानं च। नन्द.

**[2]चर्मचार्मिकभाण्डेषु काष्ठलोष्टमयेषु च।**
**मूल्यात्पञ्चगुणो दण्डः पुष्पमूलफलेषु च॥**

(१) चर्मचार्मिकयोर्द्वन्द्वं कृत्वा भाण्डपदेन विशेष्येण समासः। अथवा [2]चार्मिकभाण्डयोर्विशेषणसमासं कृत्वा चर्मशब्देन द्वन्द्वः। चर्मविकाराच्चार्मिकाणि

---

* दवि. मविवत्।

(१) **मस्मृ.** ८।२८८ [ द्रव्याणि ( द्रव्यादि ) Noted by Jha ]; **अपु.** २२७।३३-४ हिंस्याद्यो यस्य ( यो हरेद्यस्य ) उत्तरार्धे ( स तस्योत्पाद्य तुष्टिं तु राज्ञे दद्यात्ततो दमम् ); **मिता.** ३।२६४ द्रव्याणि...यस्य ( यो यस्य हिंस्याद् द्रव्याणि ); **अप.** २।२३०; **व्यक.** ११९ राज्ञे ( राज्ञो ); **विर.** ३५२; **विचि.** १५१; **व्यनि.** ५१८ राज्ञे दद्याच्च ( राज्ञो दण्डं च ); **स्मृचि.** २४; **दवि.** २९५ हिंस्याद्यो ( हिंसेद्यो ); **समु.** १५८ दविवत्, क्रमेण यमः; **विव्य.** ५३.

* ममु. गोरावत्। × भाच. मविवत्।

(१) **मस्मृ.** ८।२८९; **अप.** २।२३०; **व्यक.** ११९; **विर.** ३५२ लोष्ट ( लोष्ट्र ); **विचि.** १५२ षु च ( ऽपि च ); **व्यनि.** ५१८; **दवि.** २९५ विरवत्; **सेतु.** २५४ येषु च ( येऽपि च ): ३०८-९ लेषु च ( लेषु ह ); **समु.** १५८ काष्ठ ( कांस्य ) क्रमेण यमः.

१ द्रव्याणि गृहोपकरणान्यन्यानि वाऽनुक्तदण्डविशेषाणि शूर्पोलूखलघटस्थालीपिठरादीनि. २ धार्मिक.

भाण्डानि कटिसूत्रवरत्रादीनि, चर्माण्यविकृतानि गवादीनाम्। अथवा चर्मभाण्डानि केवलचर्ममयानि, चर्मावनद्धानि चार्मिकाणि। काष्ठमयभाण्डान्युलूखलमुसलफलकादीनि। लोष्टो मृद्विकारः, पाषाणाकृतिः पिण्डीभूता मृत् तन्मयानि स्वल्पपाकाधानादीनि। तन्नाशने मूल्यात्पञ्चगुणो दण्डस्तुष्टयुत्पत्तिश्च स्वामिनः स्थितैव। मेधा.

(२) चर्मसु चर्मकाष्ठमृन्मयेषु भाण्डेषु पुष्पमूलफलेषु च परकीयेषु च नाशितेषु तन्मूल्यात् पञ्चगुणो दण्डो राज्ञो देयस्तुष्टयुत्पत्तिश्च स्वामिनः कार्या। *गोरा.

(३) चर्मादिभाण्डेषु नष्टेषु चर्मास्यायं चार्मिकः मूल्यात्पञ्चगुणो दण्डः द्रव्यस्वामिने मूल्यं पञ्चगुणं देयम्। भाच.

यानसंबन्धिनिमित्तेषु प्राणिहिंसाद्रव्यनाशेषु स्वाम्यादीनां दण्डविचारः

**[1]यानस्य चैव यातुश्च यानस्वामिन एव च।**
**दशातिवर्तनान्याहुः शेषे दण्डो विधीयते॥**

(१) सत्यामपि हिंसायां क्वचिद्दोषो नास्तीत्येतदनेन प्रकरणेन प्रदर्श्यते। यानं गन्त्र्यादि यदारुह्य यान्ति पन्थानम्। तच्च गन्त्र्यादि बलीवर्दगर्दभमहिषादिवाह्यम्। त एव वा गर्दभादयः पृष्ठारोह्या यानानि। याता तदारूढः सारथ्यादिः। यानस्वामी यस्य तत्स्वयानम्। तत्रैषां चक्रवेगादिभी रथ्याकर्षणयुक्तैर्वाश्वादिभिः कस्यचिद्द्रव्यस्य नाशो वा मरणं तत्र पशुस्वामिपालव्यतिक्रमन्याये प्राप्ते कदाचिद्यातुर्दोषः कदाचित्स्वामिनः कदाचिदुभयोः कदाचिन्न कस्यचिदपीति यो विशेषस्तत्र नोक्त इहैवेष्यते स उच्यते। अतिवर्तनानि अतिक्रम्य हिंसादण्डं वर्तन्ते। नात्र दण्डोऽस्ति। दण्डनिमित्तानि न भवन्तीति यावत्। शेषे दण्डः, उक्तेभ्यो निमित्तेभ्यः। अन्यत्र तान्यपि वक्ष्यन्ते। मेधा.

(२) यानस्य गन्त्र्यादेर्यातुश्च सारथ्यादेः यानस्वामिनः यत्संबन्धियानं तेषां छिन्ननासास्यत्वादीनि वक्ष्यमाणानि निमित्तादीनि अतिवर्तनानि दण्डं चातिक्रम्य वर्तन्ते। तेषु सत्सु यानेन प्राणिहिंसाद्रव्यविनाशयोरपि कृतयोः सारथ्यादेः दण्डो न भवतीति मन्वादय आहुः। तन्निमित्तव्यतिरेकेषु पुनर्दण्डः क्रियते। * गोरा.

(३) यानस्य यद्यपि पश्वादेर्न दण्डस्तथापि शिबिकावाहकमनुष्यादिरूपस्यास्तीति यानग्रहणम्। यातुर्यापयितुर्नेतुः सारथ्यादेः। यानस्वामिनोऽधिकृतस्य। वक्ष्यमाणान्यतिवर्तनानि दण्डातिवृत्तेर्दण्डातिभावस्थानानि। अभिवर्तनानीति क्वचित्पाठः। तत्र दण्डार्थं निवर्तनं विरोधनं नास्तीत्यर्थः। मवि.

**[1]छिन्ननस्ये भग्नयुगे तिर्यक्प्रतिमुखागते।**
**अक्षभङ्गे च यानस्य चक्रभङ्गे तथैव च॥**
**[2]छेदने चैव यन्त्राणां योक्त्ररश्म्योस्तथैव च।**
**आक्रन्दे चाऽप्यपैहीति न दण्डं मनुरब्रवीत्॥**

(१) यत्र नास्ति दोषस्तानि तावदाह। नासायां भवं नास्यं, 'शरीरावयवाद्यत्' (व्यासू. ५। १। ६), नासिका-

* मवि., ममु., मच., नन्द. गोरावत्।

(१) मस्मृ. ८।२९० [ यातुश्च ( गन्तुश्च ) Noted by Jha ]; व्यक. १०८ यातुश्च ( यन्तुश्च ); मवि. अभिवर्तनानीति क्वचित्पाठः; विर. २८०-८१ स्य चैव यातुश्च ( स्यैव हि यन्तुश्च ); दवि. २२४ स्य चैव यातुश्च ( स्यैव हि जन्तोश्च ); बाल. २।२९९; समु. १६३.

* ममु., विर., मच., नन्द. गोरावत्।

(१) मस्मृ. ८।२९१ नस्ये ( नास्ये ); मिता. २।२९९; अप. २।२९८ अक्षभङ्गे ( अक्षाभावे ) चक्रभङ्गे ( चक्राभावे ); व्यक. १०८ नस्ये भग्न ( नासे भिन्न ); स्मृच. ३२९ छिन्न ( छिन्ने ) भग्नयुगे ( युगे भग्ने ); विर. २८१ नस्ये ( नास्ये ) भग्न ( भिन्न ) च या ( तु या ); पमा. ४२१ मस्मृवत्; दवि. २२४ भग्न ( भिन्न ); सवि. ४८४ स्मृचवत्; व्यप्र. ३७५ स्मृचवत्; व्यउ. ११५ छिन्न ( छिन्ने ) भग्नयुगे ( युगे भिन्ने ); विता. ७६३ यानस्य ( युग्मस्य ); सेतु. २२५ नस्ये भग्न ( नास्ये भिन्न ); समु. १६३ स्मृचवत्.

(२) मस्मृ. ८।२९२; मिता. २।२९९ योक्त्र ( योक्तृ ) चाऽप्य ( हत्य ); अप. २।२९८ योक्त्र ( योक्तृ ); व्यक. १०८ चा ( वा ); स्मृच. ३२९ श्म्यो ( श्मे ) चा ( वा ); विर. २८१ छेद ( भेद ); पमा. ४२१; दवि. २२४ छेद ( भेद ) चा ( वा ) दण्डं ( दण्डो ); सवि. ४८५ पै ( वे ) दण्डं ( दण्डो ); व्यप्र. ३७५; व्यउ. ११५ चाऽप्यपैहीति ( वाऽपि याहीति ); विता. ७६३ न्दे चा ( न्दने ) दण्डं ( दोषं ) उत्त.; सेतु. २२५ चा ( वा ); समु. १६३ अपवत्.

पुटसंयोगिनी बलीवर्दानां रज्जुः, अश्वानां खलीनं, हस्तिनामङ्कुशस्तस्मिन् छिन्ने त्रुटिते। युगे च भग्ने, रथाङ्गकाष्ठं युगम्। छिन्नं नास्यमस्येति बहुव्रीहिणा रथ उच्यते, पशुर्वा। उभयोरपि साक्षात् पारम्पर्येण संबधात्। तिर्यक्प्रतिमुखागते याने, तिरश्चीनं वा प्रतीचीनं वा कथञ्चिद्भूवैषम्यात् पशुत्रासाद्वा यानं गच्छेत् कञ्चिद-पराध्येन्न दुष्येत्। प्राजको हि संमुखीनान् शक्तो रक्षितुं, तिर्यक्प्रत्यगवस्थितौ त्वदृश्यमानस्य कथं शक्तो[1] रक्षितुम्। प्रतिमुखागतं प्रत्यगावृत्तिः। अन्ये तु तिर्यगागते हिंस्यमाने ऋजुगामिन्येव याने न दोषमाहुः। प्रतिमुखं चाभिमुखं मन्यन्ते। अभिमुखागतः किमिति चक्रिणं दृष्ट्वा पन्थानं न ददाति। अक्षचक्रे रथाङ्गे प्रसिद्धे। यन्त्राणि चर्मबन्धनानि शकटकाष्ठानाम्। योक्त्रं पशुग्रीवाकाष्ठम्। रश्मिः प्रग्रहो हस्तवधिः[2] युग्यानां संचरणनियमनार्थः। आक्रन्दः उच्चैः शब्दः, अपेहीत्य-पसरेत्यर्थः। इतिकरणो भाषाप्रसिद्धतदर्थशब्दोच्चारणार्थो न त्वयमेव शब्दः प्रयोक्तव्यः। अविधेयेषु युग्येष्वप-सरापसरेति क्रोशतः प्राजकस्य पथो नातिक्रामन्तं[3] यदि हिंस्यान्न दोषः। * मेधा.

(२) छिन्ननासिकारज्जौ बलीवर्दे, भग्ने युगाख्ये काष्ठे, गन्त्र्यादौ भूमिवैषम्यादिना तिरश्चीनं वा गते प्रतीचीनं वा, तथा यानस्य गन्त्र्यादेरक्षप्रविष्टकीलकादि तस्य भङ्गे, यन्त्राणां च चर्मबन्धानां छेदने, योक्त्राख्य-पशुग्रीवाकाष्ठरज्जुच्छेदने, अपसरापसरेत्येवं सारथ्यादि-संबन्धिनि चाह्वाने सति यानेन प्राणिहिंसाद्रव्यविना-शयोः कृतयोः सारथ्यादेर्दण्डो न भवतीति मनुराह। गोरा.

(३) यन्त्राणां काष्ठसंधिघटनानाम्। योक्त्रं युगादि-बन्धनरज्जुः। रश्मिः अश्वापकर्षणरज्जुः। आक्रन्दे सारथिना अन्येन वा आक्रुष्टे। अशक्यनिवर्तनत्वे सतीदम्। × मवि.

(४) नासायां भवं नास्यम्। 'शरीरावयवाद्यत्' (व्यासू. ५।१।६)। सा चेह बलीवर्दनासासंबन्धिनी रज्जुः। छिन्ननास्यरज्जौ बलीवर्दादिके, भग्नयुगाख्ये काष्ठे, रथादौ भूमिवैषम्यादिना तिरश्चीनं वा गते, तथा चक्रान्तःप्रविष्टाक्षकाष्ठभङ्गे, यन्त्राणां चर्मबन्धनानां छेदने, योक्त्रस्य पशुग्रीवारज्जोः, रश्मेः प्रहरणस्य च छेदने, अपसरापसरेत्युच्चैःशब्दे सारथ्यादिना कृते च यानेन प्राणिहिंसाद्रव्यविनाशयोः कृतयोः सारथ्यादेर्दण्डो नास्तीति मनुराह। * ममु.

(५) योक्त्रस्य छेदने च यन्तुर्यानस्वामिनो याना-रूढानां वा दण्डं मनुरब्रवीत्। नन्द.

**यत्रापवर्तते[1] युग्यं वैगुण्यात्प्राजकस्य तु।**
**तत्र स्वामी भवेद्दण्ड्यो हिंसायां द्विशतं दमम्॥**

(१) प्राजको यानसारथिस्तस्य वैगुण्यमशिक्षितत्वं, न तु प्रमादः। प्रमादे हि शिक्षितस्य स्वामिनो न दोषः। तस्माद्धेतोर्यदि युग्यं सहसा अपवर्तते स्पष्टं मार्गं हित्वा तिर्यक् पश्चाद्वा गच्छेत् गतं च किञ्चिन्नाशयेत्तत्र स्वामी दण्ड्यः। अशिक्षितः प्राजकः किमित्यारोपितः। 'मनुष्य-मारणे क्षिप्रं' (मस्मृ. ८।२९६) इत्यादिवक्ष्यमाणेन प्राणिभेदेन द्रव्यभेदेन च दण्डान्तरविधानात् द्विशतं इति (न?) विवक्षितम्। दण्डनिमित्तमेतादित्येतावतैव वाक्यस्यार्थवत्त्वात्, उत्तरत्र न कश्चिदन्योऽर्थः श्रूयते येन वाक्यं तत्र संख्याविधायकमित्युच्येत। मेधा.

(२) यत्र पुनः सारथेरकौशलात् यानमन्यथा व्रजति तत्र हिंसायां अकुशलसारथिकरणाद्यानस्वामी द्विशतं दण्डं दाप्यः। सारथेश्च 'मनुष्यमारणे क्षिप्रं' इत्येवं वक्ष्यमाणो भवति। एवं च द्विशतग्रहणस्योत्तरश्लोके च शतग्रहणस्याविवक्षितत्वमाहुस्तदसत्। अप्रमादाभि-धायित्वाद्दषेः। ×गोरा.

(३) प्राजकः सारथिः। स्वामी रथी। अप.२।२९८

* स्मृच. मेधावत्। × दवि. मविवत् ममुवच्च।
१ (शक्तो०). २ वध्रिभिः. ३ मन्यदि.

* विर., मच. ममुवत्।
× ममु., विर., मच. गोरावत्।

(१) **मस्मृ.** ८।२९३ क., युग्यं (युग्मं); **अप.** २।२९८; **व्यक.** १०८ शतं दमम् (शतो दमः); **स्मृच.** ३२९; **विर.** २८२ पव (तिव); **दवि.** २२५; **सवि.** ४८५ पव (पि व); **वीमि.** २।३०० त्रा (द्यो); **व्यप्र.** ३७६; **व्यउ.** ११५ त्राप (त्र प्र) युग्यं (युग्मं); **बाल.** २।३००; **सेतु.** २२५ (=) विरवत्; **समु.** १६३ त्रा (द्वा).

(४) अपवर्तते व्यातर्वते युग्यं रथादि । वैगुण्याद-ज्ञानात् । स्वामी दण्ड्यः तादृक्सारथिकरणात् । अङ्ग-भङ्गादिरूपायां हिंसायां भूतायां द्विशतं पणान् दण्ड्यो नान्यथा । मवि.

(५) प्राजकस्य नोदकस्य, शकटादिनेतुरिति यावत् । द्विशतग्रहणं तत्तत्प्राणिहिंसायां विशेषविहितदण्डोप-लक्षणार्थम् । प्राजकस्य वैगुण्यात् एकहस्तत्वादिकात् स्वामिना वेतनलाघवार्थमनुमतात् । स्मृच. ३२९-३०

(६) यत्र निमित्ते युग्यं यानं रथादिकं प्राजकस्य वैगुण्यात् सारथेरसामर्थ्यात् अपवर्तते विषमं प्रवर्तते तत्र निमित्ते मनुष्यपश्वादिहिंसायां द्विशतं दमं स्वामी दण्ड्यो भवेदनाप्तप्राजकनियोगात् । प्राजकस्य 'मनुष्यमारणे क्षिप्रं चोरवदि'त्यादिश्लोकद्वये वक्ष्यमाणः, सर्वजनसामान्येऽपि एवं दण्ड इत्यवगन्तव्यम् । नन्द.

**प्राजकश्चेद्भवेदाप्तः प्राजको दण्डमर्हति ।**
**युग्यस्थाः प्राजकेऽनाप्ते सर्वे दण्ड्याः शतं शतम् ॥**

(१) यदि पुनः सारथिः कुशलस्तदा सारथिरेव 'मनुष्यमारणे' इत्यादिवक्ष्यमाणं अर्हति दण्डं, न स्वामी द्विशतं, अकुशले तु सारथौ स्वाम्यतिरिक्ता अन्येऽपि यानारूढाः अकुशलसारथिकयानारोहणात् सर्वे शतं शतं दण्ड्याः । सारथेस्तु 'मनुष्यमारणे' इत्यादिः स्थित एव । *गोरा.

(२) आप्तो विज्ञः प्राजको दण्ड्यः स्वाम्यपराधा-भावात् । तत्रानाप्ते अज्ञे युग्यस्थानरथस्थाः सारथि-पक्षपूरकतया विज्ञाताः स्वामिना नियुक्तास्ते दण्ड्याः । अनःस्वामी ते च सर्वे शतं प्रत्येकं दण्ड्याः । ×मवि.

(३) प्रगुणप्राजकप्रमादादिना प्रवृत्ते युग्ये न स्वामी दण्ड्यः, किन्तु प्राजक इत्याह स एव — प्राजकश्चे-दिति । आप्तः प्रगुण इत्यर्थः । स्मृच. ३३०

(४) प्राजक आप्तश्चेन्मनुष्यपश्वादिहिंसायां प्राजक एव दण्डमर्हति न स्वामी । नन्द.

**स चेत्तु पथि संरुद्धः पशुभिर्वा रथेन वा ।**
**प्रमापयेत्प्राणभृतस्तत्र दण्डोऽविचारितः ॥**

(१) उक्तो हिंसायां दमः । तत्र विशेषं वक्तुमिद-माह । स प्राजकः पथि संरुद्धोऽग्रजघनावसर्पिणा संरुद्धो निरुद्धगतिः पश्चात्स्थितेन असुशिक्षितत्वात् प्रमा-दाद्वा वेगेन धुर्याश्चोदिताः पुनः स्थिरयतश्चेन्निकटो रथस्तेन च तस्य वेगनिरोधे कृते यदि पुरोरथस्था-वेगपातात् पशुभी रथयुक्तैरश्वादिभिः रथेन रथावयवैर्वा प्राणिनो मनुष्यादीन् मारयेत् ततो दण्डस्य विचारो नास्ति । स्थित एव दण्डः । अथवा जवोत्पतिता अश्वाः पथि संरोधकसंमुखीनरथदर्शनेन बलाद्विधार्यमाणा-स्तिर्यग्गत्या गच्छेयुः पार्श्वकीयान् प्रत्यगवस्थितत्वात्तथा हन्युस्तत्र दण्डोऽविचारितो, नास्ति प्राजके दोषाभावात् । अथवा पथि[1] स्थितो वर्तमानः, संरुद्धो[2] विध्रियमाणः, विचारितो विशेषेण विहितो विशेषित इतिवत्[3] । मेधा.

(२) स प्राजकः संमुखागतयानान्तरादवरुद्धैर्बली-वर्दादिभिः संरुद्धयानो रथान्तरेण वा भूमिवैषम्यात्प्रत्य-गपसर्पिणा अकुशलत्वात् प्राणिनो रथेन प्रमापयेत्तत्र दण्डो मन्वादिभिर्विचारितः । गोरा.

(३) अशक्यविषये तु हिंसायामाह — स चेदिति । स युग्यादिः । पशुभिर्हस्त्यादिभिः । उपलक्षणं चैतत् । प्रपात-गमनोच्चारोहणतिर्यग्गमनादिनाऽपीत्यशक्यप्रतीकारागन्तु-निमित्तवशादित्यर्थः । दण्डोऽविचारतो न निर्णीतो मुनिभिः नास्त्येवेत्यर्थः । *मवि.

* ममु., मच. गोरावत् । × भाच. मविवत् ।

* भाच. मविवत् । दण्डविवेके रत्नाकरसर्वज्ञनारायणोल्लेखः ।

(१) मस्मृ. ८।२९४; भिता. २।३०० पू.; अप. २।२९८; व्यक. १०८; स्मृच. ३३० पू.; विर. २८२; पमा. ४२२ पू.; दवि. २२५ केऽनाप्ते (कोऽनाप्तः); व्यप्र. ३७६ पू.; व्यउ. ११६ प्रा (त्रा) पू.; विता. ७६३ दाप्तः (प्राप्तः) पू.; बाल. २।३००.उत्त.; सेतु २२५ पू.; समु. १६३ प्रा (त्रा) पू.

(१) मस्मृ. ८।२९५ [ ऽविचारितः ( विचरितः, विचलितः ) Noted by Jha ]; अप. २।२९८ पथि (प्रति) ऽविचारितः (विचारतः); व्यक. १०८ ऽविचारितः (विचारतः); विर. २८२; दवि. २२६; बाल. २।२२९ उत्त. : २।३००; सेतु. २२५-६ चेत्तु पथि संरुद्धः (चेत्पथि न संरुद्धं) ऽविचारितः (विचारितः).

१ पथिशो न स्थि. २ द्धो न विध्रियमाणोऽथवा वि. ३ चेत् ।

(४) स चेत्प्राजकः संमुखागतैः प्रचुरगवादिभी रथान्तरेण वा संरुद्धः स्वरथगमनानवधानात् प्रत्यक्सर्पणाक्षमः संकटेऽपि स्वरथतुरगान् प्रेरयन्, तुरगै रथेन वा रथावयवैर्वा प्राणिनो व्यापादयति तत्राविचारितो दण्डः कर्तव्य एव । * ममु.

(५) प्रकारान्तरेण दण्डमाह— स चेदिति । पशुभिः गजादिभिः स्वरथसंबन्धव्यतिरिक्तैः रथेन रथान्तरेण वा बद्धो गन्तुमशक्तः सन् परावृत्तत्वात् उक्तातिरिक्तपाश्चात्त्यात् । प्रमापयेत् हिंस्यात् । अकुशलो भूत्वा लोभायत्तो यतः प्रवृत्तः, अतो दण्डार्हः । अविचारितः पूर्वं विचारो न कृतः केवलं किन्तु दण्डोऽस्तीति । मच.

(६) योऽयं स्वामिप्राजकरथस्थानां दण्ड उक्तस्तत्र प्राजकं प्रति नियममाह— स चेत्विति । स आप्तोऽनाप्तो वा प्राजकः पथि पथिकैः संरुद्धः पशुभिः स्वरथवाहिभिर्बलीवर्दादिभी रथेन वा प्राणभृतः प्रमापयति चेत्तत्र प्रमापणे दण्डः अविचारितोऽसंदिग्धः, पुनस्तद्भयात्पथोऽपक्रमणनिमित्तरूपपतनादिहेतुके प्रमापन्न इति । नन्द.

प्राणिविशेषहिंसाभेदेन दण्डभेदाः

**मनुष्यमारणे[१] क्षिप्रं चौरवत्किल्बिषं भवेत् ।**
**प्राणभृत्सु महत्स्वर्धं गोगजोष्ट्रहयादिषु ॥**

(१) तादृशे प्राजके रथपशुभिर्मनुष्यश्चेन्मार्यते तदा चौरवत्तस्य किल्बिषं, दण्डः । यद्यपि चौरस्य वधसर्वस्वहरणादयो[२] दण्डास्तथापीह धनदण्ड एव गृह्यते न वधः । महत्स्वर्धमिति तत्रैवार्धसंभवात् । स चोत्तमसाहसः कैश्चिदभ्युपगतः, यतश्च क्षते क्षुद्रकपशूनां तृतीयस्थानप्राप्तानां द्विशतो दमोऽतः प्रथमस्थानां मनुष्याणामुत्तमो युक्त इति । प्राणभृतः प्राणवन्तो मनुष्यतिर्यक्पक्ष्यादयः । महत्सु, महत्त्वं गवां प्रभावतो, हस्त्यादीनां प्रमाणतः । आदिग्रहणाद्गर्दभाश्वतरव्याघ्रादयश्च कथञ्चित्परिगृह्यन्ते । वयं तु ब्रूमः 'सहस्रम्' इत्येवमवक्ष्यत् यद्यन्ये चौरवद्दण्डा नाभिप्रेता अभविष्यन्, तस्मादर्धग्रहणाद्वधो मा भूत्, धनदण्डास्तु सर्वस्वहरणादयः सर्वे चौरोक्ताः पुरुषापेक्षया अतिदिश्यन्ते । ननु च मनुष्यमारणेऽन्यस्य चौरदण्डस्यातिदेशो युक्तः । स प्रतिपदं मनुष्यहनने विहितः । स च 'पुरुषाणां कुलीनानां' इति ( मस्मृ. ८।३२३ ) वध एव । तत्र किमिति वाक्यान्तरगतार्धशब्दानुरोधेनैव व्याख्यायते । वरमर्धस्यैव गुणतः काचिद्वृत्तिराश्रीयताम् । सत्यं, यद्यर्धशब्दो मारणेन संबध्यमानोऽन्यथोपपद्येत, न च चौरवदित्यस्यानुषङ्गागतस्यार्थान्तरवृत्तिः पूर्वापरवाक्ययोः शक्या । मेधा.

(२) प्राजकस्याकौशलेन मनुष्यमारणे सत्यपि चौरवत्तस्य उत्तमसाहसो न तु वधादि चौरदण्डः । प्राणभृत्सु महत्स्वर्धं दर्शनात्, महत्सु च प्राणिषु प्रभावतो गवादिषु प्रमाणतः स्यात्, मारितेषु उत्तमस्य साहसस्यार्धं पञ्चशतानि दण्डो भवेत् । * गोरा.

(३) अथ लगुडादिना बुद्धिपूर्वं मारणे दण्डमाह— मनुष्यमारण इति । प्राणभृत्सु महत्सु गवादिषु अर्धं यस्य चौर्ये यावान् दण्डो धनकृतस्तदर्धम् । मवि.

(४) सकृदपराधे कीदृश इत्याह— मनुष्यमारण इति । ममु.

(५) एवं यानेन प्रमापणे दण्ड उक्तः । अथ पारुष्येण मनुष्यपश्वादिमारणे दण्डं श्लोकत्रयेणाह— मनुष्यमारण इति । किल्बिषं दण्डः स चार्थविषय एव, अर्थविषयसामर्थ्यात् चोरकिल्बिषं उत्तमसाहसः, गवादीनां प्रभावतो महत्त्वम् । नन्द.

**क्षुद्रकाणां[१] पशूनां तु हिंसायां द्विशतो दमः ।**
**पञ्चाशत्तु भवेद्दण्डः शुभेषु[२] मृगपक्षिषु ॥**

* विर. ममुवद्भावः ।

(१) मस्मृ. ८।२९६; मिता. २।३०० पं ( पी ); अप. २।२९८; व्यक. १०८; विर. २८३ क्षिप्रं ( क्षिप्तं ) भृत्सु ( वस्तु ); पमा. ४२४; व्यनि. ४९७ गजोष्ट्रहयादिषु ( खरोष्ट्रगवादिषु ) कात्यायनः; स्मृचि. २४ मितावत्; दवि. २६६ भृत्सु ( वस्तु ); सवि. ४९३ पं ( पी ) प्राण......र्धं ( प्राणिहत्सु महत्स्वार्थं ) याज्ञवल्क्यः; व्यम. १०९ मितावत्; विता. ७६४ मितावत्; बाल. २।२२९; सेतु. २२६ दविवत्; समु. १६३.

१ मोनु. २ वधः स.

* ममु., विर., मच. गोरावत् ।

(१) मस्मृ. ८।२९७; मिता. २।३०० द्रकाणां (द्राणां च);

१ कदाचि. २ पथते न.

(१) अपचितपरिमाणाः क्षुद्रकाः । ते च केचिद्वयसः वत्सकिशोरककलभादयः । केचिज्जातिस्वभावतोऽजैडकादयः । तत्राजाविकानां पञ्च माषान् वक्ष्यति । परिशेषाणां गवादीनामेवायं दण्डोऽल्पपरिमाणानाम् । शुभा मृगाः पृषतादयः आकारतो लक्षणतश्च । पक्षिणो हंसशुकसारिकादयः । अशुभाः काकोलूकश्वशृगालादयः । पशुशब्दश्चतुष्पाज्जातिवचनः । हिंसामात्रेण दण्डमिमं इच्छन्ति । न प्रकृतयानविधिहेतुं ब्रुवते । 'तत्र दण्डो विचारित' इत्यनेनैव यानप्रकरणं व्यवच्छिन्नम् । विचारितः समासविचार इत्यर्थः । इदानीमेतत्प्रकरणनिरपेक्ष्यमुच्यत इति । एवं तु 'प्राणभृत्सु महत्स्वर्धं' इति हस्तादिच्छेदो न मारणमित्यर्धशब्दो नेयः स्मृत्यन्तरात् [ इयं पङ्क्तिः पूर्वश्लोकभाष्यांशः, लेखकप्रमादात् ततो भ्रष्टा इति भाति ]। मेधा.

(२) अजाविकानां वक्ष्यमाणत्वादपचितप्रमाणानां वत्सकिशोरादीनां पशूनां हिंसायां द्विशतो दण्डः कार्यः । पुनर्मृगपक्षिषु वराहादिषु हिंसायां पञ्चाशत्पणो दण्डो भवेत् । गोरा.

(३) क्षुद्रपशूनां मृगपक्ष्यादीनां द्विशत इत्युत्तमदण्डोपदर्शनमेतत् । तत्र तत्र तु क्षुद्रत्वे ह्रासः क्रमेणोह्यः । एतच्च परिगृहीतविषये । अपरिगृहीतेऽप्याद्—पञ्चाश~~त्~~ त्विति । शुभेषु चित्रमृगशुकादिषु । मवि.

(४) क्षुद्रकाणां पशूनां जातितो विशेषापदिष्टेतरेषां वनचरादीनां वयसा च किशोरादीनां मारणे द्विशतो दण्डः स्यात् । शुभेषु मृगेषु रुरुपृषतादिषु पक्षिषु च शुकहंससारसादिषु पक्षिषु हतेषु पञ्चाशद्दण्डो भवेत् । *ममु.

* दण्डविवेके सर्वज्ञनारायणकुल्लूकादीनामनुवादः । मच. ममुवत् ।

अप. २।२९८; विर. २७९ (=) तु भवेद (दुत्तरो द) उत्त. : २८३ नां तु (नां च); पमा. ४२४; व्यनि. ४९७ नां तु (नां च) द्विशतो (दशमो) शत्तु (शतं) कात्यायनः; स्मृचि. २४; दवि. २२८ नां तु (नां च); सवि. ४९३ याज्ञवल्क्यः; व्यम. १०९ सायां (सने) दण्डः (दण्डं); विता. ७६४; बाल. २।२२९; सेतु. २२४ तु भवेद (दुत्तमो द) उत्त. : २२६ दविवत्; समु. १६३.

१ श्च शृ. २ प्रकृतया न विधि.

(५) क्षुद्राणां मार्जारादीनां, मृगपक्षिषु हिंसितेषु । नन्द.

**गर्दभाजाविकानां तु दण्डः स्यात्पञ्चमाषिकः ।**
**माषिकस्तु भवेद्दण्डः श्वसूकरनिपातने ॥**

(१) पञ्च माषाः परिमाणमस्येति पाञ्चमाषिकः । माषस्य च द्रव्यजातेरनुपपादनात् मध्यमकल्पनायाश्च न्याय्यत्वात् रौप्यस्य निर्देशोऽयमित्याहुः । हिरण्यं तु युक्तमेवं तत्समिति न बाधितं भवति । अनुबन्धाद्यपेक्षया तु द्रव्यजातिः कल्प्येति सिद्धान्तः । मेधा.

(२) खरच्छागाविविषयवधे रूप्यमाषकपरिमाणो दण्डः स्यात्, उत्तरोत्तरमपचितदण्डाभिधानदर्शनादहैरण्यं माषग्रहणं, पूर्वदण्डानूनत्वात् नापि ताम्रिकस्य करणं अत्यन्तलघुत्वात् । एवं श्वशूकरमारणेऽपि रूप्यमाषकपरिमाणो दण्डः स्यात् । गोरा.

(३) पञ्चमाषिकः सुवर्णमाषाः पञ्च तन्निष्पाद्यो माषकः सुवर्णमाषकः । सूकरो ग्राम्यः । वराहे त्वधिकम् । मवि.

(४) गर्दभच्छागैडकादीनां पुनर्मारणे पञ्चरूप्यमाषकपरिमाणो दण्डः स्यात् । न चात्र हैरण्यमाषग्रहणं, उत्तरोत्तरलघुदण्डाभिधानात् । श्वसूकरमारणे तु पुना रौप्यमाषपरिमाणो दण्डः स्यात् । * ममु.

**गोकुमारीर्देवपशूनुक्षाणं वृषभं तथा ।**
**वाहयन् साहसं पूर्वं प्राप्नुयादुत्तमं वधे ॥**

* मच. ममुवत् ।

(१) मस्मृ. ८।२९८ ख., त्पञ्च (त्पाञ्च), ग., माषिकस्तु (माषकस्तु), [ माषिकस्तु (मासिकस्तु) Noted by Jha ]; मिता. २।३०० षिकः (षकः) षिकस्तु (षकस्तु); अप. २।२९८ मितावत्; व्यक. १०८ मितावत्; विर. २८३ नां तु (नां च) षिकस्तु (षकस्तु); पमा. ४२५; व्यनि. ४९७ मितावत्, कात्यायनः; स्मृचि. २४; दवि. २२८ विरवत्; सवि. ४९३ श्व (स) तने (तितैः) शेषं मितावत्, याज्ञवल्क्यः; व्यम. १०९ कानां तु (कान् हन्तुः) शेषं मितावत्; विता. ७६४ गर्दभा (गवया) षिकः (षकः) षिकस्तु (षकश्च); बाल. २।२२९ अपवत्; सेतु. २२६ नां तु (नां च); समु. १६३ सेतुवत्.

(२) अप. २।२२६ रीदे (रीदें); व्यक. १०८; विर.

गोकुमारी वृषेण संयुक्ता गौः । देवपशुः देवाय दत्तः पशुः । उक्षा 'उक्ष सेचने' इत्यनुसारात् बीजसेक्ता वृषः । वृषभपदेन जीर्णवृषोऽत्र उक्तः । विर. २७९

भार्यापुत्रदासशिष्यादीनां ताडने कृते दण्डविचारः

**भार्या पुत्रश्च दासश्च शिष्यो भ्राता च सोदरः।**
**प्राप्तापराधास्ताड्याः स्यू रज्ज्वा वेणुदलेन वा ॥**

(१) प्राप्ता अपराधं प्राप्तापराधाः, अपराधो व्यतिक्रमः नीतिभ्रंशः । स यदा तैः कृतो भवति तदा ताडयितव्याः । ताडनमपि हिंसेत्युक्तम् । सा च 'न हिंस्याद्भूतानी'ति प्रतिषिद्धाऽपराधे निमित्ते भार्यादीनां प्रतिप्रसूयते । संबन्धिशब्दाश्चैते । यस्य भार्या यश्च यस्य दासः स तेनानुशासनीयः । मार्गस्थापनोपायविधिपरश्चायम् । न ताडनविधिरेव । तेन वाग्दण्डाद्यपि कर्तव्यम् । अपराधानुरूपेण कदाचित्ताडनम् । सोदरस्थाने कनीयान् पठितव्यः । भ्राता तथाऽनुजः । स हि ज्येष्ठस्य पुत्रवत्ताडनार्हः । वैमात्रेयोऽपि चेद्पितृको गुणवज्ज्येष्ठतन्त्रश्च सोऽप्युन्मार्गगामी ताडनादिपर्यन्तैरुपायैर्निवारणीयः । वेणुदलं वंशत्वक् । एतदप्युपलक्षणं तथाविधानां मृदुपीडासाधनानां शिफादीनाम् । मेधा.

(२) भार्यादयः कृतापराधा रज्ज्वा वेणुत्वचा वा दण्डनीयाः स्युरिति हिंसादण्डापवादः । साधने नियमार्थश्चारम्भः । *गोरा.

(३) अथ भार्यापुत्रादीनामनुशासनप्रकारमन्यथानुशासने दण्डविधानार्थमाह— भार्या पुत्रश्चेति । नन्द.

(४) भार्यादयः प्राप्तापराधा रज्ज्वा वेणुदलेन वा ताड्याः ताडनीयाः । सोदरः भ्राता च अन्यमातृजो न । भाच.

**पृष्ठतस्तु शरीरस्य नोत्तमाङ्गे कथञ्चन ।**
**अतोऽन्यथा तु प्रहरन् प्राप्तः स्याच्चौरकिल्बिषम् ॥**

(१) उक्तताडनसाधनाभ्यामन्येन प्रकारेण मन्त्रक्ष्यादिषु लगुडादिभिर्वा चौरदण्डं प्राप्नोति । निन्दैषा । न त्वयमेव दण्डः । योऽन्यत्र हिंसाया दण्डः सोऽत्र भवतीत्युक्तं भवति । मेधा.

(२) ते पुनः शरीरस्य पृष्ठदेशे ताडनीयाः न तु कदाचित् उत्तमाङ्गे न वक्षसि । उक्तप्रकारव्यतिरेकेण ताडयित्वा दण्डरूपेण वाग्दण्डरूपचौरदण्डं प्राप्नुयात् । गोरा.

(३) चोरकिल्बिषं ताडितस्यामरणे स्तेयदण्डः, मरणे तु भूयस्त्वमूह्यमित्यर्थः । मवि.

(४) रज्ज्वादिभिरपि देहस्य पृष्ठदेशे ताडनीयाः न तु शिरसि । उक्तव्यतिरेकेण प्रहरणे वाग्दण्डधनदण्डरूपं चौरदण्डं प्राप्नुयात् । ममु.

(५) पृष्ठतोऽमर्मणि, नोत्तमाङ्गे न मर्मणीत्यर्थः । न्यायसाम्यात् । विर. २७१.

## याज्ञवल्क्यः

दण्डपारुष्यलक्षणम्

संप्रति दण्डपारुष्यं प्रस्तूयते । तत्स्वरूपं च नारदेनोक्तम्— 'परगात्रेष्वभिद्रोहो हस्तपादायुधादिभिः । भस्मादिभिश्चोपघातो दण्डपारुष्यमुच्यते ॥' इति ।

---

२७९; **पमा.** ४२४ नुक्षाणं ( नक्षमं ) नारत्यं श्लोकः मुद्रितमनुस्मृतिपुस्तकेषु । अस्मत्संगृहीतप्राचीनतमपुस्तके वर्तते । तत्र तु— 'गां कुमारीं ग्राम्यपशूनुक्षाणं वाजिनं तथा । दारयन् साहसं त्वर्ध प्राप्नुयात् घातने समम् ॥' इत्येवं पाठो दृश्यते ।; **व्यनि.** ४९६ शनु ( शुमु ); **दवि.** ३१८ दुत्तमं ( दष्टमं ); **सेतु.** २२४; **समु.** १६३ री ( रीं ) शेषं व्यनिवत्.

(१) **मस्मृ.** ८।२९९ क., ख., घ., शिष्यो ( प्रेष्यो ); **गोरा.** पुत्रश्च दासश्च शिष्यो ( शिष्यश्च दासश्च पुत्रो ); **अप.** २१६ च सोदरः ( सहोदरः ) : २।२२२; **व्यक.** १०६ ड्याः स्यू ( ड्यास्तु ); **विर.** २७१; **विचि.** ११९ धास्ताड्याः स्यू ( धस्ताड्यः स्याद् ); **स्मृचि.** २४ नारदः; **दवि.** २३१; **व्यप्र.** ३३ अपवत् : ३७८ दासश्च शिष्यो ( शिष्यश्च दासो ) ता च ( ताऽथ ); **व्यउ.** २० अपवत् : ११७ व्यप्र ( पृ. ३७८ )वत्; **बाल.** २।२२९ शिष्यो ( प्रेष्यो ); **सेतु.** २२१; **विभ.** १ धास्ताड्याः ( धा दण्ड्याः ) शेषं अपवत्; **समु.** १६४.

* ममु., मच. गोरावत् ।

(१) **मस्मृ.** ८।३००; **अप.** २१६ कथञ्च ( कदाच ): २।२२२; **व्यक.** १०६; **विर.** २७१ अपवत्; **विचि.** ११९ तस्तु ( तश्च ) कथञ्च ( कदाच ); **स्मृचि.** २४ नारदः; **दवि.** २३१ अपवत्; **व्यप्र.** ३३, ३७८; **व्यउ.** २०-२१, ११७; **बाल.** २।२२९ अपवत्; **सेतु.** २२१ अपवत्; **समु.** १६४.

परगात्रेषु स्थावरजङ्गमात्मकद्रव्येषु हस्तपादायुधैरादिग्रहणाद्ग्रावादिभिर्योऽभिद्रोहो हिंसनं दुःखोत्पादनं तथा भस्मना आदिग्रहणाद्रजःपङ्कपुरीषाद्यैश्च य उपघातः संस्पर्शनरूपं मनोदुःखोत्पादनं तदुभयं दण्डपारुष्यम्। दण्ड्यतेऽनेनेति दण्डो देहस्तेन यत्पारुष्यं विरुद्धाचरणं जङ्गमादेर्द्रव्यस्य तद्दण्डपारुष्यम्। तस्य चावगोरणादिकरणभेदेन त्रैविध्यमभिधाय हीनमध्यमोत्तमद्रव्यरूपकर्मत्रैविध्यात् पुनस्त्रैविध्यं तेनैवोक्तम्— 'तस्यापि दृष्टं त्रैविध्यं हीनमध्योत्तमक्रमात्। अवगोरणनिःशङ्कपातनक्षतदर्शनैः ॥ हीनमध्योत्तमानां च द्रव्याणां समतिक्रमात्। त्रीण्येव साहसान्याहुस्तत्र कण्टकशोधनम् ॥' इति। निःशङ्कपातनं निःशङ्कप्रहरणम्। त्रीण्येव साहसानि त्रिप्रकाराण्येव सहसा कृतानि दण्डपारुष्याणीत्यर्थः।

तथा वाग्दण्डपारुष्ययोरुभयोरपि द्वयोः प्रवृत्तकलहयोर्मध्ये यः क्षमते तस्य न केवलं दण्डाभावः किन्तु पूज्य एव। तथा पूर्वं कलहे प्रवृत्तस्य दण्डगुरुत्वम्। कलहे च बद्धवैरानुसंधातुरेव दण्डभाक्त्वम्। तथा तयोर्द्वयोरपराधविशेषापरिज्ञाने दण्डः समः। तथा श्वपचादिभिरार्याणामपराधे कृते सज्जना एव दण्डदापनेऽधिकारिणस्तेषामशक्यत्वे तान् राजा घातयेदेव, नार्थं गृह्णीयादित्येवं पञ्च प्रकारा विधयस्तेनैवोक्ताः— 'विधिः पञ्चविधस्तूक्त एतयोरुभयोरपि। पारुष्ये सति संरम्भादुत्पन्ने क्रुद्धयोर्द्वयोः ॥ स मन्यते यः क्षमते दण्डभाग् योऽतिवर्तते। पूर्वमाक्षारयेद्यस्तु नियतं स्यात्स दोषभाक् ॥ पश्चाद्यः सोऽप्यसत्कारी पूर्वे तु विनयो गुरुः। द्वयोरापन्नयोस्तुल्यमनुबध्नाति यः पुनः ॥ स तयोर्दण्डमाप्नोति पूर्वो वा यदि वेतरः। पारुष्यदोषावृतयोर्युगपत्संप्रवृत्तयोः ॥ विशेषश्चेन्न लक्ष्येत विनयः स्यात्समस्तयोः। श्वपाकषण्डचण्डालव्यङ्गेषु वधवृत्तिषु ॥ हस्तिपव्रात्यदासेषु गुर्वाचार्यनृपेषु च। मर्यादातिक्रमे सद्यो घात एवानुशासनम् ॥ यमेव ह्यतिवर्तेरन्नेते सन्तं जनं नृषु। स एव विनयं कुर्यान्न तद्विनयभाङ्नृपः ॥ मला ह्येते मनुष्याणां धनमेषां मलात्मकम्। अतस्तान् घातयेद्राजा नार्थदण्डेन दण्डयेत् ॥' इति। मिता. २।२१२

दण्डपारुष्यनिर्णयहेतुः

**[१]असाक्षिकहते चिह्नैर्युक्तिभिश्चागमेन च।**
**द्रष्टव्यो व्यवहारस्तु कूटचिह्नकृतो भयात् ॥**

(१) वाक्पारुष्यपूर्वकत्वाद् दण्डपारुष्यस्यानन्तरमारम्भः। पाण्यादिना अभिघातादिकं दण्डपारुष्यम्। तत्र निर्जनेऽभिहत्य न मयाऽयमभिहत इत्येवं मिथ्यावादित्वे दौष्ट्यातिशयाद्वा क्षताद्यात्मनः कृत्वा निर्दोषजनाध्यारोपे कथं स्यादित्यपेक्षिते आह—'असाक्षिकहते चिह्नैर्युक्तिभिश्चागमेन च। द्रष्टव्यो व्यवहारस्तु कूटचिह्नकृताद्भयात् ॥' असाक्षिकेऽभिहते क्षतादिभिश्चिह्नैस्तद्व्यभिचारे वा कूटचिह्नकारिदुष्टपुरुषभयाद् व्यवहार एव प्रागुक्तन्यायेन चतुष्पाद्युक्त्यागमानुसारेणैव विद्वज्जनसमक्षं स्वयं वा राज्ञा द्रष्टव्यः। अयं च सर्वव्यवहारपदसाधारणः श्लोकः कार्यगौरवप्रतिपत्त्यर्थमिहाम्नात इत्यवसेयम्। विश्व. २।२१६

(२) एवम्भूतदण्डपारुष्यनिर्णयपूर्वकत्वाद्दण्डप्रणयनस्य तत्स्वरूपसंदेहे निर्णयहेतुमाह—असाक्षिकेति। यदा कश्चिद्रहस्यहमनेन हत इति राज्ञे निवेदयति तदा [१]चिह्नैर्व्रणादिस्वरूपगतैर्लिङ्गैर्युक्त्या कारणप्रयोजनपर्यालोचनात्मिकया आगमेन जनप्रवादेन चशब्दाद्दिव्येन वा कूटचिह्नकृतसंभावनाभयात् परीक्षा कार्या। *मिता.

(३) अथ दण्डपारुष्यनिमित्ते दण्डविधिः। दण्डपारुष्यं नाम शरीरस्य ताडनेनामेध्यसंयोजनेन ताडनार्थमवगूरणेन वा परस्य दुःखोत्पादनम्। तत्रापराधसदसद्भावसंदेहे निर्णयहेतूंस्तावदाह—असाक्षिक इति।

---

* व्यप्र. मितावत्।

(१) **यास्मृ.** २।२१२; **अपु.** २५८।९ तो भ (ताद्भ); **विश्व.** २।२१६ अपुवत्; **मिता.**; **अप.** क्षिक (क्षिके) कृतो भयात् (कृताद्दते); **व्यक.** १०७ न च (न वा) शेषं अपुवत्; **स्मृच.** २५ क्षिक (क्षिके) शेषं अपुवत्; **विर.** २७४ अपुवत्; **पमा.** ४० स्मृचवत् : ४१२; **रत्न.** १२१ अपुवत्; **व्यनि.** ४९४ अपुवत्; **नृप्र.** २७२-३ कृतो (युतो); **वीमि.**; **व्यप्र.** ३७१ : ३७८ चिह्नैर्यु (चिह्ने यु); **व्यउ.** ११२ न च (न वा) : ११८ अपुवत्; **विता.** ७३४-५; **राकौ.** ४९० अपुवत्; **प्रका.** १४ क्षिक (क्षिके) चिह्नैर्यु (चिह्ने यु) शेषं अपुवत्; **समु.** १० अपुवत्.

१ चिह्नैर्वर्णादि.

असाक्षिके देशेऽहमनेन हत इति केनचिद्राज्ञे निवेदिते राज्ञा सभ्यैश्च द्वेषादिकृतमिथ्याचिह्नं वर्जयित्वाऽन्यैश्चिह्नैर्युक्तिभिरागमेन आप्तवाक्येन चकाराद्दिव्यैश्च विवादोऽयं वादी साधुरयमसाधुरयमिति विचार्य निर्णेतव्यः। चिह्नं क्षतादि। युक्तिभिर्हन्तृहन्तव्ययोः संनिधानं द्वेषहेतुसंभव इत्यादिभिः। आगम आप्तवाक्यम्। केचित्पठन्ति— 'कूटचिह्नकृताद्भयात्' इति। तस्यार्थः— न व्रणादिदर्शनमात्रेण विना विचारो निर्णयः कार्यः। यतो मत्सरादिवशात् कूटं कृत्रिममपि चिह्नं कर्तुं शक्यते।

*अप.

(४) चिह्नैर्हन्तुरसाधारणैरुपवीतादिभिः।

×विर. २७४

(५) असाक्षिकं रहसि हते पादायुधादिना ताडिते हन्त्रा विप्रतिपत्तौ च कृतायां स व्यवहारश्चिह्नैर्व्रणादिभिर्देहस्थैर्युक्तिभिः प्रयोजनपर्यालोचनादिभिः आगमेन जनप्रवादेन चकारात् दिव्येन द्रष्टव्यो निर्णेतव्यः। कूटेति कपटचिह्नातिरिक्तैरित्यर्थः। तुशब्देनाहमनेन ताडित इति वाङ्मात्रेण दण्डप्रणयनादि व्यवच्छिनत्ति।

वीमि.

स्मृत्यनुक्तपारुष्ये दण्डविधिः

**[१]यत्र नोक्तो दमः सर्वैः प्रमादेन महात्मभिः।**
**तत्र कार्यं परिज्ञाय कर्तव्यं दण्डधारणम्॥**

नानभिधानभ्रान्त्यानध्यवसायः कार्यः, किं तर्हि उक्तमनुक्तं वा द्वयोर्गुणादिभिरनुबन्धादिभिश्च स्वरूपमालोच्य पीडानुसारेण सर्वत्र दण्डमानकर्तव्यताध्यवसानमित्यभिप्रायः। विश्व. २।२१७

साधनभेदेन जातितो गुणतो वा समहीनोत्तमभेदेन च दण्डभेदाः

**[२]भस्मपङ्करजःस्पर्शे दण्डो दशपणः स्मृतः।**
**अमेध्यपार्ष्णिनिष्ठ्यूतस्पर्शने द्विगुणः स्मृतः॥**
**[१]समेष्वेवं परस्त्रीषु द्विगुणस्तूत्तमेषु च।**
**हीनेष्वर्धदमो मोहमदादिभिरदण्डनम्॥**

(१) एतदेवोदाहरणमात्रतया प्रपञ्चयति— भस्मेति। मेध्यत्वेऽपि भस्मकर्दमधूलिप्रक्षेपणे निर्दोषस्य कृते दशपणो दण्डः स्मृत इत्यल्पोऽपि स्मरणानुसारादविरुद्ध इत्यवसेयम्। अमेध्यादिस्पर्शे तु ततो द्विगुणः विंशतिपण इत्यर्थः। निष्ठ्यूतग्रहणं निष्ठ्यूतसदृशामेध्यस्य प्रतिपत्त्यर्थम्। तथा च मूत्रपुरीषादौ दण्डातिरेकसिद्धिः।

यच्चैतदुक्तं— 'समेष्वेवं परस्त्रीषु द्विगुणस्तूत्तमेषु च। हीनेष्वर्धदमो मोहमदादिभिरदण्डनम्॥' कृतव्याख्यानमेतत्। विश्व. २।२१८-९

(२) एवं निश्चिते साधनविशेषेण दण्डविशेषमाह— भस्मेति। भस्मना पङ्केन रेणुना वा यः परं स्पर्शयत्यसौ दशपणं दण्डं दाप्यः। अमेध्यमिति अश्रुश्लेष्मनखकेशकर्णविड्दूषिकाभुक्तोच्छिष्टादिकं च गृह्यते। पार्ष्णिः पादस्य पश्चिमो भागः। निष्ठ्यूतं मुखनिःसारितं जलम्। तैः स्पर्शने ततः पूर्वाद्दशपणाद्द्विगुणो विंशतिपणो दण्डो वेदितव्यः। पुरीषादिस्पर्शने पुनः कात्यायनेन विशेष उक्तः— 'छर्दिमूत्रपुरीषाद्यैरापाद्यः स चतुर्गुणः। षड्गुणः कायमध्ये स्यान्मूर्ध्नि त्वष्टगुणः स्मृतः॥' इति। आद्यग्रहणाद्वसाशुक्रासृङ्मज्जानो गृह्यन्ते।

एवम्भूतः पूर्वोक्तो दण्डः सवर्णविषये द्रष्टव्यः। परभार्यासु चाविशेषेण। तथोत्तमेषु स्वापेक्षयाऽधिकश्रुतवृत्तेषु पूर्वोक्ताद्दशपणाद्विंशतिपणाच्च दण्डाद्द्विगुणो

* स्मृच. व्याख्यानं अपरार्के गतार्थम्।

× शेषं मितावत्।

(१) विश्व. २।२१७.

(२) **यास्मृ.** २।२१३; **अपु.** २५८।१०; **विश्व.** २।२१८; **मिता.** (क) गुणः स्मृतः (गुणस्ततः); **अप.** मितावत्; **व्यक.** १०४; **विर.** २६१ मितावत्; **पमा.** ४१३; **रत्न.** १२२; **विचि.** ११२; **व्यनि.** ४९०; **दवि** २५२ मितावत्; **नृप्र.** २७३; **सवि.** ४८१ पणः (गुणः); **वीमि.** मितावत्; **व्यप्र.** ३७१; **व्यउ.** ११२ मितावत्; **व्यम.** १००; **विता.** ७३५; **राकौ.** ४९० मितावत्; **सेतु.** २१५; **समु.** १६२.

(१) **यास्मृ.** २।२१४; **अपु.** २५८।११ ष्वर्ध (ष्वर्धे); **विश्व.** २।२१९; **मिता.** (क) ष्वेवं (ष्वेव); **अप.** मो मोह (मः प्रोक्तो); **व्यक.** १०४; **स्मृच.** ३२९ उत्त.; **विर.** २६१ मितावत्; **पमा.** ४१३; **रत्न.** १२२ मितावत्; **विचि.** ११२ मितावत्; **व्यनि.** ४९०; **दवि.** ३९ (मोहमदादिभिरदण्डनम्) एतावदेव : २५२ अपुवत्; **नृप्र.** २७३ मोहमदा (मोहभस्मा); **सवि.** ४८१ पू.; **वीमि.**; **व्यप्र.** ३७१; **व्यउ.** ११३; **व्यम.** १००; **विता.** ७३५; **राकौ.** ४९० अपवत्; **सेतु.** २१५ मितावत्; **समु.** १६२.

दण्डो वेदितव्यः। हीनेषु स्वापेक्षया न्यूनवृत्तश्रुतादिषु पूर्वोक्तस्यार्धदमः पञ्चपणो दशपणश्च वेदितव्यः। मोहश्चित्तवैकल्यम्। मदो मद्यपानजन्योऽवस्थाविशेषः। आदिग्रहणात् ग्रहावेशादिकम्। एतैर्युक्तेन भस्मादिस्पर्शने कृतेऽपि दण्डो न कर्तव्यः। मिता.

(३) जातितो गुणतो वा तुल्यं परं भस्मकर्दमधूलिभिर्योजयतो दशपणो दण्डः। यदि पुनरमेध्यादिभिः संयोजयति तदा विंशतिपणः। अत्र यदि परस्त्रीमात्रे, तथा जातितो गुणतो वोत्कृष्टेषु नरेषूक्तमपराधं कुर्यात्तदा पूर्वोक्ताद्दण्डाद्द्विगुणो दण्डः कार्यो विंशतिपणः स्यात्। यत्र विंशतिपणस्तत्र चत्वारिंशत्पणः स्यात्। जातितो वा गुणतो वा हीनविषय उक्तस्यार्धं दण्डनीयः। मदादिना लुप्तज्ञानस्यापराधाभावतो दण्डाभावः। अमेध्यं वसाशुक्रादिशरीरमलात्मकम्। पार्ष्णिः पादापरभागः। निष्ठ्यूतं निष्ठीवनम्। अप.

(४) पार्ष्णिश्चरणस्य पश्चिमो भागः। चरण एव तात्पर्यमस्येत्येके। * विर. २६१

(५) अथात्र दण्डपारुष्यनिश्चयानन्तरकृत्यं दण्डं यथायथमाह प्रकरणसमाप्तिपर्यन्तेन— भस्मेति। भस्मपङ्करजोभिः प्रत्येकं परस्य स्पर्शे योजने तत्कर्तुर्दशपणमितो दण्डः। अमेध्यमश्रुप्रभृति, पार्ष्णिश्चरणस्य पश्चाद्भागः, निष्ठ्यूतं मुखश्लेष्म एतैः परस्य स्पर्शने कृते तत्कर्तुस्ततो दशपणाद्द्विगुणो दण्डः। एवं दण्डः समेषु सवर्णेषु द्रष्टव्यः। परभार्यासूत्तमेषु च वर्णेषु विषये तादृशापराधे कृते समेषूक्ताद्दण्डात् द्विगुणो दमः। हीनेषु वर्णेषु विषये तादृशापराधे समेषूक्तस्य दण्डस्यार्धो दमः कार्यः। मोहोऽनभिज्ञता, मदो मद्यादिभिः। आदिपदेनोन्मादपरिग्रहः। एतैर्भस्मादिस्पर्शने कृतेऽपि दण्डाभावः। चकारेणोत्तरोत्तरं त्रिगुणचतुर्गुणौ दण्डाविति समुच्चीयते। वीमि.

अब्राह्मणकृते ब्राह्मणविषये दण्डपारुष्ये दण्डविधिः

[१]'विप्रपीडाकरं छेद्यमङ्गमब्राह्मणस्य तु।
उद्गूर्णे प्रथमो दण्डः संस्पर्शे तु तदर्धिकः॥

(१) अयं चान्यो विशेषः— विप्रपीडाकरमिति। उद्गूर्यानिपाते प्रथमसाहसो दण्डः। प्रहारायोद्गूरणेनैव विस्रम्भेणाब्राह्मणस्य ब्राह्मणशरीरस्पर्शनेऽर्धदण्डः। स्पष्टमन्यत्। विश्व. २।२२०

(२) प्रातिलोम्यापराधे दण्डमाह— विप्रपीडाकरमिति। ब्राह्मणानां पीडाकरमब्राह्मणस्य क्षत्रियादेर्यदङ्गं करचरणादिकं तच्छेत्तव्यम्। क्षत्रियवैश्ययोरपि पीडां कुर्वतः शूद्रस्याङ्गच्छेदनमेव। 'येन केनचिदङ्गेन हिंस्याच्छ्रेयांसमन्त्यजः। छेत्तव्यं तत्तदेवास्य तन्मनोरनुशासनम्॥' इति (मस्मृ. ८।२७९)। द्विजातिमात्रस्यापराधे शूद्रस्याङ्गच्छेदविधानात् वैश्यस्यापि क्षत्रियापकारिणोऽयमेव दण्डस्तुल्यन्यायत्वात्। उद्गूर्णे वधार्थमुद्यते शस्त्रादिके प्रथमसाहसो दण्डो वेदितव्यः। शूद्रस्य पुनरुद्गूर्णेऽपि हस्तादिच्छेदनमेव। 'पाणिमुद्यम्य दण्डं वा पाणिच्छेदनमर्हति' इति मनुस्मरणात् (मस्मृ. ८।२८०)। उद्गूरणार्थं शस्त्रादिस्पर्शने तु तदर्धिकः प्रथमसाहसादर्धदण्डो वेदितव्यः। भस्मादिसंस्पर्शे पुनः क्षत्रियवैश्ययोः प्रातिलोम्यापवादेषु द्विगुणत्रिगुणा दमा इति वाक्पारुष्योक्तन्यायेन कल्प्यम्। शूद्रस्य तत्रापि हस्तच्छेद एव। 'अवनिष्ठीवतो दर्पाद् द्वावोष्ठौ छेदयेन्नृपः। अवमूत्रयतो मेढ्रमवशर्धयतो गुदम्॥' इति मनुस्मरणात् (मस्मृ. ८।२८२)। + मिता.

(३) तुशब्दपाठे ब्राह्मणाङ्गच्छेदव्यवच्छेदः। वीमि.

उच्चजातिकृते सजातीयकृते वा परगात्रविषये दण्डपारुष्ये दण्डाः

उद्गूर्णे हस्तपादे तु दशविंशतिकौ दमौ।
परस्परं तु सर्वेषां शस्त्रे मध्यमसाहसः॥

* शेषं मितावत्।

(१) यास्मृ. २।२१५; अपु. २५८।१२ धिकः (र्धकः); विश्व. २।२२० संस्पर्शे (स्पर्शने); मिता.; अप.; व्यक. १०५; विर. २६७ अपुवत्; पमा. ४१७; रत्न. १२२ करं (करे) शेषं अपुवत्; व्यनि. ४९२ संस्पर्शे (स्पर्शने) धिकः (र्धकः); दवि. २५० अपुवत्; नृप्र. २७३ उद्गू (उद्गी) र्णे तु (र्णेन) धिकः (र्धकम्); सवि. ४८१ स्य तु (स्य च) शेषं अपुवत्; वीमि. स्य तु (स्य च); व्यप्र. ३७३; व्यउ. ११४ धिकः (र्धकम्); व्यम. १००; विता. ७३६; समु. १६२.

\+ अप., विर., दवि., वीमि., व्यप्र. मितावत्।

(१) यास्मृ. २।२१६; अपु. २५८।१३ शस्त्रे (शास्त्रे); विश्व. २।२२१; मिता.; अप.; व्यक. १०५ हस्त (हस्त)

(१) अनुत्कृष्टविषयत्वे तु— 'उद्गूर्णे हस्तपादे तु दशविंशतिकौ दमौ। परस्परं तु सर्वेषां शस्त्रे मध्यमसाहसः ॥' तुशब्दः प्रत्येकमवधारणार्थः । हस्त एवोद्गूर्णे दशकः, पाद एव विंशतिकः । तथाच समुच्चये समुच्चयसिद्धिः । एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम् । एतच्च सर्ववर्णानां तुल्यगुणादियोगे स्यात् । शस्त्रोद्गूरणे तु मध्यमसाहसो दण्डः । विश्व. २।२२१

(२) एवं प्रातिलोम्यापराधे दण्डमभिधाय पुनः सजातिमधिकृत्याह— उद्गूर्ण इति । हस्ते पादे वा ताडनार्थमुद्गूर्णे यथाक्रमं दशपणो विंशतिपणश्च दण्डो वेदितव्यः । परस्परवधार्थे शस्त्रे उद्गूर्णे सर्वेषां वर्णिनां मध्यमसाहसो दण्डः । ×मिता.

(३) हस्ते परपीडार्थमुद्यमिते दशमो दमः । पादे विंशतिको दमः । शस्त्रे मध्यमसाहसः । उद्यमन एवैतन्न तु निपातने, तत्र दण्डान्तरविधानात् । परस्परमिति वचनात् सजातिविषयमेतत् । हीनजातेरुत्तमजातिं प्रत्युद्गूर्णमानस्य दण्डान्तरविधानात् । अप.

(४) आद्यतुशब्देन निपातनव्यवच्छेदः । द्वितीयतुशब्देनासमानजातीयानामुक्तदण्डव्यवच्छेदः । *वीमि.

**पादकेशांशुककरोल्लुञ्चनेषु पणान् दश ।**
**पीडाकर्षांशुकावेष्टपादाध्यासे शतं दमः ॥**

× विर., पमा., दवि., व्यप्र. मितावत् ।

* शेषं मितावत् ।

रं तु (रस्य) सः (सम्); **विर.** २६३ रं तु (रस्य) सः (सम्); **पमा.** ४१४; **रत्न.** १२२; **विचि.** ११४ सः (सम्); **दवि.** २५० विरवत्; **नृप्र.** २७३; **सवि.** ४८२ दश (परं) सः (सम्); **वीमि.**; **व्यप्र.** ३७२; **व्यउ.** ११३; **व्यम.** १००; **विता.** ७३७ विचिवत्; **सेतु.** २१७ विरवत्; **समु.** १६२.

(१) **यास्मृ.** २।२१७; **अपु.** २५८।१४; **विश्व.** २।२२२ करोल्लुञ्च (करालुञ्छ) कर्षांशुकावेष्ट (कर्षाञ्जनावेष्ट्य); **मिता.**; **अप.** रोल्लु (रालु); **व्यक.** १०४ अपवत्; **स्मृच.** ३२८ लुञ्च (लुञ्छ); **विर.** २६२; **पमा.** ४१५ पीडा (पिण्डा); **रत्न.** १२२; **विचि.** ११३ करो......दश (कराकर्षणेषु पणा दश); **दवि.** २५३ रोल्लुञ्च (रोन्मुञ्च) पादाध्यासे (पादन्यासे); **नृप्र.** २७४; **सवि.** ४८२ शांशुककरोल्लुञ्च (शाङ्कुशकरोल्लुञ्छ) पांशुका (पाङ्कुशा) ध्यासे

(१) जात्यादिसाम्य एव तु— 'पादकेशांशुककरालुञ्छनेषु पणान् दश । पीडाकर्षाञ्जनावेष्ट्य पादाध्यासे शतं दमः ॥' पादकेशवस्त्राणामालुञ्छने अवधूनने साक्षेपं दशपणो दण्डः स्यात् । पीडाकर्षाञ्जनेन त्वावेष्ट्य ग्रीवादौ पादन्यासे शतं दण्ड्यः । आञ्जनं ध्यामीकरणं [ ध्यामीकरणं श्यामीकरणं मलिनीकरणमित्यर्थः । 'ध्यामं दमनके गन्धतृणे श्यामेऽभिधेयवत्' इति विश्वः— इति पादटिप्पण्याम् ] । पीडया कर्षणेनाञ्जनं पीडाकर्षाञ्जनम् । आञ्जनेन ध्यामीकरणेन त्वावेष्ट्य वशं नीत्वेत्यर्थः । स्पष्टमन्यत् ।

विश्व. २।२२२

(२) पादकेशवस्त्रकराणामन्यतमं गृहीत्वा य उल्लुञ्चति झटित्याकर्षयति असौ दशपणान् दण्ड्यः । पीडा च कर्षश्चांशुकावेष्टश्च पादाध्यासश्च पीडाकर्षांशुकावेष्टपादाध्यासं तस्मिन् समुचिते शतं दण्ड्यः । एतदुक्तं भवति । अंशुकेनावेष्ट्य गाढमापीड्याकृष्य च यः पादेन घट्टयति तं शतं पणान् दापयेदिति । *मिता.

(३) पादयोः केशानामंशुकस्य वस्त्रस्य हस्तयोर्वा समानजातीयस्य पुंस आलुञ्चन आकर्षणे दश पणान् दण्ड्यः । पीडादीनां समुचितानां करणे पणशतं दमः । पीडा निष्पीडनम् । आकर्ष आक्रोश आकर्षणम् । अंशुकावेष्टो ग्रीवादौ वस्त्रबन्धनम् । पादाध्यासो मूर्धादौ पादन्यासः । अप.

**शोणितेन विना दुःखं कुर्वन् काष्ठादिभिर्नरः ।**
**द्वात्रिंशतं पणान् दण्ड्यो द्विगुणं दर्शनेऽसृजः ॥**

* विर., वीमि., व्यप्र., व्यउ., व्यम., विता. मितावत् ।

(ध्यासे); **वीमि.**; **व्यप्र.** ३७३; **व्यउ.** ११४; **व्यम.** १००; **विता.** ७३७; **सेतु.** २१८ रोल्लुञ्चनेषु (राकर्षणेषु); **समु.** १६२ रोल्लुञ्च (रालुञ्छ) पणान् (पणा).

(१) **यास्मृ.** २।२१८; **अपु.** २५८।१५ दण्ड्यो (दाप्यो); **विश्व.** २।२२३ दुःखं कुर्वन् (कुर्वन् दुःखं); **मिता.**; **अप.** दुःखं (पीडां) शेषं अपुवत्; **पमा.** ४१५; **रत्न.** १२२ शतं (शत) गुणं (गुणो); **व्यनि.** ४९१ पणान् दण्ड्यो (पणं दाप्यो); **नृप्र.** २७४ कुर्वन् (कुर्यात्); **सवि.** ४८२ (=) त्रिंशतं (विंशति) दर्शनेऽसृजः (दंशनेऽन्यजः); **वीमि.** अपुवत्; **व्यप्र.** ३७२ पणान् (पणं)

(१) साम्य एव— 'शोणितेन विना कुर्वन् दुःखं काष्ठादिभिर्नरः। द्वात्रिंशतं पणान् दण्ड्यो द्विगुणं दर्शनेऽसृजः॥' असृजो लोहितस्येत्यर्थः। स्पष्टमन्यत्। विश्व. २।२२३

(२) यः पुनः शोणितं यथा न दृश्यते तथा मृदुताडनं काष्ठलोष्टादिभिः करोत्यसौ द्वात्रिंशतं पणान् दण्ड्यः। यदा पुनर्गाढताडनेन लोहितं दृश्यते तदा द्वात्रिंशतो द्विगुणं चतुःषष्टिपणान् दण्डनीयः। त्वङ्मांसास्थिभेदे पुनर्विशेषो मनुना दर्शितः— 'त्वग्भेदकः शतं दण्ड्यो लोहितस्य च दर्शकः। मांसभेत्ता च षण्निष्कान् प्रवास्यस्त्वस्थिभेदकः॥' इति (मस्मृ. ८।२८४)। *मिता.

(३) शोणितमदर्शयित्वैव काष्ठादिभिः परस्य समानजातीयस्य दुःखमुत्पादयन् द्वात्रिंशतं पणान् दाप्यः। शोणितदर्शने तु चतुःषष्टिम्। अप.

**[१]करपाददतो भङ्गे छेदने कर्णनासयोः।**
**मध्यो दण्डो व्रणोद्भेदे मृतकल्पहते तथा॥**

(१) निकृष्टविषयत्वे तु— 'करपाददन्तभङ्गे छेदने कर्णनासयोः। मध्यो दण्डो व्रणोद्भेदे मृतकल्पहते तथा॥' साम्ये हि शस्त्रोद्गूरणमात्र एव मध्यमस्योक्तत्वान्निकृष्टविषयमेतदिति व्याख्येयम्। ऋज्वन्यत्। विश्व. २।२२४

(२) करपाददन्तस्य प्रत्येकं भङ्गे कर्णनासस्य च प्रत्येकं छेदने रूढव्रणस्योद्भेदने मृतकल्पो यथा भवति तथा हते ताडिते मध्यमसाहसो वेदितव्यः। अनुबन्धादिना विषयस्य साम्यमत्रापादनीयम्। ×मिता.

(३) मिताटीका— ननु कर्णनासच्छेदाद्यपेक्षया करपाददन्तभङ्गस्याल्पत्वेनैकरूप्येण सर्वत्र मध्यमसाहसं दण्डविधानमनुपपन्नं स्यादित्यत आह— अनुबन्धादिनेति। अनुबन्धो दोषोत्पादः। 'दोषोत्पादेऽनुबन्धः स्यादि'त्यमरः। आदिशब्दात् व्यवहारसौकर्यं गृह्यते। कर्णनासच्छेदनरूढव्रणोद्भेदनादौ दोषाधिक्यं प्रत्यक्षसिद्धम्। करपादयोस्तु साक्षाच्छरीरावयवत्वेन तद्भङ्गे व्यवहारसौकर्याभावेन शरीरयात्रायाः दुर्लभत्वात् दोषाधिक्यम्। दन्तभङ्गेऽभ्यवहारसौकर्याभावेन परम्परया जीवनसंकोचाद्दोषाधिक्यं इत्यनुबन्धादिना करपाददन्तभङ्गादिरूपस्य विषयस्य साम्यमूह्यमित्यर्थः। सुबो.

(४) तथापदेनाङ्गुलिच्छेदसंग्रहः। *वीमि.

**[१]चेष्टाभोजनवाग्रोधे नेत्रादिप्रतिभेदने।**
**कन्धराबाहुसक्थ्नां च भङ्गे मध्यमसाहसः॥**

(१) चेष्टादिप्रतिरोधकेऽभिघाते अक्ष्यादीन्द्रियाधिष्ठानप्रत्येकभेदने कन्धरादिभेदने चोत्तमसाहसो दण्डः। चेष्टानिरोधो मूर्च्छा। भोजननिरोधोऽत्याभिघाताद् भोक्तुमशक्तिः। वागुच्चारणाशक्तिर्वाग्रोधः। कन्धरा गलस्कन्धसंचारिणी सिरा। स्पष्टमन्यत्। विश्व. २।२२५

(२) गमनभोजनभाषणनिरोधे नेत्रस्य आदिग्रहणाज्जिह्वायाश्च प्रतिभेदने। कन्धरा ग्रीवा, बाहुः प्रसिद्धः, सक्थि ऊरुस्तेषां प्रत्येकं भञ्जने मध्यमसाहसो दण्डः। +मिता.

---

* अप., विर., पमा., वीमि., व्यप्र., व्यउ., विता. मितावत्।

गुणं (गुणो); **व्यउ.** ११३; **व्यम.** १०० विना (समं) गुणं (गुणो); **विता.** ७३७ ऽसृजः (स्मृतः); **समु.** १६२ अपुवत्.

(१) **यास्मृ.** २।२१९; **अपु.** २५८।१६; **विश्व.** २।२२४ दतो (दन्त); **मिता.**; **अप.** विश्ववत्; **व्यक.** १०५ विश्ववत्; **विर.** २६५ विश्ववत्; **पमा.** ४१५; **रत्न.** १२२ छेद (भेद); **विचि.** ११६ कल्प (कल्पे) शेषं विश्ववत्; **दवि.** २५७ विचिवत्; **सवि.** ४८२-३ (=) पाददतो भङ्गे (वद्दन्तभङ्गे च) मध्यो (मध्ये); **वीमि.**; **व्यप्र.** ३७३; **व्यउ.** ११४; **व्यम.** १०० रत्नवत्; **विता.** ७३७; **सेतु.** २१९ कल्प (कल्पे); **समु.** १६२.

× अप., विर., पमा., विचि., दवि., वीमि., व्यप्र. मितावत्।

* शेषं मितावत्। + पमा., व्यप्र. मितावत्।

(१) **यास्मृ.** २।२२०; **अपु.** २५८।१७; **विश्व.** २।२२५ मध्यम (उत्तम); **मिता.**; **अप.** सक्थ्नां च (सक्थ्यङ्घ्रि); **व्यक.** १०५ प्रति (प्रवि) सः (सम्); **विर.** २६५ प्रति (पु वि); **पमा.** ४१६; **रत्न.** १२२; **दवि.** २५७ प्रति (प्रवि); **सवि.** ४८३ (=) भोजन (भेदन) धे (ध) भेद (रोध) सः (सम्); **वीमि.**; **व्यप्र.** ३७३; **व्यउ.** ११४; **विता.** ७३८; **समु.** १६२ भङ्गे (भेदे).

(३) चेष्टा गमनागमनमूत्रपुरीषोत्सर्गादिः। भोजनमभ्यवहारः। वाग्व्याहारः। एषां कस्यचिद्रोधे प्रतिबन्धे, नेत्रादेश्च ज्ञानेन्द्रियाधिष्ठानस्य प्रतिभेदने तदधिष्ठानत्वविनाशे, कन्धराया ग्रीवाया बाह्वोः सक्थ्नो जघनस्याङ्घ्रेः पादस्य वा भङ्गे मध्यमसाहस एव दण्डः। पूर्वमिदं च वाक्यं ब्राह्मणव्यतिरिक्तस्य समानजातीयस्यापराध्नुवतो दण्डविधायकम्। विष्णुः—'चेष्टाभोजनवाग्रोधे प्रहारदाने च नेत्रकन्धराबाहुसक्थिभङ्गे चोत्तमम्' (विस्मृ. ५।६९-७०)। उत्तममुत्तमसाहसः, दण्ड इति शेषः। अत्र क्षत्रियस्य वैश्यमपराध्नुवतो वैश्यस्य क्षत्रियमपराध्नुवतो यथाक्रमं दण्डदाने मध्यमोत्तमसाहसयोर्विषयव्यवस्था। अथवा मध्यमसाहसविधिः शूद्रस्य समानजातीयापराधे। उत्तमसाहसस्तु समानजातीयापराध एव क्षत्रियवैश्ययोः। अप.

(४) चकारेण पार्ष्णिप्रभृतिसंग्रहः। *वीमि.

**एकं घ्नतां बहूनां च यथोक्ताद्द्विगुणो दमः।**
**कलहापहृतं देयं दण्डश्च द्विगुणस्ततः॥**

(१) सर्वत्रैवास्मिन् प्रकरणे— 'एकं घ्नतां बहूनां तु यथोक्ताद् द्विगुणा दमाः। कलहापहृतं देयं दण्डश्च द्विगुणस्ततः॥' कलहापहृतादित्यर्थः। एतच्चाभिहतायैव देयं राजदण्डव्यतिरेकेणेत्यवसेयम्। तथा च बृहस्पतिः— 'दण्डस्त्वभिहतायैव दण्डपारुष्यकल्पितः। हृते तद्द्विगुणं चान्यद् राजदण्डस्ततोऽधिकः॥' इति। यत्तु नारदीयं—'यमेव ह्यतिवर्तेरन्नेते सन्तं जनं नृषु। स एव विनयं कुर्यान्न तद्विनयभाङ् नृपः॥' इति। एतच्छूद्रविषयं द्रष्टव्यम्। शूद्राणां ह्युत्कृष्टापराधे राज्ञा अर्थदण्डो न ग्राह्यः। किं तर्हि। अनावेद्य स्वयमेवोत्कृष्टैरर्थदण्डेन विनयः कार्यः। राज्ञा त्वावेदिते वध एव। तथा चानन्तरमेवाह—'मला ह्येते मनुष्येषु धनमेषां मलात्मकम्। अतस्तान् घातयेद्राजा नार्थदण्डेन दण्डयेत्॥' इति। स्पष्टमन्यत्। विश्व. २।२२६

(२) यदा पुनर्बहवो मिलिता एकस्याङ्गभङ्गादिकं कुर्वन्ति तदा यस्मिन् यस्मिन् अपराधे यो यो दण्ड उक्तस्तत्र तस्माद्द्विगुणो दण्डः प्रत्येकं वेदितव्यः। अतिक्रूरत्वात्तेषां प्रातिलोम्यानुलोम्यापराधयोरप्येतस्यैव सवर्णविषयेऽभिहितस्य दण्डजातस्य वाक्पारुष्योक्तक्रमेण हानिं वृद्धिं च कल्पयेत्। 'वाक्पारुष्ये य एवोक्तः प्रातिलोम्यानुलोमतः। स एव दण्डपारुष्ये दाप्यो राज्ञा यथाक्रमम्॥' इति स्मरणात्।

किञ्च। कलहे वर्तमाने यद्येनापहृतं तत्तेन प्रत्यर्पणीयम्। अपहृतद्रव्याद्द्विगुणश्चापहारनिमित्तो दण्डो देयः। *मिता.

(३) यदा पुनरेकं प्रति बहवो हन्तारो दण्डपारुष्यकर्तारो भस्मकर्दमपांसुसंयोगकर्तारो भवन्ति तदा तेषां तस्मिन् विषये यो दण्ड उक्तस्तस्माद्द्विगुणो दण्डः प्रत्येकं कार्यः। कलहे च वर्तमाने येन यस्य यदपहृतं तेन तस्मै तद्दत्त्वा ततो द्विगुणं धनं राज्ञे देयम्। अप.

(४) बहूनां प्रत्येकं द्विगुणो दमो न पुनः समुदायस्य प्रहारकस्य, प्रत्येकमेवापराधाधिक्यात्। अत एव विष्णुः— 'एकं घ्नतां बहूनां प्रत्येकस्योक्तदण्डो द्विगुणः' इति (विस्मृ. ५।७३)। प्रत्येकस्य प्रत्येकमित्यर्थः। ×स्मृच. ३२९

(५) एकं बहवो यत्र घ्नन्ति तत्रैकस्य हन्तृत्वे यो दण्डो यत्रोक्तस्तद्द्विगुणस्तस्मिन्नपरे दण्ड इत्यर्थः, न हीनोत्तमभेदे। न चात्र दण्डाधिक्यन्यूनते द्रष्टव्ये। ×वीमि.

---

* शेषं मितावत्।

(१) **यास्मृ.** २।२२१; **अपु.** २२७।५९ उत्त. : २५८।१८ णो दमः (णा दमाः) ण्डश्च (ण्डस्तु) णस्ततः (णः स्मृतः); **विश्व.** २।२२६ नां च (नां तु) णो दमः (णा दमाः); **मिता.**; **अप.** नां च (नां तु) स्ततः (स्तथा); **व्यक.** १०६ दण्डश्च......स्ततः (दण्डं च द्विगुणं ततः) शेषं विश्ववत्; **स्मृच.** ३२९ नां च (नां तु) पू.; **विर.** २६९-७०; **पमा.** ४१६ पू. : ४२० स्ततः (स्तथा) उत्त.; **विचि.** ११९ णस्ततः (णः स्मृतः); **दवि.** २२० उत्त. : २४९ पू.; **नृप्र.** २७४ णो (णं) पू.; **सवि.** ४८३ (=) पू.; **वीमि.**; **व्यप्र.** ३७३ पू. : ३७५ उत्त.; **व्यउ.** ११४ पू. : ११५ श्च (श्चेत्) उत्त.; **विता.** ७३८ पू. : ७४१ उत्त.; **सेतु.** २२१ विचिवत्; **समु.** १६२ नां च (नां तु) पू. : १६३ उत्त.

* विर., पमा., विचि., दवि., व्यप्र., व्यउ., विता. मितावत्। × शेषं अपवत्।

**दुःखमुत्पादयेद्यस्तु स समुत्थानजं व्ययम् ।**
**दाप्यो दण्डं च यो यस्मिन् कलहे समुदाहृतः ॥**

(१) यो दुःखमुत्पादयेत्, तेन यावत् सम्यगस्योत्थानं निर्दुःखता भवति, तावद् यो व्ययः स समुत्थानजो व्ययः, स देयः । चकारात् राजावेदनप्रवृत्त्युपक्षयश्च । राज्ञे च यथोदाहृतो दण्डः । स्वयं चाददद् राज्ञा दाप्यः । स्पष्टमन्यत् । विश्व. २।२२७

(२) यो यस्य ताडनाद्दुःखमुत्पादयेत् स तस्य व्रणरोपणादौ औषधार्थं पथ्यार्थं च यो व्ययः क्रियते तं दद्यात् । समुत्थानं व्रणरोपणम् । यस्मिन् कलहे यो दण्डस्तं च दद्यान्न पुनः समुत्थानजव्ययमात्रम् । मिता.

(३) यस्तु शस्त्रादिताडनेन परस्य दुःखमुत्पादयेत् स व्रणरोपणादौ समुत्थाने यो धनव्ययस्तं दद्यात् । यश्च यस्मिन् कलहे दण्डपारुष्ये दम उक्तस्तं च राज्ञे दद्यात् । अप.

(४) दुःखमुत्पादयेत् मनुष्यग्राम्यपशूनामिति शेषः । स्मृच. ३२९

(५) चकारेण च समुच्चयार्थकेन विकल्पं वारयति । + वीमि.

यानयुग्यगोगजाश्वादिनिमित्तेषु प्राणिहिंसाद्रव्यनाशेषु स्वाम्यादीनां दण्डविचारः

**चतुष्पादकृतो दोषो नापेहीति प्रजल्पतः ।**
**काष्ठलोष्टेषुपाषाणबाहुयुग्यकृतस्तथा ॥**

(१) अकामतस्तु प्रवृत्तत्वात्— 'चतुष्पादकृते दोषो नापेहीति प्रभाषतः । काष्ठलोष्टेषुपाषाणबाहुयुद्धकृते तथा ॥' 'दुष्टोऽयं बलीवर्दादिः, अपसर्पणाय त्वर्यताम्' इत्येवंवादिनः स्वामिनश्चतुष्पादकृतेऽपराधे न दोषः । एवमेव चास्यासावर्थः । काष्ठादि क्षिपतोर्बाहुयुद्धेन वा संरब्धयोः । तथाशब्दादनभिक्रुष्टे सदोषतैवेति गम्यते । विश्व. २।३०१

(२) विषयविशेषे दण्डाभावमाह— चतुष्पादेति । चतुष्पादैर्गोगजादिभिः कृतो यो दोषो मनुष्यमारणादिरूपोऽसौ गवादिस्वामिनो न भवति अपसरेति प्रकर्षेणोच्चैर्भाषमाणस्य । तथा लकुटलोष्टसायकपाषाणोत्क्षेपणेन बाहुना युग्येन च युगं वहता अश्वादिना कृतो यः पूर्वोक्तो दोषः सोऽपि काष्ठादीन् प्रास्यतो न भवत्यपसरेति प्रजल्पतः । काष्ठाद्युत्क्षेपणेन हिंसायां दोषाभावकथनं दण्डाभावप्रतिपादनार्थम् । प्रायश्चित्तं पुनरबुद्धिपूर्वकरणनिमित्तमस्त्येव । काष्ठादिग्रहणं च शक्तितोमरादेरुपलक्षणार्थम् । * मिता.

(३) विषयविशेषे दण्डापवादमाह— चतुष्पादेति । चतुष्पादैर्गोगजाश्वादिभिः कृतो मनुष्यमारणादिरपराधस्तद्वाहकस्य दण्डनिमित्तं भवति । यद्यसावुच्चैरपेहीति परं प्रति ब्रूयात्, काष्ठादि व्यापारयतश्चापेहीत्युच्चैर्भाषमाणस्य काष्ठादिकृतोऽपराधो दण्डनिमित्तं न भवति । लोष्टो मृत्पिण्डः । इषुर्बाणः । युग्यं यानम् । अप.

(४) अस्यार्थः— अमनुष्यैः पशुपक्ष्यादिभिः स्वत एव कृतो हिंसादिदोषः तत्स्वामिनां तेषु बलवर्धनघासादिदायित्वेऽपि न भवति । तथाऽन्यप्रेरितकाष्ठलोष्टपाषाणपृष्ठयानवाहादिकृतो हिंसादिदोषः प्रेरकस्यापसरेति पुनः पुनरुच्चैरुच्चरितुः न भवतीति । ततोऽत्र दण्डो नास्तीत्यभिप्रायः । स्मृच. ३२५

(५) काष्ठलोष्टेष्टपाषाणबाहुयोग्याकृतः काष्ठलोष्टेष्ट-

---

\+ शेषं मितावत् ।

(१) **यास्मृ.** २।२२२; **अपु.** २५८।१९; **विश्व.** २।२२७; **मिता.**; **अप.** स समुत्थानजं (समुत्थानधन); **व्यक.** १०६ दाहृतः (दीरितः); **स्मृच.** ३२९ पू.; **विर.** २७०; **पमा.** ४२० नजं (नकं); **व्यनि.** ४९५ पू.; **वीमि.**; **व्यप्र.** ३७५; **व्यउ.** ११५ जं व्ययम् (जो व्ययः); **विता.** ७४१; **समु.** १६३.

(२) **यास्मृ.** २।२९८; **विश्व.** २।३०१ कृतो (कृते) पै (पे) जल्प (भाष) युग्यकृतः (युद्धकृते); **मिता.**; **अप.** २।२९७ बाहु (बाह्य); **व्यक.** १०८ जल्प (भाष)

१ अपैहीति पाठोऽपाणिनीयः । बहुनिबन्धग्रन्थेषु दृष्टत्वात्तथैव स्थापितः ।

* विता. मितावत् ।

ष्टेषु (ष्टेष्ट) युग्य (योग्या); **स्मृच.** ३२५ चतुष्पाद (अमनुष्य) बाहुयुग्य (वाह्यायुध); **विर.** २८० ष्पाद (ष्पद) शेषं व्यकवत्; **दवि.** २२३ ष्पाद (ष्पद) जल्प (भाष) ष्टेषु (ष्टेपु) युग्य (योग्या); **वीमि.** पै (पे); **विता.** ७६३ ना (वा) कृतस्त (कृते त); **समु.** १५८ युग्य (युग्म).

पाषाणबाहुभिरभ्यासकरणे यः परमो घातो दण्डौचित्यलक्षणो दोषः प्रथममेव अपैहीति भाषमाणस्य न भवतीत्यर्थः । एतच्च एवंविधस्यान्यस्याप्यभ्यासकरणस्योपलक्षणं न्यायसाम्यात् । विर. २८०

(६) चतुष्पदमश्वगवादिकमारुह्यान्यथा वा नयतस्तथा काष्ठादिना न्यायसाम्यात् अन्यैर्वा द्रव्यैर्योग्यमभ्यासं कुर्वतः परोपघातशङ्कया प्रथममेव दूरमपैहीति प्रजल्पतः प्रकर्षेणोच्चैर्भाषमाणस्याश्वादिकृतमनुष्यादिदोषोऽश्वादिनेतुरभ्यासकर्तुश्च न भवतीत्यर्थः ।

दवि. २२३-४

(७) अपेहीति प्रकर्षेणोच्चैर्जल्पतः चतुष्पादेन हस्तिवृषादिना कृतो मारणादिरूपो दोषोऽपराधस्तत्स्वामिनो न भवति । तथा अपेहीति प्रजल्पतः शकटस्थितैर्युग्यभिन्नैः सर्वैरेव व्यापार्यमाणैर्वा काष्ठादिभिः कृतो दोषो न भवति । तथापदेन तथोक्तच्छेदसंग्रहः । वीमि.

[1] **छिन्ननस्येन यानेन तथा भग्नयुगादिना ।**
**पश्चाच्चैवापसरता हिंसने स्वाम्यदोषभाक् ॥**

(१) अनभिप्रेतत्वादेव च— 'छिन्ननास्येन यानेन तथा भग्नयुगेन च । पश्चाच्चैवापसरता हिंसिते स्वाम्यदोषभाक् ॥' नस्तादिरहितबलीवर्दादियुक्तं छिन्ननास्यम् । तथाशब्दः प्रकारार्थः । स्पष्टमन्यत् ।

विश्व. २।३०२

(२) नसि भवा रज्जुर्नस्या छिन्ना शकटादियुक्तबलीवर्दनस्या रज्जुर्यस्मिन् याने तत् छिन्ननस्यं शकटादि तेन । तथा भग्नयुगेन आदिग्रहणात् भग्नाक्षचक्रादिना च यानेन पश्चात्पृष्ठतोऽपसरता, च शब्दात्तिर्यगपगच्छता प्रतिमुखं चागच्छता च, मनुष्यादिहिंसने स्वामी प्राजको वा दोषभाङ् न भवति । अतत्प्रयत्नजनितत्वाद्धिंसनस्य । तथा च मनुः— 'छिन्ननस्ये भग्नयुगे तिर्यक्प्रतिमुखागते । अक्षभङ्गे च यानस्य चक्रभङ्गे तथैव च ॥ छेदने चैव यन्त्राणां योक्त्ररश्म्योस्तथैव च । आक्रन्दे सत्यपैहीति न दण्डं मनुरब्रवीत् ॥' इति ( मस्मृ. ८।२९१-२ ) । * मिता.

(३) चकारात्पश्चादपसरणव्यतिरिक्ता अपि यानस्य गतयः परिगृह्यन्ते । ×अप.

[1] **शक्तोऽप्यमोक्षयन् स्वामी दंष्ट्रिणां शृङ्गिणां तथा ।**
**प्रथमं साहसं दद्याद्विक्रुष्टे द्विगुणं तथा ॥**

(१) हिंसतः परिगृहीतस्य बलीवर्दादेः— 'शक्तोऽप्यमोक्षयन् स्वामी शृङ्गिणो दंष्ट्रिणस्तथा । प्रथमं साहसं दाप्यो विक्रुष्टे द्विगुणं तथा ॥' तथाशब्दोऽपराधविशेषानुसारेण दण्डविशेषकल्पनाप्रतिपत्त्यर्थः । प्रसिद्धमन्यत् ।

विश्व. २।३०३

(२) उपेक्षायां स्वामिनो दण्डमाह— शक्तोऽप्यमोक्षयन्निति । अप्रवीणप्राजकप्रेरितैर्दंष्ट्रिभिर्गजादिभिः शृङ्गिभिर्गवादिभिर्वध्यमानं समर्थोऽपि तत्स्वामी यद्यमोक्षयन्नुपेक्षते तदा अकुशलप्राजकनियोजननिमित्तं प्रथमसाहसं दण्डं दद्यात् । यदा तु मारितोऽहमिति विक्रुष्टेऽपि न मोक्षयति तदा द्विगुणम् । यदा पुनः प्रवीणमेव प्राजकं प्रेरयति तदा प्राजक एव दण्ड्यो न स्वामी । यथाह मनुः— 'प्राजकश्चेद्भवेदाप्तः प्राजको दण्डमर्हति' इति ( मस्मृ. ८।२९४ ) । प्राजको यन्ता । आप्तोऽभियुक्तः । प्राणिविशेषाच्च दण्डविशेषः कल्पनीयः । यथाह मनुः— 'मनुष्यमारणे क्षिप्रं चौरवत्किल्बिषी भवेत् । प्राणभृत्सु महत्स्वर्धं गोगजोष्ट्रहयादिषु ॥ क्षुद्राणां च पशूनां तु हिंसायां द्विशतो दमः । पञ्चाशत्तु भवेद्दण्डः शुभेषु मृगपक्षिषु ॥ गर्दभाजाविकानां तु दण्डः स्यात्प-

---

(१) **यास्मृ.** २।२९९; **विश्व.** २।३०२ नस्ये ( नास्ये ) युगादिना ( युगेन च ) हिंसने ( हिंसिते ); **मिता.**; **अप.** २।२९८; **विर.** २८० नस्ये ( नास्ये ) सरता ( सरतां ) दोष ( दण्ड ); **वीमि.**; **विता.** ७६३ पस ( नुस ); **समु.** १५८.

* वीमि. मितावत् । × शेषं मितावत् ।

(१) **यास्मृ.** २।३००; **अपु.** २५८।७६-७ ऽप्य ( ह्य ) णां शृङ्गिणां ( णः शृङ्गिणः ); **विश्व.** २।३०३ दंष्ट्रिणां शृङ्गिणां ( शृङ्गिणो दंष्ट्रिणः ) दद्याद्वि ( दाप्यो वि ); **मिता.**; **अप.** २।२९९; **व्यक.** १०६; **स्मृच.** ३२५ ऽप्य ( ह्य ); **विर.** २७३ ऽप्यमोक्ष ( ह्यमोच ) दंष्ट्रि ... ... तथा ( पक्षिणां शृङ्गिणामपि ) दद्याद्वि ( दण्ड्यो वि ); **विचि.** १२० ऽप्य ( ह्य ) दद्याद्वि (दण्ड्यो वि); **व्यनि.** ४९४ मोक्ष (मोष); **दवि.** २२३ ऽप्यमोक्ष (ह्यमोच) दद्याद्वि ( दण्ड्यो वि ); **वीमि.** ऽप्य ( ह्य ) दंष्ट्रिणां शृङ्गिणां ( शृङ्गिणो दंष्ट्रिणः ); **व्यम.** १०९ विचिवत्; **विता.** ७६३ ऽप्य ( ह्य ) द्विगुणं ( मध्यमं ); **राकौ.** ४९४ विचिवत्; **सेतु.** ३०१ स्मृचवत्; **समु.** १५८ ऽप्य ( ह्य ) णं तथा ( णं ततः ).

श्वमाषकः । माषकस्तु भवेद्दण्डः श्वशूकरनिपातने ॥' इति ( मस्मृ. ८।२९६-८ ) । *मिता.

(३) दंष्ट्रिणां गजादीनां शृङ्गिणां बलीवर्दादीनां स्वामी प्राणिव्यापादने प्रवर्तमानानां तन्निवारणे शक्तः सन् यो न निवारयति, तस्य प्रथमसाहसो दण्डः । यस्तु व्यापाद्यमानेन त्रायस्वेति विक्रुष्टेऽपि न निवारयति तस्य पूर्वोक्ताद्द्विगुणो दण्डः । अप.

(४) स्वीयं शृङ्गिणमपसारयेत्यसकृदाक्रोशे कृते विक्रुष्ट इति । विर.२७३

द्रव्यविनाशे दण्डविधिः

**अभिघाते तथा छेदे भेदे कुड्यावपातने ।**
**पणान् दाप्यः पञ्च दश विंशतिं तद्व्ययं तथा ॥**

(१) दर्पेणैव च— 'अभिघाते तथा भेदे छेदे कुड्यावपातने । पणान् दाप्यः पञ्च दश विंशतिं तद्व्ययं तथा ॥' प्रातिवेशिकगृहाणां दौरात्म्यात् पाषाणादिना अभिघाते कृते पञ्च पणान् दाप्यः । तथा भेदेऽभिघातसंत्रासाज्जाते दश पणान् दाप्यः । छेदने तु तद्द्वैधीभावे कुड्यावपातने वा विंशतिम् । व्ययं तु व्यापन्नसमाधानार्थं गृहिणे दद्यात् सर्वत्र साहसिकत्वात् । विश्व. २।२२९

(२) मुद्गरादिना कुड्यस्याभिघाते विदारणे द्विधाकरणे च यथाक्रमं पञ्चपणो दशपणो विंशतिपणश्च दण्डो वेदितव्यः । अवपातने पुनः कुड्यस्यैते त्रयो दण्डाः समुच्चिता ग्राह्याः । पुनः कुड्यसंपादनार्थं च धनं स्वामिने दद्यात् । ×मिता.

(३) कुड्यस्यापहर्ता पञ्च पणान् दाप्यः । छेत्ता दश । भेत्ता विंशतिम् । पातयिता तु कुड्यव्ययं स्वामिने दाप्यः । अप.

(४) अभिघातो बन्धशिथिलीकरणहेतुः, भेदः क्वापि बन्धादिविघटनं, छेदो द्वैधीकरणं, एभ्यो बलवान् विमर्दोऽभिघातनं एषु कुड्याभिघातादिषु यथाक्रमं पञ्चदशविंशतिचत्वारिंशत्पणा दण्डाः । अभिघातादौ तु यावत्कुड्यं मन्दीभूतं, तावदपेक्षयाऽपि साहसकर्तृपार्श्वे । विर. ३५२

(५) परकीयकुड्याभिघाते शिथिलीकरणे पञ्चदश पणाः । भेदे बन्धशिथिलीकरणे विंशतिं, छेदे द्विधाकरणे तथा विमर्दे अवघातने उभयत्रापि चत्वारिंशत्पणदण्डः । तत्सज्जीकरणं च 'स तस्योत्पादयेत्तुष्टिम्' इति मनुवचनात् । *विचि. १५१

(६) तद्व्ययं कुड्यस्य पुनः करणार्थं व्ययितं धनम् । तथाशब्देन साहित्यं विवक्षितम् । +वीमि.

**दुःखोत्पादि गृहे द्रव्यं क्षिपन् प्राणहरं तथा ।**
**षोडशाद्यः पणान् दाप्यो द्वितीयो मध्यमं दमम् ॥**

(१) परकीये— 'दुःखोत्पादि गृहे द्रव्यं क्षिपन् प्राणहरं तथा । षोडशाद्ये पणान् दाप्यो द्वितीये मध्यमं दमम् ॥' दुःखोत्पादि द्रव्यं कण्टकादि । प्राणहरं सर्पादि । स्पष्टमन्यत् । विश्व. २।२३०

(२) परगृहे दुःखजनकं कण्टकादि द्रव्यं प्रक्षिपन् षोडशपणान् दण्ड्यः । प्राणहरं पुनर्विषभुजङ्गादिकं

---

* वीमि. मितावत् ।

× पमा., सवि., व्यप्र., व्यउ., विता. मितावत् । दण्डविवेके मिताक्षरारत्नाकरयोरुद्धारः, हलायुधमतं च मितावत् ।

(१) **यास्मृ.** २।२२३; **अपु.** २५८।२१ छेदे भेदे ( भेदे छेदे ) तद्व्ययं ( तद्द्वयं ); **विश्व.** २।२२९ छेदे भेदे ( भेदे छेदे ); **मिता.**; **अप.**; **व्यक** ११९ तद्व्ययं ( तद्द्वयं ) शेषं विश्ववत्; **विर.** ३५१ छेदे भेदे ( भेदे छेदे ) पात (घात) तद्व्ययं ( तद्द्वयं ); **पमा.** ४२८; **विचि.** १५१ पणान् (पणा) शेषं विरवत्; **दवि.** २९८ दाप्यः ( दण्ड्यः ) शेषं विरवत् कामधेन्वादावपि तद्व्ययमिति पाठः इत्याह; **सवि.** ४८३ (=); **वीमि.**; **व्यप्र.** ३७७; **व्यउ.** ११७ तद्व्ययं ( तत्त्रयं );

* दण्डविवेके तु रत्नाकरवत् मिश्राः इत्युक्तम् ।

+ शेषं मितावत् ।

**विता.** ७४१; **सेतु.** २५५ पूर्वार्धे ( अवघाते तथा भेदे छेदे कुड्यादिघातने ) तद्व्ययं ( तद्विधं ); **समु.** १६४ विश्ववत्.

(१) **यास्मृ.** २।२२४; **अपु.** २५८।२२ द्वितीयो ( द्विगुणो ); **विश्व.** २।२३० शाद्यः ( शाद्ये ) तीयो ( तीये ); **मिता.**; **अप.**; **व्यक.** ११९; **विर.** ३५३ दाप्यो (दण्ड्यो); **पमा.** ४२८; **विचि.** १५२ दाप्यो ( दण्ड्यो ) तीयो (तीये); **दवि.** २९६ विरवत्; **सवि.** ४८३ (=); **वीमि.**; **व्यप्र.** ३७७ विरवत्; **व्यउ.** ११७ विरवत्; **विता.** ७४१ दाप्यो ( दण्ड्यो ) दमम् ( तथा ); **सेतु.** २५५-६ क्षिपन् ( क्षिप्रं ) दाप्यो ( दण्ड्यो ); **समु.** १६४.

प्रक्षिपन् मध्यमसाहसं दण्ड्यः। * मिता.

(३) दुःखहेतुद्रव्यं कण्टकविष्ठाग्रावास्थ्यादि।

विता. ७४१

पशुविषयदण्डपारुष्ये दण्डविधिः

**दुःखे च शोणितोत्पादे शाखाङ्गच्छेदने तथा।**
**दण्डः क्षुद्रपशूनां तु द्विपणप्रभृतिः क्रमात्॥**

(१) द्विगुण इति शेषः। शोणितोत्पादशाखाङ्गच्छेदनेषूत्तरोत्तरो द्विगुणः। शृङ्गकर्णपुच्छादीनि शाखाः। चक्षुरादीन्यङ्गानि। क्षुद्रपशवश्छागादयः। स्पष्टमन्यत्।

विश्व. २।२३१

(२) पश्वभिद्रोहे दण्डमाह — दुःखे चेति। क्षुद्राणां पशूनां अजाविकहरिणप्रायाणां ताडनेन दुःखोत्पादने असृक्स्रावणे शाखाङ्गच्छेदने। शाखाशब्देन चात्र प्राणसंचाररहितं शृङ्गादिकं लक्ष्यते। अङ्गानि करचरणप्रभृतीनि। शाखा चाङ्गं च शाखाङ्गं तस्य छेदने द्विपणप्रभृतिर्दण्डः। द्वौ पणौ यस्य दण्डस्य स द्विपणः। द्विपणः प्रभृतिरादिर्यस्य दण्डगणस्यासौ द्विपणप्रभृतिः। स च दण्डगणो द्विपणः चतुष्पणः षट्पणोऽष्टपण इत्येवंरूपो न पुनर्द्विपणस्त्रिपणश्चतुष्पणः पञ्चपण इति। कथमिति चेदुच्यते। अपराधगुरुत्वात्तावत् प्रथमदण्डाद्गुरुतरमुपरितनं दण्डत्रितयमवगम्यते। तत्र चाश्रुतत्रित्वादिसंख्याश्रयणाद्वरं श्रुतद्विसंख्याया एवाभ्यासाश्रयणेन गुरुत्वसंपादनमिति निरवद्यम्।

×मिता.

(३) शाखा अनारम्भकशृङ्गादिरूपा, अङ्गमारम्भकं करचरणादि। तेन क्षुद्रपशूनामजादीनां शोणितं विना दुःखोत्पादे, शोणितोत्पादे, शाखाच्छेदे, अङ्गच्छेदे यथाक्रमं द्विपणचतुष्पणाष्टपणषोडशपणा दण्डाः।

विर. २७८

**[१]लिङ्गस्य छेदने मृत्यौ मध्यमो मूल्यमेव च।**
**महापशूनामेतेषु स्थानेषु द्विगुणो दमः॥**

(१) परकीयानां तु— 'लिङ्गस्य छेदने मृत्यौ मध्यमो मूल्यमेव च। महापशूनामेतेषु स्थानेषु द्विगुणा दमाः॥' स्वकीये द्विपणादिमध्यमान्ता यथास्थानं दण्डाः, परकीये तु दण्डो मूल्यं चेति योज्यम्। महापशवो गवादयः। तेषां प्रागुक्तशोणितदुःखोत्पादादिषु स्थानेषु द्विपणाद्युक्तदण्डाद् द्विगुणा यथास्थानं दण्डाः कार्याः।

विश्व. २।२३२

(२) तेषां क्षुद्रपशूनां लिङ्गच्छेदने मरणे च मध्यमसाहसो दण्डः। स्वामिने च मूल्यं दद्यात्। महापशूनां पुनर्गोगजवाजिप्रभृतीनामेतेषु स्थानेषु ताडनलोहितस्रावणादिषु निमित्तेषु पूर्वोक्ताद्दण्डाद्द्विगुणो दण्डो वेदितव्यः। * मिता.

वनस्पतिवृक्षलतागुल्मादीनां छेदनादौ दण्डविधिः

**[२]प्ररोहिशाखिनां शाखास्कन्धसर्वविदारणे।**
**उपजीव्यद्रुमाणां च विंशतेर्द्विगुणो दमः॥**

---

* अप., विर., पमा., विचि., दवि., सवि., वीमि., व्यप्र., व्यउ. मितावत्।

× अप., पमा., सवि., वीमि., व्यप्र., विता. मितावत्। दण्डविवेके हलायुधमतं विरवत्, मिताक्षरा चोद्धृता।

(१) यास्मृ. २।२२५; अपु. २५८।२३ तु (स्यात्) तिः (ति); मिता.; अप. खे च (खेऽथ); व्यक. १०७ खे च (खिते) द्विपणप्रभृतिः (द्विपणा द्विगुणाः); विर. २७८ खे च (खेषु) तु (च) पणप्रभृतिः (पणात् द्विगुणः); पमा. ४२२; रत्न. १२३; दीक. ५२ द्वि......मात् (द्विगुणात् द्विगुणक्रमः); व्यनि. ४९६ तु (च); दवि. २२१ खे च (खेषु) पणप्रभृतिः (पणात् द्विगुणः); सवि. ४८३ (=) तु (च) पण (गुण); वीमि. त्पादे (च्छेदे) तु (स्यात्); व्यप्र. ३७६; व्यउ. ११६; व्यम. १००;

* अप., विर., पमा., दवि., वीमि., व्यप्र., व्यउ., विता. मितावत्।

विता. ७४३; समु. १६३.

(१) यास्मृ. २।२२६; अपु. २५८।२४ च (वा) णो दमः (णा दमाः); विश्व. २।२३२ णो दमः (णा दमाः); मिता.; अप.; व्यक. १०७; विर. २७८; पमा. ४२२; रत्न. १२३; व्यनि. ४९६ मध्यमो (मध्यमे); दवि. २२१ मध्यमो (अधमो); वीमि.; व्यप्र. ३७६; व्यउ. ११६; व्यम. १०० पशूनामेतेषु (पशुषु चैतेषु); विता. ७४३; समु. १६३.

(२) यास्मृ. २।२२७; अपु. २५८।२५ च (तु) णो दमः (णा दमाः); विश्व. २।२३३ हिशाखिनां (हशाखिका) च (तु) तेर्द्विगुणो दमः (तिर्द्विगुणा दमाः); मिता.; अप. णो दमः (णा दमाः); व्यक. १०८ च (तु) शेषं अपवत्; विर. २८४; पमा. ४२६; विचि. १२२ च (तु);

(१) आरामारोपितानां सपरिग्रहाणां— 'प्ररोहशाखिकाशाखास्कन्धसर्वविदारणे। उपजीव्यद्रुमाणां तु विंशतिद्विगुणा दमाः ॥' उपजीव्यद्रुमा आम्रादयः। तेषां प्ररोहच्छेदने विंशतिपणो दमः। शाखिकादिच्छेदनेषूत्तरोत्तरद्विगुणकल्पना। प्ररोहः पल्लवः। अल्पाः शाखाः शाखिकाः। स्पष्टमन्यत्। विश्व. २।२३३

(२) प्ररोहा अङ्कुरास्तद्वन्त्यः शाखाः प्ररोहिण्यः याश्छिन्नाः पुनरुप्ताः प्रतिकाण्डं प्ररोहन्ति ताः शाखाः येषां वटादीनां ते प्ररोहिशाखिनस्तेषां शाखाच्छेदने। यतो मूलशाखा निर्गच्छन्ति स स्कन्धस्तस्य छेदने समूलवृक्षच्छेदने च यथाक्रमं विंशतिपणदण्डादारभ्य पूर्वस्मात् पूर्वस्मादुत्तरोत्तरो दण्डो द्विगुणः। एतदुक्तं भवति। विंशतिपणश्चत्वारिंशत्पणोऽशीतिपण इत्येवं त्रयो दण्डा यथाक्रमं शाखाच्छेदनादिष्वपराधेषु भवन्तीति। अप्ररोहिशाखिनामप्युपजीव्यवृक्षाणामाम्रादीनां पूर्वोक्तेषु स्थानेषु पूर्वोक्ता एव दण्डाः, अनुपजीव्याप्ररोहिशाखिषु पुनर्वृक्षेषु कल्प्याः। * मिता.

(३) प्ररोहिणां न्यग्रोधादीनामुपजीव्यानां च टङ्काम्रादीनां शाखिनां वृक्षाणां च शाखायाः स्कन्धस्य सर्वस्य वृक्षस्य च भेदने यथाक्रमं त्रयो दण्डा भवन्ति। तत्र शाखाया भेदने विंशतिः। स्कन्धस्य द्विगुणाश्चत्वारिंशत्। सर्वस्य द्विगुणा अशीतिः। प्ररोहो न्यग्रोधः। स्कन्धः प्रधानशाखामूलम्। अप.

(४) प्ररोहिशाखिनो येषां शाखा अपि प्ररोहन्ति ते वटादयः। उपजीव्यद्रुमाः येषां छायाद्युपजीव्यते ते आम्रादयः। +विर. २८४

(५) चकारेण प्ररोहिणामेव ग्रामादिस्थैरुपवेशनाद्यर्थमुपजीव्यत्वे तद्विदारणे पुनस्तद्द्वैगुण्यमिति समुच्चीयते। वीमि.

---

* पमा., सवि., व्यप्र., विता. मितावत्।

+ शेषं मितावत्। विचि., दवि. विरवत्।

दवि. ३२३; नृप्र. २७४; सवि. ४८४ (=); वीमि.; व्यप्र. ३७७ च (तु); व्यउ. ११६ रोहि (रोह) च (तु); विता. ७४३; राकौ. ४९० रोहि (रोह); सेतु. २९३ च (तु); समु. १६३.

**चैत्यश्मशानसीमासु पुण्यस्थाने सुरालये।**
**जातद्रुमाणां द्विगुणो दमो वृक्षेऽथ विश्रुते ॥**

(१) उपजीव्यानामेव च— 'चैत्यश्मशानसीमान्तपुण्यस्थाने नृपालये। जातद्रुमाणां द्विगुणा दमा वृक्षे च विश्रुते ॥' चातुर्थिकाद्यपनोदनसमर्थः पिप्पलादिवृक्षो विश्रुतः। स्पष्टमन्यत्। विश्व. २।२३४

(२) वृक्षविशेषान् प्रत्याह— चैत्येति। चैत्यादिषु जातानां वृक्षाणां शाखाच्छेदनादिषु पूर्वोक्ताद्दण्डाद् द्विगुणः। विश्रुते च पिप्पलपलाशादिके द्विगुणो दण्डः। मिता.

(३) चैत्यादिस्थानजातानां द्रुमाणां शाखास्कन्धसर्वविदारणेषु विश्रुतद्रुमविषयेषु पूर्वोक्ता विंशत्यादयो दमा द्विगुणा वेदितव्याः। चैत्यं मनोहरस्थानम्। अप.

(४) चकारेण समुत्थानव्ययदानं समुच्चीयते। *वीमि.

**गुल्मगुच्छक्षुपलताप्रतानौषधिवीरुधाम्।**
**पूर्वस्मृतादर्धदण्डः स्थानेषूक्तेषु कर्तने ॥**

(१) चैत्यादिजातानामेव तु— 'गुल्मगुच्छक्षुपलताप्रतानौषधिवीरुधाम्। पूर्वस्मृतादर्धदण्डः स्थानेषूक्तेषु कृन्तने ॥' गुल्मादीनामुक्तेषु चैत्यादिस्थानेषु जातानां कृन्तने प्रागुक्तप्ररोहादिक्रमेणैव स्मृतादेकगुणादर्धदण्डाः

---

* शेषं मितावत्।

(१) यास्मृ. २।२२८; विश्व. २।२३४ सीमासु (सीमान्त) सुरा (नृपा) णो दमो वृक्षेऽथ (णा दमा वृक्षे च); मिता. (क) क्षेऽथ (क्षे च); अप. णो दमो वृक्षेऽथ (णा दमा वृक्षे च); व्यक. १०८; विर. २८४ णो दमो (णा दमा); पमा. ४२७; विचि. १२२ विरवत्; दवि. ३२४ मितावत्; नृप्र. २७४ सीमासु (स्थानेषु); सवि. ४८४ (=) पुण्य (अन्य) क्षेऽथ (क्षेषु); वीमि. मितावत्; व्यप्र. ३७७; व्यउ. ११७ मितावत्; विता. ७४४ स्थाने (स्थान) क्षेऽथ (क्षे च); सेतु. २९३; समु. १६४.

(२) यास्मृ. २।२२९; विश्व. २।२३५ कर्तने (कृन्तने); मिता.; अप.; व्यक. १०८ विश्ववत्; विर. २८४ षूक्तेषु (ष्वेतेषु); पमा. ४२७; विचि. १२२ विश्ववत्; दवि. ३२४; नृप्र. २७४; वीमि.; व्यप्र. ३७७; व्यउ. ११७; विता. ७४४; सेतु. २९४-५ षूक्तेषु (षु च वि); समु. १६३.

कल्प्याः । गुल्मः गुञ्जादि । गुच्छः कुन्दादि । क्षुपो जात्यादिविस्तरः । लता प्रसिद्धा । प्रताना वल्लरी । ग्राम्या औषधयः । आरण्या वीरुधः । विश्व. २।२३५

(२) गुल्मादीन् प्रत्याह—गुल्मेति । गुल्मा अनतिदीर्घनिबिडलता मालत्यादयः । गुच्छा अवल्लीरूपाः असरलप्रायाः कुरण्टकादयः । क्षुपाः करवीरादयः सरलप्रायाः । लता दीर्घयायिन्यो द्राक्षातिमुक्ताप्रभृतयः । प्रतानाः काण्डप्ररोहरहिताः सरलयायिन्यः सारिवाप्रभृतयः । ओषध्यः फलपाकावसानाः शालिप्रभृतयः । वीरुधः छिन्ना अपि या विविधं प्ररोहन्ति ताः गुडूचीप्रभृतयः । एतेषां पूर्वोक्तेषु स्थानेषु विकर्तने छेदने पूर्वोक्ताद्दण्डादर्धदण्डो वेदितव्यः । * मिता.

(३) वृक्षेभ्यो न्यूनपरिमाणा उद्भिज्जा गुल्माः कुरुवकादयः । ततो न्यूनपरिमाणा गुच्छाः । ततोऽपि ह्रसीयांसः क्षुपाः । लता वल्ल्यः । ता एव स्थूलाः प्रतानाः । व्रीहियवादयः फलपाकान्ता ओषधयः । बीजकाण्डप्ररोहिण्यो वीरुधः । आसां पूर्वोक्तेषु दण्डनिमित्तेषु पूर्वोक्तदण्डानामर्धमर्धं ग्राह्यम् । अप.

(४) स्थानेषु स्कन्धशाखामूलेषु । ×विर. २८५

(५) समुत्थानव्ययदानं चात्रापि द्रष्टव्यम् । वीमि.

## नारदः

दण्डपारुष्यलक्षणं तत्प्रकाराश्च

**परगात्रेष्वभिद्रोहो हस्तपादायुधादिभिः ।**
**भस्मादिभिश्चोपघातो दण्डपारुष्यमुच्यते+ ॥**

* पमा., दवि., व्यप्र. मितावत् । × शेषं मितावत् ।
+ मिताक्षराव्याख्यानं 'असाक्षिकहते चिह्नैः' इति याज्ञवल्क्यवचनादौ (पृ. १८१३) द्रष्टव्यम् । पमा., रत्न., व्यप्र. मितावत् ।

(१) नासं. १६, १७।४; नास्मृ. १८।४ दिभिश्चोपघातो ( दीनामुपक्षेपैः ); अपु. २५३।२८ भस्मा......घातो ( अग्न्यादिभिश्चोपघातैः ); मिता. २।२१२; अप. २।२१२ भस्मादि ( तस्मादे ) घातो ( घाते ); व्यक. १०४; स्मृच. ७; विर. २६० श्चोप ( श्चाव ); पमा. ४०९ नास्मृवत्; रत्न. १२१; स्मृचि. २३ श्चोप ( श्चाप ); दवि. ३३ श्चोप ( श्चाभि ); नृप्र. २७१; सवि. ४८०; वीमि. २।२१२; व्यप्र. ३६९; व्यउ. १११ भस्मा ( अश्मा ); व्यम. १००; विता. ७३१ व्यउवत्; राकौ. ४९०; सेतु. २१५ विरवत्; समु. १६१.

(१) परगात्रेषु स्थावरजङ्गममूर्तिषु । दण्डो द्रोहः । पारुष्यं निष्ठुरता । स्मृच. ७

(२) अभिघातस्ताडनम् । *दवि. ३३

(३) वाक्पारुष्यं निरूप्य दण्डपारुष्यं प्रस्तौति—परगात्रेष्विति । रोषात् परशरीरेष्वभिद्रोहः प्रहरणं हस्तादिभिः भस्मादिभिश्चोपघातो रज्जुपाषाणादिभिश्च भस्मधूलीपानीयाशुच्यादिना, दण्डपारुष्यमुच्यते । नाभा. १६,१७।४ (पृ. १६५)

**तस्यापि दृष्टं त्रैविध्यं हीनमध्योत्तमक्रमात् ।**
**अवगोरणनिःशङ्कपातनक्षतदर्शनैः ॥**
**हीनमध्योत्तमानां तु द्रव्याणां समतिक्रमात् ।**
**त्रीण्येव साहसान्याहुस्तत्र कण्टकशोधनम् ॥**

(१) निःशङ्कपातनं निःशङ्कप्रहरणम् । त्रीण्येव साहसानि त्रिप्रकाराण्येव सहसा कृतानि दण्डपारुष्याणीत्यर्थः । +मिता. २।२१२

* मिताक्षराव्याख्यानमपि समुद्धृतम् ।
+ पमा., रत्न., व्यप्र. मितावत् ।

(१) नासं. १६, १७।५ तस्या ( तत्रा ) हीन ( मृदु ) गोरणनिःशङ्क ( गूरणनिःसङ्ग ); नास्मृ. १८।५ हीन ( मृदु ) त्तम ( त्तमं ); मिता. २।२१२ ( क ) निःशङ्क ( निःसङ्ग ), ( ख ) स्यापि ( स्योप ) निःशङ्क ( निःसङ्ग ); अप. २।२१२ उत्तरार्धे ( अवगूरणनिःसङ्गपातक्षतजदर्शनैः ); व्यक. १०४ तस्या ( तत्रा ) हीन ( मृदु ) गोर...तन ( गूरणनिःसङ्गपीडना ); स्मृच. ७; विर. २६० हीन ( मृदु ) गो ( गू ); पमा. ४१० गो ( गू ); रत्न. १२१; व्यनि. ४९० हीन ( मृदु ) निःशङ्क ( निःसङ्ग ); स्मृचि. २३ हीन ( मृदु ); दवि. २१९ हीन ( मृदु ) गो ( गू ) शङ्क ( शल्क ); नृप्र. २७१; सवि. ४८० तस्या ( अस्या ) अव ( अप ) निः...क्षत ( निःसङ्गपातक्षतज ) मनुः; व्यप्र. ३६९; व्यउ. १११ क्षत ( क्षम ); विता. ७३१-२; सेतु. २१५ हीन ( मृदु ) गोरण ( गृहन ); समु. १६१ नक्षत ( क्षतज ).

(२) नासं. १६, १७।६ हुस्तत्र ( हुः प्रोक्तं ); नास्मृ. १८।६ समतिक्रमात् ( अपकर्षणात् ); अप. २।२१२ द्रव्याणां ( वर्णानां ) पू. ; व्यक. १०४ द्रव्याणां ( त्रयाणां ) साहसा ( साधना ) धनम् ( धने ); स्मृच. ७ पू. ; विर. २६० तु ( च ) धनम् ( धने ); पमा. ४१० सम ( अन ); रत्न. १२१ पू. ; व्यनि. ४९० द्रव्याणां ( त्रयाणां ) धनम् ( धने ); स्मृचि. २३ तु ( च ) पू. ; दवि. २१९ तु ( च ) पू. ;

(२) कर्तृत्वोपात्तारम्भात्, कर्मभूतद्रव्यविशेष्य-तारतम्याच्च; प्रथममध्यमोत्तमभावेन त्रैविध्यमित्यर्थः। ननु पारुष्यद्वयस्य साहसविशेषत्वात् पदान्तरत्वेनोत्कर-युक्ता। सत्यम्। सहसा क्रियमाणस्य साहसविशेषत्वं छलेन पुनः क्रियमाणस्य पदान्तरत्वमेव। साहसलक्षणा-भावात्। तथा चोक्तं तेनैव— 'तस्यैव भेदः स्तेय स्यादिशेषस्तत्र तूच्यते। आधिः साहसमाक्रम्य स्तेय-माधिश्छलेन तु॥' आधिः क्लेशः। स आक्रम्यार्थ-हरणद्वारा क्रियमाणः साहसम्। छलेन पुनरर्थहरणद्वारा क्रियमाणः स्तेयमित्यर्थः। नन्वनेन स्तेयस्य भेद उक्तो न पारुष्यस्य। सत्यम्। अपृथगुद्दिष्टस्यापि भेद उक्ते पृथगुद्दिष्टस्य सुतरामेव भेदो लक्ष्यत इति स्तेयमात्र-स्योक्त इत्यविरोधः। अतः पदान्तरत्वेनाप्युक्तिर्युक्तैव। अत एव संग्रहकारः— 'मनुष्यमारणादीनि कृतानि प्रसभं यदि। साहसानीति कथ्यन्ते यथाख्यान्यन्यथा पुनः॥' अन्यथा पुनः यद्यप्रसभं कृतानि तदा यथा-ख्यानि स्तेयस्त्रीसंग्रहणवाक्पारुष्यदण्डपारुष्याख्यानी-त्यर्थः। नन्वेवं स्तेयस्त्रीसंग्रहणयोरपि साहसात् पृथगुद्दे-शनं कार्यम्। सत्यम्। अत एव मनुना 'स्तेयं च साहसं चैव स्त्रीसंग्रहणमेव च।' (मस्मृ. ८।६) इति पृथगुद्दिष्टम्। नारदेन तु तयोश्छलेनैव क्रियमाणत्वात् पदान्तरत्वं स्फुटमेवेति साहसान्तर्भाव एवोद्देशदशायां दर्शितः। पारुष्यद्वयस्य तु प्रायेण प्रसभं क्रियमाणत्वात् पदान्तरत्वमव्यक्तमिति पृथगप्युपदेशः कृत इति सर्व-मनवद्यम्। स्मृच. ७

(३) अवगूरणं शस्त्राद्युल्लासनम्। निःशङ्कपातनं निर्दयं शस्त्रादिना घातनमरुधिरं मध्यममेव। निःशङ्क-पातनं सरुधिरं क्षतदर्शनपदेन विवक्षितमुत्तमम्।

नारदीय एवावगूरणादिभेदेन त्रैविध्यमभिधायाक्षेप्य-द्रव्यभेदेन प्रत्येकमेषां त्रैविध्यमाह— 'हीनमध्योत्तमानां च द्रव्याणां समतिक्रमात्। त्रीण्येव साहसान्याहुस्तत्र कण्टकशोधने॥' कण्टकशोधने दण्डे कर्तव्ये साहसानि अवगूरणादिद्रव्यभेदेन त्रीणि प्रत्येकमधममध्यमोत्तम-भावेन त्रीण्याहुरित्यर्थः। एष च पाठो मिताक्षरा-प्रकाश-हलायुध-पारिजातेषु दृष्टः। लक्ष्मीधरेण तु त्रयाणां समतिक्रमात् त्रीण्येव साधनानीति पठितं तस्यापि त्रीण्येव साधनान्याहुरिति पाठतस्त्रयाणां त्रित्वमेव विवक्षितम्। विर. २६०

(४) अवगूरणं शस्त्राद्युत्थापनं निःशङ्कपातनम् रुधिरं शस्त्रादिघातनम्। अत्र प्रहरणस्य प्रारम्भो निष्पत्तिः फलानुबन्ध इत्यस्य वैचित्र्यात् त्रैविध्यमुक्तं मृदुमध्यमोत्तमक्रमादित्यनेन यथोत्तरं बलवत्त्वमुक्तम्। सर्वविधं चैतत् स्वयंकृतमन्यद्वारकृतं चेति द्विवि-धम्। तथा द्वयोः परस्परेण प्रवर्तितमेकतरेण वेति द्विविधम्। प्रहर्ता चैकानेकभावादुत्तमादिभेदाच्चानेक-विधः स्थावरजङ्गमभेदाद्द्विपदचतुष्पदभेदाच्चास्य द्वैविध्यमधिकम्।

एवमाढ्यत्वानाढ्यत्वादयोऽपि द्रष्टव्यास्तत्र ते विशेषा दण्डविशेषोपयोगिनः प्रमुख एवानुसंधेयाः। तथा स्वामिने हृतभग्नदानमपहर्तुर्दण्डद्वैगुण्यं गाढप्रहर्तुः समुत्थानव्ययदानमित्यादिकं च दण्डोपदेशकाल एवा-कल्पनीयम्। दवि. २१९-२०

(५) तत्रापीति। दण्डपारुष्येऽपि त्रैविध्यं त्रिप्रकारत्वं दृष्टमधममध्यमोत्तमक्रमेण। अवगूरणेन मन्दः। निःसङ्गप्रहरणैर्मध्यमः। शोणितोत्पादनैरुत्तमः।

हीनेति। निकृष्टमध्यमोत्तमानां द्रव्याणां हरणात् त्रीणि साहसान्युक्तानि। तान्येवैतानि दण्डपारुष्याणि। तेषां च शोधनमुक्तं पूर्वस्मिन् विवादपदे 'सहोढ-दर्शनात् स्तेयमि'त्यादिना। दण्डश्चोक्तः। तस्य चास्य चैकत्वमुक्तमेतेन। नाभा. १६,१७।५-६(पृ.१६५-६)

दण्डपारुष्ये दोषराहित्यदण्डभाक्त्वविचारः, पञ्चप्रकारैस्तत्रा-पक्तविचारश्च

'विधिः पञ्चविधस्तूक्त एतयोरुभयोरपि।
विशुद्धिर्दण्डभाक्त्वं च तत्र संबध्यते यथा *॥

नृप्र. २७१-२; सवि. ४८० हुस्तत्र क (हुस्तदक) मनुः; व्यप्र. ३६९ तु (च); व्यउ. ११९ तु (च); विता. ७३२ सम (अन); समु. १६१.

* पञ्चविधविधेः मिताक्षराव्याख्यानं 'असाक्षिकहते'इति याज्ञवल्क्यवचने (पृ. १८१३) द्रष्टव्यम्। पमा., दवि., व्यप्र. मितावत्।

(१) नासं. १६, १७।७; नास्मृ. १८।७; मिता. २।२१२ पू.; व्यक. १०७; विर. २७४; पमा. ४१० पू.;

(१) विधिः क्रिया । अत्र वाक्पारुष्यं त्रिधा निष्ठुराश्लीलतीव्रत्वात् । एवं दण्डपारुष्यं द्विधा अभिद्रोहाघातरूपत्वात् । विशुद्धिः दण्डाभावः । यथा तथा वक्ष्यते इति शेषः । विर. २७४-५

(२) अथवा पूर्वश्लोके यथा त्रीणि साहसानि कण्टकशोधनमिति, न च दण्डपारुष्यसाहसयोरेतयोरुभयोरप्युपलब्धो विधिः पञ्चविध उक्तः। असज्जनैकार्थ्यादीनां विशुद्धिश्च, प्रथमसाहसादिना दण्डभाक्त्वं चाकार्यकारिणां यथा भवति 'भक्तावकाशदातार' इत्यादिना, तदेवात्राप्युक्तं द्रष्टव्यम् । नाभा. १६,१७।७ (पृ.१६६)

**पारुष्ये सति संरम्भादुत्पन्ने क्षुब्धयोर्द्वयोः ।**
**स मान्यते यः क्षमते दण्डभाग् योऽतिवर्तते ॥**

(१) क्षुब्धयोः क्रुद्धयोः । मान्यते पूज्यते न दण्ड्यते इत्यर्थः । क्षमते पारुष्यं नानुबध्नाति, अतिवर्तते पारुष्यं तनोति । विर. २७५

(२) [ रत्नाकरव्याख्यानोद्धारानन्तरमुक्तम् ]—वस्तुतस्तु यः क्षमते सहते न तु स्वयमपि प्रतिपारुष्यं प्रवर्तयति स मान्यते वाचा पूज्यते, यस्तु तादृशमप्यतिवर्तते पुनराक्षारयति स दण्डभाग् दण्ड्यते ।
दवि. २१६

(३) संरम्भात् क्षुभितयोः पारुष्य उत्पन्ने सति यः क्षमते स पूज्यो न दण्ड्यः । यस्त्वतिवर्तते आक्रोशैः प्रहरणेन वा, स दण्ड्यः ।

नाभा. १६,१७।८ (पृ. १६६)

**पारुष्यदोषावृतयोर्युगपत्संप्रवृत्तयोः ।**
**विशेषश्चेन्न दृश्येत विनयः स्यात्समस्तयोः ॥**

दवि. ३३ पू.; नृप्र. २७२ पू.; व्यप्र. ३७० पू.; व्यउ. ११२ पू.; विता. ७३२ पू.; समु. १६१ पू.

(१) नासं. १६, १७।८; मिता. २।२१२ क्षुब्ध (क्रुद्ध) मान्य (मन्य); अप. २।२१२ रम्भा (वन्धा); व्यक. १०७ न्ने (न्न); विर. २७५; पमा. ४१०-११; रत्न. १२१; दवि. २१५ न्ने क्षुब्ध (न्नक्रोध); नृप्र. २७२ न्ने...योः (न्नेनूर्ध्वमूर्द्ध्वयोः) ऽतिवर्तते (निवर्तते); व्यप्र. ३७० क्षुब्ध (क्रुद्ध); व्यउ. ११२ व्यप्रवत्; विता. ७३२ क्षुब्ध (क्रुद्ध) योऽति (यो नि); समु. १६१ क्षुब्ध (क्रुद्ध) योऽति (योऽनु).

(२) नासं. १६,१७।९ पावृत (पधुत); नास्मृ.

(१) विशेषदर्शने तु तदनुसारेण विषम एव दमः स्यादित्यभिप्रायः । स्मृच. ३२६

(२) विशेषोऽयमेवं पूर्वं कृतवानित्याद्याकारः ।
विर. २७५

(३) यद्यपि प्रहारयोः पूर्वापरभावेऽज्ञाते वादिनोः शपथादिना निर्णयात्तयोर्निश्चयः, अन्यथा विवादानारोहात् । तथापि मल्लयोरिव मेषयोरिव वाऽवास्तवं यत्र यौगपद्यं यत्र च प्रधानयोः कलहे तत्तद्देश्यानां संमर्दे प्रहारप्राथम्यं दुर्बोधं तद्विषयमिदम् ।

उपलक्षणं चैतत्, तेन यत्रैकस्यारम्भकत्वेऽन्यस्यानुबन्धित्वे यत्र चैकस्याल्पेऽपि पारुष्ये प्राथमिके अन्यस्य पश्चात्तनेऽपि तस्मिन्नधिके अपराधसाम्यं तत्रापि सम एव दण्डः । एतदभिप्रायकमेव रत्नाकरीयमादिपदम् ।
दवि. २३२

(४) पारुष्यदोषधुतयोर्वाग्दण्डपारुष्यदोषधुतयोः रोषाविष्टयोरन्यतरोऽपि न क्षमते । युगपद् घाताघातादि कुर्वतोर्विशेषाभावे घाते प्रतिघातः आक्रोशे प्रत्याक्रोशः, उभयोस्तुल्यो दण्डः । नाभा. १६,१७।९ (पृ. १६६)

**पूर्वमाक्षारयेद्यस्तु नियतं स्यात्स दोषभाक् ।**
**पश्चाद्यः सोऽप्यसत्कारी पूर्वे तु विनयो गुरुः ॥**

१८।८; मिता. २।१० पारु...तयोर्यु (पारुष्ये साहसे वाऽपि यु) दृश्येत (लभ्येत) : २।२१२ दृश्येत (लक्ष्येत); अप. २।१० दृश्येत (लभ्येत) : २।२१२; व्यक. १०७; स्मृच. ३२६ स्मृत्यन्तरम्; विर. २७५ वृत (च्च त); पमा. ४११ दृश्येत (लक्ष्येत); रत्न. १२० स्मृत्यन्तरम्; स्मृचि. २४ दोषा (दोप) शेषं पमावत्; दवि. २३२ विरवत्, कात्यायनः; नृप्र. २७२ पमावत्; व्यत. २०२ पारु... तयोर्यु (पारुष्ये साहसे चैव यु) दृश्येत (लभ्येत); सवि. ४७६ वृत (दुभ) यः स्यात् (यश्चेत्) सुमन्तुः; व्यसौ. २८ मिता. २।१० वत्; व्यप्र. ९७ व्यतवत् : ३७० पमावत्; व्यउ. ११२ अपवत्; व्यम. ९९ स्मृत्यन्तरम्; विता. १०० मिता. २।१० वत् : ७२५ पारु... ...तयोर्यु (पारुष्ये साहसे चैव यु) याज्ञवल्क्यः : ७३३ वृत (दुभ) दृश्येत (लभ्येत); सेतु. १०१-२ मिता. २।१० वत्; समु. १६१.

(१) नासं. १६,१७।१०; नास्मृ. १८।९; मिता. २।१०,२१२; अप. २।१०,२१२; व्यक. १०७; स्मृच. ३२७; विर. २७५; पमा. ८६ कात्यायनः : ४११ क्षार

(१) पूर्वे त्वाक्षारणे निमित्ते तन्निमित्तको विनयः पश्चादाक्षारणनिमित्तकविनयादभ्यधिको भवेदित्यर्थः।

स्मृच. ३२७

(२) पूर्वे प्रथममाक्षारयेत् पारुष्यं कुर्यात्। दोषभाक् दण्ड्यः। असत्कारी अपराधवान्। पूर्वे तु विनयो गुरुरित्यनेन तदन्यस्मिन् लघुर्विनय इत्युक्तम्।

*विर. २७५

(३) यः पूर्वमाक्रोशेनातिक्रामेत् तर्जनादिना, स नित्यं दोषभाक्। पश्चादपि य आक्षारयेत्, न क्षमेत, सोऽप्यसत्कारी अशोभनकारी दण्ड्य इत्यर्थः। तयोः पूर्वस्य महान् दण्डः प्रथमातिक्रमात्। इतरस्य प्रथमं क्षमणादल्पः, पश्चादप्यतिक्रामन् दण्ड्यः।

नाभा. १६,१७।१० (पृ. १६६)

[1]द्वयोरापन्नयोस्तुल्यमनुबध्नाति यः पुनः।
स तयोर्दण्डमाप्नोति पूर्वो वा यदि वोत्तरः॥

(१) वर्णादितः समयोर्निबन्धे तु विशेषदर्शने तन्निमित्तमपि विनयगौरवं भवतीत्याह स एव — द्वयोरापन्नयोरिति। तुल्यमापन्नयोः समत्वेनैव आक्षेपकरयोरिति यावत्। तयोर्दण्डमवाप्नोति तुल्यमापन्नयोर्द्वयोः। दण्डो मिलितयोर्यावान् तावन्तमाप्नोतीत्यर्थः।

स्मृच. ३२७

(२) द्वयोरापन्नयोस्तुल्यं पारुष्ये तुल्यं प्रवृत्तयोः। अनुबध्नाति असकृत् कलहं करोति। ×विर. २७५

(३) द्वयोः संरम्भादुपशान्तयोः यः पुनः पुनरनुद्रवति, अपसर्पे न ददाति, स दण्ड्यः, यदि पूर्वे मारयति यदि पश्चाद्वा। इतर उपशान्तो न दण्ड्यः।

नाभा. १६,१७।११(पृ. १६६)

[1]श्वपाकपण्डचण्डालव्यङ्गेषु वधवृत्तिषु।
हस्तिपव्रात्यदासेषु गुर्वाचार्यातिगेषु च॥
[2]मर्यादातिक्रमे सद्यो घात एवानुशासनम्।
न च तद्दण्डपारुष्ये दोषमाहुर्मनीषिणः॥

(१) श्वपाकः क्षत्रियायामुग्राज्जातः, उग्रस्तु— 'शूद्रायां क्षत्रियाज्जातं प्राहुरुग्रमिति द्विजाः' इति देवलेन दर्शयिष्यते। पशुशब्दः क्लीबपरः। चाण्डालः शूद्रात् ब्राह्मण्यां जातः। वधकवृत्तिः परवध एव वृत्तिर्जीवनं

---

* दवि. विरवत्।

(क्षर); **रत्न.** १२० वें तु (वें च); **विचि.** १२० प्यसत् (प्यतत्) यो (ये); **व्यनि.** २१,४९२; **दवि.** २३२ दोष (दण्ड); **नृप्र.** २७२ क्षार (कार); **व्यत.** २०२; **सवि.** ४७७ यः सोऽप्य (यस्योच); **व्यसौ.** २७-८; **व्यप्र.** ९७,३७०; **व्यउ.** ११२; **व्यम.** ९९; **विता.** १००,७२५-६,७३२; **सेतु.** १०१ स्यात्स (स्यान्न); **समु.** १६१.

(१) **नासं.** १६,१७।११ वोत्तरः (वेतरः); **नास्मृ.** १८।१०; **मिता.** २।२१२ नासंवत्; **अप.** २।२१२ वोत्तरः (वा परः); **व्यक.** १०७; **स्मृच.** ३२७ पुनः (पुमान्) स तयोर्दण्डमाप्नोति (तयोर्दण्डमवाप्नोति); **विर.** २७५ यः पुनः (योऽधिकम्); **पमा.** ४११ विरवत्; **दवि.** २३२ विरवत्; **नृप्र.** २७२ पुनः (परः); **व्यप्र.** ३७० नासंवत्; **व्यउ.** ११२ नासंवत्; **विता.** ७३२ नासंवत्; **समु.** १६१ स्मृचवत्.

× दवि. विरवत्।

(१) **नासं.** दासेषु (दारेषु) तिगे (न्तगे), अयं श्लोको मूले नोपलभ्यते, परन्तु भाष्यस्योपलभ्यमानत्वात् अयं श्लोको मूले वर्तत इत्यनुमीयते, पाठभेदास्तु भाष्यानुसारेण निर्दिष्टाः; **नास्मृ.** १८।११ पण्ड (मेद); **मिता.** २।२१२ पण्ड (षण्ड) र्यातिगेषु (र्यनृपेषु); **अप.** २।२१२ व्यङ्गेषु (वेश्यासु) दासेषु (दारेषु); **व्यक.** १०७ व्यङ्गेषु (वेश्यासु) वध (बक); **विर.** २७६ पूर्वार्धे (श्वपाकपशुचाण्डालवेश्यावधकवृत्तिषु); **पमा.** ४११ पूर्वार्धे (श्वपाकषण्डपाखण्डव्यङ्गेषु बधिरेषु च) तिगे (न्तिके); **विचि.** १२१ व्यङ्गेषु वध (वेश्यावधक) तिगे (न्तगे); **दवि.** २१७ विरवत् : २६१ तिगेषु (तिगमेषु) उत्त.; **नृप्र.** २७२ पण्ड (मेद [चण्ड]); **व्यप्र.** ३७० मितावत्; **व्यउ.** ११२ पण्ड (शिल्पि) तिगे (न्वये); **विता.** ७३३ पण्ड (षण्ढ) व्रात्य (व्राह्म); **बाल.** २।२१२ तिगे (नुगे) : पण्ड (पशु) व्यङ्गेषु वध (वेश्यासूकर) इति कल्पतरौ पाठः; **सेतु.** २२२ व्यङ्गेषु वध (वेश्यावधक); **समु.** १६१ दासे (देशे) तिगे (न्तके).

(२) **नासं.** अयं श्लोको मूले नोपलभ्यते, परन्तु भाष्यस्योपलभ्यमानत्वात् मूले वर्तत इत्यनुमीयते; **नास्मृ.** १८।१२ दोष (स्तेय); **मिता.** २।२१२ पू.; **अप.** २।२१२ त एवा (तयैवा); **व्यक.** १०७; **विर.** २७७; **पमा.** ४११ पू.; **विचि.** १२१; **दवि.** २१७ : २६१ पू.; **नृप्र.** २७२ पू.; **व्यप्र.** ३७० पू.; **व्यउ.** ११२ पू.; **विता.** ७३३ पू.; **सेतु.** २२३; **समु.** १६१ पू.

यस्य स वधकवृत्तिः स्वार्थे कन् । हस्तिपको हस्त्यधिरोहकः । दासोऽत्र गृहजातादिः । गुर्वाचार्यातिगः गुर्वाचार्यवचनलङ्घनकर्ता । मर्यादा धर्मव्यवस्था । सद्योऽविलम्बितम् । घात एव ताडनमेव । विर. २७७

(२) कामधेनौ कल्पतरौ च 'वेश्यासु वधकर्तृषु' इति स्पष्टमेव पठितम् । अत्र मिताक्षरायां 'व्यङ्गेषु वधकर्तृषु' इति पाठः । *दवि. २१७

(३) श्वपाकः सौबलः । पण्डः षण्डः । व्यङ्गो हीनाङ्गः । वधवृत्तयो वधकारिणः घात्यघातकाः । हस्तिपा हस्त्यारोहाः । व्रात्याः संस्कारहीना द्विजातयः । गुरवः पितृव्यतिरिक्ता मातुलादयः । अन्तगाः शिष्याः । एतेषां दारेषु मर्यादातिक्रमेण गमने सद्यो वध एव दण्डः । तेऽपि यदि ताडनमारणादि कुर्युः, न दण्डपारुष्यदोषमाप्नुयुः, न दण्ड्याः न साधुकृतमित्यनुज्ञातव्या राज्ञा । एवं ब्रुवता अन्यैः स्वयं निग्रहो न करणीय इत्युक्तं भवति । अयमत्रार्थः—'श्वपाकपण्डचण्डालेष्वन्तस्थवधकारिषु' इति श्वपाकादयो मर्यादाभिगम इति हस्तिपकादिदारेषु गच्छेयुः । गुर्वाचार्यातिक्रमे च तथा वाग्दण्डपारुष्येषु हन्तव्याः । एतेन दण्डपारुष्यदोषः । एतेषु दण्डपारुष्यनिग्रहो वध एवेति । नाभा. ( पृ. १६७ )

यमेव ह्यतिवर्तेरन्नेते सन्तं जनं नृषु ।
स एव विनयं कुर्यान्न तद्विनयभाङ् नृपः ॥

(१) श्वपाकादयो येषु पारुष्यं कुर्वते, त एवैषां घातरूपं दण्डं कुर्युः । ×विर. २७७

(२) यमेव सज्जनमेतेऽतिवर्तेरन् संसर्गवाग्दण्डपारुष्यादिना, स एव विनयं वधादि कुर्यात् । न तत्र राजैव शिक्ष्यादिति नियमोऽस्ति । नाभा. १६,१७।१२ ( पृ. १६७ )

मला ह्येते मनुष्याणां धनमेषां मलात्मकम् ।
अतस्तान् घातयेद्राजा नार्थदण्डेन दण्डयेत् ॥

(१) तेषामसामर्थ्ये तु राजा घातरूपमेव दण्डं कुर्यान्नार्थदण्डं, अत्र हेतुः—मला ह्येते इत्यादि ।
* विर. २७७

(२) घात एव, धनदण्डो नेत्यत्र कारणमाह—मनुष्येषु मलाः पापा एते शास्या एव । तद्धनं पापकरम् । तस्माद् घात एव दण्डः ।
नाभा. १६,१७।१३ ( पृ. १६७ )

हीनवर्णकृते ब्राह्मणविषये दण्डपारुष्ये दण्डविधिः

[२]येनाङ्गेनावरो वर्णो ब्राह्मणस्यापराध्नुयात् ।
तदङ्गं तस्य छेत्तव्यमेवं शुद्धिमवाप्नुयात् ॥

(१) अवरो हीनवर्णः । विर. २६७

(२) येनाङ्गेन हस्तेन पादेन वा शूद्रो ब्राह्मणं प्रहरेत् तदेवाङ्गं छेत्तव्यम् । एवं शुद्धिः, न धनदण्डेन ।
नाभा. १६,१७।२७ ( पृ. १७० )

[३]सहासनमभिप्रेप्सुरुत्कृष्टस्यापकृष्टजः ।
कट्यां कृताङ्को निर्वास्यः स्फिचौ वाऽस्यावकर्तयेत् ॥

---

* शेषं विरवत् । × दवि. विरवत् ।

(१) नासं. १६,१७।१२; नास्मृ. १८।१३ तेरन्नेते ( तेत नीचः ); विश्व. २।२२६; मिता. २।२१२; अप. २।२१२ जनं ( जना ) भाङ् नृपः ( भाग्भवेत् ); व्यक. १०७; विर. २७७; पमा. ४११ नास्मृवत्; विचि. १२१ पूर्वार्धे ( यमेते ह्यतिवर्तेरन्नोत्तमस्तान्नृपं नयेत् ); दवि. २१७ नृषु ( प्रति ); व्यप्र. ३७० पू.; व्यउ. ११२ ह्यति ( त्वति ); विता. ७३३; सेतु. २२३ विचिवत्; समु. १६१ ह्यति ( व्यति ).

* दवि. विरवत् ।

(१) नासं. १६,१७।१३ ष्याणां ( ष्येषु ); नास्मृ. १८।१४ ष्याणां ( ष्येषु ) अतस्ता ( अपि ता ); विश्व. २।२२६ नासंवत्; मिता. २।२१२; अप. २।२१२ धनमेषां मला ( मलमेषां धना ) अतस्ता ( अपि ता ); व्यक. १०७ अतस्ता ( अपि ता ); विर. २७७ व्यकवत्; पमा. ४१२; विचि. १२१; दवि. २१७ व्यकवत्; व्यप्र. ३७०; व्यउ. ११२; विता. ७३३ ह्येते ( एते ) धन ( द्रव्य ); सेतु. २२३; समु. १६१.

(२) नासं. १६,१७।२३ ङ्गं तस्य ( ङ्गमेव ); नास्मृ. १८।२५ वरो ( वर ); व्यक. १०५; विर. २६७; विचि. ११७; व्यनि. ४९२ येनाङ्गेना ( येन येना ); व्यप्र. ३७४ शुद्धि ( बुद्धि ); व्यउ. ११४; सेतु. २१७,२२०.

(३) नासं. १६,१७।२४ उत्तरार्धे ( कटिदेशेऽङ्कय निर्वास्यः स्फिग्देशं वास्य कर्तयेत् ); नास्मृ. १८।२६ स्याव ( स्याव ); व्यक. १०५ नास्मृवत्, मनुनारदौ; विर. २६८ स्फिचौ वाऽस्याव ( स्फिचं वाऽस्य प्र ) मनुनारदौ; व्यनि. ४९३ स्फिचौ......येत् ( स्फिचं वाऽस्य निकृन्तयेत् ).

(१) सहासनमभिप्रेप्सुरेकासनोपवेशी, अभिप्रेप्सुपदस्य । अभिप्रातिपरत्वात् । तथा च विष्णुः 'एकासनोपवेशी कट्यां कृताङ्को निर्वास्यः' इति । उत्कृष्टो ब्राह्मणः । अपकृष्टः शूद्रः । कृताङ्कः तप्तलोहशलाकया कृतचिह्नः । स्फिक् श्रोण्येकदेशः ।

विर. २६८

(२) एकमासनं य इच्छति, सहास्त इत्यर्थः, उत्कृष्टस्योत्कृष्टस्यावरावरवर्णजः । अङ्कयित्वा कटिदेशे निर्वास्यः स्फिजं वाऽस्य छित्त्वा ।

नाभा. १६,१७।२४ (पृ. १७०)

**अवनिष्ठीवतो दर्पाद्द्वावोष्ठौ छेदयेन्नृपः ।**
**अवमूत्रयतो मेढ्रमवशर्धयतो गुदम् ॥**

(१) अवनिष्ठीवतो दर्पादुपरि निष्ठीवनं दर्पात् कुर्वतः । अवमूत्रयतः मूत्रेण सेकं कुर्वतः । अवशर्धयतो गुदं, गुदेन कुत्सितशब्दं कुर्वतः । विर. २६९

(२) दर्पादवमत्योपनिष्ठीवतः शूद्रस्य द्विजातेरोष्ठद्वयस्य छेदः, तथा मूत्रयतः शिश्नस्य, तथा पातककर्मादि कुर्वतो गुदस्य छेदः ।

नाभा. १६,१७।२५ (पृ. १७१)

**केशेषु गृह्णतो हस्तौ छेदयेदविचारयन् ।**
**पादयोर्दाढिकायां च ग्रीवायां वृषणेषु च ॥**

(१) हस्ताविति द्विवचनं एकेनापि करेण ग्रहणे हस्तच्छेदनार्थम् । दाढिका श्मश्रु । विर. २६९

(२) एतेषु गृह्णतस्तत्क्षणमेव स हस्तौ छेदयेदिति ।

नाभा. १६,१७।२६ (पृ. १७१)

त्वक्छेदकः शतं दण्ड्यो लोहितस्य च दर्शकः ।
मांसभेत्ता तु षण्निष्कान् प्रवास्यस्त्वस्थिभेदकः ॥

राजनि दण्डपारुष्ये दण्डः

**राजनि प्रहरेद्यस्तु कृतागस्यपि दुर्मतिः ।**
**शूल्यं तमग्नौ विपचेद्ब्रह्महत्याशतातिगम् ॥**

(१) योऽब्राह्मणः । कृतागसि कृतापराधे । शूलमारोप्य यत्संस्क्रियते तत् शूल्यं तेन प्रथमतस्तस्य शूलभेदेन पीडां विधाय अग्निविपाकेन पीडा कर्तव्येत्यर्थः ।

विर. २६७-८

(२) यो राजनि कृतापराधेऽपि प्रहरेत्, शूले प्रोत्यैनमग्नौ विविधं पचेद् ब्रह्महत्याशतादभ्यधिकं पापम् । नाभा. १६,१७।२८ (पृ. १७१)

अज्ञस्वकीयकृतापराधे तत्प्रभोर्दण्डविचारः

**पुत्रापराधे न पिता श्ववान् शुनि न दण्डभाक् ।**
**न मर्कटे च तत्स्वामी तेनैव प्रहितो न चेत् ॥**

पुत्रे दोषवति न पिता दण्ड्यः, शुनि च दोषवति तत्स्वामी । मर्कटे चैवम् । न चेत् ते पित्रादिभिः प्रयुक्ताः । प्रयुक्ताश्चेत् पित्रादयो दण्ड्याः ।

नाभा. १६,१७।२९ (पृ. १७१)

अप्रकाशदण्डपारुष्ये परीक्षाविधिः

**कश्चित्कृत्वाऽऽत्मनश्चिह्नं द्वेषात्परमभिद्रवेत् ।**
**हेत्वर्थगतिसामर्थ्यैस्तत्र युक्तं परीक्षणम् ॥**

---

मनुनारदौ; **दवि.** ३२१ स्फिचौ......येत् (स्फिचं चास्यावकर्धयेत्).

(१) **नासं.** १६,१७।२५ तो मेढ्र (तः शिश्न); **नास्मृ.** १८।२७ नासंवत्; **व्यक.** १०५ मनुनारदौ; **विर.** २६८ मनुनारदौ; **व्यनि.** ४९३ शर्ध (शर्द) मनुनारदौ; **दवि.** २५३ शर्ध (शब्द) मनुनारदौ; **व्यप्र.** ३७४ मनुनारदौ; **व्यउ.** ११५ वतो (क्तो) मनुनारदौ.

(२) **नासं.** १६,१७।२६ दाढिकायां च (नासिकायां वा); **नास्मृ.** १८।२८ यां च (यां तु); **व्यक.** १०५ मनुनारदौ; **विर.** २६८ मनुनारदौ; **व्यनि.** ४९३ षु च (तथा) मनुनारदौ; **दवि.** २५४ मनुनारदौ; **व्यप्र.** ३७४ मनुनारदौ; **व्यउ.** ११५ मनुनारदौ.

(१) **नास्मृ.** १८।२९.

(२) **नासं.** १६,१७।२८ शूल्यं (शूले) तिगम् (धिकम्); **नास्मृ.** १८।३१ नासंवत्; **व्यक.** १०५; **विर.** २६७; **विचि.** ११७; **दवि.** २५८; **व्यप्र.** ३७४ तिगम् (नि च); **व्यउ.** ११४; **सेतु.** २२०.

(३) **नासं.** १६,१७।२९ श्ववान् शुनि न (न श्ववान् शुनि) तेनैव (तैरेव); **नास्मृ.** १८।३२ श्ववान् शुनि न (नाश्वे न शुनि); **अप.** २।२२२ शुनि न (न शुनि) हितो न (हता [तो] नु); **व्यक.** १०६ शुनि न (न शुनि); **स्मृच.** ३३० श्ववान् शुनि न (न स्वामीति) तेनैव (तैरेव); **विर.** २७३; **विचि.** ११९-२० श्ववान् शुनि न (श्ववांश्च शुनि) च (तु); **व्यनि.** ४९४ श्ववान् शुनि न (नाश्वेन शुनि) टे च (टे न) प्रहितो (प्रेषिता); **दवि.** २२३ राधे (राद्धे); **सेतु.** ३०१ च (तु); **समु.** १६३ नासंवत्.

(४) **अप.** २।२१२ हेत्वर्थ......र्थैस्त (युक्तिहेत्वर्थैः

आत्मनश्चिह्नं व्रणादिरूपं, परमभिद्रवेत् अहमनेन व्रणवान् कृतोऽयं दण्ड्यतामित्यनुयुञ्ज्यात् । हेतुर्गद्गदस्वरादिः, अर्थः प्रयोजनं, गतिः संनिधिगमनं, सामर्थ्यं प्रहारक्षमता । विर. २७४

## बृहस्पतिः

दण्डपारुष्यलक्षणम्

[1]हस्तपाषाणलगुडैर्भस्मकर्दमपांसुभिः ।
आयुधैश्च प्रहरणं दण्डपारुष्यमुच्यते ॥

(१) परगात्रेष्विति शेषः । स्मृच. ७

(२) अत्र भस्मादिभिर्दण्डादिभिरायुधैरिति करणत्रैविध्यात् प्रहरणस्य त्रिविधत्वमुक्तं तत्र यथोत्तरं बलवत् । दवि. २१९

वाक्पारुष्यापेक्षया दण्डपारुष्यस्य दण्डविधौ विशेषः

[2]वाक्पारुष्ये कृते यस्य यथा दण्डो विधीयते ।
तस्यैव द्विगुणं दण्डं कारयेन्मरणादृते ॥

विविधदण्डपारुष्येषु समाधिकविषयेषु दण्डविधिः

[3]भस्मादीनां प्रक्षेपणं ताडनं च करादिना ।
प्रथमं दण्डपारुष्यं दमः कार्योऽत्र माषिकः ॥

(१) माषिकः माषमितः । विर. २६१

(२) माषिको राजतः माषमितः । विचि. ११२

(३) ताडनमत्रोद्यमनमात्रमिति प्रहेश्वरमिश्राः । एवमेव हरिनाथोपाध्यायाः । एवं व्याख्याने कामं प्रथममिति घटते दण्डगौरवं तु दुर्घटम् । 'उद्गूरणात्तु हस्तस्य कार्यो द्वादशको दमः । स एव द्विगुणः प्रोक्तः पातनेषु सजातिषु ॥' इति कात्यायनविरोधात् । तस्मात् प्रहरणमेव ताडनपदार्थः प्रत्युत ताडनं चेति चकारः समुच्चयार्थः । न्यूनश्च ताडयिता । प्रथममित्यस्य तु मुख्यमिदं पारुष्यमित्यर्थ इति भाति । दवि. २५१-२

[1]इष्टकोपलकाष्ठैश्च ताडने तु द्विमाषकः ।
द्विगुणः शोणितोद्भेदे दण्डः कार्यो मनीषिभिः ॥
[2]एष दण्डः समेषूक्तः परस्त्रीष्वधिकेषु च ।
द्विगुणस्त्रिगुणो ज्ञेयः प्राधान्यापेक्षया बुधैः ॥

समेषु जात्यादिभिस्तुल्येषु । विर. २६१

[3]उद्यतेऽश्मशिलाकाष्ठे कर्तव्यः प्रथमो दमः ।
परस्परं हस्तपादे दशविंशतिकस्तथा ॥

(१) अयं चोभयोरेव समानजात्योर्दण्ड इति मन्तव्यम् । विर. २६३

(२) उभयोरिदं हस्ते दश पादे विंशतिः काष्ठादौ द्वादश । इदमपि समयोरेव । विचि. ११३

[4]मध्यमः शस्त्रसंधाने सयोज्यः क्षुब्धयोर्द्वयोः ।
कार्यः क्षतानुरूपस्तु लग्ने घाते दमो बुधैः ॥

यदा तु शस्त्रेण क्षतमेव करोति, तदा क्षतगौरवा-

---

संबन्धैस्त); व्यक. १०७ नारदबृहस्पती; विर. २७३-४ तत्र युक्तं (युक्तं तत्र); व्यप्र. ३७८ गति (मति) नारदबृहस्पती; व्यउ. ११८ व्यप्रवत्; सेतु. २२२ विरवत्.

(१) अप. २।२१२ रणं (रणैः); व्यक. १०४; स्मृच. ७; विर. २५९; दीक. ५१ हस्त (दण्ड); व्यनि. ४८९; दवि. २१९; सेतु. २१४-५; समु. १६१.

(२) मभा. १२।६; गौमि. १२।६.

(३) अप. २।२१४ क्षे (क्षि); व्यक. १०४; स्मृच. ३२८ दीनां प्रक्षे (दिना प्राक्षि) षिकः (पकः); विर. २६१; विचि. ११२; दवि. २५१ कार्योऽत्र (कर्षोऽत्र); सवि. ४८१ दीनां प्रक्षे (दिना प्र [क्षि] क्षे) षिकः (षकः); सेतु. २१५ प्रक्षेपणं (क्षेपणं च); समु. १६१ स्मृचवत्; विव्य. ५० माषिकः (आर्थिकः).

(१) अप. २।२१६ षकः (षिकः); स्मृच. ३२८ पू.; विर. २६४; विचि. ११५ ष्ठैश्च ता (ष्ठाद्यैस्ता); व्यनि. ४९१; दवि. २५५ श्च (स्तु) तु (च) षिकः (षकः); सवि. ४८१ इष्ट......श्च (इष्टकाफलकाद्यैश्च) पू.; व्यप्र. ३७२ ष्ठैश्च (ष्ठेन); व्यउ. ११३ व्यप्रवत्; सेतु. २१८ विचिवत्; समु. १६१ पू. : १६२ उत्त.

(२) अप. २।२१४; व्यक. १०४; स्मृच. ३२८; विर. २६१; विचि. ११२; दवि. २५१ षूक्तः (युक्तः); सवि. ४८१; सेतु. २१५ प्राधान्या (प्रधाना); समु. १६२.

(३) व्यक. १०५ पू.; विर. २६३; विचि. ११३; व्यनि. ४९१ तेऽश्म (ते तु); दवि. २५० काष्ठे (काष्ठैः) पू.; व्यप्र. ३७२ पू.; व्यउ. ११३ पू.; सेतु. २१६ पादे (पाते); समु. १६२ तेऽश्म (तेऽस्त्र) कस्तथा (कौ दमौ).

(४) अप. २।२१६ क्षता (कृता); स्मृच. ३२८ अपवत्, उत्त.; विर. २६४; विचि. ११४-५; दवि. २५५ रूपस्तु (रूपं तु) उत्त.; सवि. ४८१ क्षता (कृता) परस्तु (पैस्तु) उत्त.; व्यप्र. ३७२ धाने (पाते) क्षता (कृता); व्यउ. ११३ व्यप्रवत्; सेतु. २१८ उत्त.

गौरवानुसारेण दण्डः कार्य इत्युत्तरखण्डार्थः ।
विर. २६४

[१]त्वग्भेदे प्रथमो दण्डो मांसभेदे तु मध्यमः ।
उत्तमस्त्वस्थिभेदे तु घातने तु प्रमापणम् ॥

घातने वधे, प्रमापणं वध एव । विर. २६५

[२]कर्णनासाकरच्छेदे दन्तभेदेऽङ्घ्रिभेदने ।
कर्तव्यो मध्यमो दण्डो द्विगुणः पतितेषु च ॥

पतितेषु स्वस्थानात् च्यावितेषु । विर. २६५

दण्डपारुष्येण पीडकः पीडापरिहारव्ययं अपहृतं च दाप्यः

[३]अङ्गावपीडने चैव भेदने छेदने तथा ।
समुत्थानव्ययं दाप्यः कलहापहृतं च यत् ॥

समुत्थानव्ययं भग्नसंघटनार्थं भेषजपथ्यादिजनकधनव्ययम् । विर. २७०

पीडिताय दण्डदानं राज्ञे च

[४]दण्डस्त्वभिहतायैव दण्डपारुष्यकल्पितः ।
हृते तद्द्विगुणं चान्यद् राजदण्डस्ततोऽधिकः ॥

पशुपीडायां दण्डविधिः

[५]श्रान्तान् क्षुधार्तान् तृषितानकाले वाहयेत्तु यः ।
स गोघ्नो निष्कृतिं कार्यो दाप्यो वा प्रथमं दमम् ॥

वृषाधिकारे बृहस्पतिः— श्रान्तानिति । एवञ्च दण्डप्रायश्चित्तयोर्विकल्पदर्शनात् दण्डेनापि पापं क्षीयते इत्याहुः । विर. २८०

शूद्रकृते द्विजातिविषयके दण्डपारुष्ये दण्डविधिः

[१]येनाङ्गेन द्विजातीनां शूद्रः प्रहरते रुषा ।
छेत्तव्यं तद्भवेत्तस्य मनुना समुदाहृतम् ॥

परस्परं दण्डपारुष्ये कृते नीचकृते च विशेषतः दोषराहित्य-दण्डभाक्त्वदण्डदापयितृविचारः

[२]द्वयोः प्रहरतोर्दण्डः समयोस्तु समः स्मृतः ।
आरम्भकोऽनुबन्धी च दाप्यः स्यादधिकं दमम् ॥

परस्परपारुष्यकारिषु दममाह बृहस्पतिः— द्वयोरिति । स्मृच. ३२९

[३]आक्रुष्टस्तु समाक्रोशंस्ताडितः प्रतिताडयन् ।
हत्वाततायिनं चैव नापराधी भवेन्नरः ॥

पश्चात्कारिणि योऽल्पदण्ड उक्तो नारदेन असावनुबन्धकलहे, अननुबन्धे तु बृहस्पतिनाऽनपराधाभिधानं, तदपि तन्न्यूनसमानौ प्रति मन्तव्यम् । अधिकं प्रति एवंविधेऽपि अपराधस्योक्तत्वात् । तथा च —'वाक्पारुष्यादिना नीचो यः सन्तमभिलङ्घयेत् । स एव ताडयंस्तस्य नान्वेष्टव्यो महीभृता ॥' विर. २७६

[४]वाक्पारुष्यादिना नीचो यः सन्तमभिलङ्घयेत् ।
स एव ताडयंस्तस्य नान्वेष्टव्यो महीभुजा ॥

(१) नीचोऽनुत्तमः, सन्तमुत्तमम् । स एव उत्तम

---

(१) **अप.** २।२१८ तु घातने (स्यात् घातेन); **व्यक.** १०५ ने तु (ने च); **विर.** २६४ (=); **विचि.** ११५ मस्त्व (मश्चा) तने (तके); **व्यनि.** ४९१; **दवि.** २२७ चतुर्थपादः : २५६ स्थिभेदे (स्थिभङ्गे); **सेतु.** २१८-९ दे तु घा (देन घा); **समु.** १६२ तु घा (च घा); **विव्य.** ४७ मस्त्व (मश्चा) तु घातने तु (च घातके च).

(२) **व्यक.** १०५; **विर.** २६५; **विचि.** ११५; **व्यनि.** ४९१ भेदेऽङ्घ्रि (भेदाङ्ग) षु च (सति); **दवि.** २५६ भेदे (भङ्गे) च (तु); **सेतु.** २१९; **समु.** १६२ ऽङ्घ्रि (ऽङ्ग) षु च (सति); **विव्य.** ५०.

(३) **अप.** २।२२२ पीडने (भेदने) भेदने (पीडने); **व्यक.** १०६; **स्मृच.** ३२९ चैव (ष्वेव) त्थान (त्थानं); **विर.** २७० भेदने छेदने (छेदने भेदने) च यत् (तथा); **पमा.** ४२० भेदने छेदने (छेदने पीडने); **रत्न.** १२२; **विचि.** ११८; **व्यनि.** ४९४; **व्यप्र.** ३७५; **विता.** ७४०; **सेतु.** २२१ च यत् (तथा); **समु.** १६२ चैव (ष्वेव).

(४) **विश्व.** २।२२६.

(५) **व्यक.** १०८; **विर.** २८०; **दवि.** ३१८ वा प्रथमं (वाऽप्यथवा); **सेतु.** ३०१ प्रथमं (मध्यमं).

(१) **स्मृच.** ३२८; **समु.** १६२.

(२) **अप.** २।२१२; **स्मृच.** ३२९; **विर.** २७५; **व्यनि.** ४९२; **दवि.** २३३; **समु.** १६२.

(३) **अप.** २।२१२ आक्रुष्टस्तु (पूर्वाक्रुष्टः); **व्यक.** १०७; **विर.** २७६; **पमा.** ४१२ क्रुष्ट (क्रुष्ट) हत्वाततायिनं (हत्वाऽपराधिनं); **रत्न.** १२१ हत्वाततायिनं (हत्वाऽपराधिनं); **विचि.** १२०-२१; **व्यनि.** ४९२,५१९; **दवि.** २१५ प्रथमचतुर्थपादौ : २३३; **व्यत.** २०१ समा (यदा); **व्यप्र.** ३७१ रत्नवत्; **व्यउ.** ११२ ताडयन् (दापयेत्) शेषं रत्नवत्; **व्यम.** १०० रत्नवत्; **सेतु.** ९९ समा (यदा) : २२२; **समु.** १६२ रत्नवत्.

(४) **अप.** २।२१२; **व्यक.** १०७; **विर.** २७६ भुजा (भृता); **विचि.** १२१; **दवि.** २१६; **सेतु.** २२२.

एव, तस्य ताडयन्निति हिंसार्थे षष्ठी, न अन्वेष्टव्यः न तस्य दण्डः करणीय इत्यर्थः। विर. २७६

(२) नीचः शूद्रादिः। सन्तं ब्राह्मणादिकम्। स एव ब्राह्मणादिस्तस्य शूद्रादेः। हिंसार्थे षष्ठी। नान्वेष्टव्यो न दण्ड्य इत्यर्थः। विचि. १२१

(३) दण्डश्चायं द्विधा प्रसक्तः। वाक्पारुष्ये तस्यैवौचित्यादनुचितस्य दण्डपारुष्यस्य प्रणयनात् राजकर्तव्यस्य तस्य स्वयंकरणाच्च, तदुक्तं ताडयन्निति, स एवेति, एतच्च श्वपाकादिपरं नारदवचनेनैकमूलकत्वे लाघवात्। अस्तु वा तदितरपरमपि न्यायसाम्यात्। दवि. २१६

**[१]प्रातिलोम्यास्तथा चान्त्याः पुरुषाणां मलाः स्मृताः।**
**ब्राह्मणातिक्रमे वध्या न दातव्या धनं क्वचित्॥**

दातव्या दापयितव्या इत्यर्थः। विर. २७७

अप्रकाशदण्डपारुष्ये परीक्षाविधिः

**[२]विविक्ते ताडितो यस्तु हेतिर्दृश्यो न वा भवेत्।**
**हन्ता तदनुमानेन विज्ञेयः शपथेन वा॥**
**अन्तर्वेश्मन्यरण्ये वा निशायां यत्र ताडितः।**
**शोणितं तत्र दृश्येत न पृच्छेत्तत्र साक्षिणः॥**

विविक्ते ताडितो यस्तु ताड्येन ताडकेऽदृश्यमाने मध्यस्थेऽसति अदृश्यमाने वा ताडित इत्यर्थः। अनुमानेन अविनाभूतेन धर्मेण। शोणितं ताडकत्वाविनाभूतम्। विर. २७३

**[३]कश्चित्कृत्वात्मनश्चिह्नं द्वेषात्परमभिद्रवेत्।**
**हेत्वर्थगतिसामर्थ्यैस्तत्र युक्तं परीक्षणम्॥**

## कात्यायनः

सजातीयेषु दण्डपारुष्ये दण्डविधिः

**[४]उद्गूरणे तु हस्तस्य कार्यो द्वादशको दमः।**
**स एव द्विगुणः प्रोक्तः पातने तु सजातिषु॥**

उद्गूरणे हस्तस्य प्रहारार्थे हस्तोद्यमे, पातने हस्तस्यैव यथाक्रमं द्वादशपणः चतुर्विंशतिपणो दण्ड इत्यर्थः। विर. २६२-३

**[१]छर्दिर्मूत्रपुरीषाद्यैरापाद्यः स चतुर्गुणः।**
**षड्गुणः कायमध्ये स्यात् मूर्ध्नि त्वष्टगुणः स्मृतः॥**

(१) पुरीषादिस्पर्शने पुनः कात्यायनेन विशेष उक्तः— छर्दिर्मूत्रेति। आद्यग्रहणाद्वसाशुक्रासृङ्मज्जानो गृह्यन्ते। मिता. २।२१४

(२) आदिग्रहणाद्वसाशुक्रादयो ग्राह्याः, आपाद्यः स चतुर्गुणः, कायमध्यशिरोव्यतिरिक्तसर्वाङ्गस्पर्शने चतुर्गुण इत्यर्थः। चतुर्गुणो दशपणात्, एवं षड्गुणादिकमपि। ×विर. २६२

(३) वान्तमूत्रादिना समस्य परस्याधःकाये योजने दाप्यो दशपणश्चतुर्गुणः। एवं मध्याङ्गादौ षड्गुणादिरित्यर्थः। विचि. ११३

**[२]कर्णौष्ठघ्राणपादाक्षिजिह्वाशिश्नकरस्य च।**
**छेदने चोत्तमो दण्डो भेदने मध्यमो भृगुः॥**

× दवि. विरवत्।

---

(१) व्यक. १०७ धनं (दमं); विर. २७७.

(२) व्यक. १०७ [व्यवहारकल्पतरौ इमौ श्लोकौ नोपलभ्येते, व्याख्यानस्योपलभ्यमानत्वात् स्थलनिर्देशः समुल्लिखितः]; विर. २७३.

(३) व्यक. १०७ नारदबृहस्पती; व्यप्र. ३७८ गति (मति) नारदबृहस्पती.

(४) व्यक. १०४; विर. २६२ ने तु (नेषु); पमा. ४१४ ने तु स (नेषु स्व); विचि. ११३ णे तु (णे च) ने तु स (ने च द्वि); व्यनि. ४९०; दवि. २५१ णे तु (णात्तु) ने तु (नेषु); व्यप्र. ३७२; व्यउ. ११३; सेतु. २१६ ने तु स (नेषु द्वि); समु. १६२ उद्गू (उद्गो).

(१) मिता. २।२१४; अप. २।२१४; व्यक. १०४ स्यात् (तु); विर. २६२ स्यात् (तु) त्वष्ट (चाष्ट); पमा. ४१३ द्यैरापाद्यः स (द्यैः पादादौ च) स्यात् (तु); रत्न. १२२; विचि. ११२-३ रापाद्यः स (रधःसु च) स्यात् (तु); व्यनि. ४९० रापाद्यः स (रधोनाभेः) स्यात् (तु) स्मृतः (दमः); दवि. २५३ विरवत्; सवि. ४८१; वीमि. २।२१४ व्यकवत्; व्यप्र. ३७१ द्यैरापाद्यः (द्यैः स्पर्शने); व्यउ. ११३; व्यम. १००; विता. ७३६; सेतु. २१६ रापाद्यः स (राद्ये स स्यात्) स्यात् (तु); समु. १६२.

(२) अप. २।२१९ (=) भृगुः (गुरुः); व्यक. १०५ स्य च (स्य तु); स्मृच. ३२८; विर. २६५ पादा (नासा) शेषं व्यकवत्: ६५८ मो दण्डो (मं दद्यात्) ध्यमो (ध्यमं); पमा. ४१७ दाक्षि (दादि) शिश्न (नासा); रत्न. १२२; विचि. ११५; व्यनि. ४९१; दवि. २५६ व्यकवत्; सवि. ४८० शिश्न (मुख) भृगुः (गुरुः) यमः; व्यप्र. ३७३;

छेदने स्वस्थानात् च्यावने, भेदने विदारणे । विर. २६५

[1]आभीषणेन दण्डेन प्रहरेद्यस्तु मानवः ।
पूर्वं वा पीडितो वाऽथ स दण्ड्यः परिकीर्तितः ॥

आभीषणेन खड्गादिना । विर. २७६

शिष्यं क्रोधेन हन्याच्चेदाचार्यो लतया विना ।
येनात्यन्तं भवेत्पीडा वादः स्याच्छिष्यतः पितुः* ॥

दण्डपारुष्ये प्रतिलोमानुलोमर्नीचेषु दण्डविधिः

[2]वाक्पारुष्ये यथैवोक्ताः प्रतिलोमानुलोमतः ।
तथैव दण्डपारुष्ये पात्या दण्डा यथाक्रमम् + ॥

कात्यायनस्तु वाक्पारुष्योक्तप्रतिव्यक्तिदण्डनिर्णय इहानुक्तदण्डविषये क्वचिदनुसंधेय इति दर्शयति— वाक्पारुष्य इति । एवं चात्र प्रतिव्यक्ति दण्डनिर्णयः प्रातिलोम्यादावपि कात्यायनेन स्मृत इति न क्वचिद-स्मृता दण्डाः पात्याः । नन्वेवमपि क्वचिदत्रापराधानुसारेण कल्पिता दण्डाः पात्याः, अनन्तव्यक्तिषु प्रति-व्यक्ति दण्डनिर्णयस्मरणायोगात् । सत्यम् । अत एवो-क्तमुशनसा— 'यत्र नोक्तो दमः सर्वैरानन्त्यात्तु महात्मभिः । तत्र कार्यं परिज्ञाय कर्तव्यं दण्डधारणम् ॥' स्मृच. ३२८

[1]अस्पृश्यधूर्तदासानां म्लेच्छानां पापकारिणाम् ।
प्रातिलोम्यप्रसूतानां ताडनं नार्थतो दमः ॥

पापकारिणोऽतिशयेन प्रातिलोम्यप्रसूता निषादादयः । विर. २७८

पीडिताय पीडापरिहारव्ययहृतभग्नादिदानविधिः

[2]वाग्दण्डस्ताडनं चैव येषूक्तमपराधिषु ।
हृतं भग्नं प्रदाप्यास्ते शोध्यं निःस्वैस्तु कर्मणा ॥

(१) निःस्वैर्निर्धनैः, कर्मणा सेवादिरूपेण, शोध्यं पूरणीयम् । विर. २७०

(२) भग्नं गृहस्थ्यादि । दवि. २२०

[3]देहेन्द्रियविनाशे तु यथा दण्डं प्रकल्पयेत् ।
तथा तुष्टिकरं देयं समुत्थानं च पण्डितैः ।
समुत्थानव्ययं चासौ दद्यादाव्रणरोपणम् ॥

---

* स्थलादिनिर्देशः व्यवहारस्वरूपप्रकरणे (पृ. ५) द्रष्टव्यः ।

+ मिताक्षराव्याख्यानं 'एकं घ्नतां बहूनां' इति याज्ञवल्क्य-वचने (पृ. १८१८) द्रष्टव्यम् ।

**व्यउ.** ११३; **व्यम.** १०० कर्णौ......दाक्षि (कर्णघ्राण-पदाक्षीणि); **सेतु.** २१९; **समु.** १६२ घ्राणपादा (पादघ्राणा) चोत्त (तूत्त).

(१) **अप.** २।२१२ वा पी (चाऽऽपी); **व्यक.** १०७ आभी (अभी); **विर.** २७६; **पमा.** ४१२ आभी (अभी); **विचि.** १२०; **दवि.** २३३ उत्तरार्धे (पूर्वं वाऽपकृतो वाऽथ सोऽपि दण्ड्योऽधिकं भवेत्).

(२) **मिता.** २।२२१ यथै.........लोमा (य एवोक्ताः प्रातिलोम्या) तथैव (स एव) पात्या दण्डा (दाप्यो राज्ञा) स्मरणम्; **व्यक.** १०६; **स्मृच.** ३२८ प्रति........मतः (प्रातिलोम्यानुलोम्यतः); **विर.** २६९ क्ताः (क्तः) पात्या दण्डा (पात्यो दण्डो); **पमा.** ४१८ विरवत्; **रत्न.** १२२ प्रतिलोमा (प्रातिलोम्या); **विचि.** ११८ क्ताः (क्तः); **व्यनि.** ४९३; **सवि.** ४८१ यथै......लोमा (यथा प्रोक्ताः प्रातिलोम्या) दण्ड (दण्डे); **व्यप्र.** ३७४ रत्नवत्; **व्यउ.** ११४-५ रत्नवत्; **व्यम.** १०० रत्नवत्; **विता.** ७३८ तथैव (त एव) पात्या दण्डा (राज्ञा कार्या) मनुः; **सेतु.** २२०-२१; **समु.** १६२ स्मृचवत्.

(१) **अप.** २।२१२ प्रातिलोम्य (प्रतिलोम); **व्यक.** १०७; **विर.** २७८ : ६५५ म्लेच्छानां (नराणां) शेषं अपवत्; **विचि.** १२२; **दवि.** ५८ ताडनं (ताडयेत्); **सेतु.** ३१२ म्लेच्छानां (नराणां); **समु.** ६९ सेतुवत्; **विव्य.** ५०.

(२) **अप.** २।२२१; **व्यक.** १०६; **विर.** २७० राधिषु (कारिषु) प्रदा (तु दा); **दवि.** २२० प्रदा (च दा) स्वैस्तु (स्वैः स्व).

(३) **अप.** २।२२२ पणम् (पणात्); **व्यक.** १०६; **स्मृच.** ३२९ देयं (ज्ञेयं) त्थान (त्थानं) पणम् (पणात्); **विर.** २७१ पण्डितैः (पीडितैः) दा (द्या); **पमा.** ४१९ यथा (यदा) तथा (तदा) तृतीयार्धं विना : ४२० त्थान (त्थानं) तृतीयार्धः; **रत्न.** १२२; **व्यनि.** ४९५ पणम् (पणात्) तृतीयार्धः; **दवि.** २२१ पणम् (हणात्); **सवि.** ४८४ चासौ......पणम् (दाप्यः कलहाय कृतं च यत्); **व्यप्र.** ३७४ तृतीयार्धं विना : ३७५ तृतीयार्धः; **व्यउ.** ११५ तथा (व्रणि) चासौ (वासौ); **व्यम.** १०० तृतीयार्धं विना; **विता.** ७४०; **समु.** १६३ अपवत्.

(१) व्रणादिदुःखेषु अतिदुःसहेषु जातेष्वाह कात्यायनः—देहेन्द्रियेति । तुष्टिकरं दुस्सहव्रणतुष्टिकरं देयं दुस्सहव्रणादिकारिणा देयम् । समुत्थानं व्ययं पण्डितैः व्रणगुरुत्वानुसारेण कल्पितमिति शेषः। समुत्थानं च आव्रणरोपणाद्देयम् । 'समुत्थानव्ययं चासौ दद्यादा व्रणरोपणात्' इति तेनैवोक्तत्वात् । समुत्थानव्ययं भिषग्भेषजपथ्यपानाद्यर्थं क्रियमाणं व्ययम् । स्मृच. ३२९

(२) व्रणपदमत्र पीडाहेतुमुपलक्षयति । रोपणपदं शान्तिपरम् । विर. २७१

**[१]प्रमापणे प्राणभृतां प्रतिरूपं तु दापयेत् ।**
**तस्यानुरूपं मूल्यं वा दाप्य इत्यब्रवीन्मनुः ॥**

(१) प्रतिरूपं प्रमापितस्य गुणादिना समम् । एतत्तु स्वामिने प्रतिरूपादिदानम् । विर. २८४

(२) परकीयाणां द्विचतुष्पदानां दण्डपातनजनिता या हिंसा या रथाद्यभिघातप्रभवा तदुभयसाधारणमिदं वचनम् । प्रतिरूपं प्रमापितस्य गुणादिना सदृशम् । एतच्च प्रतिरूपादिदानं प्रमापितस्वामिनः । दवि. २२९

पशुपक्षिवनस्पतिषु दण्डपारुष्ये दण्डविधिः

**[२]श्रान्तान् क्षुधार्तान् तृषितानकाले वाहयेत्तु यः ।**
**खरगोमहिषोष्ट्रादीन् प्राप्नुयात्पूर्वसाहसम् ॥**
**[३]त्रिपणो द्वादशपणो वधे तु मृगपक्षिणाम् ।**
**सर्पमार्जारनकुलश्वसूकरवधे नृणाम् ॥**

अत्रात्यन्तानुत्कृष्टमृगपक्षिघातेषु त्रिपणः, उत्कृष्टतद्घातेषु द्वादशपणः। विष्णूक्तस्तु पञ्चाशत्पणोऽत्यन्तोत्कृष्टमृगपक्षिवधविषयः । 'पञ्चाशदुत्तरो दण्डः शुभेषु मृगपक्षिषु' इति वचनात् । विर. २७९

**[१]गोकुमारीदेवपशुमुक्षाणं वृषभं तथा ।**
**वाहयन् साहसं पूर्वं प्राप्नुयादुत्तमं वधे ॥**

गोकुमारी वृषेण संयुक्ता गौः । देवपशुर्देवतोद्देशेनोत्सृष्टपशुः । उक्षा 'उक्ष सेचने' इति धात्वर्थानुसाराद्बीजमोक्ता वृषः । वृषभो जीर्णवृषः । दवि. ३१८

**वनस्पतीनां सर्वेषामुपभोगो यथायथा ।**
**तथातथा दमः कार्यो हिंसायामिति धारणा * ॥**

वनस्पतिशब्द उपयुक्तसर्वस्थावरोपलक्षणार्थो न्यायसाम्यात् । तथातथा उपयोगगौरवलाघवानुसारेण । विर. २८४

**मनुष्याणां पशूनां च दुःखाय प्रहृते सति ।**
**यथायथा महद्दुःखं दण्डं कुर्यात्तथातथा * ॥**

अप्रकाशदण्डपारुष्ये परीक्षाविधिः

**[२]हेत्वादिभिर्न पश्येच्चेद्दण्डपारुष्यकारणम् ।**
**तदा साक्षिकृतं तत्र दिव्यं वा विनियोजयेत् ॥**

साक्ष्यभावे च दिव्यम् । विचि. १२०

## व्यासः

दण्डपारुष्यलक्षणम्

**[३]भस्मादिना प्रक्षिपणं ताडनं च करादिना ।**
**आवेष्टनं चांशुकाद्यैर्दण्डपारुष्यमुच्यते ॥**

---

(१) व्यक. १०८; विर. २८४; पमा. ४२५ प्रति... येत् (दद्यात् तत्प्रतिरूपकम्) दाप्य (दद्यात्); दवि. २२९; सेतु. २२६ दाप्य (दण्ड); समु. १६३ पमावत्.

(२) अप. २।२२६ पूर्वार्धे (श्रान्तान् तृषार्तान् क्षुधितानकाले वाहयेन्नरः); व्यक. १०८ क्षुधार्तान् तृषितान् (तृषार्तान् क्षुधितान्) त्तु यः (न्नरः); विर. २८०; व्यनि. ४९६ अकाले (नाकाले) त्तु यः (न्नरः); दवि. ३१९; समु. १६३ क्षुधार्तान् तृषितान् (तृषार्तान् क्षुधितान्) येत्तु यः (यन्नरः) मनुः.

(३) व्यक. १०८; विर. २७९ वधे तु (घाते तु) मृग (पशु); पमा. ४२४ त्रि (द्वि); व्यनि. ४९६; दवि. २२३ वधे तु (घाते तु); व्यप्र. ३७७ त्रिपणो (द्विपण) पणो (पणा) श्वसूकर (शूकराश्व); व्यउ. ११६ त्रि (द्वि) श्वसूकरवधे (शूकरश्वपचे); सेतु. २२४ त्रिपणो (त्रिगुणो) वधे तु (घाते तु); समु. १६३.

* अन्यव्याख्यासंग्रहः रथवादिनिर्देशश्च मनौ अस्मिन्नेव श्लोके (पृ. १८०४–५) द्रष्टव्यः ।

(१) व्यप्र. ३७७; व्यउ. ११६. [अपरार्ककल्पतर्वादिग्रन्थेषु मनोरयं श्लोकः, मनुस्मृतौ तु नोपलभ्यते ।]

(२) अप. २।२१२ तदा... ...तत्र (तत्र साक्षीकृतं चैव); व्यक. १०७ तदा (तद) वा वि (वाऽथ); विर. २७४ वा वि (चापि); विचि. १२०; व्यनि. ४९५ हेत्वा (हेत्या) तदा साक्षि (तदसाक्षी) वा विनि (वाऽध्वनि); व्यप्र. ३७९ वा वि (न वि); व्यउ. ११८; सेतु. २२२; समु. १० तदा (तद) वा वि (चैव) नारदः.

(३) स्मृच. ७,३२८; रत्न. १२१ भस्मादिना प्रक्षि (हस्तादिना प्राक्षि) चांशु (वांशु); व्यप्र. ३७० भस्मादिना

आदिग्रहणेनोपरि प्रक्षपणाद्दुःखकरं कर्दमपांसुमलादि द्रव्यं गृह्यते । करादिनेत्यनेनादिशब्देन लगुडपाषाणेष्टकायुधादिद्रव्यं, आद्यग्रहणेन रज्जुशृङ्खलादि द्रव्यम् ।

स्मृच. ३२८

## यमः

भार्यापुत्रदासदासीशिष्याणां दण्डपारुष्यविचारः

[1]भार्या पुत्रश्च दासश्च दासी शिष्यश्च पञ्चमः ।
प्राप्तापराधास्ताड्याः स्यू रज्ज्वा वेणुदलेन वा ॥
[2]अधस्तात्तु प्रहर्तव्यं नोत्तमाङ्गे कथञ्चन ।
अतोऽन्यथा प्रवृत्तस्तु यथोक्तं दण्डमर्हति ॥

वधकृद्द्विजदण्डः

[3]वध्ये कर्मणि तिष्ठन्तं समग्रधनसंयुतम् ।
विवासयेत् द्विजं राजा दोषं विख्याप्य संसदि ॥

## वृद्धहारीतः

देवताब्राह्मणगुरूणां पादादिना प्रहारे दण्डविधिः

[4]दैवतं ब्राह्मणं गां च पितृमातृगुरूंस्तथा ।
पादेन ताडयेद्यस्तु तस्य तच्छेदनं स्मृतम् ॥
तेषामुपरि हस्तं तु दोष्णोश्छेदं तु कामतः ॥

## सुमन्तुः

परस्परं पारुष्ये दण्डविधिः

[1]पारुष्यदोषादुभयोर्युगपत्संप्रवृत्तयोः ।
विशेषश्चेन्न दृश्येत विनयश्चेत्समस्तयोः ॥

## वृद्धकात्यायनः

दण्डपारुष्ये स्वयं प्राणत्यागे न दण्डः

[2]उक्त्वा परुषमुक्तस्तु ताडयित्वा तु ताडितः ।
यमुद्दिश्य त्यजेत्प्राणान्तेन न स्यात्स किल्बिषी ॥

## परिशिष्टकारः

दण्डपारुष्यलक्षणम्

[3]दुःखं रक्तं व्रणं भङ्गं छेदनं भेदनं तथा ।
कुर्याद्यः प्राणिनां तद्धि दण्डपारुष्यमुच्यते ॥

स्थावरजङ्गमप्राणिनां प्राण्यन्तरकृतं नखादिना त्वग्भेदादिभवं दुःखं रक्तव्रणादिकं च दण्डपारुष्यमुच्यत इत्यर्थः ।

स्मृच. ३२८

## अग्निपुराणम्

[4]अन्त्यजातिर्द्विजातिं तु येनाङ्गेनापराध्नुयात् ।
तदेव छेदयेत्तस्य क्षिप्रमेवाविचारयन् ॥
[5]उत्कृष्टासनसंस्थस्य नीचस्याधो निकृन्तनम् ।
यो यदङ्गं च रुजयेत्तदङ्गं तस्य कर्तयेत् ॥
अर्धपादकराः कार्या गोगजाश्वोष्ट्रघातकाः ।
वृक्षं तु विफलं कृत्वा सुवर्णं दण्डमर्हति ॥

---

(भस्मादीनां); **व्यउ.** १११ भस्मादिना (हस्तादिना) चांशु (वांशु); **विता.** ७३२ भस्मादिना (हस्तादिना); **समु.** १६१ व्यप्रवत्.

(१) **व्यमा.** २८५; **विर.** २७२; **व्यनि.** ४९५ शिष्यश्च (भृत्यश्च) मनुः; **व्यप्र.** ३७८; **व्यउ.** ११७; **बाल.** २।१३५ (पृ. १८५) (=) पूर्वार्धे (पुत्रः शिष्यस्तथा भार्या दासी दासस्तु पञ्चमः); **सेतु.** २२१.

(२) **व्यमा.** २८५ कथञ्च (कदाच); **विर.** २७२ र्तव्यं (र्तव्या) कथञ्च (कदाच); **विचि.** ११९ उत्त.; **व्यनि.** ४९३ र्तव्यं (र्तव्या) मनुः; **व्यप्र.** ३७८; **व्यउ.** ११७; **सेतु.** २२१ र्तव्यं (र्तव्या).

(३) **व्यनि.** ४९८. (४) **वृहास्मृ.** ७।२०३-४.

(१) **सवि.** ४७६.

(२) **व्यनि.** ४९२.

(३) **स्मृच.** ३२७; **रत्न.** १२१; **सवि.** ४८० रक्तं व्रणं (व्रणं रक्त) द्यः (द्यत्); **व्यप्र.** ३७०; **व्यउ.** १११; **विता.** ७३२; **समु.** १६१.

(४) **अपु.** २२७।२९.

(५) **अपु.** २२७।३१, ३२.

# स्त्रीसंग्रहणम्

## वेदाः

भ्रातृभगिनीविवाहः तन्निषेधश्च

*ओ चित्सखायं सख्या ववृत्यां तिरः पुरू चिदर्णवं जगन्वान् । पितुर्नपातमा दधीत वेधा अधि क्षमि प्रतरं दीध्यानः ॥

न ते सखा सख्यं वष्ट्येतत्सलक्ष्मा यद्विषुरूपा भवाति । महस्पुत्रासो असुरस्य वीरा दिवो धर्तार उर्विया परि ख्यन् ॥

उशन्ति घा ते अमृतास एतदेकस्य चित्त्यजसं मर्त्यस्य । नि ते मनो मनसि धाय्यस्मे जन्युः पतिस्तन्वमा विविश्याः ॥

न यत्पुरा चकृमा कद्ध नूनमृता वदन्तो अनृतं रपेम । गन्धर्वो अप्स्वप्या च योषा सा नो नाभिः परमं जामि तन्नौ ॥

गर्भे नु नौ जनिता दम्पती कर्देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः । नकिरस्य प्र मिनन्ति व्रतानि वेद नावस्य पृथिवी उत द्यौः ॥

को अस्य वेद प्रथमस्याह्नः क ईं ददर्श क इह प्र वोचत् । बृहन्मित्रस्य वरुणस्य धाम कदु ब्रव आहनो वीच्या नॄन् ॥

यमस्य मा यम्यं काम आगन्त्समाने योनौ सहशेय्याय । जायेव पत्ये तन्वं रिरिच्यां वि चिद्वृहेव रथ्येव चक्रा ॥

न तिष्ठन्ति न नि मिषन्त्येते देवानां स्पश इह ये चरन्ति । अन्येन मदाहनो याहि तूयं तेन वि वृह रथ्येव चक्रा ॥

रात्रीभिरस्मा अहभिर्दशस्येत्सूर्यस्य चक्षुर्मुहुरुन्मिमीयात् । दिवा पृथिव्या मिथुना सबन्धू यमीर्यमस्य बिभृयादजामि ॥

आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि । उप बर्बृहि वृषभाय बाहुमन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत् ॥

किं भ्रातासद्यदनाथं भवाति किमु स्वसा यन्निर्ऋतिर्निगच्छात् । काममूता बह्वेतद्रपामि तन्वा मे तन्वं सं पिपृग्धि ॥

न वा उ ते तन्वा तन्वं सं पपृच्यां पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात् । अन्येन मत्प्रमुदः कल्पयस्व न ते भ्राता सुभगे वष्ट्येतत् ॥

बतो बतासि यम नैव ते मनो हृदयं चाविदाम । अन्या किल त्वां कक्ष्येव युक्तं परि ष्वजाते लिबुजेव वृक्षम् ॥

अन्यमू षु त्वं यम्यन्य उ त्वां परि ष्वजाते लिबुजेव वृक्षम् । तस्य वा त्वं मन इच्छा स वा तवाधा कृणुष्व संविदं सुभद्राम् ॥

पितापुत्रीविवाहः

[१]प्रथिष्ट यस्य वीरकर्ममिष्णदनुष्ठितं नु नर्यो अपौहत् । पुनस्तदा वृहति यत्कनाया दुहितुरा अनुभृतमनर्वा ॥

यथा स्वांशेन भगवान् रुद्रः प्रजापतिर्वास्तोष्पतिं रुद्रमसृजत् तदेतदादिभिस्तिसृभिर्वदति । यस्य प्रजापतेरिष्णदेषणवद् वीरकर्मम् । लिङ्गव्यत्ययः । वीरकर्म । रेत इत्यर्थः । येन रेतसोत्पन्ना वीरा भवन्ति तादृग्रेतः प्रथिष्ट प्रथितमासीत् तद्रेतोऽनुष्ठितं प्रजापतिनापत्यार्थं निषिक्तं नर्यो नरेभ्यो हितो यद्वा नेतृभ्यो देवेभ्यो हितो

* 'ओ चित् सखायं' इत्याद्यारभ्य 'अन्यमू षु' इत्यन्तानां चतुर्दशमन्त्राणां सायणभाष्यं स्थलनिर्देशश्च स्त्रीपुंधर्मप्रकरणे ( पृ. ९७५-७८ ) द्रष्टव्यः ।

(१) ऋसं. १०।६१।५.

रुद्रोऽप्रौहत् अपोहति। तदेवाह। पुनस्तद्रेत आ वृहति। सर्वत उत्खिदति। उद्गमयति पुरुषाकारेण स्वयमुत्पन्नः सन्। कीदृशं रेतः। यद्रेतः कनायाः कान्ताया दुहितुः स्वपुत्र्याः। तस्यामित्यर्थः। तत्र प्रजापतिनानुभृतमाः आसीत्। कीदृशो रुद्रः। अनर्वान्यस्मिन्नप्रत्यृतः। 'प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायद्दिवमित्यन्य आहुरुषसमित्यन्ये।' (ऐब्रा. ३।३३) इति ब्राह्मणम्। ऋसा.

**[1]मध्या यत्कर्त्वमभवदभीके कामं कृण्वाने पितरि युवत्याम्। मनानग्रेतो जहतुर्वियन्ता सानौ निषिक्तं सुकृतस्य योनौ॥**

कामं यथेच्छं कृण्वाने कुर्वाणे पितरि प्रजापतौ युवत्यां दुहितर्युषसि दिवि वा। दिवमित्यन्य इति हि ब्राह्मणं प्रदर्शितम्। मध्या तयोर्मध्येऽन्तरिक्षमध्ये वाभीके समीपे यत्कर्त्वं कर्माभवत् मिथुनीभावाख्यं तदानीं मनानगल्पं रेतो जहतुः त्यक्तवन्तौ। किं कुर्वाणाविति तत्राह। वियन्तौ परस्परमभिगच्छन्तौ। प्रजापतिना सानौ समुच्छ्रिते स्थाने सुकृतस्य यज्ञस्य योनौ निषिक्तमासीदित्यर्थः। ततो रुद्र उत्पन्न इत्यर्थः। ऋसा.

**[2]पिता यत्स्वां दुहितरमधिष्कन्क्ष्मया रेतः संजग्मानो नि षिञ्चत्। स्वाध्योऽजनयन् ब्रह्म देवा वास्तोष्पतिं व्रतपां निरतक्षन्॥**

पिता प्रजाप्रतिर्यद्यदा स्वां दुहितरं दिवमुषसं वाधिष्कन् अध्यस्कन्दत् तदानीमेव क्ष्मया पृथिव्या सह संजग्मानः संगच्छमानः प्रजापतिरस्मिँल्लोके रोहितो भूत्वा रेतो नि षिञ्चत् निषेकमकरोत्। 'तामृश्यो भूत्वा रोहितं भूतामभ्यैदि'ति ब्राह्मणं (ऐब्रा. ३।३३)। तदानीं स्वाध्यः सुध्यानाः सुकर्माणो वा देवा ब्रह्माजनयन् उदपादयन्। किं तद्ब्रह्मेति तदाह। वास्तोष्पतिं यज्ञवास्तुस्वामिनं व्रतपां व्रतस्य कर्मणो रक्षःप्रभृतिभ्यः पालकं निरतक्षन् समुदपादयन्। यज्ञवास्तुस्वामित्वं दत्त्वा कर्मरक्षकत्वेन निर्मितवन्त इत्यर्थः। ऋसा.

भ्रातृभगिनीविवाहः

**[3]यस्त्वा भ्राता पतिर्भूत्वा जारो भूत्वा निपद्यते। प्रजां यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि॥**

(१) ऋसं. १०।६१।६. (२) ऋसं. १०।६१।७.
(३) ऋसं. १०।१६२।५; असं. २०।९६।१५;

हे योषित् यो राक्षसो भ्राता भ्रातृरूपो भूत्वा पतिर्भर्तृरूपो वा भूत्वा त्वां निपद्यते अभिगच्छति। अथवा जार उपपतिरूपो वा भूत्वाभिगच्छति। एवंभूतो यो राक्षसादिस्ते तव प्रजां जिघांसति हन्तुमिच्छति। स्पष्टमन्यत्। ऋसा.

शूद्रकृतार्यस्त्रीसंग्रहणम्

**शूद्रा यदर्यजारा न पोषाय धनायति।**

यद्यदा शूद्रा काचिद्दासी कदाचिदर्यः स्वकीयः स्वामी जारो यस्याः सेयमर्यजारा भवति, तदानीं सा दासी स्वामिस्वीकारमात्रेणात्यन्तं हृष्यति, न तु स्वकीयकुटुम्बपोषाय धनायति धनमात्मन इच्छति। न हि स्वामिस्वीकाराद्धनं अधिकं मन्यते। तैसा.

स्त्रियाः व्यभिचारदोषः

**[1]ऋतँ वै सत्यँ यज्ञोऽनृतँ स्त्र्यनृतँ वा एषा करोति या पत्युः क्रीता सत्यथान्यैश्चरत्यनृतमेव निरवदाय ऋतँ सत्यमुपैति यन्मिथुया प्रतिब्रूयात्प्रियतमेन याजयेदथ यद्वाचयति मेध्यामेवैनां करोत्यामपेषा भवन्ति सर्वस्याँहसोऽवेष्ट्यै यद्भ्रूज्येयुरनवेष्टमँहः स्यात्पात्रेभ्यो वै ताः प्रजा वरुणोऽगृह्णाद्यत्पात्राणि पात्रेभ्य एवैना वरुणान्मुञ्चति प्रतिपुरुषं भवन्ति प्रतिपुरुषमेवाँहोऽवयजत्येकमधि भवति गर्भभ्यस्तेन निरवदयतेऽन्नाद्वै ताः प्रजा वरुणोऽगृह्णाच्छूर्पेणान्नं बिभ्रति तस्माच्छूर्पेण जुहुतः स्त्रीपुँसौ जुहुतो मिथुना एव प्रजा वरुणान्मुञ्चतः पुरस्तात्प्रत्यञ्चौ तिष्ठन्तौ जुहुतः पुरस्तादेवाँहोऽवयजतो यत्पात्राणि य एव द्विपादः पशवो मिथुनास्तेषामेतत्पुरस्तादँहोऽवयजतोऽथ यन्मेषश्च मेषी च य एव चतुष्पादः पशवो मिथुनास्तेषामेतदुपरिष्टादँहोऽवयजत उभयत एवाँहोऽवयजतः पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्च।**

मागृ. २।१८।२.

(१) तैसं. ७।४।१९।२-३; मैसं. ३।१३।१; कासं. ४।८; शुमा. २३।३०; तैब्रा. ३।९।७।३; शब्रा. १३।९।२।८; शाश्रौ. १६।४।४.

(२) मैसं. १।१०।११; कासं. ३६।६; तैब्रा. १।६।५।४; माश्रौ. १।७।४.

शूद्रकृतार्यस्त्रीसंग्रहणं आर्यकृतशूद्रस्त्रीसंग्रहणं च

**यद्धरिणो यवमत्ति न पुष्टं पशु मन्यते ।**
**शूद्रा यदर्यजारा न पोषाय धनायति ॥**

(१) क्षत्ता पालागलीमभिमेथयति— यद्धरिणः । यदा हरिणो मृगः यवं सस्यं अत्ति भक्षयति । अथ तदा क्षेत्री । न पुष्टं पशु । पशुमिति प्राप्ते विभक्तिलोपः । पुष्टं पशुं मन्यते अवगच्छति । मम क्षेत्रं भक्षितमिति यथा । एवं शूद्रा यत् यस्य शूद्रस्य भर्तुः । अर्यजारा अर्यः वैश्यः जारो यस्याः सा अर्यजारा भवेत् तदा स शूद्रः क्षेत्री न पोषाय ममैतदिति मन्यते । न च तस्यां धनायति धनमिव च तां न मन्यते परस्योपभोग्यत्वात् । शुउ.

(२) वैश्यो यदा शूद्रां गच्छति तदा शूद्रः पोषाय न धनायते पुष्टिं न इच्छति मद्भार्या वैश्येन भुक्ता सती पुष्टा जातेति न मन्यते किं तु व्यभिचारिणी जातेति दुःखितो भवतीत्यर्थः । शुम.

**यद्धरिणो यवमत्ति न पुष्टं बहु मन्यते ।**
**शूद्रो यदर्यायै जारो न पोषमनुमन्यते ॥**

(१) पालागली प्रत्याह— यद्धरिणो यवमत्ति न पुष्टं बहु मन्यते क्षेत्रीति । यदुक्तं भवतोऽप्येतदेवमिति सोल्लुण्ठमाह । इयांस्तु विशेषः । शूद्रो यत् अर्यायै अर्यायाः वैश्यायाः जारः जारयिता । तदा क्षेत्री वैश्यः आत्मनः पोषं नानुमन्यते । न हि सा तस्य पोष्या निकृष्टश्च शूद्रः उत्कृष्टा वैश्या इति । शुउ.

(२) यत् यदा शूद्रः अर्यायै अर्याया वैश्याया जारो भवति तदा वैश्यः पोषं पुष्टिं नानुमन्यते मम स्त्री पुष्टा जातेति नानुमन्यते किं तु शूद्रेण नीचेन भुक्तेति क्लिश्यतीत्यर्थः । शुम.

ब्राह्मणीसंग्रहदोषः

**[२]तेऽवदन् प्रथमा ब्रह्मकिल्बिषेऽकूपारः सलिलो मातरिश्वा । वीळुहरास्तप उग्रो मयोभूरापो देवीः प्रथमजा ऋतेन ॥**

अत्रेतिहासमाचक्षते । जुहूरिति वाङ्नाम । सा ब्रह्मणो जाया च । बृहस्पतेर्वाचस्पतित्वाद्बृहस्पतेर्जुहूर्नाम भार्या बभूव । कदाचिदस्य किल्बिषमस्या दौर्भाग्यरूपेणासांचक्रे । अत एव स एनां पर्यत्याक्षीत् । अनन्तरमादित्यादयो देवा मिथो विचार्यैनामकिल्बिषां कृत्वा पुनर्बृहस्पतये प्रादुरिति । तदत्र वर्ण्यते । प्रथमा मुख्यास्ते देवा ब्रह्मकिल्बिषे । ब्रह्मणो बृहस्पतेः किल्बिषे पापे जुहूदौर्भाग्यरूपे विषयेऽवदन् । निष्कृत्युपायमवोचन् । के ते । अकूपारः । अत्र यास्कः —आदित्योऽप्यकूपार उच्यतेऽकूपारो भवति दूरपारः । इति (नि. ४।१८)। अकुत्सितपारो महागतिरादित्यः सलिलोऽब्दवता वरुणो मातरिश्वा वायुर्वीळुहराः। हरतेरसुनि रूपं हर इति। हरति विनाशयति तमांसीति हरस्तेजः। प्रभूततेजस्कः। तपः। तपसा तापनेनोग्र उद्गूर्णोऽग्निर्मयोभूः सुखस्य भावयिता सोमो देवीर्देव्य आपः। कीदृश्यः। ऋतेन सत्यभूतेन ब्रह्मणा प्रथमजा आदित एवोत्पादिताः । एत उपायमुक्त्वा प्रायश्चित्तमप्यकारयन्निति भावः । ऋसा.

**[१]सोमो राजा प्रथमो ब्रह्मजायां पुनः प्रायच्छदहृणीयमानः ।**
**अन्वर्तिता वरुणो मित्र आसीदग्निर्होता हस्तगृह्या निनाय ॥**

प्रथमो मुख्यः सोमो राजाहृणीयमाणः। पापापगमनेनालज्जमानः संस्तामेनामकिल्बिषां ब्रह्मजायां पुनर्बृहस्पतये प्रायच्छत्। ततो वरुणोऽन्वर्तिता। ऋतिः सौत्रो धातुर्घृणायां वर्तते। तस्य तृचि रूपम्। सोममनुमोदयितासीत्। सर्वथा त्वं परिगृहाणेति दयामकार्षीत्। तथा मित्रश्च। अनन्तरं होता देवानामाह्वाता मनुष्याणां होमनिष्पादको वाग्निर्हस्तगृह्य तां हस्ते गृहीत्वा निनाय आनैषीत् प्रादादित्यर्थः। ऋसा.

**[२]हस्तेनैव ग्राह्य आधिरस्या ब्रह्मजायेयमिति चेदवोचन् । न दूताय प्रह्ये तस्थ एषा तथा राष्ट्रं गुपितं क्षत्रियस्य ॥**

---

(१) शुमा. २३।३०,३१; तैसं. ७।४।१९।२; मैसं. ३।१३।१; कासं. ४।८; शब्रा. १३।२।९।८ : १३।५।२।८; तैब्रा. ३।९।७।२; शाश्रौ. १६।४।४,६.

(२) असं. ५।१७।१ पेऽकू (पे कू) उग्रो (उग्रं) ऋतेन (ऋतस्य); ऋसं. १०।१०९।१; कौसू. ४८।११.

(१) असं. ५।१७।२; ऋसं. १०।१०९।२.

(२) असं. ५।१७।३ येयमिति (येति) वोचन् (वोचत) प्रह्ये (प्रह्येया); ऋसं. १०।१०९।३.

देवा बृहस्पतिमूचुः। हे बृहस्पते अस्या आधिः, आधीयन्त आभरणान्यत्रेति आधिः शरीरम्। अस्याः शरीरं हस्तेनैव ग्राह्यो ग्रहितव्यमेव। पुनस्ते देवा इदानीमियं ब्रह्मजायेत्येवावोचन् अवादिषुः। चशब्दश्चेदर्थे। एषा ब्रह्मजाया पुरा प्रह्ये। हि गतौ वृद्धौ च। प्रहिताय त्वया भार्यान्वेषणार्थं प्रेषिताय दूताय तथा न तस्थे। स्वात्मानं न प्रकाशयति। तत्र दृष्टान्तः। यथा क्षत्रियस्य राज्ञो गुपितं रक्षितं राष्ट्रं राज्यं शत्रवे यथा न प्रकाशयति तद्वदसौ दौर्भाग्ययुक्ततया तस्मै स्वात्मानं न प्रकाशितवती। इदानीं तु तद्राहित्येन प्रकाशमानेयं ब्रह्मजायैवेत्यब्रुवन्। ऋसा.

[१]यामाहुस्तारकैषा विकेशीति दुच्छुनां ग्राममवपद्यमानाम्। सा ब्रह्मजाया वि दुनोति राष्ट्रं यत्र प्रापादि शश उल्कुषीमान्॥

[२]ब्रह्मचारी चरति वेविषद्विषः स देवानां भवत्येकमङ्गम्। तेन जायामन्वविन्दद्बृहस्पतिः सोमेन नीतां जुह्वं न देवाः॥

एवं स्वपतिर्मामलभतेति जुहूः परोक्षतया वदति। हे दवाः पूर्वं स ब्रह्मचारी जायाभावेन ब्रह्मचारी चरति। अत एव विषः सर्वेषु यज्ञेषु व्याप्तवान् देवान् वेविषत् स्तुतिभिर्हविर्भिश्च व्याप्नुवन् देवानामेकमङ्गं भवति। जायापती यज्ञस्य द्वे अङ्गे खलु। तेन देवानां परिचरणेन बृहस्पतिर्जायां जुहूनामिकां मामन्वविन्दत् अनुगम्यालभत। नशब्द उपमार्थे। पूर्वं यथा सोमेन नीतां सोमो ददद्गन्धर्वाय (ऋसं. १०।८५।४१)। इत्यादिक्रमेण नीतां जुह्वं जुहूं यथा लब्धवान् तद्वदिदानीमपि। ऋसा.

[३]देवा एतस्यामवदन्त पूर्वे सप्तऋषयस्तपसे ये निषेदुः। भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीता दुर्धां दधाति परमे व्योमन्॥

पूर्वे चिरन्तना देवा आदित्यादय एतस्यां विषयेऽवदन्त। इयं पापरहितेत्यवादिषुः। तथा ये सप्तर्षयः सप्तसंख्याका ऋषयस्तपसे तपश्चरणाय निषेदुः निषण्णा बभूवुः। तेऽप्यवादिषुः। ततो भीमा शत्रुरूपाणां पापानां भयङ्करी सुकृतवत्येषा जाया ब्राह्मणस्य बृहस्पतेरुपनीता समीपे देवैः स्थापिता। तथाहि। तपःप्रभावो दुर्धां दुर्धानामपि परमे व्योमन् व्योमन्युत्तमे स्थाने दधाति विदधाति खलु। तस्मादेनामपि देवतापरिग्रहरूपस्तपोमहिमा बृहस्पतेरन्तिके स्थापयति। ऋसा.

[१]ये गर्भा अवपद्यन्ते जगद् यच्चापलुप्यते।
वीरा ये तृह्यन्ते मिथो ब्रह्मजाया हिनस्ति तान्॥

उत यत्पतयो दश स्त्रियाः पूर्वे अब्राह्मणाः।
ब्रह्मा चेद्धस्तमग्रहीत् स एव पतिरेकधा॥
ब्राह्मण एव पतिर्न राजन्यो न वैश्यः।
तत् सूर्यः प्रब्रुवन्नेति पञ्चभ्यो मानवेभ्यः॥

[२]पुनर्वै देवा अददुः पुनर्मनुष्या उत।
राजानः सत्यं कृण्वाना ब्रह्मजायां पुनर्ददुः॥

लाभहेतुमाह। देवा ब्रह्मजायां जुहूं बृहस्पतये पुनरददुः। वैशब्दः प्रसिद्धिवाची। उताप्यर्थे। मनुष्या अपि पुनरददुः। एवं देवमनुष्यैः कृतं दानं सत्यं यथार्थं कृण्वानाः कुर्वाणा राजानोऽपि पुनस्तस्मै ददुः। एतमव्यवहार्यनिमित्तं पापमपि व्यनाशयन्निति भावः। ऋसा.

[३]पुनर्दाय ब्रह्मजायां कृत्वी देवैर्निकिल्बिषम्।
ऊर्जं पृथिव्या भक्त्वायोरुगायमुपासते॥

देवैः देवा निकिल्बिषं तस्याः किल्बिषाभावं, कृत्वी कृत्वा, ब्रह्मजायां ब्रह्मणो बृहस्पतेर्भार्यां, पुनर्दाय पुनर्दत्त्वा। पृथिव्या ऊर्जं रसभूतमन्नं हवीरूपं, भक्त्वाय भक्त्वा विभज्य, उरुगायं बहुकीर्तिं बहुभिः स्तोतव्यं वा बार्हस्पत्यं यज्ञमुपासते सेवन्ते। ऋसा.

---

(१) असं. ५।१७।४; कौसू. १२३।९.

(२) असं. ५।१७।५; ऋसं. १०।१०९।५.

(३) असं. ५।१७।६ देवा+(वा) पत्ते (पसा); ऋसं. १०।१०९।४.

(१) असं. ५।१७।७-९.

(२) असं. ५।१७।१० उत (अददुः) कृण्वा (गृह्णा); ऋसं. १०।१०९।६.

(३) असं. ५।१७।११ कृत्वी (कृत्वा); ऋसं. १०।१०९।७.

नास्य जाया शतवाही कल्याणी तल्पमा शये ।
यस्मिन् राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्त्या ॥
न विकर्णः पृथुशिरास्तस्मिन् वेश्मनि जायते ।
यस्मिन्० ॥
नास्य क्षत्ता निष्कग्रीवः सूनानामेत्यग्रतः ।
यस्मिन्० ॥
नास्य श्वेतः कृष्णकर्णो धुरि युक्तो महीयते ।
यस्मिन्० ॥
नास्य क्षेत्रे पुष्करिणी नाण्डीकं जायते बिसम् ।
यस्मिन्० ॥
नास्मै पृश्निं वि दुहन्ति येऽस्या दोहमुपासते ।
यस्मिन्० ॥
नास्य धेनुः कल्याणी नानड्वान्त्सहते धुरम् ।
विजानिर्यत्र ब्राह्मणो रात्रिं वसति पापया ॥

परदारसंग्रहो दोषः

[२]यस्मा ऋणं यस्य जायामुपैमि यं याचमानो अभ्यैमि देवाः । ते वाचं वादिषुर्मोत्तरां मद्देवपत्नी अप्सरसावधीतम् * ॥

पितापुत्री-भ्रातृभगिनीसङ्गः

[३]यस्त्वा स्वप्ने निपद्यते भ्राता भूत्वा पितेव च ।
बजस्तान्त्सहतामितः क्लीबरूपांस्तिरीटिनः ॥

हे गर्भिणि यो राक्षसादिः त्वा त्वां स्वप्ने निद्रावस्थायां भ्राता सहोत्पन्न इव भूत्वा विश्वासं जनयन् निपद्यते निपतति अभिगच्छति । तथा यश्च पितेव जनक इव तद्रूपधारी भूत्वा स्वप्ने त्वां निपद्यते । यद्वा तान् इति बहुवचनेन निर्देशात् यः कश्चित् स्वप्ने स्वकीयसहजरूपेण निपद्यते यश्च भ्राता भूत्वा यस्तु पितेव भूत्वेति योज्यम् । भ्रात्रादिरूपेणागत्य गर्भध्वंसनं अन्यत्राप्याम्नायते — 'यस्त्वा भ्राता पतिर्भूत्वा जारो भूत्वा निपद्यते । प्रजां यस्ते जिघांसति तं इतो नाशयामसि ॥' इति ( ऋसं. १०।१६२।५ ) । तान् सर्वान् बजः श्वेतसर्षपः सहतां अभिभवतु इतः अस्मात् गर्भिणीसकाशात् । तथा क्लीबरूपान् षण्ढरूपं धृत्वा आगतान् तिरीटिनः अन्तर्धा-नेन अटतश्च । सहतां इति संबन्धः । असा.

पितापुत्रीविवाहनिषेधः

[१]प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायद्दिवमित्यन्य आहुरुषसमित्यन्ये तामृश्यो भूत्वा रोहितं भूतामभ्यैत्तं देवा अपश्यन्नकृतं वै प्रजापतिः करोतीति ते तमैच्छन्य एनमारिष्यति ।

पुरा कदाचित्प्रजापतिः स्वकीयां दुहितरमभिलक्ष्य भार्यात्वेन ध्यानमकरोत् । तस्यां दुहितरि महर्षीणां मतभेद आसीत् । अन्ये केचन महर्षयो दिवं द्युलोक-देवतां ध्यातवानित्याहुः । अपरे तु महर्षय उषसमुषः-कालदेवतां ध्यातवानित्याहुः । ऋश्यो मृगविशेषः । तथा चाभिधानकार आह— गोकर्णपृषतैणश्यरोहिताश्च-मरो मृगा इति । स प्रजापतिस्तथाविध ऋश्योऽभूत् । सा च दुहिता रोहितं लोहितं भूता प्राप्ता । ऋतुमती जातेत्यर्थः । तादृशीं तां दुहितरमभ्यैदभिगतवान्मिथुनधर्मं प्राप्तवानित्यर्थः । तं दुहितृगामिनं प्रजापतिं देवाः परस्परमिदमब्रुवन् । अयं प्रजापतिरकृतं वै, अकर्तव्यमेव निषिद्धाचरणं करोतीति विचार्य यः पुरुष एनं प्रजापति-मारिष्यति, आर्तिं प्रापयितुं क्षमस्तादृशं पुरुषमैच्छन्न-न्वेषणं कृतवन्तः । ऐब्रासा.

स्त्रियाः व्यभिचारदोषः

[२]पत्नीं वाचयति । मेध्यामेवैनां करोति । अथो तप एवैनामुप नयति । यज्जारँ सन्तं न प्रब्रूयात् । प्रियं ज्ञातिँ रुन्ध्यात् । असौ मे जार इति निर्दिशेत् । निर्दिश्यैवैनं वरुणपाशेन ग्राहयति ।

पितापुत्रीविवाहनिषेधः

[३]प्रजापतिर्हि वै स्वां दुहितरमभिदध्यौ । दिवं वोषसं वा मिथुन्येनया स्यामिति ताँ संबभूव । तद्वै देवानामाग आस । य इत्थँ स्वां दुहितरमस्माकँ स्वसारं करोतीति । ते ह देवा ऊचुः । योऽयं देवः पशूनामीष्टेऽतिसन्धं वा अयं चरति य इत्थँ स्वां दुहितरमस्माकँ स्वसारं करोति विध्येममिति तँ रुद्रोऽभ्यायत्य विव्याध तस्य सामि रेतः प्रचस्कन्द तथेन्नूनं तदास । तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्तम् ।

* सायणभाष्यं ऋणादानप्रकरणे ( पृ. ६०३ ) द्रष्टव्यम् ।
(१) असं. ५।१७।१२-८.
(२) असं. ६।११८।३. (३) असं. ८।६।७.

(१) ऐब्रा. ३।३३. (२) तैब्रा. १।६।५।२.
(३) शब्रा. १।७।४।१-४.

पिता यत्स्वां दुहितरमधिष्कन् क्ष्मया रेतः संजग्मानो निषिञ्चदिति तदाभिमारुतमित्युक्थं तस्मिंस्तद्व्याख्यायते यथा तद्देवा रेतः प्राजनयंस्तेषां यदा देवानां क्रोधो व्यैदथ प्रजापतिमभिषज्यंस्तस्य तँ शल्यं निरकृन्तन्त्स वै यज्ञ एव प्रजापतिः ।

स्त्रियाः व्यभिचारदोषः

[१]अथ प्रतिप्रस्थाता प्रतिपरैति । स पत्नीमुदानेष्यन्पृच्छति केन चरसीति वरुण्यं वा एतत्स्त्री करोति यदन्यस्य सत्यन्येन चरत्यथो नेन्मेऽन्तःशल्या जुहवदिति तस्मात्पृच्छति निरुक्तं वा एनः कनीयो भवति सत्यँ हि भवति तस्माद्वेव पृच्छति सा यन्न प्रतिजानीत ज्ञातिभ्यो हास्यै तदहितँ स्यात् ।

श्रोत्रियदारसंग्रहदोषः

[२]अथ यस्य जायायै जारः स्यात् । तं चेद्द्विष्यादामपात्रेऽग्निमुपसमाधाय प्रतिलोमँ शरबर्हिस्तीर्त्वा तस्मिन्नेतास्तिस्रः शरभृष्टीः प्रतिलोमाः सर्पिषाक्त्वा जुहुयान्मम समिद्धेऽहौषीराशापराकाशौ त आददेऽसाविति नाम गृह्णाति मम समिद्धेऽहौषीः पुत्रपशूंस्त आददेऽसाविति नाम गृह्णाति मम समिद्धेऽहौषीः प्राणापानौ त आददेऽसाविति नाम गृह्णाति स वा एष निरिन्द्रियो विसुकृदस्माल्लोकात्प्रैति यमेवंविद्ब्राह्मणः शपति तस्मादेवंविच्छ्रोत्रियस्य जायाया उपहासं नेच्छेदुत ह्येवंवित्परो भवति ।

पितापुत्रीविवाहः

[३]प्रजापतिरुषसमध्यैत् स्वां दुहितरं तस्य रेतः परापतत् तदस्यां न्यषिच्यत तदश्रीणादिदं मे मादुषदिति तत्सदकरोत् पशूनेव ।

पूर्वं प्रजापतिः स्वदुहितरमेवोषसमध्यैदध्यगच्छत् तस्य रेतः परापतत् तदस्यां पृथिव्यां निषिच्य च तदश्रीणात् अपचत् केनाभिप्रायेण मादुषदिति दुष्टं मा भूदिति तत्पक्कं रेतः सदकरोत् तदेव विवृणोति पशूनकरोदिति एतत् श्रायन्तीयमभवदिति शेषः । ताभा.

## गौतमः

परदाराभिमर्शे दण्डसामान्यविधिः

[४]परदाराभिमृष्टः स्तब्धश्चेद् ग्राह्यः ।

स्तब्धः स्पर्शने क्षमते । तथा च मनुः—'स्त्रियं स्पृशेददेशे यः स्पृष्टो वा मर्षयेत्तदा । परस्परस्यानुमते सर्वं संग्रहणं स्मृतम् ॥' इति । सवि. ४६८

[५]प्रतिषेधे पुमान् दण्ड्यः तदर्धं स्त्री ।

अस्यार्थो विवृतो निबन्धनकारेण— पतिपित्रादिभिर्येन संभाषणं निषेध्यं तत्र प्रवर्तमाना स्त्री शतपणं दण्ड्या । पुरुषोऽप्येवं निषिद्धः सन् प्रवर्तमानो द्विशतं दण्ड्य इति । सवि. ४६८-९

आर्यस्त्र्यभिगामिशूद्रदण्डः

[६]आर्यस्त्र्यभिगमने लिङ्गोद्धारः सर्वस्वहरणं च ।

(१) शूद्र इति प्रकृतं षष्ठ्यन्तमपेक्षते । आर्यास्त्रैवर्णिकाः । तेषां चेत्स्त्रियं शूद्रोऽभिगच्छेत्तस्य लिङ्गोद्धारो लिङ्गोत्पाटनं कार्यं यच्च यावच्च स्वं तस्य च हरणं दण्डः । आर्याभिगमनमित्येव सिद्धे स्त्रीग्रहणं आर्यगृहीतायां शूद्रायामपीति सूचनार्थम् । तत्र वैश्यस्त्रियां स्वहरणं क्षत्रियायां लिङ्गोद्धारः । ब्राह्मण्यामुभयमिति । गौमि.

(२) आर्याणां ब्राह्मणादीनां आर्यवृत्ता चेत् स्त्री । कुत एतत्, स्त्र्यभिगमन इति वक्तव्ये आर्यस्त्र्यभिगमन इत्यारम्भात् एवं च वेश्यारूपेण स्थितायामदण्ड्यः । स्त्रियामेवाभिगमनप्रसिद्धेरार्यागमन इत्येव सिद्धे स्त्रीग्रहणमार्यपरिगृहीतायां शूद्रायामपीत्येवमर्थम् । अभिगमने कृते अभिशब्दो बुद्धिपूर्वार्थः । ततश्च स्वप्नादावबुद्धस्य तथैव कृतस्य लघुतरो दण्डो द्रष्टव्यः । लिङ्गस्योद्धारः उत्पाटनं सर्वस्वहरणं च कर्तव्यं, तल्लिङ्गोद्धारो धनस्य चेति वक्तव्ये स्वहरणं चेत्यभिधानात् । चकारः समुच्चयार्थः, विकल्पो मा भूदित्यसमासः, क्षत्रिय-

(१) शब्रा. २।५।२।२०. (२) शब्रा. १४।९।४।११. (३) ताब्रा. ८।२।१०. (४) सवि. ४६८.

(१) सवि. ४६८.

(२) गौध. १२।२; मेधा. ८।३७४; अप. २।२८६; व्यक. १२६ सर्वस्व (स्व); मभा. व्यकवत्; गौमि. १२।२ व्यकवत्; उ. २।२७।९ व्यकवत्; स्मृच. ३२२; ममु. ८।३७४ (च०); विर. ३९१ स्त्र्यभि (स्त्री); पमा. ४६६; रत्न. १३१; विचि. १७९ ममुवत्; दवि. १७२ हरणं (ग्रहणं); वीमि. २।२८६ (च०); व्यम. १०६ आर्य (आचार्य); बाल. २।२८६ सर्वस्व (सर्व); सेतु. २६८ स्त्र्यभि (स्त्री) (सर्वस्वहरणं च०) : २६९ (च०); समु. १५५.

वैश्यस्त्रीगमने यथासंख्येनैकैकं, ब्राह्मणस्य तूभयमिति ।
*मभा.

**गुप्ता चेद्वधोऽधिकः।**

स यदि शूद्रस्तासां गोप्ता रक्षिता भवति तदा वधः कार्यः । अधिकग्रहणात्पूर्वोक्तदण्डद्वयमपि भवति ।
×गौमि.

**[1]अगुप्तामप्युत्कृष्टवर्णां शूद्रो गच्छेल्लिङ्गच्छेदनमर्हति ।**

अत्रापिशब्दो व्युत्क्रमेण संबन्धनीयः । लिङ्गच्छेदनमर्हतीति तेन सर्वस्वापहारसमुच्चयः सिद्धः । सवि. ४७०

**[3]वधः सर्वस्वापहारो गुप्तां तु व्रजतोऽस्य च ।**

अस्य शूद्रस्येत्यर्थः । सवि. ४७०

हीनपुरुषस्य उच्चस्त्रियाश्च व्यभिचारे दण्डः

**[4]श्वभिः खादयेद्राजा निहीनवर्णगमने स्त्रियं प्रकाशम् ।**

अत्र निहीनवर्णगमने स्त्रियाः पातित्यमुक्तम् । तस्याः सामान्यतः पतितप्रायश्चित्ते प्राप्त आह—श्वभिः खादयेदिति । निहीनवर्णो व्याख्यातः 'भ्रूणहनि हीनवर्णसेवायां च' इत्यत्र । तद्गमने तां श्वभिः खादयेद्राजा प्रकाशं जनसमक्षम् । तथाह मनुः— 'भर्तारं लङ्घयेद्या तु जातिस्त्रीगुणदर्पिता । तां श्वभिः खादयेद्राजा संस्थाने बहुसंस्थिते ॥' इति । अबुद्धिपूर्वे अयं राजदण्डः, बुद्धिपूर्वे वसिष्ठोक्तं द्रष्टव्यम्—'शूद्रो ब्राह्मणीमुपगच्छेत् वीरणैर्वेष्टयित्वा शूद्रमग्नौ प्रास्येत् । ब्राह्मण्याः शिरसि वपनं कारयित्वा सर्पिषाऽभ्यज्य नग्नां कृष्णखरमारोप्य महापथमनुसंव्राजयेत् पूता भवतीति विज्ञायते । वैश्यश्चेत् ब्राह्मणीमुपगच्छेल्लोहितदर्भैर्वेष्टयित्वा वैश्यमग्नौ प्रास्येत् । ब्राह्मण्याः शिरसि वपनं कारयित्वा सर्पिषाऽभ्यज्य नग्नां गौरखरमारोप्य महापथमनुसंव्राजयेत् पूता भवतीति विज्ञायते । राजन्यश्चेत् ब्राह्मणीमुपगच्छेच्छरपत्रैर्वेष्टयित्वा राजन्यमग्नौ प्रास्येत् । ब्राह्मण्याः शिरसि वपनं कारयित्वा सर्पिषाऽभ्यज्य नग्नां श्वेतखरमारोप्य महापथमनुसंव्राजयेत् पूता भवतीति विज्ञायते । एवं वैश्यो राजन्यायां शूद्रश्च राजन्यवैश्ययोः' इति । निहीनवर्णगमन इत्युक्तत्वात् क्षत्रियवैश्याभ्यां बुद्धिपूर्वगमने ब्राह्मण्याः कल्प्यम् । यथाह मनुः—'जघन्यं सेवमानां तु संयतां वासयेद्गृहे । उत्तमां सेवमानस्तु जघन्यो वधमर्हति ॥' इति । अयमेव क्षत्रियावैश्यागमनेऽपि द्रष्टव्यः, सामान्येनोक्तत्वात् । एवञ्च निहीनवर्णे इत्ययमपि दण्डो द्विजातिस्त्रीणां सामान्यः, सामान्येनोक्तत्वादेव । अनुलोमसंपर्के तु व्याघ्र आह— 'वर्णानामनुलोमानां परस्परसमागमे । व्युत्क्रमेण ततो राजा खादयेद्वानरैः स्त्रियम् ॥ सृगालैर्बुद्धिपूर्वं चेत् पुरुषो वधमर्हति । अयमेवानुलोमानां स्वजातिव्युत्क्रमेष्वपि ॥' इति । प्रतिलोमसमागमे बुद्धिपूर्वे चाबुद्धिपूर्वे च मनुनोक्तं द्रष्टव्यं—'प्रतिलोमे वधः पुंसां स्त्रीणां नासादिकर्तनम्' इति । ननु च—'एतदेव विधिं कुर्याद्योषित्सु पतितास्वपि' इति, 'यत्पुंसः परदारेषु तच्चैनां चारयेद्व्रतम्' इति च सिद्धे अयं दण्डविधिरनर्थक इति । अत्रोच्यते या स्वयमेव राजानं गच्छति तस्या दण्ड एव, यया तु बलादानीयते तस्या दण्डश्च प्रायश्चित्तं च, या स्वयमपि न गच्छति न बलादानीयते तस्याः प्रायश्चित्तमेवेति । अयमेव न्यायः सर्वत्र दण्डप्रायश्चित्तयोर्द्रष्टव्यः । अत्र प्रतिलोमानां स्वजातिव्युत्क्रमे 'प्रतिलोमास्तु धर्महीनाः' इति प्रायश्चित्ताभावादन्येषां संकरदोषपरिहारार्थं दण्डः कल्प्यः । एवं च 'प्रतिलोमे वधः पुंसां स्त्रीणां नासादिकर्तनम्' इति तेषामपि द्रष्टव्यम् । तथा पातकोपपातकविषयेऽपि ब्राह्मण्या अनुलोमानन्तरजस्य यो दण्ड उक्तः तस्यार्धं

---

* गौमिवद्भावः । × मभा. गौमिवत् ।

(१) **गौध.** १२।३; **मेधा.** ८।३७४ गुप्ता (गुप्तां) (वधोऽधिकः०); **व्यक.** १२६ द्वधोऽधिकः (द्वधादिकः); **मभा.** गुप्ता (गोप्ता); **गौमि.** १२।३ मभावत्; **उ.** २।२७।९; **स्मृच.** ३२२; **ममु.** ८।३७४ गुप्ता (गुप्तां); **विर.** ३९१, ३९५; **रत्न.** १३१ ममुवत्; **विचि.** १७९ ममुवत्; **दवि.** १७२ द्वधो (द्वरो); **वीमि.** २।२८६; **व्यम.** १०६; **बाल.** २।२८६ मभावत्; **सेतु.** २६९ मभावत्; **समु.** १५५ ममुवत्.

(२) **सवि.** ४७०. (३) **सवि.** ४७०.

(४) **गौध.** २३।१४; **व्यक.** १०६; **मभा.**; **गौमि.** २३।१४ श्वभिः खा (श्वभिरा); **विर.** ३९७ निहीन (हीन); **विचि.** १८५ भिः + (तु) निहीन (हीन) (प्रकाशम्०); **दवि.** १७३ भिः + (च) निहीन (हीन); **सेतु.** २७२ गमने (गमे) शेषं विचिवत्; **विव्य.** ५५ विचिवत्.

द्रष्टव्यं, तथैकान्तरद्व्यन्तरयोश्च, कुतः ? 'चण्डालस्य समीपे तु नाध्येतव्यं कदाचन । तथा पारशवस्यापि चण्डालार्धो हि स स्मृतः ॥' इति व्याघ्रधर्मलिङ्गात् । × मभा.

[1]पुमांसं घातयेत् ।

(१) अनन्तरोक्ते विषये गन्ता पुमान् राज्ञा घातयितव्यः । वधप्रकारश्चानन्तरमेव वसिष्ठवचनेन दर्शितः । गौमि.

(२) प्रकाशमित्यनुवर्तते । घातनप्रकारश्च वसिष्ठोक्तो द्रष्टव्यः । उदाहृतश्च विशेषात् । बुद्धिपूर्वेऽबुद्धिपूर्वे सकृद्गमने अभ्यासे च विशेषवचनान्तराभावाच्च सर्वत्र हननमेव द्रष्टव्यम् । एवं वर्णानामनुलोमानां प्रतिलोमानां च स्ववर्गव्युत्क्रमे परस्परव्युत्क्रमे च हननमेव द्रष्टव्यम् । तथा च स्मृत्यन्तरवाक्यानि चोदाहृतानि । एवञ्च स्त्रीणामपि सकृद्गमनेऽभ्यासे च पूर्वोक्त एव दण्ड इति द्रष्टव्यम् । मभा.

[2]यथोक्तं वा ।

(१) लिङ्गोद्धार इत्यादि यथोक्तं वा दण्डप्रणयनं कर्तव्यम् । सप्रत्ययाप्रत्ययाभ्यासानभ्यासापेक्षोऽयं विकल्पः । गौमि.

(२) लिङ्गोद्धार इत्यादि यथोक्तं वा शूद्रस्य द्रष्टव्यम् । तत्र सच्छूद्रस्य यथोक्तमितरस्येदमिति द्रष्टव्यम् । मभा.

कन्याकृतकन्यादूषणदण्डः

[3]कन्यैव कन्यां दूषयति तदङ्गच्छेदो वा मौण्ड्यं वा ।

## हारीतः

हीनपुरुषस्य उच्चस्त्रियाश्च व्यभिचारे दण्डः

[4]श्रेयसः शयनशायिनं राजा बद्ध्वा श्वभिः खादयेत् काष्ठैश्चैनां दहेत् ।

श्रेयस उत्कृष्टवर्णस्य शयनशायिनं स्त्रीगामिनम् । एनामुत्कृष्टवर्णस्त्रियम् । विर. ३९७

## आपस्तम्बः

कन्यापरदारसंनिकर्षकरणे दण्डः

[1]अबुद्धिपूर्वमलङ्कृतो युवा परदारमनुप्रविशन् कुमारीं वा वाचा बाध्यः । बुद्धिपूर्वं तु दुष्टभावो दण्ड्यः ।

(१) यत्र परदारा आसते कुमारी वा पतिंवरा, तत्र युवा अलङ्कृतः अबुद्धिपूर्वमज्ञानादनुप्रविशन् वाचा बाध्यः — अत्रेयमास्ते, माऽत्र प्रविशेति । बुद्धिपूर्वमिति । यस्तु जानन्नेव दुष्टभावः प्रलोभनार्थी प्रविशति स दण्ड्यो द्रव्यानुरूपमपराधानुरूपं च । दुष्टभावग्रहणमाचार्यादिप्रेषितस्य प्रवेशे दण्डो मा भूदिति । उ.

(२) यस्त्वदुष्टाशय एवाज्ञानादलङ्कृतः परस्त्रियाः परकन्यायाश्च समीपमुपसर्पति, स वाचा बाध्यः भर्त्सनीयः । विर. ३८५

परदारमैथुने दण्डः

[2]संनिपाते वृत्ते शिश्नस्य छेदनं सवृषणस्य ।

संनिपातो मैथुनं, तस्मिन् वृत्ते शिश्नच्छेदनं दण्डः । सवृषणस्येत्युपसर्जनस्यापि शिश्नस्य विशेषणम् । सवृषणस्य शिश्नस्य छेदनमिति । उ.

---

× गौमि. मभावत् ।

(१) **गौध.** २३।१५; **व्यक.** १२६; **मभा.**; **गौमि.** २३।१५; **विर.** ३९७; **दवि.** १७३.

(२) **गौध.** २३।१६; **व्यक.** १२६; **मभा.**; **गौमि.** २१।१६; **विर.** ३९७; **दवि.** १७३.

(३) **सवि.** ४७२.

(४) **व्यक.** १२६; **विर.** ३९६; **विचि.** १८५ (काष्ठैश्चैनां दहेत्० ); **दवि.** १७३ श्चैनां ( श्चैतां ); **वीमि.** २।२८६ श्चैनां दहेत् ( श्चैनं दाहयेत् ); **सेतु.** २७१ दहेत् ( दाहयेत् ).

(१) **आध.** २।२६।१८-९; **हिध.** २।१९; **अप.** २।२८४ वाचा बाध्यः ( ऽवाच्यः ) शंखलिखितौ; **व्यक.** १२५; **विर.** ३८५ युवा परदारमनु ( वा परदारेषु ) वा वाचा ( वाचा ) ( दुष्टभावो० ); **व्यनि.** ३९९; **दवि.** १५६ ( कुमारीं वा० ) ( दुष्टभावो० ); **सेतु.** २६६ दारमनुप्र ( दारानुप ) वाचा वाध्यः ( चावध्यः ) ( दुष्टभावो० ); **समु.** १५४ दारम ( दारान ) बाध्यः ( ताड्यः ) तु ( चेत् ) शंखः.

(२) **आध.** २।२६।२० शिश्नस्य छेदनं ( शिश्नच्छेदनं ); **हिध.** २।१९ आधवत्; **व्यक.** १२५; **विर.** ३८९; **दवि.** १६० संनिपाते वृत्ते ( पूर्वसंनिपाते ); **सेतु.** २६७ ( वृत्ते० ) सवृष ( वृष ).

कन्यादूषणे दण्डः

**कुमार्यां तु स्वान्यादाय नाश्यः ।**[1]

(१) कुमार्यां तु संनिपाते वृत्ते सर्वस्वहरणं कृत्वा देशान्निर्वास्यः, न शिश्नच्छेदः । उ.

(२) स्वानि धनानि आदाय नाश्यो निर्वास्यः । एतच्च हीनायामकामायाम् । विर. ४०२

कन्यादूषणे परदारदूषणे च राज्ञः कर्तव्यम्

**अथ भृत्ये राज्ञा ।**[2]

अथ संनिपातात्प्रभृति ते परदारकुमार्यौ राज्ञा भृत्ये ग्रासाच्छादनप्रदानेन भर्तव्ये । उ.

**रक्ष्ये चात ऊर्ध्वं मैथुनात् ।**[3]

अथ प्रथमात् संनिपातात् ऊर्ध्वं मैथुनाच्च रक्ष्ये यथा पुनः मैथुनं नाचरतः तथा कार्ये । उ.

**निर्वेषाभ्युपाये तु स्वामिभ्योऽवसृजेत् ।**[4]

यदि ते एवं निरुद्धे निर्वेषणमभ्युपेतः अभ्युपगच्छतः तदा निर्वेषाभ्युपाये तु स्वामिहस्ते अवसृजेत् दद्यात् । परदारं भर्त्रे श्वशुराय वा, कुमारीं पित्रे भ्रात्रे वा । अनभ्युपगमे तु प्रायश्चित्तस्य यावज्जीवं निरोधः । उ.

प्रायश्चित्तोत्तरं कन्या परदाराश्च धर्मार्हसंबन्धाः

**चरिते यथापुरं धर्माद्धि संबन्धः ।**[5]

चरिते तु निर्वेषे यथापुरं यथापूर्वं धर्मात्, तृतीयार्थे पञ्चमी । धर्मेण संबन्धो भवति । हिशब्दो हेतौ । यस्मादेवं तस्मात् अवश्यं प्रायश्चित्तं कारयितव्ये । ततो यज्ञविवाहादौ न कश्चिद्दोष इति । उ.

आर्यस्य शूद्रागमने दण्डः

**नाश्य आर्यः शूद्रायाम् ।**[6]

(१) आर्यः त्रैवर्णिकः, शूद्रायां परभार्यायां प्रसक्तो राज्ञा राष्ट्रान्नाश्यः निर्वास्यः । उ.

(२) आर्यो ब्राह्मणादिः, नाश्यो निर्वास्यः । बृहस्पतेर्हीनायामार्थिकस्तत इति वाक्ये अन्यपूर्वा शूद्रा विवक्षिता, इह त्वनन्यपूर्वा, तेन न निर्वासदण्डविधिविरोध इति, शूद्रायामनन्यपूर्वायामिति विशेषयतः कल्पतरुकारस्याभिप्रायः । शूद्राव्यतिरिक्तहीनविषयमेव बृहस्पतिवाक्यमित्यन्ये । विर. ३९३

आर्यस्त्र्यभिगामिशूद्रदण्डः

**वध्यः शूद्र आर्यायाम् ।**[1]

शूद्रस्तु त्रैवर्णिकस्त्रियां प्रसक्तो वध्यः । एतच्च योऽन्तःपुरादिष्वधिकृतो रक्षकः सन् स्वयं गच्छति, तस्य भवति । अन्यस्य तु पूर्वोक्तं शिश्नच्छेदनमेव । तथा च शूद्राधिकारे गौतमः— 'आर्यस्त्र्यभिगमने लिङ्गोद्धारः स्वहरणं च । गोप्ता चेद्वधोऽधिकः' इति । याज्ञवल्क्येन प्रातिलोम्येन गमनमात्रे वध उक्तः— 'सजातावुत्तमो दण्डः आनुलोम्ये तु मध्यमः । प्रातिलोम्ये वधः पुंसां स्त्रीणां नासादिकृन्तनम् ॥' इति । सोऽनुबन्धाभ्यासाद्यपेक्षो द्रष्टव्यः । तथा 'नाश्य आर्यश्शूद्रायामि'त्याचार्यवचनमप्यभ्यासापेक्षं, ब्राह्मणादेः क्रमविवाहे या शूद्रा तद्विषयं वा द्रष्टव्यम् । उ.

परभुक्तस्त्रियाः प्रायश्चित्तम्

**दारं चास्य कर्शयेत् ।**[2]

अस्य शूद्रस्य या दारभूता तेन भुक्ता त्रैवर्णिकस्त्री तां च कर्शयेत् व्रतनियमोपवासैः । या प्रजाता न भवति तद्विषयमेतत् । 'ब्राह्मणक्षत्रियविशां स्त्रियः शूद्रेण संगताः । अप्रजाता विशुद्ध्यन्ति प्रायश्चित्तेन नेतराः ॥' इति स्मरणात् । उ.

## बौधायनः

शूद्रादीनां उच्चवर्णस्त्रीगमने दण्डः

**शूद्रं कटाग्निना दहेत् ।**[3]

---

(१) आध. २।२६।२१; हिध. २।१९ नाश्यः (वास्यः); व्यक. १२७; विर. ४०२; दवि. १८४.

(२) आध. २।२६।२२; हिध. २।१९ भृत्ये राज्ञा (राज्ञा भृत्ये).

(३) आध. २।२६।२३; हिध. २।१९.

(४) आध. २।२६।२४; हिध. २।१९.

(५) आध. २।२७।१; हिध. २।१९.

(६) आध. २।२७।८; हिध. २।१९; विर. ३९३; विचि. १८४ आर्यः (आर्यस्तु); दवि. १७१.

(१) आध. २।२७।९; हिध. २।१९; विर. ३९५; विचि. १८५; दवि. १७३.

(२) आध. २।२७।१०; हिध. २।१९; विर. ३९५ दारं...येत् (दारांश्चास्य चाकर्षयेत्); विचि. १८५ दारं...येत् (दारांश्चास्यापकर्षयेत्); दवि. १७३ विचिवत्.

(३) बौध. २।२।५९; विर. ३९५; विचि. १८५; वीमि. २।२८६; सेतु. २७१.

(१) द्विजस्त्रीगमने इति शेषः । कटो वीरणः ।
विर. ३९५

(२) राज्ञोऽयमुपदेशः । मरणान्तिकं चैतत् । कटः कटप्रकृतिद्रव्यं वीरणानि । उक्तं च—'शूद्रश्चेद्ब्राह्मणीमभिगच्छेत् वीरणैर्वेष्टयित्वा शूद्रमग्नौ प्रास्येत्' इति ।
बौवि. (पृ. १३६)

अथाप्युदाहरन्ति—

**अब्राह्मणस्य शारीरो दण्डः संग्रहणे भवेत् ।**
**सर्वेषामेव वर्णानां दारा रक्ष्यतमा धनात् ॥**

अब्राह्मणः क्षत्रियः वैश्यश्च । तयोः शारीरो दण्डः अग्नौ प्रक्षेपः कर्तव्यः । क्व ? संग्रहणे पारदार्ये । निगुप्तब्राह्मणीगमने मतिपूर्वे वैश्यो लोहितदर्भैर्वेष्टयित्वाऽग्नौ प्रक्षेप्तव्यः । राजन्यः शरपत्रैरिति । अथ प्रपञ्चः— सर्वेषामिति । अपीति शेषः । बौवि. (पृ. १३६-७)

चारणदाररङ्गावतारस्त्रीषु गमने दण्डाभावः

**[2]न तु चारणदारेषु न रङ्गावतारे वधः ।**
**संसर्जयन्ति ता ह्येतान्निगुप्तांश्चालयन्त्यपि ॥**

अब्राह्मणवध उक्तः । अत्रापवदति— न त्विति । चारणदाराः देवदास्यः । रङ्गावतारः पण्यस्त्रियः । तासु संग्रहणे वधो न कर्तव्यः । येन ताः संसर्जयन्ति संबन्धयन्ति आत्मना निगुप्तान् रक्षितानपि पुंसो द्रव्यलिप्सया । तानेव क्षीणद्रव्यांश्चालयन्ति उत्सृजन्ति च । एवंस्वभावत्वादासां तद्गमने प्रायश्चित्तमप्यल्पमेव । 'पशुं वेश्यां च यो गच्छेत् प्राजापत्येन शुद्ध्यति' इति । तथाऽन्यत्रापि —'जात्युक्तं पारदार्यं च गुरुतल्पत्वमेव च । चारणादिस्त्रीषु नास्ति कन्यादूषणमेव च ॥' इति । बौवि. (पृ. १३७)

स्त्रीणां परपुरुषदूषितानां अदुष्टत्वम्

**[3]स्त्रियः पवित्रमतुलं नैता दुष्यन्ति कर्हिचित् ।**
**मासि मासि रजो ह्यासां दुरितान्यपकर्षति ॥**

अथ नानाबीजायतनत्वादपवित्रं स्त्रीक्षेत्रम् । ततस्तत्रोत्पन्नमपि क्षेत्रजगूढोत्पन्नकानीनसहोढपौनर्भवाख्यमपत्यमप्यपवित्रमेतन्मूत्रच्छर्दिवदसंव्यवहार्यमित्याशङ्क्याह— स्त्रियः पवित्रमिति । परपुरुषसंसर्गविषयाणि मानसानि वाचिकानि च दुरितानि पापानि । न पुनर्हिंसादिनिमित्तान्यपकर्षति । बौवि. (पृ. १३७)

**सोमः शौचं ददत्तासां गन्धर्वः शिक्षितां गिरम् ।**
**अग्निश्च सर्वभक्ष्यत्वं तस्मान्निष्कल्मषाः स्त्रियः ॥**

तासां स्त्रीणां सोमः शौचं दत्तवान् । यत एव देवताभ्यो वरं ददौ तस्मात्ताभिर्यदशौचं क्रियते तद्भर्त्रा नैवाऽवेक्षणीयम् । देवताप्रसादप्रसङ्गादिदमन्यदुच्यते— गन्धर्वः शिक्षितां गिरं भाषणप्रकारम् । अतोऽनुचितभाषणेऽपि तासु क्षान्तेन भवितव्यम् । तथा चोक्तं पात्रलक्षणे 'स्त्रीषु क्षान्तम्' इति । अग्निश्च सर्वभक्ष्यत्वं सर्वभोग्यत्वं दत्तवान्, यत एवं देवताभ्यो लब्धवराः स्त्रियः तस्मात् निष्कल्मषाः विगतकल्मषाः काञ्चनसमाः, अपराधेष्वपि न त्याज्या इत्यभिप्रायः ।
बौवि. (पृ. १३७-८)

## वसिष्ठः

शूद्रादीनां उच्चवर्णस्त्रीगमने दण्डः

**[1]शूद्रश्चेद्ब्राह्मणीमभिगच्छेद्वीरणैर्वेष्टयित्वा शूद्रमग्नौ प्रास्येत् । ब्राह्मण्याः शिरसि वपनं कारयित्वा सर्पिषा समभ्यज्य नग्नां कृष्णं खरमारोप्य महापथमनुसंव्राजयेत् पूता भवतीति विज्ञायते । वैश्यश्चेद्ब्राह्मणीमधिगच्छेल्लोहितदर्भैर्वेष्टयित्वा वैश्यमग्नौ प्रास्येत् । ब्राह्मण्याः शिरसि वपनं कारयित्वा सर्पिषाऽभ्यज्य नग्नां गौरं खरमारोप्य महापथमनुसंव्राजयेत् पूता भवतीति विज्ञायते । राजन्यश्चेद्ब्राह्मणीमभिगच्छेच्छरपत्रैर्वेष्टयित्वा राजन्यमग्नौ प्रास्येत्, ब्राह्मण्याः शिरसि वपनं कारयित्वा सर्पिषा समभ्यज्य नग्नां श्वेतं खरमारोप्य महापथमनुसंव्राजयेत् पूता भवतीति विज्ञायते । एवं वैश्यो राजन्यायां शूद्रश्च राजन्यावैश्ययोः ।**

---

(१) बौध. २।२।६०-६१. (२) बौध. २।२।६२. (३) बौध. २।२।६३.

(१) बौध. २।२।६४.

(२) वस्मृ. २१।१-६ (ख) वपनं (वापनं) समभ्यज्य नग्नां कृष्णं ... ...संव्रा (अभ्यज्य नग्नां खरमारोप्य महापथमनुव्रा) वैश्यश्चेद्ब्राह्मणीमधिग (वैश्यश्चेद्ब्राह्मणीमभिग) गौरं खर (गोरथ) राजन्यम ... ... वपनं (राजन्यमग्नौ प्रास्येत् ब्राह्मण्याः शिरोवापनं) समभ्यज्य नग्नां श्वेतं ... ... विज्ञायते (अभ्यज्य नग्नां रक्तखरमारोप्य महापथमनुव्राजयेत्); व्यक. १२६ वपनं ... ... नग्नां कृष्णं (वापनं कृत्वा सर्पिषाभ्युक्ष्य

नग्नां ) संव्राज ( व्राज ) मधिगच्छे ( माभिगच्छे ) वपनं ... ... नग्नां गौरं ( वापनं कृत्वा सर्पिषाभ्युक्ष्य नग्नां ) संव्राज ( व्राज ) शरपत्रै ( शत्रै ) वनपं ... ... नग्नां श्वेतं ( वापनं कृत्वा सर्पिषाभ्युक्ष्य नग्नां ) संव्राज ( व्राज ) वपनं कारयित्वा ( वापनं कृत्वा ); **मभा.** २३।१४ शूद्रश्चेद् ( शूद्रो ) मभिगच्छे ( मुपगच्छे ) समभ्यज्य ( अभ्यज्य ) कृष्णं खर ( कृष्णखर ) मधिगच्छे ( मुपगच्छे ) गौरं खर ( गौरखर ) मभिगच्छे ( मुपगच्छे ) समभ्यज्य ( अभ्यज्य ) श्वेतं खर ( श्वेतखर ) राजन्यावैश्ययोः ( राजन्यवैश्ययोः ); **गौमि.** २३।१४ वीरणै ( तृणै ) प्रास्येत् ( प्रास्य ) समभ्यज्य ( अभ्यज्य ) ( कृष्णं० ) मधिगच्छे ( मभिगच्छे ) ( गौरं ०) समभ्यज्य ( अभ्यज्य ) ( श्वेतं० ) राजन्यावैश्ययोः ( राजन्य-वैश्ययोः ); **ममु.** ८।३७७ ( वैश्यं लोहितदर्भैः क्षत्रियं शर-पत्रैर्वावेष्ट्य ) एतावदेव; **विर.** ३९७-८ आभिगच्छेद्वीर ( गच्छे-द्वीर ) वपनं कारयित्वा ( वापनं कृत्वा ) समभ्यज्य नग्नां कृष्णं ... ... नुसं ( अभ्युक्ष्य नग्नां खरमारोप्य महापथं ) अधिगच्छे ( गच्छे ) गौरं ... संव्रा ( खरमारोप्य महापथमनुव्रा) समभ्यज्य नग्नां श्वेतं ... ... संव्रा ( अभ्यज्य नग्नां खरमारोप्य महापथमनुव्रा ) राजन्यायां शूद्रश्च ( राजन्यायां मैथुनमाचरन् शूद्रस्तु ); **विचि.** १८० ( वैश्यो लोहितदर्भैः क्षत्रियः शरपत्रैरावेष्ट्य ) एतावदेव : १८५-६ अभिगच्छेद्वीरणै ( गच्छेद्वीरणै ) वपनं कारयित्वा ( वापनं कृत्वा ) समभ्यज्य नग्नां कृष्णं ... ... संव्रा ( अभ्युक्ष्य नग्नां खरमारोप्य महापथमनुव्रा ) अधिगच्छेल्लोहितदर्भै ( गच्छेच्छरपत्रै ) भ्यज्य नग्नां गौरं ( भ्युक्ष्य नग्नां ) मनुसं ( मनु ) पत्रै ( पर्णैं ) सम-भ्यज्य नग्नां श्वेतं ( अभ्युक्ष्य नग्नां ) राजन्यायां शूद्रश्च ( राजन्यां मैथुनमाचरन् शूद्रस्तु ); **दवि.** १७० ( वीरणैः शूद्रं लोहितदर्भैर्वैश्यं शरपत्रैः क्षत्रियं वेष्ट-यित्वाऽग्नौ प्राश्येत् ) एतावदेव; **मच.** ८।३७७ ( लोहितदर्भैः संवेष्ट्य क्षत्रियः वैश्यस्तु शरपत्रैः ) एतावदेव; **व्यम.** १०७ ( राजन्यश्चेद्ब्राह्मणीमभिगच्छेच्छरपत्रै-र्वेष्टयित्वा राजन्यमग्नौ प्रास्येदेवं वैश्यो राजन्यायां मैथुनमाचरन् शूद्रस्तु राजन्यवैश्ययोः ) एतावदेव; **विता.** ८०५ ( राजन्य-श्चेद्ब्राह्मणीमधिगच्छेच्छरपत्रैर्वेष्टयित्वा राजन्यमग्नौ प्रास्येदेवं वैश्यो राजन्यायां शूद्रो राजन्यवैश्ययोः ) एतावदेव; **बाल.** २।२८६ अभिगच्छे ( अधिगच्छे ) कारयित्वा ( कृत्वा ) सम-भ्यज्य ( अभ्यज्य ) ( कृष्णं० ) मनुसं ( मनु ) ( गौरं० ) ( श्वेतं० ) न्यायां ( न्याया मैथुनमाचरन् ); **सेतु.** २७२ मनुसं ( मनु ) अभ्यज्य ( अभ्युक्ष्य ) ( गौरं० ) ( श्वेतं ०) शेषं विरवत्; **समु.** १५५ व्यमवत्.

आर्यस्त्रीणां शूद्रदूषितानां शुद्धिविधिः

[१]ब्राह्मणक्षत्रियविशां स्त्रियः शूद्रेण संगताः ।
अप्रजातास्ता विशुद्ध्यन्ति प्रायश्चित्तेन नेतराः ॥
प्रतिलोमं चरेयुस्ताः कृच्छ्रं चान्द्रायणोत्तरम् ॥

## विष्णुः

स्त्रीसंग्रहणलक्षणानि

[२]संलोभनापाङ्गदर्शनविहसनसहैकत्रनिवासाः संग्रहगमकाः ।

[३]मोहादियं मया भुक्तेति यो वदति स तु ग्राह्यः ।
मोहो दर्पादीनामुपलक्षकः । सवि. ४६८

वर्णानुसारेण परस्त्रीगमने दण्डविधिः

[४]प्रतिषिद्धे प्रवर्तमानयोः स्त्रीपुंसयोः संग्रहणे वर्णानुसारेण दण्डः ।

एतच्चावरोधस्त्रीविषयमिति भारुचिः । सवि. ४६९

[५]गुप्तपरदाराभिगमने साशीतिपणसाहस्रम् ।
एतच्च गुरुसखीभार्यादिव्यतिरिक्तविषयं द्रष्टव्यम् । सवि. ४६९

[६]राजन्यवैश्यौ ब्राह्मणीं गुप्तां सेवमानौ कटाग्निना दग्धव्यौ ।

[७]आनुलोम्येन वा असवर्णं वा व्रजन्त्याः नासादेः कर्तनं वधदण्डो वा कल्प्यः ।

[८]पारजायी सवर्णागमने तूत्तमसाहसं दण्ड्यः । हीनवर्णागमने मध्यमम् । गोगमने च । अन्त्यागमने वध्यः । उत्तमागमने च ।

---

(१) **वस्मृ.** २१।१४ जास्ता ( जाता ); **उ.** २।२७।१० वस्मृवत्, स्मरणम्; **स्मृच.** २४६; **दवि.** २३७ स्त्रियः ( भार्याः ) स्मरणम्; **विभ.** १६ दविवत्, स्मृत्यन्तरम्; **समु.** १२२.

(२) **सवि.** ४६८. (३) **सवि.** ४६८.
(४) **सवि.** ४६९. (५) **सवि.** ४६९.
(६) **सवि.** ४७०. (७) **सवि.** ४७०.

(८) **विस्मृ.** ५।४०-४३ ( उत्तमागमने च० ); **व्यक.** १२६ ध्यमम् ( ध्यमः ) ( अन्त्या ... ने च० ); **विर.** ३९० वध्यः ( च वधः ); **विचि.** १८३ ( पार ... मध्यमम्० ) च । अन्त्या ( वा । अन्त्या ) वध्यः ( वा वधः ); **दवि.** १९४ जायी सवर्णा ( जातीया सवर्णाभि ); **सेतु.** २६८ च । अन्त्या ( अन्त्या ) वध्यः ( वा वधः ).

अन्त्यागमने अस्पृश्याभिगमने, पारजायी पारदारिकः। विर. ३९०

[१]स्त्रियमशक्तभर्तृकां तदतिक्रामणीं च।

(१) हन्यादित्यनुवृत्तौ विष्णुः—स्त्रियमिति। अवशक्तभर्तृकां अनुपयुक्तभर्तृकां तदतिक्रामणीं अन्यपुरुषगामिनीं, मिलितमिदं हनननिमित्तम्। विर. ३९९

(२) असक्तभर्तृकामनुपभुक्तभर्तृकाम्। क्वचिदशक्तेति तालव्यपक्षोऽपि दृश्यते। ×दवि. १७५

गुरुतल्पगमने दण्डः

अथ महापातकिनो ब्राह्मणवर्जं सर्वे वध्याः। न शारीरो ब्राह्मणस्य दण्डः। स्वदेशात् ब्राह्मणं कृताङ्कं विवासयेत्। भगं गुरुतल्पगमने*।

सकामहीनस्त्रीगमने न उच्चपुरुषो दुष्यति

[२]अनुलोमासु कामतो न दोषः।

अयमर्थः—हीनवर्णां सानुरागां कन्यां योऽपहरति तस्य न दोषः। दोषाभावादेव दण्डाभाव इति दण्डापूपिकया गम्यते। अयमेवासुरविवाह इत्याहुरसहायप्रभृतयः। यथाह याज्ञवल्क्यः—'सकामास्वनुलोमासु न दोषस्त्वन्यथा दमः' इति। सवि. ४७१–२

कन्यादूषणे दण्डः

[३]कन्यादूषको मिथ्यावादी द्विशतं तदर्धं वा।

दण्ड्य इति शेषः। अयमर्थः– मिथ्याभिशंसनैर्द्विशतं दण्ड्यः। नित्यदूषणे शतं दण्ड्य इति। अपस्मारराजयक्ष्मादिदीर्घरोगकुत्सितरोगसंसृष्टिमैथुनत्वादिदूषणानि। सवि. ४७३

पशुगमने दण्डः

[४]पशुगमने कार्षापणशतं दण्ड्यः।

---

× शेषं विरवत्।

* स्थलादिनिर्देशः दण्डमातृकायां (पृ. ५७१) द्रष्टव्यः।

(१) विस्मृ. ५।१८ क्राम (क्रम); व्यक. १२७ मशक्त (मसक्त) क्राम (क्रम); विर. ३९९ मशक्त (मवशक्त); विचि. १८६; दवि. १७५ मशक्त (मसक्त); सेतु. २७३ दविवत्.

(२) सवि. ४७१.

(३) सवि. ४७३.

(४) विस्मृ. ५।४४ दण्ड्यः (दण्डः); विर. ४०७.



## शङ्खः शङ्खलिखितौ च

स्वदारनियमाद्यतिक्रमे दण्डविधिः

[१]सर्वेषां स्वदारानियमः स्वकर्मप्रतिपत्तिश्च, येन येनाङ्गेनापराधं कुर्यात् तत्तस्य छेत्तव्यमष्टसहस्रं वा दण्डोऽन्यत्र ब्राह्मणात्। अदण्ड्यो हि ब्राह्मणः।

येन येनाङ्गेन हस्तादिना, ब्राह्मणवर्जमयं दण्डः सर्वेषां, ब्राह्मणवर्जमित्यन्वयात्। विर. ३८८

वर्णानुसारेण परस्त्रीगमने दण्डविधिः

[२]अनिवेदितप्रवेशे तत्रोत्तममुत्तमायां, विपर्यये मध्यमसाहसं, प्रतिलोमैकान्तरावस्कन्दने सर्वस्वं वधो वा, विपर्यये संनिरोधः सर्वस्वं वा।

अनिवेद्य स्त्रीगृहं प्रविश्य उत्तमां ब्राह्मणस्त्रियमभिगच्छतो ब्राह्मणस्योत्तमसाहसो दण्डः। विपर्यये ब्राह्मणस्य क्षत्रियादिगमने मध्यमसाहसो दण्डः। प्रतिलोमैकान्तरावस्कन्दने प्रतिलोमस्य शूद्रादेरेकान्तरितद्विजातिस्त्रीगमने वधः सर्वस्वापहारसहितो दण्डः। वाशब्दः समुच्चये। 'आर्यस्त्रीगमने लिङ्गोद्धारः सर्वस्वहरणं च, गुप्ता चेद्वधोऽधिकः' इति गौतमवचनात्। विपर्यये संनिरोधः, ब्राह्मणस्यागुप्तपत्नीगमने वैश्यस्य संवत्सरं बन्धनागारे तिरोहितस्य सर्वस्वापहारो दण्डः, 'वैश्ये सर्वस्वदण्डः स्यात्संवत्सरनिरोधतः' इति मनुवचनादिति लक्ष्मीधरेण व्याख्यातम्। हलायुधस्तु यो हीनजातिरुत्तमजातीयस्त्रीगृहमनिवेद्य प्रविशति, तदासौ दुष्टत्वमुन्नीय उत्तमसाहसं दण्ड्यः। यदि तूत्तमजातीय एव हीनजातीयायाः पूर्ववद्गृहं प्रविशति, तदासौ मध्यमसाहसं दण्ड्यः। यदि तु प्रतिलोमो हीनः एकान्तरितामुत्तमजातीयां स्त्रियमभिगच्छति, यथा ब्राह्मणो

---

(१) व्यक. १२५ पत्तिश्च + (धर्मो) तत्तस्य (तत्तदेवास्य) सहस्रं (शतं); विर. ३८७-८; विचि. १७४ (सर्वेषां ... पत्तिश्च०) विष्णुः; दवि. १५९ स्वकर्म (स्वकार्य) पत्तिश्च + (धर्मो) तत्तस्य (तदेवास्य) दण्डोऽन्यत्र (दण्ड इत्यन्यत्रैवं); व्यम. १०७ (येन येनाङ्गेनापराधं कुर्यात्तत्तदस्य छेत्तव्यमन्यत्र ब्राह्मणात्) एतावदेव; विता. ८०६ व्यमवत्; सेतु. २६३ (सर्वेषां ... पत्तिश्च०) (दण्डो०); समु. १६२ व्यमवत्, शंखः; विव्य. ५४ (सर्वेषां ... पत्तिश्च०) धं कुर्यात् तत्तस्य छेत्तव्य (धस्तस्य कर्तन) सह (साह) शंखः।

(२) व्यक. १२६ प्रवेशे + (स्त्रीगृहेषु); विर. ३९०.

वैश्यां, क्षत्रियः शूद्रां *तदा तस्य संनिरोधो बन्धनं सर्वस्वहरणं वा अपराधमहत्त्वामहत्त्वाभ्यां व्यवस्था कार्या। संवत्सरनिरोधितस्य सर्वस्वापहरणं दण्डो वैश्ये—'वैश्ये सर्वस्वदण्डः स्यादि' ति मनुवचनात्। विर. ३९०–९१

**[1]क्षत्रियवैश्ययोरन्योन्यस्त्र्यभिगमने दण्ड्यावुभौ।**

अत्र विज्ञानेशः--यथाक्रमं सहस्रशतपणात्मकौ दण्डौ वेदितव्यौ। यथाह मनुः–'वैश्यश्चेत् क्षत्रियां गुप्तां वैश्यां वा क्षत्रियो व्रजेत्। यो ब्राह्मण्यामगुप्तायां तावुभौ दण्डमर्हतः ॥' इत्याह। भारुचिस्त्वन्यथा व्याचष्टे — वैश्यस्य भार्यायां यः क्षत्रियः व्रजति तस्यैव भार्यायां वैश्यो व्रजति चेच्छतपणात्मको दण्डो वेदितव्यः। तथा अन्यस्य यस्य कस्यचिद्वैश्यस्य भार्यायां क्षत्रियो गच्छति सहस्रपणान् दण्ड्यः। क्षत्रियायां वैश्यो गच्छन् सहस्रपणान् दण्ड्य इति। सवि. ४७१

कन्यादूषणे वर्णानुसारेण दण्डविधिः

**[2]कन्यायामसकामायां द्व्यङ्गुलच्छेदो दण्डः। उत्तमायां वधो जघन्यस्य। समायां शुल्कमाभरणं द्विगुणं च स्त्रीधनं दत्त्वा प्रतिपद्येत।**

सकामायां दण्डः षट्शतरूपो मनूक्तो द्व्यङ्गुलच्छेदसहकारी आसुरविवाहोक्तदानवत्, द्विगुणं स्त्रीधनं शुल्कं च कन्यार्थे तद्बन्धुभ्यश्च दत्त्वा तां गृह्णीयात्, समायामिच्छन्त्यामिति शेषः। इदमप्यङ्गुलिसाध्यमैथुनविषयम्। हरिहरस्तु द्व्यङ्गुलपरिमाणलिङ्गच्छेद इत्याह। ×विर. ४०३

स्त्रीकृतकन्यादूषणे दण्डः

**या स्त्री योन्यङ्गुलिप्रवेशेन कन्यां दूषयेत् तां शिरसो मुण्डनं कृत्वा गर्दभेन राजमार्गे गमनं कारयेत्।**

## कौटिलीयमर्थशास्त्रम्

कन्याप्रकर्म

**[2]कन्याप्रकर्म। सवर्णामप्राप्तफलां कन्यां प्रकुर्वतो हस्तवधश्चतुःशतो वा दण्डः। मृतायां वधः। प्राप्तफलां प्रकुर्वतो मध्यमाप्रदेशिनीवधो द्विशतो वा दण्डः। पितुश्चावहीनं दद्यात्। न च प्राकाम्यमकामायां लभेत। सकामायां चतुष्पञ्चाशत्पणो दण्डः, स्त्रियास्त्वर्धदण्डः। परशुल्कावरुद्धायां हस्तवधश्चतुःशतो वा दण्डः, शुल्कदानं च।**

**सप्तार्तवप्रजातां वरणादूर्ध्वमलभमानां प्रकृत्य प्राकामी स्यात्, न च पितुरवहीनं दद्यात्। ऋतुप्रतिरोधिभिः स्वाम्यादपक्रामति। त्रिवर्षप्रजातार्तवायास्तुल्यो गन्तुमदोषः। ततः परमतुल्योऽप्यनलङ्कृतायाः। पितृद्रव्यादाने स्तेयं भजेत।**

कन्याप्रकर्मेति सूत्रम्। कन्यायाः योनिक्षतेन दूषणमित्यर्थः। दण्डप्रस्तावात् तन्निमित्तो दण्डविधिरिहोच्यते। सवर्णामित्यादि। अप्राप्तफलां अनुद्भिन्नपुष्पाम्। मृतायां योनिक्षतवशेन प्रमीतायां सत्याम्। प्राप्तफलामित्यादि। मध्यमाप्रदेशिनीवधः ज्येष्ठातर्जन्योश्छेदः। पितुश्च, अवहीनं नष्टं तत्प्रार्थितं, दद्यात्। न चेत्यादि। अकामायां कन्यायां, प्राकाम्यं इच्छापूर्तिं, न च लभेत। अतो दण्डमात्रलाभफलं तद्रमणमित्युपदेशः। सकामायामिति। इच्छन्त्यां तस्यां, चतुष्पञ्चाशत्पणो दण्डः। स्त्रियास्तु, अर्धदण्डः सप्तविंशतिपणः। परशुल्कावरुद्धायामिति। परशुल्कग्रहणप्रतिबद्धायां कन्यायां, हस्तवधः, चतुःशतो वा दण्डः, अर्थात् प्रकुर्वतः। शुल्कदानं च पूर्वदत्तशुल्काय परस्मै कर्तव्यं, पक्षद्वयेऽपि।

सप्तार्तवप्रजातामिति। सप्त आर्तवानि प्रजातानि

---

* अत्र ब्राह्मणीं वैश्यः, क्षत्रियां शूद्र इति वक्तव्यम्।

× विचि., दवि. विरवत्।

(१) **सवि.** ४७१.

(२) **अप.** २।२८८ दण्डः + ( च ) समायां + ( सकामायां च ) पद्येत + ( स्व [ स ] कन्याम् ); **व्यक.** १२७ दण्डः + ( च ) पद्येत + ( स्वकन्याम् ); **विर.** ४०३ द्विगुणं च ( च द्विगुणं ) पद्येत ( पादयेत ); **विचि.** १७६ ( कन्या ... जघन्यस्य० ) समायां ... पद्येत ( समां शुल्कमाभरणं द्विगुणं स्त्रीधनं च दत्त्वा प्रतिपद्यते ) शंखः; **दवि.** १८२ दण्डः + ( च ) ( समायां ... पद्येत० ) : १८४ ( कन्या ... जघन्यस्य० ) प्रतिपद्येत ( प्रपद्येत कन्याम् ); **वीमि.** २।२९४ ( कन्या ... ... जघन्यस्य० ) समायां ( समां ) शंखः; **सेतु.** २७५ ( कन्या ... जघन्यस्य० ) समायां ( समां ) च स्त्रीधनं ( स्त्रीधनं च ) शंखः; **विव्य.** ५४ ( कन्या ... जघन्यस्य० ) च स्त्रीधनं ( स्त्रीधनं च ) पद्येत ( पादयेत् ) शंखः.

(१) **विव्य.** ५५ शङ्खः. (२) **कौ.** ४।१२.

यस्यास्तां तथाभूतां, वरणादूर्ध्वं अलभमानां कृतवरणं पुरुषं तावन्तं कालमनासादयन्तीं, प्रकुर्वन्, प्राकामी प्राकाम्यवान् यथेच्छभोक्ता, स्यात् । न च पितुः, अवहीनं शुल्कं, दद्यात् । कुतः, ऋतुप्रतिरोधिभिः आर्तवरूपैस्तस्करैर्निमित्तभूतैः, स्वाम्याद् अपक्रामति स्वामित्वादपैति, पिता । त्रिवर्षप्रजातार्तवाया इति । वर्षत्रयोपजातरजस्काया विषये, तुल्यो गन्तुं अदोषः सजातीयस्तां गच्छन् निर्दोषः । ततः परं वर्षत्रयादूर्ध्वं, अतुल्योऽपि गन्तुं अदोषः, अनलङ्कृतायाः पितृद्रव्यरहितायाः विषये । पितृद्रव्यादाने स्तेयं भजेतेति । पितृद्रव्यसहितायाः ग्रहणे चौर्यदण्डं प्राप्नुयात् । श्रीमू.

परमुद्दिश्यान्यस्य विन्दतो द्विशतो दण्डः। न च प्राकाम्यमकामायां लभेत। कन्यामन्यां दर्शयित्वान्यां प्रयच्छतः शत्यो दण्डस्तुल्यायां, हीनायां द्विगुणः। प्रकर्मण्यकुमार्याश्चतुष्पञ्चाशत्पणो दण्डः शुल्कव्ययकर्मणी च प्रतिदद्याद् अवस्थाय । तज्जातं पश्चात् कृता द्विगुणं दद्यात् । अन्यशोणितोपधाने द्विशतो दण्डः, मिथ्याभिशंसिनश्च पुंसः । शुल्कव्ययकर्मणी च जीयेत । न च प्राकाम्यमकामायां लभेत ।

स्त्री प्रकृता सकामा समाना द्वादशपणं दण्डं दद्यात्, प्रकर्त्री द्विगुणम् । अकामायाः शत्यो दण्डः आत्मरागार्थं, शुल्कदानं च। स्वयं प्रकृता राजदास्यं गच्छेत् ।

परमुद्दिश्येत्यादि । योऽभिप्रेतः स एवाहमित्यात्मानं व्यपदिश्य तदन्यस्य कन्यां विवहतो द्विशतो दण्डः । न च कामचारमकामायां तस्यां विन्देत । कन्यामन्यामित्यादि । तुल्यायां सजातीयायां सत्याम् । हीनायां हीनजातीयायां सत्याम् । प्रकर्मण्यकुमार्या इति । अकुमार्याः दत्तायाः अक्षतयोनेः क्षतयोनीकरणे, चतुष्पञ्चाशत्पणो दण्डः । शुल्कव्ययकर्मणी च पूर्वप्रतिग्रहीतृदत्तं शुल्कं तत्कृतं कर्मव्ययं च, प्रतिदद्यात्, अवस्थाय विवाहप्रातिभुवे । पश्चात् कृता द्वितीयामन्तरं तृतीयेन स्वीकृता, तज्जातं दण्डं, द्विगुणं अष्टोत्तरशतपणं, दद्यात् । अन्यशोणितोपधान इति । क्षतयोनित्वप्रदर्शनार्थं अन्य-

(१) कौ. ४।१२.

रुधिरस्य स्ववस्त्रलेपने, द्विशतो दण्डः, स्त्रियाः । मिथ्याभिशंसिनश्च पुंसः अक्षतयोनिमेव क्षतयोनिरिति मिथ्या वदतः पुरुषस्य च, द्विशतो दण्डः । शुल्कव्ययकर्मणी च जीयेत शुल्कं कर्मव्ययं च दाप्येत । न च प्राकाम्यमित्यादि प्रतीतम् ।

स्त्रीति । सकामा, समाना तुल्यजातीया स्त्री, प्रकृता क्षतयोनितां नीता, द्वादशपणं दण्डं दद्यात् । प्रकर्त्री तद्योनिक्षतिकर्त्री, द्विगुणं चतुर्विंशतिपणं दद्यात् । अकामायाः शत्यो दण्ड इत्यादि । अनिच्छन्त्या एव पुंसा स्वरागार्थं प्रकर्मणि कार्यमाणे, कारयितुः शत्यो दण्डः । शुल्कदानं च । स्वयं प्रकृता स्वयं कृतयोनिक्षतिः, राजदास्यं राजदासीभावं, गच्छेत् । श्रीमू.

बहिर्ग्रामस्य प्रकृतायां मिथ्याभिशंसने च द्विगुणो दण्डः । प्रसह्य कन्यामपहरतो द्विशतः । ससुवर्णामुत्तमः । बहूनां कन्यापहारिणां पृथग् यथोक्ता दण्डाः । गणिकादुहितरं प्रकुर्वतश्चतुष्पञ्चाशत्पणो दण्डः, शुल्कं मातुर्भोगः षोडशगुणः। दासस्य दास्या वा दुहितरमदासीं प्रकुर्वतश्चतुर्विंशतिपणो दण्डः शुल्काबन्ध्यदानं च। निष्क्रयानुरूपां दासीं प्रकुर्वतो द्वादशपणो दण्डः वस्त्राबन्ध्यदानं च । साचिव्यावकाशदाने कर्तृसमो दण्डः ।

प्रोषितपतिकामपचरन्तीं पतिबन्धुस्तत्पुरुषो वा संगृह्णीयात् । संगृहीता पतिमाकाङ्क्षेत । पतिश्चेत् क्षमेत, विसृज्येतोभयम् । अक्षमायां स्त्रियाः कर्णनासाच्छेदनम् । वधं जारश्च प्राप्नुयात् । जारं चोर इत्यभिहरतः पञ्चशतो दण्डः । हिरण्येन मुञ्चतस्तदष्टगुणः ।

बहिरिति । ग्रामस्य, बहिर्देशे विजने, प्रकृतायां सत्यां, द्विगुणः चतुर्विंशतिपणः दण्डः, स्त्रियाः । मिथ्याभिशंसने च प्रकृत्य न प्रकृतेति मिथ्यावादे च द्विगुणो दण्डः, पुंसः । प्रसह्य कन्यामित्यादि । उत्तमः साहसदण्डः । पृथक् प्रत्येकम् । गणिकादुहितरमिति । तां, प्रकुर्वतः, चतुष्पञ्चाशत्पणो दण्डः । शुल्कं मातुर्भोगः षोडशगुणः शुल्कं मात्रे देयं उक्तदण्डषोडशगुणं चतुष्पञ्च-

(१) कौ. ४।१२.

धिकाष्टशतपणात्मकं भवति । दासस्य दास्या वेत्यादि । शुल्कबन्ध्यदानं च शुल्काभरणयोर्दानं च । निष्क्रयानुरूपां दास्यमोक्षणानुरूपां रूपादिमत्तया । सान्निध्यावकाशदान इति । कन्यादूषणं प्रति साहाय्यदाने प्रदेशदाने च, कर्तृसमः दूषकदण्डतुल्यः, दण्डः । प्रोषितपतिकामित्यादि । अपचरन्तीं व्यभिचरन्तीम् । तत्पुरुषः पतिभृत्यः । संगृह्णीयात् नियम्य रक्षेत् । आकाङ्क्षेत प्रतीक्षेत । उभयं विसृज्येत जारो जारिणी च न दण्ड्येत । जारमित्यादि । अभिहरतः व्यभिचारगोपनार्थमभिवदतः हिरण्येन मुञ्चतस्तदष्टगुण इति । हिरण्यमुत्कोचं गृहीत्वा जारं मुञ्चतो रक्षिपुरुषस्य गृहीतहिरण्याष्टगुणो दण्डः । श्रीमू.

[1]केशाकेशिकं संग्रहणम् । उपलिङ्गनाद् वा शरीरोपभोगानां, तज्जातेभ्यः, स्त्रीवचनाद् वा ।

परचक्राटवीहृतामोघप्रव्यूढामरण्येषु दुर्भिक्षे वा त्यक्तां प्रेतभावोत्सृष्टां वा परस्त्रियं निस्तारयित्वा यथासंभाषितं समुपभुञ्जीत । जातिविशिष्टामकामामपत्यवतीं निष्क्रयेण दद्यात् ।

चोरहस्तान्नदीवेगाद् दुर्भिक्षाद् देशविभ्रमात् ।
निस्तारयित्वा कान्तारान्नष्टां त्यक्तां मृतेति वा ॥
भुञ्जीत स्त्रियमन्येषां यथासंभाषितं नरः ।
न तु राजप्रतापेन प्रमुक्तां स्वजनेन वा ॥
न चोत्तमां न चाकामां पूर्वापत्यवतीं न च ।
ईदृशीं त्वनुरूपेण निष्क्रयेणापवाहयेत् ॥

संग्रहणज्ञानोपायमाह—केशाकेशिकं संग्रहणमिति । परस्परकेशग्रहणपुरस्सरारब्धा कामकेलिः केशाकेशि तदेव केशाकेशिकं, तत्प्रत्यक्षदृष्टं कर्तृभूतं, संग्रहणं, बोधयतीति शेषः । उपलिङ्गनाद्वा शरीरोपभोगानां कस्तूर्याद्युपभोगलिङ्गदर्शनाद् वा, संग्रहणं जानीयात् । तज्जातेभ्यः तद्विषयेङ्गितज्ञेभ्यो जानीयात् । स्त्रीवचनाद् वा परामृष्टस्त्रीवाक्याद् वा जानीयात् ।

दण्डानर्हं परस्त्रीग्रहणप्रकारमाह— परचक्राटवीहृतामिति । परचक्रापहृतां आटविकहृतां च, ओघप्रव्यूढां नदीप्रवाहनीतां, अरण्येषु दुर्भिक्षे वा त्यक्तां, प्रेतभावोत्सृष्टां वा रोगोन्मूर्च्छनात् मृतत्वबुद्ध्या परित्यक्तां वा, परस्त्रियं, निस्तारयित्वा विपदुत्तीर्णां कृत्वा, यथासंभाषितं समुपभुञ्जीत परस्परसंविदनुरोधेन भार्यीकृत्य दासीकृत्य वा सम्यक् उपभुञ्जीत । इह निस्तारयित्वेति समासाकरणमार्षम् । जातिविशिष्टां जात्युत्कर्षवतीं, अकामां सजातित्वेऽप्यकामां, अपत्यवतीं, निष्क्रयेण दद्यात् निस्तरणश्रमवेतनग्रहणेन तत्स्वामिनेऽर्पयेत् ।

अध्यायान्ते श्लोकानाह— चोरहस्तादित्यादि । राजप्रतापेन स्वजनेन वा प्रमुक्तां राजकोपत्यक्तां स्वजनपरित्यक्तां वा । न तु भुञ्जीतेत्यत्र संबन्धनीयम् । एवं तृतीयश्लोकपूर्वार्धेऽपि न च भुञ्जीतेति योजनीयम् । ईदृशीं उत्तमजातिं अनिच्छन्तीं पूर्वापत्यवतीं च । अपवाहयेत् । अपनाययेत् । प्रदापयेदिति क्वापि पाठः । श्रीमू.

अतिचारदण्डः

कामं भार्यायामनिच्छन्त्यां कन्यायां वा दारार्थिनां भर्तरि भार्याया वा संवननकरणम् । अन्यथा हिंसायां मध्यमः साहसदण्डः ।

मातापित्रोर्भगिनीं मातुलानीं आचार्यानीं स्नुषां दुहितरं भगिनीं वाधिचरतस्त्रिलिङ्गच्छेदनं वधश्च । सकामा तदेव लभेत । दासपरिचारकाहितकभुक्ता च ।

ब्राह्मण्यामगुप्तायां, क्षत्रियस्योत्तमः, सर्वस्वं वैश्यस्य । शूद्रः कटाग्निना दह्येत । सर्वत्र राजभार्यागमने कुम्भीपाकः ।

श्वपाकीगमने कृतकबन्धाङ्कः परविषयं गच्छेत्, श्वपाकत्वं वा शूद्रः । श्वपाकस्यार्यागमने वधः, स्त्रियाः कर्णनासाच्छेदनम् । प्रव्रजितागमने चतुर्विंशतिपणो दण्डः । सकामा तदेव लभेत । रूपाजीवायाः प्रसह्योपभोगे द्वादशपणो दण्डः । बहूनामेकामधिचरतां पृथक् चतुर्विंशतिपणो दण्डः । स्त्रियामयोनौ गच्छतः पूर्वः साहसदण्डः । पुरुषमधिमेहतश्च ।

मैथुने द्वादशपणः तिर्यग्योनिष्वनात्मनः ।
दैवतप्रतिमानां च गमने द्विगुणः स्मृतः ॥

---

(१) कौ. ४।१२.

(१) कौ. ४।१३.

अदण्ड्यदण्डने राज्ञो दण्डस्त्रिंशद्गुणोऽम्भसि ।
वरुणाय प्रदातव्यो ब्राह्मणेभ्यस्ततः परम् ॥
तेन तत्पूयते पापं राज्ञो दण्डापचारजम् ।
शास्ता हि वरुणो राज्ञां मिथ्या व्याचरतां नृषु ॥

भार्यायामनिच्छन्त्यां विषये भर्तुः संवननकरणं, कन्यायामनिच्छन्त्यां दारार्थिनां संवननकरणं, भर्तरि अनिच्छति भार्यायाः संवननकरणं चाभ्यनुजानाति— कामं भार्यायामित्यादि । अन्यथा उक्तातिरिक्तविषये, हिंसायां संवननादिना हिंसने, मध्यमः साहसदण्डः ।

मातापित्रोर्भगिनीमित्यादि । मातुलानीं मातुलभार्याम् । आचार्यानीं आचार्यपत्नीम् । त्रिलिङ्गच्छेदनं मेढ्रमुष्कच्छेदनम् । सकामा तदेव लभेतेति । मातापितृभगिन्यादिः सकामा चेत् त्रिलिङ्गच्छेदनं सस्तनभगच्छेदनं, वधं च, लभेत । दासपरिचारकाहितकभुक्ता च तदेव लभेत तुल्यन्यायात् दासादिरपि तदेव लभेत ।

ब्राह्मण्यामगुप्तायामिति । तस्यां स्वतन्त्रायां, क्षत्रियस्य गन्तुः, उत्तमः साहसदण्डः । सर्वस्वं सर्वस्वहरणं, वैश्यस्य दण्डः । शूद्रः ब्राह्मणीगन्ता, कटाग्निना दह्येत अग्निप्रदीपनेन नगरं परिगमय्य दग्धव्यः । सर्वत्र क्षत्रियादिषु सर्वेषु विषये, राजभार्यागमने, कुम्भीपाकः तप्तभ्राष्ट्रभर्जनं दण्डः ।

श्वपाकीगमन इत्यादि पुरुषमधिमेहतश्चेत्येतदन्तं वाक्याष्टकं सुबोधम् ।

मैथुन इत्यादि । तिर्यग्योनिषु गवादियोनिषु । अनात्मनः दुरात्मनः । द्विगुणः चतुर्विंशतिपणः ।

अदण्ड्यदण्डन इति । दण्डानर्हस्य दण्डने, राज्ञो दण्डः त्रिंशद्गुणः, गृहीताद् दण्डात्, स कस्मै दातव्यः, अम्भसि वरुणाय प्रदातव्यः जले वरुणमुद्दिश्य प्रक्षेप्तव्यः । ततः परं ब्राह्मणेभ्यः, प्रदातव्यः ।

तेनेति । तेन तथा प्रदानेन, राज्ञो दण्डापचारजं दण्डान्यथाप्रणयनजनितं, तत् पापं, पूयते शोध्यते । लूयत इति पाठे छिद्यत इत्यर्थः । कस्माद् वरुणाय दानेन राजपापं पूयते, हि यस्मात् कारणाद्, वरुणः, नृषु, मिथ्या अनृतं, व्याचरतां विधिमाचरतां, राज्ञां, शास्ता शासकः । 'मिथ्या च चरताम्' इत्यपि पाठः । श्रीमू.

## मनुः

संग्रहणलक्षणानि

परस्त्रियं योऽभिवदेत्तीर्थेऽरण्ये वनेऽपि वा ।
नदीनां वाऽपि संभेदे स संग्रहणमाप्नुयात् ॥

(१) परस्य पत्न्येति प्रकृते पुनः परस्त्रीग्रहणं मातृभगिनीगुरुपत्न्यादीनामप्रतिषेधार्थम् । न हि ताः सत्यपि परसंबन्धित्वे परस्त्रीव्यपदेश्याः । तीर्थमुच्यते येन मार्गेण नदीतडागादिभ्यो जलमानेतुमवतरन्ति, स हि विजनप्रायो भवति । नानुदकार्थेन तत्र संनिधीयते । संकेतस्थानं तादृशमत्र कल्पितायामवश्यमेव गन्तव्यमहमपि संनिधीयमानो नाशङ्क्यो भविष्यामीति उदकार्थी दिवा शौचाचारं वा करिष्यन् प्रतिपालयतीति जना मंस्यन्ते । प्रदेशान्तरे तु किमत्रायं प्रतिपालयतीति शङ्का स्यादतस्तीर्थे प्रतिषेधः । अरण्यं हि ग्रामाद्विजनो देशो गुल्मवृक्षलतादिगहनः । वनं वृक्षसंततिः, नदीनां संभेदः समागमः । सोऽपि हि संकेतस्थानम् । स संग्रहणं प्राप्नुयात् । परस्त्रीकामत्वं संग्रहणम् । अतश्च यस्तत्र दण्डः सोऽस्य स्यादित्युक्तं भवति । अनाक्षारितस्यापि सत्यपि कारणेऽयं प्रतिषेधः । यत्त्वापस्तम्बेनोक्तं 'नासंभाष्य स्त्रियमतिव्रजेदि'ति तदन्येषु संनिहितेष्वेतच्छास्त्रज्ञेषु प्रकाशे एतच्छास्त्रं, भगिनी नमस्ते इत्याद्यभिवादनमविलम्बमानेन कर्तव्यम् । मेधा.

(२) उदकावतरणे ग्रामाद्बहिर्निर्जने प्रदेशे वृक्षगुल्मलताकीर्णे वा देशे नदीनां वा संगमे, यः परस्त्रियं अनाक्षारितोऽपि पूर्वं कारणादपि संभाषेत, स वक्ष्यमाणं दोषं प्राप्नुयात् । सम्यग्गृह्यते ज्ञायतेऽस्य स्त्रिया संबन्ध इति येन तत्संग्रहणम् । गोरा.

(३) संग्रहणं समीचीनं ग्रहणं परस्त्रिया आत्मीयताकरणं तत्र य उक्तो दण्डः परस्य पत्न्येत्यत्र प्रथम-

(१) मस्मृ. ८।३५६; स्मृच. ९ (=) स्त्रियं...देत्ती (स्त्रियाऽभिभाषेत ती) वने (गृहे) वाऽपि (चैव); विचि. १७३ वने (गृहे); स्मृचि. २६; मच. वने इत्यत्र गृहे इत्यपि पाठः; बाल. २।२८४; सेतु. २६४ विचिवत्; समु. १५३ स्त्रियं योऽभिवदेत्ती (स्त्रिया यो भाषेत ती) वने (गृहे).

१ यन्त्रिति. २ वनवृ. ३ काशे ए.

साहसः तं प्राप्नुयादित्यर्थः। *मवि.

(४) तीर्थारण्यवनादिकं निर्जनदेशोपलक्षणमात्रम्। यः पुरुषः परस्त्रियमुदकावतरणमार्गेऽरण्ये ग्रामाद्बहिर्गुल्मलताकीर्णे निर्जने देशे वने बहुवृक्षसंतते नदीनां संगमे पूर्वमनाक्षारितोऽपि कारणादपि संभाषेत स संग्रहणं सहस्रपणदण्डं वक्ष्यमाणं प्राप्नुयात्। सम्यग्गृह्यते ज्ञायते येन परस्त्रीसंभोगाभिलाष इति संग्रहणम्। ×ममु.

(५) अथ स्त्रीसंग्रहणं, प्रथमं तावत्तस्य लक्षणमाह—परस्त्रीं योऽभिभाषेतेति। अरण्ये कान्तारे, वने उपवने। नन्द.

**उपचारक्रिया केलिः स्पर्शो भूषणवाससाम्।**
**सह खट्वासनं चैव सर्वं संग्रहणं स्मृतम्॥**

(१) संग्रहणं स्मृतं, या न केनचित्संबन्धेन संबन्धिनी तस्या वस्त्रमाल्यादिदानेनोपकारकरणं, तद्गात्रोपक्रान्तं भोजनपानादिना, केलिः परिहासो वक्रभणितादिना। भूषणं हारकटकादि तदङ्गलग्नं, तदीयमेतद्वेति ज्ञात्वा विनाप्रयोजनेनान्यगृहीतमपि, स्पृश्यते। एकस्यां खट्वायामसंसक्ताङ्गयोरपि सहासनं, सर्वमेतत्तुल्यदण्डम्। मेधा.

(२) अङ्गानुलेपनाद्युपचारकरणं क्रीडा अलङ्करणवाससां स्पर्शनं एकखट्वासनं एकयानगमनं इत्येतत्सर्वं संग्रहणं मन्वादिभिः स्मृतम्। ÷गोरा.

(३) उपचारक्रिया उद्वर्तनादि। भूषणवाससामङ्गस्थानाम्। संग्रहणं तावद्दण्डविषयः। अत्र तु व्यापाराधिक्येन द्वैगुण्यादि कल्प्यम्। मवि.

(४) उपकारक्रिया हिताचरणं, केलिर्नर्म, उत्तममिति शेषः। +विर. ३८१

(५) संग्रहणान्याह—उपचारेति द्वाभ्याम्। उपचारक्रिया स्रक्सुगन्धानुलेपनकेशप्रसाधनजलक्षेपादि। केलिस्तदुचितपरिहासादिः। भूषणवाससां स्पर्शोऽन्योन्याकर्षणम्। सर्वं संग्रहणं सम्यक् गृह्यते ज्ञायतेऽनेनेति परस्त्रीषु संभोगाभिलाष इति। मच.

[1] **स्त्रियं स्पृशेददेशे यः स्पृष्टो वा मर्षयेत्तया।**
**परस्परस्यानुमते सर्वं संग्रहणं स्मृतम्॥**

(१) अदेशस्पर्शस्तु यत्र विनैव तत्स्पर्शनं गमनागमनादि संसिध्यति। महाजनसंकुले न दोषः। तथा शरीरावयवोऽपि देशस्तत्र, हस्तस्कन्धस्पृष्टभाण्डावरोपणे तत्स्पर्शे न दोषः। ओष्ठचिबुकस्तनादिषु दोषः। तया वा स्तनादिस्पर्शेनोत्पीडितो यदि कश्चित्सहते, 'भवति मा कार्षीरि'त्यादिना न प्रतिषेधति। परस्परस्यानुमते, मतिपूर्वमेतस्मिन् कृते दोषोऽयम्। न पुनः कर्मादौ। तत्र खलु पुरुषं कण्ठेऽवलम्बते, पुरुषो वा स्तनान्तरे स्त्रियं, तद्धस्तगृहीतद्रव्यादानप्रवृत्तेः। शुष्के पतिष्यामीति कर्दमे पततीतिवत्, तावपि न दुष्येताम्। मेधा.

(२) योऽदेशे स्तनयोरङ्गे वा, निर्जने प्रदेशे वा स्पृशेत्। तया वा अप्रदेशे श्रोण्यादौ निर्जने वा देशे स्पृष्टः तूष्णीमासीत, तदेतदन्योन्यस्याङ्गीकरणे सति संग्रहणं मन्वादिभिः स्मृतम्। *गोरा.

(३) परस्परस्यानुमते न त्वज्ञानेऽपि। मवि.

(४) अदेशे विविक्तदेशे अस्पृश्ये स्तनादौ वा। नन्द.

(५) एतत्सर्वं संग्रहणं स्मृतं दण्डस्य ग्रहणं स्मृतम्। भाच.

---

* शेषं गोरावत्। भाच. मविवत्।

× मच. ममुवत्।

÷ ममु. गोरावत्। + विचि. विरवत्।

(१) मस्मृ. ८।३५७; व्यक. १२४ चार (कार) नारदः मनुश्च; स्मृच. ९ (=) व्यकवत्; विर. ३८१ चार (कार) खट्वा (शय्या); विचि. १७१ विरवत्, क्रमेण व्यासः; व्यनि. ३०९ व्यकवत्; स्मृचि. २६; सेतु. २६३ विरवत्; समु. १५३ व्यकवत्.

* ममु., मच. गोरावत्।

(१) मस्मृ. ८।३५८ [मते (मतेः) Noted by Jha]; मिता. २।२८४ तया (तथा); व्यक. १२४ मितावत्, नारदः मनुश्च; पमा. ४६३; रत्न. १३२ मितावत्; विचि. १७१ स्पृशेद (स्पृशत्य) द्वो......तया (द्वा चामर्षयेत या) क्रमेण व्यासः; स्मृचि. २६ मितावत्; दवि. १५६ मते सर्वं (मतं तच्च); नृप्र. २०७; सवि. ४६८ तया (तदा); व्यप्र. ३९८ मितावत्; व्यउ. १२५ मितावत्; विता. ७९९ मितावत्; सेतु. २६३ मितावत्; समु. १५३.

१ स्य य. २ कस्तत्सहते भवेन्न का. ३ खलं पुरु. ४ स्ताशुल्के प.

दर्पाद्वा[1] यदि वा मोहाच्छ्लाघया वा स्वयं वदेत् ।
पूर्वं[1] मयेयं भुक्तेति तच्च संग्रहणं स्मृतम् × ॥

परस्त्रीसंभाषायां दोषविचारः

परस्य[2] पत्न्या पुरुषः संभाषां योजयन्रहः ।
पूर्वमाक्षारितो दोषैः प्राप्नुयात्पूर्वसाहसम् ॥

(१) संभाषां[1] संभाषणं, तत्क्रिया[2] आलापं कुर्वन् संग्रहणादिदोषैः तत्स्त्रीप्रार्थनादिभिः[3] पूर्वमाक्षारितोऽभिशस्तः अयमेनामुपजपतीति अन्यत्र दृष्टदोषः शङ्क्यमानदोषो वा चपलः रहः उद्घातादौ निषिद्धसंभाषण इति केचित् । स कारणादप्यन्यपत्न्या संभाषणं कुर्वन् प्रथमसाहसं दण्डं प्राप्नुयाद्दापयितव्य इत्यर्थः । मेधा.

(२) परदारगमनपूर्वदोषैः पूर्वमुत्पन्नाभिशापः परभार्यया सह संभाषणं कुर्यात् स प्रथमसाहसं दण्डं प्राप्नुयात् । *गोरा.

(३) तत्स्त्रीप्रार्थनादिदोषैः पूर्वमुत्पन्नैरपवादप्रार्थनाभिशापादिभिः पुरुषः उचितकारणव्यतिरेकेण परभार्यया संभाषणं कुर्वन् प्रथमसाहसं दण्डं प्राप्नुयात् । +ममु.

यस्त्वनाक्षारितः[3] पूर्वमभिभाषेत कारणात् ।
न दोषं प्राप्नुयात्किञ्चिन्न हि तस्य व्यतिक्रमः ॥

(१) पूर्वस्य प्रत्युदाहरणमेतत् । अनाक्षारितोऽप्यकारणात् संभाषयन् मिश्रयन् पूर्वदण्डभाक् । मेधा.

(२) यः पुनः पूर्वाभिशापरहितः कारणेन केनचिज्जनसमक्षं अभिभाषणं कुर्यात् स न दण्डं प्राप्नुयात् यस्मान्न कश्चिदपराधोऽस्ति । + गोरा.

(३) अनाक्षारित इत्यसंभावितपरदारगामित्वमिष्टम् । सोऽपि कारणादावश्यकनिमित्तादेवाभिभाषेतान्यथा तु पूर्ववद्दण्ड्यः । मवि.

(४) संभाषणमात्रं न दण्डावहमित्याह — यस्त्विति । कारणात् क्रयविक्रयभिक्षादिभ्यः । व्यतिक्रमोऽपराधः । मच.

भिक्षुका[1] बन्दिनश्चैव दीक्षिताः कारवस्तथा ।
संभाषणं सह स्त्रीभिः कुर्युरप्रतिवारिताः ॥

(१) भिक्षुका भिक्षाजीवनो भिक्षायाचनारूपं संभाषणमवारिताः कुर्युर्यदि स्वामिना न निषिद्धाः । अथवा नैते वारयितव्याः । बन्दिनः स्तावकाः । दीक्षिता यज्ञे भृतिवचनार्थं संभाषेरन् । कारवः सूपकारादय एते तीर्थादिष्वपि न निवार्याः । * मेधा.

(२) भिक्षाजीविनः स्तावकाः यज्ञार्थं कृतदीक्षाः सूपकारादयो भिक्षादिस्वरूपार्थं गृहे स्त्रीभिः सह संभाषणं अनिवारिता एव कुर्युः । तेषां निवारणात् नास्त्येव संग्रहणाभावः । गोरा.

(३) केषाञ्चित्परदारासंभाषणे देहयात्रादिकार्यानुत्पत्तेः प्रतिप्रसवतया तत्संभाषणमाह — भिक्षुका इति । भिक्षवो ब्रह्मचारिसंन्यासिनः 'भवति भिक्षां देहीं'ति तद्दिना

× मिता. व्याख्यानं 'नीवीस्तन' इति याज्ञवल्क्यवचने द्रष्टव्यम् ।

* मवि., विर. गोरावत् । + मच., भाच. ममुवत् ।

(१) **मिता.** २।२८४ (ख) मयेयं (ममेयं); **पमा.** ४६४; **सवि.** ४६८; **नृप्र.** २०७ दर्पा (द्वेषा) च्छ्लाघया (च्छलाद्वो); **व्यप्र.** ३९८ मनुनारदौ; **व्यउ.** १३६; **विता.** ७९९.

(२) **मस्मृ.** ८।३५४; **गोरा.** भाषां योजयन्रहः (भाषं योजयेत् सह); **अप.** २।२८४ पुरु...हः (संभाषं पुरुषो योजयन् सह); **व्यक.** १२५ भाषां...न्रहः (भाषं यो भजेद्रहः); **विर.** ३८४ गोरावत्; **रत्न.** १३० भाषां......न्रहः (भाषं योजयेद्रहः); **विचि.** १७२ परस्य पत्न्या (परपत्न्या तु); **व्यम.** १०६ भाषां योजयन्रहः (भाषं योजयेत्सह); **विता.** ७९९ गोरावत्; **सेतु.** २६४ विचिवत्, बृहस्पतिः; **समु.** १५४.

(३) **मस्मृ.** ८।३५५; **मिता.** २।२८४; **अप.** २।२८४ रितः पूर्वमभि (रितो दोषैरभि); **व्यक.** १२५; **विर.** ३८४; **रत्न.** १३०; **विचि.** १७२-३; **सवि.** ४६८ क्षारितः पूर्वमभिभाषेत (कारितः पूर्वं विभाषेतापि); **व्यप्र.** ४०१; **विता.** ७९९ किंञ्चिन्न (त्कञ्चिन्न) क्रमः (क्रमम्); **सेतु.** २६४; **समु.** १५४.

१ ष. सं. २ तमालपितुं कुर्वन् सं. ३ नादिति पू.

+ ममु. गोरावत् । * ममु. मेधावत् ।

(१) **मस्मृ.** ८।३६०; **अप.** २।२८५; **व्यक.** १२५ सह (गृहे); **विर.** ३८६ व्यकवत्; **दीक.** ५५; **विचि.** १७० व्यकवत्; **व्यनि.** ३९९; **स्मृचि.** २७; **दवि.** १५६ सह (गृह); **बाल.** २।२८४; **सेतु.** २६२ व्यकवत्; **समु.** १५४.

भिक्षाऽलब्धेः । भृतिः बन्दिनः स्तुतिपाठकाः 'वदान्या त्वमसि कमलनयने विष्णुमित्रस्य पुत्री'त्यादिनाऽभिमुखीकृत्य वस्त्रान्नादि प्रार्थयमानाः । दीक्षिता यज्ञे वृता ऋत्विजः हविष्कृदेहीत्याह्वानं कुर्वन्ति हविष्कृद्यजमानपत्नीति । कारवः शूर्पकारादयः । मच.

(४) अप्रतिवारिताः स्त्रीबन्धुभिरनिषिद्धाश्चेत् । नन्द.

**न संभाषां परस्त्रीभिः प्रतिषिद्धः समाचरेत् ।**
**निषिद्धो भाषमाणस्तु सुवर्णं दण्डमर्हति ॥**

(१) केचिद्भिक्षुकादीनां निवारितानां संभाषणे दण्डोऽयमिति मन्यन्ते । तदसत् । नैव ते निवार्या इत्युक्तम् । कुतश्च भिक्षुकाणां सुवर्णो दण्डः । तस्मात्कोऽपि प्रकाशमनाक्षारितोऽपि कथंचिन्निषिद्धः स्वामिना, समाचरन् सुवर्णं दण्ड्यः । मेधा.

(२) स्वामिना निषिद्धः सन् स्त्रीभिः संभाषणं न कुर्यात् । निषिद्धः संभाषमाणस्तु राज्ञे सुवर्णं दण्डं दद्यात् । *गोरा.

(३) प्रतिषिद्धः भिक्षुकादिरपि । सुवर्णमेकम् । ×मवि.

चारणदारादिस्त्रीभिः सह संभाषणे उपकारादौ च दोषविचारः

**[२]नैष चारणदारेषु विधिर्नात्मोपजीविषु ।**
**सज्जयन्ति हि ते नारीर्निगूढाश्चारयन्ति च ॥**

* ममु., विर., दवि., नन्द. गोरावत् ।

× मच., भाच. मविवत् ।

(१) **मस्मृ.** ८।३६१; **गोरा.** भाषां पर (भाषं सह); **अप.** २।२८५ गोरावत्; **व्यक.** १२५ संभाषां (भाषणं); **विर.** ३८६ गोरावत्; **विचि.** १७३; **व्यनि.** ३९९ पर (सह); **स्मृचि.** २७ गोरावत्; **दवि.** १५७ न संभाषां (संभाषणं) समा (न चा); **बाल.** २।२८६; **सेतु.** २६४; **समु.** १५४ व्यनिवत्.

(२) **मस्मृ.** ८।३६२ [नारीर्नि (दारान्नि) Noted by Jha]; **मिता.** २।२८५ नारीर्नि (नारीं नि); **अप.** २।२८५ मितावत्; **व्यक.** १२५; **विर.** ३८७; **रत्न.** १३०; **विचि.** १७४-५ मितावत्; **दवि.** १५८ मितावत्; **वीमि.** २।२८५; **व्यप्र.** ४०१ र्नात्मो (रात्मो); **विता.** ८०१ च (वा) शेषं मितावत्; **सेतु.** २६५ मितावत्; **समु.** १५४.

(१) यः संभाषणप्रतिषेध उपकारक्रियाप्रतिषेधश्च नैष चारणदारेषु स्यात् । चारणा नटगायनाद्याः प्रेक्षणकारिणः । तथा आत्मोपजीविषु वेषेण जीवत्सु, ये दाराः, अथवा आत्मा जायैव 'अर्धो ह वा एष आत्मेति' तां य उपजीवन्ति, उत्कृष्टमाकारं सज्जयन्ति संश्लेषयन्ति ते, चारणपुरुषेण निगूढाः प्रच्छन्नमापणभूमौ प्रतिष्ठन्ते । गृहवेषत्वादेव ताः प्रसिद्धवेश्याभ्यो भिद्यन्ते । चारयन्ति च, ता मैथुनं प्रवर्तयन्ति, नेत्रभ्रूविलासपरिहासादिभिः पुरुषानाकर्षयन्ति तदनुज्ञाताः । सज्जनं चारणं संप्रयोग एव । अथवा स्वा नारीः सज्जयन्ति अन्याश्च स्त्रीभिश्चारयन्ति प्रवर्तयन्ति, वेश्यात्वं कुट्टिनीत्वं च स्वदाराणां कारयन्तीत्यर्थः । मेधा.

(२) परस्त्रियं योऽभिवदेदित्यादिकः संभाषणनिषेधविधिः नटगायनादिदारेषु वेशजीविदारेषु च नास्ति । यतश्चारणा आत्मोपजीविनश्च स्वभार्याः परपुरुषे संश्लेषयन्ति प्रच्छन्नाश्च भूत्वा नैतात्किलास्माभिः ज्ञातमितिकृत्वा वेशकर्मणि सूचयन्त्यतस्तद्दाराणां वेश्याप्रकारत्वात् नास्ति संभाषणे निषेधः । *गोरा.

(३) चारणा नटादयः । ते चारणाः नारीः स्वदारान् निरूढानिह्नुतनटभार्यात्वादिस्वरूपाः चारयन्ति भ्रामयन्ति तत्र तत्र पुरुषलाभार्थमतस्तेषां तद्वृत्तित्वान्न दोषः । मवि.

(४) 'परस्त्रियं योऽभिवदेत्' इत्यादिसंभाषणनिषेधविधिर्नटगायनादिदारेषु नास्ति । तथा 'भार्या पुत्रः स्वका तनुः' इत्युक्तत्वाद्भार्यैवात्मा तयोपजीवन्ति धनलाभाय तस्या जारं क्षमन्ते ये, तेषु नटादिव्यतिरिक्तेषु अपि ये दारास्तेष्वप्येवं निषेधविधिर्नास्ति । यस्माच्चारणा आत्मोपजीविनश्च परपुरुषानानीय तैः स्वभार्याः संश्लेषयन्ते । स्वयमागतांश्च परपुरुषान् प्रच्छन्ना भूत्वा स्वाज्ञानं विभावयन्तो व्यवहारयन्ति । ममु.

(५) चारणो नटः । 'भार्या पुत्रः स्विका तनुः' इत्यादिस्मरणादिह आत्मा भार्या तेनात्मानं भार्या जीवनार्थमुपजीवतीति, आत्मोपजीवी शैलूषादिः । एतौ हि स्वां स्त्रियमप्यलङ्कृत्य व्यभिचारयत इत्यतो

* ममु., विर., विचि. गोरावत् ।

१ सुधाराणां.

नैतत्संग्रहे दण्डः। अभिगमदण्डस्त्वत्रापि, स तु बन्धक्य-भिगमप्रकरणे वक्ष्यते। ×विचि. १७५

(६) आत्मोपजीविषु वेश्याजनेष्विति नारायणः +। दवि. १५८

(७) परदाररतानां स्त्रीविशेषे उक्तदण्डाभावमाह—नैष इति द्वाभ्याम्। एष उक्तदण्डविधिर्न पञ्चसु परदारेषु चारणनटगायनाद्यात्मोपजीविषु, आत्माऽत्र आत्मभार्या तां भोगार्थं विक्रीय जीविनस्तेषु। तत्र दृष्टार्थतामाह—सज्जयन्तीति। सज्जयन्ति परपुरुषैः सह स्वस्त्रियः श्लेषयन्ति, चारयन्ति स्वागतान् पुरुषान् निगूढाः स्वयं प्रच्छन्ना भूत्वा अज्ञानं विभावयन्तो मैथुनादिना स्वपरस्त्रिया सह। मच.

(८) चारणदारेषु रङ्गोपजीविनां दारेषु, संभाषितेष्विति विपरिणामः, एष पूर्वोक्तः सुवर्णदण्डविधिर्न स्यात्। आत्मोपजीविषु रूपाजीवासु वेश्यासु कस्यचिद्दारत्वेन स्थितास्वित्यर्थः। ते चारणा नारीः पुरुषेषु सज्जयन्ति अभिसारयन्ति। एवं तेषां शीलं तस्मान्नैष दण्डविधिरिति। नन्द.

(९) एष विधिः आत्मोपजीविषु चारणदारेषु नटादिस्त्रीषु न कर्तव्यः। भाच.

**[1]किञ्चिदेव तु दाप्यः स्यात्संभाषां ताभिराचरन्।**
**प्रैष्यासु चैकभक्तासु रहः प्रव्रजितासु च *॥**

(१) रहोऽप्रकाशं विजने देशे चारणनारीभिः संभाषां कुर्वन् किञ्चित्सुवर्णादत्यन्ताल्पं स त्रिंशद्भागादिकं जातिप्रतिष्ठाने अपेक्ष्य दण्ड्यः। यतो न परिपूर्णं तासु वेश्यात्वम्। भर्तृभिरनुज्ञाता हि ताः प्रणयन्ते। तत्र भर्तृविज्ञानार्थं दूतीमुखेन व्यवहर्तव्यम्। न तु साक्षात्ताभिरस्वतन्त्रत्वात्। प्रकाशं तु नृत्यन्तीनां गायन्तीनां वाऽभिनयतालादिनिरूपणावसरे कीदृशमेतदित्यादिप्रश्नद्वारं संभाषणमनिषिद्धम्। प्रेष्या दास्यः सप्तभिर्दासयोनिभिरुपनताः। एकं भजन्ते एकभक्ता एकेनावरुद्धाः। तत्रान्योऽप्यस्ति दण्डलेशः। किं पुनरयं दासीशब्दः संबन्धिशब्दो य एव यस्याः स्वामी तस्यैव दासी उत सूपकारादिशब्दवत् कर्ममूलकः। इह तावदाद्या एव स्थितिः विशेषेणोपादानेऽसामर्थ्यात्। या यस्य दासी वेश्यावचान्यैः संसृज्यते। राजदासीव दासी वा सा निगृह्यते। सा चेन्नावरुद्धा न दोषः संग्रहणे। अवरुद्धायामनेन दण्ड उक्तः। रिक्थविभागे चैतन्निपुणं वक्ष्यामः। प्रव्रजिताः अरक्षकाः शीलमित्रादयः। ता हि कामुक इव लिङ्गप्रच्छन्नाः। मेधा.

(२) चारणात्मोपजीविस्त्रीभिः रहोऽप्रकाशं संभाषणं कुर्वन् किञ्चिदेव स्वल्पं दण्डं दापनीयः। दासीभिरवरुद्धाभिर्बौद्धाभिर्व्रतचारिणीभिश्च सह संभाषणं कुर्वन् काञ्चित् दण्डमात्रां दाप्यः स्यात्। * गोरा.

(३) किञ्चिद्दाप्यः शक्त्यनुरूपम्। मवि.

(४) प्रैष्यासु दासीषु, एकभक्तासु एकपुरुषमात्रावरुद्धासु, प्रव्रजितासु बौद्धादिब्रह्मचारिणीषु। किंचिन्मनुनैव दर्शितसुवर्णापेक्षया अल्पम्। विर. ३८७

(५) ताभिः सह व्यवहरन्नपि किंचिद्दाप्य इत्याह—किंचिदिति। स्त्रीपणं विना पुनः प्रसक्तिवारणाय। तासामपि परदारत्वात्। प्रेष्यासु दासीषु प्राकारावरुद्धासु। एकभक्तासु भुजिष्यासु। तदुक्तं याज्ञवल्क्येन—'अवरुद्धासु दासीषु भुजिष्यासु तथैव च। गम्यास्वपि पुमान् दाप्यः पञ्चाशत्पणिकं दमम्॥' इति। प्रव्रजितासु बौद्धादिव्रतब्रह्मचारिणीषु नित्यंव्रजनशीलासु कुलटासु वा। मच.

× ममुवद्भावः।

\+ एष अंश उपलब्धसर्वज्ञनारायणटीकायां नास्ति।

* अस्य श्लोकस्य नन्द.व्याख्यानं अशुद्धिसंदेहान्नोद्धृतम्।

(१) मस्मृ. ८।३६३; गोरा. त्संभाषां ताभिरा (द्रहः संभाषणं); अप. २।२८५ तु (हि) भाषां (भाषं) प्रै (प्रे) क्तासु (क्तास्तु); व्यक. १२५ भाषां (भाषं) प्रै (प्रे); विर. ३८७; विचि. १७३-४ तु (हि) प्रै (प्रे); दवि. १५८ (तु०) भाषां (भाषं); बाल. २।२८५; सेतु. २६५ विचिवत्; समु. १५४ प्रै (प्रे).

१ चलन्ता. २ गिकं.

परदाराभिमर्शदोषेषु दण्डः तत्प्रयोजनं च

**परदाराभिमर्शेषु प्रवृत्तान्नॄन्महीपतिः।**
**उद्वेजनकरैर्दण्डैः चिह्नयित्वा प्रवासयेत्॥**

* मवि., ममु., विर., विचि., भाच. गोरावद्भावः।

(१) मस्मृ. ८।३५२ चिह्न (छिन्न) [पूर्वार्धे (परदारोपसेवायां चेष्टमानान्नराधिपः), चिह्नयित्वा (परिचिह्नय) Noted by Jha]; अप. २।२८३ त्तान्नॄन् (त्तेषु);

(१) विवाहसंस्कृतायां स्त्रियां दारशब्दो वर्तते। आत्मनोऽन्यः परः, अभिमर्शः संभोग आलिङ्गनादारभ्य, आलिङ्गनं जनद्वयसमवायः भोगजन्यायाः प्रीतेः प्रवृत्तिः प्रारम्भस्तन्निर्वृत्त्यर्थं दूतीसंप्रेषणादिना प्रोत्साहनम्। अथ च संग्रहणमभिमर्शनं प्रचक्षते। अयमर्थः— परभार्यागमने प्रवृत्तं पुरुषं ज्ञात्वोद्वेजनकैस्तीक्ष्णाग्रैः शक्तिशूलादिभिरङ्कयित्वा नासाच्छेदादिभिर्विवासयेत्। सर्वत्रात्र विशेषदण्डस्योक्तत्वादस्य विषयभावो, न सामान्यदण्डोऽयं, किं तर्हि, पुनः पुनः प्रवृत्तौ। इदं तु युक्तम्। अलभ्यमानस्य विषयान्तरं प्रवासस्य धनदण्डस्य च कार्यभेदात्समुच्चयः। तथा दर्शयिष्यामः। मेधा.

(२) स्त्रीसंग्रहणमिदानीमाह—परदाराभिमर्शेष्विति। परदारसंभोगेषु बहुषु प्रवृत्तान् मनुष्यान् पीडाकरैर्दण्डैर्नासौष्ठकर्तनादिभिरङ्कयित्वा राजा देशान्निर्वासयेत्। + गोरा.

(३) दण्डैः शिश्नच्छेदादिभिः। मवि.

(४) त्रीन् ब्राह्मणेतरान्। उद्वेजनकरैः कर्णनासिकादिच्छेदरूपैः। विचि. १७४

(५) परदाराभिरतस्य स्वजातौ दण्डमाह षट्त्रिंशता श्लोकैः— परदारेति। नॄनिति विशेषणाद्देवतिर्यक्षु न दोषः। उद्वेगजनकैः नासौष्ठकर्तनादिभिः। सर्वत्र ब्राह्मणं तु विवासयेत्। मच.

**तत्समुत्थो हि लोकस्य जायते वर्णसंकरः।**
**येन मूलहरोऽधर्मः सर्वनाशाय कल्पते॥**

+ ममु. गोरावत्।

व्यक. १२५ चिह्न (चित्र); **विर.** ३८८ मर्शेषु (मर्षे तु) जनकरै (गजनकै); **रत्न.** १३१ पु प्रवृत्तान्नॄन् (तु प्रवृत्तं तु) बृहस्पतिः; **विचि.** १७४ पु (तु) त्तान्नॄन् (त्त्रीन्); व्यनि. ४००; **दवि.** १५९ मर्शेषु (मर्षे तु) त्तान्नॄन् (त्तांस्तान्); **स्मृचि.** २६ राभि (राप) प्रवासयेत् (विसर्जयेत्) शेषं विरवत्; **मच.** जनकरै (गजनकै); **व्यम.** १०७ रत्नवत्, बृहस्पतिः; **विता.** ८०५ पु प्रवृत्तान्नॄन् (तु प्रवर्तन्तं) उद्वे... ...चिह्न (उद्वेगजनकैश्चिह्नैरङ्क) बृहस्पतिः; **समु.** १५४ पु (तु); **विव्य.** ५४ विचिवत्.

(१) **मस्मृ.** ८।३५३ [लोकस्य जायते (जायते लोकानां)
१ नार. २ यमो.

(१) समुत्थानमुत्पत्तिः ततः परदारागमनात्, संकरोऽवान्तरवर्णरूपो जायते। येन जातेन अधर्मो— मूलमस्य लोकस्य दिवः पतिता वृष्टिस्तां— हरति। अधर्मः— धर्मे हि सति 'आदित्याज्जायते वृष्टिः', न च संकरे सत्यपि कारीरीयागो, नापि पात्रे दानं अतो दानयागहोमानां सस्योत्पत्तिहेतुभूतानामभावात्सर्वजगन्नाशसमर्थो भवति। तस्मात्पारदारिकान्— अधर्ममूलवर्णसंकरः स्यादिति, सस्यादिनिष्पत्तिमूलां वा वृष्टिं रक्षन्—प्रवासयेत्। मेधा.

(२) यस्मात्परदारसंगमनसमुद्भूतो लोकस्य वर्णसंकर उत्पद्यते येन वर्णसंकरेण यागाद्यधिकृतयजमानाभावात् 'अग्नौ प्रास्ते'त्येतदभावे सति वृष्ट्याख्यजगन्मूलविनाशोऽधर्मो मूलच्छेदेन विनाशाय संपद्यते। ×गोरा.

(३) ननु तद्द्रव्यस्य तथैव स्थाने किमिति दण्डनीयं तत्राह— तदिति। वर्णसंकरो शूद्रादिमिश्रणम्। संकरोऽपि किं स्यात्तत्राह— येनेति। 'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥' इति प्रजोत्पत्तिहेतुराहुतिः। सा च संकरजेन हुता न फलतीति मूलहरोऽधर्मः। मूलं ब्राह्मण्यादि वा। मच.

(४) दण्डप्रकर्षे हेतुमाह— तत्समुत्थो हीति। तत्समुत्थः परदाराभिमर्शनसंभूतः, येन वर्णसंकरेण, अधर्म इति पदं, मूलं हरेद्धर्मस्य मूलहरः। नन्द.

(५) तत्समुत्थः असत्स्त्रीपुरुषसंयोगात् समुत्थः। वर्णसंकरः येन वर्णसंकरेण मूलं धर्मः तस्य हरः अधर्मः सर्वनाशाय कल्पते। भाच.

वर्णभेदेन परदाराभिमर्शेषु दण्डविधिः। तत्र अब्राह्मणस्यैव शारीरदण्डः, ब्राह्मणस्य तु मौण्ड्यप्रवसनादिः।

**अब्राह्मणः संग्रहणे प्राणान्तं दण्डमर्हति।**
**चतुर्णामपि वर्णानां दारा रक्ष्यतमाः स्मृताः॥**

× ममु. गोरावत्।

Noted by Jha]; **अप.** २।२८३; **व्यक.** १२५; **विर.** ३८८; **दवि.** १५९ लोकस्य (नो कस्य); **स्मृचि.** २६.

(१) **मस्मृ.** ८।३५९ स्मृताः (सदा); **मेधा.** ८।३७९ चतुर्णामपि (सर्वेषामेव) स्मृताः (सदा) उत्त.; **अप.**

(१) उक्तं संग्रहणस्वरूपम्। दण्ड इदानीमत्रोच्यते। अब्राह्मणः क्षत्रियादिः, संग्रहणे कृते, चतुर्णामपि वर्णानां हीनोत्तमजातिभेदमनपेक्ष्य, प्राणान्तं प्राणत्याजने मारणे पर्यवसितं, दण्डमर्हति। कथं पुनर्ब्राह्मण्यां शूद्रायां च संगृहीतस्य समो दण्डः। अत्र हेतुस्वरूपमर्थमाह। दारा रक्ष्यतमाः सदा। सर्वस्य कस्यचिद्दाशा दारा धनशरीरेभ्योऽतिशयेन रक्ष्याः। तुल्यश्च संकरे शूद्रस्यापि कुलनाशः। एतदुक्तं भवति। वाचनिकोऽयमर्थोऽत्र हेतुर्वक्तव्यः। उक्तोऽसौ। अत्र पूर्वे व्याचख्युः, न सर्वस्मिन् संग्रहणे प्रागुक्तदण्डोऽयम्। किं तर्हि, मुख्ये स्पर्शविशेषजन्यप्रीतिविशेषात्मके गमने। कथं हि तीर्थादिष्वभिवदनं गमनं च समदण्डावुपपद्येयाताम्। तस्मादब्राह्मणः शूद्रो द्विजातिस्त्रीगमने प्राणच्छेदार्हो नान्यः। न हि विषमसमीकरणं न्याय्यमतश्च प्रागुक्तेपु संग्रहणेष्वनुबन्धाद्यपेक्षया दण्डः कल्प्यः। यत्रैवं निश्चितं, गमनार्थ एवायमुपकारक्रियादिरुपक्रमस्तत्र मुख्यदण्ड एव युक्तो न ह्यत्र वैषम्यमस्ति। दृष्टं चैतदप्यहत्वाऽपीति (?)। यच्चेदमुक्तं, यद्यत्रायं दण्डो, मुख्ये संग्रहणे किं करिष्यतीति। नैवान्यन्मुख्यसंग्रहणमस्ति। न ह्यस्य लौकिकः पदार्थोऽवधृतो येन परस्य दारोपचारादौ प्रयुक्त इत्येवमस्यैव, यं च भवान् मुख्यं संग्रहणं मन्यते तत्र महान्दण्डः। प्रतिषिद्धं परस्त्रीगमनं शास्त्रपर्यनुयोज्यमिति चेत् उपकारादावपि प्रतिषेधं विद्धि। प्रतिषेधवद्धि प्रायश्चित्तमपि तुल्यप्रसक्तमिति चेत्का नामेयमनिष्टापत्तिः। किन्तु प्रसज्येत यदा संग्रहणशब्देन तदुच्येत, सिक्ते हि रेतसि तच्छब्देनाभिधानं, यत्र यादृशो दण्डस्तत्र तत्समानं दुःखं प्राप्तम्। अतोऽस्मिन्विपर्यये रेतःसेकनिमित्तं तच्छब्देनाभिधानात् उपकारादौ कल्प्यम्। यदि च संलापादौ स्वल्पो दण्डः स्यात्तदा प्रवर्तेरन्। ततश्च परस्त्रीसंलापादिभिः व्यादीपितमन्मथाः स्मरशराकृष्यमाणाः शरीरनिरपेक्षा राजनिग्रहं न गणयेयुः। आद्यायामेव तु प्रवृत्तौ निगृह्यमाणेष्वप्रबन्धवृत्तौ रागे शक्यं निराकरणं, तस्मात्परस्त्रीमुपजपतामेव महादण्डो युक्तः। इह त्वन्तग्रहणादादिभूतेनान्येन दण्डेन भवितव्यम्। न ह्यसत्यादावन्तो भवति। प्राणोऽन्तो यस्य प्राणान्तस्तावत्पातयितव्यो यावत् प्राणेषु पतति। तेन सर्वस्वग्रहणाङ्गच्छेदाद्यप्युक्तं भवति। एकैकस्य च दण्डत्वमन्यत्र ज्ञातं समुदाये दण्ड्यते। इति बहुदण्डेष्वाम्नातेषु स महान् यो द्विजातीयस्त्रीसंग्रहणेऽब्राह्मणस्य, इति युक्तैव कल्पना। न सर्वत्र। तत्र कुलस्त्रीभिरनिच्छन्तीभिः भर्तृमतीभिः संगृह्यमाणस्य प्राणापहरणं हीनजातीयाभिरपि। मेधा.

(२) दण्डभूयस्त्वादब्राह्मणः शूद्रो ब्राह्मण्यामनिच्छन्त्यां संग्रहणे प्राणान्तं दण्डमर्हति। चतुर्णामपि वर्णानां धनपुत्रादीनां मध्यात् दारा अतिशयेन रक्षणीयाः। अत उत्कृष्टसंग्रहणादपि वर्णैः भार्या संरक्षणीया। *गोरा.

(३) अब्राह्मणः संग्रहण इत्यत्र ब्राह्मण्या इति शेषः। व्यक. १२५

(४) संग्रहणे परदारमैथुने न तु संभाषादौ। ब्राह्मणस्य तु दण्डनमेवेत्यर्थः। मवि.

(५) अब्राह्मणः संग्रहणे प्रातिलोम्येनेति शेषः। +विर. ३८८

(६) अत्र प्रतिभाति एतद्वाक्यद्वयं ['परदाराभिमर्शे' 'तत्समुत्थो'; 'अब्राह्मणः संग्रहणे'] यद्यप्यभिगमविषयमित्युचितं पूर्वत्र स्वदारनियम इति लिङ्गात्, उत्तरत्र परदाराभिमर्शे त्विति सामान्याभिधानस्वरसात् तत्समुत्थो हीत्यादिहेतुमन्निगदसंबन्धाच्च। उभयत्र दण्डगौरवाच्च संग्रहणे परदारमैथुने न तु संभाषादाविति सर्वज्ञीयव्याख्यानदर्शनाच्च। तथापि 'पूर्वसंनिपाते शिश्नस्य छेदनं सवृषणस्य' इत्यापस्तम्बसंवादादङ्गपदस्यापि शिश्नपरत्वे संभाविते येन येनेति वीप्सानुपपत्तेर्बाधकत्वादङ्गेन हस्तादिनेति रत्नाकरदर्शनाच्च। उत्तरत्र संग्रहणस्य साक्षा-

२।२८५ मस्मृवत्, उत्त.; व्यक. १२५; विर. ३८८; रत्न. १३१ पू., बृहस्पतिः; विचि. १७४ पू.; व्यनि. ४००; स्मृचि. २६; दवि. १६० दण्ड (वध) वर्णानां (चैतेषां): २३६ चतुर्णामपि (सर्वेषामेव) उत्त.; व्यम. १०७ दण्ड (वध) पू., बृहस्पतिः; विता. ८०५ पू., बृहस्पतिः; सेतु. २६३ पू.; समु. १५४.

१ वे ज. २ दरस्वनुकारादौ. ३ दुच्यते सि. ४ गन्धेनाद्यभि.

* ममु., मच. गोरावत्। + विचि. विरवत्।

१ पादिभूतेनान्येनाभिवसता व्या.

देवाभिधानात् दण्डगौरवे व्यवस्थाया वक्ष्यमाणत्वात् ।

दारा रक्ष्यतमा इत्युपसंहारस्यातिप्रसङ्गवारणपरतयाऽप्युपपत्तेरुभयोरपि वाक्ययोः सर्वेषु पूर्वनिबन्धेषु संग्रहप्रकरणे अवतारणाच्च संग्रहविषयत्वं निश्चितम् । किन्तु हस्तादिच्छेद--सहस्रदण्ड--प्रवासन--वधानामतुल्यरूपाणां संग्राह्यस्त्रीप्रातिलोम्यमात्रेण समञ्जयितुमशक्यत्वादियमत्र व्यवस्था । ब्राह्मणस्य संग्रहणस्य गौरवे तदभ्यासे च सचिह्नप्रवासनमन्यत्र सहस्रपणात्मको दण्डः । अब्राह्मणस्य तु प्रतिलोमोत्तमसंग्रहे तदभ्यासे च वधः । अन्यत्र धनिकस्य सहस्रदण्डो निर्धनस्य हस्तच्छेद इति । ×दवि. १६०–६१

**सहस्रं ब्राह्मणो दण्ड्यो गुप्तां विप्रां बलाद्व्रजन् ।**
**शतानि पञ्च दण्ड्यः स्यादिच्छन्त्या सह संगतः÷॥**

(१) गुप्ता भ्रष्टशीलाऽपि यदि केनचिद्रक्ष्यते पित्रा भ्रात्रा बन्धुभिर्वा तां हठाद्गच्छन् सहस्रं ब्राह्मणो दाप्यः । गुप्ता शीलवती चेत्प्रवासनाङ्कने चाधिके । अथापि शीलवत्यपि गुप्तशब्देनोच्येत[1] । तथापि सहस्रमात्राद् ब्राह्मणो न[2] मुच्येत[3] । अङ्कनप्रवासने सर्वत्र मुखीक्रियेते परदाराभिमर्शे । मेधा.

(२) ब्राह्मणो रक्षितां ब्राह्मणीं हठात् गच्छन् सहस्रं दण्ड्यः । इच्छन्त्या तु पुनः सह मैथुने पञ्चशतानि दण्डनीयः । *गोरा.

(३) गुप्तां स्वनियमेन रक्षिताम् । स्मृच. ३२०

यत्तु मनुना सानुरागया ब्राह्मण्या सह संगतस्य मध्यमसाहसमुक्तं 'शतानी'ति तदरक्षितचरितशालिनीविषयम् । स्मृच. ३२१

**मौण्ड्यं प्राणान्तिको दण्डो ब्राह्मणस्य विधीयते ।**
**इतरेषां तु वर्णानां दण्डः प्राणान्तिको भवेत् ॥**

(१) यत्र क्षत्रियादीनां वध उक्तस्तत्र ब्राह्मणस्य मौण्ड्यं, यथा–'अब्राह्मणः संग्रहणात् प्राणान्तं दण्डमर्हति' तथा तु 'पुमांसं दाहयेदि'ति । प्राणानामन्तं गच्छति प्राणान्तं वा करोति प्राणान्तकः । 'अन्येष्वपि दृश्यते' (व्यासू. ३।२।१०१) इति दण्डः । अन्ये तु प्राणान्तिक इति पाठान्तरं, प्राणान्ते भवः प्राणान्तिकः अध्यात्मादित्वाट्ठञ्, इतरेषां ब्राह्मणादन्येषां क्षत्रियादीनां वर्णानां प्राणान्तिक एव, श्रुतं मारणादि पूर्वमेव, तदनन्तरमिदमुच्यते, उच्यमानं मौण्ड्यं, तच्छेषतया सहस्रं दण्डो विधीयत इति मन्यन्ते । अन्यथा ब्राह्मणस्य प्राणान्तदण्डविधानात् कः प्रसङ्गो ब्राह्मणस्य येनैवमुच्यते 'मौण्ड्यं प्राणान्तिक' इति, 'पुमांसं दाहयेदि' ति सामान्यविधानप्रसक्तमिति चेत्तत्रैव कर्तव्यं स्यात्तथा हि स्फुटं तद्विषयत्वं प्रतीयते । मेधा.

(२) ब्राह्मणस्य वधदण्डस्थाने शिरोमुण्डनं शास्त्रेणोपदिश्यते । क्षत्रियादीनां पुनरुक्तेषु वधदण्डो भवति । *गोरा.

(३) उत्तमसाहस इति शेषः । स्मृच. १२५

**न जातु ब्राह्मणं हन्यात्सर्वपापेष्वपि स्थितम् ।**
**राष्ट्रादेनं बहिः कुर्यात् समग्रधनमक्षतम् ॥**

---

× व्यक., मवि., ममु. व्याख्यानानि च समुद्धृतानि ।

÷ मिताक्षराव्याख्यानं 'सजातावुत्तमो दण्ड' इति याज्ञवल्क्यवचने द्रष्टव्यम् । * ममु., मच. गोरावत् ।

(१) **मस्मृ.** ८।३७८; **मिता.** २।८१ पू., स्मरणम् : २।२८६; **स्मृच.** ३२० गुप्तां विप्रां (विप्रां गुप्तां) पू. : ३२१ उत्त.; **विर.** ३९३; **पमा.** ४६४; **विचि.** १८०; **व्यनि.** ४०१ गुप्तां विप्रां (विप्रां गुप्तां); **दवि.** १६७; **सवि.** ४५१ (=) पू. : ४६९; **वीमि.** २।२८६; **व्यप्र.** ३९८ स्मृचवत्, पू. : ३९९; **व्यउ.** १३४ स्मृचवत्, पू. : १३६ पञ्च दण्ड्यः (पञ्च दण्डः) गतः (गते) उत्त.; **व्यम.** १०५ स्मृचवत्, पू. : १०६ उत्त.; **विता.** १८७ व्रजन् (भजन्) पू., स्मृतिः : ८०२; **बाल.** २।८६ पू., स्मृतिः : २।२८६ 'व्रजेत्' इति पाठः; **सेतु.** २७० संगतः (संगगः); **समु.** १५४ स्मृचवत्; **विव्य.** ५५ क्रमेण बृहस्पतिः.

[1] नोच्यते । [2] (न०). [3] मुच्यते ।

* मवि., ममु., विर., विचि., मच., नन्द. गोरावत् ।

(१) **मस्मृ.** ८।३७९ ख., दण्डः प्राणान्तिको (दण्डः प्राणान्तको); **अप.** २।८३; **स्मृच.** १२५; **विर.** ३९३; **पमा.** २०९; **विचि.** १८०; **व्यनि.** ४०१; **दवि.** १६३ न्तिको दण्डो (न्तिके दण्डे); **व्यप्र.** १०५ (=) पूर्वार्धे (ब्राह्मणस्य वधस्थाने मौण्ड्यं [दण्डो] विधीयते); **सवि.** ४९५ प्राणान्तिको (प्राणान्तको); **व्यप्र.** १३९; **विता.** ८८; **बाल.** २।२६; **सेतु.** २७०; **प्रका.** ७८; **समु.** ६८; **विव्य.** ५५ पू., क्रमेण बृहस्पतिः.

**न ब्राह्मणवधाद्भूयानधर्मो विद्यते भुवि ।**
**तस्मादस्य वधं राजा मनसाऽपि न चिन्तयेत्÷॥**

सर्वपापकारिणमपि ब्राह्मणं कदाचिदपि न हन्यात् । अपि सर्वधनसंयुक्तमक्षतशरीरं राष्ट्रान्निर्वासयेत् । ब्राह्मणवधादपि अधिकोऽन्यः पृथिव्यामधर्मो नास्ति । ब्राह्मणं सर्वपापकारिणमपि राजा मनसाऽपि न हन्यात् । +गोरा.

[१]**वैश्यश्चेत्क्षत्रियां गुप्तां वैश्यां वा क्षत्रियो व्रजेत् ।**
**यो ब्राह्मण्यामगुप्तायां तावुभौ दण्डमर्हतः×॥**

(१) अगुप्तायां ब्राह्मण्यां गमने 'वैश्यं पञ्चशतं कुर्यात् क्षत्रियं तु सहस्रिणमि'ति। तत्र वैश्यस्य पञ्चशतः, य एव परिपालयति स एव चेन्नाशयति युक्तं तस्य दण्डमहत्त्वम् । मेधा.

(२) वैश्यो यदि रक्षितायां क्षत्रियायां गच्छेत् क्षत्रियो वा वैश्यां तदा यो ब्राह्मण्यामरक्षितायां गमने क्षत्रियवैश्ययोः दण्डो 'वैश्यं पञ्चशतं कुर्यात् क्षत्रियं तु सहस्रिणम्' इति तं दण्डं तौ क्षत्रियवैश्यौ चार्हतः । अतश्च वैश्यस्य क्षत्रियागमने पञ्चशतानि क्षत्रियस्य वैश्याधिगमने रक्षाधिकृतत्वादधिकगुणत्वात् दण्डसहस्रमिति । *गोरा.

(३) 'वैश्यं पञ्चशतं कुर्यात् क्षत्रियं तु सहस्रिणम्' इति उक्तं दण्डमर्हत इत्यर्थः । प्रातिलोम्येऽप्यल्पदण्डार्हत्वाय अत्यन्तनिर्गुणपतिपत्नीविषय एव वैश्यदण्डोऽयं द्रष्टव्यः । आनुलोम्येऽपि गुरुदण्डार्हत्वायात्यन्तसगुणपतिपत्नीविषय एवायं क्षत्रियदण्डो द्रष्टव्यः । एवञ्च पारिशेष्यात् 'वैश्यः सर्वस्वदण्डः स्यात्' इत्यनेनोक्तो गुरुदण्डः स्वजातावेवात्यन्तसगुणपतिपत्नीविषय एवावतिष्ठते इत्यवगन्तव्यम् । स्मृच. ३२२

(४) अयं च वैश्यस्य रक्षितक्षत्रियागमने पञ्चशतरूपो दण्डो लघुत्वाद्गुणवद्वैश्यस्य निर्गुणजातिमात्रोपजीविक्षत्रियायाः शूद्राभ्रान्त्यादिगमनविषयो बोद्धव्यः । क्षत्रियस्य रक्षितवैश्यायां ज्ञानतो युक्तः सहस्रं दण्डः । +ममु.

(५) दण्डमर्हतः इत्यत्र दण्डो मध्यमसाहसः । विर. ३९३

**क्षत्रियां चैव वैश्यां च गुप्तां तु ब्राह्मणो व्रजन् ।**
**न मूत्रमुण्डः कर्तव्यो दाप्यस्तूत्तमसाहसम् ॥**

न मूत्रमुण्ड इति । मौण्ड्यमत्र विधेयं तद्विधौ च क्षत्रियवन्मूत्रेण तन्मा भूदित्येतदर्थं मूत्ररूपविशेषणनिषेधः । तथा च मूत्रार्द्रशिरस्त्वस्य विशेषणमात्रस्य निषेधो मुण्डना तु कर्तव्यैव । मवि.

[२]**सहस्रं ब्राह्मणो दण्डं दाप्यो गुप्ते तु ते व्रजन् ।**
**शूद्रायां क्षत्रियविशोः साहस्रो वै भवेद्दमः *॥**

(१) गुप्ते क्षत्रियावैश्ये गच्छन् ब्राह्मणः सहस्रं दण्ड्यः । प्रवासनाङ्कने स्थिते एव । शूद्रायां गमने क्षत्रियवैश्ययोः साहस्रो दण्डः । सहस्रमेव साहस्रं

---

÷ श्लोकद्वयस्य स्थलादिनिर्देशः व्याख्यानान्तराणि च दण्डमातृकायां ( पृ. ५७९ ) द्रष्टव्यानि ।

+ ममु., मच., नन्द., भाच. गोरावत् ।

× मिताक्षराव्याख्यानं 'सजातावुत्तमो दण्ड' इति याज्ञवल्क्यवचने द्रष्टव्यम् ।

* मवि., पमा., व्यप्र., भाच. गोरावत् ।

(१) मस्मृ. ८।३८२; मिता. २।२८६; अप. २।२८६; स्मृच. ३२२ व्रजेत् (व्रजन्); विर. ३९३ व्रजेत् ( व्रजन् ) तावुभौ ( तत्समं ); पमा. ४६७; विचि. १८१; दवि. १६७ तावुभौ ( तत्समं ); सवि. ४७१; वीमि. २।२८६; व्यप्र. ४००; व्यउ. १३६ यो ब्राह्मण्याम ( ब्राह्मण्यां यः ); व्यम. १०६; विता. ८०५; बाल. २।२८६; सेतु. २७१ दविवत्; समु. १५५ स्मृचवत्; विव्य. ५५.

+ यथाश्रुतव्याख्या गोरावत् । विचि., मच. ममुवत् ।

* मिताक्षराव्याख्यानं 'सजातावुत्तमो दण्ड' इति याज्ञवल्क्यवचने द्रष्टव्यम् ।

(१) मस्मृ. ८।३८२ इत्यस्योपरिष्टात्प्रक्षिप्तश्लोकोऽयम् ।

(२) मस्मृ. ८।३८३; मिता. २।२८६ साहस्रो वै ( सहस्रं तु ); अप. २।२८६; स्मृच. ३२१ पू. [ म्हैसूरमुद्रितस्मृतिचन्द्रिकायां ( पृ. ७४६ ) 'दण्डोऽगुप्ते' इति पाठः ]; विर. ३९३; पमा. ४६४ मितावत्; दीक. ५५; विचि. १८१; दवि. १६७ सहस्रं ( साहस्रं ) साहस्रो ( साहस्रो ); सवि. ४६९ मितावत्; वीमि. २।२८६ दण्डं...ते ( दाप्यो गृहं गुप्तं ततो ) द्रायां ( द्राणां ) हस्रो ( हस्रं ); व्यप्र. ३९९ मितावत्; व्यम. १०६ पू.; विता. ८०२ मितावत्, उत्त.; सेतु. २७१ हस्रो ( हस्रं ) उत्त.; समु. १५४ मितावत्.

स्वार्थिकोऽण् । सहस्रं वा अस्यास्ति साहस्रो दण्डोऽन्यपदार्थः । मत्वर्थीयोऽण् ।　　मेधा.

(२) क्षत्रियावैश्ये रक्षिते ब्राह्मणो गच्छन् सहस्रं दण्ड्यः । क्षत्रियवैश्यौ रक्षितां शूद्रां गच्छतोः सहस्रपरिमाणो दण्डः स्यात् ।　　×गोरा.

(३) यत्तु ब्राह्मणस्य शूद्रेतरानुलोम्ये, तेनोक्तम्— 'सहस्रं ब्राह्मणो दण्डं दाप्यो गुप्ते तु ते व्रजन्' इति । ते क्षत्रियावैश्ये । अत्र गुप्ते मानसव्यभिचारानवकाशाय गृहव्यापारासक्तचित्ततया सुरक्षिते विवक्षिते । न तु स्वगृहेऽवरुद्धे गुरुतरदण्डत्वात् ।　　स्मृच. ३२१

(४) तत्रापि पूर्वे क्षत्रियभुक्तायां वैश्यस्य गमने साहस्रः सहस्रपणनियतः ।　　+मच.

**क्षत्रियायामगुप्तायां वैश्ये पञ्चशतो दमः ।**
**मूत्रेण मौण्ड्यमिच्छेत्तु क्षत्रियो दण्डमेव वा ॥**

(१) वैश्यस्य पञ्चशतानि दण्डः । अगुप्तां च क्षत्रियां गच्छतः क्षत्रियस्य स एव, यदि वा मौण्ड्यं मुण्डनमृच्छेत्प्राप्नुयाद्गर्दभमूत्रेण, एष एव वैश्यागमन उभयोर्दण्डः ।　　*मेधा.

(२) अरक्षितक्षत्रियागमने वैश्यस्य पञ्चशतानि दण्डः स्यात् । क्षत्रियस्य त्वरक्षितागमने गर्दभमूत्रेण मुण्डनं पञ्चशतरूपं वा दण्डमाप्नुयात् ।　　÷ममु.

(३) (वैश्ये) व्रजति, इति विपरिणामः ।　　नन्द.

**अगुप्ते क्षत्रियावैश्ये शूद्रां वा ब्राह्मणो व्रजन् ।**
**शतानि पञ्च दण्ड्यः स्यात्सहस्रं त्वन्त्यजस्त्रियम् ॥**

(१) ब्राह्मणस्य क्षत्रियाद्यगुप्तास्त्रीगमन उभयोर्दण्डः । अन्त्यजश्चण्डालश्वपचादिस्तत्र सहस्रम् । तत्रायं सहस्रपणदण्डसंग्रहः ब्राह्मणस्य । चतुर्ष्वपि वर्णेषु गुप्तागमने सहस्रं, श्रोत्रियदारेषु प्रवासनाङ्कने, अन्यत्र प्रवासनमेव, श्रोत्रियदारेषु प्रायश्चित्तमहत्त्वादेव कल्प्यते । अगुप्तागमने पञ्चशतानि प्रवासनाङ्कने च । यद्यप्यगुप्तापरदाराव्यपदेश्या भवति विवाहसंस्कारे सति तथापि स्वैरिणी भर्तृस्वतामतिक्रान्ता, अब्राह्मणस्य प्राणान्तो गुप्तागमने दण्डो बलात्, सकामागमने साहस्रो दण्डः प्रवासनाङ्कने च, अगुप्तागमने 'वैश्यं पञ्चशतं कुर्यात् क्षत्रियं तु सहस्रिणमि'ति ।　　मेधा.

(२) वैश्यां क्षत्रियां शूद्रां रक्षितां ब्राह्मणो व्रजन् पञ्चशतानि दण्ड्यः स्यात् । चण्डालादिस्त्रियं गच्छन् पुनः सहस्रं दण्ड्यः ।　　×गोरा.

(३) अन्त्यजातयः रजकचर्मकृन्नटबुरुडकैवर्तमेदभिल्लाः स्मृत्यन्तरोक्ताः । एवं स्त्रीसंग्रहणान्तं समर्थितं उत्तरे चाध्याये शेषं वाच्यम् ।　　मवि.

(४) क्षत्रियावैश्ये इति द्वितीयाद्विवचनं, अन्त्यजस्त्री रजकादिस्त्री । एवञ्चान्त्यागमने वधोक्तिर्ब्राह्मणव्यतिरिक्तविषया ।　　विर. ३९४

(५) शूद्रां गुप्तामगुप्तां वेति नारायणः । अत्र शूद्रामित्यत्र 'हीनायामर्धिक' इति बृहस्पतिवाक्ये हीनायामित्यत्र चान्यपूर्वा शूद्रा विवक्षिता, अनन्यपूर्वायां निर्वासनस्मरणात् । तथा चापस्तम्बः— 'नाश्य आर्यः शूद्रायाम्' तद्ब्राह्मणपरिणीतानन्यपूर्वाशूद्राविषयम् । आर्यो ब्राह्मणादिर्नाश्यो निर्वास्यः । अत एवात्र शूद्रायामनन्यपूर्वायामिति कल्पतरुकृता व्याख्यातम् । यत्तु

---

× ममु., भाच., नन्द. गोरावत् । + शेषं गोरावत् ।
* अस्मिन् श्लोके गोविन्दराजीया नोपलभ्यते ।
÷ विर., दवि., मच., भाच. ममुवत् ।

(१) **मस्मृ.** ८।३८४ शतो (शतं); **मेधा.** शतो (शतं) मिच्छे (मृच्छे); **विर.** ३९६ लक्ष्मीधरेण तु दण्डमेवेत्यस्य स्थाने मौण्ड्यमेवेति पठितम् ; **विचि.** १८१ वैश्ये (वैश्यस्य); **दवि.** १७० मिच्छे (मृच्छे) वा (च); **बाल.** २।२८६; **सेतु.** २६९ मिच्छे (मृच्छे); **समु.** १५४ सेतुवत्; **भाच.** सेतुवत्.

(२) **मस्मृ.** ८।३८५ [पूर्वार्धे (विप्रः क्षत्रियविट्शूद्रस्त्रीरगुप्ताः परिव्रजन्) Noted by Jha]; **अप.** २।२८६ क्षत्रियावैश्ये (वैश्यराजन्ये) दण्ड्यः (दाप्यः); **स्मृच.** ३२१

१ दण्डोऽस्ति. २ त्र पदा. ३ ति क्ष.

---

× ममु. गोरावत् ।

क्षत्रियावैश्ये (वैश्यराजन्ये) जास्त्रियम् (जः स्मृतः); **विर.** ३९४; **पमा.** ४७१ चतुर्थः पादः; **दीक.** ५५ त्सहस्रं (त्साहस्रं); **विचि.** १७८ अगु...श्ये (अगुप्तां क्षत्रियां वैश्यां) स्रं त्व (स्रम) : १८१-२; **व्यनि.** ४०१ क्षत्रियावैश्ये (वैश्यराजन्ये) वा (च.); **दवि.** १७१; **वीमि.** २।२९४; **व्यप्र.** ४०४ चतुर्थः पादः; **व्यम.** १०६ क्षत्रियावैश्ये (वैश्यराजन्ये); **विता.** ८०२ व्यमवत् : ८१२ चतुर्थः पादः; **बाल.** २।२८६; **समु.** १५४ व्यमवत्.

१ गुप्ता.

शूद्राव्यतिरिक्तहीनाविषयं बृहस्पतिवचनमिति केनचिदित्युक्तं, तन्न, दण्डविसंवादात् निर्वासनापेक्षया मध्यमदण्डस्य लघुत्वात्। दवि. १७१

(६) अगुप्तासिस्त्र्ष्वपि ब्राह्मणं प्रति दण्डमाह— अगुप्त इति। अन्त्यजस्त्रियं चण्डालादिजातिमिति अन्त्यजगुप्तागुप्तसाधारणविषयं, चतुर्णां संनिधेः प्रकरणस्य बलीयस्त्वात्। मच.

(७) शूद्रां च, अगुप्तामिति विपरिणामः। नन्द.

**[1]संवत्सराभिशस्तस्य दुष्टस्य द्विगुणो दमः।**
**व्रात्यया सह संवासे चाण्डाल्या तावदेव तु॥**

(१) अभिशस्तस्तत्पापकारीत्याभिशब्दितः। यो यस्यां स्त्रियां संगृहीतः सोऽभिशस्तो दण्डितः। स चेत्संवत्सरं प्रतिपाल्य अतीते संवत्सरे पुनस्तस्यामेव संगृह्यते तदा तस्यैकं वारमभिशस्तस्य संवत्सरे गते पुनर्दुष्टस्य द्विगुणो दण्डः। संवत्सराभिशस्तस्येति समासपाठे कथञ्चिद्योजना। व्रात्यया सह संवासे तावदेव, किं यावदेव पुनर्दुष्टस्य, नेति ब्रूमः, तत्राप्युत्तमाधममध्यमानामनेकविधो दण्डः। तत्र कोऽसाविह ? द्विगुण इति न ज्ञायते। किं तर्हि ? चाण्डाल्या संवासे यावदेव तावदेव व्रात्ययेति। 'सहस्रं त्वन्त्यजस्त्रियमि'ति। व्रातः पूगः संघः तेन चरति पुंश्चली, कर्तव्यं, अथवा व्रातमर्हति व्रात्येत्यस्तु यकारो दण्डादिः। का च व्रातमर्हति ? याऽनेकपुरुषोपभोग्या पुंश्चली सा हि पुरुषव्रातमर्हति। अथवाऽनेकपुरुषस्वामिका ग्रामस्य दास्यश्च व्रात्याः। ये तूद्वाहहीनां व्रात्यां मन्यन्ते, तेषां मते न मुख्यः शब्दार्थः। अयं हि व्रात्यशब्दः स्मृतिकारैः सावित्रीपतितेषु प्रयुक्तः, न च स्त्रीणां तत्संभवः। अथ स्त्रीणां विवाहश्च तदापत्तिवचनादुपनयनं, तद्धीनपुरुषवद्व्रात्या, गौणस्तर्हि न मुख्यः। यदि नामोपनयनशब्दोऽनुपनयने विवाहे प्रयुक्तः तथाप्युपनयनहीनो व्रात्य इत्युक्ते न विवाहहीन इति प्रतीयते। यथाऽसिंहोऽयं देश इत्युक्ते न सिंहशब्दस्य माणवके प्रयुक्तस्यापि देशस्यामाणवकत्वं प्रतीयते। अस्ति तत्र मुख्ये, इहासंभव इति चेन्नासंभवमात्रनिबन्धना गौणी प्रतीतिः। किं तर्हि ? संबन्धमपरमपेक्ष्य भवेदुपनयनशब्दो विवाहे गौणः। व्रात्यशब्दस्तु गौण इति को हेतुः। गौणत्वेऽपि विवाहाभावनिबन्धन इति दुरुपपादम्। व्रात्यजाऽपि काकाज्जातः काकः श्येनाज्जातः श्येन इति व्रात्येति शङ्क्यते। बहुसंबन्धप्रत्यासत्त्या हि तत्र रूपातिदेशप्रतिपत्तिः। व्रात्यभार्या तु सत्यपि संबन्धे न व्रात्यशब्देन शक्याभिधातुं, सोऽयमित्यभिसंबन्धे हि पुंयोगादाख्यायामिति तथा भवितव्यं, तावतश्चायं भेदविवक्षायां तद्धितेनेति। तस्माद्यदि गौणो व्रात्यशब्दो ग्रहीतव्यस्तज्जाताः प्रत्येयाः। अथ शब्दार्थे, व्रातमर्हतीति। विवाहभ्रष्टा तु न मुख्या न गौणीति। न च विवाहकालः स्त्रीणां नियतो यत्कालाद्भ्रष्टा व्रात्याः स्युः, यदपि प्रागृतोर्विवाह्याः तदपि स्वयंवरश्च ऋतुमत्याः, विना तत् परेणाभ्यनुज्ञातमेव काममामरणं तिष्ठेद्गृहे कन्या इति। मेधा.

(२) परस्त्रीगमनदोषेण पुंसो दण्डितस्य पुनः संवत्सरेऽतीते तस्यामेवाभिशस्तस्य तस्य यथोपदेशस्य द्विगुणो दण्डः कर्तव्यः व्रात्यागमने दण्डः कल्पते। इह चाण्डाल्या सह निर्देशात् 'सहस्रं त्वन्त्यजस्त्रियं' इति चण्डालीगमनतुल्य एव, स पुनः संवत्सरेऽतीते तामेव व्रात्यां गच्छतो द्विगुणो दण्डः कार्य इति। चण्डालीगमने दण्डः 'सहस्रं त्वन्त्यजस्त्रियमि' ति चण्डालीं संवत्सरेऽतीते तामेव चण्डालीं पुनर्गच्छति तदा द्विगुणः कर्तव्यः। ×गोरा.

(३) वस्तुतो दुष्टस्य लोकैरभिशस्तस्य संवत्सरपर्यन्तं तच्छोधनमकुर्वतस्तद्दोषार्हदण्डाद्द्विगुणो दमः। व्रात्यया योषिदुपनयनस्थानीयविवाहकालेऽपरिणीतया कन्यया प्रवृत्तरजसा सकृत्संयोगे तेन व्रात्यया सकृत्संबन्धमात्रेण तज्जातीयगमनदण्डाद्द्विगुणो दण्ड इत्यपेक्षितम्। न तु संवत्सराभिशस्तस्येत्यत्राप्यन्वयः। प्रायश्चित्तं तु पृथगेवाचरणीयम्। एवं चाण्डाल्यापि संवासे तावदेवेति यावान् व्रात्यया सह संवासे सर्वातिशयितो द्विगुणीभूतो दण्डस्तावानेव दण्डः। प्रायश्चित्तं त्वन्यदेवेत्यर्थः। *मवि.

(१) मस्मृ. ८।३७३; मेधा. राभि (रेऽभि); विर. ३९४; विचि. १७८ तावदेव (वा स एव); व्यनि. ४०१; दवि. १६१ : १७८ उत्त.; सम्मु. १५४ चाण्डा (चण्डा).

१ चरितं पुं. २ (वा०).

× मच. गोरावत्। * भाच. मविवत्।

१ त एव. २ (इति०).

(४) परस्त्रीगमनेन दुष्टस्य पुंसो दण्डितस्य च संवत्सरातिक्रमेणाभिशस्तस्य पूर्वदण्डाद्द्विगुणो दमः कार्यः। तथा व्रात्यजायागमने यो दण्डः परिकल्पितः चाण्डाल्या सह निर्देशाच्चाण्डालीगमनरूपः, तथा चाण्डालीगमने यो दण्डः 'सहस्रं त्वन्त्यजस्त्रियम्' इति। संवत्सरे त्वतीते यदि तामेव व्रात्यजायां तामेव चाण्डालीं पुनर्गच्छति तदा द्विगुणः कर्तव्यः। एतत्पूर्वस्यैवोदाहरणद्वयं व्रात्यजायागमनेऽपि चाण्डालीगमनदण्डप्रदर्शनार्थम्। सर्वस्यैव तु पूर्वाभिशस्तदण्डितस्य संवत्सरातिक्रमे पुनस्तामेव गच्छतः पूर्वस्माद्द्विगुणो दण्डो बोद्धव्यः। ममु.

(५) संवत्सराभिशस्तस्येति यत्राभिगमे यो दण्ड उक्तः, संवत्सरव्यापकश्चेत् तन्मूलो दण्डो द्विगुणो ग्राह्यः। एवञ्च समयाधिक्यमादायैव तदनुसारेणेति परमार्थः। तथा 'व्रात्यया सह संवासे चाण्डाल्या तावदेव तु।' व्रात्या धर्मभ्रष्टाचारा 'अवसन्नकर्मधर्मा च व्रात्ये'ति हारीतोक्तेः। हलायुधस्तु व्रात्याऽतिक्रान्तविवाहकाला कन्येत्याह। विर. ३९४

(६) आदौ परस्त्रीगमनदोषेण दुष्टस्य संवत्सरोपरि तस्यामेवाऽभिशस्तस्य प्रथमदमाद्द्विगुणदमः। व्रात्यये-त्यादि। व्रात्या व्रात्यजाता। व्रात्यश्च भ्रष्टधर्माचारः। 'अवसन्नकर्मधर्माचारो व्रात्यः' इति हारीतवचनात्। 'व्रात्या अतिक्रान्तविवाहकाला कन्या' इति हलायुधः। व्रात्यागमने चाण्डालीगमने च दमः सहस्रपणरूपः, स एव पुनर्गमने द्विगुणः कार्यः। तेन सर्वत्रैव सजातीय-व्यभिचारे सत्यभ्यासे द्वितीये प्रथमदण्डद्वैगुण्यमित्यर्थः। विचि. १७९

(७) यत्राभिगमे यो दण्ड उक्तः संवत्सरव्यापके तस्मिन् द्विगुणो ग्राह्यः। एतच्च समयाधिक्यमादायै-तदनुसारेणाधिको दण्ड इति परमार्थ इति रत्नाकरः। कल्पतरौ तु व्याख्यातम्— संवत्सरमनेनोपभुक्ता पर-स्त्रीति यस्याभिशापः स संवत्सराभिशस्तस्तस्य संवत्सर-मुपभुक्तायां यो दण्ड उक्तः स द्विगुणः स्यात्। दुष्ट-स्येति न केवलमभिशस्तस्य किन्तु दुष्टस्य स्वरूपतो दोषभाज इति। मनुटीकायां तु— परस्त्रीगमनदोषेण दुष्टस्य पुंसो दण्डितस्य संवत्सरातिक्रमे पुनस्तस्यामेवा-भिशस्तस्य पूर्वदण्डात् द्विगुणो दण्डः कार्य इति व्याख्यातम्। व्रात्या प्रभ्रष्टधर्माचारा। 'अनुपपन्नकर्म-धर्माचारा व्रात्या' इति हारीतोक्तेरिति रत्नाकरः। लक्ष्मीधरोऽप्याह व्रात्या अत्यन्तदुराचारा, वधबन्धोप-जीविप्रभृतय इति। अतिक्रान्तविवाहकाला कन्येति हलायुधः। एवमेव मनुटीकायां नारायणः। कुल्लूक-भट्टस्तु व्रात्यजाता व्रात्येत्याह। व्रात्यां चाण्डालीं च गत्वाऽदण्डितस्य वत्सरान्त एव गच्छतः 'सहस्रं त्वन्त्यजस्त्रियम्' इति मनूक्तो दण्डो द्विगुणः कार्य इति मनूक्तस्यैवेदमुदाहरणद्वयम्। तच्च— व्रात्यागमने चाण्डालीगमनदण्डप्राप्त्यर्थमिति कुल्लूकभट्टः। नारायण-स्त्वाह— विवाहकालेऽप्यपरिणीतया कन्यया प्रवृत्तरजसा सकृत् संयोगमात्रेण तज्जातीयगमनदण्डात् द्विगुणो दण्डो न त्वन्यत्रापि संवत्सराभिशस्तस्येत्यस्यान्वय इति। यः स्वरूपतो दुष्टो वर्षावच्छिन्नपरस्त्रीगमनेनाभिशस्तः सकृदपि व्रात्यां चाण्डालीमभिगच्छति तस्य वर्षावच्छिन्न-परदारगमनदण्डाद्द्विगुणो दण्ड इति कल्पतरुस्वरसः। तथा— 'मौण्ड्यं प्राणान्तिके दण्डे ब्राह्मणस्य विधीयते। इतरेषां तु वर्णानां दण्डः प्राणान्तिको भवेत्॥' यत्राभिगमे प्राणान्तिको दण्ड उक्तस्तत्र ब्राह्मणस्य शिरोमुण्डनमेव दण्ड इत्यर्थः। दवि. १६१–३.

शूद्रो गुप्तमगुप्तं वा द्वैजातं वर्णमावसन्।
अगुप्तमङ्गसर्वस्वैर्गुप्तं सर्वेण हीयते॥

---

(१) मस्मृ. ८।३७४ [ गुप्तमङ्ग ( गुप्ते चाङ्ग ) Noted by Jha ]; मेधा. सर्वस्वैर्गु ( सर्वस्वी गु ); मिता. २।२८६; अप. २।२८६ अगु ...र्गुप्तं ( अगुप्तैकाङ्गसर्वस्वी गुप्ते ); मवि. अगु...स्वैर्गु ( अगुप्तैकाङ्गसर्वस्वी गु ); स्मृच. ३२२ सर्वस्वैर्गु ( सर्वस्वी गु ); विर. ३९६ अपवत्; पमा. ४६६ मविवत्; रत्न. १३१; विचि. १७९ ( = ) वसन् ( विशन् ); दवि. १७२ अगु ...र्गुप्तं ( अगुप्तेऽङ्गैकसर्वस्वैर्गुप्ते ) कल्पतरौ तु 'अगुप्तमङ्गसर्वस्वी गुप्तं सर्वेण हीयते' इति पाठः; सवि. ४७० वसन् (विशेत्) उत्तरार्धे ( गुप्तौ लिङ्गाङ्गसर्वस्वे अगुप्तौ द्रव्यमात्र-कम् ) हारीतः; व्यप्र. ४०० अपवत्; व्यउ. १३६ जातं (जात्यं) वसन् ( विशेत् ) शेषं अपवत्; व्यम. १०६ मनङ्गसर्व-स्वैर्गु ( प्तं लिङ्गसर्वस्वं गु); विता. ८०४-५ अगु ... र्गुप्तं (अगुप्ते-काङ्गसर्वस्वं गुप्ते ); बाल. २।२८६ उत्त. ; सेतु. २६८ वसन् ( विशन् ) अगु...र्गुप्तं ( अगुप्तैकाङ्गसर्वस्वैर्गुप्ते ); समु. १३५ गुप्तमगुप्तं ( गुप्तामगुप्तां ) समङ्गासर्वस्वैर्गु ( प्तं लिङ्ग सर्वस्वं गु ).

(१) शूद्र आचाण्डालात्, गुप्तं वर्णं द्वैजातं द्विजातीनां स्त्रियः, आवसन् मैथुनेन गच्छन्, रक्षिता भर्त्रादिभिः, स नियमेन दण्ड्यः। को दण्ड इति चेदगुप्तां चेद्गच्छत्यङ्गसर्वस्वी हीयते। अङ्गं च सर्वस्वं च तद्वान्. केन हीयते? प्रकृतत्वात्ताभ्यामेव, अन्यस्यानिर्देशाद्विशेषस्यानुपादानात्, अपराधानन्तरमेवाङ्गं, गुप्तं चेद्गच्छति, सर्वेण हीयते, नैकेनाङ्गेन, यावच्छरीरेणाऽपि, हान्युद्देशेनाङ्गच्छेदनसर्वस्वहरणमरणान्युपदिष्टानि भवन्ति, हानिरस्य कर्तव्येत्यर्थः। तथा च गौतमः—'आर्यस्त्र्यभिगमने लिङ्गोद्धारः सर्वस्वहरणं च। गुप्ता चेत्।' मेधा.

(२) शूद्रो यदि भर्त्रा रक्षितामरक्षितां वा पुनर्गच्छेत्तदा स्त्रीं अरक्षितां गच्छन् लिङ्गच्छेदसर्वस्वापहाराभ्यां योजनीयः। रक्षितां पुनर्गच्छन् शरीरधनहीनः कर्तव्यः। कार्यानुबन्धापेक्षया दण्डस्य गुरुलघुभावः कल्पनीयः। * गोरा.

(३) द्वैजातं वर्णं द्विजातित्रयस्य स्त्रियः। अगुप्ते, बाह्वाद्येकाङ्गकर्तनं सर्वस्वग्रहणं चेत्येकाङ्गसर्वस्वं, तद्वानगुप्तैकाङ्गसर्वस्वी। सर्वेण शरीरेण हीयते वियोज्यते। मवि.

(४) गुप्तायां संग्रहे तु सर्वेण लिङ्गेन शरीरेण च हीयते इति। ×स्मृच. ३२२

(५) द्वैजातं वर्णं द्विजस्त्रियमावसन्नभिगच्छन्नगुप्तैकाङ्गसर्वस्वी अगुप्तायामेकाङ्गेन सर्वस्वेन च हीयते। सर्वेण अङ्गेन सर्वस्वेन च। विर. ३९६

(६) कल्पतरौ तु—'अगुप्तमङ्गसर्वस्वी गुप्तं सर्वेण हीयते' इति पठित्वा अगुप्तमरक्षितं अङ्गसर्वस्वसहितो हीयते। तेन येनाङ्गेनापराध्यते तेन सर्वस्वेन च हीयते इत्यर्थः। रक्षितं तु व्रजन् सर्वेणाङ्गेन हीयते इत्यत्र इति व्याख्यातम्। एतन्मते रक्षिताभिगन्तुः सर्वस्वग्रहणं नास्ति। शूद्रस्येत्यनुवृत्तौ गौतमः—'आर्यस्त्र्यभिगमने लिङ्गोद्धारः सर्वस्वग्रहणं च। गुप्ता चेद्वधोऽधिकः।' आर्यस्त्री त्रैवर्णिकस्त्री। एतद्दर्शनात् पूर्ववाक्ये एकमङ्गं लिङ्गमेव, सर्वाङ्गच्छेदो वध एव। एकमूलत्वानुरोधात्। दवि. १७२

(७) द्वैजातं द्विजातिसंबन्धिनं वर्णमावसन् रक्षायुक्तां द्विजातिस्त्रियं गच्छन्। अत्र द्विजातिशब्दः क्षत्रियवैश्यस्त्रीविषयो ब्राह्मण्या उक्तपूर्वत्वात्। अगुप्ते रक्षारहितद्विजातिस्त्रीगमने एकाङ्गसर्वस्वेन च हीयते। एकाङ्गेन हस्तादिना सर्वस्वेन च हीयते, अगुप्तैकाङ्गेत्यत्र शाकल्यमतेन यकारलोपे कृते छन्दोनुसाराद्यकारलोपस्यासिद्धत्वमनादृत्य वृद्धिविधानं, गुप्ते रक्षितद्विजातिस्त्रीगमने सर्वेणाङ्गेन सर्वस्वेन च हीयते। ×नन्द.

'वैश्यः सर्वस्वदण्डः स्यात् संवत्सरनिरोधतः।
सहस्रं क्षत्रियो दण्ड्यो मौण्ड्यं मूत्रेण चार्हति ॥'

(१) वैश्यस्य सर्वस्वदण्ड उक्तः। इह तु साहचर्यात् सत्यपि द्विजातित्वे न वैश्यस्य समानजातीयागमे दण्डोऽयं, किं तर्हि? ब्राह्मणक्षत्रिययोरेव। एवं क्षत्रियस्य ब्राह्मणीगमने सहस्रं मौण्ड्यं च मूत्रेण, उदकस्थाने गर्दभमूत्रं ग्रहीतव्यम्। अन्ये व्याचक्षते। अन्यस्यानुपादानात् समानजातीय एव संवत्सरनिरोधनेन दण्डाधिक्यं यदि संवत्सरमवरुद्धं करोति ततोऽयं दण्डः। आद्यमेव तु व्याख्यानं न्याय्यम्। न च समहीनोत्तमानां कथं समदण्डत्वमिति वाच्यम्। यत उक्तं 'सर्वेषामेव वर्णानां दारा रक्ष्यतमाः सदा' इति। मेधा.

(२) वैश्यो गुप्तब्राह्मणीगमने संवत्सरबन्धने च स्थाप्यः सर्वस्वं दण्डनीयः। क्षत्रियागमने वैश्यस्य 'वैश्यश्चेत् क्षत्रियां गुप्तां' इति वक्ष्यति। क्षत्रियो गुप्तब्राह्मणीगमने सहस्रं दण्डनीयः। शिरोमुण्डनं खरमूत्रेणास्य कार्यम्। * गोरा.

(३) संवत्सरनिरोधः संवत्सरं बन्धनागारे तस्य

---

* मिता., अप., ममु., पमा., विचि., व्यप्र., व्यम., विता. गोरावत्।

× शेषं गोरावत्।

× भाच. द्विजातिपदं नन्दवत्। शेषं गोरावत्।

* ममु., विचि., दवि., मच. गोरावत्।

(१) मस्मृ. ८।३७५; व्यक. १२६ स्वदण्डः (सर्वं दण्ड्यः) धतः (धितः) पू.; स्मृच. ३२२ धतः (धितः); विर. ३९१ वैश्यः (वैश्ये) पू. : ३९६ स्मृचवत्; विचि. १८० (=) सर्वस्वदण्डः (सहस्रं दण्ड्यः); दवि. १६०. मूत्रेण (शूद्रस्य); बाल. २।२८६; समु. १५५ स्मृचवत्.

स्थापनं कृत्वा सर्वस्वं दण्ड्य इत्यर्थः। एतच्च ब्राह्मणीतरगुप्तागमने वैश्यस्य। मूत्रेण मुण्डनं नरमूत्रेणार्द्रं शिरः कृत्वा मुण्डनम्। मवि.

(४) निरोधतः कारागृहनिरुद्धः। इच्छन्त्यां ब्राह्मण्यां वर्तमानयोरयं दण्डः। × नन्द.

**ब्राह्मणीं यद्यगुप्तां तु गच्छेतां वैश्यपार्थिवौ।**
**वैश्यं पञ्चशतं कुर्यात् क्षत्रियं तु सहस्रिणम्॥**

(१) अगुप्ता व्याख्याता। भ्रष्टशीलाऽनाथा च। तद्गमने वैश्यं पञ्चशतं कुर्यात्। करोतिः प्रकरणाद्दण्डने वर्तते। दण्डयेदित्यर्थः। पञ्च शतान्यस्येति पञ्चशतः। बहुव्रीहिर्मत्वर्थीयः। तथा कर्तव्यं यथा पञ्चशतान्यस्य भवन्ति। किं यदधिकं तत्तस्यापहर्तव्यमित्यर्थः? नेति ब्रूमः। तथा सति यस्य पञ्च वै शतानि धनं वान्यूनं तस्य दण्डो न कश्चिदुक्तः स्यात्, कस्तर्ह्यर्थः पञ्चशतं कुर्यादिति। दण्डाधिकाराद्दण्डं पञ्चशतसंबन्धिनं कुर्यात्। एवं सहस्रिणं क्षत्रियमिति। सहस्रमस्यास्ति दण्डो, न गृहे धनम्। अङ्गसर्वस्वीति व्याख्येयं तथा कर्तव्यं यथाङ्गं सर्वस्वं च तस्य दण्डो भवति। क्षत्रियस्याधिको दण्डो, रक्षाधिकृतो रक्षति तत्, पुनः स एवापराध्यति। मधा.

(२) अरक्षितां पुनर्ब्राह्मणीं यदि वैश्यक्षत्रियौ गच्छेतां तदा वैश्यः पञ्चशतं दण्ड्यः। क्षत्रियं पुना रक्षाधिकृतत्वाद्वैश्यादधिकदण्डः सहस्रदण्डोपेतः कार्यः। *गोरा.

(३) पञ्चशतं दण्डम्। क्षत्रियं सहस्रिणमिति। तस्य रक्षाधिकृतत्वादधिको दण्डः। अन्ये तु पञ्चशतं पञ्चशतशेषमात्रवित्तम्। सहस्रिणं सहस्रमात्रशेषवित्तमित्याहुः। मवि.

(४) पञ्चशतं कुर्यात्पञ्चशतकार्षापणदण्डेन दण्डयेदित्यर्थः। स्मृच. ३२२

(५) अरक्षितां तु ब्राह्मणीं यदि वैश्यक्षत्रियौ गच्छतस्तदा वैश्यं पञ्चशतदण्डयुक्तं कुर्यात्। क्षत्रियं पुनः सहस्रदण्डोपेतम्। वैश्ये चायं पञ्चशतदण्डः शूद्राभ्रमादिना निर्गुणजातिमात्रोपजीविब्राह्मणीगमनविषयः। तदितरब्राह्मणीगमने वैश्यस्यापि सहस्रं दण्ड एव। +ममु.

(६) अगुप्ताविषयकमाह— ब्राह्मणीमिति। पञ्चशतं पञ्चशतानि दण्डनीयत्वेनास्य सन्तीति तादृशं वैश्यं कुर्यादेवं क्षत्रियं सहस्रिणम्। आदौ क्षत्रियभुक्तामन्यथा न वैश्यस्य दण्डलघुता बहुपुंभोग्यत्वेन प्रायश्चित्तलघुत्वादतो गच्छेतामिति साहित्यमुक्तम्। वैश्यं सहस्रिणमिति मेधातिथिः। शूद्राभ्रमादिति पञ्चशतमिति कुल्लूकः। धनदण्डमात्रमत्र। मच.

**उभावपि तु तावेव ब्राह्मण्या गुप्तया सह।**
**विप्लुतौ शूद्रवद्दण्ड्यौ दग्धव्यौ वा कटाग्निना॥**

(१) तावेव क्षत्रियवैश्यौ गुप्तया ब्राह्मण्या विप्लुतौ कृतमैथुनौ मैथुनप्रवृत्तावेव विप्राशूद्रवद्दण्ड्यौ 'गुप्ते सर्वेण हीयते' इति। दग्धव्यौ वा कटाग्निना वाशब्दो वधप्रकारविकल्पे, वधविकल्पे न। न हि शूद्रस्य गुप्ते वधादन्यो दण्ड आम्नातः॥ मेधा.

(२) तावेव द्वावपि क्षत्रियवैश्यौ रक्षितया ब्राह्मण्या सह कृतमैथुनौ शूद्रवत् 'गुप्ते सर्वेण हीयते' इति दण्ड्यौ। कटाग्निना वा सर्वथा दग्धव्याविति चात्यन्तश्रोत्रियदारगुणवद्ब्राह्मणीविषयं दण्डगुरुत्वात्। 'वैश्यः सर्वस्वदण्ड्यः स्यात् सहस्रं क्षत्रियस्तथा' इत्युक्तत्वात्। *गोरा.

(३) शूद्रवद्दण्ड्यौ एकाङ्गच्छेदसर्वस्वग्रहणाभ्याम्। कटाग्निना शवाग्निना। ×मवि.

× भाच. यथाश्रुतार्थः। * नन्द. गोरावत्।

(१) **मस्मृ.** ८।३७६ [ यद्यगुप्तां तु ( यद्यगुप्तायां ) Noted by Jha ]; **मिता.** २।२८६ गच्छेतां ( सेवेतां ); **अप.** २।२८६; **स्मृच.** ३२२ यद्यगुप्तां तु ( तु यदाऽगुप्तां ); **विर.** ३९६ गच्छे...वौ ( सेवेयातामिति स्थितिः ) पू.; **पमा.** ४६५; **रत्न.** १३१ स्मृचवत्; **विचि.** १८०; **दवि.** १६९; **सवि.** ४७० स्रिणम् ( स्रकम् ) शेषं मितावत्; **वीमि.** २।२८६ मितावत्; **व्यप्र.** ४०० मितावत्; **व्यम.** १०६ स्मृचवत्; **विता.** ८०३ मितावत्; **सेतु.** २६८ विरवत्; **समु.** १५५ स्रिणम् ( स्रकम् ).

+ विचि. ममुवत्। * ममु., विचि., दवि. गोरावत्।
× भाच. मविवत्।

(१) **मस्मृ.** ८।३७७; **मिता.** २।२८६ तु ( हि ); **अप.** २।२८६; **स्मृच.** ३२२; **विर.** ३९६ विप्लुतौ ( गुप्तां चेत् ) ण्ड्यौ ( ण्ड्यो ) व्यौ ( व्यो ) उत्त.; **पमा.** ४६५; **रत्न.** १३१ मितावत्; **विचि.** १८० ( = ) तु ( च ) वा ( तु ); **दवि.** १६९; **वीमि.** २।२८६ मितावत्; **व्यप्र.** ४०० मितावत्; **व्यम.** १०६ मितावत्; **विता.** ८०३ मितावत्; **सेतु.** २६८ विरवत्, उत्त.; **समु.** १५५.

(४) शूद्रवद्दण्ड्यौ लिङ्गेन धनेन शरीरेण हीनौ कार्यावित्यर्थः। स्मृच. ३२२

(५) गुप्तायां तु तस्यां समेत्य गमने शूद्रवद्दण्डेन विकल्पमाह— उभावपीति। विप्लुतौ कृतमैथुनौ। शूद्रवच्छरीरसर्वस्वं वैश्यस्य क्षत्रियस्याङ्गसर्वस्वमिति भेदः। अगुणवद्ब्राह्मणीविषयको दण्डः, दाहस्तु गुणवद्ब्राह्मणीविषयः। कटाग्निना शरपत्रेण। तत्रापि 'लोहितदर्भैः संवेष्ट्य क्षत्रियः, वैश्यस्तु शरपत्रैरि'ति वसिष्ठोक्तेः। मच.

भर्तारं विलङ्घ्य अन्यपुरुषगामिन्याः स्त्रियाः तद्गम्यपुरुषस्य च दण्डः

**भर्तारं लङ्घयेद्या तु स्त्री ज्ञातिगुणदर्पिता।**
**तां श्वभिः खादयेद्राजा संस्थाने बहुसंस्थिते॥**

(१) लङ्घनं भर्तारमतिक्रम्यान्यत्र पुरुषे[1] गमनं, तच्चेत् स्त्री करोति दर्पेण—बहवो मे ज्ञातयो बलिनो द्रविणसंपन्नाः, स्त्रीगुणो रूपसौभाग्यातिशयसंपत्, किमनेन शीलरूपेणेत्येवं— दर्पेण। तां श्वभिः खादयेद्यावन्मृता। संस्थानं देशः। बहवः संस्थिता यत्र जनाश्चत्वरादौ। मेधा.

(२) या स्त्री बलवदाढ्यपित्रादिबान्धवदर्पेण रूपवैदग्ध्याद्गुणगणगर्विता पूर्वं च भर्तारं पुरुषान्तरकरणेन उल्लङ्घयेत् तां राजा बहुजनाकीर्णे प्रदेशे श्वभिर्भक्षयेत्। × गोरा.

(३) लङ्घयेदन्यपुरुषगमनेन पित्रादिज्ञातिदर्पिता स्त्रीणां गुणैश्च दर्पिता स्त्री। बलेति क्वचित्पाठः, तत्रापि बलं गुण एव। संस्थाने सभायां, बहुसंस्थिते बहुभिरधिष्ठितायाम्। मवि.

(४) स्त्रीप्रसङ्गेन तस्याः प्रकारान्तरेण दण्डमाह— भर्तारमिति। भर्तारं लङ्घयेत् रतिविशेषलोभेन त्यजेन्नाशयेद्वा। ननु तत्यागे जीवनं कुत इत्यत्राह ज्ञातिः सत्कुलप्रचुरधनादियुक्तपित्रादिः, गुणः सौन्दर्यं पुंजोषणादि ताभ्यां गर्विता दर्पिता। तां श्वभिरेव खादयेत्। संस्थाने संस्थाप्यते मार्यतेऽत्रेति वधस्थले बहुसंस्थिते बहुजनाकीर्णे तां दृष्ट्वा यथाऽन्याः न कुर्युरिति भावः। मच.

(५) अथ स्त्रीणां व्यभिचारे दण्डमाह—भर्तारं लङ्घयेदिति। लङ्घयेद्व्यभिचरेत्, ज्ञातिगुणदर्पिता ज्ञातिगुणेन पित्रादिसकाशाल्लब्धस्त्रीधनादिगौरवेण, स्त्रीगुणेन सौभाग्यसौन्दर्यादिना च गर्विता बहुसंस्थिते बहुभिर्जनैर्वृते, संस्थाने वध्यघातस्थाने अथवा बहुभिः पुरुषैरारूढे ऊरुमूलप्रदेशे। नन्द.

**पुमांसं दाहयेत्पापं शयने तप्त आयसे।**
**अभ्यादध्युश्च काष्ठानि तत्र दह्येत पापकृत्॥**

(१) योऽसौ पत्न्या जारः स आयसे लोहशयने तप्तेऽग्निसमे कृते दाहयितव्यः। तत्र च शयनस्थितस्य काष्ठानि वध्यघातिनोऽभ्यादध्युरुपरि क्षिपेयुः। यावत्काष्ठप्रहारैरग्निज्वालाभिः शयनतापेन च मृतः। मेधा.

(२) तं दर्पिताजारं पुरुषं दाहयेदिति। तं पापकारिणं पुरुषं अयोमये शयने अग्निज्वलिते राजा दाहयेत्। काष्ठानि निक्षिपेयुः यावदसौ पापकृद्दग्धः स्यात्। * गोरा.

(३) तस्य उपपतेर्दण्डमाह— पुमांसमिति। पापं पापिनमिति वक्तव्ये अत्यन्तपापख्यापनार्थम्। शयने अधोनिवेशनसाम्यात्तप्ते प्रज्वलिते। यथाऽर्धदग्धो न पलायते तथा कुर्यादित्याह— अभ्यादध्युरिति। तस्माद्धेत् अब्राह्मणं चेत्। ब्राह्मणं चेद्विवासयेदेव 'न जातु

---

× ममु., विर., विचि. गोरावत्।

(१) मस्मृ. ८।३७१; व्यक. १२७ स्त्री ज्ञाति (ज्ञातिस्त्री); मवि. 'गुण' इत्यत्र 'बल' इति पाठः; स्मृच. ३२३ व्यकवत्; विर. ३९९ व्यकवत्; विचि. १७८ (=) गुण (बल); स्मृचि. २८ विचिवत्; दवि. १७४ व्यकवत्; सेतु. २७३ विचिवत्; समु. १५५ स्त्री ज्ञाति (जातिस्त्री); विव्य. ५४ तु स्त्री ज्ञातिगुण (स्त्री पित्रादिबल) नारदः.

[1] याग.

* ममु., विर., विचि., दवि. गोरावत्।

(१) मस्मृ. ८।३७२; गोरा. पुमांसं (पुरुषं); अप. २।२८६ पुमांसं दाह (पुमान्संदाह) दध्यु (दह्यु); व्यक. १२६; विर. ३९१ पुमांसं दाह (पुंसां संदाह) पू. : ३९२ तत्र (यत्र) उत्त.; विचि. १७८ (=) दध्यु (दह्यु); स्मृचि. २८; दवि. १६६ पू. : १७५ अभ्यादध्यु (अस्या दह्यु); समु. १५५ विचिवत्.

ब्राह्मणं हन्यादि 'ति उदर्कनिषेधात् । मच.

(४) ब्राह्मण्याः शूद्रगमनेऽयं दण्डः ब्राह्मण्यां दूषयितुः शूद्रस्य दण्डमाह— पुमांसं दाहयेदिति । पुमांसं शूद्रं दाहयेद्दह्येत भस्मीक्रियेत । नन्द.

(५) काष्ठानि आज्येन अभ्यादध्युः अवासिञ्चेत्, तत्र दह्येत पापकृत् । भाच.

**कामाभिपातिनी या तु नरं स्वयमुपव्रजेत् ।**
**राज्ञा दास्ये नियोज्या सा कृत्वा तद्दोषघोषणम् ॥**

सवर्णासवर्णादिकृते कन्यादूषणे दण्डविधिः

**[२]योऽकामां दूषयेत्कन्यां स सद्यो वधमर्हति ।**
**सकामां दूषयंस्तुल्यो न वधं प्राप्नुयान्नरः ॥**

(१) प्रासङ्गिकमिदम् । तुल्यः समानजातीयः । सोऽनिच्छन्तीं कुमारीं दूषयेत्कौमार्यादपच्यावयेत्स्त्रीपुरुषसंभोगेन सद्यस्तस्मिन्नेवाहन्यविलम्बं हन्तव्यः । सकामाया दूषणं नास्ति, कुतो वधप्राप्तिः? यच्चात्र भविष्यति तद्वक्ष्यामः । यद्यपि तुल्यवध इत्येवात्र श्रुतं, वधेऽपि जात्यपेक्षायामवश्यम्भाविन्यां प्रत्यासत्त्या संबध्यते ।
मेधा.

(२) यस्तुल्यजातीयोऽनिच्छन्तीं कन्यां दूषयति गच्छति स तत्क्षणादेव ब्राह्मणवर्जं लिङ्गच्छेदादिकं वधमर्हति । सकामां दूषयंस्तुल्यो न वधं प्राप्नुयात् ।
*गोरा.

(३) दूषयेत् मैथुनेन । एतच्च सजातित्वेऽपि । तुल्यः सजातीयः न वधं प्राप्नुयाद्दण्डमात्रं तु प्राप्नुयादेव ।
मवि.

**[३]कन्यां भजन्तीमुत्कृष्टं न किंचिदपि दापयेत् ।**
**जघन्यं सेवमानां तु संयतां वासयेद्गृहे ॥**

(१) जातिधनशीलविद्यानामन्यतमेनापि पितृकुलादुत्कृष्टं भजन्तीं प्रवर्तितमैथुनां न किंचिद्दण्डयेत् । कन्यायाः स्वातन्त्र्याभावाच्चद्रक्षाधिकृतानां पित्रादीनां दण्डे प्राप्ते प्रतिषेधः । जघन्यं जात्यादिभिर्हीनं सेवमानां मैथुनायानुकूलयन्तीं संयतां निवृत्तक्रीडाविहारां कञ्चुकिभिरधिष्ठितां पितृगृह एव वासयेद्यावन्निवृत्ताभिलाषा संजाता । अथ हीनजातीये निर्वृत्तप्रीतिविशेषा तदा आऽन्त्योच्छ्वासात्संयतैव तिष्ठेत् । मेधा.

(२) उत्कृष्टं पुरुषं कन्यां सेवमानां न किंचिदपि दण्डं राजा दापयेत् । हीनजातिं पुनः सेवमानां रक्षितां पितृगृहे स्थापयेत् यावदनिवृत्ताभिलाषा स्यात्, वृत्तहीनज्ञातिसंप्रयोगाद्यावज्जीवं स्थापयेत् । *गोरा.

(३) न दापयेत् कन्यां पुरुषं च । संयतां बद्धाम् ।
मवि.

(४) उत्कृष्टं उत्तमं विप्रं पुरुषं भजन्तीं कन्यां किंचिद्दण्डमपि न दापयेत् । जघन्यं शूद्रं सेवमानां कन्यां संयतां अवरुद्धां गृहे वासयेत् । भाच.

**[१]उत्तमां सेवमानस्तु जघन्यो वधमर्हति ।**
**शुल्कं दद्यात्सेवमानः समामिच्छेत्पिता यदि ×॥**

(१) अकामाया दूषणे ब्राह्मणवर्जमविशेषेण हीनोत्तमानां वध एव दण्ड इत्युक्तम् । सकामाया दूषणे त्विदमाहुः । उत्तमां रूपयौवनजात्यादिभिः । जघन्योऽ-

---

* ममु., विर., मच. गोरावत् ।

(१) मस्मृ. ८।३५८ इत्यस्योपरिष्टात् प्रक्षिप्तश्लोकोऽयम् ।

(२) मस्मृ. ८।३६४; गोरा. स सद्यो (समानां); मिता. २।२८८; अप. २।२८८; व्यक. १२७; विर. ४०१; पमा. ४७१; विचि. १७५-६; स्मृचि. २७; दवि. १८३; नन्द. स सद्यो (सवर्णो); व्यप्र. ४०३; व्यउ. १३८; विता. ८१७; सेतु. २७४; समु. १५६ प्राप्नुयान्नरः (प्राप्तुमर्हति); विव्य. ५४ स्तुल्यो (स्त्वन्यो).

(३) मस्मृ. ८।३६५; मिता. २।२९० पू.; अप. २।२८८; व्यक. १२७; विर. ४०४; विचि. १७७ नारदः; स्मृचि. २७ न किंचिदपि (किंचिद्दाप्यं न) सेव (सेव्य); दवि. १८४; सेतु. २७५-६ नारदः; समु. १५६; विव्य. ५४ नारदः.

* ममु., मच., नन्द. गोरावत् ।

× मिता.व्याख्यानं 'दूषणे तु करच्छेद' इति याज्ञवल्क्यवचने द्रष्टव्यम् । पमा., सवि., व्यप्र. मितावत् ।

(१) मस्मृ. ८।३६६; अपु. २२७।४१ नस्तु (नः स्त्रीं) पू.; गोरा. दद्यात् (दाप्यः); मिता. २।२८८; अप. २।२८८; व्यक. १२७; विर. ४०२ समा...यदि (समागच्छेत्समामपि); पमा. ४७१; विचि. १७६ (=) मां सेव (मां भज) समामिच्छे (सम इच्छे); स्मृचि. २७ सेव (सेव्य) पू.; दवि. १८१ पू., १८३ उत्त.; सवि. ४७२ पू.; १ नायोत्कल.

त्यन्तनिकृष्टो नातिसाम्येऽपि गुणैर्वध्यः । समां तु गच्छन् सकामां स शुल्कमासुरविवाह इव पित्रे दद्यात् । न चेदिच्छति पिता तदा राज्ञे दण्डं तावन्तम् । ननु च गान्धर्वोऽयं विवाहः 'इच्छयाऽन्योन्यसंयोग' इति, तत्र न युक्तो दण्डः । केनोक्तं गान्धर्वे नास्ति दण्डः । अत एव नायं सतीधर्मः । न चायं विवाहः, अग्निसंस्काराभावात् । यदपि शाकुन्तले व्यासवचनम्—'अमन्त्रकमनग्निकमि'ति तद्दुष्यन्तेन कामपीडितेनैवं कृतं, न चेच्छासंयोगमात्रं विवाहः, स्वीकरणोपायभेदादष्टौ विवाहाः, न पुनर्विवाहभेदात्, वृत्तवरणं तत्र पुनः कर्तव्यमेवमिति ।

अथवा ऋतुदर्शनोत्तरकालं गान्धर्वः । प्रागृतोः शुल्को दण्डो वा । अथ कन्यायाः का प्रतिपत्तिः । तस्मा एव देया निवृत्ताभिलाषा चेत्काममन्यत्र प्रतिपाद्या । शुल्कग्रहणं चात्रापि सकृदुपभोगनिष्कृत्यर्थमस्त्येव । वरश्चेन्निवृत्ताभिलाषो हठाद्ग्राहयितव्यः । मेधा.

(२) उत्कृष्टजातीयां कन्यां इच्छन्तीमनिच्छन्तीं वा हीनजातिर्गच्छन् जात्यपेक्षया अङ्गच्छेदमारणात्मकं वधमर्हति । समानजातीयां पुनरिच्छन्तीं गच्छन् यदि पिता इच्छति तदा पितुः शुल्कमनुरूपमासुरवद्दद्यान्न तु दण्ड्यः, अथ पिता नेच्छति तदा राज्ञे शुल्कपरिमाणं दाप्यः । *गोरा.

(३) उत्तमां स्वोत्तमजातिं कन्याम् । शुल्कं पित्रे मूल्यं दद्यात् । अनुमन्यते यदि तस्मै दातुमिच्छेत् अनिच्छया त्वन्यस्मै कन्यां दद्यात् । मवि.

(४) उत्तमामिच्छन्तीं, समां सजातीयाम् । शुल्कं उभयसंप्रतिपन्नद्रव्यमासुरविवाहवत् । विर. ४०२

(५) पुंकर्तृके त्वाह— उत्तमामिति । उत्तमां उत्कृष्टजातिं जघन्यो जातितो न्यूनः शूद्रो वधमङ्गच्छेदनमारणादिकम् । क्षत्रियादिजातिः समानजातीयां सेवमानः शुल्कं दद्यात् । शुल्कदाने पितुरिच्छैव कारणमित्याह— इच्छेदिति । स्वार्थे कन्यार्थे वा । जघन्यां गृह्णीयादेव पितुरिच्छया । य इत्यादिश्लोकत्रये एतस्योत्कृष्टरागो द्रष्टव्यः । अन्यथा तत्कर्मणो रागं विनाऽनुपपत्तेः । मच.

(६) तेन सकामाया दूषणे न तस्या एव दानं अकामाया दूषणे वरस्य वधः पुनर्विवाहश्चेत्यर्थः । वधश्च ब्राह्मणभिन्नस्यैव 'न जातु ब्राह्मणं हन्यात् सर्वपापेष्ववस्थितम्' इति मनूक्तेः । तस्य तु सर्वस्वहरणादि । पुनर्विवाहाभावे कथं मनुर्वरस्य वधं ब्रूयात् । विता. ८१७

**अभिषह्य तु यः कन्यां कुर्याद्दर्पेण मानवः ।**
**तस्याशु कर्त्ये अङ्गुल्यौ दण्डं चार्हति षट्शतम् *॥**

(१) यद्यपि सकामा कन्या, पित्रादयस्तु तस्याः संनिहिताःताननिच्छतोऽभिषह्याभिभूय दर्पेण बलेन 'कः किं कर्तुं मे शक्तः', कन्यानुरागमात्राश्रितः कन्यां कुर्यात् विकुर्यात् दूषयेत् । अनेकार्थः करोतिः । तस्याशु कर्त्याः छेत्तव्याः अर्धाङ्गुलयः, षट्शतानि वा दण्ड्यः । अन्ये तु योऽकामां दूषयेदित्यस्यैव वधार्थस्योपसंहारोऽयम् । ताडनात्प्रभृति मारणं यावद्वधार्थः, तत्र समां निकृष्टजातीयां च दूषयन्न मार्यतेऽपि त्वङ्गुली अस्य छिद्येत । मेधा.

(२) मनुष्यः प्रसह्य हठात् अहङ्कारेण समानां

---

* ममु., विचि., नन्द., भाच. गोरावत् ।

मच. समा (स्वार्थे); व्यप्र. ४०३; व्यउ. १३७ मां सेव (मां पू., १३८ उत्त.; विता. ८१७; सेतु. २७४ मां सेव (मां भज) समामिच्छे (संप्रयच्छे); समु. १५६; विव्य. ५४ मां सेव (मां भज).

* मिताक्षराव्याख्यानं 'दूषणे तु करच्छेद' इति याज्ञवल्क्यवचने द्रष्टव्यम् । दण्डविवेके मिताक्षराव्याख्यानं सर्वज्ञनारायणव्याख्यानं च समुद्धृतम् । पमा., व्यप्र., विता. मितावत् ।

(१) मस्मृ. ८।३६७ [ कर्त्ये अङ्गुल्यौ (कर्त्यौ अङ्गुल्यः) चार्हति (वार्हति) Noted by Jha ]; मिता. २।२८८ (ख) अभि (अवि); अप. २।२८८; व्यक. १२७ षह्य (षज्य) कर्त्ये (कल्प्ये); मवि. कर्त्ये (कल्प्ये); विर. ४०३ मविवत्; पमा. ४७०; विचि. १७६ (=) षह्य (सह्य) कर्त्ये अ (कर्तेद); व्यनि. ४०२ तस्याशु...ल्यौ (छेत्तव्ये अङ्गुली तस्य); दवि. १८२ अङ्गु...शतम् (चाङ्गुल्यौ दण्डः षट्शतमर्हति); मच. षह्य (षज्य) इति पाठः; वीमि. २।२८६; व्यप्र. ४०३; व्यउ. १३७ अभिषह्य तु (अगुप्तां खलु) कर्त्ये अ (कर्तेद); विता. ८१६ षट्शतम् (तत्समम्); सेतु. २७५ कर्त्ये अ (कर्तेद); समु. १५६ अभिषह्य (अविषह्यां) दर्पेण (द्वेषेण) तस्या...ल्यौ (छेत्तव्य ह्यङ्गुली तस्य).

समानजातीयां गमनवर्जं अङ्गुलिप्रक्षेपमात्रेणैव नाशये-त्तस्य क्षिप्रमेवाङ्गुलिद्वयं कर्तनीयं दण्डं षट्शतमसौ दापनीयः। * गोरा.

(३) अभिषह्य प्रसह्य, कन्यां क्षतयोनित्वेन दुष्टां कुर्यादित्यर्थः। तस्याविलम्बेनाङ्गुल्यौ कन्यादूषणहेतुभूते कर्त्ये छेद्ये। अप. २।२८८

(४) अभिषह्य प्रसह्य कन्यां कुर्यात् योनावङ्गुलि-प्रक्षेपेण विवृतयोनिं कुर्यात्। कल्प्ये कर्त्ये। एतच्चाधम-जातिपुरुषविषयम्। उत्तमसमयोराह--दण्डमिति। चकारो वाकारार्थे। एतच्च कन्यायाश्चाकामत्वे। मवि.

(५) अभिषह्य अभिभूय, कुर्यात् दूषयेत्, कल्प्ये छेद्ये। विर. ४०३

(६) ऋते मैथुनं कन्यादूषकस्य अङ्गुलिच्छेदरूपं दण्डमाह—अभिषज्येति। अभिषज्य प्रसह्य कन्यामात्रं घनादेर्दर्पादङ्गुलिप्रवेशादिना विरोधिलक्षणया तामेव कन्यां क्षतयोनिं कुर्यादित्यर्थः। कन्यां कुर्याद्विकुर्यादिति मेधातिथिः। अङ्गुल्यौ तर्जन्यङ्गुष्ठौ। मच.

**सकामां दूषयंस्तुल्यो नाङ्गुलिच्छेदमाप्नुयात्।**
**द्विशतं तु दमं दाप्यः प्रसङ्गविनिवृत्तये॥**

(१) सकामामित्यनुवादः। पूर्वस्यापि सकाम-विषयत्वात्। अभिषह्य करणे पूर्वदण्डोऽप्रकाशं चौर्य-वद्द्विशतोऽङ्गुलीच्छेदवर्जितः। अथवा कस्मिंश्चित्पुरुषे अनुरागवती कन्या तेन संयुज्यमाना कन्यात्वनिवृत्तौ सकामा येन विकृतीक्रियते तस्यायं दण्डः। अथवा हस्तस्पर्शमात्रमिह दूषणं, प्रार्थनीयायाः कन्याया हस्त-स्पर्शः, मया स्पृष्टां ज्ञात्वा नान्य एतामर्थयिष्यत्यन्य-स्मिन्ननुरागिणीं मन्यमानः। मेधा.

(२) समानजातिरिच्छन्तीं कन्यामङ्गुलिमात्रप्रक्षेपेण नाशयन् अङ्गुलिच्छेदं न प्राप्नुयात्। किन्तु पौनः-पुन्येन एष प्रसङ्गान्नावर्तते तदर्थं शतद्वयं दण्डं दाप्यः। * गोरा.

(३) हीनकन्याविषयमेतत्। विर. ४०३

(४) रागस्य वैचित्र्यात्तथेच्छन्तीं दूषयन्न दण्डभागि-त्याह— सकामामिति। प्रसङ्गविनिवृत्तये पुनःप्रसक्ति-वारणाय तेनैव तामनुरज्य यः संभोगस्तन्निवृत्तये च प्रतिलोमजाऽनुलोमजकन्यामात्रे धनदण्डमात्रमङ्गुलि-प्रक्षेपाद्यैरधिकदूषणाभावात्। मच.

(५) प्रसङ्गविनिवृत्तये इति अतिप्रसङ्गनिवारणार्थ-मित्यर्थः। संभोगनिवृत्त्यर्थमिति भारुचिः। सवि. ४७२

(६) प्रसङ्गविनिवृत्तयेऽन्यत्र पुनरेवंकरणविनिवर्त-नाय। नन्द.

**कन्यैव कन्यां या कुर्यात्तस्याः स्याद्द्विशतो दमः।**
**शुल्कं च द्विगुणं दद्याच्छिफाश्चैवाप्नुयाद्दश ×।**

(१) बालभावाद्रूपादिद्वेषाद्वा कन्यैव कन्यां नाश-

---

* ममु., विचि. गोरावत्।

(१) मस्मृ. ८।३६८ [दूषयंस्तुल्यो (दुष्येद्यस्तु) Noted by Jha]; मिता. २।२८८ (क) दूषयंस्तुल्यो (दूषयन् कन्यां) माप्नुयात् (मर्हति), (ख) माप्नुयात् (मर्हति); अप. २।२८८ लिच्छेदमाप्नुयात् (ली छेदमर्हति); व्यक. १२७ यंस्तुल्यो (यानस्तु) ङ्गुलि (ङ्गुली); विर. ४०३ दूषयंस्तुल्यो (दूषमाणस्तु); पमा. ४७० माप्नुयात् (मर्हति); विचि. १७७ (=); व्यनि. ४०२; दवि. १८४ विरवत्; सवि. ४७२ यंस्तुल्यो (यानस्तु) शेषं पमा-वत्; वीमि. २।२८६; व्यप्र. ४०३ यंस्तुल्यो (यन्कन्यां) शेषं पमावत्; व्यउ. १३७ दमं (पणं) शेषं सविवत्; विता. ८१६ व्यप्रवत्; सेतु. २७५; समु. १५६ यंस्तुल्यो (यन्कन्यां) शेषं अपवत्; विव्य. ५४ यंस्तुल्यो (यंस्त्वन्यो) शेषं पमावत्.

१ पूर्वं द.

* ममु., विचि., सवि. गोरावत्।

× मिताक्षराव्याख्यानं 'दूषणे तु करच्छेद' इति याज्ञवल्क्य-वचने द्रष्टव्यम्। दण्डविवेके मिताक्षराकुल्लूकनारायणनन्दनादी-नामुद्धारः।

(१) मस्मृ. ८।३६९; गोरा. द्विगु (त्रिगु) फा (खा); मिता. २।२८८ स्याद् (तु) पू.; अप. २।२८८ द्विगु (त्रिगु); व्यक. १२७ कन्यां या (या कन्यां) द्विगु (त्रिगु); विर. ४०३ तस्याः स्याद् (तस्यास्तस्या); पमा. ४७०; विचि. १७७; दवि. १८६ द्विगु (त्रिगु) श्चैवा (श्च प्रा); सवि. ४७२ कन्यां या (कन्यायाः) स्याद् (तु) पू.; वीमि. २।२८६ मितावत्; व्यप्र. ४०३ मितावत्, पू.; विता. ८१७ मितावत्, पू.; बाल. २।२८८ (=) उत्त.; सेतु. २७६ नारदः; समु. १५६ तो दमः (तं दमम्) द्विगु (त्रिगु); विव्य. ५४ च्छिफाश्चै (द्धित्वा चै) नारदः; नन्द. च्छिफा (च्छिखा).

येत्सा द्विशतं दाप्या। शुल्कश्च त्रिगुणः। किं पुनः शुल्कस्य परिमाणम्? एषामन्यद्रूपसौन्दर्याद्यपेक्षं सौभाग्यापेक्षं च। शिफाः रज्जुलताप्रहाराः। मेधा.

(२) या कन्यैव कन्यां अपरां अङ्गुलिप्रक्षेपेण नाशयेत्तस्या द्विशतो दण्डः स्यात्। शुल्कं वाऽसौ कन्यापितुर्दद्यात्, शिखाप्रहारांश्च दश प्राप्नुयात्। × गोरा.

(३) अयमर्थः— या कन्या केनापि हेतुनाऽङ्गुल्यादिना कन्यां क्षतयोनिं कुर्यात्सा पणशतद्वयं राज्ञे दद्यात्। तथा यच्छुल्कं मूल्यं कन्याऽर्हति, तत्त्रिगुणं तस्यै दूषितायै दत्त्वा दश शिफाश्चाप्नुयात्। रज्जुप्रहारो लताप्रहारो वा शिफा। अप. २।२८८

(४) कन्या स्वयमन्यां कन्यां कुर्यात् अङ्गुलीप्रक्षेपेण। शुल्कं कन्याशुल्कं पित्रे स्पृष्टमैथुनताशङ्कयाऽन्येनापरिणयनात्। शिफा वृक्षजटाः दश दशकृत्वस्ताभिस्ताडनं प्राप्नुयात्। मवि.

(५) द्विगुणं द्विशतापेक्षया। विर. ४०४

(६) कुर्यादविषह्येत्यनुवर्तते। येन शुल्केन तां पिता दास्यति तत्त्रिगुणम्। दशशिखाश्चाप्नुयात्तस्याः शिरसि दशशिखाश्च कारयेत्। शिफा इति वा पाठः। शिफा जटा। *नन्द.

**या तु कन्यां प्रकुर्यात्स्त्री सा सद्यो मौण्ड्यमर्हति।**
**अङ्गुल्योरेव वा छेदं खरेणोद्वहनं तथा॥**

(१) स्त्रियां कन्यानां कन्यालिङ्गं नाशयन्त्यां मौण्ड्यं केशवपनं दण्डोऽङ्गुलिच्छेदो वा, खरेणोद्वहनं केशच्छेदपक्षे। कन्याजात्यादिभेदान्निग्राह्यभेदात् त्रैवर्णिकस्त्रीणां ब्राह्मणादिक्रमेणेमं दण्डमिच्छन्ति, मुद्राश्च कल्पयन्ति ते प्रमाणाभावादुपेक्षणीयाः। मेधा.

(२) या पुनः स्त्री कन्यां नाशयेत् सा तत्क्षणादेव शिरोमुण्डनमनुबन्धापेक्षया अङ्गुल्योरेव छेदनमर्हति। तथा खरेण राजमार्गे वहनमर्हति इदं चात्र पूर्वाभ्यां विकल्पिताभ्यां समन्वितम्। गोरा.

(३) स्त्री चात्र कन्याव्यतिरिक्ता वेदितव्या। कन्यायाः पूर्वमुक्तत्वात्। अप. २।२८८

(४) स्त्री युवती। मौण्ड्यं ब्राह्मणी। खरेणोद्वहनं क्षत्रिया। इतरे अङ्गुलीच्छेदम्। *मवि.

(५) या पुनः कन्यामङ्गुलिप्रक्षेपेण स्त्री नाशयेत्सा तत्क्षणादेव शिरोमुण्डनं, अनुबन्धापेक्षयाऽङ्गुल्योरेव छेदनं, गर्दभेण च राजमार्गे वहनमर्हति। × ममु.

(६) योषित्कर्तृकेऽपि तस्मिन्दण्डमाह— या त्विति। स्त्रीपदमत्र क्लीबोपलक्षकं न्यायस्य तुल्यत्वात्। पूर्वं तु कन्यापदं गोबलीवर्दन्यायेन दण्डविशेषार्थम्। मौण्ड्यं शिरोमुण्डनं, विकल्पश्छिद्रतारतम्यापेक्षया। अत्रापि पूर्वोक्ता हेतवोऽधिकं तु द्वेषमात्रम्। मच.

(७) या तु युवती स्त्री कन्यां प्रकुर्यात् कन्यायाः संभोगं कुर्यात् सा स्त्री सद्यः मौण्ड्यं मुण्डस्य भावः मौण्ड्यं दण्डं अर्हति। तथा खरेण गर्दभेन उद्वहनं च पुनः अङ्गुल्योश्छेदनं कर्तनम्। भाच.

साहसादीनां परस्त्रीसंग्रहणान्तानां दण्डनिबन्धनानां पदानां उपसंहारः

**यस्य स्तेनः पुरे नास्ति नान्यस्त्रीगो न दुष्टवाक्।**
**न साहसिकदण्डघ्नौ स राजा शक्रलोकभाक्॥**

(१) यस्य राज्ञः पुरे देशे राष्ट्रे स्तेनश्चौरो नास्ति स शक्रस्येन्द्रस्य लोकं स्थानं भजते स्वर्गं प्राप्नोति। नान्यस्त्रीगोऽन्यस्य या स्त्री भार्याऽवरुद्धा पुनर्भूर्वा, स्त्रीग्रहणमभार्याया अप्यसंबन्धिन्याः प्रतिषेधार्थम्। दुष्टवाक् त्रिविधस्याक्रोशस्य कर्ता। साहसिक उक्तः।

---

× ममु., विचि., मच. गोरावत्।

* भाच. नन्दवत्।

(१) **मस्मृ.** ८।३७० ग., वा (च) [या तु...स्त्री (कन्यां प्रकुर्याद्या तु स्त्री) रेव वा छेदं (श्छेदनं चैव) Noted by Jha]; **मिता.** २।२८८ (ख) वा (च); **अप.** २।२८८ वा (च); **व्यक.** १२७; **विर.** ४०३-४ तु कन्यां (कन्यां वि) सा सद्यो (सद्योऽसौ) वा (च); **पमा.** ४७०; **विचि.** १७७ (=) रेव वा (रचयेत्); **दवि.** १८६ सा सद्यो (सद्योऽसौ) वा (च) द्वहनं (द्धरणं); **सवि.** ४७२ उत्तरार्धे (अङ्गुल्यादेरवच्छेदः करणोद्वहन तथा); **वीमि.** २।२८६ वा (च); **व्यप्र.** ४०३ द्वहनं (द्वासनं); **व्यउ.** १३७; **विता.** ८१७; **सेतु.** २७६ (=) वा (च); **समु.** १५६ तथा (ततः).

* दवि. मविवत्। × विचि. ममुवत्।

(१) **मस्मृ.** ८।३८६ ख., घ्नौ (घ्नो); **व्यक.** १२८; **विर.** ४०८; **विचि.** २६४; **दवि.** ३३; **सेतु.** २७९.

दण्डेन हन्ति दण्डपारुष्यकृत्। शक्रलोकभागिति सर्वत्रानुषङ्गः। स्तेनादीनां शरीरनिग्रहशेषोऽयमर्थवादः। मेधा.

(२) यस्य राज्ञो राष्ट्रे चौरपारदारिकवाक्पारुष्यदण्डपारुष्याग्निदाहादिसाहसकारिणः न सन्ति स राजा स्वर्गं व्रजेत्। *गोरा.

(३) अत्रान्तरा उच्चावचाननुक्तान् कांश्चिद्राजधर्मान् प्रसङ्गादाह—यस्येति। दुष्टवाक् दुष्टपारुष्यकृत्। दण्डघ्नो दण्डपारुष्यकृत्। मवि.

(४) राजाऽवश्यं स्तेनादिपञ्चसु दण्डपरो भवेदित्येतच्छक्यमाविष्कुर्वन् आह— यस्येति द्वाभ्याम्। अन्यस्त्रीगः पारदारिकः। स शक्रलोकभाक् मृत्वेति शेषः। मच.

(५) य एते वाक्पारुष्यदण्डपारुष्यस्तेयसाहसस्त्रीसंग्रहणरूपाः पञ्च दोषा उक्तास्तेषु प्रवर्तमानानां निग्रहेण राज्ञां फलमाह— यस्य स्तेन इति। यस्य पुरे स्तेनो नास्ति दण्डभयाद्यस्य विषये चोरो नास्ति। दण्डेन हन्तीति दण्डघ्नः दण्डपारुष्यकृत्। पुर इति राष्ट्रस्याप्युपलक्षणम्। नन्द.

**एतेषां निग्रहो राज्ञः पञ्चानां विषये स्वके।**
**साम्राज्यकृत्सजात्येषु लोके चैव यशस्करः॥**

(१) साम्राज्यं परप्राणवित्तस्वातन्त्र्यं, सजात्येषु [1]समानेषु मूर्धनि, राजानः सजात्या अभिप्रेतास्तेषु मूर्धन्यधितिष्ठति, तस्याज्ञाकराः संभवन्तीत्यर्थः। लोके च यशस्करः, [2]ख्यातिमुत्पादयति। उभयत्रापि निग्रह एव कर्ता हेतुत्वात्। जनमारकोऽयं क्रोधन इति न[4] वदन्त्यपि तु स्तुवन्ति। मेधा.

(२) एतेषां स्तेनादीनां स्वराष्ट्रे राज्ञो निग्रहः समजातीयेषु मध्ये राजत्वस्य कारको लोके च ख्यातेरुत्पादकः। *गोरा.

(३) साम्राज्यं समीचीनं राज्यम्। स्वजात्येषु मध्ये। मवि.

(४) पञ्चानां स्तेनादीनाम्। विषये राष्ट्रे। स्वजात्येषु राजसु मध्ये साम्राज्यकृत् एवं कुर्वन् चक्रवर्ती स्यादिति भावः। यशस्करः लोके स्वानुरूपं यशो धत्ते। मच.

## याज्ञवल्क्यः

स्त्रीसंग्रहणस्वरूपम्

स्त्रीसंग्रहणाख्यं विवादपदं व्याख्यायते। प्रथमसाहसादिदण्डप्राप्त्यर्थं त्रेधा तत्स्वरूपं व्यासेन विवृतम्— 'त्रिविधं तत्समाख्यातं प्रथमं मध्यमोत्तमम्। अदेशकालभाषाभिर्निर्जने च परस्त्रियाः॥ कटाक्षावेक्षणं हास्यं प्रथमं साहसं स्मृतम्। प्रेषणं गन्धमाल्यानां धूपभूषणवाससाम्॥ प्रलोभनं चान्नपानैर्मध्यमं साहसं स्मृतम्। सहासनं विविक्तेषु परस्परमुपाश्रयः॥ केशाकेशिग्रहश्चैव सम्यक् संग्रहणं स्मृतम्॥' स्त्रीपुंसयोर्मिथुनीभावः संग्रहणम्। मिता.

संग्रहणलक्षणानि, परस्त्रीपुरुषसंभाषायां दण्डविधिः, वर्णभेदेन संग्रहणे दण्डविधिश्च

**पुमान् संग्रहणे ग्राह्यः केशाकेशि परस्त्रिया।**
**सद्यो वा कामजैश्चिह्नैः प्रतिपत्तौ द्वयोस्तथा॥**

(१) राजपत्न्यभिगमनप्रसङ्गात् परपरिगृहीतस्त्रीमात्राश्रयं संग्रहणविधिमाह—पुमानिति। पुंग्रहणं पुंसो दमातिरेकार्थम्। केशाकेशिग्रहणं यन्त्रारूढग्रहणार्थम्। साद्यैर्वा कामजैर्नखदन्तक्षतादिभिश्चिह्नैः, द्वयोरेव वा संप्रतिपत्तौ। विश्व. २।२८७

(२) संग्रहणज्ञानपूर्वकत्वात्तत्कर्तुर्दण्डविधानं तज्ज्ञानोपायं तावदाह—पुमानिति। संग्रहणे प्रवृत्तः पुमान् केशाकेश्यादिभिर्लिङ्गैर्ज्ञात्वा ग्रहीतव्यः। परस्परं केशग्रहणपूर्विका क्रीडा केशाकेशि। 'तत्र तेनेदमिति सरूपे' इति बहुव्रीहौ सति 'इच् कर्मव्यतिहारे' इति समासान्त इच्प्रत्ययः। अव्ययत्वाच्च लुप्ततृतीयाविभक्तिः। ततश्चायमर्थः। परभार्यया सह केशाकेशिक्रीडनेनाभिनवैः कररुहदशनादिकृतव्रणैः रागकृतैर्लिङ्गैर्द्वयोः संप्रतिपत्त्या

* ममु. गोरावत्।

(१) मस्मृ. ८।३८७ [ त्सजात्येषु (त्स्वराज्येषु) Noted by Jha ]; विर. ४०८; विचि. २६४ कृत्सजात्येषु ( कृतसाजात्ये ); सेतु. २८०.

१ रसंग्र. २ समानस्यार्थिनो रा. ३ इत्युत्पादयन्ति।. ४ (न०).

(१) यास्मृ. २।२८३; अपु. २५८।६८ स्त्रिया (स्त्रियाः) पू.; विश्व. २।२८७ स्त्रिया ( स्त्रियाः ) सद्यो वा ( साद्यैर्वा ); मिता. अपुवत्; अप.; व्यक. १२४; विर. ३८१; पमा. ४६३; रत्न. १३२ अपुवत्; नृप्र. २०६; वीमि.; व्यप्र. ३९८; व्यउ. १३५ अपुवत्; व्यम. १०८ अपुवत्; विता. ७०८; राकौ. ४८४ अपुवत्; समु. १५३.

वा ज्ञात्वा संग्रहणे प्रवृत्तो ग्रहीतव्यः। परस्त्रीग्रहणं नियुक्तावरुद्धादिव्युदासार्थम्। * मिता.

(३) अथ परस्त्रीसंभोगात्मके संग्रहणे निमित्ते पुरुषस्य ग्राह्यतायां कारणमाह— पुमानिति। संग्रहणे परस्त्रिया सह मिथुनीभावे निमित्ते दण्डयितुं पुमान् ग्राह्यः। केन हेतुनेत्यपेक्षित उक्तं— केशाकेशि, परस्त्रिया सह परस्परकेशग्रहणवत्या क्रीडया पुमान् ग्राह्य इत्यन्वयः। बहुव्रीहिसमासात्मकं तृतीयान्ता(न्त)-वृत्तीच्समासान्तं केशाकेशीत्यव्ययम्। न केवलमयमेव हेतुः, किन्तु सद्यः संभूतानि परस्परमिथुनीभावाभिलाषा-दुत्पन्नानि दन्तनखक्षतादीनि चिह्नानि सुरत(ता)-व्यभिचारीणीति, तैरपि हेतुभिर्ग्राह्यः। उक्तहेत्वभावेऽपि द्वयोः स्त्रीपुंसयोः सिद्धो मिथुनीभाव आवयोरित्येवं-रूपायां संप्रतिपत्तौ सत्यामपि ग्राह्यः। अप.

(४) तत्रादौ संग्रहणस्य मिथुनीभावस्वरूपज्ञापकमाह— पुमानिति। केशाकेशि परस्परकेशग्रथननीव्याद्याकर्षणं, अदेशकाले निर्जननिशीथादौ संभाषा सहावस्थानं च यथा स्यात्तथा परस्त्रिया संग्रहणे मिथुनीभावे पुरुषो ग्राह्यः, तन्मैथुनकर्तृत्वेन निश्चेयः। सद्य एव कामा-ज्जातैर्नखक्षतादिभिश्चिह्नैश्च ग्राह्यः। द्वयोः स्त्रीपुंसयोस्तथा प्रतिपत्तौ परस्परमैथुनभावयोरित्येवं संप्रतिपत्तौ च ग्राह्यः। नीवी परिधानग्रन्थिः, स्तनप्रावरणं बन्धनांशुकं, सक्थिनिरूढाः केशाश्च, एषामवमर्शनं यथा स्यात्। चकारेण गन्धमाल्यप्रेषणादिसमुच्चयः। एवकारेणाऽन्यथा-सिद्धिशङ्कया उक्तस्थलेषु व्यवच्छेदः। +वीमि.

(५) द्वयोरित्यनेनान्यतरेण प्रतिपन्नेऽपि व्यभिचारे न निश्चयः। व्यम. १०८

(१)नीवीस्तनप्रावरणसक्थिकेशावमर्शनम्।
अदेशकालसंभाषं सहावस्थानमेव च ×॥

(१) अन्यतरानिच्छायां तु पुमान् योषिद्वा— 'नीवी-स्तनप्रावरणनाभिकेशावमर्शनम्। अदेशकालसंभाषां सहावस्थानमेव च॥ स्त्री निषिद्धा शतं दण्ड्या कुर्वती द्विशतं पुमान्। अनिषेधे तयोर्दण्डो यथा संग्रहणे तथा॥' नीव्यादिस्पर्शनादेशकालसंभाषणसहावस्थानादि पुंसा निवारिता स्त्री कुर्वती शतं दण्ड्या। स्त्रिया निवारितः पुमान् द्विशतं दण्ड्यः। द्वयोरपि त्वन्योन्यमिच्छया संग्र-हणोक्त एव दण्डः। नीवी रशनापरिवर्तिकादेशः। रहो-विवक्षया संभाषणमदेशकालसंभाषणम्। स्पष्टमन्यत्।
विश्व. २।२८९-९०

(२) यः पुनः परदारपरिधानग्रन्थिप्रदेशकुचप्रावरण-जघनमूर्धरुहादिस्पर्शनं साभिलाष इवाचरति। तथा अदेशे निर्जने जनताकीर्णे वान्धकाराकुले अकाले संला-पनं करोति। परभार्यया वा सहैकमञ्चकादौ रिरंसयेवाव-तिष्ठते यः सोऽपि संग्रहणे प्रवृत्तो ग्राह्यः। एतच्चाशङ्क्य-मानदोषपुरुषविषयम्। इतरस्य तु न दोषः। यथाह मनुः—'यस्त्वनाक्षारितः पूर्वमभिभाषेत कारणात्। न दोषं प्राप्नुयात्किंचिन्न हि तस्य व्यतिक्रमः॥' इति। यः परस्त्रिया स्पृष्टः क्षमतेऽसावपि ग्राह्य इति तेनैवोक्तम्। 'स्त्रियं स्पृशेददेशे यः स्पृष्टो वा मर्षयेत्तथा। परस्परस्या-नुमते सर्वं संग्रहणं स्मृतम्॥' इति। यश्च मयेयं विदग्धाऽसकृद्रमितेति श्लाघया भुजङ्गजनसमक्षं ख्यापय-त्यसावपि ग्राह्य इति तेनैवोक्तम्— 'दर्पाद्वा यदि वा मोहाच्छ्लाघया वा स्वयं वदेत्। पूर्वं मयेयं भुक्तेति तच्च संग्रहणं स्मृतम्॥' इति। * मिता.

(३) संग्रहणे ग्राह्य इत्यनुवर्तते। यः परस्त्रीणां नीव्यादिस्पर्शं करोति, यत्र देशे च काले च परस्त्रिया सह भाषमाणः शिष्टैर्न गर्ह्यते ततोऽन्यो देशः कालश्चा-देशकालम्। तत्र यः परस्त्रीसंभाषणं कुरुते, यश्चैकत्र

* पमा., विता. मितावत्।

+ उत्तरश्लोकं संमील्येदं व्याख्यानं कृतम्। विर., व्यप्र. वीमिवद्भावः। × वीमि.व्याख्यानं पूर्वश्लोके द्रष्टव्यम्।

(१) यास्मृ. २।२८४; अपु. २५८।६९-७० सक्थि (नाभि) मर्श (मर्द); विश्व. २।२८९ सक्थि (नाभि) भाषं (भाषां); मिता. सहावस्थान (सहैकासन); अप. सहाव (सहैक); व्यक. १२४ सक्थि...नम् (मूरुकेशाग्र-दर्शनम्); विर. ३८१-२ सक्थि (मूरु) मर्श (दर्श); पमा. ४६३ भाषं सहाव (भाषा सहैक); रत्न. १३२ अप-वत्; नृप्र. २०६ पमावत्; वीमि. अपवत्; व्यप्र. ३९८ अपवत्; व्यउ. १३५ अपवत्; विता. ७९९ सक्थि (जङ्घा) शेषं अपवत्; राकौ. ४८४ अपवत्; समु. १५३ पमावत्.

* विर., पमा., रत्न., व्यप्र., व्यउ., विता. मितावत्।

शयन आसने वा परस्त्रिया सहावतिष्ठते, स पुमान् संग्रहणे ग्राह्यः। नीवी परिधानग्रन्थिः। कुचयोरावरणं स्तनप्रावरणम्। सक्थि जघनम्। अप.

**स्त्री निषेधे शतं दद्यात् द्विशतं तु दमं पुमान्। प्रतिषेधे तयोर्दण्डो यथा संग्रहणे तथा *॥**

(१) प्रतिषिद्धयोर्द्वयोः स्त्रीपुंसयोः पुनः संलापादिकरणे दण्डमाह—स्त्रीति। प्रतिषिध्यत इति प्रतिषेधः पतिपित्रादिभिर्येन सह संभाषणादिकं निषिद्धं तत्र प्रवर्तमाना स्त्री शतपणं दण्डं दद्यात्। 'पुरुषः पुनरेवं निषिद्धे प्रवर्तमानो द्विशतं दद्यात्। द्वयोस्तु स्त्रीपुंसयोः प्रतिषिद्धे प्रवर्तमानयोः संग्रहणे संभोगे वर्णानुसारेण यो दण्डो वक्ष्यते स एव विज्ञेयः। एतच्च चारणादिभार्याव्यतिरेकेण। 'नैष चारणदारेषु विधिर्नात्मोपजीविषु। सज्जयन्ति हि ते नारीं निगूढाश्चारयन्ति च ॥' इति मनुस्मरणात्। ×मिता.

(२) उभावपि निवारितौ चेत् परस्परमालपतस्तदा द्वौ प्रत्येकं प्रथमसाहसं दण्ड्याविर्त्यर्थः। +विचि. १७३

(३) अत्र मानवं वचनमभ्यासविषयं धनिकविषयं वा। याज्ञवल्कीयं त्वनभ्यासनिर्धनविषयमिति प्रतिभाति। +दवि. १५७

(४) स्त्रीपुरुषौ द्वावपि चेत्प्रतिषिद्धौ परस्परमालापादिकं कुरुतः तदा संग्रहणे यथा उत्तमसाहसो दण्डस्तथा तयोर्दण्ड इत्यर्थः। तुशब्देन द्वितीयस्य निषेधो व्यवच्छिद्यते। +वीमि.

**सजातावुत्तमो दण्ड आनुलोम्ये तु मध्यमः। प्रातिलोम्ये वधः पुंसो नार्याः कर्णादिकर्तनम् ॥**

(१) अनुमानकौशलात् प्रत्यक्षोपलम्भनाद्वा स्पष्टीकृते संग्रहणे—'सजातावुत्तमो दण्ड आनुलोम्ये तु मध्यमः। प्रातिलोम्ये वधः पुंसां स्त्रीणां नासादिकृन्तनम् ॥' आनुलोम्यादिविशेषे स्मृत्यन्तरानुसाराद् धनदण्डवधदण्डयोर्यथार्हं व्यवस्था कल्पनीया। उदाहरणार्थं चैतदाचार्येणोक्तमित्यवसेयम्। ऋज्वन्यत्। विश्व. २।२८८

(२) तदिदानीं संग्रहणे दण्डमाह—सजातावुत्तम इति। चतुर्णामपि वर्णानां बलात्कारेण सजातीयगुप्तपरदाराभिगमने साशीतिपणसहस्रं दण्डनीयः। यदा त्वानुलोम्येन हीनवर्णो स्त्रियमगुप्तामभिगच्छति तदा मध्यमसाहसं दण्डनीयः। यदा पुनः सवर्णामगुप्तामानुलोम्येन गुप्तां वा व्रजति तदा मानवे विशेष उक्तः—'सहस्रं ब्राह्मणो दण्ड्योऽगुप्तां विप्रां बलाद्व्रजन्। शतानि पञ्च दण्ड्यः स्यादिच्छन्त्या सह संगतः ॥' तथा—'सहस्रं ब्राह्मणो दण्डं दाप्यो गुप्ते तु ते व्रजन्। शूद्रायां क्षत्रियविशोः सहस्रं तु भवेद्दमः ॥' इति। एतच्च गुरुसखिभार्यादिव्यतिरेकेण द्रष्टव्यम्। 'माता मातृष्वसा श्वश्रूर्मातुलानी पितृष्वसा। पितृव्यसखिशिष्यस्त्री भगिनी तत्सखी स्नुषा ॥ दुहिताचार्यभार्या च सगोत्रा शरणागता। राज्ञी प्रव्रजिता धात्री साध्वी वर्णोत्तमा च या ॥ आसामन्यतमां गच्छन्

---

* विश्व. व्याख्यानं पूर्वश्लोके द्रष्टव्यम्।

× अप., विर., रत्न., व्यप्र., व्यम., विता. मितावत्।

+ शेषं मितावत्।

(१) **यास्मृ.** २।२८५; **अपु.** २५८।७०-७१; **विश्व.** २।२९० निषेधे...दमं (निषिद्धा शतं दण्ड्या कुर्वती द्विशतं) प्रति (अति); **मिता.**; **अप.**; **व्यक.** १२५ दद्यात् (दण्ड्या); **विर.** ३८६ व्यकवत्; **रत्न.** १३० व्यकवत्; **विचि.** १७३ व्यकवत्; **व्यनि.** ३९९; **दवि.** १५७ व्यकवत्; **वीमि.** प्रतिषेधे (निषिद्धयोः); **व्यप्र.** ४०१; **व्यम.** १०६ व्यकवत्; **विता.** ८०१ व्यकवत्; **सेतु.** २६५ व्यकवत्; **समु.** १५४ व्यकवत्.

(१) **यास्मृ.** २।२८६; **अपु.** २५८।६८-९ सजा (स्वजा) पुंसो (पुंसां) र्णादि (र्णाव); **विश्व.** २।२८८ पुंसो...र्तनम् (पुंसां स्त्रीणां नासादिकृन्तनम्); **मिता.**; **अप.**; **व्यक.** १२५-६ सजा (स्वजा) पुंसो (पुंसां); **स्मृच.** ३२१; **विर.** ३९० प्राति (प्रति); **पमा.** ४६४; **रत्न.** १३०; **विचि.** १८३ सजा (स्वजा); **व्यनि.** ४०० पुंसो (पुंसां) नार्याः कर्णादि (स्त्रीणां नासादि); **स्मृचि.** २६ विचिवत्; **दवि.** १६६ उत्त., कामधेनावकर्तनमिति पठितम्: १६७ विचिवत्, पू.; **नृप्र.** २०७ सजाताबु (अज्ञानादु) म्ये वधः (म्येऽधमः); **सवि.** ४६९ सजाताबु (सजात्यामु); **वीमि.**; **व्यप्र.** ३९९; **व्यउ.** १३६ विचिवत्; **व्यम.** १०६; **विता.** ८०१ सजा (स्वजा) म्ये तु (म्येऽथ); **राकौ.** ४८४ विचिवत्; **सेतु.** २६७-८; **विव्य.** ६५ विचिवत्.

गुरुतल्पग उच्यते । शिश्नस्योत्कर्तनात्तत्र नान्यो दण्डो विधीयते ॥' इति नारदस्मरणात् । प्रातिलोम्ये उत्कृष्टवर्णस्त्रीगमने क्षत्रियादेः पुरुषस्य वधः । एतच्च गुप्ताविषयम् । अन्यत्र तु धनदण्डः—'उभावपि हि तावेव ब्राह्मण्या गुप्तया सह । विप्लुतौ शूद्रवद्दण्ड्यौ दग्धव्यौ वा कटाग्निना ॥ ब्राह्मणीं यद्यगुप्तां तु सेवेतां वैश्यपार्थिवौ । वैश्यं पञ्चशतं कुर्यात्क्षत्रियं तु सहस्रिणम् ॥' इति मनुस्मरणात् । शूद्रस्य पुनरगुप्तामुत्कृष्टवर्णां स्त्रियं व्रजतो लिङ्गच्छेदनसर्वस्वापहारौ । गुप्तां तु व्रजतस्तस्य वधसर्वस्वापहाराविति तेनैवोक्तम्—'शूद्रो गुप्तमगुप्तं वा द्वैजातं वर्णमावसन् । अगुप्तमङ्गसर्वस्वैर्गुप्तं सर्वेण हीयते ॥' इति । नार्याः पुनर्हीनवर्णं व्रजन्त्याः कर्णयोरादिग्रहणान्नासादेश्च कर्तनम् । आनुलोम्येन वा सवर्णं वा व्रजन्त्याः दण्डः कल्प्यः । अयं च वधाद्युपदेशो राज्ञ एव तस्यैव पालनाधिकारान्न द्विजातिमात्रस्य । तस्य 'ब्राह्मणः परीक्षार्थमपि शस्त्रं नाददीत' इति शस्त्रग्रहणनिषेधात् । यदा तु राज्ञो निवेदनेन कालविलम्बनेन कार्यातिपाताशङ्का तदा स्वयमेव जारादीन् हन्यात्—'शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुध्यते' । तथा 'नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन । प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा मन्युस्तं मन्युमृच्छति ॥' इति शस्त्रग्रहणाभ्यनुज्ञानाच्च । तथा क्षत्रियवैश्ययोरन्योन्यस्त्र्यभिगमने यथाक्रमं सहस्र-पञ्चशतपणात्मकौ दण्डौ वेदितव्यौ । तदाह मनुः—'वैश्यश्चेत्क्षत्रियां गुप्तां वैश्यां वा क्षत्रियो व्रजेत् । यो ब्राह्मण्यामगुप्तायां तावुभौ दण्डमर्हतः ॥' इति ।

* मिता.

(३) सर्वेषां वर्णानां सजातौ सवर्णे यत्संग्रहणं तत्रोत्तमसाहसो दण्डः । आनुलोम्ये ब्राह्मणादेः क्षत्रियादिस्त्र्यभिगमने तु मध्यमसाहसो दण्डः । गुप्तां बलाद्गच्छत एतत् । यदाह मनुः—'सहस्रं ब्राह्मणो दण्डं दाप्यो गुप्ते तु ते व्रजन् । शूद्रायां क्षत्रियविशोः साहस्रो वै भवेद्दमः ॥' ते क्षत्रियावैश्ये । तथा—'अगुप्ते वैश्यराजन्ये शूद्रां वा ब्राह्मणो व्रजन् । शतानि पञ्च दाप्यः स्यात्सहस्रं त्वन्त्यजस्त्रियम् ॥' प्रातिलोम्ये हीनवर्णः पुरुष उत्तमवर्णा स्त्रीत्येवंरूपे संग्रहणे पुंसो वधः । स्त्रियास्तु कर्णकरनासौष्ठच्छेदनं कार्यम् । गुप्तायां स्त्रियामेतत् ।

अप.

(४) स्त्रीपुंसयोः परस्परानुरागजोपगमने तु दण्डमाह याज्ञवल्क्यः— सजाताविति । अत्र नार्या अपि दण्डाभिधानात् अन्योन्यानुरागजोपभोगविषयमिदं वचनमिति गम्यते, गुरुदण्डाभिधानात्, संबन्धिभिः प्रसह्य परिपालितचरितशालिनीविषयमिति च गम्यते । मध्यमो दण्डः चत्वारिंशत्सहितपञ्चशतकार्षापणात्मकः । एवं च पञ्चशताधिकत्वात् अयमपि गुरुदण्डः । 'ऋणं वा यदि वा दण्डः प्रायश्चित्तमथापि वा । यत्र पञ्चशतादिः स्यात्तत्कार्यं गुरु कीर्तितम् ॥' इति स्मरणात् । तेन गुरुत्वान्मध्यमोऽपि पूर्वोक्तगुप्ताविषय एव । कर्णादिकर्तनं तु प्रातिलोम्ये एव, तदनन्तराभिधानात् वधार्धतुल्यत्वाच्च । एवं च सजातावानुलोम्ये च नार्याः पुंसोऽभिहितार्धदण्डः कल्पनीय इति वधार्धतुल्यकर्णादिकर्तनाभिधानादेवावगन्तव्यम् ।

स्मृच. ३२१

(५) कर्णादीत्यादिशब्दः केशादिपरः । एवञ्च पुंसः कार्योऽधिकायामिति बृहस्पतिवाक्येऽपि स्त्रीकर्णादिसहितमेव प्रमापणं द्रष्टव्यम् ।

विर. ३९०

(६) चतुर्णामपि वर्णानां बलात्कारेण सजातीयगुप्तपरभार्यागमने साशीतिपणसहस्रो दण्डः । यदा त्वानुलोम्येन हीनवर्णगुप्तपरभार्यागमनं तदा मध्यमसाहसो दण्डः ।

× पमा. ४६४

(७) यत्तूक्तं रत्नाकरकृता बृहस्पतिवाक्येऽपि स्त्रीणां कर्णादिकर्तनसहितमेव प्रमापणमिति, तत्रोत्तमास्त्रिया हीनाभिगमानुमतावभिलाषप्रकाशने वा कर्णच्छेदो न त्वन्यत्राऽपराधाभावादिति प्रतिभाति ।

* दवि. १६६-७

(८) एतच्चानुरागजसंग्रहणविषयम् । स्त्रिया अपि दण्डाभिधानात् । बलात्कारोपधिकृतयोस्तु स्त्रिया अनपराधित्वेन दण्डाभावात् । अस्मादेव प्रातिलोम्येन गमने पुरुषस्य वधं विधाय स्त्रियास्तदर्धतुल्यकर्णनासादिकर्तनविधानात् सजातीयागमने पुरुषस्य यावुक्तावुत्तममध्यमसाहसौ दण्डौ तदर्धं स्त्रिया दण्ड इति सूचितम् ।

× व्यप्र. ३९९

---

* रुवि., वीमि., व्यप्र., विता. मितावत् ।

× शेषं मितावत् । * शेषं मितावत् विरवच ।

[१]पितुः स्वसारं मातुश्च मातुलानीं स्नुषामपि ।
मातुः सपत्नीं भगिनीमाचार्यतनयां तथा ॥
[२]आचार्यपत्नीं स्वसुतां गच्छंस्तु गुरुतल्पगः ।
छित्त्वा लिङ्गं वधस्तस्य सकामायाः स्त्रिया अपि ॥

(१) प्रायश्चित्तातिरेकार्थं तु भेदेनाह—पितृष्वसामित्यादि । अत्र एवशब्दार्थे तुशब्दस्योत्कृष्य योजना, गच्छन् गुरुतल्पग एवेति । एतदुक्तं भवति—युक्तं सखिभार्यादिषु समत्ववचनं पितृष्वस्रादिषु गुरुतल्पग एव, यथाभ्यर्हिते मन्त्रिणि किमयं राजसम इत्युच्यते अयमयं राजैवेति । एवञ्च वदता पितृष्वस्रादिषु गुरुतल्पान्यूनत्वं तत्समातिरेकश्च दर्शितो भवति । अन्ये तु मुख्यमेव गुरुतल्पं व्याचक्षते । (तदयुक्तं ?) तन्विह मातुरनुपादानात् (अयुक्तम्) । स्मृत्यन्तरे च 'ब्रह्महसुरापगुरुतल्पग' इत्युक्त्वा 'मातापितृयोनिसंबन्धाग' इत्युक्तं, 'स्नुषायां गवि च तत्समोऽवकर इत्येके' इति च । तदसमञ्जसं स्यात्, अतः पूर्वैव व्याख्या ज्यायसी । मातुः सपत्नीति चासवर्णाभिप्रेता इतरासु तु गुरुतल्पसमत्वं मुख्यमेव यतः । स्पष्टमन्यत् । विश्व. ३।२२७-८

(२) गुरुतल्पातिदेशमाह—पितुरिति । पितृष्वस्रादयः प्रसिद्धास्ताः गच्छन् गुरुतल्पगस्तस्य लिङ्गं छित्त्वा राज्ञा वधः कर्तव्यो दण्डार्थे प्रायश्चित्तं च तदेव । चशब्दाद्राज्ञीप्रव्रजितादीनां ग्रहणम् । यथाह नारदः—'माता मातृष्वसा श्वश्रूर्मातुलानी पितृष्वसा । पितृव्यसखिशिष्यस्त्री भगिनी तत्सखी स्नुषा ॥ दुहिताचार्यभार्या च सगोत्रा शरणागता । राज्ञी प्रव्रजिता धात्री साध्वी वर्णोत्तमा च या ॥ आसामन्यतमां गच्छन् गुरुतल्पग उच्यते । शिश्नस्योत्कर्तनात्तत्र नान्यो दण्डो विधीयते ॥' इति । राज्ञी राज्यस्य कर्तुर्भार्या, न क्षत्रियस्यैव । तद्गमने प्रायश्चित्तान्तरोपदेशात् । धात्री मातृव्यतिरिक्ता स्तन्यदानादिना पोषयित्री । साध्वी व्रतचारिणी । वर्णोत्तमा ब्राह्मणी । अत्र मातृग्रहणं दृष्टान्तार्थम् । अयं च लिङ्गच्छेदवधात्मको दण्डो ब्राह्मणव्यतिरिक्तस्य । 'न जातु ब्राह्मणं हन्यात् सर्वपापेष्ववस्थितम् ।' इति तस्य वधनिषेधात् वधस्यैव प्रायश्चित्तरूपत्वात् । अस्य च विषयं गुरुतल्पप्रायश्चित्तप्रकरणे प्रपञ्चयिष्यामः । अत्र स्नुषाभगिन्योः पूर्वश्लोकेन गुरुतल्पसमीकृतयोः पुनर्ग्रहणं प्रायश्चित्तविकल्पार्थम् । यदा पुनरेताः स्त्रियः सकामाः सत्य एतानेव पुरुषान् वशीकृत्योपभुञ्जते तदा तासामपि पुरुषवद्वध एव दण्डः प्रायश्चित्तं च । एतानि गुर्वधिक्षेपादितनयागमनपर्यन्तानि महापातकातिदेशविषयाणि सद्यःपतनहेतुत्वात्पातकान्युच्यन्ते । यथाह यमः—'मातृष्वसा मातृसखी दुहिता च पितृष्वसा । मातुलानी स्वसा श्वश्रूर्गत्वा सद्यः पतेन्नरः ॥' इति । गौतमेन पुनरन्येषामपि पातकत्वमुक्तम्—'मातृपितृयोनिसंबन्धागस्तेननास्तिकनिन्दितकर्माभ्यासिपतितात्याग्यपतितत्यागिनः पतिताः । पातकसंयोजकाश्चे'ति । तेषां च महापातकोपपातकमध्यपाठान्महापातकान्न्यूनत्वमुपपातकाच्च गुरुत्वमवगम्यते । तदुक्तम्—'महापातकतुल्यानि पापान्युक्तानि यानि तु । तानि पातकसंज्ञानि तन्न्यूनमुपपातकम् ॥' इति । तथा चाङ्गिराः— 'पातकेषु सहस्रं स्यान्महत्सु द्विगुणं तथा । उपपापे तुरीयं स्यान्नरकं वर्षसंख्यया ॥' इति । * मिता.

[१]अन्त्याभिगमने त्वङ्क्यः कुबन्धेन प्रवासयेत् ।
शूद्रस्तथान्त्य एव स्यादन्त्यस्यार्यागमे वधः ॥

---

(१) यास्मृ. ३।२३२; विश्व. ३।२२७ पूर्वार्धे (पितृष्वसां मातुलानीं स्नुषां मातृष्वसामपि); मिता.; अप.; स्मृच. ३२२; विर. ३९२ पू.; रत्न. १३१; विचि. १८४ पू.; व्यनि. ४०० उत्त.; दवि. १७९; वीमि.; व्यम. १०७; विता. ८०३; सेतु. २७० पू.; समु. १५५.

(२) यास्मृ. ३।२३३; विश्व. ३।२२८ याः स्त्रिया अपि (याश्च योषितः); मिता. छित्वा लिङ्गं (लिङ्गं छित्वा); अप. गच्छंस्तु (गच्छंश्च) छित्वा लिङ्गं (लिङ्गं छित्वा) अपि (तथा); व्यक. १२७ अपि (तथा) उत्त.; स्मृच.३२२ व्यकवत्; विर. ३९२ व्यकवत्: ३९९ व्यकवत्, उत्त.; रत्न.१३१ व्यकवत्; विचि. १८४ व्यकवत्; व्यनि. ४०० स्त्रिया अपि (स्त्रियस्तथा); दवि. १७९ व्यकवत्; वीमि.; व्यम. १०७; विता. ८०३; सेतु. २७० व्यकवत्; समु. १५५ व्यकवत्.

* अप., स्मृच., विर., विचि., वीमि., व्यम., विता. मितावत् ।

(१) यास्मृ. २।२९४; अपु. २५८।७३ (कुबन्धेनाङ्क्य गमयेदन्त्याप्रव्रजितागमे) एतावदेव; विश्व. २।२९७ कु (क) थान्त्य (थाङ्क्य); मिता.; अप. २।२९३ त्वङ्क्यः (त्वाङ्क्य) शेषं विश्ववत्; विर. ३९४ त्वङ्क्यः (त्वङ्क)

(१) कामतस्तु त्रैवर्णिकानां— 'अन्त्याभिगमने त्वङ्कयः कबन्धेन प्रवासयेत् । शूद्रस्तथाङ्क्य एव स्यादन्त्यस्यार्यागमे वधः ॥' अन्त्यशब्दोऽयं शूद्रान्निकृष्टापशदवचनः । तामन्त्यामपशदस्त्रियं गच्छंस्त्रैवर्णिकः कबन्धेनाङ्कयित्वा स्वराष्ट्राद्बहिष्कार्यः । शूद्रस्तथाङ्क्य एव स्यात् न बहिष्कार्यः । प्रायश्चित्तं त्वकुर्वतः कामतो वाऽभ्यासादेतद् द्रष्टव्यम् । ततश्च शूद्रस्याप्रवासनं दासत्वज्ञापनार्थम् । दासीकृत्य च प्रायश्चित्तं कारयितव्यम् । अन्त्यस्य त्वपशदस्य शूद्राद्यार्यस्त्र्यभिगमे वध एव । अनया दिशा संग्रहणस्वरूपपरिज्ञानोपायदण्डप्रपञ्चः कार्यः । विश्व. २।२९७

(२) अन्त्या चाण्डाली तद्गमने त्रैवर्णिकान्प्रायश्चित्तानभिमुखान् 'सहस्रं त्वन्त्यजस्त्रियम्' इति मनुवचनात्पणसहस्रं दण्डयित्वा कुबन्धेन कुत्सितबन्धेन भगाकारेणाङ्कयित्वा स्वराष्ट्रान्निर्वासयेत् । प्रायश्चित्ताभिमुखस्य पुनर्दण्डनमेव । शूद्रः पुनश्चाण्डाल्यभिगमेऽन्त्य एव चाण्डाल एव भवति । अन्त्यजस्य पुनश्चाण्डालादेरुत्कृष्टजातिस्त्र्यभिगमे वध एव । * मिता.

(३) अन्त्याश्चण्डालक्षत्त्रायोगवस्त्रियः । तदभिगन्तारं द्विजातिं प्रायश्चित्तमकुर्वाणं कबन्धेन शिरोरहितेन पुंसा ललाटेऽङ्कयित्वा स्वराष्ट्रात्प्रवासयेत् । शूद्रस्तु प्रायश्चित्तं कुर्वाणोऽप्यङ्क्य एव । अन्त्यस्य चण्डालादेरुत्तमवर्णां गच्छतो वध एव । अप.

(४) अङ्ककबन्धः अशिरस्कपुरुषाकारपुरुषाङ्कः तेनाङ्कयित्वा त्रैवर्णिकं निर्वासयेत् । तथा शूद्रोऽङ्क्य एव स्यात्, एवकारेण प्रवासनमात्रनिषेधः । तेनान्त्याभिगमे वधोक्तेरविरोधः । अन्त्यस्यार्यागमे वधः । आर्या त्रैवर्णिकस्त्री, तदभिगमे, अन्त्यश्चाण्डालो वध्य इत्यर्थः । पारिजाते तु 'शूद्रस्तथान्त्य एव स्यादि'ति पठितं व्याख्यातं च अन्त्य एव स्यान्न पुनः शूद्रेषु प्रवेश्य इति । अत्राविरोधो व्यक्त एव । विर. ३९४-५

(५) शूद्रस्त्वन्त्याभिगमे तथा भगाद्याकारेणाङ्क्य एव, न तु प्रवास्यः स्यात् । * वीमि.

कन्याहरणे कन्यादूषणे च वर्णभेदेन दण्डविधिः

**अलङ्कृतां हरन् कन्यामुत्तमं ह्यन्यथाधमम् ।**
**दण्डं दद्यात्सवर्णासु प्रातिलोम्ये वधः स्मृतः ॥**

(१) संग्रहणप्रायत्वात् कन्याहरणमपि प्रसङ्गादाह— अलङ्कृतामिति । अलङ्कृतोपक्लृप्तविवाहा । स्पष्टमन्यत् । विश्व. २।२९१

(२) पारदार्यप्रसङ्गात्कन्यायामपि दण्डमाह— अलङ्कृतामिति । विवाहाभिमुखीभूतामलङ्कृतां सवर्णां कन्यामपहरन्नुत्तमसाहसं दण्डनीयः । तदनभिमुखीं सवर्णां हरन् प्रथमं साहसम् । उत्कृष्टवर्णजां कन्यामपहरतः पुनः क्षत्रियादेर्वध एव । दण्डविधानाच्चापहर्तृसकाशादाच्छिद्यान्यस्मै देयेति गम्यते । + मिता.

(३) भारुच्यादयस्तु, राज्ञा दण्डनीय एव । किन्तु तस्य वरसंपत्तिरस्ति चेत् तस्मै देयेति पैशाचविवाहस्य सद्भावादित्याहुः । धारेश्वरादयस्तु, वरसंपत्तिप्रतिपादनं ह्यर्थदण्डान्तरम् । सवर्णा चेत्तस्मै देयेत्याहुः । सवि. ४७१

(४) अलङ्कृतामिति विवाहार्थमलङ्कृतां कन्यां सवर्णासु मध्ये सवर्णामिति यावत् संभोगार्थमकामां

* पमा. मितावत् । दण्डविवेके विवादरत्नाकरमतं मिताक्षरामतं च अनूदितम् ।

शेषं विश्ववत्; पमा. ४७१ थान्त्य (थाङ्क्य) मूलपाठोऽपि धृतः; रत्न. १३२ कु (क); विचि. १७९ (=) त्वङ्क्यः कुबन्धेन (त्वङ्कबन्धेनैव) थान्त्य (थाङ्क्य); व्यनि. ४०१ त्वङ्कयः (ऽङ्कित्वा); दवि. १७६ त्वङ्कयः (त्वङ्कं) शेषं विश्ववत्, कामधेनौ कल्पतरौ चाङ्क्येति पठितम् । ; सवि. ४७३ बन्धेन (दण्डेन) र्यागमे (भिगमे); वीमि.; व्यप्र. ४०४ त्वङ्कयः (त्वङ्क्य); व्यउ. १३८ त्वङ्कयः कु (त्वाङ्क्य क) मनुः ; व्यम. १०७ पमावत्; विता. ८११; समु. १५५; विव्य. ५५.

* शेषं मितावत् ।

+ अप., विर., पमा., विचि., दवि., सवि., व्यप्र., विता. मितावत् ।

(१) यास्मृ. २।२८७; विश्व. २।२९१ ह्यन्य (त्वन्य) वर्णासु (वर्णस्तु); मिता. (ख) हरन् (हरेत्); अप. ह्यन्य (त्वन्य) वर्णासु (वर्णा तु); व्यक. १२७; विर. ४०४; पमा. ४६९; विचि. १७७; स्मृचि. २७ दण्डं दद्यात् (दण्डः स्यात्); दवि. १८५ स्मृतः (तथा); सवि. ४७१ उत्तमं (ह्युत्तमं); वीमि.; व्यप्र. ४०२ ह्यन्य (त्वन्य); व्यउ. १३७ हरन् (हरेत्) ह्यन्य (त्वन्य); विता. ८१६ हरन् (हरेत्); सेतु. २७६; समु. १५६ व्यप्रवत्; विव्य. ५५.

हरन्नुत्तमसाहसं, अन्यथा विवाहार्थमलङ्कृतत्वाभावे सवर्णामकामां कन्यां हरन्नधमं प्रथमसाहसं दण्डं दद्यात्। प्रातिलोम्येऽपकृष्टेनोत्कृष्टवर्णकन्याहरणे भर्तुर्वधः स्मृतः।

वीमि.

**सकामास्वनुलोमासु न दोषस्त्वन्यथा दमः।**
**दूषणे तु करच्छेद उत्तमायां वधस्तथा॥**

(१) कन्यास्वेव— 'सकामास्वनुलोमासु न दोषस्त्वन्यथाधमः॥' इच्छन्तीषु कन्यासु सवर्णास्वनुलोमासु वा प्रदूष्यापहृतासु न दोषः, गान्धर्वविवाहविषयत्वात्। यस्त्वनलङ्कृतापहरणे अधमो दण्डः, सोऽन्यथा निष्कामास्वित्यर्थः। दूषणे तु कन्याभिगमने करच्छेदः, अनिच्छायामेव। अन्यथा त्वङ्गुलिविच्छेदः स्मृत्यन्तरानुसारात्। प्रातिलोम्येन तु कन्यादूषणे वध एव। तथाशब्दः स्मृत्यन्तरोक्तशूलारोहणादिप्रकारार्थः। स्पष्टमन्यत्।

विश्व.२।२९२

(२) आनुलोम्यापहरणे दण्डमाह—सकामास्विति। यदि सानुरागां हीनवर्णो कन्यामपहरति तदा दोषाभावान्न दण्डः। अन्यथा त्वनिच्छन्तीमपहरतः प्रथमसाहसो दण्डः। कन्यादूषणे दण्डमाह— दूषणे त्विति। अनुलोमास्वित्यनुवर्तते। यद्यकामां कन्यां बलात्कारेण नखक्षतादिना दूषयति तदा तस्य करः छेत्तव्यः। यदा पुनस्तामेवाङ्गुलिप्रक्षेपेण योनिक्षतं कुर्वन् दूषयति तदा मनूक्तषट्शतसहितोऽङ्गुलिच्छेदः। 'अभिषह्य तु यः कन्यां कुर्याद्दर्पेण मानवः। तस्याशु कर्त्ये अङ्गुल्यौ दण्डं चार्हति षट्शतम्॥' इति। यदा पुनः सानुरागां पूर्ववद्दूषयति तदापि तेनैव विशेष उक्तः— 'सकामां दूषयन् कन्यां नाङ्गुलिच्छेदमर्हति। द्विशतं तु दमं दाप्यः प्रसंगविनिवृत्तये॥' इति। यदा तु कन्यैव कन्यां दूषयति विदग्धा वा तत्रापि विशेषस्तेनैवोक्तः। 'कन्यैव कन्यां या कुर्यात्तस्यास्तु द्विशतो दमः। या तु कन्यां प्रकुर्यात्स्त्री सा सद्यो मौण्ड्यमर्हति॥ अङ्गुल्योरेव वा छेदं खरेणोद्वहनं तथा॥' इति। कन्यां कुर्यादिति कन्यां योनिक्षतवतीं कुर्यादित्यर्थः। यदा पुनरुत्कृष्टजातीयां कन्यामविशेषात्सकामामकामां वाभिगच्छति तदा हीनस्य क्षत्रियादेर्वध एव। 'उत्तमां सेवमानस्तु जघन्यो वधमर्हति।' इति मनुस्मरणात्। यदा सवर्णो सकामामभिगच्छति तदा गोमिथुनं शुल्कं तत्पित्रे दद्यात् यदीच्छति। पितरि तु शुल्कमनिच्छति दण्डरूपेण तदेव राज्ञे दद्यात्। सवर्णामकामां तु गच्छतो वध एव। यथाह मनुः— 'शुल्कं दद्यात्सेवमानः समामिच्छेत्पिता यदि। योऽकामां दूषयेत्कन्यां स सद्यो वधमर्हति। सकामां दूषयंस्तुल्यो न वधं प्राप्नुयान्नरः॥' इति।

* मिता.

(३) उत्तमवर्णेन हीनवर्णासु सकामासु कन्यास्वपहृतासु नास्त्यपहर्तुर्दोषः। अन्यथा त्वकामास्वधमः प्रथमसाहसः। एतच्चापहारमात्रे दण्डविधानम्। कन्यां दूषयतोऽधुना दण्डमाह— दूषणे इति। यस्तु कन्याया अङ्गुल्या योनिक्षतं कृत्वा दूषणं करोति, तस्य करच्छेदो दण्डः। अस्मिन्दोष उत्तमवर्णकन्याविषये दूषयितुर्वधः। करशब्दोऽत्राङ्गुल्यां वर्तते।

अप.

(४) अन्यथा तु तस्या अकामत्वे हर्तुर्दमः। नारदः— 'सकामायां तु कन्यायां सवर्णे नास्त्यतिक्रमः। किन्त्वलङ्कृत्य सत्कृत्य स एवैनां समुद्वहेत्॥' अकामायां तु हृतायां शंखः— 'समां शुल्कमाभरणं द्विगुणं च स्त्रीधनं दत्त्वा प्रतिपद्येत।'

×वीमि.

कन्यादोषख्यापनपशुगमनहीनस्त्रीगमनादौ दण्डविधिः

**शतं स्त्रीदूषणे दद्यात् द्वे तु मिथ्याभिशंसने।**
**पशून् गच्छन् शतं दाप्यो हीनां स्त्रीं गां च मध्यमम्॥**

(१) यास्मृ. २।२८८; विश्व. २।२९२ दमः (ऽधमः); मिता.; अप. विश्ववत्; व्यक. १२७; विर. ४०४; पमा. ४६९ धस्तथा (धः स्मृतः); विचि. १७७ च्छेद उत्त (च्छेदसूत्त); व्यनि. ४०२ उत्तरार्धे (अन्यथा प्रातिलोम्येन गमने वध इष्यते); दवि. १८५ दोषस्त्व (दोषो ह्य) दमः (ऽधमः) शेषं विचिवत्: १८२ उत्त.; सवि. ४७२ पू.; वीमि.; व्यप्र. ४०३ पमावत्; व्यउ. १३७; विता. ८१६; सेतु. २७६ स्वनुलोमा (स्वानुलोम्या) शेषं विचिवत्; समु. १५६ पमावत्.

* पमा., विर., विचि., दवि., स्वि., व्यप्र., व्यउ., विता. मितावत्।

× शेषं मितावत्।

(१) यास्मृ. २।२८९; अपु. २५८।७१ दद्यात् (दाप्यो) गां च (गाश्च) उत्त.; विश्व. २।२९३ दद्यात् (दाप्या) शंसने (शंसिता) हीनां स्त्रीं (हीनस्त्रीं); मिता.; अप.

(१) दूषयितुर्दण्ड उक्तः। दूष्या तु कन्या— 'शतं स्त्री दूषणे दाप्या द्वे तु मिथ्याभिशंसिता। पशून् गच्छन् शतं दाप्यो हीनस्त्रीं गां च मध्यमम् ॥' स्त्रीत्वेनोपगम्य दूषिता कन्या स्त्रीत्युक्ता। सा दूषणे कृते शतं दण्ड्या। यदि त्वदुष्टामेव दूषितेयमिति ब्रूयात्, ततो मिथ्याभिशंसिता द्वे शते दण्ड्यः। गोव्यतिरिक्ताश्वादिपशुगमने शतं दण्ड्यः। हीनां त्वनुलोमां स्त्रियं गां च गच्छतो मध्यमो दण्डः। हीनस्त्रीवचनं गवादिष्वपि स्त्रीवद् दण्डदानदृष्टान्तत्वेन। अन्यथा तु प्रागेवोक्तत्वात् पुनरुक्ततैव स्यात्। तस्मात् पश्वादिष्वपि स्त्रीष्विव गन्तुर्दण्डादिकल्पनं परिग्रहविशेषाश्रयं योज्यम्।

विश्व. २।२९३

(२) स्त्रीशब्देनात्र प्रकृतत्वात्कन्याऽवमृश्यते। तस्या यदि कश्चिद्विद्यमानानेवापस्माराजयक्ष्मादिदीर्घकुत्सितरोगसंसृष्टमैथुनत्वादिदोषान् प्रकाश्येयमकन्येति दूषयति असौ शतं दाप्यः। मिथ्याभिशंसने तु पुनरविद्यमानदोषाविष्कारेण दूषणे द्वे शते दापनीयः। गोव्यतिरिक्तपशुगमने तु शतं दाप्यः। यः पुनर्हीनां स्त्रियमन्त्यावसायिनीमविशेषात् सकामामकामां वा गां चाभिगच्छत्यसौ मध्यमसाहसं दण्डनीयः।

मिता.

(३) स्त्रियाः कन्याया दूषणं क्षतयोनित्वादिकेनाकन्यात्वाभिधानम्। तत्कर्तुः पणशतं दण्डः। तदेव चेन्मिथ्या ब्रूयात्पणशतद्वयं दण्ड्यः। गोव्यतिरिक्तं पशुं गच्छन् पणशतं दाप्यः। अन्त्यजां स्त्रीं गां च गच्छतो मध्यमसाहसो दण्डः। हीनस्त्रीं गच्छतो ब्राह्मणव्यतिरिक्तस्यायं दण्डः। ब्राह्मणस्य तु सहस्रं, 'सहस्रं त्वन्त्यजस्त्रियम्' इति वचनात्।

अप.

(४) हीनाङ्गीं छिन्ननासादिकाम्।

विर. ४०७

(५) वरस्य तु मिथ्यादोषाभिधायित्वे 'दूषयंस्तु मृषा शतम्' इति प्रथमाध्याये दण्ड उक्तः। यथार्थदोषाभिधायित्वे तु वरस्य न दोषः। पशूनिति गोव्यतिरिक्तपशून् छाग्यादिकानित्यर्थः। हीनां स्त्रीं शूद्रां गां वा गच्छन्मध्यमं साहसं दाप्यः। चकारेण गुप्तक्षत्रियावैश्ययोर्गमने उत्तमसाहसं दाप्य इति पूर्वोदाहृतं मनुवाक्यसिद्धं समुच्चीयते।

*वीमि.

दास्यादिसाधारणस्त्रीगमने दण्डविधिः, प्रसङ्गविशेषेषु वेश्यावेतनविचारश्च

**अवरुद्धासु दासीषु भुजिष्यासु तथैव च।**
**गम्यास्वपि पुमान्दाप्यः पञ्चाशत्पणिकं दमम् ॥**

(१) परिग्रहानुसारेणैव च— 'अवरुद्धासु दासीषु भुजिष्यासु तथैव च। गम्यास्वपि पुमान् दाप्यः पञ्चाशत्पणिकं दमम् ॥' भुजिष्याः कर्मकारिण्यो दास्यः। तास्वपि स्वामिकर्मपरिहापणेनाक्रम्य गच्छतो दण्डः। गम्यास्वपि शूद्रादीनामुपरतभर्तृकासु भ्रातृभार्यासु पुष्पाञ्जल्याद्यनुपनीतासु। पुंवचनमवरुद्धादिस्त्रीणामर्धदण्ड्यत्वज्ञापनार्थम्।

विश्व. २।२९४

(२) साधारणस्त्रीगमने दण्डमाह—अवरुद्धास्विति। गच्छन्नित्यनुवर्तते। उक्तलक्षणा वर्णस्त्रियो दास्यस्ता एव स्वामिना शुश्रूषाहानिव्युदासार्थं गृह एव स्थातव्यमित्येवं पुरुषान्तरोपभोगतो निरुद्धा अवरुद्धाः। पुरुषनियतपरिग्रहा भुजिष्याः। यदा दास्योऽवरुद्धा भुजिष्या वा भवेयुस्तदा तासु, तथा चशब्दाद्वेश्यास्वैरिणीनामपि साधारणस्त्रीणां भुजिष्याणां च ग्रहणं, तासु च सर्वपुरुषसाधारणतया गम्यास्वपि गच्छन् पञ्चाशत् पणान् दण्डनीयः। परपरिगृहीतत्वेन तासां परदारतुल्यत्वात्। एतच्च

---

शंसने (शंसिता) पशून् (पशुं) हीनां स्त्रीं (हीनस्त्रीं); **व्यक.** १२८ (=) हीनां स्त्रीं गां च (हीनाङ्गीं चैव) उत्त.; **विर.** ४०७ दाप्यो...च (दण्ड्यो हीनाङ्गीं चैव) उत्त.; **स्मृचि.** २७ दद्यात् **पमा.** ४६९ हीनां स्त्रीं (हीनस्त्रीं); **स्मृचि.** २७ दद्यात् (दाप्यो) शेषं पमावत्; **दवि.** १९१ व्यकवत्, उत्त.: २१० शंसने (शंसिता) पू.; **वीमि.**; **व्यप्र.** ४०३; **व्यउ.** १३८; **व्यम.** १०८ हीनां (दीनां); **विता.** ८१९; **सेतु.** २७९ (=) विरवत्, उत्त.; **समु.** १५६.

* शेषं मितावत्।

(१) **यास्मृ.** २।२९०; **अपु.** २५८।७२; **विश्व.** २।२९४; **मिता.**; **अप.**; **व्यक.** १२८; **विर.** ४०६; **पमा.** ४६७; **रत्न.** १३२; **स्मृचि.** २७; **व्यनि.** ४०३; **दवि.** १८९; **नृप्र.** २०८-९ णिकं (णकं); **मच.** ८।३६३; **सवि.** ४७३ अव (अप) पञ्चाशत्पणिकं (पञ्चशत्यधिकं); **वीमि.**; **व्यप्र.** ४०१; **व्यउ.** १३८; **व्यम.** १०७; **विता.** ८०८; **बाल.** २।१३४; **सेतु.** २७८; **समु.** १५५ नृप्रवत्.

स्पष्टमुक्तं नारदेन— 'स्वैरिण्यब्राह्मणी वेश्या दासी निष्कासिनी च या। गम्याः स्युरानुलोम्येन स्त्रियो न प्रतिलोमतः॥ आस्वेव तु भुजिष्यासु दोषः स्यात्परदारवत्। गम्यास्वपि हि नोपेयाद्यत्ताः परपरिग्रहाः॥' इति। निष्कासिनी स्वाम्यनवरुद्धा दासी।

ननु च स्वैरिण्यादीनां साधारणतया गम्यत्वाभिधानमुक्तम्। न हि जातितः शास्त्रतो वा काश्चन लोके साधारण्यः स्त्रिय उपलभ्यन्ते। तथाहि। स्वैरिण्यो दास्यश्च तावद्वर्णस्त्रिय एव। 'स्वैरिणी या पतिं हित्वा सवर्णं कामतः श्रयेत्। वर्णानामानुलोम्येन दास्यं न प्रतिलोमतः॥' इति मनुस्मरणात्। न च वर्णस्त्रीणां पत्यौ जीवति मृते वा पुरुषान्तरोपभोगो घटते। 'दुःशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः। परिचार्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पतिः॥ कामं तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः। न तु नामापि गृह्णीयात्पत्यौ प्रेते परस्य तु॥' इति निषेधस्मरणात्। नापि कन्यावस्थायाः साधारणत्वम्। पित्रादिपरिरक्षितायाः कन्याया एव दानोपदेशात्। दात्रभावेऽपि तथाविधाया एव स्वयंवरोपदेशात्। न च दासीभावात्स्वधर्माधिकारच्युतिः। पारतन्त्र्यं हि दास्यं न स्वधर्मपरित्यागः। नापि वेश्या साधारणी वर्णानुलोमजव्यतिरेकेण गम्यजात्यन्तरासंभवात्। तदन्तःपातित्वे च पूर्ववदेवागम्यत्वम्। प्रतिलोमजे तु तासां नितरामगम्यत्वम्। अतः पुरुषान्तरोपभोगे तासां निन्दितकर्माभ्यासेन पातित्यात् पतितसंसर्गस्य निषिद्धत्वाच्च न सकलपुरुषोपभोगयोग्यत्वम्।

सत्यमेवम्। किं त्वत्र स्वैरिण्याद्युपभोगे पित्रादिरक्षकराजदण्डभयादिदृष्टदोषाभावाद्गम्यत्ववाचोयुक्तिः। दण्डाभावश्चावरुद्धासु दासीष्विति नियतपुरुषपरिग्रहोपाधितो दण्डविधानात्तदुपाधिरहितास्वर्थादवगम्यते। स्वैरिण्यादीनां पुनर्दण्डाभावो विधानाभावात्। 'कन्यां भजन्तीमुत्कृष्टं न किंचिदपि दापयेत्।' इति लिङ्गनिदर्शनाच्चावगम्यते। प्रायश्चित्तं तु स्वधर्मस्खलननिमित्तं गम्यानां गन्तॄणां चाविशेषाद्भवत्येव। यत्पुनर्वेश्यानां जात्यन्तरासंभवेन वर्णान्तःपातित्वमनुमानादुक्तं— 'वेश्या वर्णानुलोमाद्यन्तःपातिन्यो मनुष्यजात्याश्रयत्वात् ब्राह्मणादिवत्' इति। तन्न। तत्र कुण्डगोलकादिभिरनैकान्तिकत्वात्। अतो वेश्याख्या काचिज्जातिरनादिर्वेश्यायामुत्कृष्टजातेः समानजातेर्वा पुरुषादुत्पन्ना पुरुषसंभोगवृत्तिर्वेश्येति ब्राह्मण्यादिवल्लोकप्रसिद्धिबलादभ्युपगमनीयम्। न च निर्मूलेयं प्रसिद्धिः। स्मर्यते हि स्कन्दपुराणे—'पञ्चचूडा नाम काश्चनाप्सरसस्तत्संततिर्वेश्याख्या पञ्चमी जातिः' इति। अतस्तासां नियतपुरुषपरिणयनविधिविधुरतया समानोत्कृष्टजातिपुरुषाभिगमने नादृष्टदोषो नापि दण्डः। तासु चानवरुद्धासु गच्छतां पुरुषाणां यद्यपि न दण्डस्तथाप्यदृष्टदोषोऽस्त्येव। 'स्वदारनियतः सदा' इति नियमात्। 'पशुवेश्याभिगमने प्राजापत्यं विधीयते' इति प्रायश्चित्तस्मरणाच्चेति निरवद्यम्। * मिता.

(३) अवरुद्धासु दासीषु अन्येनावरुध्य धृता या दास्यः तासु अनुलोमजास्वपि। विर. ४०६

(४) हीनां स्त्रीमित्युक्तमपवदति— अवरुद्धास्वित्यादि। दासी पुरुषविशेषेण विवाह्या परिगृहीता च त्रिविधा, एकेन पुरुषेण स्वभोगार्थं पुरुषान्तरभोगतो निरुद्धा भुजिष्या वेश्या चेति। भुजिष्या च स्वमित्रपुरुषान्तरोपभोगविषयः स्वपरिचर्याकारिणी। तासु त्रिविधासु आद्यचरमकथितासु नियतपुरुषेण गम्यास्वपि परः पुमान् गच्छन् पञ्चाशत्पणमितं दमम्। वीमि.

**प्रसह्य दास्यभिगमे दण्डो दशपणः स्मृतः।**
**बहूनां यद्यकामाऽसौ चतुर्विंशतिकः पृथक्॥**

(१) अदत्त्वैव शुल्कं— 'प्रसह्य दास्यभिगमे दण्डो दशपणः स्मृतः। बहूनां यद्यकामासौ द्विर्द्वादशपणः पृथक्॥' अकामाभिगमने बहूनामेकस्यामेव

* अप., पमा., रत्न., दवि., सवि., व्यप्र., व्यउ., व्यम., विता. मितावत्।

(१) यास्मृ. २।२९१; अपु. २५८।७३ पू.; विश्व. २।२९५ चतुर्विंशतिकः (द्विर्द्वादशपणः); मिता.; अप.; व्यक. १२८ उत्त.; विर. ४०६ दास्यभिगमे (दास्यागमने); पमा. ४६८; विचि. १८७-८ बहूनां (बहुना) शेषं विरवत्; व्यनि. ४०३ दास्यभिगमे (वेश्यागमने); दवि. १९० (=) दण्डो ... ...स्मृतः (पञ्चाशत्पणिको दमः) शेषं विरवत्; सवि. ४७३ ऽसौ (सा) तिकः (तितः); वीमि.; व्यप्र. ४०२; व्यउ. १३८; विता. ८१०; बाल. २।१३४ पू.; सेतु. २७८ विरवत्; समु. १५५ बहूनां (बहवो).

दास्यां प्रत्येकं चतुर्विंशतिपणो दण्डः । विश्व. २।२९५

(२) 'अवरुद्धासु दासीषु' इत्यनेन दासीस्वैरिण्यादिभुजिष्याभिगमने दण्डं विदधतस्तास्वभुजिष्यासु दण्डो नास्तीत्यर्थादुक्तं तदपवादमाह— प्रसह्येति । पुरुषसंभोगजीविकासु दासीषु स्वैरिण्यादिषु शुल्कदानविरहेण प्रसह्य बलात्कारेणाभिगच्छतो दशपणो दण्डः । यदि बहव एकामनिच्छन्तीमपि बलात्कारेणाभिगच्छन्ति तर्हि प्रत्येकं चतुर्विंशतिपणपरिमितं दण्डं दण्डनीयाः । यदा पुनस्तदिच्छया भाटिं दत्त्वा पश्चादनिच्छन्तीमपि बलाद्व्रजन्ति तदा तेषामदोषः, यदि व्याध्याद्यभिभवस्तस्या न स्यात् । 'व्याधिता सश्रमा व्यग्रा राजकर्मपरायणा । आमन्त्रिता चेन्नागच्छेददण्ड्या वडवा स्मृता ॥' इति नारदवचनात् । मिता.

(३) परदासीं हठादभिगच्छतो दशपणो दण्डः । अनिच्छन्तीं बहूनामभिगच्छतां प्रत्येकं चतुर्विंशतिपणः । अप.

(४) एवं च सकामाया वेश्याया एकेन बहुभिर्वाऽभिगमे दण्डाभावः । अवरुद्धाभुजिष्ययोरपि नियतपुरुषस्याभिगमे दण्डाभावः, गम्यास्वित्यभिधानादिति मिताक्षरास्वरसः । मिश्रास्तु— 'वेश्यागामी द्विजो दण्ड्यो वेश्याशुल्कं पणं स्मृतम् ।' इति नारदेन शुल्कतुल्यदण्डो मध्यमसाहसरूपो ब्राह्मणस्योक्त इति न क्वापि दण्डाभाव इत्याहुः । तेषां चायमाशयः— 'बहुभिर्भुक्तपूर्वा या तां गच्छेयुर्नराधमाः । तस्यां वेश्यावदिच्छन्ति दण्डनं न तु दारवत् ॥' इति व्यासेन नराधमत्वेनोपन्यासात् सामान्यत एव भुक्तपूर्वागमने दण्ड उक्तः । 'स्वदारनिरतश्चैवे'ति ग्रन्थकृता प्रथमाध्याये स्वदारव्यतिरिक्तगमनमर्थतः प्रतिषिद्धमिति गम्यास्वित्यनेन नान्यापेक्षाल्पदण्डप्रयोजकगमनयोग्यास्वित्येव विवक्षणीयं, न च निषिद्धेऽपि वेश्यागमने मानाभावाद्दण्डाभावः । 'अगम्यागामिनः शास्तिर्दण्डो राज्ञः प्रकीर्तितः । प्रायश्चित्तविधानं तु पापराशेर्विशोधनम् ॥' इति प्रायश्चित्तदण्ड उक्तो नारदेन, ग्रन्थकृता तु दशपणादिरिति विरोध इति वाच्यं, प्रकृतदण्डस्य शूद्रपरत्वात् । एवं च पञ्चाशत्पणो यत्र शूद्रस्योक्तो ग्रन्थकृता तत्र ब्राह्मणस्य पञ्चशतपरिमितो दण्डः, क्षत्रियस्य प्रथमसाहसो, वैश्यस्य तदर्धमित्यूह्यम् । एवं दशपणस्थलेऽपि द्वैगुण्यं वैश्यादेः कल्पनीयमित्याभाति । वीमि.

**गृहीतवेतना वेश्या नेच्छन्ती द्विगुणं वहेत् ।**
**अगृहीते समं दाप्यः पुमानप्येवमेव हि ॥**

यदा तु शुल्कं गृहीत्वा स्वस्थापि अर्थपतिं नेच्छति तदा द्विगुणं शुल्कं दद्यात् । तथा शुल्कं दत्त्वा स्वयमनिच्छतः स्वस्थस्य पुंसः शुल्कहानिरेव । 'शुल्कं गृहीत्वा पण्यस्त्री नेच्छन्ती द्विगुणं वहेत् । अनिच्छन् दत्तशुल्कोऽपि शुल्कहानिमवाप्नुयात् ॥' इति तेनैवोक्तम् । तथान्योऽपि विशेषस्तेनैव दर्शितः—'अप्रयच्छंस्तथा शुल्कमनुभूय पुमान् स्त्रियम् । अक्रमेण च संगच्छन् पाददन्तनखादिभिः ॥ अयोनौ वाऽभिगच्छेद्यो बहुभिर्वाऽपि वासयेत् । शुल्कमष्टगुणं दाप्यो विनयं तावदेव तु ॥ वेश्याप्रधाना यास्तत्र कामुकास्तद्गृहोषिताः । तत्समुत्थेषु कार्येषु निर्णयं संशये विदुः ॥' इति । मिता.

अयोनिपुरुषप्रव्रजितान्यतमगमने दण्डविधिः

**अयोनौ गच्छतो योषां पुरुषं वाऽपि मेहतः ।**
**चतुर्विंशतिको दण्डस्तथा प्रव्रजितागमे ॥**

(१) अविशेषेणैव तु—'अयोनौ गच्छतो योषां पुरुषं चाभिमेहतः । द्विर्द्वादशपणो दण्डस्तथा प्रव्रजितागमे ॥' आस्यपादादौ पुरुषस्य शिश्नप्रक्षेपणं पुरुषमेहनम् । व्यभिचारिणीत्वाद् ज्ञातिभिस्त्यक्ता स्त्री प्रव्रजिता । स्पष्टमन्यत् । विश्व. २।२९६

---

(१) **यास्मृ.** २।२९२; **मिता.**; **अप.** अयं श्लोको नोपलभ्यते; **विता.** ८११ दाप्यः (दाप्या).

(२) **यास्मृ.** २।२९३; **विश्व.** २।२९६ वाऽपि (चाभि) चतुर्विंशतिको (द्विर्द्वादशपणो); **मिता.**; **अप.** २।२९२ वाऽपि (चाभि); **व्यक.** १२८ चतुर्विंशतिको (चत्वारिंशत्पणो); **विर.** ४०६-७ योषां (रागात्) चतुर्विंशतिको (चत्वारिंशत्पणो); **पमा.** ४७१ (=) प्रव्रजितागमे (प्रव्रजितासु च); **विचि.** १८८ तो योषां (तस्तेषां) शेषं व्यकवत्; **व्यनि.** ४०३; **दवि.** १७९ व्यकवत्, **उत्त.** : १९२ व्यकवत्; **वीमि.**; **व्यप्र.** ४०४ वाऽपि (वाऽभि); **व्यउ.** १३९ व्यप्रवत्; **व्यम.** १०८ पुरुषं वाऽपि (पुरीषं वाऽभि); **विता.** ८११ व्यप्रवत्; **सेतु.** ३२५ व्यकवत्; **समु.** १५६ व्यप्रवत्.

(२) यस्तु स्वयोषां मुखादावभिगच्छति पुरुषं वाभिमुखो मेहति तथा प्रव्रजितां वा गच्छत्यसौ चतुर्विंशतिपणान् दण्डनीयः। मिता.

(३) यः पुनरयोनौ मुखादौ योषां योषितं गच्छति, यश्च पुरुषमधि पुरुषस्योपरि मेहं मूत्रपुरीषं चोत्सृजति, यश्च प्रव्रजितां श्रमणिकादिकामुपैति, तस्य चतुर्विंशतिपणो दण्डः। चत्वारिंशत्पणो दण्ड इति वा पाठे चत्वारिंशत्पणरूपः। अप.

(४) यद्यकामाऽसौ बहुभिर्गम्यते तदा पृथक् पृथक् चतुर्विंशतिपणो दण्डः। अयोनौ पुरुषं मेहतः अतिरागेण पुरुषमभिगच्छतः। प्रव्रजिता शाक्यादिस्त्री तस्या गमे अभिगमे। विर. ४०७

(५) अयोनौ स्त्रिया एव मुखादौ गच्छतः मेढ्रप्रयोगं कुर्वतः। पुरुषं मेहतः अतिरागेण पुरुषमभिगच्छतः। प्रव्रजिता तापसी। विचि. १८८

(६) तत्राऽयोनिपदं मानुषीयोनिव्यतिरेकपरं, तस्य द्वौ भेदौ, स्त्रीपुंसयोरवयवान्तरं गवादियोनिश्च। तयोरङ्गान्तराभिगमे दण्डमाह याज्ञवल्क्यः— 'अयोनौ गच्छतो योषां पुरुषं वापि मेहतः। चत्वारिंशत्पणो दण्डस्तथा प्रव्रजितागमे ॥' मिताक्षरायां चतुर्विंशतिको दण्ड इति पठितम्। अयोनौ योषामिति— अयोनौ मुखे, द्रविडोत्कलादौ दृष्टत्वात् कामागमेषु श्रुतत्वाच्च। तत्र हीदमौपरिष्टकमित्याख्यायते जघन्यस्य कर्मणः उपरिष्टात् प्रवर्त्यमानत्वात्। आह च वात्स्यायनः— तस्या वदने यज्जघनकर्म तदौपरिष्टकमिति। इह याः स्वौपरिष्टकमिच्छन्ति, न ताभिः सह युज्यन्ते इत्यादिवचनाद्वेश्यादास्यादौ फलतः तस्यावगमात्, 'धर्मपत्न्यां सुव्रतायां मुखे मैथुनकारिणः। पत्नी विधातुर्भवति·········॥' इति कर्मविपाकसमुच्चयवचनसंवादाच्च धर्मपत्नीमात्रे निषेधः पर्यवस्यति, एवञ्च तत्रैवायं दण्डः। तस्य निषेधेन सममेकविषयत्वात्। स्वयोषां यो मुखादावभिगच्छतीति विज्ञानेश्वरीयव्याख्यानदर्शनाच्चेति केचित्। तन्न— 'अयोनौ गच्छतो योषामि'त्ति सामान्यश्रुतौ बाधकाभावात्। निषेधस्यापि तथाविधक्रियामात्रविषयत्वात्। दण्डभेदप्रकरणोपदर्शितविष्णुपुराणसंवादात्। पुरुषं वापि मेहत इत्यतिरागेण पुरुषमेवाभिगच्छत इत्यर्थः। दवि. १९२-३

(७) अपिकारेण गन्तव्यात्वे पूर्वदण्डाधिक्यं समुच्चिनोति। वीमि.

## नारदः

संग्रहणलक्षणानि

**[१]परस्त्रिया सहाकालेऽदेशे वा पुरुषस्य तु।**
**स्थानसंभाषणामोदास्त्रयः संग्रहणक्रमाः ॥**

(१) अकाले रात्र्यादौ, अदेशे निर्जनादौ, स्थानमेकत्र स्थितिः, आमोदः परिहासः। विर. ३८०

(२) संग्रहणमिति, सम्यग्गृह्यते तदनुरक्ततया प्रमीयते आशयो येन तत्संग्रहणम्। अनन्यथासिद्धपरस्त्रीसंलापादि तेन कर्मणा वचसा च परस्परमनुरक्तावनुमीयेते। अनन्यथासिद्धत्वबलादेवाज्ञतया ऋजुतया कार्यौत्कण्ठ्यादिना अन्यथाभिसंधिना वा कृतः संलापादिर्न संग्रहणम्। एतत्परमेव मनुवचनमपि— 'भिक्षुका बन्दिनश्चैव दीक्षिताः कारवस्तथा। संभाषणं गृहे स्त्रीभिः कुर्युरप्रतिवारिताः ॥' इति। विचि. १७०

(३) परभार्यया सहाकाले रात्र्यादौ अदेशे दिवाप्यपवरकादौ मिथः परस्परतो रहसि वा, उभयत्र महाजनमध्ये प्रकाशमदोष इत्युक्तं भवति, पुरुषस्य सहस्थानसंभाषणामोदा इति क्रीडारतिविस्रम्भास्त्रय एते संग्रहणारम्भाः संग्रहणान्येव।

नाभा. १३।६२ (पृ. १३७-८)

**[२]नदीनां संगमे तीर्थेष्वारामेषु वनेषु च।**
**स्त्रीपुंसौ यत्समेयातां तच्च संग्रहणं स्मृतम् ॥**

नदीसंगमादिषु व्याजेन रहः स्त्रीपुंसौ संगच्छेयातां,

---

(१) नासं. १३।६२ पुरुषस्य तु (भवतो मिथः); नास्मृ. १५।६२ नासंवत्; स्मृच. ८; विर. ३८० ऽदेशे वा (अदेशे); विचि. १७० विरवत्; सेतु. २६१ ऽदेशे वा पु (अदेशे पु); समु. १५३ दास्त्रयः (दाः स्त्रियाः).

(२) नासं. १३।६३ उत्तरार्धे (स्त्री पुमांश्च समेयातां यत्तु संग्रहणं भवेत्); नास्मृ. १५।६३ त्समे (त्समी); व्यक. १२४ तच्च (तत्तु); विर. ३८०; विचि. १७० तीर्थेष्वा (तीर्थे आ) त्समे (त्समी); व्यनि. ३९९ ष्वा (ऽप्या); सेतु. २६१-२ विचिवत्; समु. १५३ ष्वा (ऽप्या).

वृत्तं संग्रहणं ग्राह्यम् । नाभा. १३।६३ (पृ. १३८)

**[१]दूतीप्रस्थापनैर्वाऽपि लेखसंप्रेषणैरपि ।**
**अन्यैश्च विविधैर्दोषैर्ग्राह्यं संग्रहणं बुधैः ॥**

दूतीप्रस्थापनमपि भावदोषलिङ्गम् । एवं लेखासंप्रेषणमपि । परभार्यायां परपुरुषस्य वा परस्परतः कः प्रसङ्गः ? दुष्टैरन्यैरपि प्रेक्षितप्रकाशनपरिहासादिभिः संग्रहणमेवासंबद्धानाम् । नाभा. १३।६४ (पृ. १३८)

**[२]स्त्रियं स्पृशेददेशे यः स्पृष्टो वा मर्षयेत्तथा ।**
**परस्परस्यानुमतं सर्वं संग्रहणं स्मृतम् ॥**

स्त्रियं परः स्पृशेत् स्तनोष्ठादौ, तया वा तत्र स्पृष्टो मर्षयेत् । अन्योन्यानुमते प्रीयमाणावप्रीयमाणौ वा न रुष्टौ, सर्वमेवंरूपं संग्रहणं भवेत् ।

नाभा. १३।६५ (पृ. १३८)

**[३]वस्त्रैराभरणैर्माल्यैः पानैर्भक्ष्यैस्तथैव च ।**
**संप्रेष्यमाणैर्गन्धैश्च वेद्यं संग्रहणं बुधैः ॥**

भक्ष्यादिप्रेषणैरप्यसंबद्धानां संग्रहणम् ।

नाभा. १३।६६ (पृ.१३८)

**[४]उपकारक्रिया केलिः स्पर्शो भूषणवाससाम् ।**
**सह खट्वासनं चैव सर्वं संग्रहणं स्मृतम् ॥**

उपचारक्रिया उद्यतवस्त्रालङ्कारदानादि, केलिर्नर्महासः, भूषणवासस्स्पर्शः, एकखट्वासनादि सर्वं संग्रहणम् । नाभा. १३।६७ (पृ. १३८)

**[१]दर्पाद्वा यदि वा मोहाच्छ्लाघया वा स्वयं वदेत् ।**
**पूर्वं मयेयं भुक्तेति तच्च संग्रहणं स्मृतम् ॥**

दर्पान्मोहाद् वेदृशोऽहमिति श्लाघमानो वा स्वयमेवाकस्माद् ब्रूयात् मयेयं भुक्तपूर्वेति अन्तर्गतं गूहितुमशक्तः, तदपि संग्रहणम् । नाभा. १३।६८ (पृ.१३८)

**[२]पाणौ यश्च निगृह्णीयाद्वेण्यां वस्त्राञ्चलेऽपि वा ।**
**तिष्ठ तिष्ठेति वा ब्रूयात् सर्वं संग्रहणं स्मृतम् ॥**

पाणिग्रहणाद्यपि संग्रहणलिङ्गं प्रीतिप्रकाशनात् ।

नाभा. १३।६९ (पृ. १३८)

संग्रहणदोषप्रतिप्रसवः

**[३]नाथवत्या परगृहे संयुक्तस्य स्त्रिया सह ।**
**दृष्टं संग्रहणं तज्ज्ञैर्नागतायाः स्वयं गृहे ॥**

(१) नाथवत्यास्तावत्संग्रहणं दुष्टं दण्ड्यताबीजं यदि सैव संग्रहीतुर्गृहं स्वेच्छया समागत्य संग्राहयति तदा तदपि न दुष्टमित्यर्थः । विचि. १७५

(२) नाथवद्ग्रहणं वेश्यादिनिवृत्त्यर्थम् । गु (तायाः? तया) । पुरुषस्यास्वगृहे परगृहे संयुक्तस्य परस्त्रिया सह संग्रहणज्ञैः संग्रहणं दृष्टं ज्ञातम् । स्वयमागतायां पुरुषस्य गृहे संयुक्तायां न संग्रहणम् । नात्र पुरुषस्य दोषः ।

नाभा. १३।७० (पृ. १३७)

**[४]अदुष्टत्यक्तदारस्य क्लीबस्याक्षमकस्य च ।**
**स्वेच्छानुपेयुषो दारान्न दोषः साहसे भवेत् ॥**

---

(१) नासं. १३।६४ र्वाऽपि लेख (श्चैव लेखा) उत्तरार्धे (अन्यैरपि व्यतीचारैः सर्वं संग्रहणं स्मृतम्); नास्मृ. १५।६४; विर. ३८० प्रस्थापनै (संप्रेषणै) उत्तरार्धे (अन्यैर्वाऽपि व्यभिचारैराद्यं संग्रहणं स्मृतम्); विचि. १७० प्रस्थापनै (संप्रेषणै) उत्तरार्धे (अन्यैर्वाऽपि व्यभीचारैराद्यं संग्रहणं स्मृतम्).

(२) नासं. १३।६५ त्तथा (त्तया) मतं...स्मृतम् (मते सच्च संग्रहणं भवेत्); नास्मृ. १५।६५; अप. २।२८४ व्यासः; व्यक. १२४ मतं (मते) नारदः मनुश्च; स्मृच. ९ मतं (मतेः).

(३) नासं. १३।६६ पूर्वार्धे (भक्ष्यैर्वा यदि वा भोज्यैर्वस्त्रैर्माल्यैस्तथैव च) वेद्यं (सर्वं) बुधैः (भवेत्); नास्मृ. १५।६८.

(४) नासं. १३।६७ उपकार (उपचार); नास्मृ. १५।६६; अप. २।२८४ कार (कारः) खट्वा (शय्या) व्यासः; व्यक. १२४ नारदः मनुश्च.

(१) नासं. १३।६८ पूर्वं...तच्च (मयेयं भुक्तपूर्वेति सर्वं); नास्मृ. १५।६९ पूर्वं...ति (ममेयं भुक्तपूर्वेति); अप. २।२८४; व्यक. १२४; विर. ३८१; विचि. १७२; व्यप्र. ३९८ मनुनारदौ; समु. १५३.

(२) नासं. १३।६९ ञ्चले (न्तरे); नास्मृ. १५।६७ यश्च (यच्च); अप. २।२८४; व्यक. १२४; स्मृच. ९; विर. ३८१ यश्च नि (यश्चापि) द्वेण्यां (द्वेश्यां); विचि. १७२ विरवत्; समु. १५३.

(३) नासं. १३।७०; नास्मृ. १५।७० नाथवत्या (नाप्यपत्य); व्यक. १२५; विर. ३८५ दृष्टं (दुष्टं); विचि. १७५ विरवत्; दवि. १५७ विरवत्, कात्यायनः; सेतु. २६६ विरवत्; विव्य. ५४ विरवत्.

(४) नासं. १३।७१ अदु (प्रदु) स्याक्ष (स्य क्ष)

(१) तेन क्लीबस्याक्षमस्य वा स्वेच्छान् स्वच्छन्दान् दारान् तथादुष्टत्यक्तान् स्वच्छन्दान् दारानुपगच्छतः पुरुषस्य न दण्ड इत्यर्थः। स्वेच्छान् दारान् उपेयुष इत्यन्वयः। विर. ३८६

(२) परित्यक्तान् क्लीबपतिकानक्षमपतिकान् वा परदारान् स्वेच्छांस्तद्गृहेऽपि संगृह्णतो अभिगच्छतो वा न दण्ड इत्यर्थः। विचि. १७५

(३) प्रदुष्टा एव त्यक्ताः प्रदुष्टत्यक्ताः ता दारा यस्य, दुष्टेत्युत्सृष्टा भार्या येन, क्लीबस्य च क्षमकस्य च गच्छन्ती परेणेच्छति, तस्य दारैरिच्छद्भिः संगच्छतो न साहसदोषः संग्रहणमित्यर्थः। पूर्वस्यापवादः। नाभा. १३।६१ (पृ. १३७)

वर्णभेदेन संग्रहणे दण्डविधिः

**[१]स्वजात्यतिक्रमे पुंसामुक्तमुत्तमसाहसम्।**
**विपर्यये मध्यमस्तु प्रतिलोमे प्रमापणम्॥**

स्वजातीयाया ब्राह्मण्या ब्राह्मणस्य, क्षत्रियायाः क्षत्रियस्येत्यादि, संग्रहणे उत्तमसाहसं सहस्रमिति। विपर्यये ब्राह्मणस्योनया क्षत्रिययेत्यादि, मध्यमसाहसं पञ्च शतानि। प्रतिलोमे ब्राह्मण्याः क्षत्रियस्य, क्षत्रियाया वैश्यस्येत्यादि, संग्रहणे मरणमेव दण्ड इति। नाभा. १३।७० (पृ. १३९)

**माता मातृष्वसा श्वश्रूर्मातुलानी पितृष्वसा।**
**पितृव्यसखिशिष्यस्त्री भगिनी तत्सखी स्नुषा॥**
**[१]दुहिताऽऽचार्यभार्या च सगोत्रा शरणागता।**
**राज्ञी प्रव्रजिता धात्री साध्वी वर्णोत्तमा च या॥**
**[२]आसामन्यतमां गत्वा गुरुतल्पग उच्यते।**
**शिश्नस्योत्कर्तनात्तत्र नान्यो दण्डो विधीयते॥**

(१) ब्राह्मणव्यतिरिक्तगुरुतल्पगविषयमेतत्। अप. २।२८६

(२) स्वजातावपि क्वचित् शारीरदण्डं अपराधाधिक्यं प्रदर्शयन्नाह नारदः—मातेति। अन्योऽस्मान्न्यून इति शेषः। अधिकस्य विधानात् (यास्मृ. ३।२३३ इत्यत्र)। स्मृच. ३२२

(३) माताऽत्र जननीव्यतिरिक्ता पितृपत्नी, गुप्ताविषयमेतत्। विर. ३९२

(४) माताऽत्र जननीव्यतिरिक्ता पितृपत्नी, गुरुतल्पग उच्यते इत्यतिदेशसामर्थ्यात्। मातृग्रहणं दृष्टान्तार्थमिति मिताक्षराकारः। पितृव्यपदं भ्रात्रादिपरमपि तुल्यन्यायात्। एवं भगिनीसखीति दुहित्रादिसखीपरमपि न्यायसाम्यात्। राज्ञी राज्यकर्तुर्भार्येति मिताक्षराकारः। युक्तं चैतत् क्षत्रियागमने दण्डान्तरोपदेशात्।

---

स्वेच्छानु (स्वेच्छैरु) दारान्न (दारैर्न) साहसे (साहसो); नास्मृ. १५।६१ स्याक्षमक (स्य क्षयिक) स्वेच्छा (सेच्छा); व्यक. १२५ अदु (प्रदु) नारदकात्यायनौ; विर. ३८६ विष्णुः; विचि. १७५ स्याक्षमकस्य (स्याप्यक्षमस्य) विष्णुः; दवि. १५८ अदु (प्रदु) स्वेच्छा (सेच्छा) नारदकात्यायनौ; सेतु. २७० स्वेच्छा (सेच्छा) विष्णुः; विव्य. ५४ साहसे (संग्रहे).

(१) नासं. १३।७०; नास्मृ. १५।७० (सजात्यतिशये पुंसां दण्ड उत्तमसाहसः। मध्यमस्त्वानुलोम्येन प्रातिलोम्ये प्रमापणम्॥).

(२) नासं. १३।७३; नास्मृ. १५।७३; मिता. २।२८६; अप. २।२८६; व्यक. १२६; स्मृच. ३२२; विर. ३९२; पमा. ४६५; रत्न. १३१; विचि. १८४; व्यनि. ४००; स्मृचि. २६; दवि. १७८; सवि. ४६९; व्यप्र. ३९९; व्यउ. १३४; व्यम. १०७; विता. ८०३; सेतु. २६९; समु. १५५; विव्य. ५५ पू.

(१) नासं. १३।७४; नास्मृ. १५।७४; मिता. २।२८६; अप. २।२८६; व्यक. १२६; स्मृच. ३२२; विर. ३९२ धात्री साध्वी (साध्वी धात्री); पमा. ४६५; रत्न. १३२; विचि. १८४ च या (तु या); व्यनि. ४००; स्मृचि. २६; दवि. १७८ च या (ऽपि या) शेषं विरवत्; सवि. ४६९; व्यप्र. ३९९; व्यउ. १३४; व्यम. १०७; विता. ८०३; सेतु. २६९; समु. १५५; विव्य. ५५.

(२) नासं. १३।७५ नात्तत्र नान्यो दण्डो (नं दण्डो नान्यस्तत्र); नास्मृ. १५।७५ नात्तत्र (नं तस्य); मिता. २।२८६ गत्वा (गच्छन्); अप. २।२८६; व्यक. १२६ नात्तत्र (नं तत्र); स्मृच. ३२२ व्यकवत्; विर. ३९२; पमा. ४६५ गत्वा (गच्छन्) नात्तत्र (नं तस्य); रत्न. १३१ मितावत्; सुबो. २।२९३ नान्यो (नास्य) शेषं मितावत्; विचि. १८४; व्यनि. ४०० त्कर्त (त्कृन्त); स्मृचि. २७ तत्र...यते (त्रान्यो दण्डः स्यात्सार्ववर्णिकः) शेषं मितावत्; दवि. १७८; सवि. ४६९ मितावत्; व्यप्र. ४०० मितावत्; व्यउ. १३४ विधी (ऽभिधी) शेषं मितावत्; व्यम. १०७ मितावत्; विता. ८०३ मितावत्; सेतु. २६९; समु. १५५ व्यकवत्; विव्य. ५५.

सगोत्रेत्यनेन प्राताया: सपत्नीमात्रादे: पुनरुपादानं शिश्नच्छेदादधिकस्य वधदण्डताडनादे: प्राप्त्यर्थम् । नान्यो दण्डो विधीयते इति तु शिश्नच्छेदस्यावश्यकर्तव्यत्वपरं शिश्नच्छेदं विहाय दण्डान्तरं न कार्यमिति वाक्यार्थपर्यवसानादिति प्रतिभाति । तथा स्त्रीणां प्रव्रज्यानिषेधात् प्रव्रजिता श्रुतिस्मृतिविहितयथावद्विधवाधर्मवती विरक्ततया संन्यासितुल्याचारा विवक्षिता, राज्ञीसमभिव्याहारेण पूज्यतमत्वावगमात् । यत्तु—'चत्वारिंशत्पणो दण्डस्तथा प्रव्रजितागमे ।' इति याज्ञवल्क्येनोक्तम् । तत्र प्रव्रजिता शाक्यादिस्त्री विवक्षिता दास्यादिसमभिव्याहारेण हीनात्वप्रतिपत्तेरिति न दण्डविरोधः । वर्णोत्तमा ब्राह्मणीति मिताक्षराकारः । तदिदं वचनं गुप्ताविषयमिति रत्नाकरः । दवि. १७८-९

(५) मात्रादयो गुरुतल्पः तद्गमने गुरुतल्पगः । पितृव्यस्त्री सखिस्त्री शिष्यस्त्री भगिनी भगिन्या अपि सखी भगिनीवदेव । साध्वीति वर्णोत्तमाविशेषणम् । आसामन्यतमागमने शिश्नच्छेद एव दण्डः । नान्य इति वचनं लोभादिना धनादिदण्डनिवृत्त्यर्थम् ।

नाभा. १३। ७३-५ (पृ. १४०)

कन्यादूषणे वर्णभेदेन दण्डविधिः

**[१]कन्यायामसकामायां द्व्यङ्गुलस्यावकर्तनम् ।**
**उत्तमायां वधस्त्वेव सर्वस्वहरणं तथा ॥**

(१) द्व्यङ्गुलस्य अङ्गुलिद्वयस्य, अङ्गुलीसाध्यमैथुनविषयमेतत् । येन येनाङ्गेनापराध्नुयात्तत्तदेवास्य छिन्द्यादिति सामान्यप्राप्तत्वादिति पारिजातः ।

*विर. ४०२

(२) कन्यायामसकामायामनिच्छन्त्यां स्वजात्यस्याकन्याकरणे द्व्यङ्गुलस्य छेदनम् । उत्तमायामनिच्छन्त्यामधमजात्यस्य वध एव । ताडनं वध इति केचित्, अधमस्य सिसृक्षाभावादिति । मारणमित्यन्ये । द्व्यङ्गुलच्छेदादतिरिक्तेन भवितव्यम् । सिसृक्षापि किं न संभवतीति संसर्ग एवैतदन्यदुच्यते इत्यन्ये । सर्वस्वहरणं च ।

नाभा. १३।७१ (पृ. १३९)

**[१]सकामायां तु कन्यायां सवर्णे नास्त्यतिक्रमः ।**
**किन्त्वलङ्कृत्य सत्कृत्य स एवैनां समुद्वहेत् ॥**

इच्छन्त्यां सवर्णे नास्ति दोषः । किन्तु सत्कृत्यालङ्कृत्य स एवोद्वहेत् । अन्यथा दण्ड्यः ।

नाभा. १३।७२ (पृ. १३९)

**[२]योऽकामां दूषयति प्रतिलोमे वधः स्मृतः ।**
**सकामायां तु गमनाद्धनदण्डः प्रकीर्तितः ॥**

दास्यादिसाधारणस्त्रीगमने दोषविचारः

**[३]स्वैरिण्यब्राह्मणी वेश्या दासी निष्कासिनी च या ।**
**गम्याः स्युरानुलोम्येन स्त्रियो न प्रतिलोमतः + ॥**

(१) स्वैरिणी स्वरसात् पुंश्चली । अब्राह्मणीति विशेषणेन क्षत्रियाद्येति यावत् । दासी स्वीया कर्मकरी निष्कामिनी कुटुम्बिनिर्गता पुंश्चली । गम्याः स्युरिति निषेधमात्रं न तु पापनिषेधः । विर. ४०६

(२) स्वैरिणी पत्यादित्यक्ता यथेष्टाचारा । अब्राह्मणी ब्राह्मण्या अन्या क्षत्रिया, वैश्या, दासी च । निष्कासिनी अनिरुद्धा । एताः स्त्रियो गम्याः तद्गमने न दण्ड्याः । आनुलोम्येन ब्राह्मणः क्षत्रियादिस्वैरिण्यां, क्षत्रियो वैश्यादिस्वैरिण्यामित्यादि । विपरीते दण्ड्यः ।

नाभा. १३।७८ (पृ. १४०)

**[४]आस्वेव तु भुजिष्यासु दोषः स्यात्परदारवत् ।**
**गम्या अपि हि नोपेया यत्ताः परपरिग्रहाः ॥**

---

* दवि. विरवत् ।

(१) नासं. १३।७१ स्याव (स्याप); नास्मृ. १५।७१ स्वहरणं (संग्रहणं); व्यक. १२७; विर. ४०२ स्त्वेव (स्त्वेवं); दवि. १८१ विरवत्; सेतु. २७५ विरवत्.

+ मिता.व्याख्यानं याज्ञवल्क्यवचने द्रष्टव्यम् ।

(१) नासं. १३।७२; नास्मृ. १५।७२ सवर्णे (संगमे); अप. २।२८८ सत्कृत्य (संस्कृत्य); व्यक. १२७; विर. ४०२; विचि. १७६; व्यनि. ४०३; दवि. १८३ अपवत्; वीमि. २।२८६; सेतु. २७५; समु. १५६ स्कृत्यान्तरम्.

(२) स्मृचि. २७.

(३) नासं. १३।७८ प्रतिलोम (प्रातिलोम्य); नास्मृ. १५।७८; मिता. २।२९० (ख) सिनी (सनी); व्यक. १२८; अप. २।२९०; विर. ४०५ सिनी (मिनी); पमा. ४६८; रत्न. १३२ च या (तथा); दवि. १८८; नृप्र. २०९ मितावत्; व्यप्र. ४०२; व्यउ. १३८; व्यम. १०७; विता. ८०८; सेतु. २७७ निष्कासिनी (निष्कामिणी); समु. १५६ मितावत्.

(४) नासं. १३।७९ या यत्ताः पर (यास्ताश्चेदन्य); नास्मृ. १५।७९; मिता. २।२९० अपि (त्वपि) या यत्ताः (याचत्ताः); अप. २।२९० यत्ताः पर (गतस्ताः स)

(१) भुजिष्यासु अन्येनावरुध्य भुज्यमानासु । सपरिग्रहाः परेणावरुद्धाः । विर. ४०६

(२) आस्वेव स्वैरिण्यादिषु नियतपुरुषपरिग्रहासु परदारवदेव दोषः । गमने दण्डश्च । गम्या अपि अभुजिष्याः विप्लुता अप्यगम्याः यदि कस्यचित् परिग्रहे वर्तेरन् यावत्कालं तावत् । नाभा. १३।७९ (पृ.१४०)

अन्त्यजपशुवेश्यागमने दण्डविधिः

**[१]पशुयोनावतिक्रामन्विनेयः स दमं शतम् ।**
**मध्यमं साहसं गोषु तदेवान्त्यावसायिषु ॥**

(१) सदशं शतं दशाधिकपणशतम् । स दमं शतमिति लक्ष्मीधरः । तत्र स गन्ता पणशतं दमं दद्यादिति स्फुट एवार्थः । पूर्वं गोगमने वध उक्तः शूद्रस्य, अयं तु मध्यमसाहसः क्षत्रियवैश्ययोरिति पूर्वेण सममविरोधः। विर. ४०७

(२) पशुरजमहिष्यादिः । योनिग्रहणमन्यप्रदेशनिवृत्त्यर्थम् । गत्वा दण्ड्यो दशोत्तरं शतम् । गोषु योन्यामतिक्रम्य मध्यमसाहसम् । तदेव मध्यमसाहसमन्तावसायिषु चण्डालादिषु । नाभा. १३।७६ (पृ. १४०)

**[२]सुवर्णं तु भवे[१]द्दण्ड्यो गां व्रजन् मनुजोत्तमः ।**
**वेश्यागामी द्विजो दण्ड्यो वेश्याशुल्कसमं दमम् ॥**

यद्वेश्यागमने शुल्कं पञ्चशतपणरूपं तावान् वेश्यागामिनो ब्राह्मणस्य दण्डः । विचि. १८८

अगम्यागमने प्रायश्चित्तं राजदण्डो वा

**[१]अगम्यागामिनः शास्ति दण्डो राज्ञा प्रकीर्तितः।**
**प्रायश्चित्तविधानं तु पापानां स्याद्विशोधनम् ॥**

अगम्यागामिनो यथोक्तो दण्डो राज्ञा प्रणीतः शास्ति । प्रायश्चित्तविधावत्र नान्यो दण्डोऽस्ति । तस्माद्यथोक्तो दण्डो न प्रमाद्यः । तेषामप्यनुग्रहो भवत्येव । इतरथोभयोः प्रत्यवायः स्यात् ।

नाभा. १३।७७ ( पृ. १४० )

## बृहस्पतिः

संग्रहणप्रकाराः, तल्लक्षणानि च

**[२]पारुष्यं द्विविधं प्रोक्तं साहसं च द्विलक्षणम् ।**
**पापमूलं संग्रहणं त्रिप्रकारं निबोधत ॥**

(१) संग्रहणं परस्त्रिया सह पुरुषस्य संबन्धः । स्मृच. ८

(२) तत्र परदारपदेन स्वभार्याव्यतिरिक्ता स्त्री विवक्षिता । सा द्विविधा परिणीता अपरिणीता चेति । तयोः परिणीता अनेकविधा साध्वी बन्धकीति, उत्तमा हीनेति स्वजना अस्वजनेति, गुप्ता अगुप्ता चेति, क्लीबादिभार्या अन्येति ।

अपरिणीता त्रिविधा कन्या व्रात्या वेश्येति । एते विभाजकोपाधयो बलछलानुरागादिप्रयोगवद्दण्डभेदाय भवन्तीति परिभाषान्यायेन प्रमुखे दर्शिताः । आसामभिमर्षणमपि द्विविधं संग्रहणमभिगमश्च । तत्र संग्रहणं नाम समीचीनं ग्रहणं परस्त्रिया आत्मीयताकरणम् ।

---

**व्यक.** १२८ अपवत्; **विर.** ४०५ अपवत्; **पमा.** ४६८; **रत्न.** १३२; **दवि.** १८८ अपवत्; **नृप्र.** २०९ अपि (स्वपि) या यत्ताः पर (याद्यतस्ताः स); **व्यप्र.** ४०२ मितावत्; **व्यउ.** १३८ अपि (स्वपि) यत्ताः पर (यत्तस्मात् स); **व्यम.** १०७ पू.; **विता.** ८०८ मितावत्; **सेतु.** २७७ यत्ताः पर (यतस्ताः स); **समु.** १५६ नृप्रवत्.

(१) **नासं.** १३।७६ पूर्वार्धे (पशुयोन्यामतिक्रम्य विनेयः सदशं शतम्) न्त्या (न्ता); **नास्मृ.** १५।७६; **व्यक.** १२८; **विर.** ४०७ स दमं (सदशं); **विचि.** १८८; **व्यनि.** ४०३ न्त्या (न्ता) शेषं विरवत्; **बाल.** २।२८९ विनेयः स दमं (विनेयः सततं) तदेवा (भवेद); **सेतु.** २७८ दमं शतम् (शतं दमम्); **समु.** १५६ स दमं शतम् (स्याच्छतं दमम्) तदेवान्त्या (तथैवान्ता); **विव्य.** ५५.

(२) **व्यक.** १२८ दमम् (पणम्); **विर.** ४०८; **विचि.** १८८ समं दमम् (पणं स्मृतम्); **दवि.** १९० दमम् (दमः) उत्त. : १९४ पू., मत्स्यपुराणम्; **वीमि.** २।२८६ शुल्कसमं दमम् (शुल्कं पणं स्मृतम्) उत्त.; **सेतु.** २७९.

(१) **नासं.** १३।७७ कीर्तितः (चोदितः) नं तु पापानां स्याद् (वत्र प्रायश्चित्तं); **नास्मृ.** १५।७७ नः शास्ति (नश्चास्ति) कीर्तितः (चोदितः); **व्यक.** १२८; **विर.** ४०८ स्ति द (स्तिर्द); **विचि.** १८९ पापानां स्याद्वि (पापराशेर्वि); **दवि.** १८९ विरवत्; **वीमि.** २।२८६ स्ति द (स्तिर्द) राज्ञा (राज्ञः) शेषं विचिवत्; **सेतु.** २७९.

(२) **अप.** २।२८३; **व्यक.** १२४; **स्मृच.** ८ उत्त.; **विर.** ३७८ द्विलक्ष (त्रिलक्ष) त्रिप्र (त्रिरा); **पमा.** ४६२ उत्त.; **रत्न.** १२९ उत्त.; **व्यलि.** ३९८ उत्त.; **दवि.** १५४; **व्यप्र.** ३९७ उत्त.; **व्यउ.** १३५ उत्त.; **समु.** १५३ उत्त.

तद्विभजते बृहस्पतिः— पारुष्यमिति। दवि. १५४

[१]बलोपाधिकृते द्वे तु तृतीयमनुरागजम्।
तत्पुनस्त्रिविधं प्रोक्तं प्रथमं मध्यमोत्तमम्॥
[२]अनिच्छन्त्या यत्क्रियते सुप्तोन्मत्तप्रमत्तया।
प्रलपन्त्या वा रहसि बलात्कारकृतं तु तत्॥
[३]छद्मना गृहमानीय दत्त्वा वा मदकारणम्।
संयोगः क्रियते यस्याः तदुपाधिकृतं विदुः॥
[४]अन्योन्यचक्षूरागेण दूतीसंप्रेषणेन वा।
कृतं रूपार्थलोभेन ज्ञेयं तदनुरागजम्॥

कार्मणं कर्मणा वशीकरणम्। स्मृच. ८

[१]अपाङ्गप्रेक्षणं हास्यं दूतीसंप्रेषणं तथा।
स्पर्शो भूषणवस्त्राणां प्रथमः संग्रहः स्मृतः॥
[२]प्रेषणं गन्धमाल्यानां फलमद्यान्नवाससाम्।
संभाषणं च रहसि मध्यमं संग्रहं विदुः॥
[३]एकशय्यासनं क्रीडा चुम्बनालिङ्गनं तथा।
एतत्संग्रहणं प्रोक्तमुत्तमं शास्त्रवेदिभिः॥

वर्णभेदेन संग्रहणे दण्डविधिः

[४]त्रयाणामपि चैतेषां प्रथमो मध्य उत्तमः।
विनयः कल्पनीयः स्यादधिको द्रविणाधिके॥

(१) त्रयाणामप्येतेषां प्रथममध्यमोत्तमसाहसकारिणाम्। यथाक्रमं प्रथममध्यमोत्तमदण्डाः, अधिकधनस्य तु प्रथमादिभ्योऽधिकोऽपि दण्ड इत्यर्थः। विर. ३८४

(२) एषु त्रिषु संग्रहणेषु यथाक्रमं प्रथममध्यमो-

---

(१) अप. २।२८३; व्यक. १२४; स्मृच. ८ पाधि (पधि) [उत्तरार्धः 'ज्ञेयं तदनुरागजं' इत्यस्य उत्तरं पतितः]; विर. ३७९ मोत्त (मुत्त); पमा. ४६२; रत्न. १२९ स्मृचवत्, पू.; व्यनि. ३९८ स्मृचवत्; दवि. १५४ कृते (हृते); व्यप्र. ३९७ स्मृचवत्; व्यउ. १३५ प्रोक्तं (ज्ञेयं); समु. १५३ पू., १५४ उत्त.

(२) अप. २।२८३; व्यक. १२४; स्मृच. ८ सुप्तो (मत्तो) वा (च) : ३१९; विर. ३७९; पमा. ४६२ पूर्वार्धे (अनिच्छया त्वपकृतं मत्तोन्मत्तकृतं तथा) प्रलपन्त्या वा (प्रलये यत्तु); रत्न. १२८ कृतं तु तत् (कृतस्तथा) : १२९ सुप्तो (मत्तो); व्यनि. ३९८ सुप्तो (मत्तो) वा (ऽपि); दवि. १५५ वा रहसि (रहसि वा); व्यप्र. ३९६, ३९७ सुप्तो (मत्तो); व्यउ. १३० : १३५ व्यप्रवत्; विता. ८१३ तं तु तत् (तानि च); समु. १५३.

(३) अप. २।२८३ मदकारणम् (मद्यकार्मणम्); व्यक. १२४ अपवत्; स्मृच. ८ अपवत्; विर. ३७९ दत्त्वा... रणम् (गत्वा वा तत्स्वसद्मनि); पमा. ४६२ यस्याः (यत्तु); रत्न. १३० यस्याः तदु (यत्तु तत्तू); व्यनि. ३९८ वा (च); दवि. १५५ मदकारणम् (मद्यकार्मिणम्); व्यप्र. ३९७ दत्त्वा वा (दत्त्वास्या) यस्याः तदुपा (यत्र तत्तूप); व्यउ. १३५ दत्त्वा वा (दत्त्वास्या) यस्याः तदु (यत्तु तत्तू); समु. १५३ यस्याः तदु (यस्यां तत्तू) शेषं अपवत्.

(४) अप. २।२८३ वा (च); व्यक. १२४ अपवत्; स्मृच. ८; विर. ३७९ वा (च) र्थलोभेन (वलोकेन); पमा. ४६२ चक्षू (मनु) दूती (दूत); रत्न. १२९ अपवत्; व्यनि. ३९८; दवि. १५५; व्यप्र. ३९७; व्यउ. १३५ रूपार्थलोभेन (लोभार्थरूपेण); समु. १५३.

(१) व्यक. १२४; स्मृच. ८; विर. ३७९; पमा. ४६२ दूती (दूत) भूषण (भूषणं); दीक. ५५ संग्रहः (साहसः); रत्न. १३०; विचि. १७०; व्यनि. ३९८ प्रेक्षणं (प्रेषणं); दवि. १५५; व्यप्र. ३९७ व्यासबृहस्पती; व्यउ. १३५; सेतु. २६१; समु. १५४; विव्य. ५३.

(२) व्यक. १२४ च (वा); स्मृच. ८ फलमद्यान्न (धूपमध्वन्न) च रहसि (रहसि च); विर. ३८०; पमा. ४६२-३ फलमद्यान्न (धूपमध्वान्न) च रहसि (रहसि च); दीक. ५५ मद्यान्न (सद्गन्ध); रत्न. १३० च (वा); विचि. १७१; व्यनि. ३९८; व्यप्र. ३९८ मद्यान्न (धूपान्न) व्यासबृहस्पती; व्यउ. १३५; सेतु. २६२ व्यप्रवत्; समु. १५४ स्मृचवत्.

(३) व्यक. १२४; स्मृच. ८ लिङ्गनं (लिङ्गने); विर. ३८० स्मृचवत्; पमा. ४६३; दीक. ५५; रत्न. १३०; विचि. १७१; व्यनि. ३९८; दवि. १५६; व्यप्र. ३९८ व्यासबृहस्पती; व्यउ. १३५; विता. ७९७ 'परस्परमथाश्रयः' इति वा पाठः, पू.; सेतु. २६३ एकशय्यासनं (एकत्र शयनं) लिङ्गनं (लिङ्गने); समु. १५४ स्मृचवत्; विव्य. ५३.

(४) अप. २।२८४; व्यक. १२४; विर. ३८४; दवि. ५२ मध्य उत्तमः (त्तममध्यमः) : १५६; विचि. १७२; व्यप्र. ३९९; व्यउ. १३६ धिके (धिकः); व्यम. १०६ को द्रविणाधिके (कोऽपि बलाद्ग्रहः); विता. ७९८ क्रमेण व्यासः; सेतु. २६४ (=); समु. १५४ व्यमवत्.

त्तमसाहसो दण्डः अधिकधनस्य त्वधिकोऽपि दण्ड इत्यर्थः। विचि. १७२

**सहसा कामयेद्यस्तु धनं तस्याखिलं हरेत्।**
**उत्कृत्य लिङ्गवृषणौ भ्रामयेद्गर्दभेन तु ॥**

(१) ब्राह्मणेतरसवर्णाविषये तु बृहस्पतिरपराधिनो दण्डमाह— सहसेति। कामयेत् परस्त्रियं व्रजेदित्यर्थः। स्मृच. ३२०

(२) यः सहसा बलेन परस्त्रियमनिच्छन्तीमेवाभिगच्छति, तस्य सर्वस्वं गृहीत्वा लिङ्गवृषणौ छित्त्वा गर्दभेन पुरपरिभ्रामणं दण्डः। विर. ३८९

**छद्मना कामयेद्यस्तु तस्य सर्वहरो दमः।**
**अङ्कयित्वा भगाङ्केन पुरान्निर्वासयेत्ततः ॥**

(१) छद्मना कामयेत् वञ्चनया संगच्छेत्। सर्वहरः सर्वस्वहरणं, तद्भगाङ्ककरणानन्तरमित्यर्थः। स्मृच. ३२०

(२) यस्तु छद्मना छलेन परस्त्रियमनिच्छन्तीमेवाभिगच्छति, तस्य सर्वस्वमादाय भगाङ्केनाङ्कयित्वा पुरान्निर्वासनं दण्डः। विर. ३८९

**दमोऽन्तिमः समायां तु हीनायामर्धिकस्ततः।**
**पुंसः कार्योऽधिकायां तु गमने संप्रमापणम् ॥**

(१) तस्यात्रायमर्थः। समायां जारसवर्णपरभार्यागमनविषये 'छद्मना कामयेदि'त्यादिवाक्योक्तो दमो नेयः पुमांसं जारभूतं प्रापणीयः। हीनायां जारतो हीनवर्णायां गमने ततः छद्मना गमननिमित्तकाद्दमादर्धिकोऽर्धो दमः पुंसः कार्यः। अधिकायां जारतोऽधिकवर्णायां गमने सप्रमापणं प्रमापणमपि पुंसः कार्यम्। सर्वस्वहरणं कृत्वा प्रमापयेदित्यर्थः। अत्रापि पुंस एवापराधित्वात्तस्यैव दण्डाभिधानमिति मन्तव्यम्। तेनात्रापि स्त्रिया नास्ति दण्डः। तथापि परपुरुषसंपर्कजदोषसद्भावादसंव्यवहार्यताऽस्ति। ततश्चात्रापि —'अनिच्छन्ती तु या भुक्ता गुप्तां तां वासयेद्गृहे। मलिनाङ्गीमधःशय्यां पिण्डमात्रोपजीविनीम् ॥ कारयेन्निष्कृतिं कृच्छ्रं पराकं वा समे गताम्। हीनवर्णोपभुक्ता या त्याज्या वध्याऽथवा भवेत् ॥' इत्युक्तमनुसंधेयम्। स्मृच. ३२१

(२) यस्तु बलच्छले विहाय दूतादिप्रेषणद्वारा समानजातीयां परस्त्रियं गच्छति, तस्यान्तिमः उत्तमो दण्डः, हीनायां तु बलच्छले विहाय गच्छतो मध्यमो दण्डः। उत्कृष्टजातीयां तु दूतादिप्रेषणद्वारा बलच्छलाभ्यां वा गच्छतो मारणमेवेत्यर्थः। विर. ३८९

(३) एतद्दर्शनाद्बलच्छलाभ्यां सजातीयाभिगमे उत्तमाधिको दण्डो हीनजातीयाभिगमे उत्तम इति गम्यते, हीनस्य बलेनोत्तमाभिगमे विचित्रो वध इति शेषः। अपराधगौरवात्। 'पुमांसं दाहयेत् पापं शयने तप्त आयसे' इति वचनाद्वा। दर्पगमनाधिकारे मनुरिति कृत्वा कामधेन्वादावस्यावतारणात्। *दवि.१६६

**सुगुप्तां ब्राह्मणीं यान्तो दग्धव्यास्तु कटाग्निना ॥**

स्त्रीपुंग्रहणे स्त्रीणां दण्डविधिः

**गृहमागत्य या नारी प्रलोभ्य स्पर्शनादिना।**
**कामयेत्तत्र सा दण्ड्या नरस्यार्धदमः स्मृतः ॥**

---

(१) अप. २।२८६ सहसा कामयेद्यस्तु (सहमायः कामयते); व्यक. १२५; स्मृच. ३२०; विर. ३८८; पमा. ४६६; रत्न. १२९; दवि. १६५ लिङ्ग (लिङ्गं); सवि. ४६७; व्यप्र. ३९६; व्यउ. १३४ क्रमेण मनुः; व्यम. १०५ दविवत्; विता. ८१३ उत्तरार्धे (उत्कृत्य लिङ्गवृषणौ प्रकुर्वीत परिग्रहम्। उत्कृत्य लिङ्गवृषणौ भ्रामयेद्गर्दभेन तु); सेतु. २६६ काम (कार); समु. १५३-४.

(२) अप. २।२८६; व्यक. १२५; स्मृच. ३२०; विर. ३८९; पमा. ४७२ काम (कार); रत्न. १३०; विचि. १८२-३ छद्मना (सहसा); दवि. १६५ सर्वहरो दमः (स्युर्बहवो दमाः); व्यप्र. ३९८; व्यउ. १३६; व्यम. १०५; सेतु. २६६-७ पमावत्; समु. १५४.

(३) व्यक. १२५; स्मृच. ३२० ऽन्तिमः (नेयः) संप्र (सप्र); विर. ३८९; रत्न. १३० स्मृचवत्; विचि. १८३ कस्ततः (कः स्मृतः) मने (मनं); दवि. १६५; व्यप्र. ३९७ मर्धि (मधि) शेषं स्मृचवत्; व्यउ. १३४ (=) ऽन्तिमः (नेयः) संप्रमापणम् (सप्रमापणे); व्यम. १०६ ऽन्तिमः (नेयः) समायां तु (समायां यो); विता. ८१३-४ मोऽन्तिमः (मः समः) मर्धि (मधि); सेतु. २६७; समु. १५४ ऽन्तिमः (नेयः).

* शेषं विरवत्।

(१) विव्य. ५५.

(२) व्यक. १२६; स्मृच. ३२३; विर. ३९८ (=);

[3]छिन्ननासौष्ठकर्णां तां परिभ्राम्याप्सु मज्जयेत् ।
खादयेद्वा सारमेयैः संस्थाने बहुसंस्थिते ॥

तत्र सा दण्ड्या, यः स्त्रियं प्रलोभ्य संगच्छतः पुरुषस्य दण्डः तेन दण्ड्या, तद्दण्डार्धः पुरुषस्य । छिन्नेत्यादिना तस्या एवाधिको वैकल्पिक उक्तः । बहुसंस्थिते बहुभिराकीर्णे । विर. ३९८-९

अनिच्छन्ती तु या भुक्ता गुप्तां तां वासयेद् गृहे ।
मलिनाङ्गीमधःशय्यां पिण्डमात्रोपजीविनीम् ॥
[3]कारयेन्निष्कृतिं कृच्छ्रं पराकं वा समे गताम् ।
हीनवर्णोपभुक्ता या त्याज्या वध्याऽथवा भवेत् ॥

गुप्तां पुनः संभोगरहितां वासयेद्विशुद्धिपर्यन्तमिति शेषः । समे गतां समवर्णे पुंसि संगतामित्यर्थः । हीनवर्णोपभुक्ताविषये वचनान्तरपर्यालोचनया यद्वक्तव्यं तद्विस्तरभयादिह नोक्तम् । स्वावसरे प्रायश्चित्तकाण्डे वक्ष्यते । स्मृच. ३२०

## कात्यायनः

संग्रहणलक्षणानि

[4]यानि कर्माण्यभिलषन् पुमान्वै कुरुते क्वचित् ।
आरम्भास्ते तु निर्दिष्टा गर्हिताः कामसाधकाः ॥

परस्त्रियमभिलषन् यावन्तं कर्मकलापं पुमान् करोति, सर्वोऽसौ संग्रहणारम्भः । विर. ३८२

[1]दूतोपचारयुक्तश्चेद्वेलास्थानसंगतः ।
कण्ठकेशाम्बरग्राही कर्णनासाकरादिषु ॥
[2]एकस्थानासनाहारः संग्रहो नवधा स्मृतः ।
न ग्राह्यो ह्यन्यथाकारी ग्राहको दण्डमर्हति ॥

(१) अञ्चलं वस्त्रप्रान्तम् । स्मृच. ८

(२) अत्र करादिष्वित्यादिशब्देन कण्ठकेशकर्णनासातिरिक्तं अङ्गं ग्राह्यम् । तेन भूतोपचारयुक्तस्ताम्बूलाद्युपकरणयुक्तः । कण्ठे केशेऽम्बरे कर्णे नासायां करादाविति षट्सु स्पृशति, एकस्थान एकासन एकाहारश्च भवति, स नवप्रकारः संग्रहो ग्राहकैर्निश्चेतव्य इत्यर्थः । न ग्राह्य इत्यादिनार्धेन एतैरेव चिह्नैर्भावान्तरप्रयुक्तैर्न संग्रहो निश्चेतव्यः । यस्तु तेनैव तथात्वनिश्चयं कुरुते, स एव दण्ड्यः । विर. ३८२-३

[3]गर्भपातो नखानां च दर्शनं गर्भधारणम् ।
धारणं परवस्त्राणां अलङ्कारायुधस्य च ॥
[4]एभिश्चिह्नैः सदा ज्ञेया व्यभिचाररताः स्त्रियः ॥

गर्भपात इत्यादिना, एभिर्गर्भपातादिभिर्निमित्तैर्व्यभिचाररता इति ज्ञेयमित्युक्तम् । विर. ३८३

[5]गन्धमाल्याम्बरैश्चैव लेख्यसंप्रेषणैरपि ।
ग्राहकं सर्वमेव स्यादारम्भकरणं हि तत् ।
अस्मादकार्यसंसर्गात् ग्रहं संग्रहणं विदुः ॥

---

स्मृत्. १३२; विचि. १८६; व्यनि. ४०२; दवि. १६४; वीमि. २।२९४; व्यप्र. ४०४; व्यउ. १३९; व्यम. १०७ नारदः; विता. ८०७; सेतु. २७३; समु. १५५.

(१) व्यक. १२६ कर्णां तां ( कर्णां तु ); विर. ३९८ (=) खाद...मेयैः ( खादयेत्सारमेयैर्वा ); विचि. १८६ छिन्न (भिन्न); व्यनि. ४०२ कर्णां तां ( कर्णां तु ) भ्राम्या (भ्राम्य); दवि. १६४ कर्णां तां ( कर्णानां ); वीमि. २।२९४ प्सु मज्ज ( शु भञ्ज ) पू.; सेतु. २७३; समु. १५५ व्यकवत्.

(२) व्यक. १२७; स्मृच. ३२०,३२१; विर. ४००; व्यनि. ४०२; व्यम. १०५ क्रमेण कात्यायनः; विता. ८१४ न्ती तु या भुक्ता ( न्तीं तु यां भुक्त्वा ) नाङ्गी ( नाङ्गा ); सेतु. २७३; विभ. १६ पूर्वार्धे ( व्यभिचरन्तीं दत्तभक्तां शुद्धां तां रक्षयेद्गृहे ) पिण्डमात्रोप ( भिक्षामाश्रित्य ); समु. १५४.

(३) व्यक. १२७; स्मृच. ३२०,३२१; विर. ४०० ऽथवा ( च सा ); व्यनि. ४०२ समे ( समा ) या ( सा ); व्यम. १०५ उत्त., क्रमेण कात्यायनः; विता. ८१४ ष्कृतिं ( ष्कृतिः ) वर्णोप ( वर्णेन ); सेतु. २७३; विभ. १६ ऽथवा भवेत् ( च धर्मतः ); समु. १५४.

(४) व्यक. १२४; विर. ३८२.

(१) व्यक. १२४ संगतः ( संस्थितः ); स्मृच. ८ संगतः ( संस्थितिः ) शाम्बरग्राही ( शाञ्चलग्राहः ); विर. ३८२ दूतो ( भूतो ); समु. १५३ संगतः ( संस्थितः ) शाम्बरग्राही ( शाञ्चलग्राहः ).

(२) व्यक. १२४ कारी ( कामी ); स्मृच. ८ हारः ( हाराः ) पू.; विर. ३८२ नवधा ( मुनिभिः ); समु. १५३ स्मृचवत्, पू.

(३) व्यक. १२४; विर. ३८२; व्यनि. ३९९; समु. १५३ गर्भपातो ( दन्तपाद ) धारणं परवस्त्राणां ( परवस्त्रस्य धरणं ) स्मृत्यन्तरम्.

(४) व्यक. १२४; विर. ३८२; व्यनि. ३९९; समु. १५३ स्मृत्यन्तरम्.

(५) व्यक. १२४ श्चैव ( श्चापि ) रपि ( स्तथा ) तत् ( यत् ); विर. ३८३ अस्मादकार्य ( अस्मात्कुकार्य ).

कामी तु संस्थितो यत्र आरम्भकामसाधके।
तत्तस्योद्ग्रहणं तस्य प्राह संग्रहणं ह्यतः॥
ग्राहकं ग्रहणस्यावरोधस्य निमित्तमिति हलायुधः।

विर. ३८४

संग्रहणदोषप्रतिप्रसवः

अतोऽन्येन प्रकारेण प्रवृत्तौ ग्रहणं भवेत्।
स्वयमेवागतायां तु पुंगृहे न तु दोषभाक्॥

(१) अभिगमनानुवृत्तौ कात्यायनः— अत इति।

व्यक. १२५

(२) अभिगमनानुवृत्तौ विष्णुः —अत इति।

विर. ३८५

(३) पुंगृह इति। स्वगृहं गते पुंसि स्त्रियां स्वयमुपस्थितायां अधिकः पुंसो न दोष एवेत्यर्थः। एतद्वचनं कल्पतरौ संग्रहणप्रकरणे पठितम्। रत्नाकरे त्वभिगमनानुवृत्तौ कात्यायन इति कृत्वा तत्रैवावतारितम्।

दवि. १५७-८

प्रदुष्टत्यक्तदारस्य क्लीबस्याक्षमकस्य च।
स्वेच्छयोपेयुषो दारान्न दोषः साहसे भवेत्॥

अस्यार्थः— प्रदुष्टास्त्यक्ताः स्वदारा येन तस्य दुष्टान् दारान् तथा क्लीबाक्षमयोर्दाराणामेवेच्छयोपगच्छन् न दण्डनीय इति।

व्यक. १२५

स्त्रीपुरुषयोः संग्रहणे दण्डविधिः

स्त्रीषु वृत्तोपभोगः स्यात्प्रसह्य पुरुषो यदा।
वधस्तत्र प्रवर्तेत कार्यातिक्रमणं हि तत्॥

तद्गुणवतो जायायां द्रष्टव्यम्। अत्र मन्वादिभिः पुरुषस्यैव दण्डाभिधानं दण्डप्रापकस्त्रीगतापराधाभावादिति मन्तव्यम्। तथापीतरपुरुषसंसर्गजं पापं नार्याः संजायते। ततश्चासंव्यवहार्यता अत्रापि दण्ड्यायामिव समाना। सा प्रायश्चित्तेन क्वचिदपैति क्वचिन्नेत्याह

बृहस्पतिः— अनिच्छन्तीति।

स्मृच. ३२०

सर्वेषु चापराधेषु पुंसो योऽर्थदमः स्मृतः।
तदर्धं योषितो दद्युः वधे पुंसोऽङ्गकर्तनम्॥

योषितो दद्युः इति, पुरुषवदपराधकर्त्र्य इति शेषः।

स्मृच. ३२१

नास्वतन्त्राः स्त्रियो ग्राह्याः पुमांस्तत्रापराध्यते।
प्रभुणा शासनीयास्ता राजा तु पुरुषं नयेत्॥

(१) तद्व्रताचरणार्हास्वतन्त्रासु द्रष्टव्यम्। स्मृच. ३२०

(२) सतन्त्राः सस्वामिकाः स्त्रियो राज्ञा न ग्राह्या न कर्षणीयाः, राजा तु पुरुषं नयेत् स्त्रीस्वामिनं पुरुषं प्रापयेत्। स्वामिद्वारैव तद्दण्डो ग्राह्य इति तात्पर्यम्।

विर. ४००

प्रोषितस्वामिका नारी प्रापिता यद्यभिग्रहे।
तावत्सा बन्धने स्थाप्या यावत्स्यादागतः प्रभुः॥

अभिग्रहे अभिसारनिमित्तग्रहे सति राजपुरुषैर्यदि राजगृहं नीता।

विर. ४००

स्वैरिणीगमनविचारः

कामार्ता स्वैरिणी या तु स्वयमेव प्रकामयेत्।
राजादेशेन भोक्तव्या विख्याप्य जनसंनिधौ॥

---

(१) व्यक. १२४; विर. ३८३ प्राह संग्रहणं (प्रासङ्गग्रहणं).

(२) व्यक. १२५; विर. ३८६ पुंगृहे (स्वगृहे) विष्णुः; दवि. १५७ न तु (स न).

(३) व्यक. १२५ नारदकात्यायनौ; विर. ३८६ प्रदुष्ट (अदुष्ट) स्वेच्छयो (स्वेच्छानु) विष्णुः; दवि. १५८ स्वेच्छयो (स्वेच्छानु) नारदकात्यायनौ.

(४) व्यक. १२५; स्मृच. ३२० वधस्तत्र (वधे तत्र); विर. ३८९ भोगः (योगः); व्यप्र. ३९७ वृत्तो (कृतो); व्यउ. १३५ वृत्तो (कृतो) शेषं स्मृचवत्; व्यम. १०५ वृत्तो (कृतो) वधस्तत्र (वधे तस्य); विता. ८१४ वृत्तोप (यः कृत) शेषं स्मृचवत्; सेतु. २६७ विरवत्; समु. १५३ स्मृचवत्.

(१) स्मृच. ३२१ चतुर्थपादं विना; रत्न. १३०; व्यप्र. ३९९ योऽर्थ (ह्यर्थ); व्यउ. १३६-७; व्यम. १०६; समु. १५४.

(२) व्यक. १२७ ध्यते (ध्यति); स्मृच. ३२३ व्यकवत्; विर. ४०० नास्व (न स); विचि. १८७ यास्ता (या सा) शेषं व्यकवत्; दवि. १६४; सेतु. २७४ तु (च); समु. १५५ व्यकवत्.

(३) व्यक. १२७ त्स्यादा (त्प्रत्या); स्मृच. ३२३ व्यकवत्; विर. ४००; विचि. १८७; दवि. १६५; सेतु. २७४; समु. १५५ व्यकवत्.

(४) अप. २।२९०; व्यक. १२८; विर. ४०५ काम (काश); व्यनि. ४०३ कामा......या तु (यं कामार्ता स्वैरिणी या) राजा......क्तव्या (राज्ञा देशाद्विमोक्तव्या) व्यासः; सेतु. २७७; समु. १५५ राजा......क्तव्या (राज्ञा देशाद्विमोक्तव्या) व्यासः.

व्यासः

संग्रहणलक्षणानि

[1]संग्रहस्त्रिविधो ज्ञेयः प्रथमो मध्यमस्तथा ।
उत्तमश्चेति शास्त्रेषु तस्योक्तं लक्षणं पृथक् ॥

[2]त्रिविधं तत्समाख्यातं प्रथमं मध्यमोत्तमम् *॥

[3]अदेशकालसंभाषा निर्जने च परस्त्रिया ।
अपाङ्गप्रेक्षणं हास्यं प्रथमः संग्रहः स्मृतः ॥

एतच्च रिरंसया विशेषणीयम् । विर. ३७९

[4]प्रेषणं गन्धमाल्यानां धूपभूषणवाससाम् ।
प्रलोभनं चान्नपानैर्मध्यमः संग्रहः स्मृतः ॥

शय्यासने विविक्ते तु परस्परमुपाश्रयः ।
केशाकेशिग्रहश्चैव ज्ञेय उत्तमसंग्रहः ॥

विविक्ते रहसि । केशाकेशिग्रहैः परस्परकेशग्रहणपूर्वकक्रीडाभिः । स्मृच. ८

अपाङ्गप्रेक्षणं हास्यं दूतीसंप्रेषणं तथा ।
स्पर्शो भूषणवस्त्राणां प्रथमः संग्रहः स्मृतः ॥

प्रेषणं गन्धमाल्यानां फलधूपान्नवाससाम् ।
संभाषणं च रहसि मध्यमं संग्रहं विदुः ॥

एकशय्यासनं क्रीडा चुम्बनालिङ्गनं तथा ।
एतत् संग्रहणं प्रोक्तमुत्तमं शास्त्रवेदिभिः ॥

स्त्रीसंग्रहणे दण्डविधिः

गुप्तायाः संग्रहे दण्डो यथोक्तः परिकीर्तितः ।
इच्छन्त्यामागतायां तु गच्छतोऽर्धदमः स्मृतः ॥

यथोक्त उत्तमसाहसरूपः । एष त्वर्धदण्डः क्लीबादिभार्याव्यतिरिक्तासु, क्लीबादिभार्यासु दण्डाभावोक्तेः । विर. ३९२

साधारणस्त्रीगमने दण्डविधिः

बहुभिर्भुक्तपूर्वा या गच्छेद्यस्तां नराधमः ।
तस्य वेश्यावदिच्छन्ति दण्डनं न तु दारवत् ॥

---

* अयमर्धश्लोकः पूर्वश्लोकार्थदर्शकः पूर्वश्लोकस्थाने पठनीयः ।

(१) अप. २।२८४; व्यक. १२४ ज्ञेयः (प्रोक्तः); स्मृच. ८; विर. ३७९; रत्न. १३०; विचि. १६९ ज्ञेयः (प्रोक्तः) ध्यमस्तथा (ध्य उत्तमः) उत्तमश्चेति (उक्तश्चेति स्व); व्यप्र. ३९७; सेतु. २६१; समु. १५३; विव्य. ५३ ज्ञेयः (प्रोक्तः) मस्तथा (मोत्तमः) उत्तमश्चेति (उक्तश्चेति स).

(२) मिता. २।२८३; स्मृचि. २६; सवि. ४६७ नारदः; वीमि. २।२८३; विता. ७९७; राकौ. ४८४.

(३) मिता. २।२८३ संभाषा (भाषाभिः) या (याः) अपाङ्गप्रे (कटाक्षावे) मः... ...स्मृतः (मं साहसं स्मृतम्); अप. २।२८४ निर्जने (अरण्ये) प्रथ...स्मृतः (पूर्वसंग्रहणं स्मृतम्); व्यक. १२४ अपवत्; स्मृच. ८ अपाङ्गप्रे (कटाक्षावे); विर. ३७९ काल (काले) षा (ष्य) निर्जने (अरण्ये) या (याः); विचि. १६९ काल (काले) निर्जने (अरण्ये) या (याः) प्रथ... ...स्मृतः (पूर्वं संग्रहणं स्मृतम्); स्मृचि. २६ या (याः) अपाङ्गप्रे (कटाक्षावे) मः... ... ...स्मृतः (मं साहसं स्मृतम्); सवि. ४६७–८ या (याम्) उत्तरार्धे (कटाक्षवीक्षणं हास्यं प्रथमं साहसं स्मृतम्) नारदः; वीमि. २।२८३ काल (काले) पू.; विता. ७९७ मितावत्; राकौ. ४८४ स्मृचिवत्; सेतु. २६१ काल (काले) निर्जने (अरण्ये) प्रथ...स्मृतः (पूर्वं संग्रहणं स्मृतम्); समु. १५३ मितावत्; विव्य. ५३ या (याः) प्रथ...स्मृतः (प्रथमं ग्रहणं स्मृतम्).

(४) मिता. २।२८३ मः संग्रहः स्मृतः (मं साहसं स्मृतम्); अप. २।२८४ क्रमेण मनुः; व्यक. १२४; स्मृच. ८; विर. ३८०; विचि. १७१ बृहस्पतिः; स्मृचि. २६ चान्न (वान्न) मः...स्मृतः (मं समुदाहृतम्); दवि. १५६ धूप (पूग) मः...स्मृतः (मः साहसः स्मृतः); सवि. ४६८ मितावत्, नारदः; वीमि. २।२८३ मः...स्मृतः (मं समुदाहृतम्) उत्त.; विता. ७९७ वीमिवत्; राकौ. ४८४ वीमिवत्; सेतु. २६२; समु. १५३; विव्य. ५३ बृहस्पतिः.

(१) मिता. २।२८३ शय्या...तु (सहासनं विविक्तेषु) ज्ञेय...ग्रहः (सम्यक् संग्रहणं स्मृतम्); अप. २।२८४ मुपा (समा) क्रमेण मनुः; व्यक. १२४ मुपा (मपा); स्मृच. ८ सने (सनं) मुपा (मपा) हश्चै (हैश्चै); विर. ३८१ मुपा (मपा); विचि. १७१ विरवत्; स्मृचि. २६ शय्यासने (सहासनं) ज्ञेय...ग्रहः (सम्यक् संग्रहणं स्मृतम्); सवि. ४६८ स्मृचिवत्, नारदः; वीमि. २।२८३ स्मृचिवत्; विता. ७९८ स्मृचिवत्, उत्त.; राकौ. ४८४ क्ते (क्तं) शेषं स्मृचिवत्; सेतु. २६३; समु. १५३ स्मृचवत्.

(२) व्यप्र. ३९७-८ व्यासबृहस्पती. [वस्तुतस्तु एते श्लोका व्यासस्य न सन्ति उपर्युक्तैः पुनरुक्तेः ।]

(३) स्मृच. ३२१ प्तायाः (प्तायां) परिकीर्तितः (समुदाहृतः); विर. ३९२ हे (हो); रत्न. १३१ स्मृचवत्; व्यनि. ४०१ स्मृतः (मतः) उत्त.; दवि. ५० कीर्तितः (कल्पितः) : १६४; सेतु. २७०; समु. १५४ स्मृचवत्.

(४) अप. २।२९०; व्यक. १२८; विर. ४०५;

[1]परोपरुद्धागमने पञ्चाशत्पणिको दमः ।
प्रसह्य वेश्यागमने दण्डो दशपणः स्मृतः ॥

### यमः

मातृष्वस्रादिगमने पातित्यम्

[2]मातृष्वसा मातृसखी दुहिता च पितृष्वसा ।
मातुलानी स्वसा श्वश्रूर्गत्वा सद्यः पतेद्द्विजः ॥

वर्णभेदेन स्त्रीसंग्रहणे दण्डविधिः

[3]शूद्रं तु घातयेद्राजा शयने तप्त आयसे ।
दहेत्पापकृतं तत्र काष्ठैः पर्णैस्तृणैस्तथा ॥

ब्राह्मणीगन्तारमित्यनुवृत्तौ यमः — शूद्रमिति ।

विर. ३९५

[4]वृषलं सेवते या तु ब्राह्मणी मदमोहिता ।
तां श्वभिः खादयेद्राजा संस्थाने वध्यघातिनाम् ॥

(१) 'मदमोहिते'ति वदन् वधदण्डस्यासार्वत्रिकत्वं दर्शयति । तेन 'नार्याः कर्णादिकर्तनम्' इति प्रागुक्तो दण्डो रागादत्यन्तासक्ताविषय इति मन्तव्यम् । अत्यन्तासक्तिरहिताविषये तु न शारीरो दण्डः । संव्यवहारार्थं 'यत्पुंसः परदारेषु तच्चैनां चारयेद्व्रतम्' इति प्रायश्चित्तविधानात् । स्मृच. ३२३

(२) वध्यघातिनां संस्थाने, वध्यान् ये घातयन्ति चाण्डालादयः, तैरधिष्ठिते देशे । विर. ३९८

(३) एतद्दर्शनात् गौतमवाक्ये पुरुषवधे प्रकाशत्वाभिधानात् स्त्रियाः श्वभिः खादनं निभृतमिति भ्रमो हेयः । दवि. १७४

[5]वैश्यं वा क्षत्रियं वाऽपि ब्राह्मणी सेवते तु या ।
शिरसो मुण्डनं तस्याः प्रयाणं गर्दभेन तु ॥

इह ब्राह्मण्या नग्नायाः शिरोमुण्डन-सर्पिरभ्युक्षण-खरारोहण-राजपथानुव्रजनानि वसिष्ठेन विहितानि पूता भवतीत्युपसंहारदर्शनात् प्रायश्चित्तरूपाणि । अत एव कल्पतरौ— शूद्रमग्नौ प्रास्येदित्यन्तमेव तद्वाक्यं पठितमतस्तदिहोपेक्षितम् । अत एव 'अनिच्छन्ती च या भुक्ते'त्यादि बृहस्पतिवचनमपि नात्रावतारितम् ।

दवि. १७४

बन्धकीगमने दण्डविधिः

[2]परदारे सवर्णासु दण्ड्याः स्युः पञ्चकृष्णलान् ।
असवर्णास्वानुलोम्ये दण्डो द्वादशकः स्मृतः ॥

(१) बन्धकीमधिकृत्याह यमः —परेति । द्वादशको द्वादशपणः । अप. २।२९०

(२) द्वादशको द्वादशकार्षापणमित्यर्थः । तदेतद्बन्धकीविषयम् । स्मृच. ३२३

साहसिकादिदुष्टरहितराज्यस्तुतिः

[3]दुष्टाः साहसिकाश्चण्डाः कितवा बाधकास्तथा ॥
यस्य राष्ट्रे न सन्तीह स राजा शक्रलोकभाक् ॥

### संवर्तः

स्त्रीसंग्रहणलक्षणानि, स्त्रीसंग्रहणनिर्णयश्च

[4]नेच्छन्त्या यानि चिह्नानि बलात्कारकृतानि च ।
परपुंसः प्रसङ्गेषु नारीणां तानि शृण्वतः ॥

---

विचि. १८९ गच्छे...धमः ( तां गच्छेयुर्नराधमाः ) तस्य ( तस्या ); व्यनि. ४०३ पूर्वा या ( पूर्वां तु ) दण्डनं न तु ( दण्डं न पर ); दवि. १८८; वीमि. २।२८६ गच्छे...धमः ( तां गच्छेयुर्नराधमाः ) तस्य ( तस्यां ); सेतु. २७७; समु. १५५ पूर्वा या ( पूर्वां तु ) दण्डनं न तु ( दण्डं तु पर ).

(१) अप. २।२९०; व्यक. १२८; स्मृच. ३२३ त्पणि ( त्पण ); विर. ४०६ परोप ( पराव ); रत्न. १३२; विचि. १८७ विरवत्; दवि. १९० (=) उत्त.; व्यप्र. ४०२; सेतु. २७८ विरवत् : २७९ उत्त.; समु. १५५ स्मृचवत्.

(२) दवि. १८०.

(३) विर. ३९५; विचि. १८५; दवि. १७४ पर्णै ( पत्रै ); सेतु. २७१.

(४) व्यक. १२६; स्मृच. ३२३; विर. ३९८; रत्न. १३२; विचि. १८६; व्यनि. ४०१ घाति ( खादि ); दवि. १७४; वीमि. २।२८६; व्यम. १०७; विता. ८०७ तां श्वभिः ( श्वभिस्तां ); सेतु. २७२; समु. १५५; विव्य. ५४ ब्राह्मणी ( कुमारी ).

(१) व्यक. १२६; स्मृच. ३२३; विर. ३९८; रत्न. १३२; विचि. १८६; व्यनि. ४०१; दवि. १७४ तु या ( यदा ); वीमि. २।२८६ तस्याः ( तस्य ) भेन तु (भेन च); व्यम. १०७; विता. ८०७; सेतु. २७२; समु. १५५.

(२) अप. २।२९०; व्यक. १२८ स्मृतः ( मतः ); स्मृच. ३२३ दारे ( दार ) स्मृतः ( मतः ); विर. ४०५; दवि. १८८ दण्ड्याः ( दाप्याः ) स्मृतः ( मतः ); सेतु. २७७ पर ( पार ) स्मृतः ( दमः ); समु. १५६ स्मृचवत्, पू.

(३) व्यक. १२८ बाधका ( वञ्चका ); विर. ४०८; सेतु. २८०.

(४) स्मृच. ३१९; रत्न. १२८; सवि. ४६५ परपुंसः

[1]नखदन्तक्षतक्षामा सकचग्रहविक्षता ।
सद्यो विध्वंसिता नारी बलात्कारेण दूषिता ॥
[2]उच्चैर्विक्रोशयन्ती च रुदन्ती लोकसंनिधौ ।
तस्य नाम्ना वदन्ती च यथाहं तेन दूषिता ॥
[3]शोचेदेवंविधैर्लिङ्गैः व्रणीकृतपयोधरा ।
छिन्नालङ्कारकेशैश्च व्याकुलीकृतलोचना ॥
[4]राज्ञा सभ्यैः सभां नीत्वा स्वयमन्विष्य तत्क्षणात् ।
यद् ब्रूयात् सहजं वाक्यं तत्कर्तव्यं प्रयत्नतः ॥
[5]विवादे साक्षिणामत्र न कुर्वीत परिग्रहम् ।
प्रार्थनादभिशस्तस्य न दिव्यं दातुमर्हति ॥

बलात्कारेण सद्यो विध्वंसिता दूषिता नारी या नखदन्तक्षताद्यन्विता विध्वंसकस्य नाम्ना तत्कृतविध्वंसनप्रकारं वदन्ती शोचेत्, तां तत्क्षणाद्राजा स्वयमन्विष्य सभ्यैः सह सभां प्राप्य का तव पीडेति पृच्छेत् । ततस्तदा तयाऽऽवेदितं तदाकर्ण्य चिह्नैरेवात्र राज्ञा निर्णेतव्यमित्यर्थः । स्मृच. ३२०

( पुनः पुनः ); व्यप्र. ३९६; व्यउ. १३४; विता. ८१३ शृण्वतः ( शृण्वते ) उत्त., बृहस्पतिः; समु. १५३ च ( तु ).

(१) स्मृच. ३१९ सक...क्षता ( कचग्रहविवक्षिता ); रत्न. १२८; सवि. ४६५ क्षतक्षामा ( क्षता क्षामा ) विक्षता ( पीडिता ); व्यप्र. ३९६ विक्षता ( वीक्षिता ) विध्वंसिता ( विश्वासिता ); व्यउ. १३४ विध्वंसिता ( विश्वासिता ); विता. ८१३ बृहस्पतिः; समु. १५३ सकचग्रहविक्षता (कचग्रहविकर्षिता).

(२) स्मृच. ३१९; रत्न. १२९; सवि. ४६५ रुदन्ती ( रुदती ); व्यप्र. ३९६; व्यउ. १३४; विता. ८१३ बृहस्पतिः; समु. १५३.

(३) स्मृच. ३१९ व्रणीकृत ( वामीकृत ); रत्न. १२९ छिन्ना ( चिह्ना ); सवि. ४६५ बृहस्पतिः; व्यप्र. ३९६ रत्नवत्; व्यउ. १३४ रत्नवत्; समु. १५३ स्मृचवत्.

(४) स्मृच. ३१९; रत्न. १२९; सवि. ४६६; व्यप्र. ३९६ वाक्यं ( तत्र ); व्यउ. १३४ व्यप्रवत्; विता. ८१३ बृहस्पतिः; समु. १५३.

(५) स्मृच. ३२०; रत्न. १२९ न कुर्वीत ( प्रकुर्वीत ); सवि. ४६६ प्रार्थना ( वर्तना ); व्यप्र. ३९६ रत्नवत्; व्यउ. १३४ रत्नवत्; विता. ८१३ नादभि ( नेऽप्यभि ) शेषं रत्नवत्, बृहस्पतिः; समु. १५३.

## वृद्धहारीतः

परस्त्रीगमने दण्डविधिः

[1]प्रत्येकं दण्डनं कुर्याद्दुर्वृत्तस्य परस्त्रियाम् ॥
चुम्बने तालुविच्छेदो द्वौ हस्तौ परिरम्भणे ।
हस्तस्याङ्गुलिविच्छेदः केशादिग्रहणे स्त्रियाः ॥
दाहयेत्तप्ततैलेन हस्तमुष्ट्या च ताडनम् ।
सुरतं याचमानस्य जिह्वाच्छेदं च कामतः ॥
[2]परद्रव्यादिहरणं परदाराभिमर्शनम् ।
यः कुर्यात्तु बलात्तस्य हस्तच्छेदः प्रकीर्तितः ॥
यो गच्छेत्परदारांस्तु बलात्कामाच्च वा नरः ।
सर्वस्वहरणं कृत्वा लिङ्गच्छेदं च दापयेत् ॥
दहेत् कटाग्निना देहं गुरुस्त्रीगामिनं तथा ॥
[3]कामेङ्गितेषु सर्वत्र ताल्वोष्ठ दहनं स्मृतम् ।
दृष्ट्वा मुहुः प्रेरणे तु नेत्रयोः स्फोटनं चरेत् ॥

## स्मृत्यन्तरम्

वर्णभेदेन परस्त्रीगमने दण्डविधिः

[4]आनुलोम्येन······स्त्रिया नासादिकर्तनम् ।
असवर्णानुगमने वधदण्डः प्रकीर्तितः ॥

अयं च दण्डस्याप्युपदेशो राज्ञ एव । तस्यैव पालने अधिकारात् । न द्विजातिमात्रस्य । ब्राह्मणः परीक्षार्थमपि शस्त्रं नाददीतेति शस्त्रग्रहणनिषेधात् । 'धिग्दण्डो वाग्दमश्चैव विप्रायत्तावुभाविमौ' इति निषेधाच्च । सवि. ४७०-७१

## अग्निपुराणम्

संग्रहणोपक्रमनिषेधः । स्वयंवरानुज्ञा । वर्णभेदेन स्त्रियाः व्यभिचारदण्डः । वर्णानुलोम्येन व्यभिचारे दण्डः ।

[5]परस्त्रियं न भाषेत प्रतिषिद्धो विशेन्न हि ॥
[6]अदण्ड्या स्त्री भवेद्राज्ञा वरयन्ती पतिं स्वयम् ॥
[7]भर्तारं लङ्घयेद्या तां श्वभिः संघातयेत्स्त्रियम् ।
ज्यायसा दूषिता नारी मुण्डनं समवाप्नुयात् ।
वैश्यागमे तु विप्रस्य क्षत्रियस्यान्त्यजागमे ॥
क्षत्रियः प्रथमं वैश्यो दण्ड्यः शूद्रागमो भवेत् ॥

(१) वृहास्मृ. ७।२०४-६.
(२) वृहास्मृ. ७।२००-२०२. (३) वृहास्मृ. ७।२०७.
(४) सवि. ४७०. (५) अपु. २२७।४०.
(६) अपु. २२७।४१. (७) अपु. २२७।४२-४.

## मत्स्यपुराणम्

प्रतिषिद्धानां परस्त्रियाः अगारप्रवेशे दण्डः

[1]भिक्षुकोऽप्यथवा नारी योऽपि स्यात्तु कुशीलवः ।
प्रविशेत् प्रतिषिद्धस्तु प्राप्नुयात् द्विशतं दमम् ॥
[2]यस्तु संचारकस्तत्र पुरुषः स तथा भवेत् ।
पारदारिकवद्दण्ड्यो यश्च स्यादवकाशदः ॥

परस्त्रीसंग्रहणे दण्डविधिः

[3]बलात्संदूषयेद्यस्तु परभार्यां नरः क्वचित् ।
वधदण्डो भवेत्तस्य नापराधो भवेत्स्त्रियाः ॥

गुप्तास्वेवं भवेद्दण्डः सुगुप्तास्वधिकं भवेत् ।
अद्रव्यां मृतपत्नीं तु संगृह्णन्नापराध्नुयात् ।
बलात् परिगृह्णानस्तु सर्वस्वं दण्डमर्हति ॥

कन्यादूषणे दण्डविधिः

[3]अकामां दूषयेत्कन्यां स सद्यो वधमर्हति ।
सकामां दूषमाणस्तु प्राप्तः प्रथमसाहसम् ॥

पशुगमनदण्डः

[4]तिर्यग्योनौ तु गोवर्जं मैथुनं यो निषेवते ।
स पणं प्राप्नुयाद्दण्डं तस्याश्च यवसोदकम् ॥

## विष्णुपुराणम्

पशुगमनायोनिगमननिषेधः

[5]नान्ययोनावयोनौ वा ।

---

(१) अप. २।२८५; व्यक. १२५; विर. ३८५; द्विशतं दमम् ( पूर्वसाहसम् ).

(२) अप. २।२८५; व्यक. १२५; विर. ३८५; विचि. १७४ : १८२ यस्तु ( यश्च ) षः स तथा (षस्तु तदा) यश्च स्यादव ( यश्चागारांव ); दवि. १५५ स तथा ( स्त्वथ वा ); सेतु. २६५; विव्य. ५४.

(३) व्यक. १२७; विर. ४००; विचि. १८७ नरः क्वचित् ( कथञ्चन ) वधदण्डो ( वधो दण्डो ); दवि. १६३ भवेत्स्त्रियाः ( परस्त्रियाः ); वीमि. २।२८६ विचिवत्; सेतु. २७४ नरः ( पुनः ); विव्य. ५५ (=) भवेत्स्त्रियाः ( ऽस्ति योषितः ) शेषं विचिवत्.

(१) दवि. १६९.

(२) व्यक. १२७ ध्नुयात् ( ध्नुते ); विर. ४०१; दवि. १६३ बलात् ( सान्नां ).

(३) व्यक. १२७ अकामां ( योऽकामां ) माणस्तु (यानस्तु) प्रथम ( परम ); विर. ४०१; दवि. १८३ श्लोकस्तु नोपलभ्यते, परन्तु व्याख्यानात् व्यकवत् पाठोऽनुमीयते.

(४) व्यक. १२८; विर. ४०७; दवि. १९४ तु (च); बाल. २।२८९ पणं ( शतं ); सेतु. २७९.

(५) दवि. १६१.

# द्यूतसमाह्वयम्

## वेदाः

द्यूतानुमतिः

**[1]मा वो घ्नन्तं मा शपन्तं प्रति वोचे देवयन्तम् । सुम्नैरिद्व आ विवासे ॥**

हे मित्रादयो देवा देवयन्तं देवान् कामयमानं यजमानं यः शत्रुर्हन्ति घ्नन्तं तादृशं शत्रुं वो युष्मभ्यं मा प्रति वोचे दुरुक्तकथनभीत्या अहं न कथयामि । तथा यजमानं यः शत्रुः शपति तमपि शपन्तं मा प्रति वोचे । भवद्भिरेव विचार्य शिक्षणीय इत्यर्थः । अहं तु सुम्नैरित् धनैरेव वो युष्माना विवासे । सर्वतः परिचरामि । ऋसा.

**[2]चतुरश्चिद्ददमानाद्बिभीयादा निधातोः । न दुरुक्ताय स्पृहयेत् ॥**

घ्नन्तं शपन्तं च मा प्रति वोचे इति यदुक्तं तत्रोपपत्तिरुच्यते । दुरुक्ताय न स्पृहयेत् दुष्टं वाक्यं न कामयेत् किन्तु दुरुक्ताद्बिभीयात् । तत्रावशिष्टो मन्त्रभागः सर्वोऽपि दृष्टान्तः । चिदिति उपमार्थे वर्तते । अक्षद्यूतं कुर्वतोरुभयोर्मध्ये यः पुमान् चतुरश्चतुःसंख्याकान् कपर्दकान् ददमानाद्ददतो हस्ते धारयतः पुरुषात् आ निधातोः कपर्दकनिपातपर्यन्तं बिभीयात् अस्य जयो भविष्यति । न भविष्यतीत्यन्यो भीतिं प्राप्नुयात् । अत्र यथा भयं तथा दुरुक्ताद्भेतव्यमिति धर्मरहस्यम् । तस्मादहं घ्नन्तं शपन्तं मा प्रतिवोच इत्यभिप्रायः । ऋसा.

अक्षक्रीडा दोषः

**न स स्वो दक्षो वरुण ध्रुतिः सा सुरा मन्युर्विभीदको अचित्तिः । अस्ति ज्यायान् कनीयस उपारे स्वप्नश्चनेदनृतस्य प्रयोता * ॥**

अक्षक्रीडायामनृतकरणे दोषः

**[1]यदि वाहमनृतदेव आस मोघं वा देवाँ अप्यूहे अग्ने । किमस्मभ्यं जातवेदो हृणीषे द्रोघवाचस्ते निर्ऋथं सचन्ताम् ॥**

यदि वाहमनृतदेवोऽनृता असत्यभूता देवा यस्य तादृशो यद्यहमास अस्मि । अथवा मोघं वा निष्फलं वा देवानप्यूहे उपगच्छामि । अहं यद्युक्तरूपोऽस्मि हे अग्ने तर्हि मां बाधस्व । न ह्यहं तथाविधोऽस्मि । एवं सति हे जातवेदो जातानां वेदितरग्ने अस्मभ्यं किंकारणं हृणीषे क्रुध्यसि । तव क्रोधोऽस्मासु न जायतामित्यर्थः । द्रोघवाचोऽनृतवाचो राक्षसास्ते तव निर्ऋथम् । निष्पूर्वोऽर्तिर्हिंसायां वर्तते । निर्ऋथं निःशेषेणार्तिं हिंसां सचन्तां सेवन्ताम् । ऋसा.

अक्षक्रीडानिषेधः

**[2]प्रावेपा मा बृहतो मादयन्ति प्रवातेजा इरिणे वर्वृतानाः । सोमस्येव मौजवतस्य भक्षो विभीदको जागृविर्मह्यमच्छान् ॥**

बृहतो महतो विभीतकस्य फलत्वेन संबन्धिनः प्रवातेजाः प्रवणे देशे जाता इरिणे आस्फारे वर्वृतानाः प्रवर्तमानाः प्रावेपाः प्रवेपिणः कम्पनशीला अक्षा मा मां मादयन्ति हर्षयन्ति । किञ्च जागृविर्जयपराजययोर्हर्षशोकाभ्यां कितवानां जागरणस्य कर्ता विभीदको विभीतकविकारोऽक्षो मह्यं मामच्छान् अचच्छदत् । अत्यर्थं मादयति । तत्र दृष्टान्तः । सोमस्येव यथा सोमस्य मौजवतस्य । मुजवति पर्वते जातो मौजवतः तस्य । तत्र ह्युत्तमः सोमो जायते । भक्षः पानं यजमानान् देवांश्च मादयति तद्वदित्यर्थः । तथा च

---

* सायणभाष्यं स्थलनिर्देशश्च साहसप्रकरणे (पृ. १५९१) द्रष्टव्यः ।

(१) ऋसं. ११४१।८.

(२) ऋसं. ११४१।९; नि. ३।१६.

(१) ऋसं. ७।१०४।१४; असं. ८।४।१४ देव आस (देवो अस्मि); बृदे. ६।३०.

(२) ऋसं. १०।३४।१; नि. ९।८; ऋविव. ३।१०।१; बृदे. ७।३६.

यास्कः —'प्रवेपिणो मा महतो विभीतकस्य फलानि मादयन्ति । प्रवातेजाः प्रवणेजा इरिणे वर्तमाना इरिणं निर्ऋणमृणातेरपार्णं भवत्यपरता अस्मादोषधय इति वा सोमस्येव मौजवतस्य भक्षो मौजवतो मुजवति जातो मुजवान् पर्वतो मुञ्जवान् मुञ्जो विमुच्यत इषीकयेषी-केष्यतेर्गतिकर्मण इयमपीतरेषीकैतस्मादेव विभीतको विभेदनात् जागृविर्जागरणान्मह्यमचच्छदत् ।' इति ( नि. ९।८ ) । ऋसा.

न मा मिमेथ न जिहीळ एषा शिवा सखिभ्य उत मह्यमासीत् । अक्षस्याहमेकपरस्य हेतोरनुव्रतामप जायामरोधम् ॥[1]

एषा अस्मदीया जाया मा मां कितवं न मिमेथ न च चुक्रोध न जिहीळे न च लज्जितवती । सखिभ्योऽस्मदीयेभ्यः कितवेभ्यः शिवा सुखकर्यासीत् अभूत् । उतापि च मह्यं शिवा आसीत् । इत्थमनुव्रतामनुकूलां जायामेकपरस्यैकः परः प्रधानं यस्य तस्याक्षस्य हेतोः कारणादहमपारोधं परित्यक्तवानस्मीत्यर्थः । ऋसा.

द्वेष्टि श्वश्रूरप जाया रुणद्धि न नाथितो विन्दते मर्डितारम् । अश्वस्येव जरतो वस्न्यस्य नाहं विन्दामि कितवस्य भोगम् ॥[2]

श्वश्रूर्जायाया माता गृहगतं कितवं द्वेष्टि निन्दतीत्यर्थः । किञ्च जाया भार्यापि रुणद्धि निरुणद्धि । अपि च नाथितो याचमानः कितवो धनं मर्डितारं धनदानेन सुखयितारं न विन्दते न लभते । इत्थं बुद्ध्या विमृशन्नहं जरतो वृद्धस्य वस्न्यस्य । वस्नं मूल्यम् । तदर्हस्याश्वस्येव कितवस्य भोगं न विन्दामि न लभे । ऋसा.

अन्ये जायां परि मृशन्त्यस्य यस्यागृधद्वेदने वाज्यक्षः । पिता माता भ्रातर एनमाहुर्न जानीमो नयता बद्धमेतम् ॥[3]

यस्य कितवस्य वेदने धने वाजी बलवानक्षो देवोऽगृधत् अभिकाङ्क्षां करोति तस्यास्य कितवस्य जायां भार्यामन्ये प्रतिकितवाः परि मृशन्ति वस्त्रकेशाद्याकर्षणेन संस्पृशन्ति । किञ्च पिता जननी च भ्रातरः सहोदराश्चैनं कितवमाहुः वदन्ति । न वयमस्मदीयमेनं जानीमः रज्ज्वा बद्धमेतं कितवं हे कितवाः यूयं नयत यथेष्टदेशं प्रापयतेति । ऋसा.

यदादीध्ये न दविषाण्येभिः परायद्भ्योऽव हीये सखिभ्यः । न्युप्ताश्च बभ्रवो वाचमक्रतँ एमीदेषां निष्कृतं जारिणीव ॥[4]

यद्यदाऽहमादीध्ये ध्यायामि तदानीमेभिरक्षैर्न दविषाणि न दूषये न परितपामि । यद्वा न दविषाणि न देविष्यामीत्यर्थः । परायद्भ्यः स्वयमेव परागच्छद्भ्यः सखिभ्यः सखिभूतेभ्यः कितवेभ्योऽव हीये अवहितो भवामि । नाहं प्रथममक्षान् विसृजामीति । किञ्च बभ्रवो बभ्रुवर्णा अक्षा न्युप्ताः कितवैरवक्षिप्ताः सन्तो वाचमक्रत शब्दं कुर्वन्ति । तदा संकल्पं परित्यज्याक्षव्यसनेनाभिभूयमानोऽहमेषामक्षाणां निष्कृतं स्थानं जारिणीव यथा कामव्यसनेनाभिभूयमाना स्वैरिणी संकेतस्थानं याति तद्वदेमीत् गच्छाम्येव । ऋसा.

सभामेति कितवः पृच्छमानो जेष्यामीति तन्वा शूशुजानः । अक्षासो अस्य वि तिरन्ति कामं प्रतिदीव्ने दधत आ कृतानि ॥[5]

तन्वा शरीरेण शूशुजानः शोशुचानो दीप्यमानः कितवः कोऽत्रास्ति धनिकस्तं जेष्यामीति पृच्छमानः पृच्छन् सभां कितवसंबन्धिनीमेति गच्छति । तत्र प्रतिदीव्ने प्रतिदेवित्रे कितवाय कृतानि देवनोपयुक्तानि कर्माण्या दधतो जयार्थमाभिमुख्येन मर्यादया वा दधतोऽस्य कितवस्य काममिच्छामक्षासोऽक्षा वि तिरन्ति वर्धयन्ति । ऋसा.

अक्षास इदंकुशिनो नितोदिनो निकृत्वानस्तपनास्तापयिष्णवः । कुमारदेष्णा जयतः पुनर्हणो मध्वा संपृक्ताः कितवस्य बर्हणा ॥[6]

अक्षास इदक्षा एवाङ्कुशिनोऽङ्कुशवन्तो नितोदिनो नितोदितवन्तश्च निकृत्वानः पराजये निकर्तनशीलाः छेत्तारो वा तपनाः पराजये कितवस्य संतापकास्तापयिष्णवः सर्वस्वहारकत्वेन कुटुम्बस्य संतापनशीलाश्च भवन्ति । किञ्च जयतः कितवस्य कुमारदेष्णा

(१) ऋसं. १०।३४।२. (२) ऋसं. १०।३४।३.
(३) ऋसं. १०।३४।४.

(१) ऋसं. १०।३४।५. (२) ऋसं. १०।३४।६.
(३) ऋसं. १०।३४।७.

धनदानेन धान्यतां लम्भयन्तः कुमाराणां दातारो भवन्ति। अपि च मध्वा मधुना संपृक्ताः प्रतिकितवेन बर्हणा परिवृद्धेन सर्वस्वहरणेन कितवस्य पुनर्हणः पुनर्हन्तारो भवन्ति। ऋसा.

[१]त्रिपञ्चाशः क्रीळति व्रात एषां देव इव सविता सत्यधर्मा। उग्रस्य चिन्मन्यवे ना नमन्ते राजा चिदेभ्यो नम इत्कृणोति ॥

एषामक्षाणां त्रिपञ्चाशः त्र्यधिकपञ्चाशत्संख्याको व्रातः सङ्घः क्रीळति आस्फारे विहरति। अक्षिकाः प्रायेण तावद्भिरक्षैर्दीव्यन्ति हि। तत्र दृष्टान्तः। सत्यधर्मा सविता सर्वस्य जगतः प्रेरकः सूर्यो देव इव। यथा सविता देवो जगति विहरति तद्वदक्षाणां सङ्घ आस्फारे विहरतीत्यर्थः। किञ्चोग्रस्य चित् क्रूरस्यापि मन्यवे क्रोधायैतेऽक्षा न नमन्ते न प्रह्वीभवन्ति न वशे वर्तन्ते। तं नमयन्तीत्यर्थः। राजा चिज्जगत ईश्वरोऽप्येभ्यो नम इन्नमस्कारमेव देवनवेलायां कृणोति नावज्ञां करोतीत्यर्थः। ऋसा.

[२]नीचा वर्तन्त उपरि स्फुरन्त्यहस्तासो हस्तवन्तं सहन्ते। दिव्या अङ्गारा इरिणे न्युप्ताः शीताः सन्तो हृदयं निर्दहन्ति ॥

अपि चैतेऽक्षा नीचा नीचीनस्थले वर्तन्ते। तथाप्युपरि पराजयाद्भीतानां द्यूतकराणां कितवानां हृदयस्योपरि स्फुरन्ति। अहस्तासो हस्तरहिता अप्यक्षा हस्तवन्तं द्यूतकरं कितवं सहन्ते पराजयकरणेनाभिभवन्ति। दिव्या दिवि भवा अपक्वता अङ्गारा अङ्गारसदृशा अक्षा इरिण इन्धनरहित आस्फारे न्युप्ताः शीताः शीतस्पर्शाः सन्तोऽपि हृदयं कितवानामन्तःकरणं निर्दहन्ति। पराजयजनितसंतापेन भस्मीकुर्वन्ति। ऋसा.

[३]जाया तप्यते कितवस्य हीना माता पुत्रस्य चरतः क्व स्वित्। ऋणावा बिभ्यद्धनमिच्छमानोऽन्येषामस्तमुप नक्तमेति ॥

क्व स्वित् क्वापि चरतो निर्वेदाद्गच्छतः कितवस्य जाया भार्या हीना परित्यक्ता सती तप्यते। वियोगजसंतापेन संतप्ता भवति। माता जनन्यपि पुत्रस्य क्वापि चरतः कितवस्य संबन्धाद्धीना तप्यते। पुत्रशोकेन संतप्ता भवति। ऋणावाक्षपराजयादृणवान् कितवः सर्वतो बिभ्यद्धनं स्तेयजनितमिच्छमानः कामयमानोऽन्येषां ब्राह्मणादीनामस्तं गृहं, अस्तं पस्त्यमिति गृहनामसु पाठात्। नक्तं रात्रावुपैति चौर्यार्थमुपगच्छति। ऋसा.

[१]स्त्रियं दृष्ट्वाय कितवं ततापान्येषां जायां सुकृतं च योनिम्। पूर्वाह्णे अश्वान् युयुजे हि बभ्रून्त्सो अग्नेरन्ते वृषलः पपाद ॥

कितवं कितवः। विभक्तिव्यत्ययः। अन्येषां स्वव्यतिरिक्तानां पुरुषाणां जायां जायाभूतां स्त्रियं नारीं सुखेन वर्तमानां सुकृतं सुष्ठु कृतं योनिं गृहं च दृष्ट्वाय मज्जाया दुःखिता गृहं चासंस्कृतमिति ज्ञात्वा तताप तप्यते। पुनः पूर्वाह्णे प्रातःकाले बभ्रून् बभ्रुवर्णान् अश्वान् व्यापकानक्षान् युयुजे युनक्ति। पुनश्च वृषलो वृषलकर्मा स कितवो रात्रावग्नेरन्ते समीपे पपाद शीतार्तः सन् शेते। ऋसा.

[२]यो वः सेनानीर्महतो गणस्य राजा व्रातस्य प्रथमो बभूव। तस्मै कृणोमि न धना रुणध्मि दशाहं प्राचीस्तदृतं वदामि ॥

हे अक्षाः वो युष्माकं महतो गणस्य संघस्य योऽक्षः सेनानीर्नेता बभूव भवति व्रातस्य च। गणव्रातयोरल्पो भेदः। राजेश्वरः प्रथमो मुख्यो बभूव तस्मा अक्षाय कृणोम्यहं अञ्जलिं करोमि। अतः परं धना धनान्यक्षार्थमहं न रुणध्मि न संपादयामीत्यर्थः। एतदेव दर्शयति। अहं दश दशसंख्याका अङ्गुलीः प्राचीः प्राङ्मुखीः करोमि। तदेतदहं ऋतं सत्यमेव वदामि नानृतं ब्रवीमीत्यर्थः। ऋसा.

[३]अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः। तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः ॥

हे कितव बहु मन्यमानो मद्वचने विश्वासं कुर्वंस्त्वमक्षैर्मा दीव्यः द्यूतं मा कुरु। कृषिमित् कृषिमेव कृषस्व कुरु। वित्ते कृष्या संपादिते धने रमस्व मतिं कुरु।

(१) ऋसं. १०।३४।८. (२) ऋसं. १०।३४।९.
(३) ऋसं. १०।३४।१०.

(१) ऋसं. १०।३४।११. (२) ऋसं. १०।३४।१२.
(३) ऋसं. १०।३४।१३; बृदे. ११५२.

तत्र कृपौ गावो भवन्ति । तत्र जाया भवति । तदेव धर्मरहस्यं श्रुतिस्मृतिकर्ता सविता सर्वस्य प्रेरकोऽयं दृष्टिगोचरोऽयं ईश्वरो वि चष्टे विविधमाख्यातवान् ।
ऋसा.

[1]मित्रं कृणुध्वं खलु मृळता नो मा नो घोरेण चरताभि धृष्णु । नि वो नु मन्युर्विशतामरातिरन्यो बभ्रूणां प्रसितौ न्वस्तु ॥

हे अक्षाः यूयं मित्रं कृणुध्वम् । अस्मासु मैत्रीं कुरुत । खल्विति पूरणः । नोऽस्मान् मृळत सुखयत च । नोऽस्मान् धृष्णु धृष्णुना । तृतीयार्थे प्रथमा । घोरेणासह्येन माभि चरत मा गच्छत । किञ्च वो युष्माकं मन्युः क्रोधोऽरातिरस्माकं शत्रुर्नि विशतां । अस्मच्छत्रुषु तिष्ठतु । अन्योऽस्माकं शत्रुः कश्चिद् बभ्रूणां बभ्रुवर्णानां युष्माकं प्रसितौ प्रबन्धने नु क्षिप्रमस्तु भवतु । ऋसा.

द्यूतविधिः

[2]निरुप्तँ हविरुपसन्नमप्रोक्षितं भवत्यथ मध्याधिदेवनमवोक्ष्याक्षान्न्युप्य जुहोति । निषसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा । साम्राज्याय सुक्रतुरिति त्रिर्वै विराड् व्यक्रमत गार्हपत्यमाहवनीयं मध्याधिदेवनं, विराज एवैनं विक्रान्तमनुविक्रमयति प्रत्येव तिष्ठति गच्छति प्रतिष्ठां, धर्मधृत्या जुहोति धर्मधृतमेवैनं करोति सवितारं धारयितारं, गां घ्नन्ति तां विदीव्यन्ते तां सभासद्भ्य उपहरन्ति तेनास्य सोऽभीष्टः प्रीतो भवति, प्र नूनं ब्रह्मणस्पतिरित्यामन्त्रणे जुहोति मन्त्रवत्या वैश्वदेव्या, मन्त्रमेवास्मै गृह्णाति तमभिसमेत्य मन्त्रयन्ते । सह वै देवाश्च मनुष्याश्चौदनपचन आसँस्ते मनुष्या देवानत्यचरँस्तेभ्यो देवा अन्नं प्रत्युह्य गार्हपत्यमभ्युदक्रामँस्ताँस्तस्मिन्नन्वागच्छँस्ते मनुष्या एव देवानत्यचरँस्तेभ्यो देवाः पशून् प्रत्युह्याहवनीयमभ्युदक्रामँस्ताँस्तस्मिन्नन्वागच्छँस्ते मनुष्या एव देवानत्यचरँस्तेभ्यो देवा यज्ञं प्रत्युह्य सभामभ्युदक्रामँस्ताँस्तस्यामन्वागच्छँस्ते मनुष्या एव देवानत्यचरँस्तेभ्यो देवा विराजं प्रत्युह्यामन्त्रणमभ्युदक्रामँस्ताँस्ततो नानुप्राच्यवन्तैते वै देवानाँ संक्रमाः श्रेयाँसं श्रेयाँसं लोकमभ्युत्क्रामति य एवं वेदैतद्वै देवानाँ सत्यमनभिजितं यदामन्त्रणं तस्मादामन्त्रणँ सु प्रातर्गच्छेत्सत्यमेव गच्छति तस्मादामन्त्रणं नाहुत एयात्तस्मादामन्त्रणे नानृतं वदेद्धविर्वै नामौदनपचन आस्य वह्निर्जायते य एवं वेद गृहा गार्हपत्यो गृहवान् भवति य एवं वेद धिष्ण्या आहवनीय उपैनं यज्ञो नमति य एवं वेद सप्रथा मध्याधिदेवनं प्रथते प्रजया पशुभिर्य एवं वेदानाप्त आमन्त्रणं नैनमाप्नोति य ईप्सति य एवं वेद ।

[1]त्रिर्वा इदँ विराड् व्यक्रमत गार्हपत्यमाहवनीयँ सभ्यं तद्विराजमापदन्नं वै विराडन्नँ वावैतदापन्मध्याधिदेवने राजन्यस्य जुहुयाद्वारुण्य ऋचा वरुणो वै देवानाँ राजा राज्यमस्मा अवरुन्धे हिरण्यं निधाय जुहोत्यग्निमत्येव जुहोत्यायतनवत्यन्धोऽध्वर्युः स्यायदनायतने जुहुयाच्छतमस्मा अक्षान् प्रयच्छेत्तान् विचिनुयाच्छतायुर्वै पुरुषः शतवीर्य आयुरेव वीर्यमाप्नोति गामस्य तदहः सभायां दीव्येयुस्तस्याः परूँषि न हिँस्युस्ताँ सभासद्भ्य उपहरेत्तया यद्गृह्णीयात्तद्ब्राह्मणेभ्यो देयं तत्सभ्यमन्नमवरुन्धे ।

[2]तेन स्प्येनाधिदेवनं कुर्वन्ति तत्र पष्ठौही विदीव्यन्त आशाँ वा एष उपाभिषिञ्चत आशा पष्ठौह्याशामेवास्मा अकस्ततश्चतुःशतमक्षाणवोह्याह । उद्भिन्नँ राज्ञः । इति चत्वारो वै पुरुषा ब्राह्मणो राजन्यो वैश्यः शूद्रस्तेषामेवैनमुद्भेदयति ततः पञ्चाक्षान् प्रयच्छन्नाह दिशो अभ्यभूदयमितीमा एवास्मै पञ्च दिशोऽन्नाद्याय प्रयच्छति क्षेत्रं ददाति तेन क्षेत्रे धृतो भवति वरँ वृणीते सोऽस्मै कामः समृध्यते यत्कामो भवति मङ्गल्यनाम्नो ह्वयति यत्पूर्वं व्याहार्षं तन्नेन्मोघमसदित्यसा अमुष्य पुत्रोऽमुष्यासौ पुत्र इति नामनी व्यतिषजति स्वर्गस्य लोकस्य समष्ट्यै ।

[3]अभिभूरस्येतास्ते पञ्च दिशः कल्पन्ताम् ।

(१) ऋसं. १०।३४।१४.
(२) कासं. ८।७; कसं. ७।४.

(१) मैसं. १।६।११. (२) मैसं. ४।४।६.
(३) शुमा. १०।२८; शुका. ११।८।३ रस्ये (रस्य यानामे).

(१) पञ्चाक्षान् पाणावावपति । अभिभूरसि । कृतत्रेताद्वापरकलयश्चत्वारोऽक्षाः पञ्चमो रमणः । तत्र कलिः सर्वानन्यान् अभिभवति स उच्यते । यजमानो वा तत्संबन्धेन । अभिभूरसि अभिभविताऽसि । एतास्तव पञ्चदिशः कपटोपलक्षिताः क्लृप्ताः भवन्तु । शुउ.

(२) 'अभिभूरित्यस्मै पञ्चाक्षान् पाणावाधाये'ति । यजमानहस्ते द्यूतसाधनभूतान् पञ्चाक्षान् सौवर्णकपर्दान् निदध्यात् । अक्षा यजमानो वा देवता । चतुर्णामक्षाणां कृतसंज्ञा पञ्चमस्य कलिरिति । यदा पञ्चाप्यक्षाः एकरूपाः पतन्ति उत्ताना अवाञ्चो वा तदा देवितुर्जयः । तत्र कलिः सर्वानक्षानभिभवति तं प्रत्युच्यते, तत्संबन्धेन यजमानं प्रति वा । हे अक्ष, यद्वा हे यजमान, त्वमभिभूरसि अभिभविता अभितो व्याप्तासि । एताः कपर्दिकोपलक्षिताः पञ्च दिशः पूर्वादयश्चतस्र ऊर्ध्वा चेति पञ्च दिशः ते त्वदर्थं कल्पन्तां त्वत्प्रयोजनसमर्था भवन्तु । कलेः सर्वाक्षाभिभावकत्वात्सुन्वतोऽपि जयापेक्षित्वात् पञ्चाक्षव्यापकत्वमिति भावः । शुम.

[1]दिशोऽभ्यय्ँ राजाऽभूदिति पञ्चाक्षान् प्रयच्छति । एते वै सर्वेयाः । अपराजयिनमेवैनं करोति ।

अजस्रं त्वाँ सभापालाः । विजयभागं समिन्धताम् । अग्ने दीदाय मे सभ्य । विजित्यै शरदः शतम् ।

[2]अन्नमावसथीयम् । अभिहराणि शरदः शतम् । आवसथे श्रियं मन्त्रम् । अहिर्बुध्नियो नियच्छतु ।

अथ सभ्याग्नेरुपस्थानमन्त्रमाह—अजस्रमिति । यत्राक्षैर्दीव्यन्ति विजयन्ते सा सभा तस्यां सभायां साधुः सोऽग्निः सभ्यः । हे सभ्य त्वामस्मदीयाः सभापालकाः समिन्धतां सम्यग्दीप्यन्ताम् । कीदृशं त्वां अजस्रमनवरतं विजयभागं विजयेन लभ्यो भागो यस्य तादृशम् । हे सभ्याग्ने मे मम शतं शरदः शतसंख्याकान् संवत्सरान् विजित्यै विजयाय त्वं दीदाय दीप्यस्व ।

अथावसथ्योपस्थानमन्त्रमाह—अन्नमिति । अह्नि द्यूते विजयं प्राप्ताः पुरुषा आगत्य यत्र भोजनार्थं निवसन्ति स प्रदेश आवसथस्तत्रानीतमावसथीयं तादृशमन्नमभिहराण्याभिमुख्येनोपहरामि । कञ्चिदपि न हिनस्तीत्यहिः ।

(१) तैब्रा. १।७।१०।५. (२) तैब्रा. ३।७।४।५,६.

बुध्ने मूले जगदादौ भवो बुध्नियः । अहिर्बुध्निय इत्येतन्नामकः पञ्चमोऽग्निः शतं शरदः शतसंख्याकान् संवत्सरान् आवसथेऽस्मदीये गृहे श्रियं धनादिसमृद्धिं मन्त्रमृगादिसमृद्धिं च नियच्छतु ददातु । तैब्रासा.

[1]अथास्मै पञ्चाक्षान् पाणावावपति । अभिभूरस्येतास्ते पञ्च दिशः कल्पन्तामित्येष वाऽअयानभिभूर्यत्कलिरेष हि सर्वानयानभिभवति तस्मादाहाभिभूरसीत्येतास्ते पञ्च दिशः कल्पन्तामिति पञ्च वै दिशस्तदस्मै सर्वा एव दिशः कल्पयति ।

द्यूतनिन्दा

[2]त्रेया वै नैर्ऋता अक्षाः स्त्रियः स्वप्नो यद्दीक्षते तेनाक्षैश्च स्त्रीभिश्च व्यावर्तते यां प्रथमां दीक्षितो रात्रीं जागर्ति तया स्वप्नेन व्यावर्तते ।

[3]अथ श्वोभूते । अक्षावापस्य च गृहेभ्यो गोविकर्तस्य च गवेधुकाः संभृत्य सूयमानस्य गृहे रौद्रं गावेधुकं चरुं निर्वपति ते वा एते द्वे सती रत्ने एकं करोति संपदः कामाय तद्यदेतेन यजते यां वा इमाँ सभायां घ्नन्ति रुद्रो हैतामभिमन्यतेऽग्निर्वै रुद्रोऽधिदेवनं वा अग्निस्तस्यैतेऽङ्गारा यदक्षास्तमेवैतेन प्रीणाति तस्य ह वा एषानुमता गृहेषु हन्यते यो वा राजसूयेन यजते यो वैतदेवं वेदैतद्वा अस्यैकँ रत्नं यदक्षावापश्च गोविकर्तश्च ताभ्यामेवैतेन सूयते तौ स्वावनपक्रमिणौ कुरुते तस्य द्विरूपो गौर्दक्षिणा शितिबाहुर्वा शितिवालो वासिर्नखरो वालदाम्नाक्षावपनं प्रबद्धमेतद्ध हि तयोर्भवति ।

द्यूतपरिभाषा

[4]अक्षराजाय कितवं कृतायादिनवदर्शं त्रेतायै कल्पिनं द्वापरायाधिकल्पिनमास्कन्दाय सभास्थाणुम् ।

अक्षराजाय कितवं धूर्तं, कृताय आदिनवदर्शं आदिनवो दोषस्तं पश्यति तथाभूतं, त्रेतायै कल्पिनं कल्पकं, द्वापराय अधिकल्पिनं अधिकल्पनाकर्तारम् । अत्र दशमे यूपे । आस्कन्दाय सभास्थाणुं सभायां स्थिरम् । शुम.

(१) शब्रा. ५।४।४।६. (२) मैसं. ३।६।३.
(३) शब्रा. ५।३।१।१०. (४) शुमा. ३०।१८.

[1]ये वै चत्वारः स्तोमाः । कृतं तत् । अथ ये पञ्च । कलिः सः । तस्माच्चतुष्टोमः । तच्चतुष्टोमस्य चतुष्टोमत्वम् ।

पूर्वोक्तास्त्रिवृत्पञ्चदशः सप्तदश एकविंश इत्येवंरूपाः स्तोमा ये सन्ति ते कृतयुगस्य स्वरूपभूताः । कृतयुगे हि धर्मस्य चत्वारः पादा विद्यन्ते । ये त्वन्येन केनचित्स्तोमेन सह पञ्च स्तोमास्तेषां कलियुगरूपत्वम् । तत्र तन्मध्यगतानां चतुर्णां कृतयुगार्थत्वेन विभागे सति कलेरसाधारणस्तोम एक एव परिशिष्यते । धर्मश्च कलियुग एकपादेव । ततः कलिस्वरूपत्वेन पञ्चस्तोमपक्षस्य निन्दितत्वाच्चतुष्टोमपक्षस्य कृतयुगस्वरूपत्वेन प्रशस्तत्वादयं सोमयागश्चतुष्टोम एव कर्तव्यः । चत्वारः स्तोमा अत्रेति व्युत्पत्त्या सोमयागस्य चतुष्टोमत्वं संपन्नम् । तैब्रासा.

[2]अक्षराजाय कितवम् । कृताय सभाविनम् । त्रेताया आदिनवदर्शम् । द्वापराय बहिःसदम् । कलये सभास्थाणुम् ।

अक्षा द्यूतसाधनविशेषास्तेषां राजा तदभिमानी देवविशेषस्तस्मै कितवं द्यूतकुशलम् । कृताय कृतयुगाभिमानिने सभाविनं द्यूतसभाया अधिष्ठातारम् । त्रेतायै त्रेतायुगाभिमानिन आदिनवदर्शं मर्यादायां देवनस्य द्रष्टारं परीक्षकम् । द्वापराय द्वापरयुगाभिमानिने बहिःसदं बहिःसदनशीलं स्वयमदीव्यन्तम् । कलये कलियुगाभिमानिने सभास्थाणुमदेवनकालेऽपि सभां यो न मुञ्चति सोऽयं स्तम्भसमानत्वात्सभास्थाणुस्तम् । तैब्रासा.

[3]यथा कृतायविजितायाधरेयाः संयन्त्येवमेनँ सर्वं तदभिसमैति यत्किञ्च प्रजाः साधु कुर्वन्ति यस्तद्वेद यत्स वेद स मयैतदुक्त इति ।

यथा लोके कृतायः कृतो नामायो द्यूतसमये प्रसिद्धश्चतुरङ्कः, स यदा जयति द्यूते प्रवृत्तानां, तस्मै विजिताय तदर्थमितरे त्रिद्व्येकाङ्का अधरेयाः त्रेताद्वापरकलिनामानः संयन्ति संगच्छन्तेऽन्तर्भवन्ति, चतुरङ्के कृताये त्रिद्व्येकाङ्कानां विद्यमानत्वात्तदन्तर्भवन्तीत्यर्थः। यथा अयं दृष्टान्तः, एवमेनं रैक्वं कृतायस्थानीयं त्रेताद्यायस्थानीयं सर्वं तदभिसमैति अन्तर्भवति रैक्वे । किं तत् ? यत्किंच लोके सर्वाः प्रजाः साधु शोभनं धर्मजातं कुर्वन्ति, तत्सर्वं रैक्वस्य धर्मेऽन्तर्भवति, तस्य च फले सर्वप्राणिधर्मफलमन्तर्भवतीत्यर्थः । तथा अन्योऽपि कश्चित् यः तत् वेद्यं वेद । किं तत् ? यत् वेद्यं सः रैक्वः वेद, तद्वेद्यमन्योऽपि यो वेद, तमपि सर्वप्राणिधर्मजातं तत्फलं च रैक्वमिवाभिसमैतीत्यनुवर्तते । सः एवंभूतः अरैक्वोऽपि मया विद्वान् एतदुक्तः एवमुक्तः, रैक्ववत्स एव कृतायस्थानीयो भवतीत्यभिप्रायः ।

छाशाम्भा.

द्यूते जयार्थं देवताह्वानं जयकर्म च

[1]उद्भिन्दतीं संजयन्तीमप्सरां साधुदेविनीम् ।
ग्लहे कृतानि कृण्वानामप्सरां तामिह हुवे ॥

उद्भिन्दतीं पणबन्धेन धनस्य उद्भेदनं कुर्वतीं संजयन्तीं सम्यक् जयं प्राप्नुवतीं साधुदेविनीं जयोपायपरिज्ञानेन अक्षशलाकादिभिः शोभनं क्रीडन्तीं एवंगुणविशिष्टामप्सरां द्यूतक्रियाधिदेवतां अप्सरोजातीयां अहं स्तौमीति शेषः । अपि च ग्लहे, गृह्यते पणबन्धेन कल्प्यत इति द्यूतक्रियाजेयोऽर्थो ग्लहः तस्मिन् ग्लहे निमित्ते कृतानि द्यूतजयचिह्नानि कृतत्रेतादिशब्दवाच्यानि अयसंज्ञकानि कृण्वानां कुर्वाणाम् । कृतायलाभो हि महान् द्यूतजयः । तदुक्तं द्यूतक्रियामधिकृत्य आपस्तम्बेन — 'कृतं यजमानो विजिनाति' इति ( आप. ५।२०।१ ) । एवम्भूतां तां अप्सरां इह अस्मिन् द्यूतजयकर्मणि अहं हुवे आह्वयामि । आगत्य सा मम जयं करोतु इत्यर्थः । असा.

[2]विचिन्वतीमाकिरन्तीमप्सरां साधुदेविनीम् ।
ग्लहे कृतानि गृह्णानामप्सरां तामिह हुवे ॥

विचिन्वतीं एकत्र निर्बाधे कोष्ठे त्रिचतुरान् अक्षान् विशेषेण समुचिन्वतीं संघीकुर्वतीम् । पुनस्तानेव जयार्थं बहुषु कोष्ठेषु आकिरन्तीं समन्ताद् विक्षिपन्तीम् । अन्यद् व्याख्यातम् । असा.

[3]यायैः परिनृत्यत्याददाना कृतं ग्लहात् ।
सा नः कृतानि सीषती प्रहामाप्नोतु मायया ।
सा नः पयस्वत्यैतु मा नो जैषुरिदं धनम् ॥

(१) तैब्रा. १।५।११।१. (२) तैब्रा. ३।४।१६।१.
(३) छाउ. ४।१।४,६.

(१) असं. ४।३८।१; कौसू. ४१।१३.
(२) असं. ४।३८।२. (३) असं. ४।३८।३.

या गन्धर्वस्त्री अयैः अक्षगतसंख्याविशेषैः कृतादिशब्दवाच्यैः परिनृत्यति अभिमतजयप्राप्त्या परितुष्टा नर्तनं करोति। कीदृशी। ग्लहात् गृह्यमाणात् पणबन्धात् कृतं एतत्संज्ञं अयं आदधानः आदधाना कुर्वाणा। कृतग्लहत्वं तस्या असाधारणो गुणः। सा तादृशी नः अस्माकं कृतानि कृतशब्दवाच्यान् चतुःसंख्यायुक्तान् अयान् शेषन्ती अवशेषयन्ती प्रहान् प्रहन्तव्यानक्षान् मायया व्यामोहकशक्त्या आप्नोतु अधितिष्ठतु। एकादयः पञ्चसंख्यान्ता अक्षविशेषा अयाः। तत्र चतुर्णां कृतं इति संज्ञा। तथा च तैत्तिरीयकम् — 'ये वै चत्वारः स्तोमाः कृतं तत्। अथ ये पञ्च कलिः सः' इति (तैब्रा. १।५।११।१)। तस्य च कृतस्य लाभाद् द्यूतजयो भवति। अत एव दाशतय्यां लब्धकृतायात् कितवाद् भीतिराम्नाता— 'चतुरश्चिद् ददमानाद् बिभीयाद् आ निधातोः' इति (ऋसं. १।४१।९)। तत्र च निरुक्तम् — 'चतुरोऽक्षान् धारयत इति तद् यथा कितवाद् बिभीयात्' इति (नि. ३।१६)।

सा द्यूताधिदेवता पयस्वती द्यूतजितेन पयउपलक्षितेन गवादिधनेन तद्वती नः अस्मान् ऐतु आगच्छतु। नः अस्माकं इदं पणितव्यत्वेन कल्पितं धनं अन्ये कितवा मा जैषुः मापहार्षुः। असा.

**या अक्षेषु प्रमोदन्ते शुचं क्रोधं च बिभ्रती।**
**आनन्दिनीं प्रमोदिनीमप्सरां तामिह हुवे॥**

या गन्धर्वस्त्री द्यूतक्रियासु उक्ता अक्षेषु द्यूतसाधनेषु प्रमोदते प्रहृष्यति। किं कुर्वती। शुचं इष्टजयवियोगात् शोकं पुनर्जिगीषया क्रोधं कोपं च बिभ्रती धारयन्ती। आनन्दिनीं द्यूतजनितहर्षयुक्तां प्रमोदिनीं द्यूतासक्तान्यानपि प्रमोदयन्तीम्। यद्वा आनन्दिनीं सुखवतीं प्रमोदिनीं प्रहर्षवतीं ईदृशीं तां प्रागुक्तां अप्सरां इह द्यूतकर्मणि जयार्थं अहं हुवे आह्वयामि। असा.

**यथा वृक्षमशनिर्विश्वाहा हन्त्यप्रति।**
**एवाहमद्य कितवानक्षैर्वध्यासमप्रति॥**

अशनिः वैद्युतोऽग्निः अप्रति। न विद्यते प्रति प्रतिनिधिः समानो यस्य अप्रतिमः सन् विश्वाहा विश्वेषु सर्वेष्वहःसु यथा वृक्षं तरुं हन्ति बाधते। यद्वा विश्वस्य हन्ता। अशनिः अप्रति अप्रतिपक्षं यथा वृक्षं विनाशयति एव एवं अहं अप्रति अप्रतिनिधिः सन्। प्रतिकितवपराजये मम सदृशः अन्यो नास्तीत्यर्थः। यद्वा अप्रति अप्रतिपक्षं वध्यासं इति संबन्धः। अद्य इदानीं कितवान्। कितवः किं तवास्तीति शब्दानुकृतिरिति यास्कः (नि. ५।२२)। अक्षैर्दीव्यन् पुरुषः परैरपह्रियमाणधनः किं तवास्ति न किञ्चिद् इति सर्वैर्भाष्यत इत्यर्थः। तादृशान् कितवान् अक्षैः देवनसाधनैः अप्रति अप्रतिपक्षं वध्यासं हनिष्यामि। यथा प्रतिकितवा द्यूतक्रियायां मम प्रतिस्पर्धिनो न भवन्ति तथा अक्षैः पराजितान् करिष्यामीत्यर्थः। असा.

**तुराणामतुराणां विशामवर्जुषीणाम्।**
**समैतु विश्वतो भगो अन्तर्हस्तं कृतं मम॥**

तुराणां द्यूतकर्मणि त्वरमाणानां अतुराणां अत्वरमाणानाम्। अहमेव प्रथमः अक्षप्रक्षेपेण प्रतिवादिनं जेष्यामि अहमेवेति अहमहमिकया त्वरमाणास्तुराः। विमृश्यकारिण्यः अतुराः। तासां अवर्जुषीणां अवर्जनशीलानां प्रतिकितवैः पराजयेऽपि पुनरहमेव जेष्यामीति द्यूतक्रियां अपरित्यजन्तीनां पुनः पुनर्जयलाभाद् अवर्जयन्तीनां वा। सर्वदा द्यूतव्यसनवतीनामित्यर्थः। विशां प्रजानां भगः भाग्यं जयलक्षणं विश्वतः सर्वतः समैतु सम्यग् अभिमुखं आगच्छतु। द्यूतजयकामिनं मामिति शेषः। न केवलं तत एव जयप्रार्थना अपि तु मम अन्तर्हस्तं हस्तमध्ये कृतम्। कृतशब्दवाच्यश्चतुःसंख्यायुक्तः अक्षविषयः अयः। स हस्तमध्ये स्थितो वर्तते। एकादयः पञ्चसंख्यान्ता अक्षविषया अयाः। तत्र चतुर्णां कृतं इति संज्ञा। तथा च तैत्तिरीयकम् —'ये वै चत्वारः स्तोमाः कृतं तत्। अथ ये पञ्च कलिः सः' इति (तैब्रा. १।५।११।१)। तत्र कृतस्य लाभाद् द्यूतजयो भवति। अत एव दाशतय्यां लब्धकृतायात् कितवाद् भीतिराम्नायते— 'चतुरश्चिद् ददमानाद् बिभीयाद् आ निधातोः' इति (ऋसं. १।४१।९)। तत्र निरुक्तम् — 'चतुरोऽक्षान् धारयत इति तद् यथा

(१) असं. ४।३८।४.
(२) असं. ७।५२।१; कौसू. ४१।१३.
(१) असं. ७।५२।२.

कितवाद् बिभीयाद्' इति ( नि. ३।१६ )। असा.

[1]'ईडे अग्निं स्वावसुं नमोभिरिह प्रसक्तो वि चयत् कृतं नः। रथैरिव प्र भरे वाजयद्भिः प्रदक्षिणं मरुतां स्तोममृध्याम् ॥

स्ववसुं स्वकीयधनं स्वकीयेभ्यः स्तोतृभ्यो हीयमानं धनं यस्य तं अग्निं नमोभिः स्तोत्रैः ईळे स्तौमि। इह द्यूतकर्मणि प्रसक्तः प्रकर्षेण आसक्तोऽग्निः देवनकर्माधिपतिः नः अस्माकं दीव्यतां कृतं कृतशब्दवाच्यं लाभहेतुं अयं वि चयत् विचिनोतु करोत्वित्यर्थः। वाजयद्भिः वाजं अन्नं कुर्वद्भिः। अन्नलाभकारणैः रथैरिव स्थितैरक्षैः प्र भरे प्रहरे। प्रतिकितवान् इति शेषः। ततः मरुताम्। देवोपलक्षणम्। सर्वेषां देवनां स्तोमं स्तोत्रं संघं वा प्रदक्षिणं अनुक्रमेण ऋध्यां समर्धयेयम्। ऋसा.

[2]वयं जयेम त्वया युजा वृतमस्माकमंशमुदवा भरेभरे। अस्मभ्यमिन्द्र वरीयः सुगं कृधि प्र शत्रूणां मघवन् वृष्ण्या रुज ॥

हे इन्द्र त्वया युजा सहायेन वृतं वृणोति अक्षैः संरुणद्धीति वृत् प्रतिकितवः। तादृशं कितवं वयं जयेम। तथा भरेभरे संग्रामेसंग्रामे द्यूतलक्षणे अस्माकं जिगीषूणां अंशं जयलक्षणं उद् अव उद्गमय। किञ्च अस्मभ्यं वरीयः उरुतरं धनं सुगं सुगमनं कृधि कुरु। हे मघवन् धनवन् इन्द्र शत्रूणां शातयितॄणां प्रतिकितवानां वृष्ण्या वृष्ण्यानि वृष्णि भवानि। वीर्याणि जयलक्षणानि प्र रुज निवारय। यथा प्रतिकितवा अस्मान् न जयेयुः यथा तान् वयं जयेम जयेन च तेभ्यो धनं स्वीकुर्याम तथा कुर्विति इन्द्रः प्रार्थ्यते। असा.

[3]अजैषं त्वा संलिखितमजैषमुत संरुधम्।
अविं वृको यथा मथदेवा मथ्नामि ते कृतम् ॥

लोके हि कितवाः अस्मिन् पदे प्रतिकितवं अक्षशलाकादिभिः संरोत्स्यामीति अङ्कान् कुर्वन्ति तत्रैव च संरुन्धन्ति। तादृशः प्रतिकितवोऽत्र संबोध्यते। हे कितव संलिखितं पदेषु सम्यग् अङ्कान् लिखितवन्तमपि त्वा त्वां अजैषं अहमेव जयामि। उत अप्यर्थे। संरुधं संरोद्धारमपि त्वां अजैषं जयामि। यद्वा संलिखितं सम्यग् लिखितं चिह्नितं पदमभिलक्ष्य त्वां जयामि। उत अपि च संरुधं, संरुन्धन्ति अत्रेति अधिकरणे कप्रत्ययः। तादृशं स्थानमभिलक्ष्य त्वां जयामि। किञ्च वृकः अरण्यश्वा अविं अजं यथा मथत् मथ्नाति एव एवं ते तव कृतं कृतशब्दवाच्यं लाभहेतुं अयं मथ्नामि विनाशयामि। असा.

[4]उत प्रहामतिदीवा जयति कृतमिव श्वघ्नी वि चिनोति काले। यो देवकामो न धनं रुणद्धि समित् तं रायः सृजति स्वधाभिः ॥

उत अपि च अतिदीवा अतिशयेन दीव्यन् पुरुषः। प्रहां अक्षैः प्रहन्तारं प्रतिकितवं जयाति। यतः श्वघ्नी 'श्वघ्नी कितवो भवति स्वं हन्ति स्वं पुनराहृतं भवती'ति यास्कः ( नि. ५।२२ )। परस्वस्य हन्ता कितवः काले द्यूतकाले कृतमिव। इवशब्द एवार्थे। कृतशब्दवाच्यं लाभहेतुं अयमेव वि चिनोति मृगयते। हस्तस्थेष्वक्षेषु प्रागेव निधानात् कृतत्वं अक्षाणां लाभाय अन्विष्यते अतो जयातीति संबन्धः। यो देवकामः देवान् कामयमानः दीव्यन् पुरुषः धनं न रुणद्धि द्यूतलब्धं धनं न व्यर्थं स्थापयति किं तु देवतार्थं विनियुङ्क्ते तं राया धनेन स्वधाभिः अन्नैर्बलैर्वा सं सृजत्येव संयोजयत्येव। इन्द्र इति देवता गम्यते। इत् अवधारणे। असा.

गोभिष्टरेमामतिं दुरेवां यवेन वा क्षुधं पुरुहूत विश्वे। वयं राजसु प्रथमा धनान्यरिष्टासो वृजनीभिर्जयेम ॥

हे इन्द्र दुरेवां दुष्टगमनां दारिद्र्यात् आगतां अमतिं दुर्बुद्धिं गोभिः पशुभिः तरेम। हे पुरुहूत बहुभिराहूत इन्द्र विश्वे सर्वे वयं यवेन वा। यवशब्दो धान्योपलक्षणम्। धान्येन वा क्षुधं बुभुक्षां तरेम निवारयेम। राजसु नृपेषु राजमानेषु दीव्यत्सु वा पुरुषेषु। स्थितानीति शेषः।

---

(१) असं. ७।५२।३; ऋसं. ५।६०।१; मैसं. ४।१४।११; तब्रा. २।७।१२।४; आश्रौ. २।१३।२; बृदे. ५।४८.

(२) असं. ७।५२।४; ऋसं. १।१०२।४.

(३) असं. ७।५२।५.

(१) असं. ७।५२।६ : २०।८९।९; ऋसं. १०।४२।९.

(२) असं. ७।५२।७ : २०।१७।१० : २०।८९।१० : २०।९४।१०; ऋसं. १०।४२।१०, १०।४३।१०, १०।४४।१०.

प्रथमा प्रथमानि मुख्यानि प्रकृष्टतमानि धनानि वयं अरिष्टासः अहिंसिताः प्रतिकितवैरपराजिताः सन्तः वृजनीभिः बलकारिणीभिरक्षशलाकाभिः जयेम साधयेम । असं.

कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः ।
गोजिद् भूयासमश्वजिद् धनंजयो हिरण्यजित् ॥

मे मम दक्षिणे हस्ते पाणौ कृतं कृतशब्दवाच्यो लाभहेतुः अयः अस्ति । कृतायलाभो हि महान् द्यूतजयः । तद् उक्तं द्यूतक्रियां अधिकृत्य आपस्तम्बेन—'कृतं यजमानो विजिनाति' इति ( आप. ५।२०।१ ) । तथा मे मम सव्ये हस्ते जय आहितः कृतायसाध्यो जयो निहितोऽस्ति । अतः अहं गोजित् परकीयानां गवां जेता भूयासम् । अश्वजित् प्रतिकितवसंबन्धिनां अश्वानां जेता । धनंजयः, धनशब्दः सामान्यवाची, दासीभूम्यादिधनस्य जेता । हिरण्यजित् सुवर्णस्य जेता भूयासम् । लोके हि कितवा द्यूतकर्मणि गवादिधनं शुल्कं कृत्वा दीव्यन्ति तत्र ये जयन्ति ते तद्धनं स्वीकुर्वन्ति । अत्र जयस्य पूर्वार्धेन उक्तत्वाद् गवादिधनजयलाभः उत्तरार्धेन प्रार्थ्यते । असं.

अक्षाः फलवतीं द्युवं दत्त गां क्षीरिणीमिव ।
सं मा कृतस्य धारया धनुः स्नाव्नेव नह्यत ॥

अनया देवनसाधनभूतान् अक्षान् जयाय प्रार्थयते । हे अक्षाः द्युवं द्यूतक्रियां फलवतीं फलोपेतां दत्त प्रयच्छत । यथा द्यूतेन धनलाभो भवति तथा कुरुतेत्यर्थः । तत्र दृष्टान्तः क्षीरिणीं गामिवेति । फलं कस्माद् भवति तं आह । कृतस्य कृतशब्दवाच्यस्य चतुःसंख्यायुक्ताक्षविषयस्य लाभहेतोः अयस्य धारया संतत्या उपर्युपरिलाभहेतुकृतायप्रवाहेण मा मां सं नह्यत संयोजयत । तत्र दृष्टान्तः धनुः स्नाव्नेवेति । यथा धनुः कार्मुकं स्नाव्ना स्नावनिर्मितया मौर्व्या संनह्यन्ति । यथा मौर्वीसंनद्धं कार्मुकं जयकारि भवति एवं मां कृतायपरम्परया जयिनं कुरुतेत्यर्थः । असं.

ईदमुग्राय बभ्रवे नमो यो अक्षेषु तनूवशी ।
घृतेन कलिं शिक्षामि स नो मृडातीदृशे ॥

उग्राय उद्गूर्णबलाय बभ्रवे बभ्रुवर्णाय एतत्संज्ञकाय द्यूतजयकारिणे देवाय इदं नमः नमस्करणम् । भवतु इति शेषः । यो बभ्रुः अक्षेषु देवनसाधनेषु तनूवशी यथाकामी स्वेच्छाधीनजय इत्यर्थः । घृतेन आज्येन मन्त्राभिमन्त्रितेन कलिम् । पराजयहेतुः पञ्चसंख्यायुक्तोऽक्षविषयोऽयः कलिरित्युच्यते । तं शिक्षामि ताडयामि हन्मीत्यर्थः । एकादयः पञ्चसंख्यान्ता अक्षविषया अयाः । तत्र पञ्चानां कलिरिति संज्ञा । तथा च तैत्तिरीयकम्—'ये वै चत्वारः स्तोमाः कृतं तत् । अथ ये पञ्च कलिः सः' इति (तैब्रा. १।५।११।१ ) । तत्र कलिशब्दवाच्यस्य अयस्य आगमने पराजयो भवति । तं अनेन आज्येन विनाशयामि । अहं अन्यैर्न पराजीये किं तु अन्यान् अहमेव जयामीत्यर्थः । कलिं शिक्षामि शक्तं समर्थं कर्तुमिच्छामि । यथा कलिः स्वयं पराजयसमर्थः पराजयवान् भवति तथा करोमीत्यर्थः । अस्मिन्नर्थे देवतानुग्रहं आशास्ते । स नमस्कृतः अक्षद्यूतदेवता बभ्रुः ईदृशे देवननिबन्धने कलिपराभावनरूपे जयलक्षणे च फले नः अस्मान् मृळाति मृडयतु सुखयतु । असं.

घृतमप्सराभ्यो वह त्वमग्ने पांसूनक्षेभ्यः सिकता अपश्च । यथाभागं हव्यदातिं जुषाणा मदन्ति देवा उभयानि हव्या ॥

हे अग्ने त्वं अप्सराभ्यः । अप्सु सरन्त्यश्चरन्त्यः अन्तरिक्षचारिण्यो वा । ताभ्यः तदर्थं घृतं अक्षाभ्यञ्जनसाधनं आज्यं वह प्रापय । अस्माकं जयार्थमिति शेषः । तथा अक्षेभ्यः अक्षशब्देन तैर्दीव्यन्तः प्रतिकितवा उच्यन्ते । अक्षहस्तेभ्यः प्रतिकितवेभ्यः पांसून् सूक्ष्मान् भूरजःकणान् सिकताः शर्कराः अपः उदकानि च प्रापय । यथा तेषां पराजयो भवति तथा तन्मुखेषु पांस्वादीन् प्रक्षिपेत्यर्थः । किं च यथाभागं भागं अनतिक्रम्य स्वीयस्वीयभागानुसारेण हव्यदातिं हविषः प्रदानं जुषाणाः सेवमाना देवा इन्द्राद्या उभयानि द्विप्रकाराणि औषधपाशुकभेदेन सोमाज्यभेदेन श्रौतस्मार्तकर्मभेदेन वा द्विविधानि हव्या हव्यानि हवींषि । आस्वाद्येति शेषः । मदन्ति माद्यन्ति तृप्ता भवन्ति । ते देवा अपि अस्माकं द्यूतजयं कुर्वन्तु इति प्रार्थना । असं.

(१) असं. ७।५२।८ (२) असं. ७।५२।९.
(३) असं. ७।११४।१; वैसू. ६।१०; कौसू. ४१।१३.
(१) असं. ७।११४।२.

[1]अप्सरसः सधमादं मदन्ति हविर्धानमन्तरा सूर्यं च। ता मे हस्तौ सं सृजन्तु घृतेन सपत्नं मे कितवं रन्धयन्तु ॥

अप्सरसः द्यूतक्रियादेवताः सधमादं सह संभूय मादः मादनं यस्मिन् मदनकर्मणि तत्। सहमदनं यथा भवति तथा मदन्ति माद्यन्ति। कुत्रेति तद् उच्यते। हविर्धानं हविर्धीयते अत्रेति हविर्धानो भूलोकः। तं सूर्यं सूर्याधिष्ठितं द्युलोकं तं च अन्तरा द्यावापृथिव्योर्मध्ये अन्तरिक्षलोके माद्यन्ति। ताः अप्सरसः मे मम हस्तौ देवनसाधनौ पाणी घृतेन घृतवत् सारभूतेन जयलक्षणेन फलेन सं सृजन्तु संयोजयन्तु। तथा सपत्नं प्रतिदीव्यन्तं कितवं मे मम रन्धयन्तु वशयन्तु स्वाधीनं कुर्वन्तु। असा.

[2]आदिनवं प्रतिदीव्ने घृतेनास्माँ अभि क्षर।
वृक्षमिवाशन्या जहि योऽस्मान् प्रतिदीव्यति ॥

प्रतिदीव्ने प्रतिकूलं दीव्यते प्रतिकितवाय प्रतिदिवानं जेतुं आदिनवं आदीव्यामि अक्षैः आदीवनं करोमि। अस्मान् आदीव्यतः घृतेन घृतवत्सारभूतेन जयलक्षणेन फलेन अभि क्षर संयोजय। देवनक्रियाभिमानी देवः संबोध्यते। यः कितवः अस्मान् प्रतिदीव्यति जेतुं प्रतिकूलं द्यूतं करोति तं अशन्या विद्युता वृक्षं शुष्कं तरुमिव जहि तिरस्कुरु। असा.

[3]ये नो द्युवे धनमिदं चकार यो अक्षाणां ग्लहनं शेषणं च। स नो देवो हविरिदं जुषाणो गन्धर्वेभिः सधमादं मदेम ॥

यो देवः नः अस्माकं द्युवे द्यूताय तदर्थं, यद्वा द्युवे दीव्यते नः। मह्यम्। अथ वा नः अस्मदीयाय द्युवे दीव्यते पुरुषाय इदं प्रतिकितवसंबन्धि धनं चकार जयेन संपादितवान्। यश्च देवः अक्षाणां परकीयानां ग्लहनं ग्रहणं स्वकीयैरक्षैर्जित्वा स्वीकरणं शेषणं स्वीयानां अक्षाणां जयाह्वस्थाने अवशेषणं च कृतवान्। स देवः द्यूताभिमानी नः अस्मदीयं इदं हविः जुषाणः सेवमानो भवतु। वयं च गन्धर्वेभिः गन्धर्वैः अक्षाधिष्ठायकैः सधमादं सहमदनं यथा तथा मदेम हृष्यास्म। असा.

(१) असं. ७।११४।३ : १४।२।३४.
(२) असं. ७।११४।४. (३) असं. ७।११४।५.

[1]संवसव इति वो नामधेयमुग्रंपश्या राष्ट्रभृतो ह्यक्षाः। तेभ्यो व इन्दवो हविषा विधेम वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥

हे गन्धर्वाः अक्षा वा यूयं संवसव इति संप्राप्तधनाः संप्रापितधना यतो भवथ अतो वः युष्माकं संवसव इति नामधेयं भवति। हि यस्माद् उग्रंपश्या उग्रंपश्यायाः राष्ट्रभृतः। इदं द्वयं अप्सरोविशेषनामधेयम्। तयोः संबन्धिनो भवन्ति अक्षाः। अक्षाणां एतत्संबन्धित्वं तैत्तिरीये श्रूयते— 'उग्रंपश्ये राष्ट्रभृच्चाचराणि यद् अक्षवृत्तं अनुवृत्तं एतत्' इति (तैआ. २।४।१)। तेभ्यः गन्धर्वाप्सरोभ्यः तदधिष्ठितेभ्यः अक्षेभ्यो वा वः युष्मभ्यं युष्मदर्थं इन्दवः इन्दुमन्तः सोमवन्तः सोमोपलक्षितहविर्युक्ता वयं हविषा उचितेन विधेम परिचरेम। अनन्तरं वयं दीव्यन्तः रयीणां धनानां पतयः स्वामिनः स्याम भवेम। द्यूते प्रतिकितवजयेन धनवन्तः स्यामेत्यर्थः। असा.

[2]देवान् यन्नाथितो हुवे ब्रह्मचर्यं यदूषिम।
अक्षान् यद् बभ्रूनालभे ते नो मृडन्त्वीदृशे ॥

नाथितः उपतप्तः देवान् अग्न्यादीन् हुवे आह्वयामि धनलाभार्थं इति यत्। ब्रह्मचर्यं वेदग्रहणार्थं ब्रह्मचारिनियमं ऊषिम उषितवन्त इति यत्। बभ्रून् बभ्रुवर्णान् बभ्रुणा अक्षाभिमानिना देवेन अधिष्ठितान् वा अक्षान् देवनसाधनभूतान् आलभे देवितुं स्पृशामीति यत् तेन कारणेन ते देवादयः ईदृशे जयलक्षणे फले नः अस्मान् मृडन्तु सुखयन्तु। असा.

द्यूतकृतर्णदोषः

यद्धस्ताभ्यां चकृम किल्बिषाण्यक्षाणां गत्नुमुपलिप्समानाः। उग्रंपश्ये उग्रजितौ तदद्याप्सरसावनु दत्तामृणं नः *॥

उग्रंपश्ये राष्ट्रभृत् किल्बिषाणि यदक्षवृत्तमनु दत्तं न एतत्। ऋणान्नो नर्णमेर्त्समानो यमस्य लोके अधिरज्जुरायत् *॥

* सायणभाष्यं स्थलनिर्देशश्च ऋणादानप्रकरणे (पृ. ६०२-६०३) द्रष्टव्यः।

(१) असं. ७।११४।६. (२) असं. ७।११४।७.

यस्मा ऋणं यस्य जायामुपैमि यं याचमानो अभ्यैमि देवाः। ते वाचं वादिषुर्मोत्तरां मद्देवपत्नी अप्सरसावधीतम् * ॥

## आपस्तम्बः

राजाधिकृतसभैवाधिदेवनार्हा

[1]सभाया मध्येऽधिदेवनमुद्धत्यावोक्ष्याक्षान्निवपेद्युग्मान् वैभीतकान् यथार्थान्।

पूर्वोक्तायाः सभाया मध्ये अधिदेवनं यस्योपरि कितवा अक्षैर्दीव्यन्ति तत्स्थानमधिदेवनम्। तत् पूर्वं काष्ठादिना उद्धन्ति उद्धत्यावोक्षति। अवोक्ष्य तत्राक्षान् युग्मसंख्याकान् वैभीतकान् विभीतकवृक्षस्य विकारभूतान् यथार्थान् यावद्भिर्द्यूतं निर्वर्तते, तावतो निवपति। कः? यस्तत्र राज्ञा नियुक्तः सभिको नाम। उ.

[2]आर्याः शुचयः सत्यशीला दीवितारः स्युः।

आर्याः द्विजातयः। शुचयोऽर्थशुद्धाः। सत्यशीलाः सत्यवादिनः। एवम्भूता एव पुरुषास्तत्र दीवितारः स्युः। त एव तत्र दीव्येयुरित्यर्थः। ते च तत्र देवित्वा यथाभाषितं पणं सभिकाय दत्त्वा गच्छेयुः। स च राज्ञे तमायमहरहः प्रतिमासं प्रतिसंवत्सरं वा दद्यात्। स एव च स्थानान्तरे दीव्यतो दण्डयेत्, सभास्थाने च कलहकारान्। तत्र याज्ञवल्क्यः— 'ग्लहे शतिकवृद्धेस्तु सभिकः पञ्चकं शतम्। गृह्णीयाद्धूर्तकितवादितराद्दशकं शतम्॥ स सम्यक्पालितो दद्याद्राज्ञे भागं यथाकृतम्। जितमुद्ग्राहयेज्जेत्रे दद्यात्सत्यं वचः क्षमी॥' इति (यास्मृ. २।१९९-२००)। उ.

## विष्णुः

द्यूतसमाह्वययोर्मध्ये सभिक-जयि-राजभिर्ग्राह्याः पणांशाः, राजसभिकजयिजितानां कृत्यं च

[3]द्वन्द्वयुद्धे समाह्वये पणचतुर्थांशो राज्ञे दातव्यः।

पणचतुर्थांश इत्यनेन उभाभ्यां दातव्यः कर इति प्रतीयत इत्याह भारुचिः। सवि. ४८७

* सायणभाष्यं स्थलनिर्देशश्च ऋणादानप्रकरणे (पृ. ६०३) द्रष्टव्यः।

(१) आध. २।२५।१२; हिध. २।१८.
(२) आध. २।२५।१३; हिध. २।१८.
(३) सवि. ४८७.



[1]मल्लमहिषवर्जं समाहूतं जयिने दद्यात् पराजितं पणं चापि दद्यात्।

अयमर्थः—समाहूतं समाह्वय इति इष्टमल्लमहिषान् वर्जयित्वा मेषकुक्कुटातिरिक्तादिकं मृतं वा हीनं वा जयिने दद्यात्। यदि न ददाति राज्ञा दातव्य इति। सवि. ४८७

[2]ग्लहवृद्धिं गृह्णीयात् सभिकः।

द्यूतसभाधिकारिणो वृत्तिमाह—ग्लहेति। सभिकः सभ्यः द्यूत इत्यनुवर्तते। सवि. ४८७

[3]द्यूतं कारयेत्सभिको देयं च दद्यात्तत्कृतम्।

तस्य कर्तव्यमाह विष्णुः— द्यूतमिति। तथा च नारदः— 'सभिकः कारयेद् द्यूतं देयं दद्याच्च तत्कृतम्' इति। तत्र विशेषमाह याज्ञवल्क्यः—'स सम्यक्पालितो दद्याद्राज्ञे भागं यथाकृतम्। जितमुद्ग्राहयेज्जेत्रे दद्यात् सत्यं वचः क्षमी॥' (इति यास्मृ. २।२००)। जितमुद्ग्राहयेत् जितसकाशादुद्धरेत्तज्जेत्रे दद्यात्। द्यूतकारिणां विश्वाससाधनं सकृत्सकृत्सत्यवाक्यं दद्यात्। सवि. ४८७

[4]जितो यदि पणं सभिकाय न दद्यात् राज्ञा दाप्यः।

अदत्तराजभागे प्रच्छन्ने द्यूते जितं पणं न दापयेदिति स्पष्टार्थः। सवि. ४८८

द्यूतसमाह्वययोः मिथ्याचारिणां दण्डविधिः

द्यूते कूटाक्षदेविनां करच्छेदः। उपधिदेविनां संदंशच्छेदः*।

संदंशोऽङ्गुष्ठतर्जन्यौ। विर. ६१७

[5]गौञ्जिकचार्मिकादयः प्रतारका विवास्याः।

गौञ्जिकाश्चार्मिकाः चर्मणा व्यवहरन्ति। अत्र भारुचिः—गौञ्जिकचार्मिकग्रहणेनोभयोश्चातुर्येणैकविषयत्वेन चौर्यमेवेति, अयं गौञ्जिकादिव्यक्तिरेकैव कितवा [ अयं गौञ्जिकादिः कितवव्यतिरिक्त एक एव (?) ]। इतरस्तु वञ्चनीयकोटिरेवेति गौञ्जिकादयो न दण्ड्याः,

* व्याख्यानान्तरं स्थलादिनिर्देशश्च स्तेयप्रकरणे (पृ.१६६९) द्रष्टव्यः।

(१) सवि. ४८७. (२) सवि. ४८७.
(३) सवि. ४८७. (४) सवि. ४८८.
(५) सवि. ४८८.

अपि तु देशान्निर्वास्याः। अतश्च 'द्यूतं निषिद्धं मनुना' इत्यादिवचनजातं कपटद्यूतविषयमिति मन्तव्यम्।
सवि. ४८७-८

## कौटिलीयमर्थशास्त्रम्

द्यूतसमाह्वयम्

**द्यूतसमाह्वयम्। द्यूताध्यक्षो द्यूतमेकमुखं कारयेत्। अन्यत्र दीव्यतो द्वादशपणो दण्डः गूढाजीविज्ञापनार्थम्।**

**द्यूताभियोगे जेतुः पूर्वः साहसदण्डः। पराजितस्य मध्यमः। बालिशजातीयो ह्येष जेतुकामः पराजयं न क्षमत इत्याचार्याः। नेति कौटल्यः पराजितश्चेद् द्विगुणदण्डः क्रियेत न कश्चन राजानमभिसरिष्यति। प्रायशो हि कितवाः कूटदेविनः।**

**तेषामध्यक्षाः शुद्धाः काकणीरक्षांश्च स्थापयेयुः।**

**काकण्यक्षाणामन्योपधाने द्वादशपणो दण्डः। कूटकर्मणि पूर्वः साहसदण्डः, जितप्रत्यादानम्। उपधौ स्तेयदण्डश्च।**

**जितद्रव्यादध्यक्षः पञ्चकं शतमाददीत, काकण्यक्षारलाशलाकावक्रयमुदकभूमिकर्मक्रयं च। द्रव्याणामाधानं विक्रयं च कुर्यात्। अक्षभूमिहस्तदोषाणां चाप्रतिषेधने द्विगुणो दण्डः।**

**तेन समाह्वयो व्याख्यातः अन्यत्र विद्याशिल्पसमाह्वयादिति।**

द्यूतसमाह्वयमिति सूत्रम्। द्यूतं अक्षशलाकाद्यप्राणिक्रीडा समाह्वयो मल्लमेषकुक्कुटादिप्राणिदेवनं तयोः समाहारो द्यूतसमाह्वयं, तत्संबद्धो व्यवहारो दण्डश्चाभिधीयत इति सूत्रार्थः। पारुष्यप्रसङ्गात् सर्वविधपारुष्यविसंवादादिदोषनिदानस्यास्येह कथनसंगतिः।

द्यूताध्यक्ष इति। सः, द्यूतं एकमुखं एकमार्गे एकस्मिन् प्रदेशे इत्यर्थः, कारयेत्। अन्यत्र प्रदेशान्तरे, दीव्यतः द्वादशपणो दण्डः। ननु च द्यूतमेव तावन्निन्दितं प्रतिषिद्धं च शास्त्रेषु— 'प्रकाशमेतत्तास्कर्यं यद् देवनसमाह्वयम्' इति, 'प्रच्छन्नं वा प्रकाशं वा द्यूतं राष्ट्रे निवारयेद्' इति च स्मृतौ, 'अक्षैर्मा दीव्यः' इति चाम्नाये। तत् कुतोऽस्य प्रवर्तनविधिः कुतस्तरां चैकमुखत्वनियमनमित्याशङ्कामपाकर्तुमेकमुखत्वनियमस्य प्रयोजनमाह— गूढाजीविज्ञापनार्थमिति। गूढाजीविनस्तस्करसाहसिकादयो लोककण्टकाः तज्ज्ञापनार्थम्। अयमाशयः— प्रतिषेधातिक्रमेण प्रवृत्तौ श्येनादिवदयं द्यूतसमाह्वयस्य विधिः। तच्च लोके कण्टकप्रायजनभूयिष्ठसेव्यं सुरापानवदधर्मरूपमप्येकमुखतया प्रवर्त्यमानं कण्टकज्ञानसाधनीभूय तदुद्धरणरूपधर्मान्तरोपायतां प्रतिपद्यत इति तदेकमुखत्वनियमोऽप्युपपद्यत इति।

द्यूताभियोगे जेतुरित्यादि। द्यूतविषयमभियोगं द्यूतजेता कुर्वन् पूर्वसाहसं दण्ड्यः, द्यूतपराजितस्तद्द्विगुणं दण्डं मध्यमसाहसम्। पराजितस्य दण्डाधिक्ये अधर्म्यजयकामुकता हेतुरित्याह— बालिशजातीयो हीत्यादि। बालिशजातीयो मूर्खप्रायः। नेति कौटल्य इत्याचार्यमतप्रतिषेधे कारणमाह— पराजितश्चेदिति। स चेद् द्विगुणदण्डः क्रियेत, न कश्चन राजानमभिसरिष्यति न कोऽपि पराजितो जेतृकृतमात्मदुःखं राज्ञे निवेदयितुमागमिष्यति। माभिसरतु को दोष इति चेत् तत्राह— प्रायशो हि कितवाः कूटदेविन इति। प्रायेण हि धूर्ताः कपटदेवनशीलाः। अतश्च तेभ्य एकान्तजयिभ्य आपततोऽनर्थजातात् कूटानभिज्ञतया नित्यपराजयिनामनिर्मोक्ष एवापद्येतेत्यभिप्रायः।

तेषामिति। कितवानां, अध्यक्षाः द्यूतकर्मप्रत्यवेक्षकाः, शुद्धाः कूटरहिताः, काकणीः कपर्दान्, अक्षांश्च पाशकांश्च तथाविधान्, स्थापयेयुः देवनार्थम्।

काकण्यक्षाणामिति। तेषां, अन्योपधाने अन्येषां स्थापितातिरिक्तानां तज्जातीयानां उपधाने, द्वादशपणो दण्डः। इहान्यशब्दस्य सापेक्षत्वेऽपि समास आर्षः। कूटकर्मणीति। कपटाक्षादिसृष्टौ, पूर्वः साहसदण्डः, जितप्रत्यादानं जितद्रव्यापहरणं च। उपधौ स्थापितेष्वेवाक्षादिषु रेखाव्यत्ययकरणलक्षणे व्याजे मणिमन्त्रादिना बुद्धिवञ्चनायां वा, स्तेयदण्डश्च, चकारात् पूर्वोक्तं च।

जितद्रव्यादिति। जिताद् द्रव्याद्, अध्यक्षः, पञ्चकं शतं आददीत शते विंशतिभागं गृह्णीयात्, आत्मवृत्त्यर्थम्। काकण्यक्षारलाशलाकावक्रयं काकण्यः कपर्दाः अक्षाः पाशकाः अरलाः चर्मपट्टिकाजातीयाः साधनभेदाः

(१) कौ. ३।२०.

शलाका दन्तादिमय्यो दीर्घचतुरस्राः काकण्यादीनां देवनसाधनानां अवक्रयं भाटकं, उदकभूमिकर्मक्रयं च, आददीत, जेतृसकाशात्। द्रव्याणां आधानं विक्रयं च कुर्याद् द्यूतकरैराधीयमानानि विक्रीयमाणानि च द्रव्याणि स्वीकुर्यात्। अक्षभूमिहस्तदोषाणां च अक्षदोषस्य भूमिदोषस्य हस्तदोषस्य च, अप्रतिषेधने प्रतिषेधाकरणे, द्विगुणः स्वादेयद्रव्यभागद्विगुणः, दण्डः अध्यक्षस्य।

अप्राणिद्यूतोक्तं दण्डविधानं द्विपदचतुष्पदादिप्राणिद्यूते विद्याशिल्पसमाह्वयातिरिक्तेऽतिदिशति—तेनेत्यादि। श्रीमू.

## मनुः

द्यूतसमाह्वयप्रतिज्ञा

**अयमुक्तो विभागो वः पुत्राणां च क्रियाविधिः।**
**क्रमशः क्षेत्रजादीनां द्यूतधर्मं निबोधत ॥**

(१) द्यूतं वक्तुमुपक्रमते अयमिति। पुत्राणां क्षेत्रजादीनां क्रियाविधिः पुत्रत्वोत्पादनविधिः क्रमेण। द्यूतधर्मं निबोधतेत्यन्वयः। मवि.

(२) एष दायभागः पुत्राणां क्षेत्रजादीनां क्रमेण विभागकरणप्रकारो युष्माकमुक्तः। इदानीं द्यूतव्यवस्थां शृणुत। ममु.

(३) विभागप्रकरणमुपसंहरन् द्यूतं प्रतिजानीते—अयमिति। पुत्राणामौरसादीनाम्। क्रियाविधिः पिण्डदानं च। मच.

द्यूतसमाह्वययोर्लक्षणम्

**अप्राणिभिर्यत्क्रियते तल्लोके द्यूतमुच्यते।**
**प्राणिभिः क्रियते यस्तु स विज्ञेयः समाह्वयः ॥**

(१) द्यूतं अप्राणिभिरक्षशलाकादिभिर्यत्क्रियते, पणेन क्रीडनम्। प्राणिभिर्मेषादिभिः युद्धकरणेन यत्नेन नियम्य क्रीडनं तत्समाह्वयः। मवि.

(२) अक्षशलाकादिभिरप्राणैर्यत्क्रियते तल्लोके द्यूतं कथ्यते। यः पुनः प्राणिभिर्मेषकुक्कुटादिभिः पणपूर्वकं क्रियते स समाह्वयो ज्ञेयः। लोकप्रसिद्धयोरप्यनयोर्लक्षणकथनं परिहारार्थम्। ममु.

(३) प्राणिभिर्मेषकुक्कुटादिभिः यत्कर्म पणपुरःसरमिति शेषः। * मच.

(४) द्यूतसमाह्वययोः करणत एव भेदो न स्वरूपत इत्यभिप्रायेणाह—अप्राणिभिर्यदिति। अप्राणिभिर्दान्तशार्ङ्गदारवमार्तिकैरक्षैः प्राणिभिः कृकवाकुमेषमहिषवर्त्यादिभिः। + नन्द.

द्यूतोपकरणानि

**काकिन्यो वध्रिकाश्चैव शलाका मौर्य एव च।**
**अक्षाः सबीजाः कुहका द्यूतोपकरणानि षट् ॥**

द्यूतसमाह्वयनिषेधः। द्यूतसमाह्वयकारिणां दण्डः, इतरकण्टकदण्डश्च।

**द्यूतं समाह्वयं चैव राजा राष्ट्रान्निवारयेत्।**
**राज्यान्तकरणावेतौ द्वौ दोषौ पृथिवीक्षिताम् ॥**

(१) अत्र च तुल्यविषयत्वात् समाह्वयमप्येकीकृत्य दर्शयति — द्यूतमिति। मवि.

(२) निवारणमत्र निर्वासनेन न दण्डेन। अत एव निवारणाय निर्वासनमाह स एव—कुशीलवांश्चेति। स्मृच. ३३०

(३) द्यूतसमाह्वयौ वक्ष्यमाणलक्षणौ राजा स्वराष्ट्रा-

---

(१) **मस्मृ.** ९।२२० ग., धर्मं (धर्मान्) [विभागो (हिभागो) Noted by Jha]; **भाच.** धर्मं (धर्मान्).

(२) **मस्मृ.** ९।२२३; **मिता.** २।१९९ क्रियते यस्तु (क्रियमाणस्तु); **अप.** २।१९९; **व्यक.** १६२; **स्मृच.** ९ मितावत् : ३३०; **विर.** ६१०; **पमा.** ५७२; **रत्न.** १६४; **विचि.** २५८; **व्यनि.** ४७८ यस्तु (यत्तु); **स्मृचि.** ३६; **दवि.** १०७ तल्लोके (लोके तत्) शेषं मितावत्; **नृप्र.** २७७ मितावत्; **सवि.** ५७-८ ते यस्तु (माणं तु) निघण्टुः; **वीमि.** २।१९९; **व्यप्र.** ५६५ मितावत्; **व्यउ.** १६३ सविवत्; **विता.** ७१६ मितावत्; **राकौ.** ४८६ मितावत्; **सेतु.** २८८; **समु.** १६४; **नन्द.** ८।७ सविवत्.

* शेषं ममुवत्। + भाच. नन्दवत्।

(१) **अप.** २।१९९.

(२) **मस्मृ.** ९।२२१ क., ख., घ., राज्या (राजा), [न्निवारयेत् (न्निवासयेत्) Noted by Jha]; **व्यक.** १६३; **स्मृच.** ३३० पू.; **विर.** ६११ न्निवार (द्विवास) राज्या (राष्ट्र) दोषौ (द्वेष्यौ) क्षिताम् (भृताम्); **पमा.** ५७८ राज्यान्तकरणा (राजान्तकारिणा); **रत्न.** १६४ विरवत्; **व्यनि.** ४७९ ष्ट्रान्नि (ष्ट्रे नि) राज्या.........तौ (राज्यस्यान्तकरावेतौ); **स्मृचि.** ३६ ष्ट्रान्नि (ष्ट्रे नि); **व्यप्र.** ५६८ राष्ट्रान्नि (राज्ये नि); **बाल.** २।२०३; **समु.** १६४ ष्ट्रान्नि (ष्ट्रे नि) करणा (कारिणा).

निवर्तयेत् । यस्मादेतौ द्वौ दोषौ राज्ञां राज्यविनाशकारिणौ । ममु.

[१]प्रकाशमेतत्तास्कर्यं यद्देवनसमाह्वयौ ।
तयोर्नित्यं प्रतीघाते नृपतिर्यत्नवान् भवेत् ॥

(१) तास्कर्यं तस्करत्वम् । यत्नवान् भवेत् यत्नवान् भूत्वा तौ निवारयेत् । स्मृच. ३३०

(२) प्रकटमेतच्चौर्यं यद्द्यूतसमाह्वयौ, तस्मात्तन्निवारणे राजा नित्यं यत्नयुक्तः स्यात् । ममु.

[२]द्यूतं समाह्वयं चैव यः कुर्यात्कारयेत वा ।
तान् सर्वान् घातयेद्राजा शूद्रांश्च द्विजलिङ्गिनः * ॥

(१) घातयेत्ताडनादिना । द्विजलिङ्गिनो द्विजलिङ्गोपवीतादिधरान् । मवि.

(२) द्यूतसमाह्वयौ यः कुर्यात् यो वा सभिकः कारयेत्तेषामपराधापेक्षया राजा हस्तच्छेदादिवधं कुर्यात् । यज्ञोपवीतादिद्विजचिह्नधारिणः शूद्रान् हन्यात् । ममु.

(३) निमित्तमनुवदन्नैमित्तिकमाह— द्यूतमिति । कारयेत्सभिकः । घातयेत् अपराधानुरूपेण हस्तच्छेदं कुर्यात् । तत्रैव ब्राह्मणत्वेन प्रतीयमाना अपि ये शूद्रास्तान् प्रत्याह— द्विजलिङ्गिन इति । एतेऽवश्यमनपेक्ष्यतया देशान्निःसारणीया इति भावः । मच.

* मिता.व्याख्यानं 'राज्ञा सचिह्नं निर्वास्याः' इति याज्ञवल्क्यवचने द्रष्टव्यम् । अप., विर., पमा., विचि., वीमि., व्यप्र., व्यम., विता. मितावद्भावः ।

(१) **मस्मृ.** ९।२२२; **विश्व.** २।२०६ ह्वयौ (ह्वयम्) पू.; **व्यक.** १६३ पूर्वार्धः संदिग्धतया समुपलभ्यते; **स्मृच.** ३३०; **विर.** ६११; **पमा.** ५७८; **रत्न.** १६४; **विचि.** २५८; **स्मृचि.** ३६; **सवि.** ४८६ नित्यं (नित्य); **व्यप्र.** ५६८; **बाल.** २।२०३; **सेतु.** २८८; **समु.** १६४.

(२) **मस्मृ.** ९।२२४; **मिता.** २।२०२; **अप.** २।२०२ त्कारयेत वा (यश्च कारयेत्) : २।२०३ उत्त.; **विर.** ६११ अपवत्; **पमा.** ५७७; **दीक.** ५१ त्कारयेत वा (यस्तु कारयेत्); **विचि.** २५८ अपवत्; **व्यनि.** ४७९ अपवत्; **स्मृचि.** ३६ अपवत्; **नृप्र.** २७९; **वीमि.** २।२०३ वा (च) : २।३०४ उत्त.; **व्यप्र.** ५६७; **व्यउ.** १६३ (=); **व्यम.** १०९ तान् सर्वान् (सर्वांस्तान्); **विता.** ७२०; **राकौ.** ४८७; **सेतु.** २८८-९ अपवत्; **समु.** १६४ यः ... वा (ये कुर्युर्यश्च कारयेत्).

[१]द्यूतमेतत्पुराकल्पे दृष्टं वैरकरं महत् ।
तस्माद्द्यूतं न सेवेत हास्यार्थमपि बुद्धिमान् ॥

(१) पुराकल्पे पुराणकथासु । मवि.

(२) नेदानीमेव परं किन्तु पूर्वस्मिन्नपि कल्पे द्यूतमेतदतिशयेन वैरकरं दृष्टम् । अतः प्राज्ञः परिहासार्थमपि तन्न सेवेत । ममु.

(३) द्यूतस्यानर्थावहत्वं ऐतिह्येनाह—द्यूतमिति । पुराकल्पे संसारानादितया बलभद्रदन्तवक्त्रयुधिष्ठिरदुर्योधनादिकाले । हास्यार्थं कुतूहलार्थमपि । द्यूतपदं समाह्वयोपलक्षकं, धनकारित्ववैरकरत्वहेतोरुभयसाधारण्यात् । मच.

(४) द्यूतस्य दोषमाह, स्वयमपि राज्ञा द्यूतं न कार्यमिति चाह—द्यूतमेतत्पुराकल्पे दृष्टमिति । पुराकल्पे पूर्वस्मिन् काले वैरकरं दृष्टं नलयुधिष्ठिरादिषु । नन्द.

[२]प्रच्छन्नं वा प्रकाशं वा तन्निषेवेत यो नरः ।
तस्य दण्डविकल्पः स्याद्यथेष्टं नृपतेस्तथा ॥

(१) विविधः कल्पो विकल्पः । सम एव राज्ञोच्यते । 'द्यूतधर्मं निबोधत' इति तत आरभ्य द्वित्राः श्लोका विधायकाः । अन्यः सर्वोऽप्यर्थवादः । मेधा.

(२) प्रकाशं कर्तव्यवृत्त्युत्पादनेन । यथेष्टं यस्य यथेच्छति नृपस्तस्य तथा कार्यो दण्डभेदः । न त्वत्र शास्त्रे दण्डो नियम्यत इत्यर्थः । मवि.

(३) यो मनुष्यस्तद्द्यूतं गूढं प्रकटं वा कृत्वा सेवेत तस्य यथा नृपतेः इच्छा भवति तथाविधो दण्डो भवति । ममु.

(४) तस्मात्तत्कारी दण्डार्ह इत्याह—प्रच्छन्नमिति । तत् द्यूतसमाह्वयं प्रच्छन्नम् । यथा स्यात् प्रकाशं यथा स्यादिति । नृपतेरिच्छया दण्डो वधो वेत्यन्वयः ।

(१) **मस्मृ.** ९।२२७; **विर.** ६११ वैरकरं (वै विकृतं); **व्यनि.** ४७९ पूर्वार्धे (द्यूतात्पुरातने कल्पे दृष्टं वैरतरं महत्); **स्मृचि.** ३६; **बाल.** २।२०३; **सेतु.** २८९; **समु.** १६४.

(२) **मस्मृ.** ९।२२८; **विश्व.** २।२०६ तन्नि......नरः (द्यूतं राष्ट्रे निवारयेद्) पू.; **विर.** ६११; **रत्न.** १६४ प्रच्छ ...वा (प्रकाशे वाऽप्रकाशे वा); **स्मृचि.** ३६ थेष्टं (थोक्तं); **बाल.** २।२०३; **सेतु.** २८९; **समु.** १६४.

१ (अन्यः०).

यद्वा 'पणे सहस्रं नृपतेः' इत्युक्तम्। मच.

(५) दण्डविकल्पः दण्डभेदोऽर्थहरणादिलक्षणः। नन्द.

(६) तद् द्यूतं यः निषेवेत तस्य दण्डविकल्पः शतदण्डः स्यात्, यथेष्टं नृपतेः तथा वा दण्डः। भाच.

**कितवान् कुशीलवान् क्रूरान् पाषण्डस्थांश्च मानवान्।**
**विकर्मस्थान् शौण्डिकांश्च क्षिप्रं निर्वासयेत् पुरात्* ॥**

**एते राष्ट्रे वर्तमाना राज्ञः प्रच्छन्नतस्कराः।**
**विकर्मक्रियया नित्यं बाधन्ते भद्रिकाः प्रजाः*॥**

अष्टादशपदोपसंहारः

**उदितोऽयं विस्तरशो मिथो विवदमानयोः।**
**अष्टादशसु मार्गेषु व्यवहारस्य निर्णयः ॥**

(१) सर्वव्यवहारोपसंहारार्थः श्लोकः। मेधा.

(२) अष्टादशसु ऋणादानादिषु व्यवहारपदेषु परस्परं विवदमानयोरर्थिप्रत्यर्थिनोः कार्यनिर्णयोऽयं विस्तरेणोक्तः। ममु.

**एवं धर्म्याणि कार्याणि सम्यक्कुर्वन् महीपतिः।**
**देशानलब्धांल्लिप्सेत लब्धांश्च परिपालयेत् ॥**

(१) अलब्धांल्लिप्सेतेति संतोषपरेण न भवितव्यमित्यर्थः। मेधा.

(२) राजकृत्यशेषमाह— एवमिति। मवि.

(३) अनेनोक्तप्रकारेण धर्मादनपेतं निर्णयं कुर्वन् राजा जनानुरागाद्देशांल्लब्धुमिच्छेत् लब्धांश्च सम्यक् पालयेत्। एवं सम्यग्व्यवहारदर्शनस्यालब्धप्रदेशप्राप्त्यर्थत्वमुक्तम्। ममु.

(४) महीपतित्वं द्योतयति— देशानिति। मच.

(५) कुर्वंल्लिप्सेत नाकुर्वन्। नन्द.

(६) अलब्धान् अमात्यान् लिप्सेत। भाच.

**अनेन विधिना राजा मिथो विवदतां नृणाम्।**
**साक्षिप्रत्ययसिद्धानि कार्याणि समतां नयेत् *॥**

(१) अनेनेति पूर्वोक्तप्रकारप्रत्यवमर्शः। विधिना प्रकारेण। साक्षिप्रत्ययौ[1]। सिद्धशब्दः प्रत्येकमपि संबध्यते। साक्षिभिः सिद्धानि निर्णीतानि। प्रत्ययः अनुमानं दैवी वा क्रिया। कार्याणि न केवलं ऋणादानं अन्यदपि समतां नयेदर्थिप्रत्यर्थिविप्रतिपत्तिमपाकुर्यादैकमत्यं उत्पादयेत्। उपसंहृतमृणादानं, समाप्तो व्यवहारः। सर्वत्र जयपराजयप्रकाराणामेवंरूपत्वात्। न हि साक्ष्यादिभ्य ऋते किञ्चिदुत्तरेषु विवादेषु [2]विप्रतिपत्तिनिरासनिमित्तम्। केवलं दण्डविशेषस्तत्स्वरूपं च वक्तव्यमित्युत्तरः प्रपञ्चः। कीदृशोऽस्वामिविक्रयः कीदृशोऽनुशय इति स्वरूपं व्यवस्थाप्यते। मेधा.

(२) परस्परं विवदमानयोरर्थिप्रत्यर्थिनोः अनेनोक्तप्रकारेण राजा साक्षिनिर्णीतानि अनुमानशपथादिप्रत्ययनिर्णीतानि कार्याणि अर्थिप्रत्यर्थिविप्रतिपत्तिरोधेन समीकुर्यात्। + गोरा.

## याज्ञवल्क्यः

द्यूतसमाह्वयस्वरूपम्

अधुना द्यूतसमाह्वयाख्यं विवादपदमधिक्रियते। तत्स्वरूपं च नारदेनाभिहितम्— 'अक्षवध्रशलाकाद्यैर्देवनं जिह्मकारितम्। पणक्रीडा वयोभिश्च पदं द्यूतसमाह्वयम् ॥' इति। अक्षाः पाशकाः। वध्रश्चर्मपट्टिका। शलाका दन्तादिमय्यो दीर्घचतुरस्राः। आद्यग्रहणाच्च तुरङ्गादिक्रीडासाधनं करितुरङ्गरथादिकं गृह्यते। तैरप्राणिभिर्यद्देवनं क्रीडा पणपूर्विका क्रियते। तथा वयोभिः

* व्याख्यासंग्रहः स्थलादिनिर्देशश्च स्तेयप्रकरणे (पृ. १७१०-११) द्रष्टव्यः।

(१) **मस्मृ.** ९।२५०; **व्यक.** १६३ विस्तरशो (विस्तरेण) हारस्य (हारवि); **विर.** ६१८ ऽयं विस्तरशो (विस्तरेणायं) हारस्य (हारवि); **सेतु.** ३२९ मिथो (मिथ्या) शेषं विरवत्.

(२) **मस्मृ.** ९।२५१; **व्यक.** १६३ धर्म्याणि कार्याणि (कार्याणि सर्वाणि); **विर.** ६१८ पूर्वार्धे (एवं कार्याणि सर्वाणि कुर्वन् सम्यङ् महीपतिः); **सेतु.** ३२९ पूर्वार्धे (एवं कार्याणि सर्वाणि पश्यन् सम्यङ् महीपतिः) लब्धांल्लिप्सेत (लब्धानीप्सेत).

* अयं श्लोको वस्तुतः ऋणादानोपसंहारे एव निवेश्यः, तत्रैव सम्यक् लगते। परन्तु निबन्धकाराणामनुसारेण अस्माभिरत्र निविष्टः।

\+ व्याख्यानान्तरेषु गोरावद्भावः।

(१) **मस्मृ.** ८।१७८; **व्यक.** १६३ मिथो (मिथ्या); **विर.** ६१८ समतां (शमतां); **सेतु.** ३२९ व्यकवत्.

१ प्रत्ययः सि. २ प्रति.

पक्षिभिः कुक्कुटपारावतादिभिः चशब्दान्मल्लमेषमहिषादिभिश्च प्राणिभिर्या पणपूर्विका क्रीडा क्रियते तदुभयं यथाक्रमेण द्यूतसमाह्वयाख्यं विवादपदम् । द्यूतं च समाह्वयश्च द्यूतसमाह्वयम् । तदुक्तं मनुना—'अप्राणिभिर्यत्क्रियते तल्लोके द्यूतमुच्यते। प्राणिभिः क्रियमाणस्तु स विज्ञेयः समाह्वयः ॥' इति ( मस्मृ. ९।२२३ ) ।

मिता.

सभिकेन द्यूते वृत्त्यर्थं ग्राह्याः पणांशाः

**ग्लहे शतिकवृद्धेस्तु सभिकः पञ्चकं शतम् ।**
**गृह्णीयाद्धूर्तकितवादितराद्दशकं शतम् ॥**

(१) विसंवादप्रसङ्गेनाखिलविसंवादैककारणभूतं द्यूतसमाह्वयव्यवहारमाह— गलत्सभिकेति । तुशब्दोऽवधारणार्थः । गलत्सभिकवृद्धिरेव सभिकस्य, नान्यदपि स्वपरिभाषितमुखपट्टादीत्यभिप्रायः । गलितं निर्गलितं यत् सभिकहस्तात् पराजितानां देवनार्थं द्रव्यं, यच्च द्यूतोपकरणमक्षादि, तद् गलत्सभिकं द्रव्यम् । तदर्था वृद्धिर्गलत्सभिकवृद्धिः । तां सभिको द्यूतसभायोजको धूर्तमण्डलाधिपतिर्गृह्णीयात् । कियन्ती । पञ्चकं शतम् । धूर्तकितवाज्जेतुः द्यूतोपकरणनिमित्तम् । इतरात् पराजितात् प्रयुक्तस्वद्रव्यनिमित्तं दशकं शतमित्यर्थः ।

विश्व. २।२०३

(२) तत्र द्यूतसभाधिकारिणो वृत्तिमाह— ग्लह इति । परस्परसंप्रतिपत्त्या कितवपरिकल्पितः पणो ग्लह इत्युच्यते । तत्र ग्लहे तदाश्रया शतिका शतपरिमिता तदधिकपरिमाणा वा वृद्धिर्यस्यासौ शतिकवृद्धिस्तस्मात् धूर्तकितवात्पञ्चकं शतमात्मवृत्त्यर्थं सभिको गृह्णीयात् । पञ्चपणा आयो यस्मिन् शते तत्पञ्चकं शतम् । 'तदस्मिन् वृद्ध्यायलाभ' ( व्यासू. ५।१।४७ ) इत्यादिना कन् । जितग्लहस्य विंशतितमं भागं गृह्णीयादित्यर्थः । सभा कितवनिवासार्था यस्यास्त्यसौ सभिकः । कल्पिताक्षादिनिखिलक्रीडोपकरणस्तदुपचितद्रव्योपजीवी सभापतिरुच्यते । इतरस्मात्पुनरपरिपूर्णशतिकवृद्धेः कितवाद्दशकं शतं जितद्रव्यस्य दशमं भागं गृह्णीयादिति यावत् ।

* मिता.

(३) तत्र सभापतिना यावती वृद्धिर्यतश्च ग्राह्या तदाह—ग्लह इति । यः सभां कृत्वा द्यूतोपकरणानि च प्रगुणीकृत्य कितवेभ्यो देवितुं वृद्ध्या धनं प्रयच्छति स सभिको धूर्तकितवाद्धूर्तो विजयी वा कितवो द्यूतकर्ता स धूर्तकितवस्तस्माच्छतिकवृद्धेः शतसंख्याकग्लहे पणे विषयभूते यो वृद्धिं जितवान् स शतिकवृद्धिस्तस्मात् पञ्चकं शतं गृह्णीयात् । यः पराजितः स इतरस्तस्मात्तु दशकं शतम् ।

\+ अप.

(४) [ मिताक्षरामनूद्याह ] हलायुधस्तु शतिका शतपरिमाणा यस्य वृद्धिः स शतिकवृद्धिः येन शतमेकं जितमिति यावत् , तस्मात् पञ्चकं शतं सभिको गृह्णीयादितराद्दशकं शतं येन शतमेकं पराजितं तस्माद्दशकं शतं गृह्णीयादित्यर्थ इत्याह ।

विर. ६१३

(५) इतरात् शतन्यूनवृद्धेर्दशकं शतं दश माषान् गृह्णीयादित्यर्थः । तुशब्देन पराजितात् पञ्चकशतादिग्रहणं व्यवच्छिद्यते ।

× वीमि.

सभिककृत्यं राज्ञे जेत्रे च पणांशदापनम्

**स सम्यक्पालितो दद्याद्राज्ञे भागं यथाकृतम् ।**
**जितमुद्ग्राहयेज्जेत्रे दद्यात्सत्यं वचः क्षमी ॥**

(१) स्वार्थहेतोरेव च राज्ञा—'स सम्यक् पालितो दद्याद् राज्ञे भागं यथाकृतम् । जितमुद्ग्राहयेज्जेत्रे दद्यात् सत्यवचाः क्षमी ॥' यथाकृतं यथापरिभाषितं यथा वा स्मृत्यन्तरे निरूपितमित्यर्थः । तद्यथा बृहस्पतौ—'राज-

(१) यास्मृ. २।१९९; अपु. २५७।४९; विश्व. २।२०३ ग्लहे......स्तु ( गलत्सभिकवृद्धिस्तु ) व्याख्यायां तु गलत्सभिकवृद्धिं तु इति पाठो धृतः; मिता. ; अप. ; उ. २।२५।१३; विर. ६१३; पमा. ५७३; व्यनि. ४८० गृह्णी......शकं ( गृह्णीयुर्धूर्तकितवाः तस्करा दशकं ); स्मृचि. ३६; नृप्र. २७८ वृद्धेस्तु ( वृत्तिस्तु ); सवि. ४८७ द्धूर्त ( द्धूर्त ); वीमि. दशकं ( पञ्चकं ); व्यप्र. ५६५; व्यउ. १६४; विता. ७१७; समु. १६४.

* पमा., सवि., व्यप्र., व्यउ., विता. मितावत् ।
\+ मितावद्भावः । × शेषं मितावत् ।

(१) यास्मृ. २।२००; अपु. २५७।५०; विश्व. २।२०४ त्सत्यं वचः ( त्सत्यवचाः ); मिता. ; अप. दद्या...कृतम् ( भागं राज्ञे दद्याद्यथाश्रुतम् ); उ. २।२५।१३ ज्जेत्रे ( ज्जैत्रे ); विर. ६१३ विश्ववत्; पमा. ५७४ जितमुद्ग्रा ( जितं तद्वा ); स्मृचि. ३६-७; दवि. १०७ ज्जेत्रे ( ज्जैत्रे ); नृप्र. २७८; सवि. ४८७; वीमि. ; व्यप्र. ५६७-६; व्यउ. १६४; विता. ७१८ दविवत्; समु. १६४.

वृद्धिः सकितवात् सभिकाद् दशकं शतम्। यथासमयं वा स्याद्' इति। किञ्च जितं यत् कितवैः, तत् पराजितेभ्यः सभिक उद्ग्राहयेत्। जेत्रे च येन जितं तस्मै, सभिक एव सत्यवचनो भूत्वाऽविसंवादेन क्षमी चानुतापवान् पुनर्दद्यादित्यवसेयम्। विश्व. २।२०४

(२) एवं क्लृप्तवृत्तिना सभिकेन किं कर्तव्यमित्याह—स इति। य एवं क्लृप्तवृत्तिर्द्यूताधिकारी स राज्ञा धूर्तकितवेभ्यो रक्षितस्तस्मै राज्ञे यथासंप्रतिपन्नमंशं दद्यात्। तथा जितं यद्द्रव्यं तदुद्ग्राहयेत् बन्धकग्रहणेनासेधादिना च पराजितसकाशादुद्धरेत्। उद्धृत्य च तद्धनं जेत्रे जयिने सभिको दद्यात्। तथा क्षमी भूत्वा सत्यं वचो विश्वासार्थं द्यूतकारिणां दद्यात्। तदुक्तं नारदेन—'सभिकः कारयेद् द्यूतं देयं दद्याच्च तत्कृतम्' इति। * मिता.

(३) स सभिकः पूर्वोक्तो राज्ञा सम्यक्पालितः कितवेभ्यः सम्यग्रक्षितो राज्ञे यथाश्रुतमङ्गीकृतं स्वकीयाद्धनाद्भागं दद्यात्। जितं धनं पराजितात्कितवादुद्ग्राहयेत् उत्कालयेत्। तथैतावति काले तुभ्यमियद्धनं दास्यामीति जेत्रे सत्यं वचस्तद्विश्वासाय क्षमी संदद्यात्। अप.

(४) सत्यवाक् क्षमी संदद्यात् सत्यं वचः इति दृष्टमूलभूतयाज्ञवल्क्यमिताक्षरयोर्दृष्टं, तत्र जितं सत्यवचाश्च जेत्रे दद्यादित्यर्थः। इति फलतो न विशेषः। विर. ६१३-४

राजकृत्यं द्यूते जितद्रव्यदापनम्

**प्राप्ते नृपतिना भागे प्रसिद्धे धूर्तमण्डले।**
**जितं ससभिके स्थाने दापयेदन्यथा न तु॥**

(१) यथाकृत एव—'प्राप्ते नृपतिभागे तु प्रसिद्धे धूर्तमण्डले। जितं ससभिके स्थाने दापयेदन्यथा न तु॥' स्पष्टार्थः श्लोकः। विश्व. २।२०५

(२) यदा पुनः सभिको दापयितुं न शक्नोति तदा राजा दापयेदित्याह—प्राप्ते नृपतिनेति। प्रसिद्धे अप्रच्छन्ने राजाध्यक्षसमन्विते ससभिके सभिकसहिते कितवसमाजे सभिकेन च राजभागे दत्ते राजा धूर्तकितवमविप्रतिपन्नं जितं पणं दापयेत्। अन्यथा प्रच्छन्ने सभिकरहिते अदत्तराजभागे द्यूते जितपणं जेत्रे न दापयेत्। *मिता.

(३) धूर्ता द्यूतकारास्तन्मण्डले ससभिके नृपतिः प्रसिद्धे यथापरिभाषिते भागे प्राप्ते जितं दापयेदन्यथा नैव। अप.

द्यूते जयपराजयनिर्णयोपायः। द्यूते मिथ्याचारिणां दण्डविधिः।

**द्रष्टारो व्यवहाराणां साक्षिणश्च त एव हि।**
**राज्ञा सचिह्नं निर्वास्याः कूटाक्षोपधिदेविनः॥**

(१) स्पष्टार्थः श्लोकः। नन्वेतद् द्यूतं स्वयम्भुवा निषिद्धं—'प्रकाशमेतत्तास्कर्यं यद् देवनसमाह्वयम्' इति। तथा चोक्तं—'प्रच्छन्नं वा प्रकाशं वा द्यूतं राष्ट्रे निवारयेत्' इति च। वेदेऽपि 'अक्षैर्मा दीव्यः' इति प्रतिषेधः। सत्यम्। प्रतिषेधातिक्रमेण प्रवृत्तौ श्येनादिवदयं विधिरित्यविरोधः। मानवस्तु दण्डविधिर्धर्मविरोधितया नानामुखत्वेन वेति। विश्व. २।२०६

(२) जयपराजयविप्रतिपत्तौ निर्णयोपायमाह—द्रष्टार इति। द्यूतव्यवहाराणां द्रष्टारः सभ्यास्त एव कितवा एव राज्ञा नियोक्तव्याः। न तत्र 'श्रुताध्ययनसंपन्नाः' इत्यादिर्नियमोऽस्ति। साक्षिणश्च द्यूते द्यूतकारा एव कार्याः। न तत्र 'स्त्रीबालवृद्धकितवे'त्यादिनिषेधोऽस्ति। कचित् द्यूतं निषेद्धुं दण्डमाह—राज्ञेति। कूटरक्षा-

---

* पमा., दवि., नृप्र., सवि., वीमि., व्यप्र., व्यउ., विता. मितावत्।

(१) **यास्मृ.** २।२०१; **अपु.** २५७।५१; **विश्व.** २।२०५ तिना भागे (तिभागे तु); **मिता.**; **अप.** नृपतिना भागे (भागे च नृपतिः) न तु (तु न); **विर.** ६१५ धूर्ते (द्यूत) शेषं विश्ववत्; **पमा.** ५७५; **स्मृसा.** ८० विरवत्; **स्मृचि.** ३६ तिना भागे (तिभागे च); **दवि.** ११० धूर्त (द्यूत); **नृप्र.** २७८; **वीमि.** न तु (स तत्); **व्यप्र.** ५६६; **व्यउ.** १६४; **व्यम.** १०८; **विता.** ७१९; **राकौ.** ४८६ तु (तत्) शेषं विश्ववत्; **सेतु.** २९० विरवत्; **समु.** १६५ विश्ववत्.

* पमा., व्यप्र., व्यउ. मितावत्।

(१) **यास्मृ.** २।२०२; **अपु.** २५७।५२ चिह्नं (चिह्ना); **विश्व.** २।२०६ अपुवत्; **मिता.**; **अप.**; **व्यक.** ११२, १६२ उत्त.; **विर.** ३०८, ६१७ उत्त.; **पमा.** ५७५ पू.: ५७६ उत्त.; **विचि.** २६० विश्ववत्, उत्त.; **व्यनि.** ४८२ उत्त.; **दवि.** १०८ उत्त.; **नृप्र.** २७९; **सवि.** ४८८; **वीमि.**; **व्यप्र.** ५६७; **व्यउ.** १६४ पू.; **व्यम.** १०९ उत्त.; **विता.** ७१९; **राकौ.** ४८६; **समु.** १६५.

द्विभिरुपधिना च मतिवञ्चनहेतुना मणिमन्त्रौषधादिना ये दीव्यन्ति तान् श्वपदादिना अङ्कयित्वा राजा स्वराष्ट्रान्निर्वासयेत् । नारदेन तु निर्वासने विशेष उक्तः— 'कूटाक्षदेविनः पापान् राजा राष्ट्राद्विवासयेत् । कण्ठेऽक्षमालामासज्य स ह्येषां विनयः स्मृतः॥' इति । यानि च मनुवचनानि द्यूतनिषेधपराणि—'द्यूतं समाह्वयं चैव यः कुर्यात् कारयेत वा । तान् सर्वान् घातयेद्राजा शूद्रांश्च द्विजलिङ्गिनः ॥' इत्यादीनि, तान्यपि कूटाक्षदेवनविषयतया राजाध्यक्षसभिकरहितद्यूतविषयतया च योज्यानि । * मिता.

राजाधिकृतं द्यूतं कार्यम् । समाह्वये द्यूतधर्मातिदेशः ।

**द्यूतमेकमुखं कार्यं तस्करज्ञानकारणात् ।**
**एष एव विधिर्ज्ञेयः प्राणिद्यूते समाह्वये ॥**

(१) प्रयोजनान्तरापेक्षया तु—'द्यूतमेकमुखं कार्यं तस्करज्ञानकारणात् । एष एव विधिर्ज्ञेयः प्राणिद्यूते समाह्वये ॥' एकमुखमेकमार्गं एकस्मिन् प्रदेशे राजकीयचारपुरुषाद्यधिष्ठितं तस्करादिप्रजाकण्टकपरिज्ञानार्थमधर्मरूपमपि धर्मान्तरोपायतया महतेऽभ्युदयाय संपद्यत इति । अतः कार्यमेवेत्याभिप्रायः । ये वाऽखिलस्वधर्मत्यागेनापद्यपि द्यूतैकनिरताः तद्विषयतया स्वायम्भुवे दण्डादिवचनान्यवसेयानि । एतेन पाषण्डादिधर्मो व्याख्यातः । यश्चायमक्षाद्यप्राणिदेवने द्यूताख्ये विधिरुक्तः, समाह्वयसंज्ञकेऽपि कुक्कुटमेषादिभिः सपणप्राणिद्यूतेऽयमेव विधिर्ज्ञेयः सभिकाधीनत्वराजवृद्धिदानादिक इत्यभिप्रायः । विश्व. २।२०७

(२) यत्पूर्वोक्तं द्यूतं तदेकमुखं एकं मुखं प्रधानं यस्य द्यूतस्य तत्तथोक्तं कार्यम् । राजाध्यक्षाधिष्ठितं राज्ञा कारयितव्यमित्यर्थः । तस्करज्ञानकारणात् । तस्करज्ञानरूपं प्रयोजनं पर्यालोच्य प्रायशश्चौर्यार्जितधना एव कितवा भवन्त्यतश्चौरविज्ञानार्थमेकमुखं कार्यम् ।

द्यूतधर्मं समाह्वयेऽतिदिशन्नाह— एष एवेति । ग्लहे शतिकवृद्धेरित्यादिना यो द्यूतधर्म उक्तः स एव प्राणिद्यूते मल्लमेषमहिषादिनिर्वर्त्ये समाह्वयसंज्ञके ज्ञातव्यः । * मिता.

## नारदः

द्यूतसमाह्वययोर्लक्षणम्

**अक्षवध्रशलाकाद्यैर्देवनं जिह्मकारितम् ।**
**पणक्रीडावयोभिश्च पदं द्यूतसमाह्वयम् + ॥**

(१) अक्षाः पाशकाः । वध्रश्चर्मादिवलयवेधः । शलाका कितवेभ्यो ज्ञेया । आद्यशब्दादन्येषामपि कपर्दकादीनां ग्रहणम् । देवनं क्रीडा, विजिगीषा वा । जिह्मं कुटिलम् । जिताद्यद्द्रव्यं गृह्यते स पणः । वयांसि पक्षिणः । अक्षादिभिरचेतनैर्वयःप्रभृतिभिश्च चेतनैर्जिह्मेन कुटिलभावेन देवनं द्यूतम् । अप. २।१९९

(२) वध्रं चर्ममयपट्टिका । आद्यशब्देन कपर्दकादयो गृह्यन्ते । अक्षादिभिः पणपूर्वं देवनं क्रीडनं जिह्मकारितं कौटिल्येन कृतं द्यूताख्यम् । तथा वयोभिः कुक्कुटादिपक्षिभिः पणपूर्वं देवनं समाह्वयाख्यम् । तद्द्वयं मिलितं द्यूतसमाह्वयाख्यमेकमेव पदमित्यर्थः । वयोग्रहणं प्राण्युपलक्षणार्थम् । स्मृच. ९

---

* अप., पमा., सवि., वीमि., व्यप्र., विता. मितावत् ।

(१) यास्मृ. २।२०३; अपु. २५७।७३; विश्व. २।२०७; मिता.; अप.; विर. ६१२ द्यूते स (द्यूतन); पमा. ५७७ उत्त.; रत्न. १६४ विरवत्; विचि. २५९; व्यनि. ४८१ विरवत्; स्मृचि. ३६; दवि. १०७ पू. : १०८ विरवत्, उत्त.; नृप्र. २७९; सवि. ४८८; वीमि.; व्यप्र. ५६८; व्यउ. १६३ पू.; व्यम. १०९ उत्त.; विता. ७२०; राकौ. ४८७ उत्त.; सेतु. २८९ विरवत्; समु. १६४ पू. : १६५ उत्त.

* अप., विर., पमा., विचि., दवि., सवि., वीमि., व्यप्र., विता. मितावत् ।

+ मिता. व्याख्यानं 'ग्लहे शतिकवृद्धेस्तु' इति याज्ञवल्क्यवचने द्रष्टव्यम् । पमा., रत्न., नृप्र., सवि., व्यप्र., व्यउ., विता. मितावत् ।

(१) नासं. १८।१ वध्र (वर्ध्र); नास्मृ. १९।१ वध्र (व्रध्र); अपु. २५३।२९ वध्र (वज्र) जिह्मकारितम् (द्यूतमुच्यते) पण (पशु) पदं......यम् (प्राणिद्यूतं समादिशेत्); मिता. २।१९९ (ख) वध्र (व्रध्र); अप. २।१९९; व्यक. १६२; स्मृच. ९ क्रीडा (पूर्वं) वध्र (व्रध्र); विर. ६१० वध्र (वन्ध) ह्वयम् (ह्वयः); पमा. ५७२; रत्न. १६४; व्यनि. ४७८ वध्र (वध्रि) जिह्म (जल); स्मृचि. ३६ वध्र (वन्ध); नृप्र. २७७ नास्मृवत्; सवि. ४८६ नासंवत्; व्यप्र. ५६५ नास्मृवत्; व्यउ. १६३ नासंवत्; विता. ७१६-७; राकौ. ४८६; समु. १६४.

(३) अक्षाः पाशकाः, बन्धाश्चर्मपट्टिकाः, शलाका दन्तादिघटिताश्चतुरस्रा देवनविशेषात्मिकाः । आद्य-शब्देन चतुरङ्गादिसाधनानां करितुरगादीनां ग्रहणम् । अक्षबन्धशलाकाद्यैः देवनं द्यूतं वयोभिश्च पणक्रीडा समाह्वयः । वयःशब्दः पक्षिवाची प्राण्यन्तरमप्युपलक्ष-यति । विर. ६१०

(४) अक्षैः वर्ध्रैः शलाकादिभिर्वराटिकादिभिश्च समविषमादिभिश्च देवनं क्रीडया विजिगीषया वा पर-स्परं छलप्रायं द्रष्टव्यम् । पणं कृत्वा क्रीडा वयोभिश्च योधनं 'मदीये जितेऽयं वः पणः, हर्तव्योऽयं त्वदीय' इति कुक्कुटबालमेषयुद्धबलीवर्दधावनादिभिः । पूर्वं द्यूतं नाम, एतत्परं समाह्वयं, षोडशं विवादपदम् । नाभा. १८।१ (पृ. १७१-७२)

सभिकेन द्यूते वृत्त्यर्थं ग्राह्याः पणांशाः, राज्ञे पणांशदानं च

[१]सभिकः कारयेद् द्यूतं देयं दद्याच्च तत्कृतम् ।
दशकं तु शतं वृद्धिस्तस्य स्यात् द्यूतकारिता ॥

सभिको देवयिता । स कारयेत् । तन्निमित्तं च देयं राजकुले । जेतुश्च तस्य वृद्धिर्लाभः । शताद् दशकं द्यूतकरणनिमित्ता वृद्धिः । नाभा. १८।२ (पृ. १७२)

सभिकरहितं द्यूतं, तत्रापि राज्ञा पणांशो ग्राह्यः

[२]अथवा कितवो राज्ञे दत्त्वा भागं यथोदितम् ।
प्रकाशं देवनं कुर्यादेवं दोषो न विद्यते ॥

(१) अथवा सभिकं विना कितव एव राजभागं दत्त्वा प्रकटं देवनं कुर्यात् । कितव इति जात्यभि-प्रायेणैकवचनम् । अप. २।२००

(२) दोषो राजवञ्चनलक्षणो द्यूतकारित्वलक्षणो वा । स्मृच. ३३१

अक्षद्यूते जयपराजयलक्षणम्

[१]द्विरभ्यस्ताः पतन्त्यक्षा ग्लहे यस्याक्षदेविनः ।
जयं तस्यापरस्याहुः कितवस्य पराजयम् ॥

द्विरभ्यस्ताः एकरूपाः तृतीयोऽन्यः सत्त्वस्य (?) । तस्मिन् पतिते स जयति, इतरो जितो भवति तं पणम् । नाभा. १८।३ (पृ. १७२)

द्यूते जयपराजयनिर्णयोपायः

[२]कितवेष्वेव तिष्ठेरन् कितवाः संशयं प्रति ।
त एव तत्र द्रष्टारस्त एवैषां तु साक्षिणः ॥

संशये कितवेष्वेव तिष्ठेयुः, नान्यत्र राजकुलादौ । त एव प्रमाणम् । व्यवहारदर्शने त एव कितवाः साक्षिणः । न तत्र साक्षिपरीक्षा । नाभा. १८।४ (पृ. १७२)

कितवसभिकयोः परस्परं इतिकर्तव्यता

[३]अशुद्धः कितवो नान्यदाश्रयेत् द्यूतमण्डलम् ।
प्रतिहन्यान्न कितवं दापयन्तं स्वमिष्टतः ॥

(१) अदत्तदेयोऽशुद्धः स्वं स्वकीयं धनं साधयति कितवस्तं राजा न वारयेत् । अप. २।२००

(२) अशुद्धोऽशोधितहारितधनः, स्वं स्वलभ्यमर्थ-मित्यर्थः । विर. ६१४

(३) असंमतौ दानग्रहणे नान्यं द्यूतमण्डलमाश्रयेत्, अन्यसभिकमण्डले न दीव्येत् । न च सभिको दाप-यन्तं रोधनादिना प्रतिहन्यात् । न किञ्चित् कुर्यात्,

---

(१) **नासं.** १८।२ देयं दद्याच्च (दद्याद् देयं च) शतं (शताद्); **नास्मृ.** १९।२ तु (च) कारिता (कारिणः); **मिता.** २।२०० पू.; **अप.** २।२०० तत्कृतम् (तद्धृतम्); **विर.** ६१३-४ तत्कृतम् (तत्त्वतः); **व्यनि.** ४८१ दद्याच्च तत्कृतम् (दद्याच्छां नृपे) तु (च); **सवि.** ४८७ पू.; **व्यप्र.** ५६५ स्तस्य (स्ततः) कारिता (कारिणः) : ५६६ पू.; **व्यउ.** १६४ पू.; **विता.** ७१८ कः (कं) पू.; **समु.** १६४.

(२) **नास्मृ.** १९।८ कितवो (कितवा) र्यदेवं (र्युरेवं); **अप.** २।२०० दितम् (चितम्); **स्मृच.** ३३१ कात्यायनः; **विर.** ६१३ काशं (काश); **पमा.** ५७३; **व्यनि.** ४८१; **सवि.** ४८६ (=); **व्यप्र.** ५६५ भागं (लाभं); **समु.** १६४ कात्यायनः.

(१) **नासं.** १८।३ ग्लहे (गेहे); **नास्मृ.** १९।३ यस्याक्षदेविनः (यद्यक्षवेदिनः); **विर.** ६१४; **व्यनि.** ४८१ जयं तस्या (जयस्तस्य); **समु.** १६५ व्यनिवत्.

(२) **नासं.** १८।४ ष्ठेरन् (ष्ठेयुः) तत्र (तस्य) स्त एवैषां तु (स्युस्त एव च); **नास्मृ.** १९।४ तत्र (तस्य) एवैषां तु (एव स्युस्तु); **अप.** २।२०२ तु (च); **विर.** ६१७ ष्वेव (ष्वव) स्त एवैषां तु (स्तत्र चैते तु); **पमा.** ५७६ त एव (य एव) विष्णुः; **व्यनि.** ४८३ पमावत्, विष्णुः; **व्यप्र.** ५६७ पमावत्, विष्णुः; **समु.** १६५ विष्णुः.

(३) **नासं.** १८।५ द्धः (द्धं) न्यदाश्र (न्यमाश्र) कितवं (सभिको); **नास्मृ.** १९।५ कितवं (सभिकं) यन्तं स्व (येत्तत्व); **अप.** २।२००; **विर.** ६१४ ष्टतः (च्छतः).

-यथेष्टं दापयितुं लभेत । नाभा. १८।५ ( पृ. १७२ )

राजानधिकृतद्यूते दण्डः अलाभश्च

**अनिर्दिष्टस्तु यो राज्ञा द्यूतं कुर्वीत मानवः ।**
**न स तं प्राप्नुयात्कामं विनयं चैव सोऽर्हति ॥**

(१) अनिर्दिष्टो यो भूपेनानियुक्तः सन् द्यूतं कुर्वीत ससभिको भवन् स तं कामं सभिकलभ्यं भागं न लभेत दण्डं च प्राप्नुयात् । अप. २।२०१

(२) यत्तु वदन्ति राजाविदिते द्यूते जितमपि जयी न लभते प्रत्युत दण्ड्यः । 'प्राप्ते नृपतिना भागे प्रसिद्धे द्यूतमण्डले । जितं ससभिके स्थाने दापयेदन्यथा न तु ॥' इति याज्ञवल्कीयात् । 'अनिर्दिष्टस्तु यो राज्ञा द्यूतं कुर्वीत मानवः । न स तं प्राप्नुयात्कामं विनयं चैव सोऽर्हति ॥' इति नारदवचनाच्चेति । तत्रेदं प्रतिभाति यदा पुनः पराजितं स सभिको दापयितुं न शक्नोति तदा राजा दापयेत् इत्याहेति कृत्वा मिताक्षरायां पराशरभाष्ये च याज्ञवल्क्यवचनमिदमवतारितम् । तथा च यथा ऋणादानप्रकरणे अधमर्णैर्जैह्म्याददीयमानं ऋणं साधयते राज्ञे साधितादर्थाद्विंशत्यंशो धनिकेन दीयते अन्यथा तु न साधनं न वा तस्मै दानं, तथा प्रकृतेऽपि वाच्यम् । तुल्यन्यायात् । एवञ्च राजभागे प्राप्त एव राजा पराजितमर्थं जयिने दापयेन्न त्वन्यथेति वाक्यार्थः । द्यूतमण्डले ससभिके जितमित्यपि तत्परमेव तथैव राजांशपरिकल्पनात् ।

एवं राजादेशं विना यः स्वेच्छया द्यूतं प्रवर्तयेत् स तत्र जितमपि न प्राप्नुयात् न खलु जिह्माः कितवा राजबलं विना शक्या दापयितुमिति नारदीयपादोनश्लोकवाक्यार्थः । एवं स्थिते यस्मिन् राजव्यापारं विना जितोऽप्यर्थः प्राप्तुमशक्यो राजा च भृतिं विना न व्याप्रियत इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यामवधृतमतो राजभागं परिकल्प्य राजाज्ञामादायैव प्रवर्तितव्यमिति वाक्ययोरेकवाक्यतया तात्पर्यार्थो गम्यते ।

यच्च नारदीयवाक्यप्रतीके दण्डः श्रूयते तत्र यथा तरिमत्यां नद्यां तरशुल्कभिया बाहुभ्यामुत्तरतस्तथा प्रकृतेऽपि राजदेयखण्डनमेव दण्ड्यमानस्यापराधो न त्वन्यत् । 'बाहुभ्यामुत्तरन् पणशतं दण्ड्यः' इति वसिष्ठवचनेनैकमूलकत्वात् तस्माद्राजाज्ञां विना प्रवर्तितं द्यूतं वा ततो जयो वा न सिद्ध्यति तत्सिद्धावपि पराजितं न लभ्यते इत्येवमाद्यर्थपरिकल्पने वाक्यस्यादृष्टार्थत्वं स्यात् ।

तस्माद्राजदण्डमगणयित्वा स्वयं जितार्थसाधनमध्यवसाय राजाज्ञां विनापि कृते द्यूते परिपणितं पराजितेन देयं, यदि तवाक्षा द्विरभ्यस्ताः पतन्ति यदि वा मन्मेषस्त्वन्मेषादपसरति तदा शतं ते ददामीति स्वरसतः प्रकृतिरथाभ्युपगमेऽपवादकाभावादिति । दवि. ११०-११

पणपरिकल्पनं क्वचित् कृताकृतम्

**परिहासकृतं यच्च यच्चाप्यविदितं नृपे ।**
**तत्रापि नाप्नुयात्काममथवाऽनुमतं तयोः ॥**

(१) क्वचित्पणपरिकल्पनं कृताकृतमित्याह नारदः— परिहासकृतमिति । काम्यत इति कामः पणः, नाप्नुयात् द्यूतस्य तत्रालस्यापनोदनार्थत्वादित्यभिप्रायः । तयोर्जेतृजितयोर्देवनात् प्रागनुमतं कामं परिहासकृतादावपि जेता प्राप्नुयादिति शेषः । स्मृच. ३३१

(२) नारदः— 'अनिर्दिष्टं तु यो राज्ञा द्यूतं कुर्वीत मानवः । परिहासकृतं यच्च यच्चाप्यविदितं नृपे ॥ न स तं प्राप्नुयात्काममथवा नाशमाप्तयोः ॥' अथवेति समुच्चये । 'न स तं प्राप्नुयात्कामं विनयं चैव सोऽर्हति ।' तेन परिहासकृते अविदितकृते च सभिकोऽपि तं कामं तयोः पार्श्वे नाप्नुयात्, तत्तयोरिति पाठे तु तत्स्वलभ्यमित्यर्थः । विर. ६१५

---

(१) नास्मृ. १९।७; अप. २।२०१; विर. ६१५ ष्टस्तु (ष्टं तु); पमा. ५७७; स्मृसा. ८० स तं (च तं); विचि. २६०; व्यनि. ४८२; दवि. ११०; चन्द्र १०० विरवत्; वीमि. २।२०३ ष्टस्तु (ष्टं तु) कुर्वीत (कुर्यात्तु); व्यप्र. ५६७; सेतु. २९० स तं (स तत्); समु. १६५.

(१) स्मृच. ३३१; विर. ६१५ उत्तरार्धे (न स तं प्राप्नुयात्काममथवा नाशमाप्तयोः); पमा. ५७७ काम (काम्य); स्मृसा. ८० उत्तरार्धे (तत्रापि नाप्नुयात्कामं विनयं चैव सोऽर्हति । अथानुमतं तयोर्दापयेत्सकृदेव तु ॥); विचि. २६० उत्तरार्धे (तत्रापि नाप्नुयात्कामं नियमं चैव सोऽर्हति । अथवानुमतं तयोर्दापयेत्सकृदेव तु ॥); चन्द्र. १०० पू.; वीमि. २।२०३ अथवा... ...तयोः (विनयं चैव सोऽर्हति); व्यप्र. ५६६; सेतु. २९० तत्रापि ना (न स तं प्रा); समु. १६५.

कितवाद् सभिको पणांशातिरिक्तं विशेषेण न गृह्णीयात्

[३]भक्ष्यभोज्यान्नपानानि स्वल्पान्यन्यानि कानिचित् ।
प्रीत्या तु सकृदाजीवेत् प्रसङ्गं तु विवर्जयेत् ॥

आजीवेत् उपजीवेत् । तेन सभिको भक्ष्यभोज्यादीनि स्वल्पानि कितवपार्श्वे गृह्णीयात् न तु बहूनि प्रीत्या-प्रीत्यर्थः । विर. ६१५

द्यूते मिथ्याचारिणां दण्डविधिः

[२]कूटाक्षदेविनः पापान् राजा राष्ट्राद्विवासयेत् ।
कण्ठेऽक्षमालामासज्य स ह्येषां विनयः स्मृतः ॥

कूटाक्षैर्देवनशीलानधर्मपुरुषान् कण्ठे मालामक्षैर्ग्रथितामासज्य द्यूतमण्डलाद् देवनस्थानान्निर्वासयेत् ।
नाभा. १८।६ (पृ. १७२)

## बृहस्पतिः

समाह्वयलक्षणम्

[३]अन्योन्यं परिगृहीताः पक्षिमेषवृषादयः ।
प्रहरन्ते कृतपणास्तं वदन्ति समाह्वयम् ॥

द्यूतस्य निषेधोऽभ्यनुज्ञानं च

[४]द्यूतं निषिद्धं मनुना सत्यशौचधनापहम् ।
अभ्यनुज्ञातमन्यैस्तु राजभागसमन्वितम् ॥
सभिकाधिष्ठितं कार्यं तस्करज्ञानहेतुना ॥

(१) स्मृच. ३३१ तु स (ऽनुस); विर. ६१५; स्मृसा. ८० स्मृचवत्; विचि. २६० चित् (च); समु. १६५.

(२) नासं. १८।६ राजा......येत् (निर्भजेद् द्यूतमण्डलात्); नास्मृ. १९।६ राजा...येत् (निर्हरेद् द्यूतमण्डलात्) ह्येषां (ह्येषु); मिता. २।२०२; व्यक. ११२, १६३ पूर्वार्धः नास्मृवत्; विर. ३०७, ६१६ व्यकवत्; पमा. ५७६; दीक. ५१; व्यनि. ४८२ पूर्वार्धः नास्मृवत्, मासज्य स ह्येषां (माबध्य सर्वेषां); स्मृचि. ३७; दवि. १०९ व्यकवत्; नृप्र. २७९; सवि. ४८८ पापान् (प्राप्तान्); वीमि. २।२०३; व्यप्र. ५६७; विता. ७२०; राकौ. ४८६; समु. १६५.

(३) अप. २।१९९ न्यं प (न्यप); व्यक. १६२; स्मृच. ९ स्तं व (स्तद्व); विर. ६१० वृषा (मृगा); पमा. ५७३ अपवत्; रत्न. १६४; विचि. २५८ विरवत्; व्यनि. ४७८ गृहीताः (गृह्णीतां) वृषा (मृगा); वीमि. २।२०३ विरवत्; सेतु. २८८; समु. १६४ स्मृचवत्.

(४) अप. २।२०३ सत्य (सस्य) अभ्यनुज्ञात, (तत्प्रवर्तित)

(१) राजभागरहितं न प्रवर्तयितव्यमित्यर्थः ।
अप. २।२०३

(२) अस्यायमर्थः—द्यूतं तावद्राज्ञा सर्वथा निवर्तनीयम् । यदि तु तस्करज्ञापनाय क्रियते तदा उक्तक्रमेणेति । विर. ६१२

द्यूते सभिकराजजयिभिः ग्राह्याः पणांशाः

[२]राजवृद्धिः सकितवात् सभिकाद् दशकं शतम् ।
यथासमयं वा स्यात् ....................॥
सभिको ग्राहकस्तत्र दद्याज्जेत्रे नृपाय च ॥

द्यूतपराजितकितवानां तु बन्धनादिना पणग्राहको भवेत् । पणग्रहणात्प्रागेव स्वद्रव्यं जेत्रे नृपाय च यथाभागं दद्यात् सभिक इत्यर्थः । स्मृच. ३३१

[३]द्वन्द्वयुद्धेन यः कश्चिदवसादमवाप्नुयात् ।
तत्स्वामिना पणो देयो यस्तत्र परिकल्पितः ॥

द्वन्द्वयुद्धे मल्लमेषादिद्वन्द्वयुद्धे, अवसादं पराजयम् ।
विर. ६१४

[४]रहोजितोऽनभिज्ञश्च कूटाक्षैः कपटेन वा ।
मोच्योऽभिज्ञोऽपि सर्वस्वं जितं सर्वं न दापयेत् ॥

तृतीयार्धं विना; स्मृच. ३३१; विर. ६११-२ अभ्य...स्तु (तत्प्रवर्तितमन्यैश्च) ज्ञानहेतुना (ज्ञापकं हि तत्); पमा. ५७३ तृतीयार्धमेव : ५७८; विचि. २५९ विरवत्; व्यनि. ४८० अभ्यनुज्ञात (तत्प्रवर्तित) ज्ञानहेतुना (ज्ञापकं हि तत्); स्मृचि. ३६ विरवत्; सवि. ४८६ (=); व्यप्र. ५६८; सेतु. २८९ विरवत्; समु. १६४.

(१) विश्व. २।२०४.

(२) स्मृच. ३३१ कस्तत्र (को द्रव्यं); विर. ६१२ कस्तत्र (कस्तस्य); पमा. ५७४; स्मृचि. ३६ च (वा); व्यप्र. ५६६; सेतु. २९० विरवत्; समु. १६४ स्मृचवत्.

(३) अप. २।२००; स्मृच. ३३१; विर. ६१४ द्धेन (द्धे तु); पमा. ५७७; विचि. २५९; व्यनि. ४८२; सवि. ४८६ मिना (मिने); वीमि. २।२०३; व्यप्र. ५६६ यस्तत्र (यस्त्वत्र); सेतु. २८९ यस्तत्र......तः (यतस्तत्र निरूपितः); समु. १६५.

(४) अप. २।२०१ दापयेत् (दाप्यते); व्यक. १६३; विर. ६१६; दीक. ५०-५१ जितं (जितः) शेषं अपवत्; स्मृचि. ३७.

द्यूतसमाह्वययोः मिथ्याचारिणां दण्डविधिः

[1]कूटाक्षदेविनः क्षुद्रा राजभागहराश्च ये ।
गणका वञ्चकाश्चैव दण्ड्यास्ते कितवाः स्मृताः ॥

[2]ग्लहः प्रकाशः कर्तव्यो निर्वास्याः कूटदेविनः ॥

गणनावञ्चकाः गणनायां वञ्चकाः असम्यग्गणनाकारिण इत्यर्थः । विर. ६१६

द्यूते जयपराजयनिर्णयोपायः

[3]स एव साक्षी संदिग्धौ सभ्यैश्चान्यैस्त्रिभिर्वृतः ॥

सभिकानुवृत्तौ बृहस्पतिः— स एवेति । अप. २।२०२

[4]उभयोरपि संदिग्धौ कितवाः स्युः परीक्षकाः ।
यदा विद्वेषिणस्ते तु तदा राजा विचारयेत् ॥

अष्टादशपदोपसंहारः

[5]एवं वादिकृतान् वादान् प्रपश्येत्प्रत्यहं नृपः ।
नृपाश्रयास्तथा चान्ये विद्वद्भिर्ब्राह्मणैः सह ॥

## कात्यायनः

द्यूतस्य निषेधोऽभ्यनुज्ञानं च

[6]द्यूतं नैव तु सेवेत क्रोधलोभविवर्धनम् ।
असाधुजननं क्रूरं नराणां द्रव्यनाशनम् ॥

[1]ध्रुवं द्यूतात्कलिर्यस्माद्विषं सर्पमुखादिव ।
तस्माद्राजा निवर्तेत विषये व्यसनं हि तत् ॥

[2]वर्तेत चेत्प्रकाशं तु द्वारावस्थिततोरणम् ।
असंमोहार्थमार्याणां कारयेत्तत्करप्रदम् ॥

द्यूते सभिकराजजयिभिः ग्राह्याः पणांशाः

[3]सभिकः कारयेद् द्यूतं देयं दद्यात्स्वयं नृपे ।
दशकं तु शते वृद्धिं गृह्णीयाच्च पराजयात् ॥

जेत्रे राज्ञे च दत्तस्य स्वद्रव्यस्य पणप्रतिनिधेः वृद्धिः पणग्रहणकाले पणेन सह सभिकेन ग्राह्या । 'दशकं तु शते वृद्धिं गृह्णीयात्तु पराजयात्' इति तेनैवोक्तत्वात् । पराजयात् पराजितादित्यर्थः । स्मृच. ३३१

[4]जेतुर्दद्यात्स्वकं द्रव्यं जितं ग्राह्यं त्रिपक्षकम् ।
सद्यो वा सभिकेनैव कितवात्तु न संशयः ॥

त्रिपक्षकमित्यनेन यथासामर्थ्यमा त्रिपक्षात् पणदानकाले देय इति दर्शितम् । स्मृच. ३३१

[5]प्रसह्य दापयेद्द्रव्यं तस्मिन् स्थाने न चान्यथा ।
जितं वै सभिकस्तत्र सभिकप्रत्ययात्क्रिया ॥

---

(१) व्यक. ११२ भाग (भाव्य) गणका (गणानां) : १६३ गणका (गणानां); विर. ३०८ भाग (द्रव्य) गणका (गणानां) : ६१६ क्षुद्रा (पापा) का वञ्च (नावञ्च); पमा. ४३९ भाग (भार्या); रत्न. १२४ भाग (भाव्य); स्मृसा. ८०; विचि. २६० (=) क्षुद्रा (पापा) गणका (गणानां); दवि. १०८ का वञ्च (नावञ्च); व्यप्र. ३८७ रत्नवत्; व्यउ. १२६ रत्नवत्; व्यम. १०१ रत्नवत्; विता. ७७९; सेतु. २९० क्षुद्रा (पापा) गणका वञ्चकाश्चैव (सगणो वञ्चकश्चैव); समु. १५० रत्नवत्.

(२) व्यक. ११२, १६३; विर. ३०७, ६१६; स्मृसा. ८०; विचि. २५९ ग्लहः (ग्रहः); दवि. १०८ ग्लहः (गूढः); वीमि. २।२०३; सेतु. २९० दविवत्.

(३) अप. २।२०२ ग्धौ (ग्धे); व्यक. १६३; विर. ६१७.

(४) अप. २।२०२ ग्धौ (ग्धं) वाः स्युः (वास्तु); व्यक. १६३ वाः स्युः (वास्तु); विर. ६१८ व्यकवत्; पमा. ५७६; व्यप्र. ५६७; समु. १६५.

(५) व्यक. १६३; विर. ६१८.

(६) विर. ६११; रत्न. १६४; विचि. २५९ धनम् (धितम्).

(१) विर. ६११; रत्न. १६४; विचि. २५९; व्यनि. ४७९ ये व्य (यव्य); समु. १६४ ये व्य (यव्य) स्मृत्यन्तरम्.

(२) विर. ६११; रत्न. १६४; व्यनि. ४८० वर्तेत (वर्तेते) तु (तद्) द्वारावस्थित (द्वारबन्धित); समु. १६४ पूर्वार्धे (वर्तेते चेत्प्रकाशं तद् विकारावस्थितौ नृणाम्) स्मृत्यन्तरम्.

(३) अप. २।२०० त्स्वयं नृपे (च यन्नृपे) तु शते (च शतं); स्मृच. ३३१ याच (यात्तु) उत्त.; विर. ६१२ शते (शतं) जयात् (जये); व्यनि. ४८१ त्स्वयं नृपे (च तं नृपे) तु शते (च शतं) याच पराजयात् (यात्स पराजितात्); स्मृचि. ३६ त्स्वयं नृपे (च तच्छतम्) शते (शतं); समु. १६४ स्मृचवत्, उत्त.

(४) अप. २।२०० क्षकम् (क्षिकम्); स्मृच. ३३१ जितं ग्राह्यं (जिताद्ग्राह्यं); विर. ६१२ त्स्वकं (त्स्वयं) त्रिप (विप) तु न संशयः (द्धनसंशये); पमा. ५७५; व्यनि. ४८१; स्मृचि. ३६; व्यप्र. ५६६ क्षकम् (क्षिकम्) सभिकेनैव (कितवेनैव) कितवात्तु (सभिकात्तु); समु. १६४ स्मृचवत्.

(५) अप. २।२०१ येद्द्रव्यं (येद्देयं) यात्क्रिया (या क्रिया); विर. ६१५.

[1]अनभिज्ञो जितो मोच्योऽभिज्ञो वाऽपि जितो रहः।
सर्वस्वेऽपि जितेऽभिज्ञं न सर्वस्वं प्रदापयेत् ॥

अक्षद्यूते जयपराजयलक्षणम्

[2]एकरूपा द्विरूपा वा द्यूते यस्याक्षदेविनः।
दृश्यते च जयस्तस्य यस्मिन्नक्षा व्यवस्थिताः ॥

(१) अप. २।२०१ ऽभिज्ञो वापि (ऽमोच्योऽभिज्ञो) ऽपि जितेऽभिज्ञं (विजितेऽभिज्ञे); **विर.** ६१६; **स्मृचि.** ३७ नारदः.

(२) **विर.** ६१४ न्नक्षा व्यवस्थिताः (न्नक्षा व्यवस्थिता); **व्यनि.** ४८२ एक......द्यूते (एकरूपो द्विरूपो वा द्यूते) च जय (विजय); **समु.** १६५ च जय (विजय).

द्यूते जयपराजयनिर्णयोपायः

[1]विग्रहे च जये लाभे करणे कूटदेविनाम्।
प्रमाणं सभिकस्तत्र शुचिः स्यात् सभिको यदि ॥
[2]म्लेच्छश्वपाकधूर्तानां कितवानां तपस्विनाम्।
तत्कृताचारभेतॄणां निश्चयो न तु राजनि ॥

राजनीति पूर्वोक्तसकलसभ्योपलक्षणार्थम्। तेन श्रुताध्ययनसंपन्ना इत्याद्युक्ताः सभ्या म्लेच्छादिविवादेषु नादरणीयाः। अप. २।२०२

(१) अप. २।२०२ हे च (हेऽथ) शुचिः स्यात् (शुचिश्च); **व्यक.** १६३ शुचिः स्यात् (शुचिश्च); **विर.** ६१७.

(२) अप. २।२०२ भेतॄणां (भर्तॄणां); **व्यक.** १६३; **विर.** ६१७ निश्चयो (निश्चये).

# प्रकीर्णकम्

## गौतमः

नृपाश्रितो व्यवहारः । राजब्राह्मणाभ्यां दण्डोपदेशाभ्यां चतुर्वर्णाश्रमो लोकः पालनीयः प्रतिषिद्धाद्वारणीयः संकराच्च रक्षणीयः ।

**द्वौ लोके धृतव्रतौ राजा ब्राह्मणश्च बहुश्रुतः *।**

(१) आपद्वृत्तिमाश्रितो यदि तत्रैव रमेत केनासौ निवार्यत इत्याह— द्वाविति । लोको राष्ट्रं वीप्सालोपश्चात्र द्रष्टव्यः लोके लोके, धृतव्रतौ व्रतानां कर्मणां धारयितारौ द्वौ राजा बहुश्रुतश्च ब्राह्मणः तौ सर्वस्य सर्वापदो दण्डोपदेशाभ्यां निवारयितारौ । गौमि.

(२) द्वौ राजबहुश्रुतब्राह्मणौ धृतव्रतौ परेषां धर्मरक्षणकृतसंकल्पौ । विर. ६२६

**तयोश्चतुर्विधस्य मनुष्यजातस्यान्तःसंज्ञानां च चलनपतनसर्पणानामायत्तं जीवनम् ।**

(१) चतुर्विधस्य मनुष्यजातस्य चातुर्वर्ण्यस्यान्तरप्रभवास्त्वनुलोमादयस्तन्मूलत्वात् पृथक् नोक्ताः। अन्तःसंज्ञाः वृक्षादयः स्थावरा वृद्धिक्षयवन्तो येषामन्तःसंज्ञा न बहिस्ते तथोक्ताः। तथा च मनुः—'तमसा बहुरूपेण चेष्टिताः कर्महेतुना । अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः ॥' इति । चलनाः पश्वादयः । पतनाः पक्षिणः । सर्पणाः सरीसृपा भुजगादयः । एषां मनुष्यादीनां जीवनं तयो राजब्राह्मणयोरायत्तं तदधीनम् । राजा तु परिपन्थिनिग्रहादिना तेषां जीवनहेतुः । इतरस्तु कथं बहुश्रुत इत्यत आह— 'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥' इत्यादिन्यायेन जीवने हेतुः । गौमि.

(२) यतः— तयोरिति । तयोः समुदितयोः समाननिर्देशात् । चतुर्विधस्य मनुष्यजातस्य चातुर्वर्ण्यस्येत्यर्थः । अन्तःसंज्ञाः अनुलोमप्रतिलोमाः चकारात् देवानां च, 'इतः प्रतिदानाद्धि देवा उपजीवन्ति' इति श्रुतेः । चलनाः स्थावराः वृक्षादयः, पतनाः पक्षिणः, सर्पणाः कीटादयः, एतेषामायत्तमधीनं जीवनं प्राणधारणम् । कथं ? ब्राह्मणेनानुगृह्यमाणा वर्णाश्रमिणः दृष्टादृष्टार्थक्रियानुष्ठानात् वृष्ट्यादिनिमित्तद्वारेण लोकोपकारे वर्तन्त इति तावद्ब्राह्मणायत्तम् । तथा च मनुः— 'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते' इत्यादि । राजा च परिपन्थिनिग्रहद्वारेण हिंसानिग्रहद्वारेण च साक्षाज्जीवनहेतुरिति । मभा.

(३) चतुर्विधस्य ब्राह्मणादिभेदवतः, चलनाः संकरजातयः, पतनाः पक्षिजातयः, सर्पिणः कीटजातयः । विर. ६२६

**प्रसूतिरक्षणमसंकरो धर्मः ।**

न च जीवनमात्रमेव तदधीनं किं तर्हि— प्रसूतिरक्षणमिति । प्रसूतिरभिवृद्धिः । दण्डोपदेशाभ्यां यथोक्तकारितया वृष्ट्यादिद्वारेण रोगाद्युपद्रवशान्त्या चाभिवृद्धिर्भवति । चोरनिग्रहाद्रक्षणमपि । दण्डप्रायश्चित्तोपदेशाभ्यां भवति वर्णानामसंकरोऽसंमेलनमपि । विहितोपदेशात् प्रतिषिद्धसेवायां दण्डधारणाच्च धर्मोऽपि भवति । एतत्सर्वं तयोरायत्तम् । ×गौमि.

**राजा सर्वस्येष्टे ब्राह्मणवर्जम् *।**

**वर्णानाश्रमांश्च न्यायतोऽभिरक्षेत् ।**

---

* मभा. व्याख्यानं स्थलादिनिर्देशश्च सभाप्रकरणे (पृ. २४) द्रष्टव्यः ।

(१) गौध. ८।२; व्यक. १६४ ज्ञानां च ( ज्ञानां ); मभा.; गौमि. ८।२ व्यकवत्; विर. ६२५ मनु......ज्ञानां च ( मनुष्यस्य ) सर्पणानामा ( सर्पिणामा ).

× मभा. गौमिवत् ।

* व्याख्यानं स्थलादिनिर्देशश्च दण्डमातृकाप्रकरणे ( पृ. ५६७ ) द्रष्टव्यः ।

(१) गौध. ८।३; व्यक. १६४; मभा.; गौमि. ८।३; विर. ६२५.

(२) गौध. ११।९; मभा.; गौमि. ११।९.

(१) वर्णा ब्राह्मणादयः। आश्रमा ब्रह्मचर्यादयः। तान् न्यायतो यथाशास्त्रं षष्ठांशादिभागस्वीकारेणाभिरक्षेत्। अभितो रक्षेत्। यथा वर्णाश्रमधर्मानुष्ठानेन निरपायास्ते भवेयुः। अथ वा न्यायत इति यथा देशादिधर्माणां भङ्गो न भवति तथा रक्षेदिति। अनुलोमादयोऽवान्तरप्रभवा वर्णा एष्वेवान्तर्भूताः। रक्षणं सर्वभूतानामिति चोरादिभ्यो रक्षणं पूर्वोक्तम्। इदं तु वचनं वर्णाश्रमधर्मेषु संकरो मा भूदिति। गौमि.

(२) वर्णा अनुपनीता ब्राह्मणादयः। उत्तरकालमाश्रमाः। न्यायतः लोकशास्त्राविरुद्धेन मार्गेण यथैषां शास्त्रविहितकर्मानुष्ठानोपद्रवो लोकव्यवस्थाभङ्गश्च न भवति तथा रक्षेदित्यर्थः। अभिग्रहणमाभिमुख्यार्थं, ततश्च स्वयमेव विचार्य रक्षेत्। येषां वर्णत्वमाश्रमत्वं च नास्ति प्रतिलोमानां, तेषामपि रक्षणार्थो विसमासः। येषां वर्णत्वं नास्ति आश्रमत्वमेवानुलोमानां तेषामप्युपसंग्रहार्थमाश्रमग्रहणम्। तेषां तु 'शूद्रश्चतुर्थो वर्णः' इत्यत्र वर्णत्वनिराकरणात्। 'प्रतिलोमास्तु धर्महीनाः' इत्यत्र उपनयनविधानादाश्रमत्वमेवेति। इतरथा वर्णानामेवाश्रमविधानादाश्रमत्वे सत्यपि वर्णत्वानपगमाच्च वर्णग्रहणेनैव लभ्यमानत्वादिति। चकाराद्देवताप्रतिमाश्च। तथा च व्याघ्रः— 'ब्राह्मणान् क्षत्रियान् वैश्यान् शूद्रानन्तरजांस्तथा। देवताप्रतिमाश्चापि रक्षेद्भूपः प्रयत्नतः॥' इति। 'रक्षणं सर्वभूतानाम्' इति चोरादिभ्यो रक्षणस्योक्तत्वात्। अन्योन्यासंकरार्थं इहोपदेशः। मभा.

**चलतश्चैतान् स्वधर्मे स्थापयेत्।**

एतान् पूर्वोक्तान् यद्यालस्यादिना ये चलन्ति न कुर्वन्ति तान् निगृह्य स्वधर्ममेव कारयेदित्यर्थः। चकारात् प्रतिषिद्धसेवने च। ×मभा.

**धर्मस्य ह्यंशभाग्भवतीति विज्ञायते।**

कस्मादेवं करोतीत्याह— धर्मस्येति। हिशब्दो हेत्वर्थः। यस्माद्रक्षणतः धर्मस्यांशो भवतीति अरक्षणतोऽप्यधर्मस्येत्यर्थसिद्धम्। अंशः षष्ठो भागः। तथा च मनुः— 'सर्वतो धर्मषड्भागो राज्ञो भवति रक्षणात्। अधर्मादपि षड्भागो भवत्यस्य ह्यरक्षतः॥' इति (मस्मृ. ८।३०४)। अमूर्तस्य धर्मस्य विभागासंभवात् यावान् वर्णाश्रमाणां धर्म उत्पद्यते ततः षष्ठांशपरिमाणो राज्ञोऽपि विहितकर्मानुष्ठानादुत्पद्यत इति द्रष्टव्यम्। इतिकरणश्चोपसंहारप्रदर्शनार्थः, यतः एतदेवमतो रक्षेत् स्थापयेच्चेति। विज्ञायत इति श्रुतिसूचनार्थम्। तदपि सर्वधर्माणां श्रुतिमूलत्वाद्रक्षणे गौरवोत्पादनार्थम्। ×मभा.

**दण्डो दमनादित्याहुस्तेनादान्तान् दमयेत्*।**

अथ दौःशील्यात् व्यवस्थां नानुमन्यन्ते ततः— दण्ड इति। दमनयोगाद्दण्डशब्दस्य दण्डत्वमित्याहुर्धर्मज्ञाः। तेनादान्तान् अवश्यान् दमयेद्वशं नयेत्। दण्डेनादान्तान् दमयेदित्येवं सिद्धे दण्डः—'धिग्दण्डं प्रथमं कुर्याद्वाग्दण्डं तदनन्तरम्। तृतीयं धनदण्डं तु वधदण्डं ततः परम्॥ देवदानवगन्धर्वा रक्षांसि पतगोरगाः। तेऽपि भोगाय कल्पन्ते दण्डेनैव निपीडिताः॥' इति। +गौमि.

**वर्णाश्रमाः स्वस्वधर्मनिष्ठाः प्रेत्य कर्मफलमनुभूय ततः शेषेण विशिष्टदेशजातिकुलरूपायुःश्रुतवृत्तवित्तसुखमेधसो जन्म प्रतिपद्यन्ते।**

वर्णा ब्राह्मणादयः। आश्रमा ब्रह्मचर्यादयः। ते स्वधर्मनिष्ठा वर्णप्रयुक्तानाश्रमप्रयुक्तानुभयप्रयुक्तांश्च धर्माननुष्ठितवन्तः। प्रेत्य मरणेन लोकान्तरं गत्वा तस्य तस्य कर्मणः फलं स्वर्गादिकमनुभूय ततस्तदनन्तरं शेषेण भुक्तावशिष्टेन कर्मणा विशिष्टदेशादिकान् भुक्त्वा जन्म प्रतिपद्यन्ते। तत्र विशिष्टशब्दो देशादिभिः सर्वैः संबध्यते। विशिष्टो देश आर्यावर्तादिः। विशिष्टजातिर्ब्राह्मणजातिः। विशिष्टकुलमध्ययनादिसंपन्नम्। विशिष्टरूपं कान्तिमद्विशिष्टायुः सषोडशं वर्षशतम्। 'स ह षोडशं वर्षशतमजीवदि'ति दर्शनात्। रोगरहितत्वमप्यायुषो

× गौमि. मभावत्।

(१) गौध. ११।१०; मभा.; गौमि. ११।१०.

(२) गौध. ११।११; मभा.; गौमि. ११।११ (विज्ञायते०).

× गौमि. मभावत्।

* स्थलादिनिर्देशः दण्डमातृकाप्रकरणे (पृ. ५६७) द्रष्टव्यः।

+ मभा. गौमिवद्भावः।

(१) गौध. ११।३१; मभा. वर्णाश्रमाः स्वस्वधर्मनिष्ठाः (वर्णा आश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठाः); गौमि. ११।२९ वित्त (चित्र) व्याख्यानावसरे तु 'वित्त' इति पाठः.

विशेषः । विशिष्टश्रुतं 'ब्राह्मणश्च बहुश्रुतः' इत्यत्र व्याख्यातम् । विशिष्टवृत्तमनुपाधि चारित्रम् । विशिष्टवित्तं धर्मार्जितं धर्मे प्रयुज्यमानं च । सुखं निरपायस्थानाधिष्ठानेनानिषिद्धसुखसेवनम् । विशिष्टमेधा ग्रन्थार्थयोर्ग्रहणशक्तिरिति । मेधाशब्दे सकारान्तत्वमार्षं सुमेधसो दुर्मेधस इत्यादिष्वेव दर्शनात् । कर्माणि भुज्यमानानि पुण्यान्यपुण्यानि च सशेषाण्येवं भुज्यन्ते । ऐहिकस्य शरीरग्रहणादेरपि पुण्यापुण्यनिबन्धनत्वात् । * गौमि.

[1]विश्वञ्चो विपरीता नश्यन्ति ।

ये वर्णाश्रमाः स्वानि कर्माणि यथावन्नानुतिष्ठन्ति ते विपरीता विश्वञ्चो नानायोनीर्गच्छन्तो नश्यन्ति । अनर्थपरम्परामनुभवन्तीति । * गौमि.

[2]तानाचार्योपदेशो दण्डश्च पालयते ।

तान् विपरीतान् यथोक्तमकुर्वतो वर्णानाश्रमांश्चाचार्योपदेशस्तावत्पालयते । तत्राप्यतिष्ठतो राजदण्डः । * गौमि.

[3]तस्माद्राजाचार्यावनिन्द्यौ ।

तस्माद्धेतो राजाचार्यौ मान्यावनिन्द्यौ इति । यद्यपि नियमनकाले हितैषितया प्रमुखपुरुषौ भवतस्तथापि तयोर्निन्दा न कार्या । * गौमि.

×देशादिधर्माः

[4]देशजातिकुलधर्माश्चाम्नायैरविरुद्धाः प्रमाणम् ÷ ।

## आपस्तम्बः

नृपाश्रितो व्यवहारः । शास्तृराजपुरोहितैः चतुर्वर्णाश्रमो लोकः स्वकर्मणि स्थाप्यः प्रतिषिद्धाद्वारणीयश्च ।

+शास्त्रैरधिगतानामिन्द्रियदौर्बल्याद्विप्रतिपन्नानां शास्ता निर्वेषमुपदिशेद्यथाकर्म यथोक्तम् ।

तस्य चेच्छास्त्रमतिप्रवर्तेरन् राजानं गमयेत् ।

राजा पुरोहितं धर्मार्थकुशलम् ।

स ब्राह्मणान् नियुञ्ज्यात् ।

बलविशेषेण वधदास्यवर्जं नियमैरुपशोषयेत् ।

इतरेषां वर्णानामा प्राणवियोगात्समवेक्ष्य तेषां कर्माणि राजा दण्डं प्रणयेत् ।

न च संदेहे दण्डं कुर्यात् ।

सुविचितं विचित्या दैवप्रश्नेभ्यो राजा दण्डाय प्रतिपद्येत । एवंवृत्तो राजोभौ लोकावभिजयति ।

देशादिधर्माः

एतेन देशकुलधर्मा व्याख्याताः ।

'ज्येष्ठो दायाद' इत्यादिकं शास्त्रविप्रतिषेधादप्रमाणमित्युक्तम् । एतेन देशधर्माः कुलधर्माश्च व्याख्याताः । शास्त्रविप्रतिषिद्धा मातुलसुतापरिणयनादयोऽप्रमाणं विपरीताः प्रमाणमिति । गौतमोऽप्याह—'देशकुलधर्माश्चाम्नायैरविरुद्धाः प्रमाणमि'ति । उ.

## बौधायनः

नृपाश्रितो व्यवहारः । राज्ञा चतुर्वर्णाश्रमो लोकः स्वधर्मे स्थापयित्वा रक्षणीयः ।

[1]षड्भागभृतो राजा रक्षेत् प्रजाम् ।

रक्षकाभावे सति आगः प्रवर्तते । ततश्च वर्णसंकरोऽपि जायते । अतस्तत्परिहारार्थमाह—षड्भागेति । षट्शब्दोऽत्र लुप्तपूरणप्रत्ययो द्रष्टव्यः । भृतिर्वेतनं धनं तद्ग्राही भृतः । राजा चात्राभिषिक्तः । स चापि तासां प्रजानां षष्ठभागभाग् भवति । ब्राह्मणस्यानुरक्षितस्य धर्मषड्भागभाग् भवति । तथा च वसिष्ठः—'राजा तु धर्मेणानुशासन् षष्ठं धनस्य हरेदन्यत्र ब्राह्मणात् । इष्टापूर्तस्य तु षष्ठमंशं भजति' इति । इष्टं वर्णसामान्याधिकारावष्टम्भेन विहितो ज्योतिष्टोमादिः । पूर्तं तु साधारणो धर्मः सर्वेषां सत्यमक्रोधो दानमहिंसा प्रजननमित्यादि । अभिषिक्तस्य प्रजापरिपालनं धर्मः । गौतमश्च तदेवाधिकृत्य वदति—'चलतश्चैनान् स्वधर्मे स्थापयेत् । धर्मस्य ह्यंशभाग् भवति' इति ( गौध १।१०–११ ) । वसिष्ठश्च—'स्वधर्मो राज्ञः

---

* मभा. गौमिवद्भावः ।

× अस्मिन् प्रकरणे देशधर्मवचनानि प्रकीर्णके केनापि निबन्धकारेण नोद्धृतानि । अस्माभिस्तु प्रकीर्णकविषयानुगतत्वात् स्मृतिचन्द्रिकामालोच्य तदीयाह्निकप्रकरणात् समुद्धृतानि ।

÷ व्याख्यासंग्रहः स्थलादिनिर्देशश्च दर्शनविधौ (पृ. ६७) द्रष्टव्यः ।

+ सर्वेषां सूत्राणां उज्वलाव्याख्यानं स्थलादिनिर्देशश्च दण्डमातृकाप्रकरणे (पृ. ५६८-९) द्रष्टव्यः ।

(१) गौध. ११।३२; मभा.; गौमि. ११।३०.
(२) गौध. ११।३३; मभा.; गौमि. ११।३१.
(३) गौध. ११।३४; मभा.; गौमि. ११।३२.
(४) स्मृच. १० मांश्चा ( मां आ ).

(१) आध. २।१५।१.
(२) बौध. १।१०।१.

परिपालनं भूतानाम्' इति ( वस्मृ. १९।१) । आचार्यश्च स्वधर्मेषु स्थापनमेव रक्षणमिति मत्वा अस्येमे स्वधर्मा इत्याह । बौवि. ( पृ. ८८-९ )

देशादिधर्मपालनम्

[१]पञ्चधा विप्रतिपत्तिर्दक्षिणतस्तथोत्तरतः ।

दक्षिणेन नर्मदामुत्तरेण कन्यातीर्थम् । उत्तरतस्तु दक्षिणेन हिमवन्तमुदग्विन्ध्यस्य । एतद्देशप्रसूतानां शिष्टानां परस्परं पञ्चधा विप्रतिपत्तिः विसंवादः 'यान् पदार्थान् अनुतिष्ठन्ति दाक्षिणात्याः न तानुदीच्याः। यानुदीच्या न तान् दाक्षिणात्याः' इति । बौवि. (पृ.६)

[२]यानि दक्षिणतस्तानि व्याख्यास्यामः ।

निगदव्याख्यातमेतत् । बौवि. ( पृ. ६ )

[३]यथैतदनुपेतेन सह भोजनं स्त्रिया सह भोजनं पर्युषितभोजनं मातुलपितृष्वसृदुहितृगमनमिति ।

तत्रेमान्युदाहरणानि— यथेति । मातुलदुहितृगमनं पितृष्वसृदुहितृगमनमिति संबन्धः । ऋज्वन्यत् ।

बौवि. ( पृ. ६ )

[४]अथोत्तरतः ऊर्णाविक्रयः शीधुपानमुभयतोदद्भिर्व्यवहारः आयुधीयकं समुद्रसंयानमिति ।

ऊर्णायास्तद्विकारस्य च कम्बलादेर्विक्रयः । उभयतो दन्ता अश्वादयः । व्यवहारः विक्रयादिः । आयुधीयकं शस्त्रधारणम् । समुद्रसंयानं नावा द्वीपान्तरगमनम् । बौवि. (पृ. ६)

[५]इतरदितरस्मिन् कुर्वन् दुष्यतीतरदितरस्मिन् ।

इतरत् अनुपेतेन सह भोजनादि, इतरस्मिन्नुत्तरापथे कुर्वन् दुष्यति तत्रत्यैश्शिष्टैः दूष्यत इत्यर्थः । एवमूर्णाविक्रयादीनि कुर्वन्नितरत्र । तस्मादनुपेतेन सह भोजनादीनि दाक्षिणात्यैश्शिष्टैराचर्यमाणत्वात् दोषाभावाच्च तैरेव कर्तव्यानि । ऊर्णाविक्रयादीनि चोदीच्यैरेव । तदेतद्भट्टकुमारिलैर्निरूपितम्— 'स्वमातुलसुतां प्राप्य दाक्षिणात्यस्तु तुष्यति ।' इति । तथाहि— अहिच्छत्रब्राह्मण्यः सुरां पिबन्ति । इति च । बौवि. ( पृ. ६-७)

[१]तत्र तत्र देशप्रामाण्यमेव स्यात् ।

ननु किमिति व्यवस्था ? यावता मूलश्रुतिरेषामविशेषेण कल्प्यते यथा होलाकादीनाम् । यथा वा बौधायनीयं धर्मशास्त्रं कैश्चिदेव पठ्यमानं सर्वाधिकारं भवति । गौतमीयगोभिलीये छन्दोगैरेव पठ्येते, वासिष्ठं तु बह्वृचैः, अथ च सर्वाधिकाराणि । यथा वाऽन्यानि शास्त्राणि यथा वा गृह्यशास्त्राणि सर्वाधिकाराणि, तद्वदनुपनीतसहभोजनादीन्यपि समानि कस्मान्न भवन्तीत्याशङ्क्याह — तत्र तत्रेति । एवं व्यवस्थितविषयैव मूलश्रुतिः कल्प्यते । किन्नामाऽनुपपत्तिर्न कल्पयतीत्यभिप्रायः । तस्माद्व्यवस्थितविषयमेवानुष्ठानं तद्वर्जनं च ।

बौवि. ( पृ. ७ )

[२]मिथ्यैतदिति गौतमः ।

गौतमग्रहणमादरार्थम्, नात्मीयं मतं पर्युदसितुम् । स ह्येवमाह—'देशजातिकुलधर्माश्चाम्नायैरविरुद्धाः प्रमाणम्' । तद्विरुद्धो देशादिधर्मो न कर्तव्यः । तद्विरुद्धश्चायम् । आह च गृत्समदः— 'अनुपनीतसहभोजने द्वादशरात्रमुच्छिष्टभोजने द्विगुणम्' इति । प्रायश्चित्तविधानान्निषेधः कल्प्यते । तथा 'स्त्रिया सह भोजने त्रिरात्रोपवासो घृतप्राशनं चे'ति । तथा 'पर्युषितभोजने अहोरात्रोपवासः' इति संवर्तः । तथा मातुलदुहितृगमनेऽप्याह—'सखिभार्यां समारुह्य मातुलस्यात्मजां तथा । चान्द्रायणं द्विजः कुर्यात् श्वश्रूमपि तथैव च ॥' इति । तथा विवाहेऽपि— 'पञ्चमीं मातृबन्धुभ्यः सप्तमीं पितृबन्धुतः' इति । आह च— 'पैतृष्वसेयीं भगिनीं स्वस्रीयां मातुरेव च । मातुश्च भ्रातुराप्तां च गत्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥' एवमूर्णाविक्रयादिष्वपि आम्नायविरोधः प्रसिद्धः । ऊर्णा तावदपण्येषु पठिता । शीधुपाने गौतमः— 'नित्यं मद्यमपेयं ब्राह्मणस्य' इति । तथोभयदन्तव्यवहारे वसिष्ठः— 'अश्वलवणमपण्यम्'

(१) बौध. १।१।१९; स्मृच. १०.

(२) बौध. १।१।२०; स्मृच. १०.

(३) बौध. १।१।२१; स्मृच. १० पेतेन ( पनीतेन ) स्त्रिया ( भार्यया च ).

(४) बौध. १।१।२२; स्मृच. १०.

(५) बौध. १।१।२३; स्मृच. १० ( इतरस्मिन् कुर्वन् दुष्यतीति । इतर इतरस्मिन् ).

(१) बौध. १।१।२४; स्मृच. १० ( देशप्रामाण्यात् ) एतावदेव.

(२) बौध. १।१।२५.

इति प्रकृत्य 'ग्राम्यपशूनामेकशफाः केशिनश्च' इत्याह। तथा च श्रुतिः— 'य उभयादत्प्रतिगृह्णात्यश्वं वा पुरुषं वा वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्' इति प्रायश्चित्तम्। तथा आयुधीयकेऽपि 'परीक्षार्थोऽपि ब्राह्मण आयुधं नाददीत' इति। स्वयमेव पतनीयेषु समुद्रसंयानं वक्ष्यति। एवमादीन्यालोच्य आम्नायैरविरुद्धाः प्रमाणमित्युक्तम्। अतो 'मिथ्यैतदिति गौतमः' इत्युपपन्नं भवति। बौवि. (पृ. ७-८)

**[१]उभयं चैव नाद्रियेत।**

एतदेव स्वमतमित्याह— उभयमिति। चशब्दः पक्षव्यावृत्त्यर्थः। अनुपेतादिसहभोजनमूर्णाविक्रयादि चोभयमपि न कर्तव्यमित्यभिप्रायः। बौवि. (पृ. ८)

**[२]शिष्टस्मृतिविरोधदर्शनात् शिष्टागमविरोधदर्शनाच्च।**

कस्मादित्याह— शिष्टेति। शिष्टागमविरोधस्तावत् स्वयमुदितः 'पञ्चधा विप्रतिपत्तिः' इत्यत्र। स्मृतिविरोधश्चानुपनीतादिसहभोजने प्रायश्चित्तविधानात्। शिष्टस्मृतिविरोधः मनुविरोधः। शिष्टो हि मनुः। तद्विरोधश्च। तत्स्मृतिः शिष्टस्मृतिः। शिष्टस्मृतिविरोधः सोऽपि दर्शित एव। एकसूत्रतां त्वेके मन्यन्ते। यथा होलाकादयो व्यवस्थितदेशविषया अप्यव्यवस्थिताः कर्तव्याः इत्थमिमेऽपीत्यस्य चौद्यस्य व्यवस्थितदेशश्रुत्यनुमानमुक्तं 'तत्र तत्र देशप्रामाण्यमेव स्यात्' इति। तत्राह— 'उभयं चैव नाद्रियेत शिष्टस्मृतिविरोधदर्शनात्' इति। स च विरोध उक्तः। तस्मादविरुद्धत्वाद्धोलाकाद्यनुष्ठानं सर्वाधिकारकम्। इह विरोधादनुपनीतसहभोजनादिवर्जनं सर्वाधिकारमिति विशेषः। आहुश्च न्यायविदः 'विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्' इति।

(बौवि. पृ.८-९)

**[३]प्रागदर्शनात्प्रत्यक्कालकवनाद्दक्षिणेन हिमवन्तमुदक्पारियात्रमेतदार्यावर्तं तस्मिन् य आचारः स प्रमाणम्।**

तत्रापि शिष्टस्मृतिविरोधेऽनपेक्ष्यमेव। बौवि. (पृ.९)

(१) बौध. १।१।२६.

(२) बौध. १।१।२६ (क) (शिष्टागमविरोधदर्शनाच्च०).

(३) बौध. १।१।२७ (क) गदर्शना (ग्विनशना) कवना (काळना).

**[१]गङ्गायमुनयोरन्तरमित्येके।**

आर्यावर्तत्वे विकल्पः। बौवि. (पृ. ९)

**[२]अथाप्यत्र भाल्लविनो गाथामुदाहरन्ति।**

आर्यावर्तान्तरप्रदर्शनार्थं भाल्लविनः छन्दोगविशेषाः गाथा श्लोकः। बौवि. (पृ. ९)

**[३]पश्चात्सिन्धुर्विसरणी सूर्यस्योदयनं पुरः। यावत्कृष्णो विधावति तावद्धि ब्रह्मवर्चसमिति॥**

कृष्णः कृष्णमृगः। ब्रह्मवर्चसं अध्ययनज्ञानानुष्ठानाभिजनसंपत्। म्लेच्छदेशस्त्वतः परम्। बौवि. (पृ. ९)

## वसिष्ठः

नृपाश्रितो व्यवहारः। ब्राह्मणेन राज्ञा च उपदेशदण्डाभ्यां चतुर्वर्णाश्रमो लोकः पालनीयः स्वकर्मणि स्थाप्यः प्रतिषिद्धाद्वारणीयश्च।

**[४]त्रयो वर्णा ब्राह्मणस्य वशे वर्तेरन्। तेषां ब्राह्मणो धर्मान् प्रब्रूयात्। तं राजा चानुशिष्यात्।**

**[५]राजा तु धर्मेणानुशासत् षष्ठं षष्ठं धनस्य हरेत्। अन्यत्र ब्राह्मणात्। इष्टापूर्तस्य तु षष्ठमंशं भजतीति ह ब्राह्मणो वेदमाढ्यं करोति, ब्राह्मण आपद उद्धरति तस्मात् ब्राह्मणोऽनाद्यः। सोमोऽस्य राजा भवतीति ह प्रेत्य चाभ्युदयिकमिति ह विज्ञायते।**

वर्णग्रहणमुपनयनादपि प्राङ्निदेशवर्तित्वप्राप्त्यर्थम्। निदेश आज्ञा। विर. ६२६

**[६]स्वधर्मो राज्ञः पालनं भूतानां तस्यानुष्ठानात् सिद्धिः। भयकारुण्यहानं जरामयं(र्यं) वै तत्सत्र-**

(१) बौध. १।१।२८.

(२) बौध. १।१।२९.

(३) बौध. १।१।३० (क) सरणी (धरणी) ष्णो विधावति (ष्णा विधावन्ति).

(४) वस्मृ. १।४०-४२ (ख) धर्मान् प्र (धर्मं यद्) तं...शिष्यात् (तत् राजा चानुतिष्ठेत्); व्यक. १६४ वशे (निदेशे) (तेषां०) (तं०); मभा. २८।५० (ब्राह्मणो धर्मान् प्रब्रूयात्) एतावदेव; विर. ६२६ व्यकवत्.

(५) वस्मृ. १।४३-६; व्यक. १६६ (राजा तु... मंशं भजतीति ह०) सोमोऽस्य (सोमो); विर. ६३३-४ व्यकवत्.

(६) वस्मृ. १९।१-६ (ख) स्वधर्मो (धर्मो) भयकारुण्य... ...सामर्थ्याच्च (भयकारणं ह्यपालनं वै एतत् सत्र-

माहुर्विद्वांसस्तस्माद्गार्हस्थ्यनैयमिकेषु पुरोहितं दध्यात्। विज्ञायते, ब्रह्मपुरोहितं राष्ट्रमृध्नोतीति। उभयस्य पालनादसामर्थ्याच्च। देशधर्मजातिकुलधर्मान् सर्वानेवैताननुप्रविश्य राजा चतुरो वर्णान् स्वधर्मे स्थापयेत्। तेष्वपचरत्सु दण्डं धारयेत्।

राज्ञा विवाहव्यवस्था कार्या

[३]उद्वाहकारिणं त्वागमयेत्कस्य न सह विवाहो युज्यते इति वर्णविभागप्रतिपादनाय संप्रदानं रक्षेत् *।

देशादिधर्मपालनम्

[३]आर्यावर्तः प्रागादर्शात् प्रत्यक्कालकवनादुदक्पारियात्राद्दक्षिणेन हिमवत उत्तरेण च विन्ध्यस्य। तस्मिन् देशे ये धर्मा ये चाचारास्ते सर्वत्र प्रत्येतव्याः। न त्वन्ये प्रतिलोमकल्पधर्माणः। एतदार्यावर्तमित्याचक्षते। गङ्गायमुनयोरन्तरेऽप्येके। यावद्वा कृष्णमृगो विचरति तावद्ब्रह्मवर्चसमित्यन्ये। अथापि भाल्लविनो निदाने गाथामुदाहरन्ति।

पश्चात्सिन्धुर्विहरिणी सूर्यस्योदयनं पुरः।
यावत्कृष्णोऽभिधावति तावद्वै ब्रह्मवर्चसम्॥
त्रैविद्यवृद्धा यं ब्रूयुर्धर्मं धर्मविदो जनाः।
पवने पावने चैव स धर्मो नात्र संशयः॥ इति।

देशधर्मजातिधर्मकुलधर्मान् श्रुत्यभावादब्रवीन्मनुः।

## विष्णुः

नृपाश्रितो व्यवहारः। राज्ञा चतुर्वर्णाश्रमो लोकः स्वकर्मणि स्थाप्यः प्रतिषिद्धान्निवारणीयश्च।

[१]अथ राजधर्माः। प्रजापरिपालनम्। वर्णाश्रमाणां स्वे स्वे धर्मे व्यवस्थापनम्। राजा च जाङ्गलं पशव्यं सस्योपेतं देशमाश्रयेत्। वैश्यशूद्रप्रायं च। तत्र धन्वनृमहीवारिवृक्षगिरिदुर्गाणामन्यतमं दुर्गमाश्रयेत्। तत्र स्वस्वग्रामाधिपान् कुर्यात्। दशाध्यक्षान्। शताध्यक्षान्। देशाध्यक्षांश्च। ग्रामदोषाणां ग्रामाध्यक्षः परीहारं कुर्यात्। अशक्तो दशग्रामाध्यक्षाय निवेदयेत्। सोऽप्यशक्तः शताध्यक्षाय। सोऽप्यशक्तो देशाध्यक्षाय। देशाध्यक्षोऽपि सर्वात्मना दोषमुच्छिन्द्यात्। आकरशुल्कतरनागवनेष्वाप्तान् नियुञ्जीत। धर्मिष्ठान् धर्मकार्येषु। निपुणानर्थकार्येषु। शूरान् संग्रामकर्मसु। उग्रानुग्रेषु। षण्ढान् स्त्रीषु।

महीदुर्गं मह्यामेवेष्टकापाषाणादिनिमित्तं दुर्गम्। मह्यैवो(मह्यामेवो)च्चावचप्रदेशप्रदेशप्रचुरदुर्गमित्यन्ये। तत्र दुर्गे स्थितः सन्। तरस्तीर्यते नद्यादि येनेति तरो नौकादिस्तज्जं शुल्कं जलजं शुल्कमिति यावत्। नागा गजाः। वनानि अरण्यानि। नागवन्ति वनानीति वा। नगः पर्वतः, तत्संबन्धि नागम्। गिरिदुर्गमिति वा। अर्थकार्येषु सुवर्णादिपरीक्षासु। यद्वा ऊहापोहादिनिर्णयवस्तु कार्येषु निपुणान् पण्डितान् नियुञ्जीत। वै.

नृपाश्रिताः केचिद्व्यवहाराः

[१]आज्ञाप्रतिघाते द्विगुणो दमः।

अयमर्थः— द्विगुण इति द्वैगुण्योक्त्यैवाज्ञप्तं द्रव्यं तस्मै दापयितव्यमिति ज्ञायत इति भारुचिः।

सवि. ४९७

[२]अनादिष्टः सन्नध्यक्षतां व्रजति तदनुसारेण दण्ड्यः।

[३]पुत्रसंशये माता तमङ्कमारोपयेद्विकृतिश्चेन्निर्णेतव्यः।

विकृतिः कामविकारः। तद्विंशतिवर्षीयमातृकपञ्चदशवर्षीयपुत्रविषयम् (?)। सवि. ४९८

[४]अत्र राज्ञो हृदयमेव प्रमाणम्।

एकेनापि प्रकारेण निर्णयाभावे अभिषिक्तस्य राज्ञो हृदयमेव प्रमाणमित्याह विष्णुः— अत्रेति।

सवि. ४९८

---

* एतद्वचनं परनिहिततरङ्गे निधिविचारे विवादरत्नाकरकारेण लिखितं, तत्र तस्यार्थो न लभ्यते।

माहुर्विद्वांसस्तस्माद्गार्हस्थ्यनैयमिकेषु। पुरोहिते दद्यात् विज्ञायते ब्राह्मणः पुरोहितो राष्ट्रं दधातीति। तस्य भयमपालनादसामर्थ्याच्च ) जातिकुल ( जातिधर्मकुल ) नेवैता ( नू वैता ) तेष्वप ...धारयेत् ( तेष्वधर्मपरेषु ).

(१) विर. ६४५.
(२) वस्मृ. १।७-१६.
(३) विस्मृ. ३।१-२१.

(१) सवि. ४९७. (२) सवि. ४९७.
(३) सवि. ४९८. (४) सवि. ४९८.

देशादिधर्मपालनम्

**परदेशावाप्तौ तद्देशधर्मान्नोच्छिन्द्यात् ।**

## शङ्खलिखितौ

नृपाश्रितो व्यवहारः—पितृमातृविवादे पुत्रः प्रष्टव्यः ।

**[2]स्वपन्तं पुत्रमाहूय ज्ञातव्यम् ।**

पितापुत्रसंशये निर्णयप्रकारमाह विष्णुः— 'पुत्रसंशये माता तमङ्कमारोपयेद्विकृतिश्चेन्निर्णेतव्यः' इति । विकृतिः कामविकारः । तद्विंशतिवर्षीयमातृकपञ्चदशवर्षीयपुत्रविषयम् (?) । वृद्धमातृविषये तदभावान्निर्णयान्तरमाहतुः शङ्खलिखितौ— स्वपन्तमिति । सवि. ४९८

नृपाश्रितव्यवहारेषु कानिचिदपवादस्थानानि

**[3]न वैष्टिकं जाङ्घिकं क्षेत्रद्रव्यापहरणं पुष्पमूलप्रचयनं स्वयमर्जितप्रवेशनं निष्क्रमणप्रवेशनेष्वनिवेदनं स्कन्धवाह्येषु शुल्को गणसमयश्रेणीपूगचरणव्यवहारनिष्ठा स्वामिनः परिज्ञातारोऽन्यत्र राजाभिद्रोहात् नगरनिवासिनां विप्रेतराणामपि परिग्रहा अनपराधाः ।**

न वैष्टिकं विष्टिः कर्मकरः तत्संबन्धि देयं वैष्टिकम् । जाङ्घिकं जङ्घाजन्यदेयं, स्वयमर्जितस्य पण्यस्य राज्ञे अनिवेद्यापि प्रवेशनमनपराधः । निष्क्रमणप्रवेशनेष्वनिवेदनं राजपुरुषेभ्य इति शेषः । स्कन्धवाह्येषु शुल्कः स्कन्धे वहनयोग्येषु शुल्कदानम् । गणो ब्राह्मणसमुदायः । समयः पाषण्डादीनां, श्रेणी शिल्पिसमूहः, पूगो वणिजादिसमूहः, गणादीनां चरणमाचारः, व्यवहारो विवादः तत्र निष्ठा निर्णयः । स्वामिनः तत्र प्रधानभूताः परिज्ञातारः स्वे स्वे वृत्ते आचारव्यवहारप्रवर्तकत्वेन लक्षणपरिज्ञातारः । अन्यत्र राजाभिद्रोहाद्गणाभ्यन्तरेष्वपि राजद्रोहकारिषु न ते प्रभवः, किन्तु राजैव, तेन राजद्रोहादन्यत्र नगरवासिगणादिषु मुख्यानां स्वातन्त्र्येणाचारविवादपरिच्छेदो न दण्डायेत्यर्थः ।

* विर. ६६२

## महाभारतम्

देशधर्मपालनम्

**[1]जातिश्रेण्यधिवासानां कुलधर्मांश्च सर्वतः ।**
**वर्जयन्ति च ये धर्मं तेषां धर्मो न विद्यते ॥**

## कौटिलीयमर्थशास्त्रम्

प्रकीर्णकानि

**[2]प्रकीर्णकानि । प्रकीर्णकं तु । याचितकावक्रीतकाहितकनिक्षेपकाणां यथादेशकालमदाने, यामच्छायासमुपवेशसंस्थितीनां वा देशकालातिपातने, गुल्मतरदेयं ब्राह्मणं साधयतः, प्रतिवेशानुवेशयोरुपरि निमन्त्रणे च द्वादशपणो दण्डः ।**

**संदिष्टमर्थमप्रयच्छतो, भ्रातृभार्यां हस्तेन लङ्घयतो, रूपाजीवामन्योपरुद्धां गच्छतः, परवक्तव्यं पण्यं क्रीणानस्य, समुद्रं गृहमुद्भिन्दतः, सामन्तचत्वारिंशत्कुल्या बाधामाचरतश्चाष्टचत्वारिंशत्पणो दण्डः ।**

**कुलनीवीग्राहकस्यापव्ययने, विधवां छन्दवासिनीं प्रसह्याधिचरतः, चण्डालस्यार्यां स्पृशतः, प्रत्यासन्नमापद्यनभिधावतो, निष्कारणमभिधावनं कुर्वतः, शाक्यजीवकादीन् वृषलप्रव्रजितान् देवपितृकार्येषु भोजयतः शत्यो दण्डः ।**

**शपथवाक्यानुयोगमनिसृष्टं कुर्वतो, युक्तकर्म चायुक्तस्य, क्षुद्रपशुवृषाणां पुंस्त्वोपघातिनो, दास्या गर्भमौषधेन पातयतश्च पूर्वः साहसदण्डः ।**

**पितापुत्रयोर्दम्पत्योर्भ्रातृभगिन्योर्मातुलभागिनेययोः शिष्याचार्ययोर्वा परस्परमपतितं त्यजतः सार्थाभिप्रयातं ग्राममध्ये वा त्यजतः पूर्वः साहसदण्डः । कान्तारे मध्यमः । तन्निमित्तं भ्रेषयत उत्तमः । सहप्रस्थायिष्वन्येष्वर्धदण्डः । पुरुषमबन्धनीयं बध्नतो बन्धयतो बन्धं वा मोक्षयतो बालमप्राप्तव्यवहारं बध्नतो बन्धयतो वा सहस्रदण्डाः ।**

प्रकीर्णकानीति सूत्रम् । प्रकीर्णानि विक्षिप्तानि परिशिष्टानि च, तत्र किञ्चित् किञ्चित् विवाहसंयुक्तादिशेषं किञ्चित् किञ्चिदध्यक्षप्रचारकण्टकशोधनान्तर्गतम् । तान्यु-

* 'गणसमयश्रेणीपूग' इत्यस्य वचनस्य व्याख्यानं सभाप्रकरणे (पृ. २६) समुद्धृतमप्यत्र अर्थसंगत्यर्थं पुनरुद्धृतम् ।

(१) विस्मृ. ३।४२. (२) सवि. ४९८.

(३) विर. ६६२.

(१) भा. १२।३६।१९. (२) कौ. ३।२०.

च्यन्त इति सूत्रार्थः। प्रकीर्णकं त्विति। प्रतिपाद्यत इति शेषः। याचितकेत्यादि। याचितकावक्रीतकाहितकानि प्रतीतानि, निक्षेपको भूषणादिनिर्माणार्थमर्पितं सुवर्णादि, एतेषां, यथादेशकालं अदाने द्वादशपणो दण्डः। यामच्छायासमुपवेशसंस्थितीनां वा देशकालातिपातने 'नक्तममुकग्रामे दिवाऽमुकच्छायानालिकायां चामुकदेशे संभूयोपवेष्टव्यमि'त्येवं कृतसंकेतानां समुपवेशव्यवस्थानां देशकालातिक्रामणे वा द्वादशपणो दण्डः। इदं समयस्यानपाकर्मशेषम्। गुल्मतरदेयं गुल्मतारणभृतिं नदीतारणभृतिं च, ब्राह्मणं साधयतः ब्राह्मणात् प्रयत्नेन गृह्णतः द्वादशपणो दण्डः। प्रतिवेशानुवेशयोरुपरि निमन्त्रणे च प्रतिवेशः प्रतिमुखगृहं अनुवेशोऽनन्तरगृहं तयोर्विद्यमानं श्रोत्रियमतिक्रम्यान्यस्य निमन्त्रणे च, द्वादशपणो दण्डः।

संदिष्टमिति। प्रतिश्रुतमर्थमप्रयच्छतः, भ्रातृभार्यां हस्तेन लङ्घयतः अवलम्बमानस्य, रूपाजीवां गणिकां, अन्योपरुद्धां गच्छतः, अष्टचत्वारिंशत्पणो दण्डः। इदं साहसशेषम्। परवक्तव्यं परपरीवादगोचरं पण्यं क्रीणानस्य, अष्टचत्वारिंशत्पणो दण्डः। इदमस्वामिविक्रयशेषम्। समुद्रं मुद्रया युक्तं गृहं उद्भिन्दतः, अष्टचत्वारिंशत्पणः। इदं साहसशेषम्। सामन्तचत्वारिंशत्कुल्याः सामन्तिकानां चत्वारिंशतः कुलानां बाधां आचरतश्च, अष्टचत्वारिंशत्पणो दण्डः। इदं वास्तुकशेषम्।

कुलनीवीग्राहकस्यापव्ययन इति। कलसाधारणं धनं गृहीत्वाऽपलपने, विधवां छन्दवासिनीं स्वच्छन्दवर्तिनीमकामां, प्रसह्याधिचरतः बलाद् गच्छतः, चण्डालस्य आर्यां स्पृशतः, प्रत्यासन्नं अन्तिकस्थं आपदि अनभिधावतः अभिधाव्यारक्षतः, निष्कारणमभिधावनं कुर्वतः, शाक्यजीवकादीन् शाक्यान् क्षपणकादींश्च वृषलप्रव्राजितान् देवपितृकार्येषु भोजयतः, शत्यो दण्डः शतपणदण्डः।

शपथवाक्यानुयोगमनिसृष्टं कुर्वत इति। आधिकरणिकाः साक्ष्याद्यनुयोगं शपथपूर्वं यमनुतिष्ठन्ति स शपथवाक्यानुयोगः तं धर्मस्थाननुज्ञातं कुर्वतः, युक्तकर्म चायुक्तस्य अनधिकृतस्याधिकृतकर्म कुर्वतश्च, क्षुद्रपशुवृषाणां, पुंस्त्वोपघातिनः, दास्या गर्भं औषधेन पातयतश्च स्रावयतश्च, पूर्वः साहसदण्डः।

पितापुत्रयोरित्यादि। सार्थाभिप्रयातं ग्राममध्ये त्यजतः संघसाह्याश्रयेण प्रस्थितं रोगादिवशात् ग्रामान्तरे त्यक्त्वा गच्छतः सार्थमुख्यस्य। शेषं सुबोधम्। कान्तारे मध्यम इति। दुर्गमे अरण्ये त्यजतो मध्यमसाहसः। तन्निमित्तं भ्रेषयतः कान्तारत्यागेन निमित्तेन विगतजीवितं कुर्वतः, उत्तमसाहसः। सहप्रस्थायिषु अन्येषु सार्थान्तर्गतेषु विषये, अर्धदण्डः। श्रीमू.

आचार्यशिष्यधर्मभ्रातृसमानतीर्थ्यानां वानप्रस्थयतिब्रह्मचारिविषये अन्यथा वा व्यतिक्रमे दण्डविधिः

**[1]विवादपदेषु चैषां यावन्तः पणा दण्डाः तावती रात्रीः क्षपणाभिषेकाग्निकार्यमहाकृच्छ्रवर्धनानि राज्ञश्चरेयुः। अहिरण्यसुवर्णाः पाषण्डाः साधवः। ते यथास्वमुपवासव्रतैराराधयेयुः अन्यत्र पारुष्यस्तेयसाहससंग्रहणेभ्यः। तेषु यथोक्ता दण्डाः कार्याः।**

**प्रव्रज्यासु वृथाचारान् राजा दण्डेन वारयेत्।**
**धर्मो ह्यधर्मोपहतः शास्तारं हन्त्युपेक्षितः॥**

विवादपदेषु चैषामिति। व्युत्क्रमागतानामाचार्यादीनां विवादपदेषु रिक्थविषयेषु, यावन्तः पणाः दण्डाः पराजितानां शास्त्रोक्ताः, तावतीः तत्समानसंख्याः, रात्रीः, क्षपणाभिषेकाग्निकार्यमहाकृच्छ्रवर्धनानि क्षपणमुपवासः अभिषेकः स्नानं अग्निकार्यं होमः महाकृच्छ्रं चान्द्रायणप्राजापत्यादिकं प्रशस्तव्रतं तैर्वर्धनानि श्रेयोयोजनानि, राज्ञश्चरेयुः राजार्थे कुर्युः, अर्थात् पराजिता आचार्यादयः। वर्तनानीति पाठे क्षपणादीनां महाकृच्छ्रान्तानां वर्तनानि अनुष्ठानानि राजार्थे कुर्युरित्यर्थः। अहिरण्यसुवर्णा इति। हिरण्यसुवर्णहीनाः, पाषण्डाः, साधवः धर्मशीलाः। ते कथञ्चिद् विवादपदेषु पराजयदण्डं प्राप्ता इत्यार्थं, यथास्वं उपवासव्रतैः, आराधयेयुः धर्ममुपासीरन् राजश्रेयोऽर्थं। तत्रापवादमाह— अन्यत्र पारुष्यस्तेयसाहससंग्रहणेभ्य इति। वक्ष्यमाणवाक्पारुष्यदण्डपारुष्यस्तेयादिविवादव्यतिरेकेण। के तर्हि तेषां पारुष्यादिषु दण्डास्तत्राह— तेष्विति। तेषु विषये, यथोक्ताः पारुष्यादिप्रकरणोक्ताः, दण्डाः, कार्याः। अध्यायान्ते श्लोकमाह—

(१) कौ. ३।१६.

प्रव्रज्यास्वित्यादि । प्रव्रज्यासु वृथाचारान् चतुर्थाश्रमेषु मिथ्याचारान् । शेषं सुगमम् । श्रीमू.

उपनिपातप्रतीकारः

**उपनिपातप्रतीकारः । दैवान्यष्टौ महाभयानि—अग्निरुदकं व्याधिर्दुर्भिक्षं मूषिका व्यालाः सर्पा रक्षांसीति । तेभ्यो जनपदं रक्षेत् ।**

**ग्रीष्मे बहिरधिश्रयणं ग्रामाः कुर्युः । दशकुलीसंग्रहेणाधिष्ठाता वा । नागरिकप्रणिधावग्निप्रतिषेधो व्याख्यातः । निशान्तप्रणिधौ राजपरिग्रहे च ।**

**बलिहोमस्वस्तिवाचनैः पर्वसु चाग्निपूजाः कारयेत् । वर्षारात्रमनूपग्रामाः पूरवेलामुत्सृज्य वसेयुः । काष्ठवेणुनावश्चावगृह्णीयुः ।**

**उह्यमानमलाबूदृतिप्लवगण्डिकावेणिकाभिस्तारयेयुः । अनभिसरतां द्वादशपणो दण्डः अन्यत्र प्लवहीनेभ्यः ।**

**पर्वसु च नदीपूजाः कारयेत् । मायायोगविदो वेदविदो वर्षमभिचरेयुः । वर्षावग्रहे शचीनाथगङ्गापर्वतमहाकच्छपूजाः कारयेत् ।**

उपनिपातप्रतीकार इति सूत्रम् । उपनिपाता नाम दैव्योऽग्न्यादिनिमित्ता विपदः, तेषां प्रतीकारोऽभिधीयत इति सूत्रार्थः । कण्टकास्तावद् द्विविधा मनुष्यकण्टका देवकण्टकाश्चेति । तत्र मनुष्यकण्टकाः कारुकादय उक्ताः, देवकण्टकास्त्वधुनोच्यन्ते । दैवान्यष्टावित्यादि । स्पष्टार्थम् ।

तेष्वष्टसु अग्नितो रक्षणप्रकारमाह – ग्रीष्म इति । तस्मिन्, ग्रामाः, अधिश्रयणं पाकस्थाल्याश्चुल्यां निवेशनं, बहिः गृहबहिर्देशे, कुर्युः । दशकुलीसंग्रहेण दशकुलीरक्षकेण गोपनाम्ना, रक्षकेणेत्येव भाषापाठः । अधिष्ठिता वा 'इहाधिश्रयणं कर्तव्यमि'ति चोदिता वा, कुर्युः । नागरिकप्रणिधौ, अग्निप्रतिषेधः अग्निभयपरिहारविधिः, व्याख्यातः 'अग्निप्रतीकारं च ग्रीष्मे' इत्यादिनोक्तः । निशान्तप्रणिधौ राजपरिग्रहे च व्याख्यातः 'मानुषेणाग्निना त्रिरपसव्यं परिगतमन्तःपुरमग्निरन्यो न दहती'त्यादिनोपदिष्टः ।

बलीत्यादि । पर्वसु पूर्णिमादिषु, बलिहोमस्वस्तिवाचनैः भूतबलिभिः रक्षाहोमैः शान्तिकैः स्वस्तिवाचनैश्च, अग्निपूजाः कारयेत् ।

अथ जलप्रतिषेधमाह— वर्षारात्रमिति । वर्षाकालिकरात्रीः, अनूपग्रामाः जलप्रायप्रदेशवासिनः, पूरवेलां उत्सृज्य जलप्रवाहसंनिकृष्टं तटं परिहृत्य, वसेयुः । इह वर्षापूर्वपदकाद् रात्रिशब्दात् अच्प्रत्ययोऽन्वेष्यः । रात्रिमिति वा पाठः । काष्ठवेणुनावश्च काष्ठं वेणुं नावं च जलप्रवाहतरणार्थाः, अवगृह्णीयुः संगृह्णीयुः ।

उह्यमानमिति । प्रवाहेण नीयमानं बाहुतरणाक्षमं, अलाबूदृतिप्लवगण्डिकावेणिकाभिः अलाबूस्तुम्बीफलं दृतिः चर्मभस्त्रा प्लव उडुपं गण्डिका तरुप्रकाण्डकं वेणिका जलतरणसाधनभेदः ताभिः, तारयेयुः । अनभिसरतां तारयितुमनभिगच्छतां, द्वादशपणो दण्डः । अन्यत्र प्लवहीनेभ्य इति । तरणसाधनहीनाश्चेदनभिसरन्तो नापराध्यन्तीत्यर्थः ।

पर्वसु चेति । अमावास्यादिषु, नदीपूजाः कारयेत् जलविपत्प्रशमार्थम् । मायायोगविद इति । शैवादयो मान्त्रिकाः, वेदविदः अथर्ववेदनिपुणाः, वर्षं अतिवृष्टिं, अभिचरेयुः जपहोमादिना प्रशमयेयुः । वर्षावग्रह इति । वृष्टिप्रतिबन्धे सति, शचीनाथगङ्गापर्वतमहाकच्छपूजाः इन्द्रजाह्नवीशैलसमुद्रपूजाः कारयेत् । श्रीमू.

**व्याधिभयमौपनिषदिकैः प्रतीकारैः प्रतिकुर्युः । औषधैश्चिकित्सकाः, शान्तिप्रायश्चित्तैर्वा सिद्धतापसाः ।**

**तेन मरको व्याख्यातः । तीर्थाभिषेचनं महाकच्छवर्धनं गवां श्मशानावदोहनं कबन्धदहनं देवरात्रिं च कारयेत् ।**

**पशुव्याधिमरके स्थानान्यर्थनीराजनं स्वदैवतपूजनं च कारयेत् ।**

**दुर्भिक्षे राजा बीजभक्तोपग्रहं कृत्वानुग्रहं कुर्यात् । दुर्गसेतुकर्म वा भक्तानुग्रहेण । भक्तसंविभागं वा । देशनिक्षेपं वा । मित्राणि वा व्यपाश्रयेत । कर्शनं वमनं वा कुर्यात् ।**

**निष्पन्नसस्यमन्यविषयं वा सजनपदो यायात् । समुद्रसरस्तटाकानि वा संश्रयेत । धान्यशाकमूल-**

(१) कौ. ४।३.

(१) कौ. ४।३.

फलावापान् सेतुषु कुर्वीत । मृगपशुपक्षिव्याल-मत्स्यारम्भान् वा ।

अथ व्याधिभयप्रतीकारः । व्याधिस्तावद् द्विविधः कृत्रिमोऽकृत्रिमश्च । आद्य औपनिषदिकोक्तविषधूम-विषाम्ब्वादिदोषप्रभवः, द्वितीयो धातुदोषजः । तत्र कृत्रिमव्याधिभयं औपनिषदिकोक्तैर्विधानैः प्रतिकुर्युः, अकृत्रिमव्याधिभयं भिषज औषधैः सिद्धतापसाश्च शान्तिकर्मभिर्व्रतोपवासादिभिः प्रतिविदध्युरित्याह— व्याधिभयमित्यादि ।

तेनेति । उक्तेन व्याधिशमनप्रकारेण, मरको मारी-नामा महाव्याधिः व्याख्यातः उक्तप्रतीकारः । विशेषं त्वाह—तीर्थाभिषेचनमिति । गङ्गादितीर्थस्नानं, महाकच्छवर्धनं समुद्रपूजनं, गवां श्मशानावदोहनं श्मशाने दोहनं, कबन्धदहनं तण्डुलसक्तुनिर्मितस्य कबन्धस्य श्मशाने दहनं, देवरात्रिं च देवं क्वचित् स्थानेऽर्चयित्वा रात्रिजागरणं च, कारयेत् ।

पशुव्याधिमरक इति । पशूनां गजाश्वादीनां व्याधौ मरके च, स्थानानि भिन्नस्थानस्थितीः, अर्थनीराजनं नीराजनद्रव्यैर्नीराजनं, स्वदैवतपूजनं च कारयेत् । तत्र गजस्य स्वदैवतं सुब्रह्मण्यः, अश्वस्याश्विनौ, गोः पशुपतिः, महिषस्य वरुणः, वेसरस्य वायुः, अजस्याग्निरिति बोद्धव्यम् ।

दुर्भिक्षभयप्रतीकारमाह— दुर्भिक्ष इति । दुर्भिक्षसमये, राजा, बीजभक्तोपग्रहं प्रजानां बीजभक्ताभ्यामनुकूला-चरणं कृत्वा, अनुग्रहं कुर्यात् । दुर्गसेतुकर्म वा दुर्गकर्म सेतुनिर्माणकर्म वा, भक्तानुग्रहेण भक्तदानेन, कुर्यात् । भक्तसंविभागं वा दुर्गसेतुकर्माभावेऽपि केवलान्नदानं, कुर्यात् । देशनिक्षेपं वा अनन्तरदेशे तद्देशराजान्तिके 'प्रजा इमा मे कञ्चित् कालं रक्षित्वा प्रत्यर्पय' इत्युक्त्वा प्रजानिक्षेपणं वा, कुर्यात् । मित्राणि वा धनदानाद्युपकार-क्षमाणि, व्यपाश्रयेत प्रजाभक्तार्थम् । कर्शनं निरुपयोग-जनानां तत्काले देशान्तरप्रेषणेनाल्पत्वकरणं, वमनं वा सुभिक्षविदेशप्रेषणं वा, कुर्यात् ।

निष्पन्नसस्यमिति । सस्यसमृद्धं, अन्यविषयं वा अन्य-देशं वा, सजनपदो जानपदसहितो, यायात् उपजीव-नार्थम् । समुद्रसरस्तटाकानि वा संश्रयेत, मत्स्यपक्षि-कूर्मादिजलचरजन्तुभक्षणेन जीवनार्थम् । धान्यशाकमूल-फलावापान्, सेतुषु कुर्वीत जलाधारान् निर्माय तत्र कुर्वीत । मृगपशुपक्षिव्यालमत्स्यारम्भान् वा मृगादीनां वधारम्भान् वा कुर्वीतेति वर्तते । श्रीमू.

**मूषिकभये मार्जारनकुलोत्सर्गः । तेषां ग्रहण-हिंसायां द्वादशपणो दण्डः । शुनामनिग्रहे च अन्यत्रारण्यचरेभ्यः ।**

**स्नुहिक्षीरलिप्तानि धान्यानि विसृजेत् । उप-निषद्योगयुक्तानि वा । मूषिककरं वा प्रयुञ्जीत । शान्तिं वा सिद्धतापसाः कुर्युः । पर्वसु च मूषिक-पूजाः कारयेत् ।**

**तेन शलभपक्षिक्रिमिभयप्रतीकारा व्याख्याताः ।**

**व्यालभये मदनरसयुक्तानि पशुशवानि प्रसृ-जेत् । मदनकोद्रवपूर्णान्यौदर्याणि वा ।**

**लुब्धकाः श्वगणिनो वा कूटपञ्जरावपातैश्चरेयुः । आवरणिनः शस्त्रपाणयो व्यालानभिहन्युः । अन-भिसर्तुर्द्वादशपणो दण्डः । स एव लाभो व्याल-घातिनः ।**

**पर्वसु च पर्वतपूजाः कारयेत् । तेन मृगपक्षि-सङ्घग्राहप्रतीकारा व्याख्याताः ।**

**सर्पभये मन्त्रैरोषधिभिश्च जाङ्गलीविदश्चरेयुः । संभूय वोपसर्पान् हन्युः । अथर्ववेदविदो वाभि-चरेयुः । पर्वसु च नागपूजाः कारयेत् । तेनोदक-प्राणिभयप्रतीकारा व्याख्याताः ।**

**रक्षोभये रक्षोघ्नान्यथर्ववेदविदो मायायोगविदो वा कर्माणि कुर्युः । पर्वसु च वितर्दिछत्रोल्लोपिका-हस्तपताकाच्छागोपहारैः चैत्यपूजाः कारयेत् । चरुं वश्चराम इत्येवं सर्वभयेष्वहोरात्रं चरेयुः ।**

**सर्वत्र चोपहतान् पितेवानुगृह्णीयात् ।**

**मायायोगविदस्तस्माद् विषये सिद्धतापसाः ।**
**वसेयुः पूजिता राज्ञा दैवापत्प्रतिकारिणः ॥**

मूषिकप्रतीकारमाह— मूषिकभय इति । तस्मिन्नु-त्पन्ने, मार्जारनकुलोत्सर्गः मार्जाराणां नकुलानां चोत्सर्गः गृहेषु स्वैरसंचारघटना कर्तव्या । तेषां मार्जारनकुलानां, ग्रहणहिंसायां ग्रहणे हिंसने वा, द्वादशपणो दण्डः । शुनां

(१) कौ. ४।३.

अनिग्रहे च परोपद्रवादनिवारणे च द्वादशपणो दण्डः । अन्यत्रारण्यचरेभ्य इति । वनेचराणां शुनामनिग्रहे दण्डाभावः ।

स्नुहीत्यादि । स्नुहिक्षीरलिप्तानि धान्यानि, विसृजेद् विकिरेत्, तानि हि भक्षयित्वा मूषिका म्रियेरन्निति । उपनिषद्योगयुक्तानि वा उपनिषदुक्तौषधयुक्तानि वा, धान्यानि विसृजेत् । मूषिककरं वा प्रयुञ्जीत अमुकगृहे प्रतिदिनमेतावन्तो मूषिका देया इति मूषिकरूपं करं वा कल्पयेत् । शान्तिं वा मूषिकशमनार्थं जपहोमादिकर्म वा, सिद्धतापसाः कुर्युः । पर्वसु च पूर्णिमादिषु च, मूषिकपूजाः कारयेत् ।

उक्तरीत्या शलभभयपक्षिभयक्रिमिभयानां प्रतीकारा द्रष्टव्या इत्याह— तेन शलभेत्यादि ।

व्यालभयप्रतीकारमाह— व्यालभय इति । व्यालाः हिंस्रमृगाः व्याघ्रादयः तत्कृते भये, मदनरसयुक्तानि उपनिषदुक्तेन मदनरसेन युक्तानि, पशुशवानि पशूनां गोमहिषमेषादीनां तद्भक्ष्याणां शवानि कुणपान्, प्रसृजेत् तद्गोचरे क्षिपेत् । मदनकोद्रवपूर्णानि वनकोद्रवेण करकेण च पूर्णानि, औदर्याणि वा पशुकोष्ठान् वा प्रसृजेत् । व्याला हि तद्भक्षणान्म्रियन्ते ।

लुब्धका इति । व्याधाः, श्वगणिनो वा श्वभिर्मृगान् ये ग्राहयन्ति ते वा, कूटपञ्जरावपातैः कपटकुलायैः तृणादिच्छन्नैः पातनगर्तैश्च चरेयुः व्यवहरेयुः । आवरणिनः सावरणाः, शस्त्रपाणयस्तीक्ष्णाः, व्यालान् अभिहन्युः । अनभिसर्तुरिति । व्यालेन द्रुह्यमाणं दृष्ट्वानभिगच्छतः, द्वादशपणो दण्डः । स एव लाभो व्यालघातिन इति । व्यालं हतवते द्वादशपणं पारितोषिकं देयम् ।

पर्वसु चेति स्फुटार्थम् ।

सर्पप्रतीकारमाह— सर्पभय इति । तस्मिन् सति, मन्त्रैः गारुडादिभिः, ओषधिभिश्च विषघ्नीभिः, जाङ्गलीविदः विषचिकित्सितकुशलाः, चरेयुः प्रतीकारव्यवहारं कुर्युः । संभूय वा, उपसर्पान् दृष्टिगोचरमुपगतान् सर्पान्, हन्युः अर्थात् पौराः । अथर्ववेदविदो वा अभिचारमन्त्राभिज्ञा वा, अभिचरेयुः मन्त्रप्रयोगैः सर्पान् हन्युः । पर्वसु च नागपूजाः सर्पपूजाः, कारयेत् । तेन उक्तप्रकारेण, उदकप्राणिभयप्रतीकाराः व्याख्याताः नक्रादिजलचरप्राणिभयस्य प्रतिविधय ऊह्याः ।

रक्षःप्रतीकारमाह— रक्षोभय इति । तस्मिन् सति, अथर्ववेदविदो, मायायोगविदो वा, रक्षोघ्नानि रक्षोघातकराणि, कर्माणि कुर्युः । पर्वसु च कृष्णचतुर्दश्यष्टम्यादिषु च, वितर्दिच्छत्रोल्लोपिकाहस्तपताकाच्छागोपहारैः वितर्दिर्वेदिका छत्रमातपत्रं उल्लोपिका भक्ष्यभेदः हस्तपताका क्षुद्रध्वजः छागोपहारः छागबलिदानं इत्येतैः, चैत्यपूजाः चिताङ्के रक्षःपूजाः, कारयेत् । चरुं वश्चराम इति युष्मभ्यं हविः पचाम इत्येवं वदन्तः सन्तः, सर्वभयेषु अहोरात्रं नक्तन्दिवं, चरेयुः संचरेयुः ।

सर्वत्र चेति । सर्वेषु भयेषु, उपहतान् पीडितान् जनान्, पितेव अनुगृह्णीयात्, राजा ।

श्लोकमाह— मायेत्यादि । तस्मात् विपत्प्रतीकारकरणेन जनाः सर्वथानुग्राह्या इत्येतस्मात् कारणात् । शेषं सुबोधम् । श्रीमू.

## * मनुः

ऋत्विग्याज्ययोरन्यतरेणान्यतरस्य त्यागे दण्डः

**ऋत्विजं यस्त्यजेद्याज्यो याज्यं चर्त्विक् त्यजेद्यदि ।**
**शक्तं कर्मण्यदुष्टं च तयोर्दण्डः शतं शतम् + ॥**

मातापितास्त्रीपुत्राणामन्योन्यत्यागे दण्डः

**न माता न पिता न स्त्री न पुत्रस्त्यागमर्हति ।**
**त्यजन्नपतितानेतान् राज्ञा दण्ड्यः शतानि षट् × ॥**

आश्रमिद्विजानां कार्याणि तच्छिष्टैर्निर्णेयानि, तत्संमतौ राज्ञा

**आश्रमेषु द्विजातीनां कार्ये विवदतां मिथः ।**
**न विब्रूयान्नृपो धर्मं चिकीर्षन् हितमात्मनः ÷ ॥**

---

* अत्र येषां श्लोकानां व्याख्यासंग्रहो नोद्धृतस्तेषां व्याख्यासंग्रहः तत्तत्प्रकरणे द्रष्टव्यः ।

* अन्येषु विवादपदेषु अस्माभिर्निवेशिताः श्लोका अपि अत्र संगृहीताः । मनुना साधारणव्यवहारमातृकायां तथा स्वयं परिगणिताष्टादशपदेषु वा ये श्लोका व्यवस्थया नोक्तास्तेऽत्र प्रकीर्णत्वेन धृताः, यतः एतानभिकृत्यैव अन्यैः स्मृतिकारैः प्रकीर्णकं नाम पदान्तरं समुद्दिष्टम् ।

+ व्याख्यासंग्रहः स्थलादिनिर्देशश्च संभूयसमुत्थानप्रकरणे (पृ. ७७६) द्रष्टव्यः ।

× व्याख्यासंग्रहः स्थलादिनिर्देशश्च साहसप्रकरणे (पृ. १६२७) द्रष्टव्यः ।

÷ व्याख्यासंग्रहः स्थलादिनिर्देशश्च सभाप्रकरणे (पृ. ३७) द्रष्टव्यः ।

यथार्हमेतानभ्यर्च्य ब्राह्मणैः सह पार्थिवः ।
सान्त्वेन प्रशमय्यादौ स्वधर्मं प्रतिपादयेत् * ॥

निमित्तविशेषेषु प्रातिवेश्यानुवेश्यद्विजानिमन्त्रणे दण्डः

प्रातिवेश्यानुवेश्यौ च कल्याणे विंशतिद्विजे ।
अर्हावभोजयन्विप्रो दण्डमर्हति माषकम् = ॥

श्रोत्रियाभोजने दण्डः

श्रोत्रियः श्रोत्रियं साधुं भूतिकृत्येष्वभोजयन् ।
तदन्नं द्विगुणं दाप्यो हैरण्यं चैव माषकम् = ॥

करदानानर्हाः

अन्धो जडः पीठसर्पी सप्तत्या स्थविरश्च यः ।
श्रोत्रियेषूपकुर्वंश्च न दाप्याः केनचित्करम् ॥
श्रोत्रियं व्याधितार्तौ च बालवृद्धावकिञ्चनम् ।
महाकुलीनमार्यं च राजा संपूजयेत्सदा × ॥

नेजककृत्यम्

शाल्मलीफलके श्लक्ष्णे नेनिज्यान्नेजकः शनैः ।
न च वासांसि वासोभिर्निर्हरेन्न च वासयेत् ÷ ॥

तन्तुवायकृत्यम्

तन्तुवायो दशपलं दद्यादेकपलाधिकम् ।
अतोऽन्यथा वर्तमानो दाप्यो द्वादशकं दमम् ॥

अर्घस्थापना

शुल्कस्थानेषु कुशलाः सर्वपण्यविचक्षणाः ।
कुर्युरर्घं यथापण्यं ततो विंशं नृपो हरेत् ॥

क्रयविक्रयादौ राजनियमातिक्रमे दण्डविधिः

राज्ञः प्रख्यातभाण्डानि प्रतिषिद्धानि यानि च ।
तानि निर्हरतो लोभात् सर्वहारं हरेन्नृपः ॥
शुल्कस्थानं परिहरन्नकाले क्रयविक्रयी ।
मिथ्यावादी च संख्याने दाप्योऽष्टगुणमत्ययम् ॥

* व्याख्यासंग्रहः स्थलादिनिर्देशश्च सभाप्रकरणे ( पृ. ३७ ) द्रष्टव्यः ।

= व्याख्यासंग्रहः स्थलादिनिर्देशश्च साहसप्रकरणे ( पृ. १६२८ ) द्रष्टव्यः ।

× व्याख्यासंग्रहः स्थलादिनिर्देशश्च स्तेयप्रकरणे ( पृ. १७२७-८ ) द्रष्टव्यः ।

÷ 'शाल्मलीफलके' इत्यारभ्य 'तुलामानं प्रतीमानं' इत्यन्तानां श्लोकानां व्याख्यासंग्रहः स्थलादिनिर्देशश्च स्तेयप्रकरणे ( पृ. १७०६-९ ) द्रष्टव्यः ।

आगमं निर्गमं स्थानं तथा वृद्धिक्षयावुभौ ।
विचार्य सर्वपण्यानां कारयेत्क्रयविक्रयौ ॥
पञ्चरात्रे पञ्चरात्रे पक्षे पक्षेऽथवा गते ।
कुर्वीत चैषां प्रत्यक्षमर्घसंस्थापनं नृपः ॥

तुलामानप्रतीमानादिस्थापना

तुलामानं प्रतीमानं सर्वं च स्यात्सुलक्षितम् ।
षट्सु षट्सु च मासेषु पुनरेव परीक्षयेत् ॥

नौयायिव्यवहारः

पणं यानं तरे दाप्यं पौरुषोऽर्धपणं तरे ।
पादं पशुश्च योषिच्च पादार्धं रिक्तकः पुमान् + ॥
भाण्डपूर्णानि यानानि तार्यं दाप्यानि सारतः ।
रिक्तभाण्डानि यत्किञ्चित् पुमांसश्चापरिच्छदाः ॥
दीर्घाध्वनि यथादेशं यथाकालं तरो भवेत् ।
नदीतीरेषु तद्विद्यात् समुद्रे नास्ति लक्षणम् ॥
गर्भिणी तु द्विमासादिस्तथा प्रव्रजितो मुनिः ।
ब्राह्मणा लिङ्गिनश्चैव न दाप्यास्तारिकं तरे ॥
यन्नावि किञ्चिद्दाशानां विशीर्येतापराधतः ।
तद्दाशैरेव दातव्यं समागम्य स्वतोऽशतः ॥
एष नौयायिनामुक्तो व्यवहारस्य निर्णयः ।
दाशापराधतस्तोये दैविके नास्ति निग्रहः ॥

राज्ञा वैश्यशूद्रौ स्वकर्मणि प्रवर्तनीयौ

वाणिज्यं कारयेद्वैश्यं कुसीदं कृषिमेव च ।
पशूनां रक्षणं चैव दास्यं शूद्रं द्विजन्मनाम् * ॥

आपदि क्षत्रियवैश्यौ ब्राह्मणेन स्वस्वकर्मणा भर्तव्यौ

क्षत्रियं चैव वैश्यं च ब्राह्मणो वृत्तिकर्शितौ ।
बिभृयादानृशंस्येन स्वानि कर्माणि कारयेत् ॥

ब्राह्मणेन संस्कृतद्विजा दास्ये न नियोज्याः

दास्यं तु कारयेन्मोहाद्ब्राह्मणः संस्कृतान् द्विजान् ।
अनिच्छतः प्राभवत्याद्राज्ञा दण्ड्यः शतानि षट् ॥

+ 'पणं यानं' इत्यारभ्य 'एष नौयायिनां' इत्यन्तश्लोकानां व्याख्यासंग्रहः स्थलादिनिर्देशश्च अग्रे नौयायिव्यवहारे द्रष्टव्यः ।

* 'वाणिज्यं कारयेद्' इत्यारभ्य 'वैश्यशूद्रौ प्रयत्नेन' इत्यन्तानां श्लोकानां व्याख्यासंग्रहः स्थलादिनिर्देशश्च अभ्युपेत्याशुश्रूषाप्रकरणे ( पृ. ८१९-२३ ) द्रष्टव्यः ।

शूद्रो दास्यमेवार्हति

शूद्रं तु कारयेद्दास्यं क्रीतमक्रीतमेव वा ।
दास्यायैव हि सृष्टोऽसौ स्वयमेव स्वयम्भुवा ॥
न स्वामिना निसृष्टोऽपि शूद्रो दास्याद्विमुच्यते ।
निसर्गजं हि तत्तस्य कस्तस्मात्तदपोहति ॥

सप्तविधा दासाः

ध्वजाहृतो भक्तदासो गृहजः क्रीतदत्त्रिमौ ।
पैतृको दण्डदासश्च सप्तैते दासयोनयः ॥

भार्यापुत्रदासा न धनस्वाम्यमर्हन्ति

भार्या पुत्रश्च दासश्च त्रय एवाधनाः स्मृताः ।
यत्ते समधिगच्छन्ति यस्यैते तस्य तद्धनम् ॥

ब्राह्मणेन शूद्रद्रव्यं हरणीयम्

विस्रब्धं ब्राह्मणः शूद्राद् द्रव्योपादानमाचरेत् ।
न हि तस्यास्ति किञ्चित्स्वं भर्तृहार्यधनो हि सः ॥
वैश्यशूद्रौ प्रयत्नेन स्वानि कर्माणि कारयेत् ।
तौ हि च्युतौ स्वकर्मभ्यः क्षोभयेतामिदं जगत् ॥

राज्ञा प्रत्यहं व्यवहारोऽवेक्षणीयः

अहन्यहन्यवेक्षेत कर्मान्तान् वाहनानि च ।
आयव्ययौ च नियतावाकरान् कोशमेव च ॥

(१) राजधर्माणामनुसंधानार्थं कर्मान्ताः कृषिशुल्कस्थानानि, वाहनानि हस्त्यादि आयव्ययमिदमस्य प्रविष्टमिदं निर्यातमित्येवं सततं गवेषणीयम् । आकरा धातवः सुवर्णाद्युत्पादे भवन्ति भूमयः । कोशो द्रव्यनिश्चलस्थानम् । मेधा.

(२) प्रत्यहं कर्मान्तान् कृषिशुल्कादिस्थानानि धनसंचयं च, योगक्षेमार्थं प्रति जागृयादिति व्यवहारदर्शनाशक्तस्यापि राजधर्मापरित्यागार्थं पुनर्वचनम् । गोरा.

(३) कर्मान्तान् शस्त्रपातादिकर्मशालाः । आकरान् सुवर्णाद्युत्पत्तिस्थानानि । मवि.

(४) प्रत्यहं तदधिकृतद्वारेण प्रारब्धदृष्टादृष्टार्थकर्मणां निष्पत्तिं नृपतिर्निरूपयेत् । तथा हस्त्यश्वादीनि किमद्य प्रविष्टं किं निःसृतमिति, सुवर्णरत्नोत्पत्तिस्थानानि, भाण्डागारं चावेक्षेत । व्यवहारदर्शनाशक्तोऽपि राजा धर्मान्न परित्यजेदिति दर्शयितुमुक्तस्यापि पुनर्वचनम् । ममु.

(५) 'राजधर्मान् प्रवक्ष्यामि' इत्युपक्रम्याध्यायद्वयसमाप्यं सार्थवादमुपसंहरति— अहन्यहनीति द्वाभ्याम् । *मच.

(६) कर्मान्तान् कर्मनिष्पत्तिं, नियतौ राजशास्त्रसिद्धौ । नन्द.

व्यवहारप्रकरणोपसंहारः

एवं सर्वानिमान् राजा व्यवहारान् समापयन् ।
व्यपोह्य किल्बिषं सर्वं प्राप्नोति परमां गतिम् ॥

(१) उक्तेन प्रकारेण व्यवहारानृणादीन् समापयन् निर्णयावसानं कुर्वन्, यत्किञ्चित्तत्सर्वमविज्ञातदोषं तत्सर्वं व्यपोह्यापनुद्य पापं परमां गतिमभिप्रेतां स्वर्गापवर्गभूमिं प्राप्नोति लभते । मेधा.

(२) एवमुक्तनीत्या एतानृणादानादीन् व्यवहारान् निर्णयेनान्तं नयन् राजा अपक्षपातव्यवहारदर्शनेन शास्त्रदानसामर्थ्यात् प्रमादकृतसंचितपापं अपनुद्य ब्रह्मलोकं प्राप्नोति इति समस्तव्यवहारासमाप्तावपि प्रधानविवादसमाप्त्यभिप्रायेणेदं फलकथनम् । गोरा.

(३) बह्वर्थविषयत्वेनाध्यायस्य दीर्घत्वादतः परमध्यायानुसंतानेऽतिदीर्घता स्यादिति अपर्यवसित एव प्रतिज्ञातार्थेऽध्यायमुपसंहरति—एवमिति । समापयन् संस्थां नयन्, व्यपोह्य निरुह्य । परमां गतिं ब्रह्मप्राप्तिलक्षणामिति । मवि.

(४) एवमुक्तप्रकारेणैतान् सर्वान् ऋणादानादीन् व्यवहारांस्तत्त्वतो निर्णयेनान्तं नयन् पापं सर्वमपहाय स्वर्गादिप्राप्तिरूपामुत्कृष्टां गतिं लभते । ममु.

नृपाश्रितो व्यवहारः—कण्टकोद्धारः

एवं धर्म्याणि कार्याणि सम्यक्कुर्वन् महीपतिः ।
देशानलब्धांल्लिप्सेत लब्धांश्च परिपालयेत् × ॥

---

(१) मस्मृ. ८।४१९.

१ स्थानादपवाहनम् । हस्त्यादि.

* शेषं ममुवत् ।

× अत्र संगृहीतानां कण्टकोद्धारविषयकश्लोकानां व्याख्यासंग्रहः स्थलादिनिर्देशश्च स्तेयसाहससीमाविवादादिप्रकरणेषु द्रष्टव्यः । अन्ये च श्लोका राजनीतिकाण्डे संग्रहीष्यन्ते । अत्र च दण्डमातृकायां ये श्लोका न संगृहीतास्त एव संगृहीताः ।

(१) मस्मृ. ८।४२०; गोरा. किल्विषं (कल्मषं); पमा. ५८३; दीक. ५६ किल्बिषं (कल्मषं) पू. : ५७ उत्त.;

सम्यङ्निविष्टदेशस्तु कृतदुर्गश्च शास्त्रतः ।
कण्टकोद्धरणे नित्यमातिष्ठेद्यत्नमुत्तमम् ॥
रक्षणादार्यवृत्तानां कण्टकानां च शोधनात् ।
नरेन्द्रास्त्रिदिवं यान्ति प्रजापालनतत्पराः ॥
अशासंस्तस्करान् यस्तु बलिं गृह्णाति पार्थिवः ।
तस्य प्रक्षुभ्यते राष्ट्रं स्वर्गाच्च परिहीयते ॥
निर्भयं तु भवेद्यस्य राष्ट्रं बाहुबलाश्रितम् ।
तस्य तद्वर्धते नित्यं सिच्यमान इव द्रुमः ॥
द्विविधांस्तस्करान्विद्यात्परद्रव्यापहारिणः ।
प्रकाशांश्चाप्रकाशांश्च चारचक्षुर्महीपतिः ॥
प्रकाशवञ्चकास्तेषां नानापण्योपजीविनः ।
प्रच्छन्नवञ्चकास्त्वेते ये स्तेनाटविकादयः ॥
उत्कोचकाश्चौपधिका वञ्चकाः कितवास्तथा ।
मङ्गलादेशवृत्ताश्च भद्राश्चेक्षणिकैः सह ॥
असम्यक्कारिणश्चैव महामात्राश्चिकित्सकाः ।
शिल्पोपचारयुक्ताश्च निपुणाः पण्ययोषितः ॥
एवमाद्यान् विजानीयात्प्रकाशाँल्लोककण्टकान् ।
निगूढचारिणश्चान्याननार्यानार्यलिङ्गिनः ॥
तान् विदित्वा सुचरितैर्गूढैस्तत्कर्मकारिभिः ।
चारैश्चानेकसंस्थानैः प्रोत्साह्य वशमानयेत् ॥
तेषां दोषानभिख्याप्य स्वे स्वे कर्मणि तत्त्वतः ।
कुर्वीत शासनं राजा सम्यक्सारापराधतः ॥
न हि दण्डादृते शक्यः कर्तुं पापविनिग्रहः ।
स्तेनानां पापबुद्धीनां निभृतं चरतां क्षितौ ॥
सभाप्रपापूपशालावेशमद्यान्नविक्रयाः ।
चतुष्पथाश्चैत्यवृक्षाः समाजाः प्रेक्षणानि च ॥
जीर्णोद्यानान्यरण्यानि कारुकावेशनानि च ।
शून्यानि चाप्यगाराणि वनान्युपवनानि च ॥
एवंविधान्नृपो देशान् गुल्मैः स्थावरजङ्गमैः ।
तस्करप्रतिषेधार्थं चारैश्चाप्यनुचारयेत् ॥
तत्सहायैरनुगतैर्नानाकर्मप्रवेदिभिः ।
विद्यादुत्सादयेच्चैव निपुणैः पूर्वतस्करैः ॥
भक्ष्यभोज्योपदेशैश्च ब्राह्मणानां च दर्शनैः ।
शौर्यकर्मापदेशैश्च कुर्युस्तेषां समागमम् ॥
ये तत्र नोपसर्पेयुर्मूलप्रणिहिताश्च ये ।
तान् प्रसह्य नृपो हन्यात् समित्रज्ञातिबान्धवान् ॥
न होढेन विना चौरं घातयेद्धार्मिको नृपः ।
सहोढं सोपकरणं घातयेदविचारयन् ॥
ग्रामेष्वपि च ये केचिच्चौराणां भक्तदायकाः ।
भाण्डावकाशदाश्चैव सर्वांस्तानपि घातयेत् ॥
राष्ट्रेषु रक्षाधिकृतान् सामन्तांश्चैव चोदितान् ।
अभ्याघातेषु मध्यस्थान् शिष्याच्चौरानिव द्रुतम् ॥
यश्चापि धर्मसमयात्प्रच्युतो धर्मजीवनः ।
दण्डेनैव तमप्योषेत्स्वकाद्धर्माद्धि विच्युतम् ॥
ग्रामघाते हिताभङ्गे पथि मोषाभिदर्शने ।
शक्तितोऽनभिधावन्तो निर्वास्याः सपरिच्छदाः ॥
राज्ञः कोषापहर्तॄंश्च प्रतिकूलेषु च स्थितान् ।
घातयेद्विविधैर्दण्डैररीणां चोपजापकान् ॥
संधिं भित्त्वा तु ये चौर्यं रात्रौ कुर्वन्ति तस्कराः ।
तेषां छित्त्वा नृपो हस्तौ तीक्ष्णे शूले निवेशयेत् ॥
अङ्गुली ग्रन्थिभेदस्य छेदयेत्प्रथमे ग्रहे ।
द्वितीये हस्तचरणौ तृतीये वधमर्हति ॥
अग्निदान् भक्तदांश्चैव तथा शस्त्रावकाशदान् ।
संनिधातॄंश्च मोषस्य हन्याच्चौरमिवेश्वरः ॥
तडागभेदकं हन्यादप्सु शुद्धवधेन वा
यद्वाऽपि प्रतिसंस्कुर्याद्दाप्यस्तूत्तमसाहसम् ॥
कोष्ठागारायुधागारदेवतागारभेदकान् ।
हस्त्यश्वरथहर्तॄंश्च हन्यादेवाविचारयन् ॥
यस्तु पूर्वनिविष्टस्य तडागस्योदकं हरेत् ।
आगमं वाऽप्यपां भिन्द्यात्स दाप्यः पूर्वसाहसम् ॥
समुत्सृजेद्राजमार्गे यस्त्वमेध्यमनापदि ।
स द्वौ कार्षापणौ दद्यादमेध्यं चाशु शोधयेत् ॥
आपद्गतस्तथा वृद्धो गर्भिणी बाल एव वा ।
परिभाषणमर्हन्ति तच्च शोध्यमिति स्थितिः ॥
चिकित्सकानां सर्वेषां मिथ्याप्रचरतां दमः ।
अमानुषेषु प्रथमो मानुषेषु तु मध्यमः ॥
संक्रमध्वजयष्टीनां प्रतिमानां च भेदकः ।
प्रतिकुर्याच्च तत्सर्वं पञ्च दद्याच्छतानि च ॥
अदूषितानां द्रव्याणां दूषणे भेदने तथा ।

---

व्यनि. ५३४ पयन् ( पयेत् ) प्राप्नोति ( स याति ); सवि. ५०३ समापयन् ( सदा नयन् ) प्राप्नोति परमां गतिम् ( ब्रह्मलोके महीयते ); समु. १६५.

मणीनामपवेधे च दण्डः प्रथमसाहसः ॥
समैर्हि विषमं यस्तु चरेद्वै मूल्यतोऽपि वा ।
स प्राप्नुयाद्दमं पूर्वं नरो मध्यममेव वा ॥
बन्धनानि च सर्वाणि राजा मार्गे निवेशयेत् ।
दुःखिता यत्र दृश्येरन् विकृताः पापकारिणः ॥
प्राकारस्य च भेत्तारं परिखाणां च पूरकम् ।
द्वाराणां चैव भङ्क्तारं क्षिप्रमेव प्रवासयेत् ॥
अभिचारेषु सर्वेषु कर्तव्यो द्विशतो दमः ।
मूलकर्मणि चानाप्तैः कृत्यासु विविधासु च ॥
अबीजविक्रयी चैव बीजोत्कृष्टा तथैव च ।
मर्यादाभेदकश्चैव विकृतं प्राप्नुयाद्वधम् ॥
सर्वकण्टकपापिष्ठं हेमकारं तु पार्थिवः ।
प्रवर्तमानमन्याये छेदयेल्लवशः क्षुरैः ॥
सीताद्रव्यापहरणे शस्त्राणामौषधस्य च ।
कालमासाद्य कार्यं च राजा दण्डं प्रकल्पयेत् ॥

सप्ताङ्गराज्यव्यसननिवारणचिन्तनम्

स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ सुहृत्तथा ।
सप्त प्रकृतयो ह्येताः सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते ॥
सप्तानां प्रकृतीनां तु राज्यस्यासां यथाक्रमम् ।
पूर्वं पूर्वं गुरुतरं जानीयाद्व्यसनं महत् ॥
सप्ताङ्गस्येह राज्यस्य विष्टब्धस्य त्रिदण्डवत् ।
अन्योन्यगुणवैशेष्यान्न किञ्चिदतिरिच्यते ॥
तेषु तेषु तु कृत्येषु तत्तदङ्गं विशिष्यते ।
येन यत्साध्यते कार्यं तत्तस्मिन् श्रेष्ठमुच्यते ॥
चारेणोत्साहयोगेन क्रिययैव च कर्मणाम् ।
स्वशक्तिं परशक्तिं च नित्यं विद्यान्महीपतिः ॥
पीडनानि च सर्वाणि व्यसनानि तथैव च ।
आरभेत ततः कार्यं संचिन्त्य गुरुलाघवम् ॥
आरभेतैव कर्माणि श्रान्तः श्रान्तः पुनः पुनः ।
कर्माण्यारभमाणं हि पुरुषं श्रीर्निषेवते ॥

युगकृत् राजा

कृतं त्रेतायुगं चैव द्वापरं कलिरेव च ।
राज्ञो वृत्तानि सर्वाणि राजा हि युगमुच्यते ॥
कलिः प्रसुप्तो भवति स जाग्रद्द्वापरं युगम् ।
कर्मस्वभ्युद्यतस्त्रेता विचरंस्तु कृतं युगम् ॥

देवकार्यकरणात् देवतामयो राजा

इन्द्रस्यार्कस्य वायोश्च यमस्य वरुणस्य च ।
चन्द्रस्याग्नेः पृथिव्याश्च तेजोवृत्तं नृपश्चरेत् ॥
वार्षिकांश्चतुरो मासान् यथेन्द्रोऽभिप्रवर्षति ।
तथाऽभिवर्षेत्स्वं राष्ट्रं कामैरिन्द्रव्रतं चरन् ॥
अष्टौ मासान् यथादित्यस्तोयं हरति रश्मिभिः ।
तथा हरेत् करं राष्ट्रान्नित्यमर्कव्रतं हि तत् ॥
प्रविश्य सर्वभूतानि यथा चरति मारुतः ।
तथा चारैः प्रवेष्टव्यं व्रतमेतद्धि मारुतम् ॥
यथा यमः प्रियद्वेष्यौ प्राप्ते काले नियच्छति ।
तथा राज्ञा नियन्तव्याः प्रजास्तद्धि यमव्रतम् ॥
वरुणेन यथा पाशैर्बद्ध एवाभिदृश्यते ।
तथा पापान्निगृह्णीयाद्व्रतमेतद्धि वारुणम् ॥
परिपूर्णं यथा चन्द्रं दृष्ट्वा हृष्यन्ति मानवाः ।
तथा प्रकृतयो यस्मिन् स चान्द्रव्रतिको नृपः ॥
प्रतापयुक्तस्तेजस्वी नित्यं स्यात्पापकर्मसु ।
दुष्टसामन्तहिंस्रश्च तदाग्नेयं व्रतं स्मृतम् ॥
यथा सर्वाणि भूतानि धरा धारयते समम् ।
तथा सर्वाणि भूतानि बिभ्रतः पार्थिवं व्रतम् ॥
एतैरुपायैरन्यैश्च युक्तो नित्यमतन्द्रितः ।
स्तेनान् राजा निगृह्णीयात्स्वराष्ट्रे पर एव च ॥

ब्राह्मणरक्षणं राजधर्मः

परामप्यापदं प्राप्तो ब्राह्मणान्न प्रकोपयेत् ।
ते ह्येनं कुपिता हन्युः सद्यः सबलवाहनम् ॥
यैः कृतः सर्वभक्ष्योऽग्निरपेयश्च महोदधिः ।
क्षयी चाप्यायितः सोमः को न नश्येत्प्रकोप्य तान् ॥
लोकानन्यान् सृजेयुर्ये लोकपालांश्च कोपिताः ।
देवान् कुर्युरदेवांश्च कः क्षिण्वंस्तान् समृध्नुयात् ॥
यानुपाश्रित्य तिष्ठन्ति लोका देवाश्च सर्वदा ।
ब्रह्म चैव धनं येषां को हिंस्यात्तान् जिजीविषुः॥
अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणो दैवतं महत् ।
प्रणीतश्चाप्रणीतश्च यथाग्निर्दैवतं महत् ॥
श्मशानेष्वपि तेजस्वी पावको नैव दुष्यति ।
हूयमानश्च यज्ञेषु भूय एवाभिवर्धते ॥
एवं यद्यप्यनिष्टेषु वर्तन्ते सर्वकर्मसु ।
सर्वथा ब्राह्मणाः पूज्याः परमं दैवतं हि तत् ॥

(१) मस्मृ. ९।२९४–३२५.

क्षत्रस्यातिप्रवृद्धस्य ब्राह्मणान् प्रति सर्वशः ।
ब्रह्मैव संनियन्तृ स्यात्क्षत्रं हि ब्रह्मसंभवम् ॥
अद्भ्योऽग्निर्ब्रह्मतः क्षत्रमश्मनो लोहमुत्थितम् ।
तेषां सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति ॥
नाब्रह्म क्षत्रमृध्नोति नाक्षत्रं ब्रह्म वर्धते ।
ब्रह्म क्षत्रं च संपृक्तमिह चामुत्र वर्धते ॥
दत्त्वा धनं तु विप्रेभ्यः सर्वदण्डसमुत्थितम् ।
पुत्रे राज्यं समासृज्य कुर्वीत प्रायणं रणे ॥

लोकहितेषु भृत्यनियोजनम्

एवं चरन् सदा युक्तो राजधर्मेषु पार्थिवः ।
हितेषु चैव लोकस्य सर्वान् भृत्यान् नियोजयेत् ॥
एषोऽखिलः कर्मविधिरुक्तो राज्ञः सनातनः ॥

देशधर्मपालनम्

[1]देशधर्मान् जातिधर्मान् कुलधर्मांश्च शाश्वतान् ।
पाषण्डगणधर्मांश्च शास्त्रेऽस्मिन्नुक्तवान् मनुः ॥
सद्भिराचरितं यत्स्याद्धार्मिकैश्च द्विजातिभिः ।
तद्देशकुलजातीनामविरुद्धं प्रकल्पयेत् * ॥

परस्वानादान—स्वार्थसंग्रहादयो राजधर्माः

[2]अनादेयं नाददीत परिक्षीणोऽपि पार्थिवः ।
न चादेयं समृद्धोऽपि सूक्ष्ममप्यर्थमुत्सृजेत् ॥

करदण्डशुल्कादि शास्त्रविहितं वर्जयित्वा अन्यत्पौरधनमनादेयं राज्ञः क्षीणकोशस्यापि । यत्तु शास्त्रन्यायागतं रक्षानिर्वेशधनं तत्सूक्ष्मं कार्षापणमात्रमपि न त्यजेत् । तदुक्तं— 'वल्मीकपथवद्राजा कोशवृद्धिं तु कारयेत्' इति । मेधा.

[3]अनादेयस्य चादानादादेयस्य च वर्जनात् ।
दौर्बल्यं ख्याप्यते राज्ञः स प्रेत्येह च नश्यति ॥

अनादानार्हमनादेयम् । अर्हे कृत्यस्तच दर्शितम् । दौर्बल्यं ख्याप्यते प्रकृतिभिरस्मान् दण्डयति स्तेनाटविकसामन्तादीन् न शक्तो विजेतुमिति । परे अस्याशक्तिं प्रथयन्ति राष्ट्रीयाः अतस्तैरभिशोच्यमानो विरक्तप्रकृतिरिह नश्यति आदानादिह, प्रेत्य वाधर्मदण्डनात् । मेधा.

[1]स्वादानाद्वर्णसंसर्गात्त्वबलानां च रक्षणात् ।
बलं संजायते राज्ञः स प्रेत्येह च वर्धते ॥

स्वस्य न्यायप्राप्तस्यादानं, शोभनं वाऽऽदानं, भव्यमेव शोभनं, वर्णयोरेव संसर्गः समानजातीयैर्वर्णसंसर्गः द्विष्ठत्वात्संसर्गस्य च संबन्धिनोरश्रुतत्वाद्वर्णानां प्रस्तुतत्वात्तत्रैवापेक्षा युक्ता । यस्तु वर्णानामवान्तरप्रभवैः संसर्गो नासौ वर्णानामेव संबन्धितया व्यपदेष्टुं शक्यते । कश्चित्तु नकारं पठति वर्णासंसर्गादिति, सर्वथा वर्णसंकरप्रतिषेधानुवादोऽयम् । दुर्बलानां बलवद्भिर्द्वेषिभिरभिभूयमानानां तेभ्यस्त्राणाद्धेतोः राज्ञो बलं संजायते । सम्यग्व्यवहारदर्शनं कर्तव्यं अधर्मदण्डनं च न कर्तव्यमित्येतद्विशेषाः पठिष्यन्ते श्लोकानामर्थवादाः । मेधा.

[2]तस्माद्यम इव स्वामी स्वयं हित्वा प्रियाप्रिये ।
वर्तेत याम्यया वृत्त्या जितक्रोधो जितेन्द्रियः ॥

तथा चैतदेव प्रपञ्चयति । अयं सेवक आत्मीयोऽतः प्रियः न केवलं राष्ट्रवासी, यस्यैव राष्ट्रं तमेवावतिष्ठतेऽतोऽप्रियः (?) । तद्धि हित्वा यमवत्प्रजासु तुल्यः परिपालने व्यवहारे च स्यात् । ईदृशी हि यमस्य वृत्तिर्दृष्टा । यमस्येत्यणो बाधकं तत्रौपसंख्यानिकं यकारमिच्छन्ति । कः पुनर्यमतुल्यतां भजति जितक्रोधो जितेन्द्रियः । रागद्वेषौ जयेत् प्रसङ्ख्यानेन । मेधा.

## याज्ञवल्क्यः

प्रकीर्णकस्वरूपम्

सांप्रतं प्रकीर्णकाख्यं व्यवहारपदं प्रस्तूयते । तल्लक्षणं च कथितं नारदेन—'प्रकीर्णकेषु विज्ञेया व्यवहारा नृपाश्रयाः । राज्ञामाज्ञाप्रतीघातस्तत्कर्मकरणं तथा ॥ पुरःप्रदानं संभेदः प्रकृतीनां तथैव च । पाखण्डिनैगमश्रेणीगणधर्मविपर्ययाः ॥ पितापुत्रविवादश्च प्रायश्चित्तव्यतिक्रमः । प्रतिग्रहविलोपश्च कोपश्चाश्रमिणामपि ॥ वर्णसंकरदोषश्च तद्वृत्तिनियमस्तथा । न दृष्टं यच्च पूर्वेषु सर्वे

* व्याख्यासंग्रहः स्थलादिनिर्देशश्च दर्शनविधौ ( पृ. ७७ ) द्रष्टव्यः ।

(१) मस्मृ. ९।११८.
(२) मस्मृ. ८।१७०; समु. ७०.
(३) मस्मृ. ८।१७१.
१ स्वश.

(१) मस्मृ. ८।१७२; मेधा. द्वर्णसं ( द्वर्णासं ); गोरा. बलं... राज्ञः ( बलवान् ख्याप्यते राजा ); मच. द्वर्ण ( द्धर्म ).
(२) मस्मृ. ८।१७३; व्यक. ५; स्मृच. २४ याज्ञवल्क्यः; नृप्र. ७ द्यम ( द्धर्म ); प्रका. ३७ याज्ञवल्क्यः; समु. ९ याज्ञवल्क्यः.

तत्स्यात् प्रकीर्णकम् ॥' इति । प्रकीर्णके विवादपदे ये विवादा राजाज्ञोल्लङ्घनतदाज्ञाकरणादिविषयास्ते नृपसमवायिनः । नृप एव तत्र स्मृत्याचारव्यपेतमार्गे वर्तमानानां प्रतिकूलतामास्थाय व्यवहारनिर्णयं कुर्यात् । एवं च वदता यो नृपाश्रयो व्यवहारस्तत्प्रकीर्णकमित्यर्थाल्लक्षितं भवति । मिता.

नृपाश्रितो व्यवहारः – राजशासनविपर्यासे पारदार्यचौर्यकर्तृमोचने च दण्डः

**ऊनं वाऽप्यधिकं वाऽपि लिखेद्यो राजशासनम् ।**
**पारदारिकचौरं वा मुञ्चतो दण्ड उत्तमः ॥**

(१) यत्पूर्वप्रकरणेष्वनुक्तं, तत् पूर्वनिर्णीतव्यवहारपरिपूरणायेदानीमाह— न्यूनमिति । शासनवचनं सर्वलेख्यलक्षणार्थम् । लेखयिता लेखको वा न्यूनातिरिक्तादिलेख्यदोषकर्ता, रक्षणार्पितं पारदारिकादिकं मोक्तुकाम उत्तमसाहसं दण्ड्यः । विश्व. २।२९८

(२) तत्रापराधविशेषेण दण्डविशेषमाह— ऊनमिति । राजदत्तभूमेर्निबन्धस्य वा परिमाणान्न्यूनत्वमाधिक्यं वा प्रकाशयन् राजशासनं योऽभिलिखति यश्च पारदारिकं चौरं वा गृहीत्वा राज्ञेऽनर्पयित्वा मुञ्चति तावुभावुत्तमसाहसं दण्डनीयौ । मिता.

(३) अधुना प्रकीर्णकाख्यं विवादपदं प्रस्तौति—ऊनमिति । दत्तस्य भूम्यादे राजनिर्दिष्टं यत्परिमाणं तच्छासने न लिखति, किन्तु ततो न्यूनमधिकं वा यः शासनलेखनेऽधिकृतः स लिखेत् । यश्चौरादिग्रहणेऽधिकारी चौरं पारदारिकमन्यं वा दण्डनीयं गृहीत्वा राजाज्ञामन्तरेण मुञ्चेत् स उत्तमसाहसं दण्डनीयः । अप.

(४) राजाज्ञाप्रतीघातविशेषे केनचित्कृते राज्ञा स्वयमन्विष्य भाविते दण्डमाह याज्ञवल्क्यः —ऊनमिति । अन्यूनानतिरेकेण लेखनस्यादुष्टलक्षणस्य च राज्ञादिष्टस्यातिक्रमे तदाज्ञाप्रतिघातकत्वेनातिदौष्ट्यादुत्तमसाहसदण्डोऽत्र ग्राह्य इत्यर्थः । स्मृच. ३३२

(५) आद्येनापिकारेण विरुद्धार्थशिष्टस्य, द्वितीयेन लेखनस्य समुच्चयः । × वीमि.

नृपाश्रितो व्यवहारः—राजपुरुषाणां कर्मकारिणां कार्येष्वपराधविचारः । श्रोत्रियसत्कारः ।

**ये राष्ट्राधिकृतास्तेषां चारैर्ज्ञात्वा विचेष्टितम् ।**
**साधून् संमानयेद्राजा विपरीतांश्च घातयेत् * ॥**
**उत्कोचजीविनो द्रव्यहीनान् कृत्वा विवासयेत् ।**
**सद्दानमानसत्कारान् श्रोत्रियान् वासयेत्सदा * ॥**

नृपाश्रितो व्यवहारः—पीडाकृद्भ्यः प्रजा रक्षणीया

**चाटतस्करदुर्वृत्तमहासाहसिकादिभिः ।**
**पीड्यमानाः प्रजा रक्षेत्कायस्थैश्च विशेषतः = ॥**

नृपाश्रितो व्यवहारः – कुलजातिश्रेणिगणजानपदात्मको लोकः स्वकर्मणि स्थाप्यः प्रतिपिद्धाच्च वारणीयः

**कुलानि जातीः श्रेणीश्च गणान् जानपदानपि ।**
**स्वधर्माच्चलितान् राजा विनीय स्थापयेत्पथि + ॥**

+ प्रकीर्णकत्वेन संगृहीताः केचिद्व्यवहाराः

**अभक्ष्येण द्विजं दूष्य दण्ड उत्तमसाहसम् ।**
**मध्यमं क्षत्रियं वैश्यं प्रथमं शूद्रमर्धिकम् † ॥**
**कूटस्वर्णव्यवहारी विमांसस्य च विक्रयी ।**
**अङ्गहीनस्तु कर्तव्यो दाप्यश्चोत्तमसाहसम् ÷ ॥**

---

(१) **यास्मृ.** २।२९५; **अपु.** २२७।६३-४ दारिकचौरं वा ( जायिकचौरौ च ) : २५८।७४; **विश्व.** २।२९८ ऊनं वाऽप्य ( न्यूनमभ्य ) चौरं ( चौरौ ); **मिता.** वाऽप्य ( वाऽभ्य ); **अप.** २।२९४ लिखेद्यो ( यो लिखेद् ) चौरं ( चौरौ ); **व्यक.** १२२ चौरं ( चौरौ ) यमः; **स्मृच.** ३३२ वाऽप्य ( वाऽभ्य ) चौरं ( चौरौ ); **विर.** ३६९ व्यकवत्; **पमा.** ५८० ऊनं ( न्यूनं ) शेषं मितावत्; **विचि.** १६२ ऊनं ( न्यूनं ) लिखेद्यो ( लिखतो ) चौरं ( चौरान् ); **दवि.** २६७ लिखेद्यो (लिखतो) चौरं वा ( चौराणां ) : ३३६ चौरं वा ( चौरौ च ) उत्त.; **वीमि.**; **व्यप्र.** ५६९ पमावत्; **व्यम.** १०९ व्यकवत्; **विता.** ८२७ खतो ( खते ) शेषं मितावत्; **राकौ.** ४९४ ऊनं ( न्यूनं ) चौरं ( चौरौ ); **सेतु.** ३०७ विचिवत्; **समु.** १६५ मितावत्.

× शेषं मितावत् ।

* व्याख्यासंग्रहः स्थलादिनिर्देशश्च राजनीतिकाण्डे संग्रहीष्यते ।

= व्याख्यासंग्रहः स्थलादिनिर्देशश्च दण्डमातृकाप्रकरणे ( पृ. ५८४ ) द्रष्टव्यः ।

+ अत्र याज्ञवल्क्येन अन्यप्रकरणेषु अनुक्तोऽध्यायान्ते चोक्तो व्यवहारः संगृहीतः । व्याख्यानादिकं च तत्तत्प्रकरणे द्रष्टव्यम् ।

† व्याख्यासंग्रहः स्थलादिनिर्देशश्च साहसप्रकरणे ( पृ. १६३६ ) द्रष्टव्यः ।

÷ व्याख्यासंग्रहः स्थलादिनिर्देशश्च स्तेयप्रकरणे ( पृ. १७३२–३ ) द्रष्टव्यः ।

चतुष्पादकृतो दोषो नापैहीति प्रजल्पतः ।
काष्ठलोष्टेषुपाषाणबाहुयुग्यकृतस्तथा ¶ ॥
छिन्ननस्येन यानेन तथा भग्नयुगादिना ।
पश्चाच्चैवापसरता हिंसने स्वाम्यदोषभाक् ¶ ॥
शक्तोऽप्यमोक्षयन् स्वामी दंष्ट्रिणां शृङ्गिणां तथा ।
प्रथमं साहसं दद्याद्विक्रुष्टे द्विगुणं तथा ¶ ॥
जारं चौरेत्यभिवदन् दाप्यः पञ्चशतं दमम् ।
उपजीव्य धनं मुञ्चंस्तदेवाष्टगुणीकृतम् ÷ ॥
राज्ञोऽनिष्टप्रवक्तारं तस्यैवाक्रोशकारिणम् ।
तन्मन्त्रस्य च भेत्तारं छित्त्वा जिह्वां प्रवासयेत् § ॥
मृताङ्गलग्नविक्रेतुर्गुरोस्ताडयितुस्तथा ।
राजयानासनारोढुर्दण्ड उत्तमसाहसः * ॥
द्विनेत्रभेदिनो राजद्विष्टादेशकृतस्तथा ।
विप्रत्वेन च शूद्रस्य जीवतोऽष्टशतो दमः * ॥
दुर्दृष्टांस्तु पुनर्दृष्ट्वा व्यवहारान्नृपेण तु ।
सभ्याः सजयिनो दण्ड्या विवादाद्द्विगुणं दमम् + ॥
यो मन्येताजितोऽस्मीति न्यायेनापि पराजितः ।
तमायान्तं पुनर्जित्वा दापयेद्द्विगुणं दमम् + ॥
राज्ञाऽन्यायेन यो दण्डो गृहीतो वरुणाय तम् ।
निवेद्य दद्याद्विप्रेभ्यः स्वयं त्रिंशद्गुणीकृतम् × ॥

## नारदः

प्रकीर्णकपदस्य लक्षणं, तद्भेदाश्च

प्रकीर्णके पुनर्ज्ञेया व्यवहारा नृपाश्रयाः ।
राज्ञामाज्ञाप्रतीघातस्तत्कर्मकरणं तथा ॥
पुरप्रदानं संभेदः प्रकृतीनां तथैव च ।
पाषण्डनैगमश्रेणीगणधर्मविपर्ययः ॥
पितापुत्रविवादश्च प्रायश्चित्तव्यतिक्रमः ।
प्रतिग्रहविलोपश्च कोप आश्रमिणामपि ॥
वर्णसंकरदोषश्च तद्वृत्तिनियमस्तथा ।
न दृष्टं यच्च पूर्वेषु सर्वं तत्स्यात्प्रकीर्णकम् * ॥

¶ व्याख्यासंग्रहः स्थलादिनिर्देशश्च दण्डपारुष्यप्रकरणे ( पृ. १८१९–२० ) द्रष्टव्यः ।

÷ व्याख्यासंग्रहः स्थलादिनिर्देशश्च साहसप्रकरणे ( पृ. १६३६ ) द्रष्टव्यः ।

§ व्याख्यासंग्रहः स्थलादिनिर्देशश्च वाक्पारुष्यप्रकरणे ( पृ. १७८३ ) द्रष्टव्यः ।

* व्याख्यासंग्रहः स्थलादिनिर्देशश्च साहसप्रकरणे ( पृ. १६३७ ) द्रष्टव्यः ।

+ व्याख्यासंग्रहः स्थलादिनिर्देशश्च पुनर्न्यायप्रकरणे ( पृ. ५४७ ) द्रष्टव्यः ।

× व्याख्यासंग्रहः स्थलादिनिर्देशश्च दण्डमातृकाप्रकरणे ( पृ. ५८६ ) द्रष्टव्यः ।

(१) **नासं.** १९।१; **नास्मृ.** २०।१ ज्ञेया... ...श्रयाः ( ज्ञेयो व्यवहारो नृपाश्रयः ); **अपु.** २५३।३० पूर्वार्धे ( प्रकीर्णकः पुनर्ज्ञेयो व्यवहारो निराश्रयः ) त्कर्म ( त्कर्मा ); **मिता.** २।२९५ ( क ) र्णके पुनर्ज्ञेया ( र्णकेषु विज्ञेया ); **व्यक.** १६३ बहून्यक्षराणि गलितानि, अतः पाठो नोद्धृतः; **स्मृच.** ९ : ३३१ उत्त.; **विर.** ६२१ पूर्वार्धे (प्रकीर्णकः पुनर्ज्ञेयो व्यवहारो नृपाश्रयः); **पमा.** ५७९ मितावत्; **व्यनि.** ५२३ विरवत्; **दवि.** २६२ नास्मृवत्; **सवि.** ४९६ त्कर्मकरणं तथा ( त्कर्माकरणानि च ); **वीमि.** २।२९५ मितावत्; **व्यप्र.** ५६८; **व्यउ.** १६४; **राकौ.** ४९४ त्कर्म ( त्कर्मा ) शेषं मितावत्; **बाल.** २।२९५ 'प्रकीर्णकं पुनर्ज्ञेयो व्यवहारो नृपाश्रयः' इति कल्पतरुपाठः; **समु.** १६५.

* मिता. व्याख्यानं 'ऊनं वाऽप्यधिकं' इति याज्ञवल्क्यवचने ( पृ. १९३१ ) द्रष्टव्यम् । पमा., वीमि., व्यप्र., व्यउ. मितावत् ।

(१) **नासं.** १९।२ प्रदानं ( प्रधान ) र्ययः ( र्ययाः ); **नास्मृ.** २०।२; **मिता.** २।२९५ पुर ( पुरः ) षण्ड (खण्डि) र्ययः ( र्ययाः ); **व्यक.** १६३ पुरप्रदानं ( पुरःप्रधान ); **स्मृच.** ९ प्रदानं ( प्रमाणं ) र्ययः ( र्ययाः ) : ३३२ प्रदानं ( प्रमाणं ); **विर.** ६२१ षण्ड ( षण्डि ) शेषं नासंवत्; **पमा.** ५७९ पुरप्रदानं ( पुनः प्रमाण ) र्ययः ( र्ययाः ); **व्यनि.** ५२३ प्रदानं ( प्रधान ); **दवि.** २६२ व्यनिवत्; **सवि.** ४९६ प्रदानं संभेदः ( प्रमाणसंभेदाः ) र्ययः ( र्ययाः ); **वीमि.** २।२९५ संभेदः ( भेदश्च ) षण्ड ( खण्डि ) र्ययः ( र्ययाः ); **व्यप्र.** ५६८ पुरप्रदानं ( पुरः प्रमाणं ) षण्ड ( खण्ड ) र्ययः ( र्ययाः ); **व्यउ.** १६४ षण्ड (खण्डि); **समु.** प्रदानं (प्रमाणं).

(२) **नासं.** १९।३ पिता ( पितृ ); **नास्मृ.** २०।३; **मिता.** २।२९५ ( क ) कोप आ ( कोपश्चा ); **व्यक.** १६३; **स्मृच.** ९,३३२; **विर.** ६२१ कोप ( लोप ) शेषं नासंवत्; **पमा.** ५७९ कोप ( लोप ); **व्यनि.** ५२३ नासंवत्; **दवि.** २६२ ग्रह... ...कोप ( ग्रहावलोपश्च लोप ); **सवि.** ४९६ क्रमः ( क्रमाः ) कोप ( लोप ); **वीमि.** २।२९५ मितावत्; **व्यप्र.** ५६९; **व्यउ.** १६४; **समु.** १६५.

(३) **नासं.** १९।४ सर्वं...र्णकम् ( तत्सर्वं स्यात्प्रकीर्णके ); **नास्मृ.** २०।४ नासंवत्; **मिता.** २।२९५ ( ख ) र्णकम्

(१) नृपेण यद्यत्स्वाज्ञातिक्रमादौ प्रतिवादित्वमास्थाय निर्णेतव्यं, यच्च ऋणादानादिपूर्वोक्तपदेषु नोक्तं, तत्सर्वं प्रकीर्णकाख्यं पदमित्यर्थः। स्मृच. ९

प्रतीघातो भङ्गः । तत्कर्म सिंहासनाधिरोहणादि-राजकर्म । पुरप्रमाणं पौरचरितलेख्यप्रमाणम् । संभेदः प्रकृतीनां राज्याङ्गानां मर्मोद्भेदो दूषणैः प्रसिद्धैः । पाषण्डादयः प्रागनेकधा व्याख्याताः । परधर्माणां करणं धर्मविपर्ययः । पितापुत्रविवादोऽत्र ऋणादाना-द्यनन्तर्भूतोऽभिहितः । न दृष्टं यच्च पूर्वेष्विति प्रागुक्त-सर्वशेषतयाऽभिधानात् । स्मृच. ३३२

(२) पुरशब्दश्च पुरवासिलोकपरः । नैगमा वणिजः, श्रेण्यः अन्यदेशपण्योपजीविनो वणिजः, तद्वृत्तिनियम-स्तेषां वर्णानां वृत्तिनियमः, पूर्वेषु विवादपदेषु यत्किञ्चि-द्विधेयं निषेध्यं च पूर्वं नोक्तं, तत्प्रतिपादनाय प्रकीर्ण-कमारभ्यते। विर. ६२२

(३) राज्ञ आज्ञाप्रतीघात आदेशलङ्घनं, तत्कर्म-करणं तदसाधारणक्रियाचरणम् । पुरशब्दः पुरवासि-लोकपरः, नैगमाः अत्र वणिजः, नानापौरसमूह इति हलायुधः । श्रेण्यो वणिज एवान्यदेशपथोपजीविनः । एककर्मप्रवृत्ता वणिक्कुक्षीवलादय इति कल्पतरुः। तद्वृत्ति-नियमस्तेषां वर्णानां प्रवृत्तिनियमः। दवि. २६२

(४) एतद्वचनं नारदीयम् । नारदोक्ताष्टादशविवाद-पदमध्यगतसप्तदशविवादेषु यन्नोक्तं तदेव प्रकीर्णकं कथि-तम् । अस्मदीयस्मृतिनिबन्धस्तु सर्वस्मृतिसमुच्चय इति तदनुसारेण प्रतिपाद्ये तत्तदाकाङ्क्षावशात् तत्र तत्र विवादपदे राजैकनियता अपि व्यवहारा निर्णीताः । अत्र व्यवहारपदे प्रकीर्णकाख्ये मदीयग्रन्थानुसारेण नारदीयानुसारेण च यत्पूर्वं नोक्तं तदेव कथ्यते । तथा हि— राज्ञामाज्ञाप्रतीघात इत्यस्यार्थः, राज्ञाऽस्मै ब्राह्मणाय क्षत्रियाय वा एतावद्द्रव्यं देयं इत्याज्ञायां दत्तायां यस्तु न करोति तेन द्रव्यं तस्मै दापयित्वा स तद्द्विगुणं दण्ड्य इति । तदाह विष्णुः— 'आज्ञाप्रतिघाते द्विगुणो दमः' इति । अय-मर्थः— द्विगुण इति द्वैगुण्योक्त्यैवाज्ञप्तं द्रव्यं तस्मै दापयितव्यमिति ज्ञायत इति भारुचिः । तत्कर्मकरणानी-त्यस्यार्थः— तस्य राज्ञः कर्म राज्यं तस्य करणं मुद्रिका-मगृहीत्वेति शेषः । 'अनादिष्टः सन्नध्यक्षतां व्रजति तदनुसारेण दण्ड्यः' इति विष्णुस्मरणात् । पुरप्रमाण-संभेदाः— पुरं प्रसिद्धं प्रमाणानि साधनानि हस्त्यश्व-रथपदातिप्रभृतीनि तेषां संभेदः शत्रूणां आवेदनं मर्मो-द्घाटनमिति यावत् । प्रकृतीनां त्वमात्यानां परस्पर-पैशुन्यकथनेन भेदकरणम् । तथा च संवर्तः–'अमा-त्यानां च पैशुन्ये पुरमानप्रभेदने । मध्यमं चोत्तमं चैव दण्ड एष क्रमोदितः ॥' इति । यथाक्रमं प्रकृतीनां पैशुन्ये मध्यमसाहसं पुरप्रमाणमर्मकथने उत्तमसाहसं दण्ड्यः । चकाराच्छारीरो दण्डो यथार्हं इति । अत्र पैशुन्यशब्दः भावे ष्यन्तः । पिशुनस्य भावः पैशुन्यम् ।

पाषण्डनैगमश्रेणिगणधर्मविपर्यया इति । अस्यार्थः– पाषण्डिनां धर्माः पट्टणे अस्मिन् स्थले पाषण्डिनः स्थापयितव्याः, नैगमा अपि श्रेणयोऽपि गणा अपीत्यादिप्रतिनियतस्थलावस्थानानि धर्माः तेषां विपर्ययो न तु कुङ्कुमवसन्तान्दोलिकादयस्तेषां समयानपाकर्माख्ये प्रतिपादितत्वात् । तेषां विवादानां वादिप्रतिवादिसद्भावे चतुर्व्याप्तित्वसद्भावात् राजैकनियतत्वाभावाच्च ।

पितापुत्रविवादश्चेति । अयमर्थः– यः कश्चिद्बन्दीकृतो वा देशान्तरगतो वा चिरकालमपि स्थित्वा समागत्यासौ मम पिता असौ पुत्र इत्यादि, पितृपुत्रग्रहणं पत्न्यादीना-मुपलक्षकम् । असौ मम पतिरियं पत्नीत्यादि, अत्र साक्षिणो न सन्ति स्वयं तु न जानन्ति दिव्यादिकं नाव-नरति शपथादिभिः शोधयितुमनुचितमिति, अतश्च राजैकनियतत्वात् राज्ञैव निर्णयः कार्य इति । पितापुत्र-संशये निर्णयप्रकारमाह विष्णुः– 'पुत्रसंशये माता तमङ्कमारोपयेद्विकृतिश्चेन्निर्णेतव्यः' इति । विकृतिः काम-विकारः । तद्विंशतिवर्षीयमातृकपञ्चदशवर्षीयपुत्रविष-यम् (?)। वृद्धमातृविषये तदभावान्निर्णयान्तरमाहतुः शङ्ख-लिखितौ– 'स्वपन्तं पुत्रमाहूय ज्ञातव्यम्' इति । एकेना-पि प्रकारेण निर्णयाभावे अभिषिक्तस्य राज्ञो हृदयमेव

(र्णके); व्यक. १६३; स्मृच. ९,३३२; ममु. ८।८ उत्त.; विर. ६२२; पमा. ५७९; व्यनि. ५२३ दोषश्च (हेतुश्च) शेषं नासंवत्; दवि. ३५,१२२ उत्त. : २६२ पू.; सवि. ४९६ वर्ण (धर्म); व्यप्र. ५६९ त्तिनि (त्तिर्नि); व्यउ. १६४; विता. ८३६ उत्त.; समु. १६५.

प्रमाणमित्याह विष्णुः— 'अत्र राज्ञो हृदयमेव प्रमाणम्' इति। अत एवाह कालिदासः— 'सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणस्य वृत्तयः' इति। प्रायश्चित्तव्यतिक्रम इत्यस्यार्थः— प्रायश्चित्तकरणव्यतिक्रमः। तद्व्यतिक्रमे प्रायश्चित्तं कारयितव्यमिति प्रायश्चित्तकरणस्य राजैकनियतत्वात् राज्ञैव प्रायश्चित्तं कार्यमिति। तथा च देवलः— 'कृच्छ्राणां दापको राजा निर्दिष्टो धर्मपालकः' इति। महापापेषु कृच्छ्राणां प्रायश्चित्तानां दापको राजा भवति। ब्रह्महत्यादिप्रायश्चित्तेषु राजाज्ञां विना द्विजाद्यैः प्रायश्चित्तं न प्रवर्तयितव्यमित्यर्णवकारः।

प्रतिग्रहविलोपश्चेति प्रतिग्रहशब्देन स्वाध्यायग्रहणं लक्ष्यते। परकृतोपसर्गात्त्रैविद्यवृद्धानामाक्रोशं वेदाध्ययनविषयं कृत्वा तत्परिपालनं कर्तव्यम्। तस्य राजैकनियतत्वात्।

लोप आश्रमिणामपीति, अस्यार्थः— आश्रमिणां ब्रह्मचारिगृहिवानप्रस्थयतीनां तद्विशेषाणां कुटीचकबहूदकहंसपरमहंसानां एकतीर्थ्यादीनां लोपः तद्धर्मलोपः स च निर्वाह्यः। यतीनां मध्ये यस्तु भ्रष्टः स तु राज्ञो दास इति पूर्वमेव प्रतिपादितत्वात् तदेतद्विषयं न भवतीत्यवगन्तव्यम्।

सर्वसंकरदोषः स्पष्ट एव। तद्वृत्तिनियमः सोऽपि स्पष्टः। न दृष्टं यच्च पूर्वेष्विति। अयमर्थः— यस्तु ग्रामेऽभिशस्तः प्रत्यर्थी नास्ति ग्रामीणास्तु अभिशाप इति वदन्ति तत्र राज्ञा निर्णयः कार्य इत्याद्यूह्यम्।

सवि. ४९६-९

(५) राजाश्रया व्यवहाराः प्रकीर्णकेऽस्मिन् विवादपदे। एते व्यवहाराः— राजाज्ञाप्रतीघातस्तस्य यत्कर्म तत्करणं स्वयं निग्रहकरणं तेन वा यत् कर्म कर्तव्यं एवं चैवं चेति। एते एवमादयः। पूर्वेषु च वादेषु यन्नोक्तमृणादानादिषु परीक्षोपायादि तत्सर्वं प्रकीर्णके द्रष्टव्यम्। यथैवैते दोषा न संभवन्ति, तथा कर्तव्यमित्येष संक्षेपः।

नाभा. १९।१-४ (पृ. १७३)

राज्ञा चतुर्वर्णाश्रमो लोकः स्वकर्मणि स्थाप्यः प्रतिषिद्धाच्च निवारणीयः

राजा त्ववहितः सर्वानाश्रमान् परिपालयेत्।
उपायैः शास्त्रविहितैश्चतुर्भिः प्रकृतीस्तथा *॥
यो यो वर्णोऽवहीयेत यश्चोद्रेकमनुव्रजेत्।
तं तं दृष्ट्वा स्वतो मार्गात्प्रच्युतं स्थापयेत्पथि*॥
अशास्त्रोक्तेषु चान्येषु पापयुक्तेषु कर्मसु।
प्रसमीक्ष्यात्मना राजा दण्डं दण्ड्येषु पातयेत्*॥

राजेति। चतुर्भिः सामादिभिः। गतार्थः शेषः। यो य इति। यो यो वर्णः स्वमार्गादपहीयेत उत्सृजेत्, यो वोद्रेकं गच्छेत्, तं तं नियम्यानुगृह्य स्वमार्गे स्थापयेत्।

अशास्त्रोक्तेष्विति। अशास्त्रोक्तेषु प्रवर्तमानेष्वनुरूपं दण्डं धारयेत्। नाभा. १९।५-७ (पृ. १७३)

श्रुतिस्मृतिन्यायाविरोधिराजशासनं प्रवर्तननिवर्तनात्मकम्

श्रुतिस्मृतिविरुद्धं च भूतानामहितं च यत्।
न तत् प्रवर्तयेद्राजा प्रवृत्तं च निवर्तयेत् +॥
न्यायापेतं यदन्येन राज्ञाऽज्ञानकृतं भवेत्।
तदप्यन्यायविहितं पुनर्न्याये निवेशयेत् +॥
राज्ञा प्रवर्तितान् धर्मान् यो नरो नानुपालयेत्।
दण्ड्यः स पापो वध्यश्च लोपयन् राजशासनम् ÷॥

कारुशिल्पिप्रभृतीनां वृत्तिसाधनानि न हरणीयानि

आयुधान्यायुधीयानां वाह्यादीन् वाह्यजीविनाम्।
वेश्यास्त्रीणामलङ्कारान् वाद्यातोद्यादि तद्विदाम् ×॥
यच्च यस्योपकरणं येन जीवन्ति कारुकाः।
सर्वस्वहरणेऽप्येतत् न राजा हर्तुमर्हति ×॥

---

* स्थलादिनिर्देशः दण्डमातृकाप्रकरणे (पृ. ५८६) द्रष्टव्यः।

\+ स्थलादिनिर्देशः दर्शनविधिप्रकरणे (पृ. ९०) द्रष्टव्यः। 'न्यायापेतं' इत्यस्य नाभा.व्याख्यानं दण्डमातृकाप्रकरणे (पृ. ५८६) द्रष्टव्यम्। व्याख्यानान्तराणि च दर्शनविधौ कात्यायने (पृ. १०४) द्रष्टव्यानि।

÷ स्थलादिनिर्देशः दण्डमातृकाप्रकरणे (पृ. ५८७) द्रष्टव्यः।

× व्याख्यासंग्रहः स्थलादिनिर्देशश्च दण्डमातृकाप्रकरणे (पृ. ५९०-९१) द्रष्टव्यः।

राजशासनं लोकैर्नातिक्रमणीयम्। राजदण्डप्रयोजनम्।
राजशासनप्रामाण्यम्।

अनादिश्चाप्यनन्तश्च द्विपदां पृथिवीपतिः।
दीप्तिमत्त्वाच्छुचित्वाच्च यदि स्यान्न पथश्च्युतः*॥
यदि राजा न सर्वेषां नियतं दण्डधारणम्।
कुर्यात्पथो व्यपेतानां विनश्येयुरिमाः प्रजाः॥
ब्राह्मण्यं ब्राह्मणो हन्यात् क्षत्रियः क्षात्रमुत्सृजेत्।
स्वकर्म जह्याद् वैश्यश्च शूद्रः सर्वान् विशेषयेत्॥
राजानश्चेन्नाभविष्यन् पृथिव्यां दण्डधारणे।
शूले मत्स्यानिवापक्ष्यन् दुर्बलान् बलवत्तराः॥
सतामनुग्रहो नित्यमसतां निग्रहस्तथा।
एष धर्मः स्मृतो राज्ञामर्थश्चापीडयन् प्रजाः॥
न लिप्यते यथा वह्निर्दहन् शश्वदिमाः प्रजाः।
तथा न लिप्यते राजा दण्डं दण्ड्येषु पातयन्॥
आज्ञा तेजः पार्थिवानां सा च वाचि प्रतिष्ठिता।
ते यद् ब्रूयुरसत्सद्वा स धर्मो व्यवहारिणाम्॥
राजा नाम चरत्येष भूमौ साक्षात् सहस्रदृक्।
न तस्याज्ञां व्यतिक्रम्य संतिष्ठेरन् प्रजाः क्वचित्॥
रक्षाधिकारादीशत्वाद् भूतानुग्रहदर्शनात्।
यदेव कुरुते राजा तत्प्रमाणमिति स्थितिः॥
विगुणोऽपि यथा स्त्रीणां पूज्य एव पतिः सदा।
प्रजानां विगुणोऽप्येवं पूज्य एव नराधिपः॥
राज्ञामाज्ञाभयाद्यस्मान्न च्यवेरन् पथः प्रजाः।
व्यवहारादतो ज्ञेयं संवृत्तं राजशासनम्॥
स्थित्यर्थं पृथिवीपालैश्चरित्रविषयाः कृताः।
चरित्रेभ्योऽस्य तत्प्राहुर्गरीयो राजशासनम्॥
तपःक्रीताः प्रजा राज्ञा प्रभुरासीत् ततो नृपः।
तस्मात्तद्वचसि स्थेयं वार्ता चासां तदाश्रया॥

देवकार्यकरणात् देवतामयो राजा, तस्य कर्तव्यानि

पञ्च रूपाणि राजानो धारयन्त्यमितौजसः।
अग्नेरिन्द्रस्य सोमस्य यमस्य धनदस्य च+॥
कारणान्निर्निमित्तं वा यदा क्रोधवशं गतः।
प्रजा दहति भूपालस्तदाग्निरभिधीयते॥
यदा तेजः समालम्ब्य विजगीषुरुदायुधः।
अभियाति परान् राजा तदेन्द्रः समुदाहृतः॥
विगतक्रोधसंतापो हृष्टरूपो यदा नृपः।
प्रजानां दर्शनं याति सोम इत्युच्यते तदा॥
धर्मासनगतः श्रीमान् दण्डं धत्ते यदा नृपः।
समः सर्वेषु भूतेषु तदा वैवस्वतो यमः॥
यदातिथिगुरुप्राज्ञान् भृत्यादीनवनीपतिः।
अनुगृह्णाति दानेन तदा स धनदः स्मृतः॥
तस्मात्तं नावजानीयान्नाक्रोशेच्च विशेषतः।
आज्ञायां चास्य तिष्ठेत मृत्युः स्यात्तद्व्यतिक्रमे॥
तस्य वृत्तिः प्रजारक्षा वृद्धप्राज्ञोपसेवनम्।
दर्शनं व्यवहाराणामात्मनश्चाभिरक्षणम्॥

ब्राह्मणसेवा राजधर्मः

ब्राह्मणानुपसेवेत नित्यं राजा समाहितः।
संयुक्तं ब्राह्मणैः क्षत्रं मूलं लोकाभिरक्षणे+॥

ब्राह्मणस्य विशेषाधिकाराः

ब्राह्मणस्यापरीहारोऽजघन्यासनमग्रतः।
प्रथमं दर्शनं प्रातः सर्वेषां चाभिवादनम्×॥
अग्रं नवेभ्यः सस्येभ्यो मार्गदानं च गच्छतः।
भैक्षहेतोः परागारे प्रवेशश्चानिवारितः॥
समित्पुष्पोदकादानेष्वस्तेयं सपरिग्रहात्।
अनाक्षेपः परेभ्यश्च संभाषश्च परस्त्रिया॥
नदीष्ववेतनस्तारः पूर्वमुत्तारणं तथा।
तरेष्वशुल्कदानं च न चेद् वाणिज्यमस्य तत्॥
वर्तमानोऽध्वनि श्रान्तो गृह्णन्नेकाशनः स्वयम्।
ब्राह्मणो नापराप्नोति द्वाविक्षू पञ्च मूलिकान्॥
नाभिशस्तान्न पतितान्न द्विषो न च नास्तिकात्।
न सोपधान्नानिमित्तं न दातारं प्रपीड्य च॥

---

* 'अनादिश्चाप्यनन्तश्च' इत्यारभ्य 'तपःक्रीताः प्रजा राज्ञा' इत्यन्तानां श्लोकानां व्याख्यानं स्थलादिनिर्देशश्च दण्डमातृकाप्रकरणे (पृ. ५८७) द्रष्टव्यः।

+ 'पञ्च रूपाणि' इत्यारभ्य 'तस्य वृत्तिः प्रजारक्षा' इत्यन्तानां श्लोकानां व्याख्यानं स्थलादिनिर्देशश्च दण्डमातृकाप्रकरणे (पृ. ५८८) द्रष्टव्यः।

+ व्याख्यानं स्थलादिनिर्देशश्च दण्डमातृकाप्रकरणे (पृ. ५८८) द्रष्टव्यः।

× 'ब्राह्मणस्यापरीहारो' इत्यारभ्य 'वर्तमानोऽध्वनि' इत्यन्तानां श्लोकानां व्याख्यासंग्रहः स्थलादिनिर्देशश्च दण्डमातृकाप्रकरणे (पृ. ५९१) द्रष्टव्यः।

(१) नासं. १९।३८; नास्मृ. २०।४० न च (नापि) उत्तरार्धे (नोपसन्नान्निर्निमित्तं दातारं न प्रपीड्य च).

ब्राह्मणेन ग्राह्यमित्युक्तं, तदपवादः । अभिशस्तान्न ग्राह्यम् । न पतितात् । न द्विषः वैरिणः नास्तिकाच्च । भिन्नमर्यादो हि स भवति । सोपधाच, व्याजेन यो जीवति, सः । अनिमित्तं च । यज्ञादिनिमित्तमुद्दिश्य यो ददाति, तस्यापीडया ग्राह्यम् । न ददातीत्येव सर्वम् ।
नाभा. १९।३८(पृ. १७८)

आपदि ब्राह्मणवृत्तिः

**आपत्स्वनन्तरा वृत्तिर्ब्राह्मणस्य विधीयते ।**
**वैश्यवृत्तिस्ततश्चोक्ता न जघन्या कथञ्चन ॥**

(१) इदानीं आपद्ब्राह्मणवृत्तिरुच्यते— आपत्स्विति । ब्राह्मणस्य आपत्सु स्वकीयवृत्त्या कुटुम्बावर्तनपीडासु अनन्तरवृत्तिरविरुद्धा । क्षत्रियवृत्तिरित्यर्थः । तथा अवृष्ट्या कुटुम्बावर्तनपीडासु वृत्त्यसंभवे ततो वैश्यवृत्तिरुक्ता । न जघन्या कथमपि शूद्रवृत्तिर्न तस्येति ।
अभा. ४५

(२) आपत्प्रदर्शनार्थमुच्यते । आपत्स्विति बहुवचननिर्देशान्नैकस्यामापदीति गम्यते । अजीवनावस्थायामित्यर्थः । तथाऽन्यत्राप्युक्तम्— 'अजीवन्तस्स्वधर्मेणानन्तरां पापीयसीं वृत्तिमातिष्ठेयुरि'ति । अनन्तरा ब्राह्मणस्य क्षत्रियवृत्तिः, सा विधीयते । क्षत्रवृत्ती राजधर्मेषूक्ता । तत इति । तयाऽप्यजीवतो वैश्यवृत्तिरुक्ता । न जघन्या शूद्रवृत्तिः कस्याञ्चिदापदि । जघन्यशब्दो ब्राह्मणवृत्त्यपेक्षया सर्वासां जघन्यत्वेऽपि सति द्वयोरनुज्ञातत्वाद् वैश्यवृत्त्यनन्तरवचनाच्च शूद्रवृत्तिविषयः ।
नाभा. २।५२ (पृ. ३६)

**न कथञ्चन कुर्वीत ब्राह्मणः कर्म वार्षलम् ।**
**वृषलः कर्म न ब्राह्मं पतनीये हि ते तयोः ॥**

(१) वृषलशब्देन शूद्र उच्यते । तस्य कर्म सर्वाशित्वं सर्वविक्रयत्वं च । एतद्वार्षलं कर्म ब्राह्मणः कथमपि आपद्गतोऽपि न कुर्यात् । तथा ब्राह्मणस्य यत्कर्म तत् शूद्रः सन् यज्ञोपवीतवेदाध्ययनव्याहृतिहोमादिकं न कथञ्चन कुर्वीत । पतनीये हि ते तयोः । इतरेतरविरुद्धकर्मणा । तयोर्ब्राह्मणवृषलयोः । पतनीये भवत इत्यर्थः ।
अभा. ४५

(२) ब्राह्मणस्य वृषलवृत्तिनिषेधार्थे 'न जघन्ये'ति निषिद्धोऽर्थः पूर्वेणार्धेनानूद्यते । उत्कृष्टस्य निकृष्टकर्मप्रतिषेधात् निकृष्टस्योत्कृष्टकर्म गुणवत् स्यादिति तन्निवृत्त्यर्थमाह न केनचिदपि प्रकारेण शौद्रं कर्म ब्राह्मणः कुर्वीत शुश्रूषादि, शूद्रोऽपि तथैव ब्राह्मणकर्माध्यापनादि । यथा ब्राह्मणस्य शूद्रकर्म पतनीयं, तथा शूद्रस्यापि ब्राह्मणकर्म । शूद्रस्य ब्राह्मणकर्मप्रतिषेधात् क्षत्रियवैश्ययोरापदि अध्यापनाद्यस्तीति गम्यते । तथा च श्रुतावप्युक्तं— 'स ह श्वोभूते समित्पाणिः केशिनी राजानमाजगामे'ति । नाभा. २।५३ (पृ. ३६)

**उत्कृष्टं चापकृष्टं च तयोः कर्म न विद्यते ।**
**मध्यमे कर्मणी हित्वा सर्वसाधारणे हि ते ॥**

(१) शूद्रस्य ब्राह्मं उत्कृष्टं, ब्राह्मणस्य शूद्रकर्मापकृष्टम् । तत एव तयोस्ते कर्मणी निषिद्धे । ये तु मध्यमे द्वे कर्मणी क्षत्रवृत्तिर्वैश्यवृत्तिश्च एते ब्राह्मणस्यापि क्वचिदापत्काले विहिते । शूद्रस्यापि क्वचिदधिकापत्काले विहिते इति ।
अभा. ४५

(२) उत्कृष्टनिकृष्टे ब्राह्मणशूद्रयोः कर्मणी न विद्येते । नोभे उभयोर्निषिध्येते । ब्राह्मणस्यापकृष्टं शूद्रस्योत्कृष्टम् । कुत एतत् । द्वयोरात्मीययोर्विहितत्वात् । पूर्वोक्त एवायमर्थः प्रयत्नेन वर्जनार्थः । मध्यमे कर्मणी हित्वा वर्जयित्वा सर्वेषां त्रयाणां साधारणत्वात् तयोरापदि अनापदीति विशेषः । सर्वग्रहणाद् ब्राह्मणकर्मणः शूद्रस्य पतनीयवचनाच्च कृष्यादि पालनादि च शूद्रस्यापि कस्यांचिदवस्थायां अनुजानाति । नाभा. २।५४ (पृ. ३६)

**आपदं ब्राह्मणस्तीर्त्वा क्षत्रवृत्त्या भृते जने ।**
**उत्सृजेत् क्षत्रवृत्तिं तां कृत्वा पावनमात्मनः ॥**

(१) यदा आपदा ब्राह्मणः क्षत्रियवृत्तिं कारितः, तामापदं तीर्त्वा तां क्षत्रियवृत्तिमुत्सृजेत् । कृत्वा पावनमात्मनः । ब्राह्मणेषु प्रसह्य प्रायश्चित्तं भवतीत्यर्थः ।
अभा. ४५

(१) नासं. २।५२; नास्मृ. ४।५६; अभा. ४५.

(२) नासं. २।५३ ये हि ते (यौ हि तौ); नास्मृ. ४।५७; अभा. ४५.

(१) नासं. २।५४; नास्मृ. ४।५८; अभा. ४५.

(२) नासं. २।५५; नास्मृ. ४।५९ वृत्त्या भृते जने (वृत्त्यर्जितैर्धनैः); अभा. ४५ भृते (श्रिते).

(२) आपत्सु ब्राह्मणः क्षत्रवृत्तिमाश्रयेदित्युक्तं, तत् कियन्तं कालमिति न ज्ञायते इत्यतो विशिनष्टि। आपदं तीर्त्वाऽतिक्रम्य। क्षत्रवृत्त्या भृते जने, क्षत्रवृत्त्येत्येतद् भृते जन इत्यनेनापि संबध्यते। आपदां तरणं देवपितृकर्माद्यनुष्ठानं कृत्वा कलत्रं च भृत्वा जीवयित्वाऽतिक्रान्तायामापद्युत्सृजेत् क्षत्रवृत्तिम्। यथा आरोग्यार्थमौषधपानं रोगनिवृत्तावुत्सृज्यते, तथोत्सृज्य। पावनं शुद्धिं प्रायश्चित्तं, पूयते येन तत् पावनम्। यदत्रोक्तं तत् कुर्यात्।
नाभा. २।५५ (पृ. ३७)

**तस्यामेव तु यो वृत्तौ ब्राह्मणो रमते सदा।**
**काण्डपृष्ठश्च्युतो मार्गादपाङ्क्तेयः प्रकीर्तितः॥**

(१) यः पुनस्तत्रैव रतिं बध्नाति स ब्राह्मणः काण्डपृष्ठ इति। पतितः क्षत्रिकः पतिताका स्त्रीवत्(?)। स्वर्गात् च्यवतेऽसौ, पितृश्राद्धकर्मादिषु अपाङ्क्तेयः प्रकीर्तितः।
अभा. ४५

(२) यो नोत्सृजत्यतिक्रान्तायामापदि, तस्यामेव क्षत्रवृत्तौ रमते रसात् तत्सुखास्वादात्, काण्डपृष्ठ आयुधजीवित्वं आपन्नः क्षत्रियभूत इत्यर्थः। मार्गाद् ब्राह्मणधर्मात् च्युतः प्रतिसिद्धसेवनाद् अपाङ्क्तेयः। काण्डपृष्ठ इति स उक्तः। एतेन वैश्यवृत्तिरपि व्याख्याता— अस्यामप्येषा गतिः किं पुनर्वैश्यवृत्तिरिति।
नाभा. २।५६ (पृ. ३७)

[२]**वैश्यवृत्तावविक्रेयं ब्राह्मणस्य पयो दधि।**
**घृतं मधु मधूच्छिष्टं लाक्षाक्षाररसासवाः॥**
**मांसौदनतिलक्षौमसोमपुष्पफलोपलाः।**
**मनुष्यविषशस्त्राम्बुलवणापूपवीरुधः॥**
**चेलकौशेयचर्मास्थिकुतपैकशफा मृदः।**
**उदश्वित्केशपिण्याकशाकार्द्रौषधयस्तथा॥**

(१) अत्र प्रसिद्धानि प्रतीतानि। मधूच्छिष्टं तुच्छकं मदनं (तुच्छकमदनं) च तदुच्यते (?)। क्षारा गुडाद्याः। रसा घृततैलाद्याः। आसवः सुरा। ओदनः कूरः। क्षौमं तसरः। सोमः यज्ञद्रव्यम्। उपलाः पाषाणाः। मनुष्यः पुरुषः। अम्बु पानीयम्। अपूपाः पक्वान्नम्। वीरुधः गुल्मलतादयः। कौशेयं पट्टसूत्रम्। कुतपं ऊर्णासंभूतम्। एकशफाः एकसंततखुरा अश्वसमाः। उदश्वित्तक्रम्। केशाः चमराद्याः। पिण्याकः खलः। शाकानि आर्द्रौषधयः, एतद् ब्राह्मणस्याविक्रेयम्। श्लोकत्रयोद्दिष्टमिति।
अभा. ४६

(२) वैश्येति। वैश्यवृत्त्या यदा जीवति, तदा अपवाद उच्यते। पयआदीन्यविक्रेयाणि। एतस्मादेव गम्यते वैश्यस्य पयआदिविक्रये न दोष इति। मधूच्छिष्टं सिक्थम्। क्षारा गुडादयः। रसास्तैलादयः। आसवः सुरा।

मांसौदनेति। क्षौमग्रहणात् कार्पासानामदोषः। सोमो यज्ञे न विक्रेयः। उपला रत्नादयो दृषदन्ताः। वीरुधो लतावल्ल्यः। नील्या रक्तं नीलं वस्त्रादि। कोशसंभूतं कौशेयम्। छागरोमभिः क्रियते प्रस्तरणं कुतपः। एकशफा अश्वादयः। मृद्ग्रहणादन्येषां पार्थिवानां हरितालादीनामदोषः। केशाश्चामरादयः। शाकाद्या ओषधयः। ओषध्यः फलपाकान्ताः। नाभा. २।५७–९ (पृ. ३७-८)

**ब्राह्मणस्य तु विक्रेयं शुष्कं दारु तृणानि च।**
**गन्धद्रव्यैरकावेत्रतूलमूलकुशादृते॥**

(१) ब्राह्मणस्य तु वैश्यवृत्तावपि वर्तमानस्य शुष्कदारूणि तृणानि च शुष्काणि विक्रेयाणि। तत्र गन्धद्रव्यं उशीरवालकमुस्ताद्यम्। एरका पर्णिपुष्पग्रन्थीनि। वेत्रतूलमूलकुशाश्च प्रसिद्धाः। एतान् विना ऋते।
अभा. ४६

(२) अविक्रेयवचनादेव शेषाणां विक्रेयत्वेऽवगतेऽपि विक्रेयवचनं विक्रेयप्रदर्शनार्थम्। एवं च किलाटकूर्चिकादीनां प्रतिषेधः सिद्धो भवति। ब्राह्मणस्य तु विक्रेयमुच्यते— शुष्कदारु तृणानि च। अनेनोत्सर्गेण प्राप्तानां प्रतिषेध उच्यते— गन्धद्रव्याणि चन्दनागरुकालेयकादीनि, एरका, तूलं शाल्मलीतूलादि, मूलं कन्दादि, तुषम्। एतेभ्यो विना। नाभा. २।६० (पृ. ३८)

[२]**स्वयं शीर्णं च विदलं फलानां बदिरेङ्गुदे।**
**रज्जुः कार्पासिकं सूत्रं तच्चेदविकृतं भवेत्॥**

(१) **नासं.** २।५६ ब्राह्म...सदा (रमते ब्राह्मणो रसात्) दधा (त्सोऽपा); **नास्मृ.** ४।६०; **अभा.** ४५.

(२) **नासं.** २।५७-९ चेल (नील) द्रौष (धौष); **नास्मृ.** ४।६१-३ वृत्तावविं (वृत्त्या चावि); **अभा.** ४५.

(१) **नासं** २।६० शुष्कं (शुष्क) कावेत्र (कालेय) कुशा (तुषा); **नास्मृ.** ४।६४; **अभा.** ४६.

(२) **नासं.** २।६१ शीर्णं च (विशीर्णं) बदिरे (बदरे); **नास्मृ.** ४।६५; **अभा.** ४६.

(१) अत्र स्वयं शीर्णं च यदन्यदपि फलं किञ्चित्पतितं भवति। तथा विदलं मुद्गमाषाढकीवल्ल्याद्यम्। फलाद्यं फलानां मध्ये बदिराणि इङ्गुदानि च। रज्जुः वलिवसुवादिकम्। तथा यच्च कार्पासोद्भवं सूत्रं तद्यदि अविकृतं रक्तं न भवेत्। एतानि ब्राह्मणस्य विक्रेयाणीति। अभा. ४६

(२) विक्रेयमित्यनुवर्तते। स्वयं विशीर्णं वंशादि, ओषधीग्रहणेन प्रतिषिद्धस्य पुनः प्रतिप्रसवः फलत्वात् प्रतिषिद्धयोर्बदरैङ्गुदयोरनुज्ञा। रज्जुः शुल्बादि। कार्पासिकं सूत्रम्। भेदेन वा कार्पासिकं वस्त्रादि। एवञ्च क्षौमप्रतिषेधोऽर्थवान् भवति। सूत्रमविशेषेण। तदुभयमविकृतं यदि भवति लाक्षाकुसुम्भादिरक्तं यदि न भवति। नाभा. २।६१ (पृ. ३८)

अशक्तौ भेषजस्यार्थे यज्ञहेतोस्तथैव च।
यद्यवश्यं तु विक्रेयास्तिला धान्येन तत्समाः॥[१]

(१) अत्र तिला यथा अन्यद्धान्यं विक्रेयम्। तथा तेऽपि तिला धान्यसमा एव यज्ञार्थमभ्यनुज्ञाताः। अथवा अशक्तौ अपाटवे भेषजार्थं चेति। अभा. ४६

(२) अशक्तौ व्याधितः औषधार्थे यज्ञसिद्ध्यर्थं च विक्रीयमाणेषु तिलेषु असंभवे अवश्यं विक्रेयत्वे तिला धान्येन समा विक्रेयाः। प्रतिषिद्धानां विशिष्टे विषये प्रतिप्रसवः। नाभा. २।६२ (पृ. ३८)

अविक्रेयाणि विक्रीणन् ब्राह्मणः प्रच्युतः पथः।
मार्गे पुनरवस्थाप्यो राज्ञा दण्डेन भूयसा॥[२]

(१) अत्र यानि अविक्रेयाणि निर्दिष्टानि तानि विक्रीणन् ब्राह्मणो मार्गच्युतो भवति। स च राज्ञा पुनरपि मार्गे संस्थापनीयः। महता दण्डेनेति। इति ऋणादाने आपद्ब्राह्मणवृत्तिः। अभा. ४६

(२) अविक्रेयाणि प्रतिषिद्धानि विक्रीणानो ब्राह्मणः प्रच्युतः स्वमार्गात् स्वधर्माद् राज्ञा पुनः स्वधर्मेऽवस्थापयितव्यः, भूयसा दण्डेन। भूयोग्रहणं न दण्डमात्रार्थं, यावता दण्डेन भीतो न भूयो विक्रीणीते तावतेति। नाभा. २।६३ (पृ. ३८)

(१) नासं. २।६२; नास्मृ. ४।६६; अभा. ४६.

(२) नासं. २।६३; नास्मृ. ४।६७; अभा. ४६.

ब्राह्मणस्य वृत्तिः राजप्रतिग्रहेण प्रशस्ता। राजधनप्रशंसा।

अर्थानां भूरिभावाच्च देयत्वाच्च महात्मनाम्।
श्रेयान् प्रतिग्रहो राज्ञामन्येभ्यो ब्राह्मणादृते॥[१]

राज्ञामर्थानां प्रभूतत्वादवश्यं देयत्वाच्च महात्मानः स्वार्थं द्रव्यमार्जयन्ति। तस्मात् पीडाभावाद् राज्ञः सकाशाच्छ्रेयान् प्रतिग्रहो ब्राह्मणस्यान्येभ्यः। ब्राह्मणात्तु ततोऽपि श्रेयान्। नाभा. १९।३९ (पृ. १७९)

ब्राह्मणश्चैव राजा च द्वावप्येतौ धृतव्रतौ।
नैतयोरन्तरं किञ्चित् प्रजाधर्माभिरक्षणात्॥[२]

ब्राह्मणाच्च राज्ञश्च प्रतिग्रहः प्रशस्यतर इत्युक्तः। तत्र कारणमुच्यते। द्वावप्येतौ धृतव्रतौ। नानयोर्विशेषोऽस्ति प्रजारक्षणात्, एकः पालनेन इतरो धर्मोपदेशेन। नाभा. १९।४० (पृ. १७९)

धर्मज्ञस्य कृतज्ञस्य रक्षार्थं शासतोऽशुचीन्।
मेध्यमेव धनं प्राहुस्तीक्ष्णस्यापि महीपतेः॥[३]

सदसदुपादानतो मेध्यमेव धनं प्राहुः। तीक्ष्णस्याप्यय(?)त्वादशुद्धं राज्ञो धनम्। तस्मान्नातः प्रतिग्रहः श्रेयानित्याशङ्कानिवृत्त्यर्थमाह—धर्मज्ञस्येत्यादि। साधूनां रक्षणार्थं अशुचीन् दण्डयतो यथोक्तकारिणोऽपि, किं पुनर्धर्मज्ञस्येति। धर्मज्ञस्य शुद्धमित्येवंपरमेतद्, न तीक्ष्णस्य शुद्धताप्रतिपादनार्थम्। तस्य प्रतिषिद्धत्वात्—'यो राज्ञः प्रतिगृह्णीयाल्लुब्धस्योच्छास्त्रवर्तिनः। स पर्यायेण यातीमान् नरकानेकविंशतिम्॥' इति। नाभा. १९।४१ (पृ. १७९)

यो राज्ञः प्रतिगृह्णाति लुब्धस्योच्छास्त्रवर्तिनः।
स पर्यायेण यातीमान्नरकानेकविंशतिम्॥[४]

शुचीनामशुचीनां च संनिपातो यथाम्भसाम्।
समुद्रे समतां याति तद्वद्राज्ञां धनागमः॥[५]

(१) नासं. १९।३९; नास्मृ. २०।४१ अर्थानां भूरि (अर्थिनां भूरी) प्रति (परि) ज्ञामन्येभ्यो (ज्ञां सर्वेषां).

(२) नासं. १९।४०; नास्मृ. २०।४२ धृत (दृढ) नैत (नान) धर्माभिरक्षणात् (धर्मेण रक्षतोः).

(३) नासं. १९।४१; नास्मृ. २०।४४.

(४) नासं. १९।४१ ह्लाति (ह्णीयात्) [ 'धर्मज्ञस्य कृतज्ञस्य' इत्यस्य व्याख्यानावसरे समुध्दृतोऽयं श्लोकः।]; नास्मृ. २०।४३.

(५) नासं. १९।४२ समुद्रे (स तत्र); नास्मृ. २०।४५ ज्ञां (ज्ञो).

अत्र दृष्टान्त उच्यते—शुचीनामिति । गतार्थः श्लोकः । नाभा. १९।४२ (पृ. १७९)

[1]यथा ह्यग्नौ स्थितं दीप्ते शुद्धिमायाति काञ्चनम् ।
एवं धनागमाः सर्वे शुद्धिमायान्ति राजसु ॥

द्वितीयो दृष्टान्तः—अग्नौ स्थितं दीप्ते अशुद्धमपि काञ्चनं निर्मलं शुद्धं भवति यथा, एवमेवागमा असदुपादाना अपि राजसु स्थिता राजपरिगृहीताः शुद्धा भवन्ति । नाभा. १९।४३ (पृ. १७९)

[2]य एव कश्चित्स्वद्रव्यं ब्राह्मणेभ्यः प्रयच्छति ।
तद्राज्ञाप्यनुमन्तव्यमेष धर्मः सनातनः ॥
[3]अन्यप्रकारादुचितात् भूमेः षड्भागसंज्ञितात् ।
बलिः स तस्य विहितः प्रजापालनवेतनम् ॥

राज्ञा अनुमन्तव्यमित्युक्तम् । तत्र कारात्, कारः करः, उचितात् षड्भागाद् धनान्ना (द?) नुमन्तव्यम् । विहितो बलिर्वृत्तिः स तस्य प्रजापालनवृत्तिः । तस्माद् राज्ञा नानुमन्तव्यम् । नाभा. १९।४५ (पृ. १८०)

[4]शक्यं तत्पुनरादातुं यन्न ब्राह्मणसात्कृतम् ।
ब्राह्मणाय तु यद् दत्तं न तस्याहरणं पुनः ॥

ब्राह्मणस्य करानुमानने हेतुः— ब्राह्मणादादातुमशक्यं यथा अन्येषां दत्तं शक्यं न तथा तस्य, पुनरादाने प्रत्यवायात् । षड्भागेन विना वृत्त्यभावात् ।
नाभा. १९।४६ (पृ. १८०)

[5]दानमध्ययनं यज्ञः कर्मास्योक्तं त्रिलक्षणम् ।
याजनाध्यापने वृत्तिस्तृतीयस्तु प्रतिग्रहः ॥

त्रीण्यदृष्टार्थानि कर्तव्यानि । त्रीणीच्छातो जीवनानि ।
नाभा. १९।४७ (पृ. १८०)

[1]स्वकर्मणि द्विजस्तिष्ठन् वृत्तिमाहारयेत् कृताम् ।
नासद्भ्यः प्रतिगृह्णीयात् वर्णेभ्यो नियमे सति ॥

स्वधर्मे ब्राह्मणस्तिष्ठन्, न क्षत्रधर्मादौ, कृतां विप्रः कामेनोक्तां वृत्तिं गृह्णीयात् । न वृत्तिसंकरं कुर्यात् । असद्भ्यो वर्णेभ्यो न प्रतिगृह्णीयात् । प्रशस्तेभ्य एव गृह्णीयादित्यर्थः । नियमे सति अनापदीत्यर्थः ।
नाभा. १९।४८ (पृ. १८०)

[2]अशुचिर्वचनाद्यस्य शुचिर्भवति पूरुषः ।
शुचिश्चैवाशुचिः सद्यः कथं राजा न दैवतम् ॥
[3]विदुर्य एव देवत्वं राज्ञो ह्यमिततेजसः ।
तस्य ते प्रतिगृह्णन्तो न लिप्यन्ते कथञ्चन ॥

अष्टौ मङ्गलानि

[4]लोकेऽस्मिन् मङ्गलान्यष्टौ ब्राह्मणो गौर्हुताशनः ।
हिरण्यं सर्पिरादित्य आपो राजा तथाष्टमः ॥
[5]एतानि सततं पश्येन्नमस्येदर्चयेच्च तान् ।
प्रदक्षिणं च कुर्वीत तथा ह्यायुर्न हीयते ॥

## बृहस्पतिः

प्रकीर्णकपदस्य लक्षणं तद्भेदाश्च

[6]एष वादिकृतः प्रोक्तो व्यवहारः समासतः ।
नृपाश्रयं प्रवक्ष्यामि व्यवहारं प्रकीर्णकम् ॥

(१) वादिकृतः अर्थिप्रत्यर्थिभ्यां राजनि मिथो विसंवादमावेद्य कृतः । स च ऋणादानादिद्यूतान्तविषयो न द्यूतमात्रविषय इति । एषशब्दोऽत्र प्रागुक्तसप्तदशपदान्तर्गताशेषगणे वर्तते, न पुनरनन्तरोक्तद्यूतसमाह्वयान्तर्गतविशेषेष्वेवावतिष्ठते । समासत इत्युभयत्र

---

(१) नासं. १९।४३ यथा ह्यग्नौ (यद्वा चाग्नौ) मायाति (माप्नोति) एवं धना (एवमेवा); नास्मृ. २०।४६.

(२) नासं. १९।४४ य एव (यद्वा च) त्स्वद्र (त्स्वं द्र); नास्मृ. २०।४७.

(३) नासं. १९।४५ प्रकारा (त्र कारा) वेतनम् (वेतनः); नास्मृ. २०।४८; व्यनि. ५३२-३ कारा (करा) संज्ञि (संस्थि).

(४) नासं. १९।४६ यन्न (यद); नास्मृ. २०।४९ दातुं (हर्तुं) णाय (णेभ्यः) तस्या (तस्य).

(५) नासं. १९।४७; नास्मृ. २०।५० स्तु (श्च).

(१) नासं. १९।४८; नास्मृ. २०।५१ पूर्वार्धे (स्वधर्मे ब्राह्मणस्तिष्ठेद्वृत्तिमाहारयेन्नृपात्) प्रति (परि).

(२) नासं. १९।४९; नास्मृ. २०।५२ पूरुषः (मानवः) सद्यः (सम्यक्).

(३) नासं. १९।५० य एव (यस्यैव) तस्य ते (तस्य हि) कथञ्च (कदाच); नास्मृ. २०।५३.

(४) नासं. १९।५१; नास्मृ. २०।५४.

(५) नासं. १९।५२; नास्मृ. २०।५५ च तान् (त्स्वयम्) तथा... ...ते (यथास्यायुः प्रवर्धते).

(६) व्यक. १६३; स्मृच. ३३१; विर. ६२१; दवि. २५९; सवि. ४९६; व्यप्र. ५६८; समु. १६५.

संबध्यते। नृपाश्रयं दुष्टचेष्टोपेताश्रयान्तरसापेक्षनृपाश्रयम्। एकाश्रयव्यवहाराभावात् प्रकीर्णकं प्रकीर्णकव्यपदेशयोगिनं, तद्योगश्च विप्रकीर्णानां नृपाश्रयाणामेकत्र संनिवेशात्। स्मृच. ३३१

(२) यद्यपि मनुष्यमारणादिव्यवहारा अपि नृपाश्रिता एव तथापि तेषु वादिप्रतिवादिभ्यां स्वस्वपक्षेषु दर्शितेषु विचार्य तयोरेकतरस्यापराधिनो राजानुशासनम्। प्रकीर्णके तु शिरोवादिनं विनाऽपि चरादिमुखाद्वर्णाश्रमिणां दोषं श्रुत्वा विचार्य तेषां यथाविहितं दण्डं विधाय धर्म्ये पथि स्थापनमित्येवास्य तेभ्यो भेदः। दवि. २५९-६०

(३) पूर्वेषु सप्तदशसु प्रकरणेषु व्यवहारस्य चतुर्व्यापित्वं प्रतिपादितम्। चतुर्व्यापित्वं नाम अर्थिप्रत्यर्थिसभ्यराजरूपान् अवयवान् चतुरो व्याप्नोतीति। अत्र प्रकीर्णकाख्ये राजैकनियतत्वमिति संगतिः। एष इति सप्तदशविवादपदात्मकः। सवि. ४९६

[१]षड्भागकरशुल्कं च गर्ते देयं तथैव च।
संग्रामचौरभेदी च परदाराभिमर्शकः॥
[२]गोब्राह्मणजिघांसा च शस्यव्याघातकृत्तथा।
एतान् दशापराधांस्तु नृपतिः स्वयमन्विषेत्॥
[३]निष्कृतीनामकरणमाज्ञासेधव्यतिक्रमः।
वर्णाश्रमविलोपश्च वर्णसंकरलोपनम्॥
[४]निधिर्निष्कुलवित्तं च दरिद्रस्य धनागमः।
एतांश्चारैः सुविदितान् स्वयं राजा निवारयेत्॥
[५]अनाम्नातानि कार्याणि क्रियावादांश्च वादिनाम्।
प्रकृतीनां प्रकोपश्च संकेतश्च परस्परम्॥

(१) व्यक. १६४; विर. ६२२ (=) षड्भाग (सद्भाग) मर्शकः (मर्दनम्); दवि. २६३ गकर (गस्तर) चतुर्थपादं विना.

(२) व्यक. १६४; विर. ६२३ (=); दवि. २६३ व्याघात (घातन) चतुर्थः पादः.

(३) व्यक. १६४ विलोपश्च (विरोधश्च); विर. ६२३ (=); दवि. २६३ श्रमविलो (श्रमाणां लो).

(४) व्यक. १६४; विर. ६२३ निष्कुल (निष्फल) (=); दवि. २६३ पू.

(५) व्यक. १६४; विर. ६२३ (=); दवि. २६३ वादांश्च (वादाश्च).

अशास्त्रविहितं यच्च प्रजायां संप्रवर्तते।
उपायैः सामभेदाद्यैरेतानि शमयेन्नृपः॥

अत्र षड्भागपदं प्रनष्टाधिगतसुवर्णादिपरं, तत्र राज्ञः षड्भागग्रहणसंबन्धात् वैश्वदेवमन्नमितिवत्। आज्ञासेधव्यतिक्रमः राजाज्ञया वादिनोर्यस्य आसेधोऽवरोधस्तस्य ताभ्यामतिक्रमणं तच्च व्यवहारवर्गे स्फुटम्। निधिर्द्विविधो वक्ष्यमाणलक्षणः। निष्कुलवित्तमुच्छन्नबन्धोर्मृतस्य धनं संबन्धिनो ग्राहकस्य दण्डहेतुरित्यर्थः। दरिद्रस्य धनागम आकस्मिकः, अन्यमुपायं विना निध्यादिलाभनिश्चयात् दण्डहेतुः। दवि. २६३

देशादिधर्मपालनम्

* देशजातिकुलानां च ये धर्माः प्राक्प्रवर्तिताः।
तथैव ते पालनीयाः प्रजा प्रक्षुभ्यतेऽन्यथा॥
जनापरक्तिर्भवति बलं कोशश्च नश्यति॥
उद्ह्यते दाक्षिणात्यैर्मातुलस्य सुता द्विजैः।
मध्यदेशे कर्मकराः शिल्पिनश्च गवाशिनः॥
मत्स्यादाश्च नराः पूर्वे व्यभिचाररताः स्त्रियः।
उत्तरे मद्यपा नार्यः स्पृश्या नृणां रजस्वलाः॥
खशजाताः प्रगृह्णन्ति भ्रातृभार्यामभर्तृकाम्।
अनेन कर्मणा नैते प्रायश्चित्तदमार्हकाः॥

## कात्यायनः

प्रकीर्णकपदस्य लक्षणं तद्भेदाश्च

[१]पूर्वोक्तादुक्तशेषं स्यादधिकारच्युतं च यत्।
[२]आहृत्य परतन्त्रार्थनिबद्धमसमञ्जसम्॥
[३]दृष्टान्तत्वेन शास्त्रान्ते पुनरुक्तक्रियास्थितम्।
अनेन विधिना यच्च वाक्यं तत्स्यात्प्रकीर्णकम्॥
[४]राजधर्मान् स्वधर्मांश्च संदिग्धानां च भाषणम्।
पूर्वोक्तादुक्तशेषं च सर्वं तत्स्यात्प्रकीर्णकम्॥

* व्याख्यासंग्रहः स्थलादिनिर्देशश्च दर्शनविधौ (पृ. १०१) द्रष्टव्यः। स्मृतिचन्द्रिकायां आचाराध्याये देशधर्मप्रकरणे (पृ. १०) एते श्लोकाः समुपलभ्यन्ते।

(१) व्यक. १६४; विर. ६२३ (=); दवि. २६३ प्रवर्तते (प्रकीर्त्यते).

(२) व्यक. १६३ न्त्रार्थ (न्त्राच); विर. ६२२.

(३) व्यक. १६३; विर. ६२२.

(४) व्यक. १६४ च भाषणम् (विशेषणम्) उत्तरार्धे

नृपाश्रितो व्यवहारः—राजोपजीविनां राजक्रीडासक्तानां राज्ञ अप्रियवक्तुश्च दण्डः

राजक्रीडासु ये सक्ता राजवृत्त्युपजीविनः ।
अप्रियस्य च यो वक्ता वधं तेषां प्रकल्पयेत् * ॥

देशादिधर्मपालनम्

× यद्यदाचर्यते येन धर्म्यं वाऽधर्म्यमेव वा ।
देशस्याचरणान्नित्यं चरित्रं तद्धि कीर्तितम् ॥
न्यायशास्त्राविरोधेन देशदृष्टेस्तथैव च ।
यं धर्मं स्थापयेद्राजा न्याय्यं तद्राजशासनम् ॥
धर्मं च व्यवहारं च चरित्रं चापि (?) लोपयेत् ।
स्थित्यैतत् स्थापयेद्राजा धर्म्यं तद्राजशासनम् ॥
प्रतिलोमप्रसूतेषु तथा दुर्गनिवासिषु ।
विरुद्धं नियतं प्राहुस्तं धर्मं न विचालयेत् ॥
तस्माच्छास्त्रानुसारेण राजा कार्याणि साधयेत् ।
वाक्याभावे तु सर्वेषां देशदृष्टमतं नयेत् ॥
यस्य देशस्य यो धर्मः प्रवृत्तः सार्वकालिकः ।
श्रुतिस्मृत्यविरोधेन देशदृष्टः स उच्यते ॥
गोत्रस्थितिस्तु या येषां क्रमादायाति धर्मतः ।
कुलधर्मं तु तं प्राहुः पालयेत्तं तथैव च ॥
लिङ्गिनः श्रेणिपूगाश्च वणिग्व्रातास्तथापरे ।
स्वधर्मेणैव कार्याणां कुर्युस्ते निश्चयं सदा ॥
देशपत्तनगोष्ठेषु पुरग्रामेषु वादिनाम् ।
तेषां स्वसमयैर्धर्मः शास्त्रतोऽन्येषु तैः सह ॥

## पितामहः

देशधर्मपालनम्

देशपत्तनगोष्ठेषु पुरग्रामेषु वासिनाम् ।
तेषां स्वसमयैर्धर्मशास्त्रतोऽन्येषु तैः सह + ॥

## व्यासः

नृपाश्रितो[१] व्यवहारः—उत्कोचजीविराजपुरुषाणां दण्डः

न्यायस्थाने येऽधिकृता गृहीत्वार्थं विनिर्णयम् ।
कुर्वन्त्युत्कोचकास्ते तु राजद्रव्यविनाशकाः * ॥
[२]उत्कोचजीविनो द्रव्यहीनान् कृत्वा विवासयेत् ॥

## देवलः

नृपाश्रितो व्यवहारः – प्रायश्चित्तनिर्देशो राज्ञा कार्यः

कृच्छ्राणां दापको राजा निर्देष्टा धर्मपालकः ॥

देशादिधर्मपालनम्

[३]येषु देशेषु ये देवा येषु देशेषु ये द्विजाः ।
येषु देशेषु यत्तोयं या च यत्रैव मृत्तिका ॥
येषु स्थानेषु यच्छौचं धर्माचारश्च यादृशः ।
तत्र तन्नावमन्येत धर्मस्तत्रैव तादृशः ॥
यस्मिन् देशे पुरे ग्रामे त्रैविद्ये नगरेऽपि वा ।
यो यत्र विहितो धर्मस्तं धर्मं न विचारयेत् ॥

## उशना

नृपाश्रितो व्यवहारः – राज्ञा करः कल्पनीयः

[४]देशकाललाभानुरूपतः करान् प्रकल्पयेत् ।
[५]शिल्पिनो मासि मासि कर्मैकं प्रोक्तं, तदभावे कार्षापणं वा दद्यात् ।

राजप्रशंसा

[६]प्रकृतीनां बलं राजा ।

---

(प्रागुक्ता ... ... शेषं. ... वक्ष्याम्येतत्प्रकीर्णकम्); **विर.** ६२२; **व्यनि.** ५२३ धर्मान् स्वधर्मांश्च (धर्मांश्च दण्डांश्च) च भाषणम् (विशेषतः) उत्तरार्धे (प्रागुक्तार्थस्य शेषं च वक्ष्याम्येतत्प्रकीर्णके); **दवि.** २६३ स्वध (त्वध) पू.; **सेतु.** २९१ च सर्वं ... ... र्णकम् (यत् तत्प्रकीर्णकमुच्यते) उत्त.; **समु.** १६५ धर्मान् स्वधर्मांश्च (धर्मांश्च दण्डांश्च) च भाषणम् (विशेषणम्) उत्तरार्धं व्यनिवत्, बृहस्पतिः.

* व्याख्यानं स्थलादिनिर्देशश्च साहसप्रकरणे (पृ. १६४९) द्रष्टव्यः ।

× व्याख्यासंग्रहः स्थलादिनिर्देशश्च दर्शनविधौ (पृ. १०३-४) द्रष्टव्यः ।

+ स्थलादिनिर्देशः दर्शनविधौ (पृ. १०५) द्रष्टव्यः ।

* व्याख्यानं स्थलादिनिर्देशश्च स्तेयप्रकरणे (पृ. १७६४) द्रष्टव्यः ।

(१) **स्मृच.** ३३२; **पमा.** ५८०; **समु.** १६५. [ वस्तुतस्तु नेदं व्यासवचनं याज्ञवल्क्ये अस्यार्धस्य समुपलभ्यमानत्वात् (यास्मृ. १।३३९) । ].

(२) **सवि.** ४९८. (३) **स्मृच.** १०.

(४) **मभा.** १०।२७. (५) **मभा.** १०।३१.

(६) **मेधा.** ८।४९.

## यमः

नृपाश्रितो व्यवहारः — पौराणिकधर्मप्रवर्तनम्

[१]यत्किञ्चित्कुरुते राजा शुभं वा यदि वाऽशुभम् ।
भृत्यास्तदनुकुर्वन्ति नर्तक्यो नर्तनं यथा ॥
तस्मात्पौराणिकान् धर्मान् निपुणैर्मन्त्रिभिः सह ।
प्रशिष्यात् नृपतिः सम्यक् ब्रह्मक्षत्रविवृद्धये ॥

प्रकीर्णकप्रकरणोपसंहारः

[२]स्तेनाः सुरापा ब्रह्मघ्ना गुरुदाराभिगामिनः ।
न सन्ति यस्य राष्ट्रेषु स राजा शक्रलोकभाक् ॥

पतितधनव्यवस्था

[३]पतितस्य धनं हृत्वा राजा पर्षदि दापयेत् ।
सर्वस्वं तु हरेद्राजा चतुर्थं वाऽवशेषयेत् ॥
भृत्येभ्योऽन्नं स्मरन् धर्मं प्राजापत्यमिति श्रुतिः ॥

## संवर्तः

नृपाश्रितो व्यवहारः — अमात्यपैशुन्ये पुरमानप्रभेदने च दण्डः

[४]अमात्यानां च पैशुन्ये पुरमानप्रभेदने ।
मध्यमं चोत्तमं चैव दण्ड एष क्रमोदितः ॥

यथाक्रमं प्रकृतीनां पैशुन्ये मध्यमसाहसं पुरप्रमाणमर्मकथने उत्तमसाहसं दण्ड्यः । चकाराच्छारीरो दण्डो यथार्ह इति । अत्र पैशुन्यशब्दः भावे ष्यञन्तः । पिशुनस्य भावः पैशुन्यम् । सवि. ४९७

## वृद्धहारीतः

नृपाश्रितो व्यवहारः — राज्ञा करः कल्पनीयः

[५]न्यायेन पालयेद्राजा धर्मात् षड्भागमाहरेत् ।
त्रिभागमाहरेद्धान्यात् धनात् षड्भागमेव च ॥

## अनिर्दिष्टकर्तृकवचनानि

देशधर्मपालनम

[६]विरुद्धास्तु प्रदृश्यन्ते दाक्षिणात्येषु संप्रति ।
स्वमातुलसुतोद्वाहो मातृबन्धुत्वदूषितः ॥
अभर्तृकभ्रातृभार्याग्रहणं चातिदूषितम् ।
कुले कन्याप्रदानं च देशेष्वन्येषु दृश्यते ॥
तथा मातृविवाहोऽपि पारसीकेषु दृश्यते ॥
तथैकादशरात्रादौ श्राद्धे भुक्तं तु यैर्द्विजैः ।
तेभ्यः श्राद्धं पुनर्दानं केचिन्नेच्छन्ति देशिनः ॥
दत्त्वा धान्यं वशं त्वन्ये शरदि द्विगुणं पुनः ।
गृह्णन्ति बद्धक्षेत्रं च प्रविष्टे द्विगुणे धने ॥
भुज्यतेऽन्यैरप्रविष्टे मूले तच्च विरुध्यते ।
इत्थं विरुद्धानाचारान् प्रभूतान्विनिवर्तयेत् ॥
देशजात्यादिधर्मस्य प्रामाण्यमविरोधिनः ।
शास्त्रेणातो नृपः सर्वं शास्त्रं दृष्ट्वा प्रवर्तयेत् ॥

## अग्निपुराणम्

संकीर्णदण्डाः

[१]शूद्रादीन् घातयेद्राजा पापान् विप्रान् प्रवासयेत् ।
महापातकिनां वित्तं वरुणायोपपादयेत् ॥
[२]आह्वानकारी वध्यः स्यादनाहूतमथाऽऽह्वयन् ।
दाण्डिकस्य च यो हस्तादभियुक्तः पलायते ॥
हीनः पुरुषकारेण तं दण्ड्याद्दाण्डिको धनम् ॥

## देवीपुराणम्

नृपाश्रितो व्यवहारः — चतुर्वर्णाश्रमधर्मरक्षणार्थं चारनियोजनम्

[३]वेश्यादिभवने यस्य राष्ट्रे भुञ्जीत संयमी ।
ब्रह्मचारी व्रती यत्र वेश्यादिवृषलीकृतम् ॥
अन्नं भुञ्जीत वै तत्र जायते लोकसंक्षयः ॥
[४]मद्याद्यैर्गर्हितैर्यत्र संकरश्चैव योगिनाम् ।
नृपराष्ट्रभयं तत्र कारणस्यान्यथागमः ॥
[५]काषायवस्त्रभूयिष्ठो यतिवेशो यतिव्रतम् ।
सङ्गं वेश्यादिभिः कुर्यात्तदा लोकभयं भवेत् ॥
[६]तस्माद्राजा समाचारं धर्माधर्मे व्यवस्थितः ।
सिद्धान्तवेदशास्त्राणां पालनाय नियोजयेत् ॥

---

(१) व्यक. १६४ नृपतिः ( भूपतिः ); विर. ६२५.

(२) विर. ६३७; सेतु. ३२९ मनुः.

(३) विर. ६३८ द्वितीयार्धं विना; व्यनि. ५३२ भ्योऽन्नं ( भ्योऽनु ); दवि. ५० प्रथमार्धः; समु. ७० व्यनिवत्.

(४) सवि. ४९७.

(५) वृहास्मृ. ७।२१२.

(६) स्मृच. १०-११.

(१) अपु. २२७।५१. (२) अपु. २२७।६६,६७.

(३) विर. ६२४; दवि. २७०.

(४) विर. ६२४; दवि. २७१ करश्चैव ( करः शिव ) णस्यान्य ( णं चान्य ).

(५) विर. ६२४; दवि. २७० पूर्वार्धे ( काषायेण तु भूमिष्ठो यती वा त्यजति व्रतम् ).

(६) विर. ६२४.

## नौयायिव्यवहारः । विशेषतस्तत्र तरशुल्कविचारः ।

### वसिष्ठः

[1]संयाने दशवाहावाहिनी द्विगुणकरणा स्याद्दशपुरुषवती प्रत्येकं प्रपाः स्युः पुंसां चावरार्धं वाहं वहेत्, अध्यर्धाः स्त्रियः स्युस्तरोऽष्टौ माषाः शरमध्याया अशरमध्यायाः पादः कार्षापणस्य निरुदकस्तरो माष्यः ।

संयात्यनेनेति व्युत्पत्त्या संयानशब्दो नदीपरः तत्र वाहिनी नौः, वाहयन्तीति वाहाः, ते दश यस्यां सा दशवाहा, सा चासौ वाहिनी चेति दशवाहावाहिनी । द्विगुणकरणा द्विगुणानि अरित्रादीनि यस्याः सा नौस्तथा एकविधा नौः कार्या । तथा दशपुरुषवती वाहकादन्ये दश पुरुषाः, तेषां प्रयोजनमाह त एव प्रपाः स्युः त एव दश वाहानां प्रपाः प्रकर्षेण परिपालकाः स्युः । अस्यां नावि यावान् भार आरोप्यस्तमाह पुंसामित्यादिना, सा नौर्यावन्तं भारं वहति तदपेक्षयावरार्धं अवरं न्यूनमर्धं यस्मिन् वाहे स वाहो भारः । तेन यावतः पुरुषानसौ परमविधुरा वहति तावन्न तु समधिकमारोप्यमित्यर्थः । अध्यर्धाः स्त्रियः पुरुषापेक्षया तासामतिभीरुत्वात्, तरः शुल्कः माषः पुराणस्य विंशतितमो भागः । शरमध्यायाः यस्यां नद्यां धनुष्मता क्षिप्तशरो मध्ये पतति तस्याः, अशरमध्याया यां शरो लङ्घयति तस्याः, पादः कार्षापणस्य चतुर्भागः । निरुदकोऽल्पोदकः, माष्यः माषपरिमाणः । विर. ६३९

अकरः श्रोत्रियो राजा पुमाननाथः प्रव्रजितो बालवृद्धतरुणप्रजाताः प्रागमिकः कुमार्यो मृतपत्यश्च । बाहुभ्यां तरन् शतगुणं दाप्यः ।

राजा पुमाननाथश्च स्वजनरहितो रोगार्तो वा तरुणप्रजाता अचिरप्रसूताः प्रागमिको लेखहारकादिः मृतपत्यो विधवाः । विर. ६४१

[2]नदीकक्षवनदाहशैलोपभोगा निष्कराः स्युस्तदुपजीविनो वा दद्युः ।

### विष्णुः

[3]तारिकः स्थलजं शुल्कं गृह्णन् दश पणान् दण्ड्यः । ब्रह्मचारिवानप्रस्थभिक्षुगुर्विणीतीर्थानुसारिणां नाविकः शौल्किकः शुल्कमाददानश्च । तच्च तेषां दद्यात् ।

तरिकस्तररूपशुल्कनियुक्तः, आददानश्च दाप्य इत्यनुषङ्गः, तच्च तरशुल्कं तेषां ब्रह्मचार्यादीनां जह्यात् त्यजेत् । विर. ६४१

---

(१) वस्मृ. १९।११-५ (क) संयाने दशवाहवाहिनी द्विगुणकारिणी स्यात् । प्रत्येकं प्रयास्यः पुमान् (?) । पुंसां शतावरार्ध्यं चाऽऽहवयेदन्यर्थाः स्त्रियः स्युः । कराष्टौलामाषः शरमध्यापः पादः कार्षापणाः स्युः निरुदकस्तरो मोष्यः । ), (ख) (संमानयेदवाहवाहनीयद्विगुणकारिणी स्यात् प्रत्येकं प्रयास्यः पुमान्, शतं वा रार्धं तदेतदप्यर्थाः स्त्रियः कराष्टौ मानधारमध्यमाः पादः कार्षापणस्य निरक्तोऽन्तरो माना । ); विर. ६३८-९.

(१) वस्मृ. १९।१५-६ (क) राजा पुमाननाथः प्रव्रजितो (राजपुमाननाथप्रव्रजित) गमिकः (ग्गामिकाः) पत्यश्च (पत्न्यश्च) तरन् (उत्तरन्) दाप्यः (दद्यात्), (ख) राजा पुमाननाथः प्रव्रजितो ( राजपुमानथ प्रव्रजित) जाताः प्राग (दाता प्रागा) मृतपत्यश्च (मृतापत्यश्च) तरन् (उत्तरन्) दाप्यः (दद्यात्); उ. २।२६।१७ प्रजाताः (प्रशान्ताः) (प्रागमि ... ...दाप्यः०); विर. ६४०-४१; दवि. १११, २७६ (अकरः ... ...पत्यश्च०) बाहुभ्यां ... ...दाप्यः (बाहुभ्यामुत्तरन् पणशतं दण्ड्यः) : २७५ वृद्ध (वृद्धा) (बाहुभ्य ......दाप्यः०).

(२) वस्मृ. १९।१७ (ख) दाह...भोगा (शैलोपमाङ्गा).

(३) विस्मृ. ५।१३१-३; विर. ६४१ तारिकः स्थलजं (तरिकश्च स्थल) दण्ड्यः (दाप्यः) (नाविकः शौल्किकः०) दद्यात् (जह्यात्); दवि. २७५ तारिकः स्थलजं (तरिकः स्थल) दण्ड्यः (दाप्यः) (शौल्किकः ०) दद्यात् (जह्यात्).

मनुः

पणं यानं तरे दाप्यं पौरुषोऽर्धपणं तरे ।
पादं पशुश्च योषिच्च पादार्धं रिक्तकः पुमान् ॥

(१) नदीतीरे यानं गन्त्रीशकटादि तरे पणं दाप्यम् । भाण्डपूर्णानामुत्तरत्रोपदेशाद्रिक्तभाण्डानां यानानां यानद्रव्यानयनार्थमुत्तार्यमाणानामयं राजभागः । पौरुषवाह्यो भारो द्रव्यानयनार्थमानीयमानोऽर्धपणं दाप्यः । पशुर्गोमहिष्यादिः पादं स्त्री च, रिक्तको न किञ्चिद्यो गृहीतवान् भारं स पुमान् पादार्धं दाप्यः । रिक्तस्य पुंसो नदीलङ्घनसामर्थ्यसंभावनया लाघवादल्पमादानम् । स्त्री, अशक्तत्वात्स्वयं तरणे, बहु दाप्यते, तरे तरनिमित्तम् । मेधा.

(२) भाण्डपूर्णानि यानानीति वक्ष्यति । अतो रिक्तं गन्त्र्यादि तरमूल्यं पणं राज्ञा दाप्यम् । एवं पुरुषवाह्यो भारोऽर्धपणं दाप्यः । गवादिश्च पशुः स्त्री च पणचतुर्भागं दापनीयः । भाररहितो मनुष्यः पणाष्टभागं दापनीयः । * गोरा.

(३) पशुः छागो मेष इत्यादिः । मवि.

भाण्डपूर्णानि यानानि तार्यं दाप्यानि सारतः ।
रिक्तभाण्डानि यत्किञ्चित्पुमांसश्चापरिच्छदाः ॥

(१) भाण्डं द्रव्यं वस्त्रव्रीह्यादि तेन पूर्णानि यानानि सारतस्तार्यं तारार्थं दाप्यानि । यदि महार्घं वस्त्रादि तत्र बह्वारोपितं तदा बहु दाप्यानि, अथ व्रीह्यादिना नातिसारेण तदाऽलम् । एवं नद्याः सुतरदुस्तरत्वेन कल्पना कर्तव्या । रिक्तभाण्डानि यानानि यत्किञ्चित्पणपादानि । भाण्डशब्दोऽत्र धनवचनः । ये च परिच्छदाकोशातो (?)ऽपरिच्छदास्ते न पादार्धमपि तु यत्किञ्चित्ततोऽधिकं न्यूनं वा, अत्र न शक्यो नियमोऽतः कल्पनैव शास्त्रार्थः । मेधा.

(२) द्रव्यपूर्णानि गन्त्र्यादीनि द्रव्यगतोत्कर्षापकर्षगुरुलघुभावापेक्षया तरमूल्यं दाप्यानि । पुमांसश्च परिच्छदार्हा वणिक्प्रभृतयोऽपि अपरिच्छदा आयाता यत्किञ्चिद्दापनीयाः । अन्यस्य पुंसः 'पादार्धं रिक्तकः पुमान्' इत्युक्तं, अत्र नियमस्य कर्तुमशक्यत्वात् । एतावदेवोपदेशार्थं, एवं द्रव्यरहितानि मञ्जूषादिनि भाण्डानि यत्किञ्चित् स्वयं दाप्यानि । गोरा.

(३) भाण्डपूर्णानि पण्यद्रव्यपूर्णानि । रिक्तभाण्डानि चर्मभाण्डादीनि । अपरिच्छदाः परिकरशून्याः । अत्र यानादीनां दापनं तन्नेतृपुरुषदापनपरम् । मवि.

(४) पण्यद्रव्यपूर्णानि शकटादीनि द्रव्यगतोत्कर्षापेक्षया तरं दाप्यानि । द्रव्यरहितानि च गोणीकम्बलादीनि, यत्किञ्चित्स्वल्पं तार्यं दाप्यम् । अपरिच्छदा दरिद्राः उक्तपदार्थदानापेक्षया यत्किञ्चिद्दापनीयाः । *ममु.

(५) सारतः तार्यं भाण्डसारूप्येण तार्यं तरः, भाण्डानि भाररहितानि यानानि यत्किञ्चिद्द्रव्यं तत्कालसंनिहितं तार्यं दाप्यानि, परिहितयत्किञ्चित्ताम्बूलादिकं तार्यं दाप्याः । नन्द.

दीर्घाध्वनि यथादेशं यथाकालं तरो भवेत् ।
नदीतीरेषु तद्विद्यात्समुद्रे नास्ति लक्षणम् ॥

(१) पारावारोत्तारणे पूर्वं दानम् । अयं नावा ग्रामान्तरगमने । दीर्घाध्वनि योजनादिपरिमाणेन गन्तव्ये । यथादेशं यस्मिन् देशे यत्तरिदानं नाविकैः स्थापितं तदेव । यथाकालं कालो वर्षादि बहूदकस्तत्रान्यन्मूल्यम् । स्वल्पोदकायां सरिति चिरेण ग्रामप्राप्तौ नाविकानामधिकतरायासवतामधिकमूल्यं, तरमूल्ये कारणे कार्यशब्दस्तरो भवेदिति । यावद्यावद्दीर्घो देशस्तावत्तरपणो वर्धते । एतच्च नदीतीरेषु विद्यात् । समुद्रे सागरे नास्ति तरलक्षणम् । न शक्यते लक्षयितुं कति योजनानि नौर्व्यूढा येन तदनुसारेण मूल्यं कल्प्यते । नदनदीषु शक्यते ज्ञातुमयं पन्था योजनमात्रो द्वियोजन इति । तत्र हि तत्र ग्रामाः

* ममु., मच., नन्द., भाच. गोरावत् ।

(१) मस्मृ. ८।४०४ [ पुमान् ( नरः ) Noted by Jha ]; अप. २।२६३ तरे दाप्यं ( तरे [रं] दाप्यः ) पौ ( पु ) तरे ( तरम् ) रिक्तकः ( द्विकरः ); विर. ६४० पूर्वार्धे ( पणं याने तरं दद्यात्पौरुषेऽर्धपणं तरम् ) रिक्तकः ( रिक्तिकः ); वीमि. २।२६३ दाप्यं पौरुषो ( दाप्यः पौरुषे ); विता. ५८६ पौ ( पु ); समु. ९१ पौ ( पु ).

(२) मस्मृ. ८।४०५; मिता. २।२६३; अप. २।२६३; विर. ६४०; वीमि. २।२६३; विता. ५८६; समु. ९१.

१ तरेण पादं दा. २ तरेण. ३ चारेण तदा.

* विर., मच., भाच. ममुवत् ।

(१) मस्मृ. ८।४०६; विर. ६४०; बाल. २।२६३; समु. ९१.

परिमाणचिह्नं तत्रैकयोजनेऽध्वनि यन्मूल्यं द्विगुणं तद्द्वियोजने। समुद्रे तु बहुवाह्या नौः, न च सुष्ठु शक्यते योजनादिपरिच्छेदः कर्तुम्। अत एवोक्तं समुद्रे नास्ति लक्षणमिति। मेधा.

(२) पारावारतरणार्थं पूर्वमुक्तम्। दूराध्वनि पुनः नदीमार्गेण नावादिना यातव्ये स्खलनाद्युपलाद्युपेतदूरदेशापेक्षया ग्रीष्महेमन्तादिकालापेक्षया तरमूल्यं कल्पयितव्यम्। एतच्च नदीतीरेषु बोद्धव्यम्। समुद्रे पुनर्वातवशतः पोतवहनात् स्वायत्तत्वाभावे सति तरमूल्यविशेषज्ञापकं नदीवद्योजनादिकं नास्त्यतोऽत्रोचितमेव शुल्कं ग्राह्यम् * गोरा.

(३) यथादेशं क्रोशमात्रं नदीपात्रमित्याद्यनुरूपेण। यथाकालमल्पवर्त्मत्वेऽपि स्रोतसा विलम्बादिना, नदीतीरेषु तद्विद्यादिति। एतद्द्वयं नदीतीरेष्वेवेत्यर्थः। समुद्रे नास्ति लक्षणं, नियामकं, तत्र विलम्बादि न नियन्तुं शक्यमतस्तत्तरेऽधिकग्रहोऽपि न दोषाय। मवि.

(४) दीर्घाध्वन्यनेकदिनगन्तव्याध्वनि दैर्घ्यानुगुण्येन, तरः शुल्कं 'पणं यानं' इत्यादिनोक्तस्य विषयमुत्तरार्धेन नियच्छति, लक्षणं शुल्कनिर्णयम्। नन्द.

**गर्भिणी तु द्विमासादिस्तथा प्रव्रजितो मुनिः।**
**ब्राह्मणा लिङ्गिनश्चैव न दाप्यास्तारिकं तरे॥**

(१) द्वाभ्यां मासाभ्यां ऋतुदर्शनस्य व्यक्तगर्भा स्त्री भवति तस्या अनुग्राह्यत्वात्तरपणो न ग्राह्यः। प्रव्रजितश्चतुर्थाश्रमी, मुनिस्तापसः। ब्राह्मणा लिङ्गिनो ब्रह्मचारिणः, ब्राह्मणग्रहणं विशेषणम्। तेन बाह्यप्रव्रज्यालिङ्गधारिणां नैष विधिः। तरप्रयोजनं तारिकं पणादि तरनिमित्तं न दाप्याः। वृत्तानुरोधात्तारिकमिति सिद्धे तरग्रहणम्। मेधा.

(२) गृहीतगर्भा स्त्री मासद्वयादूर्ध्वं, प्रव्रजितो मुनिः भिक्षुः वानप्रस्थो ब्राह्मणश्च लिङ्गिनो ब्रह्मचारिणः तरमूल्यं ते न दाप्याः। + गोरा.

(३) मुनिर्वानप्रस्थः, लिङ्गिनस्तीर्थयात्रादिपराः, ब्राह्मणग्रहणेन सिद्धेऽपि प्रव्रजितग्रहणं क्षत्रियस्य क्वचित्स्मृत्यन्तरे संन्यासो भवेदिति। तारिकं तरशुल्कम्। नन्द.

(४) प्रव्रजितः यतिः मुनिर्वानप्रस्थः लिङ्गिनो गैरिकादिना तरे कैवर्तै तारिकं मूल्यं न दाप्याः, न दातुं योग्याः। भाच.

**यन्नावि किञ्चिद्दाशानां विशीर्येतापराधतः।**
**तद्दाशैरेव दातव्यं समागम्य स्वतोंऽशतः॥**

(१) नाव्यारोपितभाण्डं तरणिकायां यदि दाशानां नाविकानामपराधादावर्तमानजलेन प्रदेशेन नयतां वा तत्स्थानं ज्ञात्वा दृढबन्धनेन जलप्रवेशमकुर्वतां वध्रादिनहनीभिरयोमयीभिश्चर्मबन्धैः सूत्रबन्धैर्वा शिथिलीकृतवतां यदि भाण्डं विशीर्येत विनाश्येत तदा तैरेव दातव्यं स्वतोंऽशतः स्वभागाद्भाण्डस्वामिने समागम्य यावन्तो नाव्यारूढा दाशाः। मेधा.

(२) यत्किञ्चिद्द्रव्यं नाविकापराधेन विपद्येत तन्नावारूढैः संभूय स्वांशाद्दातव्यम्। गोरा.

(३) दाशानामपराधत इति किञ्चिद्वणिजो विशीर्येत नश्येत। स्वतोंऽशतः स्वधनात् न राजधनात्। मवि.

(४) नौकारूढानां यत्किंञ्चिन्नाविकापराधेन नष्टं द्रव्यं तन्नाविकैरेव मिलित्वा यथाभागं दातव्यम्। * ममु.

**एष नौयायिनामुक्तो व्यवहारस्य निर्णयः।**
**दाशापराधतस्तोये दैविके नास्ति निग्रहः॥**

(१) नौभिर्यान्ति तच्छीला नौयायिनस्तेषामेष विधिरुक्तो, यथा दाशापराधात् यद् भ्रष्टमुदके तद्दद्युः। दैविके दोष उत्पाते वातादिना नौभङ्गे नास्ति नाविकानां द्रव्यनाशे निग्रहः। एष स्थले भाण्डवाहकानां

---

* ममु., मच., भाच. गोरावत्।

+ मवि., ममु., मच. गोरावत्।

(१) **मस्मृ.** ८।४०७ [तरे (करम्) Noted by Jha]; **मिता.** २।२६३ तरे (नराः); **अप.** २।२६३ ब्राह्मणा (ब्राह्मणो) कं तरे (कान्तरे); **विर.** ६४०; **बाल.** २।२६३; **समु.** ९१.

* मच., नन्द., भाच. ममुवत्।

(१) **मस्मृ.** ८।४०८; **गोरा.** तद्दाशै...व्यं (नावारूढैः प्रदेयं तत्); **विर.** ६४१ दाशा (दासा) दाशै (दासै); **समु.** ९१.

(२) **मस्मृ.** ८।४०९; **विर.** ६४१ स्य नि (विनि) निग्रहः (विग्रहः); **समु.** ९१.

१. न्धनजल.

भारिकाणां वा न्यायः, यद्यप्रमादेन प्रक्रामति भारिको गृहीतदण्डावलम्बनो इदबद्धोपरिभागः, अकस्मादिष्टया[1] पथि कर्दमीकृते पतितस्य भाण्डं नश्येन्न भारिकस्य दोषः स्यात् । मेधा.

(२) नाविकापराधेन यदुक्तं तत्सर्वं नाविकैर्दातव्यं इत्येष नौयायिनां व्यवहारनिर्णय उक्तः । दैविके पुनर्दोषे उत्पातवातनौभङ्गादौ स च न नाविकानां दण्डबन्धनादिनिग्रहो विद्यते । * गोरा.

(३) दैविके वात्यादिना द्रव्यनाशे । निग्रहो तद्-द्रव्यग्रहः । + मवि.

१ स्माद्दृष्ट्या प.

### याज्ञवल्क्यः

**तरिकः स्थलजं शुल्कं गृह्णन् दाप्यः पणान् दश ×॥**

* ममु., मच., भाच. गोरावत् ।

+ नन्द. मविवत् ।

× व्याख्यासंग्रहः स्थलादिनिर्देशश्च संभूयसमुत्थानप्रकरणे (पृ. ७७८-९) द्रष्टव्यः ।

## बालानाथधननिधिनष्टापहृतव्यवस्था

### गौतमः

प्रनष्टास्वामिकधनव्यवस्था

**[1]प्रनष्टमस्वामिकमधिगम्य राज्ञे प्रब्रूयुः ।**

(१) प्रनष्टं स्वामिसकाशात्प्रभ्रष्टम् । अस्वामिकं अज्ञायमानस्वामिकम् । अधिगम्य भूमौ पतितमुपलभ्य जनपदपालने नियुक्ता एते राज्ञे प्रब्रूयुः । अन्ये वा ये केचिद्दृष्टवन्तस्तेऽपि ब्रूयुः । गौमि.

(२) प्रनष्टं स्वामिसकाशादपगतं अस्वामिकं अविज्ञायमानस्वामिकं—ज्ञायमानस्वामिकं तु स्वामिन एव कथयेत् । अधिगम्य लब्ध्वा राज्ञे नामात्यादिभ्यः प्रब्रूयुः, प्रशब्दादमायया कथयेयुः, इदमस्मिन् देशे एवं चासादितं, अन्विष्यतां कस्यैतदिति । बहुवचनप्रयोगात् सामन्तादिभिरपि वक्तव्यमेवेति । मभा.

(१) गौध. १०।३५; मिता. २।३३ ष्टमस्वा (ष्टस्वा) (राज्ञे प्रब्रूयुः०) : २।१७३ ष्टमस्वा (ष्टस्वा); अप. २।१७३ राज्ञे (राज्ञः); व्यक. ११८ ष्टमस्वा (ष्टस्वा); मभा.; गौमि. १०।३६; स्मृच. १३३; विर. ३४७ प्रब्रूयुः (तु ब्रूयुः); दवि. २७४ मिता. २।३३ वत्; नृप्र. १७३ प्रब्रूयुः (ब्रूयुः); विता. ५६४ दविवत्; सेतु. २५१ ष्टमस्वा (ष्टस्वा) प्रब्रूयुः (ब्रूयुः); प्रका. ८४; समु. ७२ नष्ट (नष्टा).

**[1]विख्याप्य संवत्सरं राज्ञा रक्ष्यम् ×।**

(१) विख्याप्य, इदमेवंजातीयकं वस्त्वासादितं रक्ष्यते यस्यैतस्य तत्स आगच्छत्विति नगरे पटहेन घोषयित्वा संवत्सरं रक्ष्यम् । प्राक् चेत्संवत्सरात् स्वाम्यागच्छति ततो लक्षणानि पृष्ट्वा साम्यं चेत्तत्तस्मै देयम् । वैषम्ये स दण्ड्यः । तथा च याज्ञवल्क्यः— 'प्रनष्टाधिगतं देयं नृपेण धनिने धनम् । विभावयेन्न चेल्लिङ्गैस्तत्समं दण्डमर्हति ॥' एवमधिगम्याप्रब्रुवन्तो दण्ड्याः । गौमि.

(२) रक्षणस्य तदायत्तत्वात् अधिकाराच्च लब्धस्यापि राजशब्दस्योपन्यासः तद्रक्षणे अत्याता नियोक्तव्या इति तथा चाहोशना—विद्याभिजनयुक्तान्

× मिता. व्याख्यानं 'प्रनष्टाधिगतं' इति याज्ञवल्क्यवचने द्रष्टव्यम् ।

(१) गौध. १०।३६; मिता. २।३३ (विख्याप्य०) : २।१७३ (क) ख्याप्य (ख्यातं); अप. २।१७३; व्यक. ११८; मभा.; गौमि. १०।३७; स्मृच. १३३; विर. ३४७; दवि. २७४ (विख्याप्य०) संवत्सरं (वत्सरं); नृप्र. १७३ रक्ष्यम् (रक्ष्यः); विता. ५६४ (विख्याप्य०); सेतु. २५२; प्रका. ८४; समु. ७२.

पूर्वदृष्टप्रमाणान् वृद्धान्निधिपालने नियुञ्ज्यात्' इति ।
* मभा.

[3] ऊर्ध्वमधिगन्तुश्चतुर्थं राज्ञः शेषः ।

संवत्सरात्परतो येनाख्यातं तस्मै चतुर्थं, राज्ञः शेषम्। आख्यातुश्चतुर्थं दत्त्वा शेषं स्वयं गृह्णीयात् उत नियुक्ताय देयमिति संदेहः स्यादिति तन्निराकरणार्थं शेषं राज्ञ इत्युक्तम् ।
+ मभा.

निधिव्यवस्था

[2] निध्यधिगमो राजधनम् ÷ ।

(१) अथ प्रनष्टाधिगताधिगन्तुश्चतुर्थमित्यस्यापवादमाह—निध्यधिगम इति । निधिश्चेदधिगतस्तद्राजधनमेव भवति। अधिगन्त्रे अनुग्रहानुरूपं किञ्चिद्देयमिति ।
गौमि.

(२) प्रनष्टाधिगतादधिगन्तुश्चतुर्थमुक्तं तद्विशिनष्टि—निध्यधिगम इति । निधेः पूर्वनिहितस्याधिगमो लाभः स राज्ञ एव, न ततोऽधिगन्तुश्चतुर्थः एवञ्च निधेरन्यद्द्रव्यं यत्तस्मादेव चतुर्थांश इति द्रष्टव्यम् । ननु च निधेर्यदन्यद्द्रव्यं राज्ञः कथं तत्प्राप्तिः, अधिगमस्य साधारणत्वेनोक्तत्वात् येन पूर्वमधिगम्यते तेनैव तस्य गृह्यमाणत्वादिति अत्रोच्यते— यस्मिन्ननुभूतचिह्नानि दृश्यन्ते तद्राज्ञे कथयेत् इतरत् स्वयं गृह्णीयादिति एवं चानुभूतचिह्नानि मुषित्वा गृह्णतो दोषः, यथाह लोकाक्षिः —'अनुभूतचिह्नानि मुषित्वा गृह्णतः पूर्वसाहसं दण्डः तद्द्रव्यद्विगुणं च राजा हरेत्' इति असति धनग्रहणे निध्यधिगमो राज्ञ इत्युक्ते अराज्ञ इति प्रतिषेधोऽप्याशङ्क्येत ।
मभा.

[1] न ब्राह्मणस्याभिरूपस्य * ।

(१) अभिरूपः षट्कर्मनिरतः तस्य ब्राह्मणस्य चेन्निध्यधिगमो न तद्राजधनं किं तर्हि अधिगन्तुर्ब्राह्मणस्यैवेति ।
गौमि.

(२) तस्य कर्मसाधनत्वात् । ×मभा.

[2] अब्राह्मणोऽप्याख्याता षष्ठं लभेतेत्येके ।

(१) अब्राह्मणोऽपि निधिमधिगम्य यद्याचष्ट इदमित्थमासादितमिति स तस्य निधेः षष्ठं लभेतेत्येके सर्तारो मन्यन्ते । ब्राह्मणेऽनभिरूपे कल्प्यः । गौमि.

(२) अब्राह्मणः क्षत्रियादिः, आख्याता पूर्वं ज्ञापयिता, षष्ठमंशं लभेतेत्येके मन्यन्ते, चारित्रक्लेशफलं हि तदिति, एक इति वचनान्न तु गौतमः, अपरिमितसारत्वान्निधीनाम् । अतो यत्किञ्चिदस्य देयमिति न तु षष्ठ एवांश इति । अपिशब्दात् ब्राह्मणोऽप्यनभिरूप इति ।
मभा.

बालधनव्यवस्था

[3] रक्ष्यं बालधनमा व्यवहारप्रापणात् समावृत्तेर्वा ।

---

* शेषं गौमिवत् ।

+ गौमि. मभावत् ।

÷ विश्व. व्याख्यानं 'इतरेण निधौ' इति याज्ञवल्क्यवचने द्रष्टव्यम् । मेधा.व्याख्यानं 'ममायमि'ति मनुवचने द्रष्टव्यम् ।

(१) **गौध.** १०।३७; **मिता.** २।३३ श्चतुर्थं (श्चतुर्थोंऽशो) शेषः (शेषम्); **व्यक.** ११८ शेषः (शेषम्); **मभा.**; **गौमि.** १०।३७; **स्मृच.** १३३ श्चतुर्थं (श्चतुर्थों); **विर.** ३४७ व्यकवत्; **दवि.**२७४ मितावत्; **विता.** ५६४ मितावत्; **सेतु.** २९२ व्यकवत्; **प्रका.** ८४ स्मृचवत्; **समु.** ७२.

(२) **गौध.** १०।४२; **विश्व.** २।३७; **मेधा.** ८।३५; **मिता.** २।३५ धनम् + (भवति); **अप.** २।३५; **मभा.**; **गौमि.** १०।४३; **स्मृच.** १३४; **विर.** ६४३ गमो + (न); **विता.** ५६४ राजधनम् (राज्ञो धनम्); **सेतु.** २९२ गमो राजधनम् (गमे न राजा धनम्); **समु.** ७३.

* विश्व. व्याख्यानं 'इतरेण निधौ' इति याज्ञवल्क्यवचने द्रष्टव्यम् ।

× शेषं गौमिवत् ।

(१) **गौध.** १०।४३; **विश्व.** २।३७ स्याभि (स्यानभि); **मिता.** २।३५; **अप.** २।३५ न ब्रा (तद्ब्रा); **मभा.**; **गौमि.** १०।४४ नकारस्तु पतित इति भाति; **विर.** ६४३ (न०); **विता.** ५६४; **सेतु.** २९२ (न०); **समु.** ७३.

(२) **गौध.** १०।४४; **विश्व.** २।३७; **मिता.** २।३५ (क) णोऽप्या (णो व्या) षष्ठं (षष्ठमंशं), (ख) षष्ठं (षष्ठमंशं); **अप.** २।३५ ख्याता (ख्यातं) षष्ठं (षष्ठमंशं); **मभा.**; **गौमि.** १०।४५; **विर.** ६४३ णोऽप्या (ण आ) षष्ठं लभेते (षष्ठमंशं लभत इ); **विता.** ५६४ ऽप्याख्या (पाख्या) षष्ठं (षष्ठमंशं); **सेतु.** २९२ (अब्राह्मण आख्यात्वा षष्ठमंशं लभते इत्येके); **समु.** ७३ (इत्येके०).

(३) **गौध.** १०।४५; **अप.** २।२५ प्रापणात् (प्राप्तेः) (समावृत्तेर्वा०); **मभा.**; **गौमि.** १०।४८-९; **व्यप्र.** ४६० अपवत्, विष्णुः.

(१) बालोऽप्राप्तषोडशवर्षः। तस्य यदि हितैषिणो रक्षकाश्च पित्रादयो न सन्ति सन्तो वा मूर्खाश्चाधार्मिकाश्च तदा तद्धनं राज्ञा रक्ष्यम्। आ कुतः। व्यवहारप्रापणात्। यावदसौ व्यवहारप्राप्तः षोडशवर्षो भवति। आङनुवर्तते। अधीतवेदस्य गुरुकुलान्निवृत्तिः समावृत्तिः। आ वा तस्या इति। गौमि.

(२) बालः अप्राप्तषोडशवर्षः तद्ग्रहणमन्येषामपि रक्षणासमर्थानामुपलक्षणम्। तद्धनं बन्धुभ्यो रक्षेत्। अन्येभ्यस्तु रक्षणस्य 'रक्षणं सर्वभूतानां' इत्यनेनैव सिद्धत्वात्। आ व्यवहारप्रापणात् रक्षणसामर्थ्योपजननात्, आ समावृत्तेर्वा सत्यपि सामर्थ्यलक्षणे। विकल्पस्तु अध्ययनाद्यभियोगापेक्षया वर्णनीयः। मभा.

धने चोरहृते व्यवस्था

**चौरहृतमपजित्य यथास्थानं गमयेत्। कोशाद्वा दद्यात्*।**

## बौधायनः

प्रनष्टास्वामिकधनव्यवस्था

**[१]अब्राह्मणस्य प्रनष्टस्वामिकं रिक्थं संवत्सरं परिपाल्य राजा हरेत्।**

असावस्य द्रव्यस्य प्रभुरित्यज्ञानमात्रे प्रनष्टशब्दः। ब्रह्मस्वमिति तु विज्ञाते ब्राह्मण एवाददीत। उक्तं चैतच्छौचाधिष्ठानाध्याये 'न तु कदाचिद्राजा ब्राह्मणस्य स्वमाददीत' इति। बौवि. (पृ. ९१-९२)

बालधनव्यवस्था

**[२]तेषामप्राप्तव्यवहाराणामंशान् सोपचयान् सुनिगुप्तान् निदध्युराव्यवहारप्रापणात्।**

अप्राप्तव्यवहाराश्च बाला आ षोडशाद्वर्षात्। तथा हि—'गर्भस्थैः सदृशो ज्ञेय आष्टमाद्वत्सराच्छिशुः। बाल आ षोडशाद्ज्ञेयः पौगण्डश्चेति शब्द्यते॥' तेषां पुत्राणां मध्ये बालानामंशान् सोपचयान् गुप्तान्निदध्युः। उपचयो नैय्यायिकी वृद्धिः। तथा बालानां द्रव्यं वर्धयेत्। उपचीयमानांश्चांशान् वा सुगुप्तान् रक्षितान् परैरनुपहतान् आव्यवहारप्रापणान्निदध्युः। बौवि. (पृ. १३४)

## वसिष्ठः

बालधनव्यवस्था

**[१]संपन्नं च रक्षयेत् राजा, बालधनान्यप्राप्तव्यवहाराणां प्राप्तकाले तु तद्दद्यात्।**

प्रनष्टस्वामिकधनं राजगामि

**[२]प्रहीणद्रव्याणि राजगामीनि भवन्ति।**

निधिव्यवस्था

**[३]अप्रज्ञायमानं वित्तं योऽधिगच्छेद्राजा तद्धरेदधिगन्त्रे षष्ठमंशं प्रदाय।**

**[४]ब्राह्मणश्चेदधिगच्छेत् षट्कर्मसु वर्तमानो न राजा हरेत्।**

## विष्णुः

निधिव्यवस्था

**[५]आकरेभ्यः सर्वमादद्यात्।**

**[६]निधिं लब्ध्वा तदर्धं ब्राह्मणेभ्यो दद्यात्। द्वितीय-**

* व्याख्यासंग्रहः स्थलादिनिर्देशश्च स्तेयप्रकरणे (पृ. १६६३) द्रष्टव्यः।

(१) बौध. १।१०।१७; व्यक. १४०; विर. ११७; विचि. ४८; बाल. २।१७३; सेतु. १४३; विव्य. ३५.

(२) बौध. २।२।४२; व्यक. १६१; विर. ५९९ अंशान्...निदध्युरा (सोपचयानंशान् सुगुप्तान् निदध्यादा); स्मृसा. १३७ सुनिगु...ध्युरा (सुगुप्तान् निदध्यादा).

(१) वस्मृ. १६।६ (क) राजा (राज) तद्दद्यात् (तद्यत्), (ख) (संपन्नतामाचरेत्। राजा बालानामप्राप्तव्यवहाराणां प्राप्तकाले तु तद्वत्).

(२) वस्मृ. १६।१७ (ख) प्रहीण (गृहिणां).

(३) वस्मृ. ३।१४; मिता. २।३५ अधिगन्त्रे...प्रदाय (षष्ठमंशमधिगन्त्रे दद्यात्); अप. २।३५ नं वित्तं (नवित्तं); स्मृच. १३४; विर. ६४३ तद्धरे (तदुद्धरे); मपा. २२५-६ अप्रज्ञा (अज्ञा) दधिगन्त्रे (दधिकं तु); दीक. ३५ (अप्रज्ञायमानं वित्तं यो गच्छेद्राजा तमुद्धरेत्। अधिगन्त्रे षष्ठभागं प्रदाय स तु सर्वशः); दवि. २८७; वीमि. २।३५ यो (सो) तद्धरे (तदुद्धरे) प्रदाय (प्रदद्यात्); विता. ५६४ प्रदाय (प्रदद्यात्); सेतु. २९२ षष्ठमंशं (अष्टममंशं); प्रका. ८४; समु. ७३.

(४) वस्मृ. ३।१५; अप. २।३५ गच्छेत्......हरेत् (गच्छति षट्सु कर्मसु वर्तमानः सर्वं हरेत्); मभा. १२।४२ षट् (षट्सु); स्मृच. १३४ न राजा (सर्वं); विर. ६४३; मपा. २२६; दवि. २८९; प्रका. ८४; समु. ७३.

(५) विस्मृ. ३।५५; विर. ६४४.

(६) विस्मृ. ३।५६-६०; विर. ६४४ दद्यात्+(दत्त्वा)

**मर्धं कोशे प्रवेशयेत्। निधिं ब्राह्मणो लब्ध्वा सर्वमादद्यात्। क्षत्रियश्चतुर्थमंशं राज्ञेऽपरं चतुर्थमंशं ब्राह्मणेभ्योऽर्धमादद्यात्। वैश्यस्तु चतुर्थमंशं राज्ञे दद्यात् ब्राह्मणेभ्योऽर्धमंशमादद्यात्।**

**शूद्रश्चावाप्तं द्वादशधा विभज्य पञ्चांशान् राज्ञे दद्यात् पञ्चांशान् ब्राह्मणेभ्योंऽशद्वयमादद्यात्। अनिवेदितविज्ञातस्य सर्वमपहरेत्।**

**स्वनिहिताद्राज्ञे ब्राह्मणवर्जं द्वादशमंशं दद्युः। परनिहितं स्वनिहितमिति ब्रूवंस्तत्समं दण्डमावहेत्।**

ब्राह्मणेभ्योऽर्धं दद्यादित्यनुषञ्जनीयम्। अंशं परिशिष्टं स्वयमादद्यात्। विर. ६४४

वालानाथस्त्रीधनव्यवस्था

**बालानाथस्त्रीधनानि च राजा परिपालयेत्।**

अनाथोऽवेक्षकरहितोऽन्धपङ्ग्वादिः। मध्येऽनाथपदप्रयोगादुभयत्रान्वयेन बालस्त्रियोरप्यनाथत्वं गम्यते। वै.

धने चौरहृते व्यवस्था

**चौरहृतं धनमवाप्य सर्वमेव सर्ववर्णेभ्यो दद्यात्। अनवाप्य च स्वकोशादेव दद्यात्*।**

## शङ्खः शङ्खलिखितौ च

वालानाथस्त्रीधनव्यवस्था

**रक्षेद्राजा बालानां धनान्यप्राप्तव्यवहाराणां श्रोत्रियवीरपत्नीनां प्रहीणस्वामिकानि राजगामीनि भवन्ति।**

श्रोत्रियवीरपत्नीनां श्रोत्रिये वीरे प्रोषितेऽपगते वा तत्पत्नीनाम्। विर. ५९९

**न हार्यं स्त्रीधनं राज्ञा तथा बालधनानि च।**
**नार्याः षडागमं वित्तं बालानां पैतृकं धनम् ÷॥**

## कौटिलीयमर्थशास्त्रम्

वालादिधनव्यवस्था

**प्राप्तव्यवहाराणां विभागः। अप्राप्तव्यवहाराणां देयविशुद्धं मातृबन्धुषु ग्रामवृद्धेषु वा स्थापयेयुर्व्यवहारप्रापणात्। प्रोषितस्य वा। संनिविष्टसममसंनिविष्टेभ्यो नैवेशनिकं दद्युः। कन्याभ्यश्च प्रादानिकम् +।**

**अदायादकं राजा हरेत् स्त्रीवृत्तिप्रेतकार्यवर्जमन्यत्र श्रोत्रियद्रव्यात्। तत् त्रैविद्येभ्यः प्रयच्छेत् ×।**

---

ब्राह्मणो लब्ध्वा सव (लब्ध्वा ब्राह्मणः स्वय) राज्ञेऽपरं (राज्ञे दद्याच्छेषं) भ्योऽर्धमंशमा (भ्यो दद्यादर्धमा) वैश्यस्तु (वैश्यः) ऽर्धमंशमा (ऽर्धमंशमशं स्वयमा); **मपा.** २२५ (निधिं लब्ध्वा......प्रवेशयेत्०) निधिं... ...मादद्यात् (निधिं च ब्राह्मणो लब्ध्वा सर्वमादद्यात्। क्षत्रियश्चतुर्थमंशं राज्ञे दद्याच्चतुर्थमंशं ब्राह्मणेभ्योऽर्धमादद्यात्। वैश्यश्चतुर्थमंशं राज्ञे दद्याद्ब्राह्मणेभ्योंऽशमादद्यात्); **व्यनि.** ५३३ श्चतुर्थमंशं राज्ञेऽपरं चतुर्थमंशं (श्चतुर्थांशं राज्ञे दद्यात्। चतुर्थं) वैश्यस्तु (वैश्यः) ऽर्धमंशमा (र्धम्। चतुर्थमंशमा); **दवि.** २८८ (निधिं लब्ध्वा ब्राह्मणेभ्यस्तदर्धं दत्त्वा द्वितीयमर्धं कोषे प्रवेशयेत्। निधिं लब्ध्वा ब्राह्मणः स्वयमेवादद्यात्। क्षत्रियश्चतुर्थमंशं राज्ञे दद्यात् चतुर्थमंशं ब्राह्मणेभ्यः, अर्धं स्वयमेवादद्यात्। वैश्यश्चतुर्थांशं राज्ञे दद्यात् ब्राह्मणेभ्योऽर्धं स्वयमंशद्वयमादद्यात्); **सेतु.** २९३ (क्षत्रियश्च चतुर्थमंशं राज्ञे दद्याच्चतुर्थमंशं ब्राह्मणेभ्यो दत्त्वा अर्धमादद्यात्। वैश्यश्चतुर्थमंशं राज्ञे दद्यात् ब्राह्मणेभ्योऽर्धमंश स्वयमादद्यात्) एतावदेव.

(१) **विस्मृ.** ३।६१-२; **विर.** ६४४ (शूद्रस्त्ववाप्तं द्वादशधा विभज्य पञ्चमं राज्ञे दद्यात् ब्राह्मणेभ्योंऽशद्वयमेव दद्यादवशिष्टं सर्वं स्वयमादद्यात्); **व्यनि.** ५३३ वाप्तं (वाप्तनिधिं) भ्योंऽश (भ्यः स्वयमंश) सर्व (सर्वस्व); **दवि.** २८८ पञ्चांशा...दद्यात् (पञ्चांशं राज्ञे पञ्चांशं ब्राह्मणेभ्योंऽशद्वयं स्वयमादद्यात्) (अनि......हरेत्०) : २९२ (शूद्र... दद्यात्०) सर्वमप (सर्वस्वमा); **सेतु.** २९३ पञ्चांशान् ब्राह्म... ...दद्यात् (ब्राह्मणेभ्योंऽशद्वयमेव दद्यात्) ज्ञातस्य... हरेत् (ज्ञातस्य सर्वस्वमादद्यात्).

(२) **विस्मृ.** ३।६३-४; **विर.** ६४२ ब्रुवंस्त...वहेत् (वदन्तस्तत्समं दण्डमावहेयुः); **मपा.** २२५ द्राज्ञे (त्राज्ञे); **दवि.** २८६ विरवत्; **सेतु.** २९१ ब्राह्मण+(धन) (पर...वहेत्०).

* स्थलनिर्देशः स्तेयप्रकरणे (पृ. १६७१) द्रष्टव्यः।

÷ व्याख्यानं स्थलादिनिर्देशश्च दायभागप्रकरणे (पृ.१४७३) द्रष्टव्यः।

+ व्याख्यानं स्थलनिर्देशश्च दायभागे (पृ.११९९-१२००) द्रष्टव्यः।

× व्याख्यानं स्थलनिर्देशश्च दायभागे (पृ. १४७४) द्रष्टव्यः।

(१) **विस्मृ.** ३।६५; **व्यक.** १६१; **विर.** ५९८ (च०); **स्मृसा.** ७४ च राजा (राजा तु) : १३७ : १४४ (च०).

(२) **व्यक.** १६१; **विर.** ५९९; **स्मृसा.** १३७.

## मनुः

बालानाथधनव्यवस्था

**[1]बालदायादिकं रिक्थं तावद्राजानुपालयेत् ।
यावत्स स्यात्समावृत्तो यावच्चातीतशैशवः ॥**

(१) ननु च व्यवहारदर्शनं वक्तव्यतया प्रस्तुतम्। तत्र कः प्रसङ्गो बालधनरक्षायाः । उच्यते । विवादपदतामेवैतद्विषयान्निवर्तयितुमिदमारभ्यते । बालधनं राज्ञा स्वधनवत्परिपालनीयम् । अन्यथा पितृव्यादिबान्धवा मयेदं रक्षणीयं मयेदमिति विवदेरन् । न चान्यः प्रसङ्गोऽस्ति । आशङ्क्यमानव्यवहारवच्च । न केवलेषु राजधर्मेषूपदिश्यते अतोऽस्मिन्नेवावसरे वक्तव्यम् । बालो दायादोऽस्य तदिदं बालदायादिकम् । दायादः स्वाम्यत्रोच्यते । बालस्वामिकं धनं तावद्राजा रक्षेद्यावदसौ समावृत्तो गुरुकुलात्प्रत्यागतो यावद्वाऽतीतशैशवः अतिक्रान्तबालभावः । अयं च विकल्पो यो गृहशैशवो भवति तदर्थमतीतशैशव इत्युच्यते । यस्तु व्रतकः स निवृत्तेऽपि शैशवे आ समावर्तनात्प्रतिपाल्यधनः स्यात् । अथवा द्विजातीनां समावर्तनमवधिरन्येषां शैशवात्ययः। *मेधा.

(२) अनुपालयेत् स्वगोचरीकृत्य स्थापयेत् । समावृत्तः षट्त्रिंशदब्दादिषु । तन्मध्ये चेद्धनेन कार्यं तदा यावद्देत्यवध्यन्तरम् । शैशवं षोडशाब्दात्प्राक् । मवि.

(३) अविद्यमानात्पुरुषविषयमेतत् । स्मृच. १३२

(४) अनाथबालस्वामिकं धनं पितृव्यादिभिरन्यायेन गृह्यमाणं तावद्राजा रक्षेत् । यावदसौ षट्त्रिंशदब्दादिकं ब्रह्मचर्यमित्याद्युक्तेन प्रकारेण गुरुकुलात्समावृत्तो न भवति तादृशस्यावश्यकबाल्यविगमात् । यस्त्वशक्त्यादिना बाल एव समावर्तते सोऽपि यावदतीतबाल्यो भवति तावत्तस्य धनं रक्षेत् । बाल्यं च षोडशवर्षपर्यन्तम् । 'बाल आषोडशाद्वर्षात्' इति नारदवचनात् । ममु.

(५) कार्यादिसामर्थ्यापेक्षया व्यवस्थापनीयो विकल्पः । नन्द.

(६) बालस्य बन्धुरहितस्य । समावृत्तः लब्धानुज्ञः । भाच.

**[1]वशाऽपुत्रासु चैवं स्याद्रक्षणं निष्कुलासु च ।
पतिव्रतासु च स्त्रीषु विधवास्वातुरासु च ॥**

(१) यः कश्चिदनाथस्तस्य सर्वस्य धनं राजा यथावत्परिरक्षेत् । तथा चोदाहरणमात्रं वशादयः । एवं प्रजापालनमनुष्ठितं भवति । पूर्वस्तु श्लोकः कालनियमार्थः । वशा वन्ध्या, अपुत्राऽसमर्थपुत्राऽविद्यमानपुत्रा दुर्गतपुत्रा वा । वशाश्चापुत्राश्चेति द्वन्द्वः । ननु च वशाऽप्यपुत्रैव। सत्यम्। उभयोपादानं तु सत्यपि भर्तरि तस्याः संरक्षणार्थं, तस्यां ह्यधिविन्नायां भर्ता निरपेक्षो भवति । निष्कुलाग्रहणं तासां विशेषणं, यासां न कश्चिद्देवरपितृव्यमातुलादिः परिरक्षकोऽस्ति स्त्रीत्वाच्च स्वयमसमर्थाः, बान्धवास्तु मत्सरिणः, तासां च तदुच्यते । बन्धुभिर्हि स्त्रीणां शीलशरीरधनानि रक्षितव्यानि । तदुक्तं—'विनियोगात्मरक्षासु भरणे च स ईश्वरः ॥ परिक्षीणे पतिकुले निर्मनुष्ये निराश्रये। तत्सपिण्डेषु वाऽसत्सु पितृपक्षः प्रभुः स्त्रियाः ॥ पक्षद्वयावसाने तु राजा भर्ता प्रभुः स्त्रियाः ॥'

या तु स्वयमेव कथञ्चिच्छक्ता न तत्र बान्धवानां व्यापारोऽस्ति। अत एवाह । आतुरास्विति । असामर्थ्यमेतेन लक्ष्यते । अन्यैस्त्वातुरभर्तृका आतुरा व्याख्याता । अविधवाऽपि भर्तुरसामर्थ्याद्राज्ञैव रक्ष्या स्यादिति। निर्मनुष्याणामेतत् । कुलं बन्धुजातं यासां नास्ति ताः निष्कुलाः । अन्ये तु कुलटां निष्कुलामाहुः । तासामपि वेश्याद्युपार्जितं धनं अपतितानां राज्ञा रक्ष्यम् । अस्मिंश्च पक्षे स्वतन्त्रनिष्कुलाग्रहणम् । पतिव्रतासु विधवासु । मृतभर्तृका विधवा । धव इति भर्तृनाम । तद्विरहिता विधवा । ताश्चेत्पतिव्रता भवन्ति तदा ता रक्ष्यधनाः । व्यभिचाररतानां तु स्त्रीधनानर्हत्वं स्मृत्यन्तरे पठ्यते 'अपकारक्रियायुक्ता निर्लज्जा चार्थनाशिका । व्यभिचाररता या च स्त्रीधनं न तु साऽर्हति ॥' इति ।

---

* गोरा. मेधावत् । मच. मेधागतं ममुगतं च ।

(१) **मस्मृ.** ८।२७ ख., यावच्चा ( यावद्वा ); **व्यक.** १६१ दिकं ( गतं ) यावच्चा ( यावद्वा ); **मवि.** मस्मृवत्; **स्मृच.** १३२ त्स स्यात् ( त्स्यात् स ) शेषं मस्मृवत्; **विर.** ५९८ व्यकवत्; **स्मृसा.** १३७ मस्मृवत्; **विचि.** २४४ यादिकं ( यगतं ) त्स स्यात् ( त्स्यात्स ); **प्रका.** ८३ स्मृचवत्; **समु.** ७२ स्मृचवत्.

(१) **मस्मृ.** ८।२८; **गोरा.** वशा ( वन्ध्या ); **व्यक.** १४८; **स्मृच.** १३२; **विर.** ५१२; **दवि.** ३१९; **विता.** ४४५ स्वातु ( स्वासु ) मनुनारदौ; **प्रका.** ८४; **समु.** ७२.

तस्यास्तु निष्कासनं विहितम्। निष्कासनं च प्रधानवेश्मनो बहिरवस्थापनम्। न तु निर्वासनमेव। यतः पतितानामपि तासां गृहान्तिके वासो भक्ताच्छादनमात्रदानं च विहितम्। 'एवमेव विधिं कुर्याद्योषित्सु पतितास्वपि। वस्त्रान्नपानं देयं च वसेयुश्च गृहान्तिके॥' तेन यः कश्चित्स्त्रीणां निर्वासनविधिः 'स्त्रीधनं द्रव्यसर्वस्वम्' इत्यादिषु श्रूयते स एवंविषय एव द्रष्टव्यः। तथापि यावद्भिक्षोत्सर्पणादिना किञ्चिदर्जितं तदर्हत्येव। न बान्धवा अपहरेयुः। इह त्वस्मिन्नेव निमित्ते आधिवेदनं विहितं न तु स्त्रीधनापहारः। तथा ह्याह 'मद्यपाऽसाधुवृत्ता च प्रतिकूला च या भवेत्। व्याधिता चाधिवेत्तव्या हिंस्राऽर्थघ्नी च सर्वदा॥' अतश्च मानवस्मृतिबलेन च 'स्त्रीधनं न तु साऽर्हति' इत्येषा स्मृतिरेवं व्याख्यायते। आधिवेदनिकं स्त्रीधनमेषा नार्हति, नैतस्यै देयमित्यर्थः। यदुक्तम् 'अधिविन्नस्त्रियै दद्यादाधिवेदनिकं समम्' इति, न तु प्राग्दत्तमस्या अपहर्तव्यम्। वयं तु ब्रूमः। पुरुषद्वेषिण्या व्यभिचाररतायाश्च युक्त एवापहारः। यत इहाप्युक्तं— 'अतिक्रामेत्प्रमत्तं या मत्तं रोगार्तमेव वा। सा त्रीन्मासान्परित्याज्या विभूषणपरिच्छदा॥' भूषणपरिच्छदैर्वियुक्ता कर्तव्येत्यर्थः। *मेधा.

(२) यथा बालधनस्य राज्ञा रक्षणं स्यादेवं सत्यपि भर्तरि वन्ध्यासु स्त्रीष्वप्रजासु निष्कुलासु च कन्यकासु मृतप्रोषितभर्तृकासु साध्वीषु व्याधितासु च रक्षणं स्यात्। अत्र गोबलीवर्दन्यायेनानेकशब्दोपादानम्। गोरा.

(३) वशा वन्ध्या। अपुत्रा मृतपुत्रा अजातपुत्रा वा। तदा यावत्तत्कुल्यगोचरेण तयोर्यदि सिद्धिस्तावत्तद्वित्तं रक्ष्यं तत्पोषणं च कार्यं ते यदि निष्कुले रक्षकस्वकुल्यरहिते स्यातां तदाऽप्येवं यावज्जीवरक्षणं स्वगोचरेण स्थापनं च राज्ञा कार्यम्। एवंविधासु च पतिव्रतासु पत्युद्देशेन ब्रह्मचर्यादिव्रतकारिणीषु वा। मवि.

(४) निष्कुलाः स्वपक्षहीनाः। स्मृच. १३२

(५) वशासु वन्ध्यासु कृतदारान्तरपरिग्रहः स्वामी निर्वाहार्थोपकल्पितधनोपायासु निरपेक्षः। अपुत्रासु च स्त्रीषु प्रोषितभर्तृकासु, निष्कुलासु सपिण्डरहितासु, साध्वीषु च स्त्रीषु, विधवासु, रोगिणीषु च यद्धनं तस्यापि बालधनस्येव राज्ञा रक्षणं कर्तव्यम्। अत्र चानेकशब्दोपादाने गोबलीवर्दन्यायेन पुनरुक्तिपरिहारः। ममु.

[१]एवमेव विधिं कुर्याद्योषित्सु पतितास्वपि।
वस्त्रान्नपानं देयं च वसेयुश्च गृहान्तिके॥

[२]जीवन्तीनां तु तासां ये तद्धरेयुः स्वबान्धवाः।
ताञ्छिष्याच्चौरदण्डेन धार्मिकः पृथिवीपतिः॥

(१) बान्धवानां स्त्रीधनमपहरतामयं चोरदण्डः। ते हि बहुभिरुपधिभिरपहरन्ति। अस्वतन्त्रैषा स्त्री, किं ददाति किं वा भुङ्क्ते, वयमत्र स्वामिन इति अचौर्याशङ्कया, चोरदण्डो विधीयते। जीवन्तीनां तासां स्वबान्धवा देवरादयस्तद्धनं ये हरेयुस्तान् शिष्यात् पृथिवीपतिर्निगृह्णीयात्। चोरदण्डो वक्ष्यमाणः 'येन येन यथाङ्गेन स्तेनो नृषु विचेष्टते। तत्तदेव हरेत्तस्य प्रत्यादेशाय पार्थिवः॥' इति (मस्मृ. ८।३३४)। स्वबन्धुभ्यश्चैतद्विशेषेण राज्ञा रक्षितव्यम्। चौररक्षा तु सर्वराष्ट्रविषया विहिता। मेधा.

(२) भाविस्वाम्यादस्मादधीनत्वादिव्याजेन ये बान्धवास्तासां जीवन्तीनां धनं हरेयुः। वक्ष्यमाणचौरदण्डेन धर्मप्रधानो राजा दण्डयेत्। +गोरा.

(३) यदि तु तासां वित्तं संभवति तदाह— जीवन्तीनामिति। मवि.

(४) स्त्रीधनस्य रक्षणीयप्रकरणे तदपहर्तृदण्डविधानमाह— जीवन्तीनां त्विति। स्वदेवरादयो बान्धवाः सोदरादयः। जीवन्तीनामिति विशेषणान्मृतासु बान्धवानामेव स्त्रीधने स्वामित्वं गम्यते। नन्द.

---

* मच., नन्द., भाच. मेधावत्।

\+ मवि., ममु., मच., भाच. गोरावत्।

(१) मस्मृ. ८।२८ इत्यस्योपरिष्टात् प्रक्षिप्तश्लोकोऽयम्, ख. पुस्तके नायं प्रक्षिप्तत्वेनोद्धृतः; समु. १२२ न्नपानं (न्नमासां) यं च (यं तु).

(२) मस्मृ. ८।२९ [तद्धरेयुः स्वबान्धवाः (हरेयुर्बान्धवा धनम्) Noted by Jha]; मिता. २।१४७; अप. २।१४३; व्यक. १४८; स्मृच. १३२,२८४; विर. ५१२; रत्न. १६२; मपा. ६७०; दवि. ३२०; व्यम. ७०; विता. ४४५ तासां ये (तासां यत्) मनुनारदौ; प्रका. ८४; समु. ७२.

प्रनष्टस्वामिकधनव्यवस्था

**प्रनष्टस्वामिकं रिक्थं राजा त्र्यब्दं निधापयेत् ।**
**अर्वाक् त्र्यब्दाद्धरेत्स्वामी परतो नृपतिर्हरेत् *॥**

(१) यद्द्रव्यं स्वामिनो नष्टं प्रमादात्कथञ्चित्पथि गच्छतो भ्रष्टमरण्ये कान्तारे वा स्थापयित्वाऽरण्यपालैरन्यैर्वा राजपुरुषैर्लब्धं राजसकाशमानीतं तद्राज्ञा स्वां रक्षां कृत्वा राजद्वारे राजमार्गे वा प्रकाशं स्थापयितव्यम्। पटहघोषणेन वा कस्य किं हारितमिति प्रकाशयितव्यम् । यतः प्रदेशाल्लब्धं तस्मिन्नेव प्रदेशे रक्षितपुरुषाधिष्ठितं कर्तव्यम् । एवं त्रीणि वर्षाणि स्थापयितव्यम् । तत्रार्वाक् त्रिभ्यो वर्षेभ्यो यः कारणत आत्मीयं ज्ञापयेत्तस्योद्धृतवक्ष्यमाणषड्भागादिभागकं समर्पयितव्यं परतः स्वकोष्ठे प्रवेशनीयमिति ।

प्रनष्टः स्वामी यस्य रिक्थस्य तत्प्रनष्टस्वामिकं, प्रनष्टोऽविज्ञातः, रिक्थं धनं, त्रयाणामब्दानां समाहारस्त्र्यब्दं त्रिवर्षवत् । त्र्यब्दे ङीब्भावः । अब्दशब्दः संवत्सरपर्यायः । निधापयेत्स्थापयेत् । अर्वाक्त्र्यब्दात्पूर्वं त्रिभ्यो वर्षेभ्यः । हरेत्स्वामी स्वीकुर्यात् । अर्वाक्शब्दोऽवधौ दिग्देशादिकान् पूर्वानाह ।

अन्ये तु नृपतिः हरेदिति भोगानुज्ञानमपहारमाहुः । न हि ऊर्ध्वमपि त्रिभ्यो वर्षेभ्यः परकीयस्य द्रव्यस्यापहारो युक्तस्तस्मात्त्रिभ्यो वर्षेभ्य ऊर्ध्वमनागच्छति स्वामिनि राज्ञा भोक्तव्यम् । तैरयं श्लोकः कथं व्याख्यापनीयो 'यत्किञ्चिद्दशवर्षाणी'ति । यदि च परकीयस्यापहारो न युक्त इत्युच्यते भोगोऽपि नैव युक्तः । परकीयं वस्त्रादि च भुज्यमानं नश्यत्येव तत्रानपहारवाचोयुक्तिरेवापहारफलस्य सद्भावात् । गजतुरगादेस्तु कीदृशो भोग इति वाच्यम् । तस्मान्न यथाश्रुतार्थत्यागे कारणमस्ति । हरतिश्च गृह्णात्यर्थे असकृद्दृष्टप्रयोग ऋक्थं हरेदित्यादौ । तस्मात्परेण नृपतिर्हरेत्स्वीकुर्यादित्ययमेवार्थः । * मेधा.

(२) अज्ञायमानस्वामिकं धनं राजा कस्य किं प्रनष्टमित्येवं पटहादिना ख्याप्य द्वारादौ वर्षत्रयं स्थापयेत् । वर्षत्रयादर्वाक् स्वाम्यायातो गृह्णीयादूर्ध्वं पुनर्नृपतिर्गृह्णीयात् । यावत्स्वाम्यागच्छति तावदपहरेत् । एवं परकीयस्य धर्मतो वर्षशतैरपि स्वापहारस्यान्याय्यत्वात् प्रनष्टइत्यादि सोऽर्वाक् । गोरा.

(३) उत्कृष्टगुणब्राह्मणे स्वामिन्येतत् । अप. २।१७३

(४) प्रनष्टोऽदृश्यमानः स्वामी यस्य तद्राजभृत्यैर्लब्धं धनं प्रनष्टस्वामिकं हरेत् स्वामी कृत्स्नं, परेण नृपतिर्हरेत् रक्षकभागमात्रं वक्ष्यमाणम् । मवि.

(५) तदत्यन्तदूरदेशस्वामिस्थितिसंभावनाविषयम् । निधापनं च स्वधनामिश्रभावेन राज्ञा कार्यम् ।

ननु नृपतिः हरेदित्येतत्परद्रव्यापहारप्रतिषेधकशास्त्रविरुद्धम् । सत्यम् । अत एवास्य पृथङ्निहितस्थानात् नृपतिः स्वधनस्थानमाहरेत् इत्यर्थोऽवगन्तव्यः । एवं चावधिमतिक्रम्यागतायापि स्वामिने रूपसंख्यादिभिर्भावितं प्रनष्टाधिगतं देयमेव । किन्तु ततः किञ्चिद्द्रव्यमवध्यतिक्रमापराधात् नृपो गृह्णीयात् । ×स्मृच. १३३

(६) तद्बहुश्रुतवृत्तसंपन्नब्राह्मणविषयमिति मदनरत्ने । ब्राह्मणमात्रविषयमिति केचित् । व्यप्र. २९७

**ममेदमिति यो ब्रूयात्सोऽनुयोज्यो यथाविधि ।**
**संवाद्य रूपसंख्यादीन् स्वामी तद्द्रव्यमर्हति ॥**

(१) कथं पुनः स्वामी प्रनष्टे धने स्वामित्वं ज्ञापयितुमलम् ? आह । यः कश्चिदागत्य ममेदं स्वं द्रव्यमिति ब्रूयात्सोऽनुयोज्यो यथाविधि । अनुयोज्यः प्रष्टव्य इत्यर्थः । कोऽसावनुयोगविधिः, 'को भवान्, किं द्रव्यं हारितं, किं रूपं, किं परिमाणं, किं संख्याकं, संपतितमपतितं वा, यदि पतितं कस्मिन्देशे, तथा कुत आगमितं त्वया' इत्येवं पर्यनुयोगः

---

* मिता.व्याख्यानं 'प्रनष्टाधिगतं' इति याज्ञवल्क्यवचने द्रष्टव्यम् ।

(१) **मस्मृ.** ८।३० परतो (परेण); **मिता.** २।३३: २।१७३ रिक्थं ( द्रव्यं ); **अप.** २।१७३ मितावत्; **स्मृच.** १३३; **मपा.** २२६ त्र्यब्दं ( अब्दं ) त्र्यब्दात् ( अब्दात् ) परतो ( परेण ); **दवि.** २७३ रिक्थं... त्र्यब्दं ( द्रव्यं त्र्यब्दं राजा ); **नृप्र.** १७४ पूर्वार्धे ( प्रनष्टस्वामिकद्रव्यं राज्ञे चैतन्निशामयेत् ) त्र्यब्दाद्धरेत् ( संवत्सरात् ); **वीमि.** २।१७३ प्रनष्ट... रिक्थं ( प्रनष्टाधिगतं द्रव्यं ); **व्यप्र.** २९७ मितावत्; **व्यम.** ८७ मितावत्; **विता.** ५६३ राजा ( राज्ञा ); **राकौ.** ४६८ मितावत्; **प्रका.** ८४; **समु.** ७२.

* मसु., मच. मेधावत् । × भाच. स्मृचवत् ।

(१) **मस्मृ.** ८।३१; **व्यक.** ११८ रूप ( रूपं ); **स्मृच.** १३३ऽनुयो ( नियो ); **विर.** ३४७ व्यकवत्; **मपा.** २२६; **सेतु.** २५२; **प्रका.** ८४ स्मृचवत्; **समु.** ७२.

कर्तव्यः। स यदि संवादयति रूपसंख्यादीन्, रूपं प्राणिवस्त्रादिविषयं, शुक्लं वस्त्रं गौर्वेत्येवमादि। तथा संख्या दश गावो वा युगानि वा। आदिग्रहणाद्धस्तादिप्रमाणं सुवर्णादिपरिमाणं प्रकीर्णरूपकं वा एतत्सर्वं संवादयति तदाऽसौ स्वामी भवति। अतस्तद्द्रव्यमर्हति स्वीकर्तुम्। संवाद उच्यते, यादृशमेकेन प्रमाणेन परिच्छिन्नं तादृशमेवास्यानेन परिच्छिद्यते। रूपसंख्यादिग्रहणं च प्रदर्शनार्थं स्वामित्वकारणानामन्येषामपि साक्ष्यादीनाम्। * मेधा.

(२) रूपं नीलत्वदीर्घत्वादि। मवि.

(३) सभ्यैः संवाद्य सभ्यानां सम्यक् वेदयित्वा। नन्द.

**[१]अवेदयानो नष्टस्य देशं कालं च तत्त्वतः।**
**वर्णं रूपं प्रमाणं च तत्समं दण्डमर्हति॥**

(१) मिथ्या प्रवर्तमानस्य दण्डोऽयमुच्यते। यो न ज्ञापयति नष्टस्य धनस्य देशं कालं चास्मिन्देशे काले वा हारितं, तत्त्वतः परमार्थतो वर्णं शुक्लादिकं रूपं पटी शाटकयुगं वेत्यादिकमाकारं प्रमाणं पञ्चहस्तायामं सप्तहस्तमात्रं वाऽवेदयानस्तदा तत्समं यावति द्रव्ये मिथ्याप्रवृत्तस्तत्तुल्यं दण्डमर्हति। मेधा.

(२) नष्टद्रव्यस्य देशकालौ यथासंभवं च वर्णं शुक्लादिकं आकारं कटकत्वादिकं प्रमाणं च यथावदजानतः तत्तुल्यं दण्डमिति। + गोरा.

(३) अवेदयन्नप्रतिपादयन्। देशमस्मिन्देश इति। वर्णं नीलत्वादि। रूपं कटकत्वादि। प्रमाणं दैर्घ्याद्येकत्वादि। × मवि.

(४) तत्त्वतो वेदयानोऽपि विसंवादं कुर्वाणः तत्समं प्रनष्टाधिगतसमम्। स्मृच. १३३

(५) प्रमाणं संख्यां साक्ष्यादि वा। मच.

**[१]आददीताथ षड्भागं प्रनष्टाधिगतान्नृपः।**
**दशमं द्वादशं वाऽपि सतां धर्ममनुस्मरन् *॥**

(१) आददीत गृह्णीयात्षष्ठं भागं दशमं द्वादशं वा प्रनष्टलब्धाद्द्रव्यात्, अवशिष्टं स्वामिनेऽर्पयेत्। तत्र प्रथमे वर्षे द्वादशो भागो द्वितीये दशमस्तृतीये षष्ठ इति। अथवा रक्षाक्लेशक्षयोपक्षो भागविकल्पः। सतां धर्ममनुस्मरन् शिष्टानामेष समाचार इति जानानः। + मेधा.

(२) अब्दात्परं यद्ग्राह्यं तदाह— आददीतेति। अतिनिर्गुणवदतिगुणवदपेक्षया विकल्पः। सतां धर्ममिति व्यवहारसिद्धं यावत्तावद्वेत्यर्थः। × मवि.

(३) अथेत्यतिक्रान्तावधेः स्वामिनः समागमनानन्तर्यमुच्यते। समागमनस्यात्यन्तविलम्बे षष्ठो भागः नातिविलम्बे तु दशमो भागो विलम्बाभावे तु द्वादशो भाग इति व्यवस्थाऽवगन्तव्या। यत्तु गौतमेनोक्तम् 'ऊर्ध्वमधिगन्तुश्चतुर्थः राज्ञः शेषः' इति तदतिक्रान्तावधिकस्य स्वामिनो नाशनिश्चयविषये द्रष्टव्यम्। स्वामिनि ध्रियमाणे त्वधिगन्तुर्नृपभागचतुर्थांशो भवतीत्यस्मादेव वचनात् गम्यते। स्मृच. १३३

(४) पूर्वं प्रनष्टः देशान्तरं गतः आगतः पश्चादधिगतः तस्मात्पुरुषात् राजा षड्भागं आददीत स्वीकुर्यात्। भाच.

**[२]प्रनष्टाधिगतं द्रव्यं तिष्ठेद्युक्तैरधिष्ठितम्।**
**यांस्तत्र चौरान् गृह्णीयात्तान् राजेभेन घातयेत्॥**

---

* गोरा., ममु., मच. मेधावत्।

+ ममु. गोरावत्। × भाच. मविवत्।

(१) मस्मृ. ८।३२ [ वर्णं रूपं ( वर्णरूप ) Noted by Jha ]; व्यक. ११९ यानो ( यंस्तु ); स्मृच. १३३; विर. ३४७ व्यकवत्; दवि. २७२; सेतु. २५२ देशं ( देश ) शेषं व्यकवत्; प्रका. ८४; समु. ७२ यानो... कालं ( यन् प्रनष्टस्य देशकालौ ); भाच. देशं कालं ( देशकालौ ).

* मिता.व्याख्यानं 'प्रनष्टाधिगतं' इति याज्ञवल्क्यवचने द्रष्टव्यम्।

+ गोरा., अप., विर. मेधातिथिद्वितीयपक्षवत्, मच. मेधातिथिप्रथमपक्षवत्।

× ममु. विकल्पव्यवस्था मविवत्, शेषं मेधावत्। नन्द. मविवत् मेधातिथिद्वितीयपक्षवच्च।

(१) मस्मृ. ८।३३; मिता. २।३३, २।१७३; अप. २।१७३; व्यक. ११९ वाऽपि ( चाऽपि ); स्मृच. १३३; विर. ३४७; मपा. २२६; दवि. २७३; नृप्र. १७४ ताथ ( त तु ); व्यम. ८७; विता. ५६४; प्रका. ८४; समु. ७२.

(२) मस्मृ. ८।३४; व्यक. ११९; स्मृच. १३३

(१) प्रनष्टमधिगतं प्रनष्टाधिगतं पूर्वं प्रनष्टं पश्चादधिगतमधिष्ठितं युक्तैस्तत्परैरारक्षपुरुषैस्तिष्ठेत् तथास्थितमपि यदि केचन चोरा गृह्णीयुस्तान् राजा इभेन हस्तिना घातयेत्। हस्तिग्रहणं अदृष्टार्थम्। मेधा.

(२) यद्द्रव्यं कस्यचित्प्रनष्टं सद्राजपुरुषैर्लब्धं तद्रक्षयेत्। नियुक्तं रक्षितं कृत्वा राज्ञा स्थाप्यं तस्मिंश्च द्रव्ये यान् चौरान् राजा गृह्णीयात् तान् शतादभ्यधिके वध इति दर्शनात् सुवर्णशतमूल्यादिचौर्ये सति हस्तिना घातयेत्। +गोरा.

(३) यद्द्रव्यं कस्यापि प्रनष्टं सत् राजपुरुषैः प्राप्तं रक्षायुक्तैः रक्षितं कृत्वा स्थाप्यम्। तस्मिंश्च द्रव्ये यांश्चौरान् गृह्णीयात्तान् हस्तिना घातयेत्। गोविन्दराजस्तु 'शतादभ्यधिके वधः' इति दर्शनादत्रापि शतसुवर्णस्य मौल्यादिकद्रव्यहरणे वधमाह। तन्न। तत्र संधिं कृत्वा तु यच्चौर्यमिति यत्स्वाम्येऽपि प्रनष्टराजरक्षितद्रव्यहरणेनैव विशेषेण वधविधानाच्छतादभ्यधिके वध इत्यस्य विशेषोपदिष्टवधेतरविषयत्वात्। *ममु.

निधिव्यवस्था

**ममायमिति यो ब्रूयान्निधिं सत्येन मानवः।**
**तस्याददीत षड्भागं राजा द्वादशमेव वा॥**

(१) निखातायां भूमौ गुप्तं स्थापितं धनं निधिरुच्यते। वर्षशतिका वर्षसहस्रिकाश्च निधयो भवन्ति। तत्र यदि भूमेर्विदार्यमाणायाः कथञ्चित्केनचिन्निधिरासाद्यते स तु राजधनम्। तथा च गौतमः—'निध्यधिगमो राजधनम्' इति। एतच्चास्मर्यमाणनिधातृके निधौ द्रष्टव्यम्। तस्य आख्याता षष्ठं लभेतेत्युक्तम्। अयं तु श्लोको यत्राख्यातैव निधाता तत्पुरुषो वा पितृपितामहादिस्तद्विषयो द्रष्टव्यः। ममायं निधिरिति यो ब्रूयात्सत्येन प्रमाणेन ज्ञापयेदित्यर्थः। तस्याददीत षड्भागमिति निश्चिते तत्स्वामिकत्वे राज्ञः षष्ठादिभागग्रहणम्। विकल्पश्च आख्यातृगुणापेक्षया। + मेधा.

(२) तत्संबन्धीदं निधानमित्येवं निधिं अन्येन वा तथ्ये सति तयोः रूपसंख्यादि पूर्वप्रतिज्ञासंवादेन मनुष्यो ब्रूयात्तस्य ततो निधानाद्देशकालवर्णाद्यपेक्षया षड्भागं द्वादशमेव वा राजा गृह्णीयात् शिष्टं तस्योत्सृजेत्। × गोरा.

**अनृतं तु वदन् दण्ड्यः स्ववित्तस्यांशमष्टमम्।**
**तस्यैव वा निधानस्य संख्यायाल्पीयसीं कलाम्॥**

(१) यस्तु मयाऽयं निहितो मत्पूर्वजेन वेति प्रतिज्ञां न साधयति सोऽसत्यवादी दण्ड्यः। यावत्तस्य वित्तमस्ति ततोऽष्टमं भागं तस्यैव वा निधानस्याल्पीयसीं कलां मात्रां भागमित्यर्थः। न तु तदेव द्रव्यं सुवर्णादिकं दापयेत्किन्तु तत्परिमाणमन्यद्वा सममूल्यं यया धनमात्रया दण्डितोऽवसादं न गच्छेद्विनयं वा ग्राह्येत। अनुबन्धादिविशेषापेक्षया पुरुषगुणापेक्षया च विकल्प आश्रयणीयः। आतिशयनिकात्पूर्वदण्डात्स्वल्पो दण्ड इति ज्ञापयति। तेन यस्य बहु वित्तं स्वल्पो निधिस्तत्र निध्यपेक्षां मात्रामष्टमां अर्वाचीनां दण्ड्यः। सा ह्यल्पीयसी भवति। मेधा.

(२) अस्वीयं स्वीयं ब्रुवन् स्वधनस्याष्टमं भागं दण्ड्यः। यद्वा तस्यैव निधानस्यात्यन्ताल्पं भागं विगणय्य स विषादं न गच्छति विनयं च गृह्णीयात्तं दण्ड्यः। गुणवदगुणापेक्षया विकल्पः। ÷ गोरा.

(३) तस्यैवेति ब्राह्मणस्य दण्डः। तस्य निधानस्य शततमो भागो यावान्भागस्तावतीमल्पीयसीं कलामंशम्। संख्याय व्यवस्थाप्य। मवि.

---

\+ मवि. गोरावद्भावः।

* मच. ममुवत्।

यांस्त...यात् ( ये तत्र चोरा गृह्णीयुः ); **विर.** ३४७ घातयेत् ( ताडयेत् ); **विचि.** १४९; **दवि.** १२३ युक्तै ( त्युक्तै ); **प्रका.** ८४ स्मृचवत्; **समु.** ७२ स्मृचवत्.

(१) **मस्मृ.** ८।३५ [ ममाय ( ममेद ) मानवः (हेतुना) Noted by Jha ]; **मिता.** २।३५; **अप.** २।३५; **स्मृच.** १३४; **विर.** ६४२ मानवः ( हेतुतः ); **मपा.** २२६; **दवि.** २८६ विरवत्; **वीमि.** २।३५; **व्यम.** ८८ वा (च); **विता.** ५६५; **सेतु.** २९१ वा ( च ) शेषं विरवत्; **प्रका.** ८४; **समु.** ७३.

\+ अप., ममु., मच., नन्द. मेधावत्।

× मिता. गोरावत्। ÷ ममु., मच. गोरावत्।

(१) **मस्मृ.** ८।३६ ख, संख्याया ( संख्यया ); **अप.** २।३५ पू.; **स्मृच.** १३४ स्ववि ( स वि ) पू.; **विर.** ६४२ दण्ड्यः ( दाप्यः ) संख्याया ( संख्यया ); **दवि.** २८७ मस्मृवत्; **सेतु.** २९१ संख्याया ( मुख्यस्या ); **प्रका.** ८४ स्मृचवत्, पू.; **समु.** ७३.

(४) स्ववित्तस्य अष्टमं अंशं दण्ड्यः। वा पक्षान्तरं, तस्यैव निधानस्य द्रव्यपूर्णकुम्भस्य संख्यायाल्पीयसीं कलां तुच्छककलाम्। कला तु षोडशो भाग इत्यमरः। षोडशीं गृह्णीयादित्यर्थः। भाच.

**[1]विद्वांस्तु ब्राह्मणो दृष्ट्वा पूर्वोपनिहितं निधिम्।**
**अशेषतोऽप्याददीत सर्वस्याधिपतिर्हि सः॥**

(१) यदा विद्वान् ब्राह्मणः पूर्वैः पित्रादिभिरुपहितं निधिं पश्येत्तदा सर्वमेवाददीत। न राज्ञे पूर्वोक्तं भागं दद्यात्। अस्यार्थवादः सर्वस्याधिपतिर्हि सः। तथा चोक्तं सर्वस्वं ब्राह्मणस्येदमिति। एतच्चाशेषतो ग्रहणं यो ब्राह्मणस्वामिक एव निधिः। यस्त्वविज्ञातस्वामिकः तस्मिन्विद्वद्ब्राह्मणदृष्टेऽप्यस्त्येव राज्ञो भागः। यतो वक्ष्यति 'निधीनां तु पुराणानाम्' इति। ×मेधा.

(२) शास्त्रवित्पुनर्ब्राह्मणः पित्रादिस्थापितं निधिं दृष्ट्वा राज्ञो भागं न दद्यात्। अशेषं गृह्णीयाद्यस्मात्सर्वस्य धनजातस्य ब्राह्मणः प्रभुः इत्यशेषग्रहणार्थवादः। एवं च ममायमिति। अयमविद्वद्ब्राह्मणविषयः क्षत्रियादिविषयश्च। +गोरा.

(३) विद्वद्ग्रहणं षट्कर्मिणोऽप्युपलक्षणार्थम्। स्मृच. १३४

(४) विद्वान्पुनर्ब्राह्मणः पूर्वमुपनिहितं निधिं दृष्ट्वा सर्वं गृह्णीयात्। न षड्भागं दद्यात्। यस्मात्सर्वस्य धनजातस्य प्रभुः। अत एवोक्तम् 'सर्वस्वं ब्राह्मणस्येदम्' इति। तस्मात्परनिहितविषयमेतद्वचनम्। तथा च नारदः— 'परेण निहितं लब्ध्वा राजा ह्यपहरेन्निधिम्। राजा स्वामी निधिः सर्वः सर्वेषां ब्राह्मणादृते॥' याज्ञवल्क्योऽप्याह—'राजा लब्ध्वा निधिं दद्याद्द्विजेभ्योऽर्धं द्विजः पुनः। विद्वानशेषमादद्यात्स सर्वस्य प्रभुर्यतः॥' अतो यन्मेधातिथिगोविन्दराजाभ्यां 'ममायमिति यो ब्रूयात्' इत्युक्तं, राजदेयार्थनिरासार्थं पित्रादिनिहितविषयत्वमेवास्य वचनस्य व्याख्यातं तदनार्षम्। नारदादिमुनिव्याख्याविपरीतं स्वकल्पितं न मेधातिथिगोविन्दराजव्याख्यानमाद्रिये। *ममु.

(५) इति मनुवचने विद्वत्त्वमपि षट्कर्मनिरतब्राह्मणपरमेव। दवि. २८९

[मन्वर्थमुक्तावलीमतं खण्डयति] तत्र यद्यपि नारदवाक्ये सर्वेषामिति षष्ठ्यन्तादुपस्थितेषु स्वामिषु ब्राह्मणादृते इत्यनेन ब्राह्मणस्वामिकस्य निधेः राजगामित्वं प्रतिषिध्यते, न तु ब्राह्मणाधिगतस्य याज्ञवल्क्यवाक्ये च ब्राह्मणस्य सर्वप्रभुत्वश्रुतिरर्थवादमात्रं सर्वस्वं ब्राह्मणस्येदमित्यादिवत्।

अन्यथा बहुविरोधोऽतिप्रसङ्गश्च स्यादतो न तदभिधानवैफल्यापत्तेरपि परनिधिपरत्वं कल्प्यते।

तथापि राजा लब्ध्वेत्यत्र निधिपदस्य परनिधिपरत्वध्रौव्यादादद्यादित्यत्रापि तस्यैवान्वयत उपस्थितत्वात्। स च ब्राह्मणस्वामिकोऽपि यदि तत्त्वेन न निश्चीयते तदा तं राजा हरेदेव। अन्यथा अनध्यवसायेनापरिग्रहे निधिग्राहकानेकवचनवैफल्यात्।

अथ यदि निधिपात्रलिखनाद्वा दैवज्ञप्रश्नादेर्वा तत्तथावध्रियते तदा राजापि न हरेत्। ब्राह्मणादृते इति नारदवचनात्। तस्मादेनं प्राप्य ब्राह्मणेभ्यो दद्यात् ब्रह्मस्वं ब्राह्मणो नयेदिति संभूयसमुत्थानप्रकरणीयबृहस्पतिवचनसंवादात् ततः सजातिरित्यनपत्यधनप्रकरणीयनारदवचनस्वरसाच्च।

नन्वेवं परस्वादानं ब्राह्मणस्य स्यादिति चेत् न अस्मादेव वचनात् परकीयेऽपि निधौ तस्य स्वत्वावगमात्। 'स्वामी रिक्थक्रयविभागपरिग्रहाधिगमेष्वि'ति गौतमस्मरणाच्च। अधिगमो निध्यादेः प्राप्तिरिति निबन्धेषु व्याख्यानात्। दवि. २९०

**[1]ब्राह्मणस्तु निधिं लब्ध्वा क्षिप्रं राज्ञे निवेदयेत्।**
**तेन दत्तं तु भुञ्जीत स्तेनः स्यादनिवेदयन्॥**
**[2]यं तु पश्येन्निधिं राजा पुराणं निहितं क्षितौ।**
**तस्माद्द्विजेभ्यो दत्त्वाऽर्धमर्धं कोशे प्रवेशयेत्॥**

---

× मति. मेधावत्। + शेषं मेधावत्।

(१) मस्मृ. ८।३७ [ निधिम् ( धनम् ) Noted by Jha ]; अप. २।३४; स्मृच. १३४; मपा. २२६ तोऽप्या ( मप्या ); दवि. २८९; प्रका. ८४; समु. ७३ स्याधि ( स्यापि ).

* मच. ममुवत्।

(१) मस्मृ. ८।३७ इत्यस्योपरिष्टात् प्रक्षिप्तश्लोकोऽयम्।

(२) मस्मृ. ८।३८; अप. २।३४ यं तु ( यत्र )

(१) यो राज्ञा स्वयं निधिरधिगतस्तस्मान्निधेरयं ब्राह्मणेभ्यो दाननियमो राज्ञः। कोशशब्देन वित्तसंचयस्थानमुच्यते । पुराणं निहितं क्षिताविति निधिरूपानुवादः। मेधा.

(२) यं पुनः चिरन्तनमस्वामिकं भूमिप्रक्षिप्तं निधिं लभेत तस्मादर्धं ब्राह्मणेभ्यो दत्त्वा अर्धमात्मनोऽर्थागारं प्रवेशयेत्। + गोरा.

निधीनां तु पुराणानां धातूनामेव च क्षितौ।
अर्धभाग्रक्षणाद्राजा भूमेरधिपतिर्हि सः॥

(१) अन्येनापि दृष्टस्य निधेः राज्ञा भागः पूर्वोक्तो ग्रहीतव्य इत्यस्य विधेरर्थवादोऽयं निधीनां हि पुराणानामिति। धातूनामेव च क्षितावयं त्वप्राप्तविधिः। सुवर्णरूप्यादि बीजम्। मृदः सिन्दूरकालाञ्जनाद्याश्च धातवः। सुवर्णाद्याकरभूमीर्यः खनति यो वा पर्वतादिषु गैरिकादिधातूनुपजीवति तेनापि पूर्ववद्राज्ञे भागो दातव्यः। अर्धभागिति अर्धशब्दोंऽशमात्रवचनः समासनिर्देशात्। यथा ग्रामार्धो नगरार्धमिति। नपुंसकलिङ्गस्तु समप्रविभागः। इह तु समासे लिङ्गविशेषप्रतिपत्त्यभावात्पूर्वस्य चशब्दवशात् षड्दशद्वादशादेर्भागस्य प्रकृतत्वात्तद्वचनो विज्ञायते। अर्धं भजत एकदेशं गृह्णातीत्यर्थः। अत्र हेतुः रक्षणादिति। यद्यपि क्षितौ निहितस्य केनचिदज्ञानान्न राजकीयरक्षोपयुज्यते, तथापि तस्य बलवताऽपहारः संभाव्यते अतोऽस्त्येव रक्षाया अर्थवत्त्वम्। एतदर्थमेवाह। भूमेरधिपतिर्हि सः। प्रभुरसौ भूमेस्तदीयायाश्च भुवो यल्लब्धं तत्र युक्तं तस्य भागादानम्। × मेधा.

(२) चिरन्तनानां निधीनामस्वामिकानां अन्येनापि लब्धानां भूमिगतानां च सुवर्णानां अर्धहरो राजा यस्माद्रक्षणादसौ भूमिस्वामीति। गोरा.

(३) धातूनां हेमादीनामाकरस्थानां चकाराद्रत्नानां च। रक्षणादिति भूमेरधिपतिरिति च हेतुद्वयम्। मवि.

(४) तत् उक्तलक्षणब्राह्मणाधिगतास्मर्यमाणस्वामिकनिधिविषयं, पुराणानामित्यभिधानात्। यत्तु वसिष्ठेनोक्तम्— 'अप्रज्ञायमानं वित्तं योऽधिगच्छेद्राजा तद्धरेदधिगन्त्रे षष्ठमंशं प्रदाय' इति (वस्मृ. ३।१४)। तदुक्तलक्षणरहिताधिगन्तृविषयम्। स्मृच. १३४

(५) निधीनां पुरातनानामस्वकीयानां विद्वद्ब्राह्मणेतरलब्धानां सुवर्णाद्युत्पत्तिस्थानानां चार्धहरो राजा। यस्मादसौ रक्षति भूमेश्च प्रभुः। +ममु.

धने चौरहृते व्यवस्था

दातव्यं सर्ववर्णेभ्यो राज्ञा चौरैर्हृतं धनम्।
राजा तदुपयुञ्जानश्चौरस्याप्नोति किल्बिषम्॥

(१) चौरैः यन्नीतं किञ्चिद्धनं तद्राजा प्रत्याहृत्य नात्मन्युपयुञ्जीत। किं तर्हि य एव मुषितास्तेभ्य एव प्रतिपादयितव्यम्। सर्वग्रहणेन च चण्डालेभ्योऽपि देयमिति। 'चौराहृतम्' इत्यन्यस्मिन्पाठे चौरैः समाहृतमिति विगृह्य साधनं कृतेति समासः। पाठान्तरे चौरहृतमिति तृतीयेति योगविभागात्पूर्ववद्वा समासः। अयं त्वत्रार्थो, यच्चौरैः हृतमशक्यप्रत्यानयनं तद्राज्ञा स्वकोशाद्दातव्यम्। उत्तरश्लोकार्ध एवं योजनीयः। राजा तदुपयुञ्जान इति। अनेकार्थत्वाद्धातूनामुपपूर्वो युजिर्लक्षणया वाऽप्रतिपादन एव द्रष्टव्यः। यो ह्यन्यस्मै प्राप्तकालं धनं न ददाति स्वप्रयोजनेषु विनियुङ्क्ते तेन तदीयमेव तदुपयुक्तं भवतीति युक्तमुच्यते। राजा तदुपयुञ्जानश्चौरस्याप्नोति किल्बिषं पापम्। * मेधा.

---

\+ मवि., स्मृच., ममु., मच., नन्द. गोरावत्।

× नन्द. मेधावत्।

प्रवे (निवे); स्मृच. १३४ धंमर्धं (र्धं शेषं) शेषं अपवत्; विर. ६४५ यं तु (यत्तु) प्रवे (निवे); मपा. २२६; सेतु. २९३ यं तु (यस्तु) णं नि (णनि) प्रवे (निवे); प्रका. ८४ स्मृचवत्; समु. ७३ तस्माद् (तस्य) प्रवे (निवे).

(१) मस्मृ ८।३९; मेधा. नां तु (नां हि); स्मृच. १३४ मेधावत्; विर. ६४५ मेव च क्षितौ (माकरस्य च) अर्ध ... द्राजा (रक्षणादर्धभाग्राजा); मच. मेधावत्; सेतु. २९३ निधीनां तु (निधानानां) शेषं विरवत्; प्रका. ८४ मेधावत्; समु. ७३ मेधावत्; नन्द. मेधावत्.

\+ मच. ममुवत्। अर्धशब्दो मेधावत्।

* गोरा. मेधावत्।

(१) मस्मृ. ८।४०; मेधा. चौराहृतं इति, चौरहृतं इति पाठः; मिता. २।३६ चौरैर्हृतं (चौरहृतं); अप. २।३६ मितावत्; वीमि. २।३६; व्यम. ८८ युञ्जा (भुञ्जा); विता. ५६७ व्यमवत्; समु. १५२; नन्द. मितावत्; भाच. मितावत्.

(२) यच्चौरैर्हृतं लोकानां धनं तद्राज्ञा चौरेभ्यश्चाहृतं धनं तेभ्यो देयम्। यस्मात् राजा स्वीकुर्वन् चौरस्य यावत्पापं तावत्प्राप्नोति। +गोरा.

(३) यद्धनं चौरैर्लोकानामपहृतं तद्राज्ञा चौरेभ्य आहृत्य धनस्वामिभ्यो देयम्। तद्धनं राजा स्वयमुपयुञ्जानश्चौरस्य पापं प्राप्नोति। ÷ममु.

## याज्ञवल्क्यः

प्रनष्टास्वामिकधनव्यवस्था

**प्रनष्टाधिगतं देयं नृपेण धनिने धनम्।**
**विभावयेन्न चेल्लिङ्गैस्तत्समं दण्डमर्हति॥**

(१) यस्माच्च राजा व्यवहारविधावग्न्यो दण्डधरः, तस्मात्—'प्रनष्टाधिगतं देयं नृपेण धनिने धनम्। विभावयेन्न चेल्लिङ्गैस्तत्समं दण्डमर्हति॥' कस्यचित् प्रनष्टं यदि राज्ञान्येन वाधिगतं लब्धं तद् यदि धनिना प्रार्थ्यते। ततः, किं तत्, कियत्संख्यं चेत्येवं पृष्ट्वाविसंवादकस्यान्विष्यार्पणीयम्। न चेदेवं विभावयेत् तत्समं दण्ड्यः। विश्व. २।३५

(२) परावर्त्यं व्यवहारमुक्त्वा इदानीं परावर्त्यं द्रव्यमाह— प्रनष्टाधिगतमिति। प्रनष्टं हिरण्यादि शौल्किकस्थानपालादिभिरधिगतं राज्ञे समर्पितं यत्तद्राज्ञा धनिने दातव्यम्। यदि धनी रूपसंख्यादिभिर्लिङ्गैर्भावयति। यदि न भावयति तदा तत्समं दण्ड्यः। असत्यवादित्वात्। अधिगमस्य स्वत्वनिमित्तत्वात्स्वत्वे प्राप्ते तत्परावृत्तिरनेनोक्ता। अत्र च कालावधिं वक्ष्यति—'शौल्किकैः स्थानपालैर्वा नष्टापहृतमाहृतम्। अर्वाक्संवत्सरात्स्वामी हरेत परतो नृपः॥' इति। मनुना पुनः संवत्सरत्रयमवधित्वेन निर्दिष्टम्— 'प्रनष्टस्वामिकं रिक्थं राजा त्र्यब्दं निधापयेत्। अर्वाक्त्र्यब्दाद्धरेत्स्वामी परतो नृपतिर्हरेत्॥' इति। तत्र वर्षत्रयपर्यन्तमवश्यं रक्षणीयम्। तत्र यदि संवत्सरादर्वाक् स्वाम्यागच्छेत्तदा कृत्स्नमेव दद्यात्। यदा पुनः संवत्सरादूर्ध्वमागच्छति तदा षड्भागं रक्षणमूल्यं गृहीत्वा शेषं स्वामिने दद्यात्। यथाह— 'आददीताथ षड्भागं प्रनष्टाधिगतान्नृपः। दशमं द्वादशं वापि सतां धर्ममनुस्मरन्॥' इति। तत्र प्रथमे वर्षे कृत्स्नमेव दद्यात्, द्वितीये द्वादशं भागं, तृतीये दशमं, चतुर्थादिषु षष्ठं भागं गृहीत्वा शेषं दद्यात्। राजभागस्य चतुर्थोऽशोऽधिगन्त्रे दातव्यः। स्वाम्यनागमे तु कृत्स्नस्य धनस्य चतुर्थमंशमधिगन्त्रे दत्त्वा शेषं राजा गृह्णीयात्। तथाह गौतमः—'प्रनष्टस्वामिकमधिगम्य संवत्सरं राज्ञा रक्ष्यमूर्ध्वमधिगन्तुश्चतुर्थोऽशो राज्ञः शेषम्' इति। अत्र संवत्सरमित्येकवचनमविवक्षितम्। 'राजा त्र्यब्दं निधापयेत्' इति स्मरणात् – 'हरेत परतो नृपः' इत्येतदपि स्वामिन्यनागते त्र्यब्दादूर्ध्वं व्ययीकरणाभ्यनुज्ञापरम्। ततः परमागते तु स्वामिनि व्ययीभूतेऽपि द्रव्ये राजा स्वांशमवतार्य तत्समं दद्यात्। एतच्च हिरण्यादिविषयम्। गवादिविषये वक्ष्यति—'पणानेकशफे दद्यात्' इत्यादिना। मिता.

(३) न चेद्विभावयति तदा स्तेयप्रवृत्तत्वात्प्रनष्टद्रव्यसमेन धनेन दण्डनीयः। +अप.

(४) 'व्यवहारान्न यः पश्ये'दित्युक्तं तत्र न केवलमुक्तलक्षण एव व्यवहारो द्रष्टव्यः, किन्तु प्रतिवादिशून्योऽपि साक्ष्यादिनिबन्धननिर्णयफलकतया पराजयनिबन्धनदण्डग्रहणफलकतया च व्यवहारप्रतिरूपकः संदिह्यमानस्वत्वनिध्यादौ ममायमिति प्रतिज्ञातत्साधकप्रमाणनिर्देशरूपोऽपि तथेत्यभिप्रेत्य निध्यादौ व्यवस्थामाह चतुर्भिः—प्रनष्टाधिगतमिति। निधिस्तावत्पूर्वनिखातं चिरप्रतिष्ठं धनम्। तच्च स्वस्वपित्रादिनिहितपरनिहितभेदाद्द्विधा। तत्राद्यं प्रनष्टमथाऽधिगतं धनिना राजपुरुषादिना धनं निधिरूपं वा धनिने ममेदं धनमिति ब्रुवते नृपेण देयं चेत् लिङ्गैः प्रमाणैस्तद्धनं विभावयेत् स्वीयतया प्रमापयेत्। न चेद्विभावयेत्तदा विवादविषयीभूतनिधिसमं दण्डं तादृगनृताभिधानापराधेनार्हति। वीमि.

**हृतं प्रनष्टं यो द्रव्यं परहस्तादवाप्नुयात्।**
**अनिवेद्य नृपे दण्ड्यः स तु षण्णवतिं पणान्॥**

+ नन्द. गोरावत्।

÷ मवि., मच., भाच. ममुवत्।

(१) **यास्मृ.** २।३३; **अपु.** २५३।६१-२ दण्ड (दातु); **विश्व.** २।३५; **मिता.**; **अप.**; **गौमि.** १०।३७; **स्मृच.** १३३ पृ.; **दवि.** २७२; **सवि.** ४९० देयं (द्रव्यं); **वीमि.**; **विता.** ५६३; **प्रका.** ८४ पृ.; **समु.** ७२.

+ शेषं विश्ववत्।

(१) **यास्मृ.** २।१७२; **अपु.** २५७।२३; **विश्व.**

(१) यतश्चैतदेवं अतः— 'हृतं प्रनष्टं यो द्रव्यं परहस्तादवाप्नुयात् । अनिवेद्य नृपे दण्ड्यः स तु षण्णवतिं पणान् ॥' स्पष्टार्थः श्लोकः । विश्व. २।१७६

(२) तस्करस्य प्रच्छादकं प्रत्याह— हृतमिति । हृतं प्रनष्टं वा चौरादिहस्तस्थं द्रव्यं अनेन मदीयं द्रव्यमपहृतमिति नृपस्यानिवेद्यैव दर्पादिना यो गृह्णाति असौ षडुत्तरान्नवतिं पणान् दण्डनीयः । तस्करप्रच्छादकत्वेन दुष्टत्वात् । *मिता.

(३) अव्यवस्थायां मूलधनानुसारेण वृद्धिक्षयौ । व्यवस्थायां तु व्यवस्थानुसारेणैव तावित्यर्थः । विचि.४५

(४) अस्वामिनो विक्रेतुस्तत्सकाशात् क्रेतुश्च प्रच्छादेन स्वामिनो दण्डमाह—हृतमिति । तुशब्देन निवेदने दण्डं व्यवच्छिनत्ति । वीमि.

**शौल्किकैः स्थानपालैर्वा नष्टापहृतमाहृतम् ।**
**अर्वाक्संवत्सरात्स्वामी हरेत परतो नृपः ॥**

(१) अर्वाक् संवत्सरात् स्वामी गृह्णीयात् । परतो नृपतिर्गृह्णीयात् । विश्व. २।१७७

(२) राजपुरुषानीतं प्रत्याह— शौल्किकैरिति । यदा तु शुल्काधिकारिभिः स्थानरक्षिभिर्वा नष्टमपहृतं द्रव्यं राजपार्श्वं प्रत्यानीतं तदा संवत्सरादर्वाक् प्राप्तश्चेत् नाष्टिकस्तद्द्रव्यमवाप्नुयात् । ऊर्ध्वं पुनः संवत्सराद्राजा गृह्णीयात् । स्वपुरुषानीतं च द्रव्यं जनसमूहेषूद्घोष्य यावत्संवत्सरं राज्ञा रक्षणीयम् । यथाह गौतमः— 'प्रनष्टस्वामिकमधिगम्य राज्ञे प्रब्रूयुर्विख्यातं संवत्सरं राज्ञा रक्ष्यम्' इति । यत्पुनर्मनुना विध्यन्तरमुक्तम्— 'प्रनष्टस्वामिकं द्रव्यं राजा त्र्यब्दं निधापयेत् । अर्वाक् त्र्यब्दाद्धरेत्स्वामी परतो नृपतिर्हरेत् ॥' इति तत् श्रुतवृत्तसंपन्नब्राह्मणविषयम् । रक्षणनिमित्तषड्भागादिग्रहणं च तेनैवोक्तम् —'आददीताथ षड्भागं प्रनष्टाधिगतात् नृपः । दशमं द्वादशं वापि सतां धर्ममनुस्मरन् ॥' इति ( मस्मृ. ८।३३ ) । तृतीयद्वितीयप्रथमसंवत्सरेषु यथाक्रमं षष्ठादयो भागा वेदितव्याः । प्रपञ्चितं चैतत्पुरस्तात् । + मिता.

(३) प्रनष्टाधिगतं संवत्सरादर्वागेव ग्रहीतुमर्हतीत्याह याज्ञवल्क्यः—शौल्किकैरिति । स्मृच. १३३

**पणानेकशफे दद्याच्चतुरः पञ्च मानुषे ।**
**महिषोष्ट्रगवां द्वौ द्वौ पादं पादमजाविके ॥**

(१) पारितोषिकान् राज्ञे—'पणानेकशफे दद्याच्चतुरः पञ्च मानुषे । महिषोष्ट्रगवां द्वौ द्वौ पादं पादमजाविके ॥' विश्व. २।१७८

(२) मनूक्तषड्भागादिग्रहणस्य द्रव्यविशेषेऽपवादमाह —पणानेकशफे दद्यादिति । एकशफे अश्वादौ प्रनष्टाधिगते तत्स्वामी राज्ञे रक्षणनिमित्तं चतुरः पणान् दद्यात् । मानुषे मनुष्यजातीये द्रव्ये पञ्च पणान् । महिषोष्ट्रगवां रक्षणनिमित्तं प्रत्येकं द्वौ द्वौ पणौ अजाविके पुनः प्रत्येकं पादं पादम् । दद्यादिति सर्वत्रानुषज्यते । अजाविकमिति समासनिर्देशेऽपि पादं पादमिति वीप्साबलात्प्रत्येकं संबन्धोऽवगम्यते । × मिता.

---

* अप., स्मृच., विर., पमा., दवि., व्यप्र., विता. मितावत् ।

२।१७६; मिता.; अप.; व्यक. १३८; स्मृच. २१३; विर. ११०; पमा. २९१; विचि. ४४; व्यनि. २७६; स्मृचि. १७; दवि. ३२९; नृप्र. १७१; सवि. ४९५ ( = ); वीमि.; व्यप्र. २९२; विता. ५७४; राकौ. ४६८; सेतु. १४०; समु. १०४.

(१) यास्मृ. २।१७३; अपु. २५७।२४ शौल्कि ( शौल्वि ) हरेत ( लभते ); विश्व. २।१७७ हरेत ( लभेत ); मिता. २।३३,१७३; अप.; व्यक. ११८; स्मृच. १३३; विर. ३४६; विचि. १४८ हरेत ( हरेत्तु ); सवि. ४९० पूर्वार्धे ( शौल्किके स्थानपाले वा निष्ठापहृतमाहृतम् ) त पर ( त्तपर ); वीमि.; व्यप्र. २९७; व्यम. ८७; विता. ५६३ त पर ( त्तपर ); राकौ. ४६८ हरेत ( उद्धरेत् ); सेतु. २५१ विचिवत्; प्रका. ८४; समु. ७२; विव्य. ५३ विचिवत्.

+ अप., वीमि. मितावत् ।

× स्मृतिचन्द्रिकायां मिताक्षराऽपरार्कानुवादः । वीमि. मितावत् ।

(१) यास्मृ. २।१७४; अपु. २५७।२५; विश्व. २।१७८; मिता.; अप.; व्यक. ११८; स्मृच. १३३; विर. ३४६; दवि. २७४ गवां द्वौ ( गवादौ ); नृप्र. १७४; वीमि.; व्यम. ८७; राकौ. ४६९; सेतु. २५२ मानुषे ( मांशके ); प्रका. ८४; समु. ७२-३.

(३) द्रव्यविशेषं प्रति यावदधिगमे देयं तदाह— पणानिति । एतच्च प्रतिव्यक्ति देयम् । न तु प्रतिजाति । ×अप.

निधिव्यवस्था

**राजा लब्ध्वा निधिं दद्याद्द्विजेभ्योऽर्धं द्विजः पुनः ।**
**विद्वानशेषमादद्यात्स सर्वस्य प्रभुर्यतः ॥**

(१) यत्तूत्सन्नस्वामिकं निध्यादिकं तत्र का कथा । उच्यते—राजा लब्ध्वा निधिं दद्यादिति । स सर्वस्य प्रभुरित्यनेन प्रतिग्रहाद्यभावेऽपि स्वत्वसंबन्धोऽस्तीति ज्ञापयति । *विश्व. २।३६

(२) रथ्याशुल्कशालादिनिपतितस्य सुवर्णादेर्नष्टस्याधिगमे विधिमुक्त्वा अधुना भूमौ चिरनिखातस्य सुवर्णादेर्निधिशब्दवाच्यस्याधिगमे विधिमाह— राजेति । उक्तलक्षणं निधिं राजा लब्ध्वा अर्धं ब्राह्मणेभ्यो दत्त्वा शेषं कोशे निवेशयेत् । ब्राह्मणस्तु विद्वान् श्रुताध्ययनसंपन्नः सदाचारो यदि निधिं लभेत तदा सर्वमेव गृह्णीयात् । यस्मादसौ सर्वस्य जगतः प्रभुः । मिता.

**इतरेण निधौ लब्धे राजा षष्ठांशमाहरेत् ।**
**अनिवेदितविज्ञातो दाप्यस्तं दण्डमेव च ॥**

(१) इतरेण ब्राह्मणेनैवानभिरूपेणेत्यर्थः । गौतमीयं त्वब्राह्मणविषयं 'निध्यधिगमो राजधनम्' इति । यावान् निध्यधिगमः स सर्वो राजधनमित्यर्थः । तथा च 'न ब्राह्मणस्यानभिरूपस्य' इत्युक्त्वाह— 'अब्राह्मणोऽप्याख्याता षष्ठं लभेतेत्येके' इति । अनाख्याय तु गृह्णन् ब्राह्मणोऽपि सर्वमादाय शक्त्यनुरूपेण दण्ड्यः स्यात् । विद्वांस्तु 'स सर्वस्य प्रभुरि'ति वचनादनाख्यायापि गृह्णन् न दोषभागित्यर्थः । विश्व. २।३७

(२) इतरेण तु राजविद्वद्ब्राह्मणव्यतिरिक्तेन अविद्वद्ब्राह्मणक्षत्रियादिना निधौ लब्धे राजा षष्ठांशमधिगन्त्रे दत्त्वा शेषं निधिं स्वयमाहरेत् । यथाह वसिष्ठः—'अप्रज्ञायमानं वित्तं योऽधिगच्छेद्राजा तद्धरेत् षष्ठमंशमधिगन्त्रे दद्यात्' इति । गौतमोऽपि—'निध्यधिगमो राजधनं भवति, न ब्राह्मणस्याभिरूपस्य, अब्राह्मणोऽप्याख्याता षष्ठमंशं लभेतेत्येके' इति । अनिवेदित इति कर्तरि निष्ठा । अनिवेदितश्चासौ विज्ञातश्च राज्ञेऽप्यनिवेदितविज्ञातः, यः कश्चिन्निधिं लब्ध्वा राज्ञे न निवेदितवान् विज्ञातश्च राज्ञा स सर्वं निधिं दाप्यो दण्डं च शक्त्यपेक्षया । अथ निधेरपि स्वाम्यागत्य रूपसंख्यादिभिः स्वत्वं भावयति तदा तस्मै राजा निधिं दत्त्वा षष्ठं द्वादशं वांशं स्वयमाहरेत् । यथाह मनुः— 'ममायमिति यो ब्रूयान्निधिं सत्येन मानवः । तस्याददीत षड्भागं राजा द्वादशमेव वा ॥' इति ( मस्मृ. ८।३५ ) । अंशविकल्पस्तु वर्णक्रमाद्यपेक्षया वेदितव्यः । +मिता.

धने चौरहृते व्यवस्था

**देयं चौरहृतं द्रव्यं राज्ञा जानपदाय तु ।**
**अददद्धि समाप्नोति किल्बिषं यस्य तस्य तत् ॥**

(१) यतश्च निध्यादिष्वस्वामिकेषु राज्ञः प्रभुत्वं, तत एव च— 'देयं चोरहृतं द्रव्यं राज्ञा जनपदाय तु ।' कस्मात् । यस्माद्— 'अददद्धि समाप्नोति किल्बिषं तस्य यस्य तत् ।' पालकत्वेन हि राजगामिता निध्यादेः । पालकश्चेत् किमिति परकीयं चोरादिहृतं न प्रयच्छेदित्यभिप्रायः । जनपदग्रहणं सर्वार्थम् । न ब्राह्मणायैवेत्यर्थः ।

---

× शेषं मितावत् ।

* अप., वीमि., विश्ववत् ।

(१) यास्मृ. २।३४; विश्व. २।३६; मिता.; अप.; मसु. ८।३७; विर. ६४३-४; व्यनि. ५३३ निधिं (निधीन्); दवि. २८९; दात. १८३; वीमि.; व्यम. ८८; विता. ५६४ लब्ध्वा निधिं ( लब्धनिधिः ); सेतु. २९२; समु. ७३; विच. ९७.

(२) यास्मृ. २।३५; विश्व. २।३७ स्तं द ( स्तद्द ); मिता.; अप.; स्मृच. १३४ माहरेत् ( मामुयात् ); विर. ६४४ ज्ञातो ( ज्ञातं ) शेषं विश्ववत्; व्यनि. ५३३ दाप्यस्तं ( राज्ञस्तद् ); दवि. २८७ पू.: २९२ उत्त.; दात. १८३; मच. ८।३९ अनि ( अना ); वीमि.; व्यम. ८८ ज्ञातो ( ज्ञानो ); विता. ५६४; सेतु. २९२ पू.; प्रका. ८४ स्मृचवत्, पू.; समु. ७३; विच. ९७

+ अप., वीमि. मितावत् ।

(१) यास्मृ. २।३६; अपु. २५३।६२ जान ( जन ); विश्व. २।३८ जान ( जन ) यस्य तस्य ( तस्य यस्य ); मिता.; अप. विश्ववत्; व्यनि. ५३२ अपुवत्, पू., नारदः; दवि. ८५ तु ( च ) दद्धि ( दत् स ) यस्य तस्य ( तस्य यस्य ); वीमि.; विता. ५६७ अद ( आद ) यस्य तस्य ( तस्य यस्य ); समु. १५२.

तथा च बृहस्पतिः—'चोरापहृतं तु सर्वेभ्योऽन्विष्यार्पणीयं अलाभे स्वकोशाद् वा, अददच्चोरकिल्बिषी स्यात्' इत्यादि । विश्व. २।३८

(२) चौरहृतं प्रत्याह—देयमिति । चौरैर्हृतं द्रव्यं चौरेभ्यो विजित्य जानपदाय स्वदेशनिवासिने यस्य तत् द्रव्यं तस्मै राज्ञा दातव्यम् । हि यस्मात् अददत् अप्रयच्छन् यस्य तदपहृतं द्रव्यं तस्य किल्बिषमाप्नोति । तस्य चोरस्य च । यथाह मनुः—'दातव्यं सर्ववर्णेभ्यो राज्ञा चौरैर्हृतं धनम् । राजा तदुपयुञ्जानश्चौरस्याप्नोति किल्बिषम् ॥' इति । यदि चौरहस्तादादाय स्वयमुपभुङ्क्ते तदा चौरस्य किल्बिषमाप्नोति । अथ चौरहृतमुपेक्षते तदा जानपदस्य किल्बिषम् । अथ चौरहृताहरणाय यतमानोऽपि न शक्नुयादाहर्तुं तदा तावद्धनं स्वकोशाद्दद्यात् । यथाह गौतमः—'चौरहृतमवजित्य यथास्थानं गमयेत्कोशाद्वा दद्यात्' इति । कृष्णद्वैपायनोऽपि—'प्रत्याहर्तुं न शक्तस्तु धनं चौरैर्हृतं यदि । स्वकोशात्तद्धि देयं स्यादशक्तेन महीक्षिता ॥' इति । + मिता.

## नारदः

निधिव्यवस्था

[१]परेण निहितं लब्ध्वा राजन्युपहरेन्निधिम् ।
राजगामी निधिः सर्वः सर्वेषां ब्राह्मणादृते ॥

परेण निहितं निधिं यो लभेत स राज्ञे ढौकयेत् । अत्र हेतुमाह—अस्वामिकं राजगामि यतः सर्वं तस्मात् तस्योपहरेद् ब्राह्मणवर्जम् । तेन यल्लब्धं तदात्मन एव । इतरो यद् राजा तुष्टो ददाति तदेव लभत इति ।
नाभा. ८।६ (पृ. १०७)

[२]ब्राह्मणोऽपि निधिं लब्ध्वा क्षिप्रं राज्ञे निवेदयेत् ।
तेन दत्तं च भुञ्जीत स्तेनः स्यादनिवेदयन् ॥

ब्राह्मणोऽपि लब्ध्वा निधिं राज्ञे निवेदयेत् अयं मया लब्ध इति । तेनानुज्ञातो भुञ्जीत, अन्यथा चोरः स्यात् ।
नाभा. ८।७ (पृ. १०७)

प्रनष्टास्वामिकधनव्यवस्था

अस्वामिकमदायादं दशवर्षस्थितं ततः ।
राजा तदात्मसात्कुर्यादेवं धर्मो न हीयते * ॥

अस्वामिकं प्रमीतस्वामिकमदायादं दायादादिरिक्थहरशून्यम् । अत्र च एकाब्दत्र्यब्ददशाब्दानां शङ्कितदूरदूरतरदूरतमाद्यवस्थितदायादागमनापेक्षया व्यवस्था कार्या । विर. ११७

[१]स्वमप्यर्थं तथा नष्टं लब्ध्वा राज्ञे निवेदयेत् ।
गृह्णीयात्तत्र तं शुद्धमशुद्धं स्यात्ततोऽन्यथा ॥

आत्मीयमप्यर्थं नष्टमित्यवघोषितं पुनर्लभेत चेत् तथैव राज्ञे निवेदयेत् । अनुज्ञातं तच्छुद्धं भवति, अशुद्धमन्यथा स्यात् । नाभा. ८।८ (पृ. १०७)

धने चोरहृते व्यवस्था

स्तेनेष्वलभ्यमानेषु राजा दद्यात् स्वकाद् धनात् ।
उपेक्षमाणो ह्येनस्वी धर्मादर्थाच्च हीयते × ॥

## बृहस्पतिः

प्रनष्टास्वामिकधनव्यवस्था

[२]राजाददीत षड्भागं नवमं द्वादशं तथा ।
शूद्रविट्क्षत्रजातीनां विप्राद्गृह्णीत विंशकम् ॥

---

+ अप., वीमि. मितावत् ।

(१) नासं. ८।६; नास्मृ. १०।६; ममु. ८।३७ राजन्यु (राजा ह्य); विर. ६४३; मपा. २२६ राजन्यु (राजैवो); दीक. ३४-५; दवि. २८९ : २९२ पू.; नृप्र. १७४ परेण निहितं (चिरेण विहितं); सेतु. २९२ लब्ध्वा (दृष्ट्वा).

(२) नासं. ८।७; नास्मृ. १०।७; विर. ६४३ राज्ञे निवे (राजनि वे) च (तु) वेदयन् (वेदने); मपा. २२७ च (तु); दीक. ३५ मपावत्; दवि. २९२ च (तु) वेदयन् (वेदने) उत्त.; नृप्र. १७४ क्षिप्रं राज्ञे (क्षत्रियाय) पू.; सेतु. २९२ दविवत्.

* स्थलादिनिर्देशः संभूयसमुत्थानप्रकरणे (पृ. ७८२) द्रष्टव्यः ।

× व्याख्यानं स्थलादिनिर्देशश्च स्तेयप्रकरणे (पृ. १७५७) द्रष्टव्यः ।

(१) नासं. ८।८ शुद्धं स्यात्त (शुद्धः स्याद); नास्मृ. १०।८; विर. ६४२ त्तत्र तं (तु ततः); नृप्र. १७४ उत्तरार्धे (गृह्णन् शुद्धोऽप्यशुद्धः स्यात्ततो दण्ड्यस्तु नान्यथा) उत्त.; सेतु. २९१ लब्ध्वा राज्ञे (लब्धं राज्ञि) त्तत्र तं (तु ततः) शेषं नासंवत्.

(२) व्यक. १४०; विर. ११६; विचि. ४७ द्वादशं (दशमं); व्यनि. २८१ जातीनां (जानानां); बाल. २।१७३; सेतु. १४३; समु. ७२ व्यनिवत्; विव्य. ३५ नारदः.

[1]त्र्यब्दादूर्ध्वं तु नागच्छेद्यत्र स्वामी कथञ्चन।
तदा गृह्णीत तद्राजा ब्रह्मस्वं ब्राह्मणान् श्रयेत्॥

ब्राह्मणान् श्रयेत् अन्यब्राह्मणेभ्योऽर्पयेदित्यर्थः।

विर. ११६

[2]चोरापहृतं तु सर्वेभ्योऽन्विष्यार्पणीयं अलाभे स्वकोशाद्वा, अददच्चोरकिल्बिषी स्यात्।

## व्यासः

धने चोरहृते व्यवस्था

प्रत्याहर्तुमशक्तस्तु धनं चौरैर्हृतं यदि।
स्वकोशात्तद्धि देयं स्यादशक्तेन महीक्षिता *॥

## उशना

निधिव्यवस्था

[3]विद्याभिजनयुक्तान् पूर्वदृष्टप्रमाणान्वृद्धान्निधिपालने नियुञ्ज्यात्।

* स्थलादिनिर्देशः स्तेयप्रकरणे (पृ. १७६५) द्रष्टव्यः।

(१) व्यक. १४० यत्र (तत्र); विर. ११६; विचि. ४८ त्र्यब्दा (अब्दा) ब्राह्मणान् (ब्राह्मणं); व्यनि. २८२ विचिवत्; बाल. २।१७३ व्यकवत्; सेतु. १४३ ब्राह्मणान् (ब्राह्मणं); समु. ७२ विचिवत्; विव्य. ३५ विचिवत्, नारदः.

(२) विश्व. २।३८.

(३) मभा. १०।३६.

## अग्निपुराणम्

निधिव्यवस्था

[1]कोषे प्रवेशयेदर्धं नित्यं चार्धं द्विजे ददेत्।
निधिं द्विजोत्तमः प्राप्य गृह्णीयात्सकलं तथा॥
चतुर्थमष्टमं भागं तथा षोडशमं (कं) द्विजः।
वर्णक्रमेण दद्याच्च निधिं पात्रे तु धर्मतः॥

प्रनष्टस्वामिकधनव्यवस्था

अनृतं तु वदन्दण्ड्यः सुवित्तस्यांशमष्टमम्।
प्रनष्टस्वामिकमृक्थं राजा त्र्यब्दं निधापयेत्॥
अर्वाक्त्र्यब्दाद्धरेत्स्वामी परेण नृपतिर्हरेत्।
ममेदमिति यो ब्रूयात्सोऽर्थयुक्तो यथाविधि॥
संपाद्य रूपसंख्यादीन् स्वामी तद्द्रव्यमर्हति॥

बालानाथधनव्यवस्था

बालदायादिकमृक्थं तावद्राजाऽनुपालयेत्।
यावत्स्यात्स समावृत्तो यावद्वाऽतीतशैशवः॥
बालपुत्रासु चैवं स्याद्रक्षणं निष्कुलासु च।
पतिव्रतासु च स्त्रीषु विधवास्वातुरासु च॥
जीवन्तीनां तु तासां ये संहरेयुश्च बान्धवाः।
तान् शिष्याच्चौरदण्डेन धार्मिकः पृथिवीपतिः॥

धने चोरहृते व्यवस्था

सामान्यतो हृतं चौरैस्तद्वै दद्यात्स्वयं नृपः।
चौररक्षाधिकारिभ्यो राजाऽपि हृतमाप्नुयात्॥
अहृते यो हृतं ब्रूयान्निःसार्यो दण्ड्य एव सः।
न तद्राज्ञा प्रदातव्यं गृहे यद्गृहगैर्हृतम्॥

(१) अपु. २२३।१४-२३.

# परिशिष्टम्

## व्यवहारस्वरूपम्

### गौतमः

व्यवहारविभागाः

[1]द्विरुत्थानो द्विगतिः * ।

व्यवहार इत्यनुषज्यते । तत्र निबन्धनकारेण ऋणादानादिदायविभागान्तानां देयनिबन्धनता साहसादिपञ्चकस्य दण्डनिबन्धनत्वमिति द्विरुत्थानतेत्यर्थ इति । यद्यपि मन्वादिभिः—'तेषामाद्यमृणादानं निक्षेपोऽस्वामिविक्रयः । संभूय च समुत्थानं दत्तस्यानपकर्म च ॥ वेतनस्यैव चादानं संविदश्च व्यतिक्रमः । क्रयविक्रयानुशयौ विवादः स्वामिपालयोः ॥ सीमाविवादधर्मश्च पारुष्ये दण्डवाचिके । स्तेयं च साहसं चैव स्त्रीसंग्रहणमेव च ॥ स्त्रीपुंधर्मो विभागश्च द्यूतमाह्वय एव च । पदान्यष्टादशैतानि व्यवहारे विदुर्बुधाः ॥' इत्येवमुक्तप्रकारेण क्रमिकाणि व्यवहारपदान्युक्तानि । अत्र वाक्पारुष्य-दण्डपारुष्य-स्त्रीसंग्रहणानन्तरं दायविभागः क्रमिकः, निबन्धनकारेण तु—त्रयोदशविवादपदं दाय इत्युक्तम् । उभयोर्महान् विरोधः । स परिन्हियते, तथोक्तं नारदेन—'ऋणादानं ह्युपनिधिः संभूयोत्थानमेव च । दत्तस्य पुनरादानं अशुश्रूषाऽभ्युपेत्य च ॥ वेतनस्यानपाकर्म तथैवास्वामिविक्रयः । विक्रीयासंप्रदानं च क्रीत्वानुशय एव च ॥ समयस्यानपाकर्म विवादः क्षेत्रजस्तथा । स्त्रीपुंसयोश्च संबन्धो दायभागोऽथ साहसम् ॥ वाक्पारुष्यं तथा प्रोक्तं दण्डपारुष्यमेव च । द्यूतं प्रकीर्णकं चैव......... ॥'इति नारदवचनानुसारिनिबन्धनकारवचनम् । अतश्च तद्व्याख्येयस्यापि गौतमसूत्रस्य नारदवचनानुसारित्वमेव । एतदनुसारेणैवास्माभिरप्युक्ता विवादपदानां संगतिः । अतश्च ऋणादानादिदायविभागान्तानां देयनिबन्धनत्वेन प्रतिपादनं साहसादिपञ्चकस्य दण्डनिबन्धनत्वमिति सूचयितुं 'अथ साहसमि'त्यथशब्दः प्रयुक्तः । अतश्च देयप्रतिपादनानन्तरं दण्डप्रतिपादनस्यावसर इति संगतिः । अत्रापि वाक्पारुष्यदण्डपारुष्याणां परस्परं भेदाभावेऽपि दण्डाल्पत्वमहत्त्वार्थं पृथग्ग्रहणम् । अतश्च प्रकरणत्रयस्यापि संगतिरुक्तैव । अनेन विज्ञानयोगिना यदुक्तं विवादपदानां परस्परं संगतिर्नास्तीति, तत्परास्तं वेदितव्यम् ।

सवि. ४५०—५१

* अस्मिन् प्रकरणे पूर्वं (पृ. १) एतद्वचनं समुद्धृतमपि तत्र टीकायाः संपूर्णतयाऽनुद्धारादत्र पुनरुद्धृतम् ।

(१) सवि. ४५०.

## सभा

### महाभारतम्

सभ्यैः सत्यमेव वक्तव्यम्

[1]सभां प्रपद्यते ह्यार्तः प्रज्वलन्निव हव्यवाट् ।
तं वै सत्येन धर्मेण सभ्याः प्रशमयन्त्युत ॥
धर्मप्रश्नमतो ब्रूयादार्यः सत्येन मानवः ।
विब्रूयुस्तत्र तं प्रश्नं कामक्रोधबलातिगाः ॥
यो हि प्रश्नं न विब्रूयाद्धर्मदर्शी सभां गतः ।
अनृते या फलावाप्तिस्तस्याः सोऽर्धं समश्नुते ॥
विद्धो धर्मो ह्यधर्मेण सभां यत्रोपपद्यते ।
न चास्य शल्यं कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः ॥
अर्धं हरति वै श्रेष्ठः पादो भवति कर्तृषु ।
पादश्चैव सभासत्सु ये न निन्दन्ति निन्दितम् ॥
अनेना भवति श्रेष्ठो मुच्यन्ते च सभासदः ।
एनो गच्छति कर्तारं निन्दार्हो यत्र निन्द्यते ॥
वितथं तु वदेयुर्ये धर्मं प्रल्हाद पृच्छते ।
इष्टापूर्ते च ते घ्नन्ति सप्त सप्त परावरान् ॥

(१) भा. २।६८।६०,६१,६३,७७-८०.

# साक्षी

## महाभारतम्

मृषासाक्ष्यनिन्दा । साक्षिणां सत्यवचनापवादविषयः ।

[१] पृष्टो हि साक्षी यः साक्ष्यं जानमानोऽन्यथा वदेत् ।
स पूर्वानात्मनः सप्त कुले हन्यात्तथा परान् ॥
आदित्यचन्द्रावनिलानलौ च
द्यौर्भूमिरापो हृदयं यमश्च ।
अहश्च रात्रिश्च उभे च संध्ये
धर्मश्च जानाति नरस्य वृत्तम् ॥
[२] न नर्मयुक्तं वचनं हिनस्ति
न स्त्रीषु राजन्न विवाहकाले ।
प्राणात्यये सर्वधनापहारे
पञ्चानृतान्याहुरपातकानि ॥
पृष्टं तु साक्ष्ये प्रवदन्तमन्यथा
वदन्ति मिथ्योपहितं नरेन्द्र ।
एकार्थतायां तु समाहितायां
मिथ्या वदन्तमनृतं हिनस्ति ॥
[३] जानन्नविब्रुवन्प्रश्नान्कामात्क्रोधाद्भयात्तथा ।
सहस्रं वारुणान् पाशानात्मनि प्रतिमुञ्चति ॥
साक्षी वा विब्रुवन्साक्ष्यं गोकर्णशिथिलश्चरन् ।
सहस्रं वारुणान्पाशानात्मनि प्रतिमुञ्चति ॥
तस्य संवत्सरे पूर्णे पाश एकः प्रमुच्यते ।
तस्मात्सत्यं तु वक्तव्यं जानता सत्यमञ्जसा ॥
[४] विद्धो धर्मो ह्यधर्मेण सभां यत्रोपपद्यते ।
न चास्य शल्यं कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः ॥
अर्धं हरति वै श्रेष्ठः पादो भवति कर्तृषु ।
पादश्चैव सभासत्सु ये न निन्दन्ति निन्दितम् ॥
अनेना भवति श्रेष्ठो मुच्यन्ते च सभासदः ।
एनो गच्छति कर्तारं निन्दार्हो यत्र निन्द्यते ॥
वितथं तु वदेयुर्ये धर्मं प्रल्हाद पृच्छते ।
इष्टापूर्तं च ते घ्नन्ति सप्त सप्त परावरान् ॥
हृतस्वस्य हि यद्दुःखं हतपुत्रस्य चैव यत् ।
ऋणिनः प्रति यच्चैव स्वार्थाद्भ्रष्टस्य चैव यत् ॥
स्त्रियाः पत्या विहीनाया राज्ञा ग्रस्तस्य चैव यत् ।
अपुत्रायाश्च यद्दुःखं व्याघ्राघ्रातस्य चैव यत् ॥
अध्यूढायाश्च यद्दुःखं साक्षिभिर्विहतस्य च ।
एतानि वै समान्याहुर्दुःखानि त्रिदिवेश्वराः ॥
तानि सर्वाणि दुःखानि प्राप्नोति वितथं ब्रुवन् ॥

साक्षिलक्षणम्

समक्षदर्शनात्साक्षी श्रवणाच्चेति धारणात् ।
तस्मात्सत्यं ब्रुवन्साक्षी धर्मार्थाभ्यां न हीयते ॥

कुलीनस्त्रियः सभायां न नेयाः

[१] धर्म्याः स्त्रियं सभां पूर्वे न नयन्तीति नः श्रुतम् ।
स नष्टः कौरवेयेषु पूर्वो धर्मः सनातनः ॥

## अग्निपुराणम्

कौटसाक्ष्यदण्डः

[२] कौटसाक्ष्यं तु कुर्वाणांस्त्रीन् वर्णांश्च प्रदापयेत् ।
विवासयेत् ब्राह्मणं तु भोज्यो (अन्यो) विधिर्नेहीरितः ॥

(१) भा. (भाण्डा.) १।७।३.
(२) भा. (भाण्डा.) १।६८।२९.
(३) भा. (भाण्डा.) १।७७।१६,१७.
(४) भा. २।६८।७४-८५.

(१) भा. २।६९।९. (२) अपु. २२७।७,८.

# दिव्यम्

## महाभारतम्

अग्निविधिः

[१] त्वमग्ने सर्वभूतानामन्तश्चरसि नित्यदा ।
साक्षिवत्पुण्यपापेषु सत्यं ब्रूहि कवे वचः ॥
[१] धर्मे प्रयतमानस्य सत्यं च वदतः समम् ।
पृष्टो यदब्रुवं सत्यं व्यभिचारोऽत्र को मम ॥

(१) भा. (भाण्डा.) १।५।२३.

(१) भा. (भाण्डा.) १।७।२.

## स्कन्दपुराणम्

शपथकोशधटविषाग्नितप्तमाषफालतन्दुलजलानि दिव्यानि

एवंविधस्त्वसौ देवो भट्टादित्योऽत्र तिष्ठति ।
भूयानतोऽपि बहुशः पापहा धर्मवर्धनः ॥
दिव्यमष्टविधं चात्र सद्यः प्रत्ययकारकम् ।
पापानां चोपभुक्तं हि यथा पार्थ हलाहलम् ॥

अर्जुन उवाच—

दिव्यप्रकारमिच्छामि श्रोतुं चाहं मुनीश्वर ।
कथं कार्याणि कानीह स्फुटं यैः पुण्यपापकम् ॥

नारद उवाच—

शपथाः कोशधटकौ विषाग्नी तप्तमाषकौ ।
फालं च तन्दुलं चैव दिव्यान्यष्टौ विदुर्बुधाः ॥
असाक्षिकेषु चार्थेषु मिथो विवदमानयोः ।
राजद्रोहाभिशापेषु साहसेषु तथैव च ॥
अविदस्तत्त्वतः सत्यं शपथेनाभिलङ्घयेत् ।
महर्षिभिश्च देवैश्च सत्यार्थाः शपथाः कृताः ॥
जवनो नृपतिः क्षीणो मिथ्याशपथमाचरन् ।
वसिष्ठाग्रे वर्षमध्ये सान्वयः किल भारत ॥
अन्धः शत्रुगृहं गच्छेद्यो मिथ्याशपथांश्चरेत् ।
रौरवस्य स्वयं द्वारमुद्घाटयति दुर्मतिः ॥
मन्यन्ते वै पापकृतो न कश्चित्पश्यतीति नः ।
तांश्च देवाः प्रपश्यन्ति स्वस्यैवान्तरपूरुषाः ॥
आदित्यचन्द्रावनिलोऽनलश्च द्यौर्भूमिरापो हृदयं यमश्च ।
अहश्च रात्रिश्च उभे च संध्ये धर्मो हि जानाति नरस्य वृत्तम् ॥
एवं तस्मादभिज्ञाय सत्यार्थशपथांश्चरेत् ।
वृथा हि शपथान्कुर्वन्प्रेत्य चेह विनश्यति ॥
इदं सत्यं वदामीति ब्रुवन् साक्षी भवान्यतः ।
शुभाशुभफलं देहि शुचिः पादौ रवेः स्पृशेत् ॥
अथ शास्त्रस्य विप्रोऽपि शस्त्रस्यापि च क्षत्रियः ।
मां संस्पृशंस्तथा वैश्यः शूद्रः स्वगुरुमेव च ॥
मातरं पितरं पूज्यं स्पृशेत्साधारणं त्विदम् ।
कोशस्य रूपं पूर्वं ते व्याख्यातं पाण्डुनन्दन ॥
विप्रवर्जं तथा कोशं वर्णिनां दापयेन्नृपः ।
यो यो यद्देवताभक्तः पाययेत्तस्य तं नरम् ॥
समभक्तं च देवानामादित्यस्यैव पाययेत् ।
सर्वेषां चोग्रदेवानां स्नापयेदायुधाष्टकम् ॥
स्नानोदकं वा संकल्पं गृहीत्वा पाययेन्नवम् ।
त्रिसप्तरात्रमध्ये च फलं कोशस्य निर्दिशेत् ॥
अतः परं महादिव्यविधानं शृणु यद्भवेत् ।
संशयच्छेदि सर्वेषां धाष्ट्र्यात्तद्दिव्यमेव च ॥
सशिरस्कं प्रदातव्यमिति ब्रह्मा पुराऽब्रवीत् ।
महोग्राणां च दातव्यमशिरस्कमपि स्फुटम् ॥
साधूनां वर्णिनां राजा न शिरस्कं प्रदापयेत् ।
न प्रवाते धटं देयं नोष्णकाले हुताशनम् ॥
वर्णिनां च तथा फालं तन्दुलं मुखरोगिणाम् ॥
कुष्ठपित्तार्दितानां च ब्राह्मणानां च नो विषम् ।
तप्तमाषकमर्हन्ति सर्वे धर्म्यं निरत्ययम् ॥
न व्याधिमरके देशे शपथान्कोशमेव च ।
दिव्यान्यासुरकैर्मन्त्रैः स्तम्भयन्तीह केचन ॥
प्रतिघातविदस्तेषां योजयेद्धर्मवत्सलान् ।
दिव्यानां स्तम्भकान् ज्ञात्वा पापान्नित्यं महीपतिः ॥
विवासयेत्स्वकाद्राष्ट्रात्ते हि लोकस्य कण्टकाः ।
तेषामन्वेषणे यत्नं राजा नित्यं समाचरेत् ॥
ते हि पापसमाचारास्तस्करेभ्योऽपि तस्कराः ।
प्राग्दृष्टदोषान् स्वल्पेषु दिव्येषु विनियोजयेत् ॥
महत्स्वपि न चार्थेषु धर्मज्ञान् धर्मवत्सलान् ।
न मिथ्यावचनं येषां जन्मप्रभृति विद्यते ॥
श्रद्दध्यात्पार्थिवस्तेषां वचनादेव भारत ।
ज्ञात्वा धर्मिष्ठतां राजा पुरुषस्य विचक्षणः ॥
क्रोधाल्लोभात्कारयंश्च स्वयमेव प्रदुष्यति ।
तस्मात्पापिषु दिव्यं स्यात्तत्रादौ प्रोच्यते धटे ॥
सुसमायां पृथिव्यां च दिग्भागे पूर्वदक्षिणे ।
यज्ञियस्य तु वृक्षस्य स्थाप्यं स्यान्मुण्डकद्वयम् ॥
स्तम्भकस्य प्रमाणं च सप्तहस्तं प्रकीर्तितम् ।
द्वौ हस्तौ निखनेत्काष्ठं दृश्यं स्याद्धस्तपञ्चकम् ॥
अन्तरं तु तयोः कार्यं तथा हस्तचतुष्टयम् ।
मुण्डकोपरि काष्ठं च दृढं कुर्याद्विचक्षणः ॥
चतुर्हस्तं तुलाकाष्ठमव्रणं कारयेत्स्थिरम् ।
खदिरार्जुनवृक्षाणां शिंशपाशालजं त्वथ ॥

(१) स्कन्दपु. ( कौमारिकाखण्ड ) अध्यायः ४३,४४.

तुलाकाष्ठे तु कर्तव्यं तथा वै शिक्यकद्वयम् ।
प्राङ्मुखो निश्चलः कार्यः शुचौ देशे धटस्तथा ॥
पाषाणस्यापि जायेत स्तम्भेषु च धटस्तथा ।
वणिक्सुवर्णकारो वा कुशलः कांस्यकारकः ॥
तुलाधारधरः कार्यो रिपौ मित्रे च यः समः ।
श्रावयेत्प्राड्विवाकोऽपि तुलाधारं विचक्षणः ॥
ब्रह्मघ्ने ये स्मृता लोका ये च स्त्रीबालघातके ।
तुलाधारस्य ते लोकास्तुलां धारयतो मृषा ॥
एकस्मिंस्तोलयेच्छिक्ये ज्ञातं सूपोषितं नरम् ।
द्वितीये मृत्तिकां शुभ्रां गौरां तु तुलयेद्बुधः ॥
इष्टिकाभस्मपाषाणकपालास्थीनि वर्जयेत् ।
तोलयित्वा ततः पूर्वं तस्मात्तमवतारयेत् ॥
मूर्ध्नि पत्रं ततो न्यस्य न्यस्तपत्रं निवेशयेत् ।
पत्रे मन्त्रस्त्वयं लेख्यो यः पुरोक्तः स्वयंभुवा ॥
ब्रह्मणस्त्वं सुता देवि तुलानाम्नेति कथ्यते ।
तुकारो गौरवे नित्यं लकारो लघुनि स्मृतः ॥
गुरुलाघवसंयोगात्तुला तेन निगद्यसे ।
संशयान्मोचयस्वैनमभिशस्तं नरं शुभे ॥
भूय आरोपयेत्तं तु नरं तस्मिन् सपत्रकम् ।
तुलितो यदि वर्धेत शुद्धो भवति धर्मतः ॥
हीयमानो न शुद्धः स्यादिति धर्मविदो विदुः ।
शिक्यच्छेदे तुलाभङ्गे पुनरारोपयेन्नरम् ॥
एवं निःसंशयं ज्ञानं यच्चान्यायं न लोपयेत् ।
एतत्सर्वं रवौ वारे कार्यं संपूज्य भास्करम् ॥
अथातः संप्रवक्ष्यामि विषदिव्यं शृणुष्व मे ॥
द्विप्रकारं च तत्प्रोक्तं घटसर्पविषं तथा ।
शृङ्गिणो वत्सनाभस्य हिमशैलभवस्य वा ॥
यवाः सप्त प्रदातव्या अथवा षड्घृतप्लुताः ।
मूर्ध्नि विन्यस्तपत्रस्य पत्रे चैवं निवेशयेत् ॥
त्वं विष ब्रह्मणः पुत्र सत्यधर्मे व्यवस्थितः ।
त्रायस्वैनं नरं पापात्सत्येनास्य भवामृतम् ॥
येन वेगैर्विना जीर्णं छर्दिमूर्च्छाविवर्जितम् ।
तं तु शुद्धं विजानीयादिति धर्मविदो विदुः ॥
क्षुधितं क्षुधितः सर्पं घटस्थं प्रोच्य पूर्ववत् ।
संस्पृशेत्तालिकाः सप्त न दशेच्छुध्यतीति सः ॥

अग्निदिव्यं यथा प्राह विरञ्चिस्तच्छृणुष्व मे ।
सप्तमण्डलकान्कुर्याद्देवस्याग्रे रवेस्तथा ॥
मण्डलान्मण्डलं कार्यं पूर्वेणेति विनिश्चयः ।
षोडशाङ्गुलकं कार्यं मण्डलात्तावदन्तरम् ॥
आर्द्रवाससमाहूय तथा चैवाप्युपोषितम् ।
कारयेत्सर्वदिव्यानि देवब्राह्मणसंनिधौ ॥
प्रत्यक्षं कारयेद्दिव्यं राज्ञो वाधिकृतस्य वा ।
ब्राह्मणानां श्रुतवतां प्रकृतीनां तथैव च ॥
पश्चिमे दिनकाले हि प्राङ्मुखः प्राञ्जलिः शुचिः ।
चतुरस्रे मण्डलेऽन्ये कृत्वा चैव समौ करौ ॥
लक्षयेयुः कृतादीनि हस्तयोस्तस्य हारिणः ।
सप्ताश्वत्थस्य पत्राणि बध्नीयुः करयोस्ततः ॥
नवेन कृतसूत्रेण कार्पासेन दृढं यथा ।
ततस्तु सुसमं कृत्वा अष्टाङ्गुलमथायसम् ॥
पिण्डं हुताशसंतप्तं पञ्चाशत्पलिकं दृढम् ।
आदौ पूजां रवेः कृत्वा हुताशस्याथ कारयेत् ॥
रक्तचन्दनधूपाभ्यां रक्तपुष्पैस्तथैव च ।
अभिशस्तस्य पत्रं च बध्नीयाच्चैव मूर्धनि ॥
मन्त्रेणानेन संयुक्तं ब्राह्मणाभिहितेन च ।
त्वमग्ने वेदाश्चत्वारस्त्वं च यज्ञेषु हूयसे ॥
पापं पुनासि वै यस्मात्तस्मात्पावक उच्यसे ।
त्वं मुखं सर्वदेवानां त्वं मुखं ब्रह्मवादिनाम् ॥
जठरस्थोऽसि भूतानां ततो वेत्सि शुभाशुभम् ।
पापेषु दर्शयात्मानमर्चिष्मान्भव पावक ॥
अथवा शुद्धभावेषु शीतो भव महाबल ।
ततोऽभिशस्तः शनकैर्मण्डलानि परिक्रमेत् ॥
परिक्रम्य शनैर्जह्याल्लोहपिण्डं ततः क्षितौ ।
विपत्रहस्तं तं पश्चात्कारयेद् व्रीहिमर्दनम् ॥
निर्विकारौ करौ दृष्ट्वा शुद्धो भवति धर्मतः ।
भयाद्वा पातयेद्यस्तु तद्धो वा विभाव्यते ॥
पुनस्त्वाहारयेल्लोहं विधिरेष प्रकीर्तितः ।
अथातः संप्रवक्ष्यामि तप्तमाषविधिं शृणु ॥
कारयेदायसं पात्रं ताम्रं वा षोडशाङ्गुलम् ।
चतुरङ्गुलखातं तु मृन्मयं वापि कारयेत् ॥
पूरयेद्घृततैलाभ्यां पलैर्विंशतिभिस्ततः ।
सुतप्ते निक्षिपेत्तत्र सुवर्णस्य तु माषकम् ॥

वह्न्युक्तं विन्यसेन्मन्त्रमभिशस्तस्य मूर्धनि ।
अङ्गुष्ठाङ्गुलियोगेन तप्तमाषं समुद्धरेत् ॥
शुद्धं ज्ञेयमसंदिग्धं विस्फोटादिविवर्जितम् ।
फालशुद्धिं प्रवक्ष्यामि तां शृणु त्वं धनंजय ॥
आयसं द्वादशपलं घटितं फालमुच्यते ।
अष्टाङ्गुलमदीर्घं च चतुरङ्गुलविस्तृतम् ॥
वह्न्युक्तं विन्यसेन्मन्त्रमभिशस्तस्य मूर्धनि ।
त्रिः परावर्तयेज्जिह्वां लिहन्नस्मात्षडङ्गुलम् ॥
गवां क्षीरं प्रदातव्यं जिह्वाशोधनमुत्तमम् ।
जिह्वापरीक्षणं कुर्याद्दग्धा चेन्न विमोच्यते ॥
तं विशुद्धं विजानीयाद्विशुद्धा चेत्तु जायते ।
तन्दुलस्याथ वक्ष्यामि विधिधर्मं सनातनम् ॥
चौर्ये तु तन्दुला देया न चान्यत्र कथंचन ।
तन्दुलानुदके क्षिक्त्वा रात्रौ तत्रैव स्थापयेत् ॥
प्रभाते कारिणे देया भक्षणाय न संशयः ।
त्रिःकृत्वः प्राङ्मुखश्चैव पत्रे निष्ठीवयेत्ततः ॥

पिप्पलस्याथ भूर्जस्य न त्वन्यस्य कथंचन ।
तांस्तु वै कारयेच्छुद्धांस्तन्दुलान् शालिसंभवान् ॥
मृन्मये भाजने कृत्वा सवितुः पुरतः स्थितः ।
तन्दुलान्मन्त्रयेच्छुद्धान् मन्त्रेणानेन धर्मतः ॥
दीयसे धर्मतत्त्वज्ञैर्मानुषाणां विशोधनम् ।
स्तुतस्तन्दुल सत्येन धर्मतस्त्रातुमर्हसि ॥
निष्ठीवने कृते तेषां सवितुः पुरतः स्थिते ।
शोणितं दृश्यते यस्य तमशुद्धं विनिर्दिशेत् ॥
एवमष्टविधं दिव्यं पापसंशयच्छेदनम् ।
भट्टादित्यस्य पुरतो जायते कुरुनन्दन ॥
जलदिव्यं तथा प्राहुर्द्विप्रकारं पुराविदः ।
जलहस्तं स्मृतं चैकं मज्जनं चापरं विदुः ॥
बाणक्षेपस्तथादानं यावद्वीर्यवता कृतम् ।
तावत्तं मज्जयेज्जीवेत्तथा तच्छुद्धिमादिशेत् ॥
एवंविधमिदं स्थानं भट्टादित्यस्य भारत ।
ममैव कृपया भानोर्जातमेतन्महीतले ॥

## मानसंज्ञाः

### अनिर्दिष्टकर्तृकवचनानि

भावसाध्यत्वभावोऽपि केचित्स्यात्संशयेषु च ।
साक्ष्यादीनामभावेऽत्र दिव्याभावे च कुत्रचित् ॥
दिव्ये तु मूर्द्धदण्डाभ्यां साध्यर्धं हेम कल्पयेत् ।
तत्रारभ्यार्धकाकण्याः शूद्रो दूर्वाकरः शपेत् ॥
त्रिकाकण्यूनषण्मानात् कृष्णलात्तिलहस्तकः ।
द्विगुणाद्रूप्यपाणिस्तु त्रिगुणात् काञ्चनं दधत् ॥
चतुर्गुणात् करे कृत्वा मृत्तिकां लाङ्गलोध्दृताम्
नीचः पञ्चगुणात्पुत्रदारैरन्यत्रपातकैः ॥
पणानां दशमानानां दशकाद्धर्मशोधनम् ।
तत्रैवार्थेषु लेढव्यं फालं फालोपजीविना ॥
स्यात्पञ्चदशकात्कोशः त्रिंशतस्तण्डुलाः स्मृताः ।

चत्वारिंशत्तवत्ता (?) तु तप्तमाषसमुध्दृतिः ॥
पञ्चाशतस्तुला ज्ञेयाः सप्तषष्टे जलं भवेत् ।
पञ्चसप्ततिकादग्निः शतात्स्यात् विषभक्षणम् ॥
एतानि शूद्रस्योक्तानि द्विगुणेऽर्थे विशः स्मृताः ।
चत्वारिंशद्धान्यमाषः तौ यवः तौ च कृष्णलम् ॥
कृष्णलद्वितयं प्रोक्तं अण्विकाऽप्यत्र (?)
पणोऽप्यसौ ।
तिस्रोऽण्विकाः कृष्णलं च हेममाष इतीर्यते ॥
शाणोण्विकाश्चतस्रस्तु दीनारास्था (स्त्य:?) चतुर्दश ।
अण्विका विंशतिः निष्कं शाणं साष्टाण्विकं तु तत् ॥
अष्टाण्विकाधिकं निष्कद्वितयं चित्रको भवेत् ।
सषोडशाण्विकं निष्कद्वयं कर्षक उच्यते ॥

(१) व्यनि. २१८-२२०.

दशभिर्वा पणं चैका दशभिस्तु चतुष्पणैः ।
निष्कैर्द्वादशभिर्वेति लौकिको मानसंग्रहः ॥
यो राजसर्षपस्यार्धो लौकिकः काकणिस्तु सः ।
काकणित्रितयं गौरो माषः स्यादर्धतण्डुलः ॥
स काकणिद्वयं मानद्वितयं मध्यमो यवः ।
काकणिद्वितयं न्यूनसप्तमाषस्तु कृष्णलः ॥
कार्षापणस्त्वष्टमानो दशमानपणः परः ।
शाणोण्विका चतुष्का स्यात् लौकिकेऽप्येवमेव सः ॥
षट्काकणिकमानाद्यो माषोऽन्यश्चतुरण्विकः ।
कार्षापणोऽन्यो निष्का मा पूर्वदेशे प्रवर्तते ॥
सुवर्णोऽष्टाण्विकायुक्तं निष्कद्वयमिहोच्यते ।
सुवर्ण एव दीनारः चित्रकश्चेति कथ्यते ॥
अक्षार्ध द्व्यणुकाद्यर्धमानयुक्तं द्विनिष्ककम् ।
रूप्यमानेन (तु) माषः स्यात् मानैरर्धचतुर्दशैः ॥
सप्ताण्विकाधिकं निष्कं पुराण (णं ?) मानं
(मानवं ?) च तत् ॥

शतमानं पलं च स्यात् निष्कैरर्धचतुर्दशैः ।
तैरेव राजतं निष्कं अथ तान्त्रिकमुच्यते ॥

पाञ्चरात्रवैखानसानुसारि निष्कप्रमाणम्

स्यादण्विकाचतुष्केण त्रिनिष्कः कर्षकः पणः ॥
पूर्णोऽर्धपादपादोननिष्कषोडशको भवेत् ।
साहसो द्विगुणो मध्य उत्तमः स्याच्चतुर्गुणः ॥
अर्धपादोननिष्को द्विनिष्कषोडशकोऽथवा ।
पूर्वस्तद्द्विगुणो मध्ये मध्याद् द्विगुण उत्तमः ॥
यवश्च कृष्णलं माषः सुवर्णो रूप्यनिष्ककः ।
मानवोक्तयवादिभ्यः षष्ठांशो नास्ति वैष्णवे ॥

### विष्णुगुप्तः

[१]पञ्चगुञ्जलको माषः प्राणस्तेषु चतुर्गुणैः ।
कलञ्जो धरणं प्राहुः मणिमानविशारदाः ॥

(१) सवि. ४५७.

## निर्णयकृत्यम्

### नारदः

पराजितदण्डविचारः

[१]मिथ्याभियोगिनो ये स्युर्द्विजानां शूद्रयोनयः ।
तेषां जिह्वां समुत्कृत्य राजा शूले निवेशयेत् ॥

द्विजानां शूद्रयोनयः प्रेषणकारिण एव विहिताः । यदा पुनस्ते एव शूद्रा द्विजानामेव मिथ्याभियोगिनो ये स्युः भवन्ति । दर्पाद्वा निजदुर्वचनात् विक्षेपकारिणो भवन्ति तदा तान् शूद्रान् राजा खण्डितजिह्वान् कृत्वा शूले निधापयेत् । ततस्तेन पापेन न गृह्यते । अन्यथा शिष्टपालनार्थं दुष्टनिग्रहार्थं करग्राहिणो निर्मितस्य राज्ञ एव स दोष इति । अभा. २६

(१) नास्मृ. २।३७ निवेशयेत् (निधापयेत्); अभा. २६ नास्मृवत्; व्यक. १०१; दीक. ३२; व्यचि. ९७; दवि. ३५१ जिह्वां (जिह्वाः); चन्द्र. १६८; व्यसौ. ९२.

### अग्निपुराणम्

पराजितदण्डविचारः

[१]यो यावद्विपरीतार्थं मिथ्या वा यो वदेत्तु तम् ।
तौ नृपेण ह्यधर्मज्ञौ दाप्यौ तद्द्विगुणं दमम् ॥

(१) अपु. २२७।६-७.

# पुनर्न्यायः

## अग्निपुराणम्

निवर्तनीयं कार्यम्। पुनर्न्यायवादिनो दण्डः।

[1]अमात्यः प्राड्विवाको वा यः कुर्यात्कार्यमन्यथा।
तस्य सर्वस्वमादाय तं राजा विप्रवासयेत् ॥
[1]यो मन्येताजितोऽस्मीति न्यायेनापि पराजितः।
तमायान्तं पुनर्जित्वा दण्डयेद्द्विगुणं दमम् ॥

(१) अपु. २२७।४९.

(१) अपु. २२७।६५.

# दण्डमातृका

## महाभारतम्

ब्राह्मणाः स्त्रियश्चावध्याः

[1]न तु ते ब्राह्मणं हन्तुं कार्या बुद्धिः कथंचन।
अवध्यः सर्वभूतानां ब्राह्मणो ह्यनलोपमः ॥
[2]द्विजोत्तम विनिर्गच्छ तूर्णमास्यादपावृतात्।
न हि मे ब्राह्मणो वध्यः पापेष्वपि रतः सदा ॥
[3]अवध्याः स्त्रिय इत्याहुर्धर्मज्ञा धर्मनिश्चये।
धर्मज्ञान् राक्षसानाहुर्न हन्यात्स च मामपि ॥
[4]अवध्यास्तु स्त्रियः सृष्टा मन्यन्ते धर्मचिन्तकाः।
तस्माद्धर्मेण धर्मज्ञ नास्मान् हिंसितुमर्हसि ॥

## मनुः

शूद्रदण्डधनविनियोगः

[5]शूद्रोत्पन्नांशपापीयान्नैवं मुच्येत किल्बिषात्।
तेभ्यो दण्डाहृतं द्रव्यं न कोशे संप्रवेशयेत् ॥
अयाजिकं तु तद्राजा दद्याद् भृतकवेतनम्।
यथा दण्डगतं वित्तं ब्राह्मणेभ्यस्तु लम्भयेत् ॥
भार्यापुरोहितस्तेना ये चान्ये तद्विधा द्विजाः ॥

## अनिर्दिष्टकर्तृकवचनानि

दण्डप्रयोजनम्

[1]दुर्बलानामनाथानां बालवृद्धतपस्विनाम्।
अनार्यैः परिभूतानां सर्वेषां पार्थिवो गतिः ॥
[2]यदि नैताः प्रजा राजा दण्डेनातोद्य पालयेत्।
ततोऽन्योन्यमभिघ्नन्त्यो विनश्येयुः परस्परम् ॥

दण्डाङ्गचिन्ता

[3]कालदेशवयःशक्तीश्चिन्तयेत् दण्डकर्मणि।

## अग्निपुराणम्

दण्डेन प्रजारक्षणं राजधर्मः

[4]दण्डे सर्वं स्थितं दण्डो नाशयेद्दुष्प्रणीकृतः।
अदण्ड्यान् दण्डयन्नश्येद्दण्ड्यान्
राजाऽप्यदण्डयन् ॥

(१) भा. (भाण्डा०) १।२४।३.
(२) भा. (भाण्डा.) १।२५।२.
(३) भा. (भाण्डा.) १।१४६।२९.
(४) भा. (भाण्डा.) १।२०९।४.
(५) मस्मृ. ८।३८५ इत्यस्योपरिष्टात् एते प्रक्षिप्तश्लोकाः।

(१) अभा. ३. शंखलिखितस्मृतौ (आनन्दाश्रम, श्लोकः २५) समुपलभ्यते अयं श्लोकः।
(२) अभा. ३.
(३) मेधा. ८।३२४.
(४) अपु. २२६।१४–२०.

देवदैत्योरगनराः सिद्धा भूताः पतत्रिणः ।
उत्क्रमेयुः स्वमर्यादां यदि दण्डान्न पालयेत् ॥
यस्माददान्तान् दमयत्यदण्ड्यान् दण्डयत्यपि ।
दमनाद्दण्डनाच्चैव तस्माद्दण्डं विदुर्बुधाः ॥
तेजसा दुर्निरीक्ष्यो हि राजा भास्करवत्ततः ।
लोकप्रसादं गच्छेत दर्शनाच्चन्द्रवत्ततः ॥
जगद्व्याप्नोति वै चारैरतो राजा समीरणः ।
दोषनिग्रहकारित्वाद्राजा वैवस्वतः प्रभुः ॥
यदा दहति दुर्बुद्धिं तदा भवति पावकः ।
यदा दानं द्विजातिभ्यो दद्यात्तस्माद्धनेश्वरः ॥
घनधाराप्रवर्षित्वाद्देवादौ वरुणः स्मृतः ।
क्षमया धारयँल्लोकान्पार्थिवः पार्थिवो भवेत् ॥
उत्साहमन्त्रशक्त्याद्यै रक्षेद्यस्माद्धरिस्ततः ॥

महापातकेषु अङ्कनानि

गुरुतल्पे भगः कार्यः सुरापाने सुराध्वजः ।
स्तेयेषु श्वपदं विद्याद्ब्रह्महत्या (घाते) शिरः पुमान् ॥[1]

## मानसोल्लासः

अपराधकृत्सर्वो दण्ड्यः

ऋत्विक् पुरोहितः पुत्रो भ्राता बन्धुस्तथा सुहृत् ।[2]
अदण्ड्यो नृपतेर्नास्ति स्वधर्माच्चलितो नरः ॥

क्लेशदण्डप्रकाराः

केशानां कर्णयोरक्ष्णोर्नासिकायास्तथैव च ।
जिह्वायाः करयोस्तद्वदङ्गुलीप्रजनस्य च ॥
पादयोरेवमादीनामङ्गानां छेदनं च यत् ।
अपराधानुसारेण क्लेशदण्डः स उच्यते ॥
बन्धनं ताडनं वाचा रूक्षया भर्त्सनं तथा ।
एवंविधप्रकारोऽपि क्लेशदण्डः प्रकीर्तितः ॥

अर्थदण्डप्रकाराः

पणानां द्वे शते सार्धे प्रथमः साहसः स्मृतः ।
मध्यमः पञ्च विज्ञेयः सहस्रं चैव चोत्तमः ॥
विवादेन समः क्वापि द्विगुणः क्वापि कथ्यते ।
त्रिगुणो वा क्वचित् प्रोक्तः क्वचिदुक्तश्चतुर्गुणः ॥
सर्वस्वस्याधिकः क्वापि दमः सर्वस्वमेव वा ।
दोषद्रव्यानुसारेण दण्डोऽर्थहरणः स्मृतः ॥

दण्डप्रयोजनम्

दण्डो रक्षति मर्यादां दण्डो धर्मं प्रवर्तयेत् ।
निवारयेदधर्माच्च तस्माद् दण्डं प्रयोजयेत् ।
दण्डहीने यतो राष्ट्रे मात्स्यो न्यायः प्रवर्तते ।
तस्माद् दण्डं प्रयुञ्जीत दुष्टानां धार्मिको नृपः ॥
दण्डपातभयाल्लोको धर्मे तिष्ठति सूत्रितः ।
करीव विजयो मत्तोऽप्यङ्कुशेन वशीकृतः ॥
तीव्रदण्डभयाल्लोके भृशमुद्विजते जनः ।
तस्मान्मृदुप्रयोगेण प्रजापालनमाचरेत् ॥
यथोक्तदण्डविन्यासाद् भूपतेर्धर्मचारिणः ।
यशो धर्मस्तथा राष्ट्रं कोशश्च परिवर्धते ॥

सप्तविंशतिः राज्यस्थैर्यनिमित्तानि

एवमङ्गानि राज्यस्य सप्त शक्तित्रयं तथा ।
षाड्गुण्यं च तथा प्रोक्तमुपायश्च चतुर्विधः ॥
राज्यस्थैर्यनिमित्तानि प्राप्तराज्यस्य भूपतेः ।
विंशतिः सोमभूपालः कृतवान् नीतिकोविदः ॥

---

(१) अपु. २२७।५०.
(२) मासो. २।२०।१२४५, १२८८–१३००.

## वेदाः

ऋणलिङ्गानि

[1] न्यक्रतून् ग्रथिनो मृध्रवाचः पणीन् अश्रद्धाँ अवृधाँ अयज्ञान्।
प्रप्र तान्दस्यूँरग्निर्विवाय पूर्वश्चकारापराँ अयज्यून् ॥

अक्रतूनयज्ञान् ग्रथिनो जल्पकान् मृध्रवाचो हिंसितवचस्कान् पणीन् पणिनामकान् वार्धुषिकानश्रद्धान् यज्ञादिषु श्रद्धारहितानवृधान् स्तुतिभिरग्निमवर्धयतोऽयज्ञान् यज्ञहीनान् तान् दस्यून् वृथा कालस्य नेतॄनग्निः प्रप्र अत्यन्तं नि विवाय। नितरां गमयेत्। तदेवाह। अग्निः पूर्वो मुख्यः सन् अयज्यूनयजमानानपरान् जघन्यान् चकार। ऋसा.

[2] कदू महीरधृष्टा अस्य तविषीः कदु वृत्रघ्नो अस्तृतम्।
इन्द्रो विश्वान् बेकनाटाँ अहर्दृश उत क्रत्वा पणीन् अभि ॥

कदू कदा खल्वस्येन्द्रस्य तविषीर्बलान्यधृष्टा अधृष्टान्यधर्षकाण्यासन्। कदु कदा नु खलु वृत्रघ्नो वृत्रहन्तुरिन्द्रस्य हन्तव्यमस्तृतमहिंसितमभवत्। न कदाचिदित्य.....व्ययंहं अभवदित्यर्थः। अथवास्य महान्ति चलानि सेनालक्षणानि कदाप्यधृष्टान्यन्यबलैरहिंसितानि तथा वृत्रघ्नो शारीरं बलमस्तृतमन्यैरहिंस्यम्। ईदृशेन द्विविधेन बलेनेन्द्रो विश्वान् सर्वान् बेकनाटान्। अनेन कुसीदिनो वृद्धिजीविनो वार्धुषिका उच्यन्ते। कथं तद्व्युत्पत्तिः। वे इत्यपभ्रंशो द्विशब्दार्थे। एकं कार्षापणं ऋणिकाय प्रयच्छन् द्वौ मह्यं दातव्य......नयेन दर्शयन्ति ततो द्विशब्देनैकशब्देन च नाटयन्तीति बेकनाटाः। तानहर्दृशः। अहःशब्देन तदुत्पादक आदित्योऽभिधेयो भवति। तं पश्यन्तीत्यहर्दृशः। ननु सर्वे सूर्यं पश्यन्ति कोऽत्रातिशय इति उच्यते। इहैव जन्मनि सूर्यं पश्यन्ति न जन्मान्तरे। लुब्धका अयष्टारोऽन्धे तमसि मज्जन्ति। अथवा लौकिकान्येवाहानि पश्यन्ति न पारलौकिकान्यदृष्टानि। दृष्टप्रधाना हि नास्तिकाः। अतो......शान् पणीन् पणिसदृशान् शूद्रकल्पान्। उतशब्द एवार्थे। क्रत्वोत कर्मणैव ताडनादिव्यापारेणैवाभि भवतीति शेषः। यद्वा। पणीनुत पणीनेवाभिभवति न यष्टारम्। पणीनां निन्दा स्मर्यते—'गोरक्षकानापणिकांस्तथा कारुकुशीलवान्। प्रेष्यान् वार्धुषिकांश्चैव विप्रान् शूद्रवदाचरेत् ॥' (मस्मृ. ८।१०२) इति। ऋसा.

(१) ऋसं ७।६।३. (२) ऋसं. ८।६६।१०.

## निरुक्तम्

कुसीदिनः

[1] बेकनाटाः खलु कुसीदिनो भवन्ति द्विगुणकारिणो वा द्विगुणदायिनो वा द्विगुणं कामयन्त इति वा।

(१) नि. ६।२६.

# उपनिधिः

## महाभारतम्

न्यासलिङ्गम्

कुंत एव परित्यक्तुं सुतां शक्ष्याम्यहं स्वयम्।
बालामप्राप्तवयसमजातव्यञ्जनाकृतिम् ॥
भर्तुरर्थाय निक्षिप्तां न्यासं धात्रा महात्मना।
यस्यां दौहित्रजाँल्लोकानाशंसे पितृभिः सह।
स्वयमुत्पाद्य तां बालां कथमुत्स्रष्टुमुत्सहे ॥

(१) भा. (भाण्डा.) १।१४५।३४,३५.

## अग्निपुराणम्

निक्षेपभोगनाशादौ दण्डः

[1] निक्षेपस्य समं मूल्यं दण्ड्यो निक्षेपभुक्तया ॥
वस्त्रादिकस्य धर्मज्ञ तथा धर्मो न हीयते ॥
यो निक्षेपं घातयति यश्चानिक्षिप्य याचते।
तावुभौ चौरवच्छास्यौ दण्ड्यौ वा द्विगुणं दमम् ॥

(१) अपु. २२७।८-१०.

## अस्वामिविक्रयः

### अग्निपुराणम्

अस्वामिविक्रेतुर्दण्डः

**[1]अज्ञानाद्यः पुमान् कुर्यात् परद्रव्यस्य विक्रयम् । निर्दोषो ज्ञानपूर्वं तु चौरवद्दण्डमर्हति ॥**

(१) अपु. २२७।१०.

(१) अपु. २२७।११.

## संभूयसमुत्थानम्

### गौतमः

ऋत्विगाचार्यत्यागनियमः

**[1]अज्ञानादनध्यापनादृत्विगाचार्यौ पतनीयसेवायां च हेयौ । अन्यत्र हानात्पतति ।**

अज्ञानादनध्यापनादिति । यदि कर्मणि प्रवृत्त ऋत्विक् मन्त्रान् कर्मपद्धतिं वा न जानाति स च, य आलस्यादिना नाध्यापयत्याचार्यस्तावुभौ हेयौ त्याज्यौ । इदं पतितेन सह शयनासनादेः सेवायां प्रागप्यब्दात्परित्यागार्थम् । तर्हि संवत्सरेण पततीति वचनमनर्थकम् । न तादृशस्त्यागोऽत्र विवक्षितः । किं तर्हि ऋत्विगाचार्यान्तरमुपादेयम् । अनुपादाने दोष इति ।

अन्यत्रेति । अन्यत्राज्ञानादनध्यापनादन्यत्र तयोस्त्यागो न कर्तव्यः । कुर्वन् पतति । गौमि.

(१) गौध. २१।१२,१३; मेधा. ८।३८८ अज्ञा ... दृत्वि ( अथायाजकावृत्वि ); मभा. नादनध्या ( नाध्या ); गौमि. २१।१२,१३.

### अग्निपुराणम्

मूल्यं गृहीत्वा शिल्पादाने दण्ड्यः

**[1]मूल्यमादाय यः शिल्पं न दद्याद्दण्ड्य एव सः ॥**

(१) अपु. २२७।११.

## दत्ताप्रदानिकम्

### गौतमः

दानाङ्गनियमः

**[1]स्वस्ति वाच्य भिक्षादानमप्पूर्वम् ।**

स्वस्तीति भिक्षुकं वाचयित्वा तत उदकदानपूर्वमस्मै भिक्षादानं कर्तव्यम् । भिक्षादाने स्त्रिया अधिकारात् तस्या एव च याचितत्वादतस्तामेवं कारयेत् गृहस्थः । केचिद्व्याचक्षते वैश्वदेवानन्तरमेव विधानादग्रभैक्षस्यायं विधिर्न सामान्यस्येति । तेषां पक्षे स्वस्तिवाचनं पुरुषेणैव कारयितव्यमिति द्रष्टव्यम् । मभा.

(१) गौध. ५।१९; मभा.; गौमि. ५।१६; स्वि. २८४; समु. ९७.

**[1]ददातिषु चैवं धर्म्येषु ।**

ददातिशब्देन हिरण्यादिदानमुच्यते । धर्म्यग्रहणान्न दृष्टार्थं मित्रादिभ्यो दानम् । एवमेव उदकपूर्वं दद्यात् । चकारादेव सिद्धे एवंशब्दः समस्तप्रापणार्थः । ततश्च यथा भिक्षादानं स्त्रीकृतमपि भर्तुरनुज्ञया प्रमाणं भवति तद्वत् हिरण्यादिदानमपि प्रमाणं भवति । तथा च नारदः— 'स्त्रीकृतान्यप्रमाणानि कार्या-

(१) गौध. ५।२०; मभा.; गौमि. ५।१७; स्वि. २८४ ददातिषु ( तथाऽतिथिषु ); समु. ९७.

ण्याहुरनापदि । विशेषतो गृहक्षेत्रदानधर्मान्नविक्रयाः ॥ एतान्येव प्रमाणानि भर्ता यद्यनुमन्यते ॥' इत्यादि । भिक्षादानमपि भर्तुरनुज्ञया विना न कार्यम् । तथा च मनुः—'बाल्या वा युवत्या वा वृद्धया वाऽपि योषिता । न स्वातन्त्र्येण कर्तव्यं कार्यं किञ्चिद्गृहेष्वपि ॥' मभा.

## आपस्तम्बः

दानाङ्गनियमः

**[1]सर्वाण्युदकपूर्वाणि दानानि ।**

सर्वाणीति वचनात् भिक्षाऽप्युदकपूर्वमेव देया । उ.

**[2]यथाश्रुति विहारे ।**

विहारे यज्ञकर्मणि यानि दानानि दक्षिणादीनि, तानि

(१) आध. २।९।८; हिध. २।४; सवि. २८४; समु. ९७.

(२) आध. २।९।९; हिध. २।४.

यथाश्रुत्येव । नोदकपूर्वाणि । उ.

## भारद्वाजः

भयदानलक्षणम्

**[1]आक्रोशादर्थहीनानां प्रतीकारं च यद्भयात् । प्रदीयते तत्कर्तृभ्यो भयदानं तदुच्यते ॥**

## स्मृत्यन्तरम्

दानाङ्गनियमः

**[2]देयात्कृष्णाजिनं पुच्छे गां पुच्छे करिणं करे । केसरेषु तथैवाश्वान् दासीं शिरसि दापयेत् ॥**

## अग्निपुराणम्

प्रतिश्रुत्याप्रदाने दण्डः

**[3]प्रतिश्रुत्याप्रदातारं सुवर्णं दण्डयेन्नृपः ॥**

(१) सवि. २८६. (२) समु. ९७.

(३) अपु. २२७।१२.

# अभ्युपेत्याशुश्रूषा

## आपस्तम्बः

अन्तेवासिगुरुवृत्तिः

**[1]तस्मिन् गुरोर्वृत्तिः ।**

तस्मिन्नन्तेवासिनि गुरोर्वृत्तिः । वृत्तेः प्रकारो वक्ष्यते । उ.

**[2]पुत्रमिवैनमनुकाङ्क्षन् सर्वधर्मेष्वनपच्छादयमानः सुयुक्तो विद्यां ग्राहयेत् ।**

एनं शिष्यं पुत्रमिव अस्याभ्युदयः स्यादिति अनुकाङ्क्षन् सर्वेषु धर्मेषु किञ्चिदप्यनपच्छादयमानः अगूहन् सुयुक्तः सुष्ठु अवहितः तत्परो भूत्वा विद्यां ग्राहयेत् । उ.

**[3]न चैनमध्ययनविघ्नेनात्मार्थेषूपरुन्ध्यादनापत्सु ।**

न चैनं शिष्यमध्ययनविघ्नेन आत्मप्रयोजनेष्वनापत्सूपरुन्ध्यात् । उपरोधः अस्वतन्त्रीकरणम् । 'अनापत्स्वि'ति वचनादापद्यध्ययनविघातेनाऽप्युपरोधे न दोषः । उ.

(१) आध. १।८।२४; हिध. १।८.

(२) आध. १।८।२५; हिध. १।८.

(३) आध. १।८।२६; हिध. १।८.

**[1]अन्तेवास्यनन्तेवासी भवति विनिहितात्मा गुरावनैपुणमापद्यमानः ।**

'आपद्यमान' इत्यन्तर्भावितण्यर्थः । योऽन्तेवासी विनिहितात्मा द्वयोराचार्ययोः विविधं निहितात्मा गुरावनैपुणमापादयति— न अनेन अयं प्रदेशः सम्यगुक्त इति, सोऽन्तेवासी न भवति । स त्याज्य इत्यर्थः । अपर आह— योऽन्तेवासी वाङ्मनःकर्मभिरनैपुणमापद्यमानो गुरौ विसदृशं निहितात्मा भवति अनुरूपं न शुश्रूषते सोऽन्तेवासी न भवतीति । उ.

**[2]आचार्योऽप्यनाचार्यो भवति श्रुतात्परिहरमाणः ।**

आचार्योऽप्यनाचार्यो भवतीति, त्याज्य इत्यर्थः । किं कुर्वन् ? श्रुतात्परिहरमाणः तेन तेन व्याजेन विद्याप्रदानमकुर्वन् । उ.

**[3]अपराधेषु चैनं सततमुपालभेत ।**

अपराधेषु कृतेष्वेनं शिष्यं सततमुपालभेत, इदमयुक्तं त्वया कृतमिति । उ.

(१) आध. १।८।२७; हिध. १।८.

(२) आध. १।८।२८; हिध. १।८.

(३) आध. १।८।२९; हिध. १।८.

अभित्रास उपवास उदकोपस्पर्शनमदर्शनमिति दण्डा यथामात्रमानिवृत्तेः ।

अभित्रासो भयोत्पादनम् । उपवासो भोजनलोपः । उदकोपस्पर्शनं शीतोदकेन स्नापनम् । अदर्शनं यथा आत्मानं न पश्यति तथा करणम् । गृहप्रवेशनिषेधः । सर्वत्र ण्यन्तात् प्रत्ययः । इत्येते दण्डाः शिष्यस्य यथामात्रं यावत्यपराधमात्रा तदनुरूपं व्यस्ताः समस्ताश्च । आनिवृत्तेः यावदसौ न ततोऽपराधान्निवर्तते तावदेते दण्डाः । उ.

[२] निवृत्तं चरितब्रह्मचर्यमन्येभ्यो धर्मेभ्योऽनन्तरो भवेत्यतिसृजेत् ।

एवं चरितब्रह्मचर्यं निवृत्तं गुरुकुलात् कृतसमावर्तनमित्यर्थः । एवंभूतमन्येभ्यो धर्मेभ्यो यमसौ आश्रमं प्रतिपित्सते तत्र तेभ्योऽनन्तरो भव यथा त्वमन्तरितो न भवसि तथा भवेत्युक्त्वाऽतिसृजेत् । तं तमाश्रमं प्रतिपत्तुमुत्सृजेत् । उ.

## बौधायनः

अध्याप्यः शिष्यः

[३] धर्मार्थौ यत्र न स्यातां शुश्रूषा वाऽपि तद्विधा ।
विद्यया सह मर्तव्यं न चैनामूषरे वपेत् ॥

अनर्हाय विद्या न दातव्येत्याह—धर्मार्थौ यत्रेति । यथा कृषीवलः शुभं बीजमूषरे न वपति । तथा शुश्रूषादिवर्जिते विद्या न दातव्येत्यर्थः । बौवि. ( पृ. २० )

[४] अग्निरिव कक्षं दहति ब्रह्मपृष्ठमनादृतम् ।
तस्माद्वै शक्यं न ब्रूयात् ब्रह्म मानमकुर्वतामिति ॥

अयोग्याध्यापने दोषमाह— अग्निरिव कक्षमिति । शक्यं मानमिति संबन्धः । वैशब्दः पादपूरणः । ब्रह्म विद्या मानं पूजा । बौवि. ( पृ. २० )

## वसिष्ठः

अध्याप्यः शिष्यः

[५] विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मां शेवधिस्तेऽहमस्मि । असूयकायानृजवेऽयताय न मां ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम् ॥

यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम् । यस्तेन द्रुह्येत्कतमच्च नाह तस्मै मां ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन् ॥

य आतृणत्त्यवितथेन कर्मणा बहुदुःखं कुर्वन्नमृतं संप्रयच्छन् । तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत्कतमच्च नाह ॥

अध्यापिता ये गुरुं नाऽऽद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा । यथैव ते न गुरोर्भोजनीयास्तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत् ॥

दहत्यग्निर्यथा कक्षं ब्रह्मपृष्ठमनादृतम् ।
न ब्रह्म तस्मै प्रब्रूयाच्छक्यं मानमकुर्वत इति ॥

## मनुः

अध्याप्याः शिष्याः

* [१] आचार्यपुत्रः शुश्रूषुर्ज्ञानदो धार्मिकः शुचिः ।
आप्तः शक्तोऽर्थदः साधुः स्वोऽध्याप्या दश धर्मतः ॥
नापृष्टः कस्यचिद्ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः ।
जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत् ॥
अधर्मेण च यः प्राह यश्चाधर्मेण पृच्छति ।
तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं वाधिगच्छति ॥
धर्मार्थौ यत्र न स्यातां शुश्रूषा वापि तद्विधा ।
तत्र विद्या न वक्तव्या शुभं बीजमिवोषरे ॥
विद्ययैव समं कामं मर्तव्यं ब्रह्मवादिना ।
आपद्यपि हि घोरायां न त्वेनामिरिणे वपेत् ॥
विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिष्टेऽस्मि रक्ष माम् ।
असूयकाय मां मादास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा ॥
यमेव तु शुचिं विद्यात् नियतब्रह्मचारिणम् ।
तस्मै मां ब्रूहि विप्राय निधिपायाप्रमादिने ॥
अब्राह्मणादध्ययनमापत्काले विधीयते ।
अनुव्रज्या च शुश्रूषा यावदध्ययनं गुरोः ॥

## अग्निपुराणम्

भार्यापुत्रदासशिष्यादिताडनविशेषे दोषः

[२] भार्या पुत्राश्च दासाश्च शिष्यो भ्राता च सोदरः ।
कृतापराधास्ताड्याः स्यू रज्वा वेणुदलेन वा ।
पृष्ठे न मस्तके हन्याच्चौरस्याप्नोति किल्बिषम् ॥

(१) आध. १।८।३०; हिध. १।८.
(२) आध. १।८।३१; हिध. १।८.
(३) बौध. १।२।४८. (४) बौध. १।२।४९.
(५) वस्मृ. २।१४-८.

* मनुस्मृतेः व्यवहारप्रकरणे एतेषां श्लोकानामभावात् टीका नोद्धृता ।

(१) मस्मृ. २।१०९-११५,२४१.
(२) अपु. २२७।४५-६.

# वेतनानपाकर्म

## कात्यायनः

भाण्डवाहकधर्मः

[1]भाण्डवाहकदोषेण वणिजो यदि द्रव्यं नश्येत् तद्भाण्डवाहको दद्यात् ।

## लघुहारीतः

भाटकम्

[2]अनुच्छिष्टं तु यद्द्रव्यं दासक्षेत्रगृहादिकम् ।
स्वबलेनैव भुञ्जानश्चौरवद्दण्डमर्हति ॥

(१) मेधा. ८।२१५.

(२) लहास्मृ. ५०,५१.

अनड्वाहं च धेनुं च दासीदासं तथैव च ।
फलभुक् प्रत्यहं दद्याद्भोगं पणचतुष्टयम् ॥

## अग्निपुराणम्

स्वामिभृत्ययोः दोषे दण्डः

[1]भृतिं गृह्य न कुर्याद्यः कर्माष्टौ कृष्णला दमः ।
अकाले तु त्यजन् भृत्यं दण्ड्यः स्यात्तावदेव तु ॥

वेश्याधर्मः

[2]गृहीत्वा वेतनं वेश्या लोभादन्यत्र गच्छति ।
वेतनं द्विगुणं दद्याद्दण्डं च द्विगुणं तथा ॥

(१) अपु. २२७।१२-३. (२) अपु. २२७।४४-५.

# क्रयविक्रयानुशयः

## निरुक्तम्

स्त्रीपुरुषविक्रयविचारः

[1]स्त्रीणां दानविक्रयातिसर्गा विद्यन्ते न पुंसः । पुंसोऽपीत्येके शौनःशेपे दर्शनात् * ।

## विष्णुः

कन्याविषयानुशयादौ दण्डविधिः

[2]दोषमनाख्याय कन्यां प्रयच्छंश्च । तां च बिभृयात् । अदुष्टां दुष्टामिति ब्रुवन्नुत्तमसाहसम् ।

## भारद्वाजः

परिवृत्तेः परिवर्तनावधिः

संधिश्च परिवृत्तिश्च विभागश्च समा यदि ।
आदशाहान्निवर्तन्ते विषमा नववत्सरात् ×॥

## अग्निपुराणम्

क्रयविक्रयः—कन्याविषयानुशये दण्डविधिः

[3]क्रीत्वा विक्रीय वा किञ्चिद्यस्येहानुशयो भवेत् ।
सोऽन्तर्दशाहात्तत्स्वामी दद्याच्चैवाददीत च ॥
परेण तु दशाहस्य नादद्यान्नैव दापयेत् ।
आददद्धि ददच्चैव राज्ञा दण्ड्यः शतानि षट् ॥
वरदोषानविख्याप्य यः कन्यां वरयेदिह ।
दत्ताऽप्यदत्ता सा तस्य राज्ञा दण्ड्यः शतद्वयम् ॥
प्रदाय कन्यां योऽन्यस्मै पुनस्तां संप्रयच्छति ।
दण्डः कार्यो नरेन्द्रेण तस्याप्युत्तमसाहसः ॥
सत्यङ्कारेण वाचा च युक्तं पुण्यमसंशयम् ।
लुब्धोऽन्यत्र च विक्रेता षट्शतं दण्डमर्हति ॥

## मत्स्यपुराणम्

कन्याविषयानुशये दण्डविधिः

[1]यस्तु दोषवतीं कन्यामनाख्याय प्रयच्छति ।
तस्य कुर्यान्नृपो दण्डं स्वयं षण्णवतिं पणान् ॥
यः कन्यां दर्शयित्वाऽन्यां वोढुरन्यां प्रयच्छति ।
उत्तमं तस्य कुर्वीत राजा दण्डं तु साहसम् ॥
वरो दोषं समासाद्य यः कन्यां संहरेदिह ।
दत्ताऽप्यदत्ता सा तस्य राज्ञा दण्ड्यः शतद्वयम् ॥

* व्याख्यानं दायभागे ( पृ. १२५५ ) द्रष्टव्यम् ।

× स्थलादिनिर्देशः दायभागे ( पृ. १५८२ ) द्रष्टव्यः ।

(१) नि. ३।४. (२) विस्मृ. ५।१४५-७.

(३) अपु. २२७।१३-७.

(१) दवि. १८५-६.

## स्वामिपालविवादः

### महाभारतम्

पशुपालनभृतिः

[1]वैश्यस्यापि हि यो धर्मस्तं ते वक्ष्यामि शाश्वतम्।
दानमध्ययनं यज्ञः शौचेन धनसञ्चयः ॥
पितृवत्पालयेद्वैश्यो युक्तः सर्वान्पशूनिह ।
विकर्म तद्भवेदन्यत्कर्म यत्स समाचरेत् ॥
रक्षया स हि तेषां वै महत्सुखमवाप्नुयात् ।
प्रजापतिर्हि वैश्याय सृष्ट्वा परिददौ पशून् ॥
ब्राह्मणाय च राज्ञे च सर्वाः परिददे प्रजाः ।
तस्य वृत्तिं प्रवक्ष्यामि यच्च तस्योपजीवनम् ॥
षण्णामेकां पिबेद्धेनुं शताच्च मिथुनं हरेत् ।
लब्धाच्च सप्तमं भागं तथा शृङ्गे कला खुरे ॥
सस्यानां सर्वबीजानामेषा सांवत्सरी भृतिः ।
न च वैश्यस्य कामः स्यान्न रक्षेयं पशूनिति ॥
वैश्ये चेच्छति नान्येन रक्षितव्याः कथञ्चन ॥

### नारदः

पशुनाशे व्यवस्था

[2]वालाश्चर्मापरे सक्थी बस्तिस्नायूनि रोचनाम् ।
दद्यात्पशुमते सर्वं मृतेष्वङ्कांश्च दर्शयेत् ॥

### व्यासः

द्विजवान्धवगोकृतसस्यभक्षणं क्षम्यम्

[3]आक्रम्य च द्विजैर्भुक्तं परिक्षीणं च बान्धवैः ।
गोभिश्च नरशार्दूल वाजपेयाद्विशिष्यते ॥

---

(१) भा. १२।६०।२१-७.

(२) Dr. Jolly—Narada Preface page 8–Nepalese MS.

(३) स्मृच. २१२ च द्विजैर्भुक्तं ( यद्द्विजैर्युक्तं ) णं च ( णैश्च ); व्यउ. १०१; व्यप्र. ३५३; विता. ६८२-३ णं च ( णैश्च ) नर ( राज ); समु. १०४ च ( यत् ) णं च णैश्च ).

### स्मृत्यन्तरम्

सस्यनाशे दण्डः

[1]वत्सानां द्विगुणः प्रोक्तः सवत्सानां चतुर्गुणः ॥

### अनिर्दिष्टकर्तृकवचनम्

सस्यनाशे दण्डः

[2]गुरोः क्षुद्रात् पशो रात्रावह्नि कामादकामतः ।
महानल्पः शस्यनाशो दण्डभेदाय भिद्यते ॥

### अग्निपुराणम्

पालधर्माः सस्यरक्षा च

[3]दद्याद्धेनुं न यः पालो गृहीत्वा भक्तवेतनम् ।
स तु दण्ड्यः शतं राज्ञा सुवर्णं वाऽप्यरक्षिता ॥
धनुःशतं परीणाहो ग्रामस्य तु समन्ततः ।
द्विगुणं त्रिगुणं वाऽपि नगरस्य च कल्पयेत् ॥
वृतिं तत्र प्रकुर्वीत यामुष्ट्रो नावलोकयेत् ।
तत्रापरिवृते धान्ये हिंसिते नैव दण्डनम् ॥

---

(१) पमा. ३८१; दवि. २८४ ( सवत्सानां द्विगुणो दण्डो वसतां तु चतुर्गुणः ) नारदः.

(२) दवि. २८२.

(३) अपु. २२७।१८-२१.

## सीमाविवादः

### नारदः

बलाद्भूमिर्न हर्तव्या

[1]अतो भूमिर्न हर्तव्या जानता भूमिजं भयम् ।
बलाद्धृताया भूमेस्तु करणं न प्रमाणकम् ॥

---

(१) स्मृचि. २३.

### अग्निपुराणम्

गृहाद्याहरणे दण्डः

[1]गृहं तडागमारामं क्षेत्रं वा भीषया हरन् ।
शतानि पञ्च दण्ड्यः स्यादज्ञानाद्द्विशतो दमः॥

---

(१) अपु. २२७।२१-२२.

## वेदाः

एका द्वयोः पत्नी

आ वां रथं दुहिता सूर्यस्य कार्ष्मेवातिष्ठदर्वता जयन्ती।
विश्वे देवा अन्वमन्यन्त हृद्भिः समु श्रिया नासत्या सचेथे॥

सविता स्वदुहितरं सूर्याख्यां सोमाय राज्ञे प्रदातुमैच्छत्। तां सूर्यां सर्वे देवा वरयामासुः। तेऽन्योन्यमूचुः। आदित्यमवधिं कृत्वाजिं धावाम। योऽस्माकं मध्ये उज्जेष्यति तस्येयं भविष्यतीति। तत्राश्विनावुदजयताम्। सा च सूर्या जितवतोस्तयोः रथमारुरोह। अत्र प्रजापतिर्वै सोमाय राज्ञे दुहितरं प्रायच्छत् (ऐब्रा. ४।७)। इत्यादिकं ब्राह्मणमनुसंधेयम्। इदं चाख्यानं सूर्याविवाहस्य स्तावकेन सत्येनोत्तभिता भूमिरिति सूक्तेन विस्पष्टयिष्यते। हे अश्विनौ वां युवयो रथं कार्ष्मेव। कार्ष्मशब्दः काष्ठवाची। यथा काष्ठमाजिधावनस्यावधितया निर्दिष्टं लक्ष्यमाशुगामी कश्चित् सर्वेभ्यो धावद्भ्यः पूर्वं प्राप्नोति एवमेव सर्वेभ्यो देवेभ्यः पूर्वमर्वता शीघ्रमवधिं प्राप्नुवता युष्मदीयेनाश्वेन करणभूतेन युवाभ्यां जयन्ती जीयमाना सूर्यस्य सवितुर्दुहितातिष्ठत् आरूढवती। विश्वे सर्व इतरे देवा एतदारोहणस्थानं ह्यद्भिर्हृदयैरन्वमन्यन्त अन्वजानन्। तदानीं हे नासत्यावश्विनौ श्रिया ऋक्सहस्रलाभरूपया संपदा कान्त्या वा युवां सं सचेथे संगच्छेथे। ऋसा.[1]

वेश्या

कामाय पुँश्चलूम्। नर्माय पुंश्चलूम्।[2]

## वसिष्ठः

स्त्रीरक्षा, रजस्वलाधर्माश्च

अस्वतन्त्रा स्त्री पुरुषप्रधाना। अनग्निकाऽनुदक्या वा अनृतमिति विज्ञायते।[3]

अथाप्युदाहरन्ति—

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
पुत्रश्च स्थाविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥
तस्या भर्तुरभिचार उक्तः प्रायश्चित्तरहस्येषु।
मासि मासि रजो ह्यासां दुष्कृतान्यपकर्षति॥

त्रिरात्रं रजस्वलाऽशुचिर्भवति, सा नाञ्ज्यान्नाभ्यञ्ज्यान्नाप्सु स्नायात्, अधः शयीत, दिवा न स्वप्यात्, नाग्निं स्पृशेत्, न रज्जुं सृजेत्, न दन्तान् धावयेत्, न मांसमश्नीयात्, न ग्रहान्निरीक्षेत, न हसेत्, न किञ्चिदाचरेत्, अखर्वेण पात्रेण पिबेत्, अञ्जलिना वा पिबेत्, लोहितायसेन वा।

विज्ञायते हीन्द्रस्त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रं हत्वा पाप्मगृहीतो महत्तमाधर्मसंबद्धोऽहमित्येवमात्मानं अमन्यत, तं सर्वाणि भूतान्यभ्याक्रोशन्, भ्रूणहन् भ्रूणहन् भ्रूणहन्निति, स स्त्रिय उपाधावत्, अस्यै मे ब्रह्महत्यायै तृतीयं भागं प्रतिगृह्णीतेति गत्वैवमुवाच, ता अब्रुवन्, किं नोऽभूदिति, सोऽब्रवीद्वरं वृणीध्वमिति, ता अब्रुवन्नृतौ प्रजां विन्दामहा इति, काममा विजनितोः संभवाम इति, तथेति ताः प्रतिजगृहुस्तृतीयं भ्रूणहत्यायाः। सैषा भ्रूणहत्या मासि मास्याविर्भवति। तस्माद्रजस्वलान्नं नाश्नीयात्। अतश्च भ्रूणहत्याया एवैषा रूपं प्रतिमुच्य आस्ते कञ्चुकमिव। तदाहुर्ब्रह्मवादिनः। अञ्जनाभ्यञ्जनमेवास्या न प्रतिग्राह्यम्। तद्धि स्त्रिया अन्नमिति। तस्मात्तस्यास्तत्र न च मन्यन्ते। आचारायाश्च योषित इति सेयमुपयाति।

उदक्यास्त्वासते येषां ये च केचिदनग्नयः।
कुलं चाश्रोत्रियं येषां सर्वे ते शूद्रधर्मिणः॥ इति।

ऋतुकालगामी स्यात्पर्ववर्जं स्वदारेषु। अतिर्येगुपेयात्।

अथाप्युदाहरन्ति—

यस्तु पाणिगृहीताया आस्ये कुर्वीत मैथुनम्।
भवन्ति पितरस्तस्य तन्मासं रेतसो भुजः॥[1]

---

(१) ऋसं. १।११६।१७.

(२) शुमा. ३०।५,२०.

(३) वस्मृ. ५।१-१६.

(१) वस्मृ. १२।१८-२४.

या स्यादनित्यचारेण रतिः साऽधर्मसंश्रिता ॥

अपि च काठके विज्ञायते । अपि नः श्वो विजनिष्यमाणाः पतिभिः सह शयीरन्निति स्त्रीणामिन्द्रदत्तो वर इति ।

## महाभारतम्

स्त्रीणां भर्तृशुश्रूषा धर्मः । भार्यामहिमा । स्त्री अवध्या ।
बहुपत्नीकता नाधर्मः । स्त्री त्याज्या ।

[१]भार्या पुत्रोऽथ दुहिता सर्वमात्मार्थमिष्यते ॥
एतद्धि परमं नार्याः कार्यं लोके सनातनम् ।
प्राणानपि परित्यज्य यद्भर्तृहितमाचरेत् ॥
उत्सृष्टमामिषं भूमौ प्रार्थयन्ति यथा खगाः ।
प्रार्थयन्ति जनाः सर्वे पतिहीनां तथा स्त्रियम् ॥
व्युष्टिरेषा परा स्त्रीणां पूर्वं भर्तुः परां गतिम् ।
गन्तुं ब्रह्मन्सपुत्राणामिति धर्मविदो विदुः ॥
यज्ञैस्तपोभिर्नियमैर्दानैश्च विविधैस्तथा ।
विशिष्यते स्त्रिया भर्तुर्नित्यं प्रियहिते स्थितिः ॥
इष्टानि चाप्यपत्यानि द्रव्याणि सुहृदः प्रियाः ।
आपद्धर्मप्रमोक्षाय भार्या चापि सतां मतम् ॥
आपदर्थे धनं रक्षेद्दारान् रक्षेद्धनैरपि ।
आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि ॥
दृष्टादृष्टफलार्थं हि भार्या पुत्रो धनं गृहम् ।
सर्वमेतद्विधातव्यं बुधानामेष निश्चयः ॥
एकतो वा कुलं कृत्स्नमात्मा वा कुलवर्धनः ।
न समं सर्वमेवेति बुधानामेष निश्चयः ॥
अवध्यां स्त्रियमित्याहुर्धर्मज्ञा धर्मनिश्चये ॥
न चाप्यधर्मः कल्याण बहुपत्नीकृतां नृणाम् ।
स्त्रीणामधर्मः सुमहान्भर्तुः पूर्वस्य लङ्घने ॥
[२]भृशं दुःखपरीताङ्गी कन्या तावभ्यभाषत ॥
धर्मतोऽहं परित्याज्या युवयोर्नात्र संशयः ।
त्यक्तव्यां मां परित्यज्य त्रातं सर्वं मयैकया ॥
इत्यर्थमिष्यतेऽपत्यं तारयिष्यति मामिति ॥
आत्मा पुत्रः सखा भार्या कृच्छ्रं तु दुहिता किल ॥

(१) भा. १।१५८।३,४,१२,२२,२४, २६-२९, ३१, ३६.

(२) भा. ( भाण्डा. ) १।१४७।१,२,४,११.

## याज्ञवल्क्यः

व्यवहारप्रकरणे स्त्रीपुंधर्मपदव्यवस्था

व्यवहारप्रकरणमध्ये स्त्रीपुंसयोगाख्यमप्यपरं विवादपदं मनुनारदाभ्यां विवृतम् । तत्र नारदः— 'विवाहादिविधिः स्त्रीणां यत्र पुंसां च कीर्त्यते । स्त्रीपुंसयोगसंज्ञं तद्विवादपदमुच्यते ॥' इति । मनुरप्याह— 'अस्वतन्त्राः स्त्रियः कार्याः पुरुषैः स्वैर्दिवानिशम् । विषयेषु च सज्जन्त्यः संस्थाप्या ह्यात्मनो वशे ॥' इत्यादि । यद्यपि स्त्रीपुंसयोः परस्परमर्थिप्रत्यर्थितया नृपसमक्षं व्यवहारो निषिद्धस्तथापि प्रत्यक्षेण कर्णपरम्परया वा विदिते तयोः परस्परातिचारे दण्डादिना दम्पती निजधर्ममार्गे राज्ञा स्थापनीयौ । इतरथा दोषभाग्भवति । व्यवहारप्रकरणे राजधर्ममध्येऽस्य स्त्रीपुंसधर्मजातस्योपदेशः । एतच्च विवाहप्रकरण एव सप्रपञ्चं प्रतिपादितमिति योगीश्वरेण न पुनरत्रोक्तम् । मिता. २।२९५

## नारदः

कन्यादानकालः

[१]व्यञ्जनैस्तु समुत्पन्नैः सोमो भुङ्क्तेऽथ योषितः ।
पयोधरास्तु गान्धर्वो रजस्यग्निः प्रकीर्तितः ॥
तस्मादव्यञ्जनोपेतामरजामपयोधराम् ।
अभुक्तपूर्वां सोमाद्यैर्दद्याद्दुहितरं पिता ॥

चतुःस्वैरिणीदोषतारतम्यम्

स्वैरिणीनां चतसृणां सा श्रेष्ठा तूत्तरोत्तरा ।
विकल्पं तदपत्यानां रिक्थपिण्डोदकादिषु ॥

प्रोषितभर्तृकशूद्रावृत्तम्

[२]न शूद्रायाः स्मृतः कालो न च धर्मव्यतिक्रमः ।
विशेषतोऽप्रसूतायाः संवत्सरपरा स्थितिः ॥
प्रजाप्रवृत्तौ भूतानां दृष्टिरेषा प्रजापतेः ।
जीवति श्रूयमाणे तु स्यादेष द्विगुणो विधिः ॥

## उशना

ज्येष्ठपूर्वं यवीयसः विवाहः

[३]प्रव्रजिते ज्येष्ठे क्षपणं नास्ति सद्य एव निविशेत् ।

(१) Dr. Jolly—Narada preface page 11—Nepalese MS.

(२) Dr. Jolly—Narada Preface page 12—Nepalese MS. (३) मभा. १८।१९.

## स्मृत्यन्तरम्

पतिप्रीणनं धर्मः

[1]यद्यदिष्टतमं लोके यद्यत्पत्युः समीहितम् ।
तत्तद्गुणवते देयं पतिप्रीणनकाम्यया ॥

कन्याविक्रयनिन्दा

[2]तं देशं पतितं मन्ये यत्रास्ते शुल्कविक्रयी ।

## अग्निपुराणम्

विविधाः स्त्रीपुंधर्माः

[3]विप्रदुष्टां स्त्रियं भर्ता निरुन्ध्यादेकवेश्मनि ।
यत्पुंसः परदारेषु तदेनां चारयेद् व्रतम् ॥
[4]साध्वीस्त्रीणां पालनं च राजा कुर्याच्च धार्मिकः ।
स्त्रिया प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्यैकदक्षया ॥
सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया ।
यस्मै दद्यात्पिता त्वेनां शुश्रूषेत्तं पतिं सदा ॥
मृते भर्तरि स्वर्यायाद्ब्रह्मचर्ये स्थिताऽङ्गना ।
परवेश्मरुचिर्न स्यान्न स्यात्कलहशालिनी ॥
मण्डनं वर्जयेन्नारी तथा प्रोषितभर्तृका ।
देवताराधनपरा तिष्ठेद्भर्तृहिते रता ॥
धारयेन्मङ्गलार्थाय किञ्चिदाभरणं तथा ।
भर्त्राऽग्निं या विशेन्नारी साऽपि स्वर्गमवाप्नुयात् ॥
श्रियः संपूजनं कार्यं गृहसंमार्जनादिकम् ।
द्वादश्यां कार्तिके विष्णुं गां सवत्सां ददेत्तथा ॥
सावित्र्या रक्षितो भर्ता सत्याचारव्रतेन च ।
सप्तम्यां मार्गशीर्षे तु सितेऽभ्यर्च्य दिवाकरम् ॥
पुत्रानाप्नोति च स्त्रीह नात्र कार्या विचारणा ॥

(१) दात. १९०. (२) मच. ९।९८.
(३) अपु. १६९।३९. (४) अपु. २२२।१९-२६.

# दायभागः

## वेदाः

पितुः कन्यायां संततिः । यावज्जीवं भर्तृरहिताः कन्याः, तासां तत्पुत्राणां च भागः ।

[1]द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम् । उत्तानयोश्चम्वोर्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात् ॥

दीर्घतमा ब्रवीति। मे मम द्यौर्द्युलोकः पिता पालकः । न केवलं पालकत्वमात्रं अपि तु जनिता जनयितोत्पादयिता । तत्रोपपत्तिमाह । नाभिरत्र नाभिभूतो भौमो रसोऽत्र तिष्ठतीति शेषः । ततश्चान्नं जायते अन्नाद्रेतः रेतसो मनुष्य इत्येवं पारम्पर्येण जननसंबन्धिनो हेतो रसस्यात्र सद्भावात् । अनेनैवाभिप्रायेण जनितेत्युच्यते । अत एव बन्धुर्बन्धिका तथेयं मही महती पृथिवी मे माता मातृस्थानीया स्वोद्भूतौषध्यादिनिर्मात्रीत्यर्थः । किञ्चोत्तानयोरूर्ध्वतनयोश्चम्वोः सर्वस्यात्र्योर्भोगसाधनयोः द्यावापृथिव्योरन्तर्मध्ये योनिः सर्वभूतनिर्माणाश्रयमन्तरिक्षं वर्तत इति शेषः । अत्रास्मिन्नन्तरिक्षे पिता द्युलोकः । अधिष्ठात्रधिष्ठानयोरभेदेन आदित्यो द्यौरुच्यते । स्वरश्मिभिः । अथवा इन्द्रः पर्जन्यो वा । दुहितुर्दूरे निहिताया भूम्या गर्भं सर्वोत्पादनसमर्थं वृष्ट्युदकलक्षणमाधात् । सर्वतः करोति । ऋसा.

(१) ऋसं. १।१६४।३३; असं. ९।१०।१२; नि. ४।२१.

[1]अमाजूरिव पित्रोः सचा सती समानादा सदसस्त्वामिये भगम् । कृधि प्रकेतमुप मास्या भर दद्धि भागं तन्वो येन मामहः * ॥

वव्रीभिः पुत्रमग्रुवो अदानं निवेशनाद्धरिव आ जभर्थ । व्यन्धो अख्यदहिमाददानो निर्भूदुखच्छित्समरन्त पर्व × ॥

उत त्यं पुत्रमग्रुवः परावृक्तं शतक्रतुः । उक्थेष्विन्द्र आभजत् ॥

* व्याख्यानं स्थलनिर्देशश्च दायभागे ( पृ. १४१५ ) द्रष्टव्यः ।

× व्याख्यानं स्थलनिर्देशश्च स्त्रीपुंधर्मप्रकरणे ( पृ. ९७१ ) द्रष्टव्यः ।

(१) ऋसं. ४।३०।१६.

उतापि च शतक्रतुः शतकर्मेन्द्रस्त्वं तं प्रसिद्धमग्रुवः एतन्नाम्न्याः पुत्रं परावृक्तमेतन्नामकमुक्थेषु स्तोत्रेष्वाभजत् भागिनं कृतवान् । 　　　　　　ऋसा.

**वातोपधूत इषितो वशाँ अनु तृषु यदन्ना वेविषद्वितिष्ठसे । आ ते यतन्ते रथ्यो यथा पृथक् शर्धांस्यग्ने अजराणि धक्षतः ॥**

हे अग्ने यद्यदा त्वं वातोपधूतो वायुना कम्पितो वशान् कान्तान् वनस्पतीननु प्रति तृषु क्षिप्रमिषितः प्रेरितश्च सन् अन्नान्यदनीयानि वनस्पत्यादीनि स्थावराणि वेविषद्व्याप्नुवन् वितिष्ठसे इतस्ततो गच्छसि तदानीं धक्षतः काननानि दहतस्ते तवाजराणि जरारहितानि शर्धांसि तेजांसि यथा रथ्यो रथिनस्तद्वत् पृथगा यतन्ते गच्छन्ति । 　　　　　　ऋसा.

पुत्रप्रतिग्रहः ( दत्तकलिङ्गम् ? )

**[२]ये यज्ञेन दक्षिणया समक्ता इन्द्रस्य सख्यममृतत्वमानश । तेभ्यो भद्रमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः ॥**

नाभानेदिष्ठः स्वपित्रा मनुनाभ्यनुज्ञातः सत्रमासीनान् अङ्गिरसोऽभ्येत्य मां प्रतिगृह्णीत युष्मभ्यं यज्ञं प्रज्ञापयामीति यदुक्तवान् तदुच्यते । इतिहासस्त्विदमित्थेति पूर्वसूक्ते नाभानेदिष्ठं शंसति नाभानेदिष्ठं वै मानवमिति ब्राह्मणानुसारेण 'मनुः पुत्रेभ्यो दायं व्यभजदि'ति तैत्तिरीयब्राह्मणानुसारेण च सप्रपञ्चमभिहितः । तथा चास्या ऋचोऽयमर्थः । यज्ञेन यजनीयेन हविषा दक्षिणयर्त्विग्भ्यो देयया समक्ताः संगता येऽहीनैकाहसत्राणि कुर्वन्तो यूयं इन्द्रस्य सख्यं सखिकर्म अत एवामृतत्वममरणधर्मं देवत्वमानश आनशिध्वे प्राप्ताः स्थ । हे अङ्गिरसः तेभ्यो वो युष्मभ्यं भद्रं कल्याणं कर्मास्तु । हे सुमेधसः सुप्रज्ञा हे अङ्गिरसः ते यूयमिदानीमागतं मानवं मनोः पुत्रं मां प्रति गृभ्णीत प्रतिगृह्णीत । मयि प्रतिगृहीते सति यज्ञं साधु करिष्यामीति तदर्थं प्रतिगृह्णीत । 　　　　　　ऋसा.

(१) ऋसं. १०।९१।७; मैसं. ४।११।४; सासं. २।३३३; आपश्रौ. ३।१५।५; माश्रौ. ५।१।७।३७.

(२) ऋसं १०।६२।१; ऐब्रा. ५।१३।१२; कौब्रा. २३।८; आश्रौ. ८।१।२१; शाश्रौ. १०।८।१४, १२।८।८, १६।११।३०.

**[१]ये उदाजन् पितरो गोमयं वस्वृतेनाभिन्दन् परिवत्सरे वलम् । दीर्घायुत्वमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः ॥**

हे अङ्गिरसः पितरोऽस्माकं पूर्वजत्वेन पितृभूता ये यूयं गोमयं गवात्मकं पणिभिरपहृतं वसु धनमुदाजन् तैरधिष्ठितात्पर्वतादुदगमयन् । किञ्चर्तेन सत्यभूतेन यज्ञेन परिवत्सरे पर्यागते वत्सरे संपूर्णे सत्रान्त इत्यर्थः । तत्र वलं वलनामानं गवामपहर्तारमसुरमभिन्दन् व्यनाशयन् तेभ्यो वो युष्मभ्यं दीर्घायुत्वं प्रभूतजीवनमस्तु । शेषं पूर्ववत् । 　　　　　　ऋसा.

**ये ऋतेन सूर्यमारोहयन् दिव्यप्रथयन् पृथिवीं मातरं वि । सुप्रजास्त्वमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः ॥**

हे अङ्गिरसः ये भवन्त ऋतेन सत्यभूतेन यज्ञेन दिवि द्युलोके सूर्यं सुष्ठु सर्वस्य प्रेरकमादित्यमारोहयन् अस्थापयन् किञ्च मातरं सर्वेषां निर्मात्रीं पृथिवीं व्यप्रथयन् प्रसिद्धामकुर्वन् सत्रादिकर्मकरणेन तेभ्यो युष्मभ्यं सुप्रजास्त्वं सुपुत्रत्वमस्तु । 　　　　　　ऋसा.

**[३]अयं नाभा वदति वल्गु वो गृहे देवपुत्रा ऋषयस्तत् शृणोतन । सुब्रह्मण्यमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः ॥**

हे देवपुत्रा देवानां पुत्रा अग्नेः पुत्रा ऋषयोऽतीन्द्रियार्थस्य द्रष्टारो हे अङ्गिरसः अयं नाभा नाभानेदिष्ठः पुरोवर्ती जनो वो युष्माकं गृहे गृहभूते यज्ञे वल्गु कल्याणं वचो वदति । तद्वाक्यं यूयं शृणोतन महतादरेण शृणुत । तेभ्यो युष्मभ्यं सुब्रह्मण्यं शोभनं ब्रह्मवर्चसमस्तु । इदानीं आगतं मानवं मां प्रति गृभ्णीत प्रतिगृह्णीत । 　　　　　　ऋसा.

कानीनः

**[४]प्रमदे कुमारीपुत्रम् ।**

**[५]सिलाची नाम कानीनोजवभ्रु पिता तव । अश्वो यमस्य यः श्यावस्तस्य हास्नास्युक्षिता ॥**

(१) ऋसं. १०।६२।२. (२) ऋसं. १०।६२।३.

(३) ऋसं. १०।६२।४.

(४) शुमा. ३०।६ ; तैब्रा. ३।४।१।२ मदे (मुदे).

(५) असं. ५।५।८.

स्वयंदत्तः । ज्येष्ठत्वं पुत्रत्वं दायादत्वं च पितुः संकेताधीनम् ।

**अथ ह शुनःशेपो विश्वामित्रस्याङ्कमाससाद स होवाचाजीगर्तः सौयवसिर्ऋषे पुनर्मे पुत्रं देहीति नेति होवाच विश्वामित्रो देवा वा इमं मह्यमरासतेति स ह देवरातो वैश्वामित्र आस तस्यैते कापिलेयबाभ्रवाः * ।**

अथाभिषेचनीयसमाप्तेरनन्तरं हरिश्चन्द्रसहितेषु ऋत्विक्षु विस्मितेषु स शुनःशेप इत ऊर्ध्वं कस्य पुत्रोऽस्त्विति विचारे सति तदीयेच्छैव नियामिकेति महर्षीणां वचनं श्रुत्वा शुनःशेपः स्वेच्छया विश्वामित्रपुत्रत्वमङ्गीकृत्य सहसा तदीयमङ्कमाससाद । पुत्रो हि सर्वत्र पितुरङ्के निषीदति । तदानीं सुयवसपुत्रोऽजीगर्तो विश्वामित्रं प्रत्येवमुवाच । हे महर्षे मदीयपुत्रमेनं पुनरपि मह्यं देहीति, स विश्वामित्रो नेति निराकृत्यैवमुवाच । प्रजापत्यादयो देवा एवेमं शुनःशेपं मह्यमरासत दत्तवन्तस्तस्मात्तुभ्यं न दास्यामीति । स च शुनःशेपो देवैर्दत्तत्वाद्देवरात इति नामधारी विश्वामित्रपुत्र एव आस । तस्य च देवरातस्यैते कपिलगोत्रोत्पन्ना बभ्रुगोत्रोत्पन्नाश्च बन्धवोऽभवन् । ऐब्रासा.

**येथैवाङ्गिरसः सन्नुपेयां तव पुत्रतामिति, स होवाच विश्वामित्रो ज्येष्ठो मे त्वं पुत्राणां स्यास्तव श्रेष्ठा प्रजा स्यात् । उपेया दैवं मे दायं तेन वै त्वोपमन्त्रय इति * ।**

विश्वामित्रेणैवं बोधितः शुनःशेपः पुनरपि गाथया विश्वामित्रं प्रत्येवमुवाच । अयं विश्वामित्रो जन्मना क्षत्रियः सन् स्वकीयेन तपोमहिम्ना ब्राह्मण्यं प्राप्तवानित्येवं तद्वृत्तान्तं सूचयितुं हे राजपुत्रेति संबोधितवान् । स वै तथाविधो राजजातीय एव सन् यथा येन प्रकारेण नोऽस्माभिः सर्वैरा समन्ताज्ज्ञपय ब्राह्मणत्वेन ज्ञायसे तथैवास्मद्विषयेऽपि त्वं वद । कथं वदितव्यमिति तदुच्यते । अहमिदानीमङ्गिरोगोत्रः सन् तत्परित्यागेन तव पुत्रत्वं येनैव प्रकारेणोपेयां तथैवानुगृहाणेति शेषः । ऐब्रासा.

* पूर्वमिदं वचनं अस्मिन् प्रकरणे ( पृ. १२६० ) गृहीतमपि व्याख्यानोद्धरणार्थं पुनरुद्धृतम् ।

(१) ऐब्रा. ३३।५. (२) ऐब्रा. ३३।५.

पितुः दायादिसर्वस्वहरः पुत्रः । पुत्रस्य गृहे पितुर्वासः ।

**अथातः पितापुत्रीयं संप्रदानमिति चाचक्षते पिता पुत्रं प्रेष्याह्वयति नवैस्तृणैरगारं संस्तीर्याग्निमुपसमाधाय उदकुम्भं सपात्रं उपनिधायाहतेन वाससा संप्रच्छन्नः श्येत एत्य पुत्र उपरिष्टादभिनिपद्यत इन्द्रियैरस्येन्द्रियाणि संस्पृश्यापि वास्याभिमुखत एवासीताथास्मै संप्रयच्छति वाचं मे त्वयि दधानीति पिता वाचं ते मयि दध इति पुत्रः प्राणं मे त्वयि दधानीति पिता प्राणं ते मयि दध इति पुत्रश्चक्षुर्मे त्वयि दधानीति पिता चक्षुस्ते मयि दध इति पुत्रः श्रोत्रं मे त्वयि दधानीति पिता श्रोत्रं ते मयि दध इति पुत्रो मनो मे त्वयि दधानीति पिता मनस्ते मयि दध इति पुत्रोऽन्नरसान्मे त्वयि दधानीति पिता अन्नरसाँस्ते मयि दध इति पुत्रः कर्माणि मे त्वयि दधानीति पिता कर्माणि ते मयि दध इति पुत्रः सुखदुःखे मे त्वयि दधानीति पिता सुखदुःखे ते मयि दध इति पुत्र आनन्दं रतिं प्रजातिं मे त्वयि दधानीति पिता आनन्दं रतिं प्रजातिं ते मयि दध इति पुत्र इत्यां मे त्वयि दधानीति पिता इत्यां ते मयि दध इति पुत्रो धियो विज्ञातव्यं कामान्मे त्वयि दधानीति पिता धियो विज्ञातव्यं कामांस्ते मयि दध इति पुत्रोऽथ दक्षिणावृदुपनिष्क्रामति तं पिताऽनुमन्त्रयते यशो ब्रह्मचर्यसमन्नाद्यं कीर्तिस्त्वा जुषतामित्यथेतरः सव्यमंसमन्ववेक्षते पाणिनान्तर्धाय वसनान्तेन वा प्रच्छाद्य स्वर्गाँल्लोकान् कामानवाप्नुहीति स यद्यगदः स्यात् पुत्रस्यैश्वर्ये पिता वसेत्परि वा व्रजेद्यद्युवै प्रेयाद्यदेवैनं समापयति तथा समापयितव्यो भवति ।**

विद्यापणलब्धं द्रव्यम्

**जनको ह वैदेहः । बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे तत्र ह कुरुपञ्चालानां ब्राह्मणा अभिसमेता बभूवुस्तस्य ह जनकस्य वैदेहस्य विजिज्ञासा बभूव कः स्विदेषां ब्राह्मणानामनूचानतम इति ।**

**स ह गवां सहस्रमवरुरोध । दश दश पादा**

(१) कौउ. २।१५.

(२) शब्रा. १४।६।१।१-३.

एकैकस्याः शृङ्गयोराबद्धा बभूवुस्तान् होवाच ब्राह्मणा भगवन्तो यो वो ब्रह्मिष्ठः स एता गा उद्जतामिति ते ह ब्राह्मणा न दधृषुः ।

अथ ह याज्ञवल्क्यः । स्वमेव ब्रह्मचारिणमुवाचैताः सौम्योदज सामश्रवा इति ता होदाचकार ते ह ब्राह्मणाश्चुक्रुधुः कथं नु नो ब्रह्मिष्ठो ब्रुवीतेति ।

द्विमातृकः— मातृद्वारा द्व्यामुष्यायणः

[1]भारद्वाजीपुत्रो वात्सीमाण्डवीपुत्रात् वात्सीमाण्डवीपुत्रः पाराशरीपुत्रात् गार्गीपुत्रः पाराशरीकौण्डिनीपुत्रात् पाराशरीकौण्डिनीपुत्रो गार्गीपुत्रात् । शौनकीपुत्रः काश्यपीबालाक्यामाठरीपुत्रात् काश्यपीबालाक्यामाठरीपुत्रः कौत्सीपुत्रात् ।

पुत्रप्रकाराः

[2]अथोढक्षेत्रजकृत्रिमपुत्रिकापुत्रस्त्रीद्वारजासुराध्यूढजदाक्षिणाजानां पित्रोश्च ।

ज्येष्ठपुत्रांशे पितुः अस्वाम्यम् । भूमिशूद्रौ अदेयौ ।

[3]ज्येष्ठं पुत्रमपभज्य भूमिशूद्रवर्जं योगाविशेषात्सर्वेषाम् ।

ज्येष्ठपुत्रस्य विभागं दत्त्वा भूमिशूद्रवर्जं ददाति । कुत एतत् ? सर्वमनुष्याणां हि भूम्या योगोऽविशिष्टः । धारणं चङ्क्रमद्वारेण शूद्रस्य च शुश्रूषोपनततेति ।

कर्कभाष्यम् ( पृ. ८७५ )

[4]शूद्रदानं वा दर्शनाविरोधाभ्याम् ।

वाशब्दः पक्षव्यावृत्तौ । शूद्रस्य दानं भवति । दृश्यते हि शूद्रस्य दानं पुरुषमेधे स पुरुषं प्राचीदिग्घोतुरिति । न च विरोधो गर्भदासस्य । तस्माच्छूद्रो दीयत एव । अनेन च न्यायेन भूमेरप्येकदेशदाने नैव विरोधः । क्वचिच्च दृश्यते सभूमि सपुरुषामिति ।

कर्कभाष्यम् ( पृ. ८७५ )

## गौतमः

स्त्रीधनमविभाज्यम्

[5]दायं तु न भजेरन् ।

दायं तदीयं धनं न भजेरन् न गृह्णीयुरित्यर्थः । मातुर्दायं स्त्रीधनम् । दायाभावे आत्मीयादपि द्रव्यादशनाच्छादने दातव्ये इति तुशब्दोपादानम् । निस्स्वयोः पतितावस्थायामपि अशनाच्छादनचोदनादपतितयोरप्यर्थसिद्धम् । अत्र पतिताया अपि मातुस्त्यागो नास्तीति द्रष्टव्यम् । कुतः ? स्मृत्यन्तरदर्शनात् । यथाह वसिष्ठः—'माता तु पुत्रं प्रति न पतति' इत्यादि । पतितावस्थायामपि पुत्रेण माता न त्यक्तव्येत्यभिप्रायेण तदुक्तमिति । मभा.

## हारीतः

एकेनोद्धृताऽपि भूर्विभाज्या

[1]चिरप्रनष्टां वसुधामेक एवोद्धरेच्छ्रमात् ।
भागं तुरीयकं दत्त्वा विभजेयुर्यथांशतः ॥

अविभाज्यम्

[2]योगक्षेमं प्रचारान् न विभजेरन् ।

अप्राप्तस्य प्राप्तिर्योगः । प्राप्तस्य रक्षणं क्षेमः ।

सवि. ३७०

## वसिष्ठः

पुत्रप्रशंसा

[3]पिता पितामहश्चैव तथैव प्रपितामहः ।
उपासते सुतं जातं शकुन्ता इव पिप्पलम् ॥
मधुमांसैश्च शाकैश्च पयसा पायसेन वा ।
एष नो दास्यति श्राद्धं वर्षासु च मघासु च ॥
संतानवर्धनं पुत्रमुद्यतं पितृकर्मणि ।
देवब्राह्मणसंपन्नमभिनन्दन्ति पूर्वजाः ॥
नन्दन्ति पितरस्तस्य सुवृष्टैरिव कर्षकाः ।
यद्गयास्थो ददात्यन्नं पितरस्तेन पुत्रिणः ॥

## विष्णुः

धनागमविचारः तत्प्रकाराश्च

[4]अथ गृहाश्रमिणस्त्रिविधोऽर्थो भवति । शुक्लः

(१) शबा. १४।९।४।३०–३१.
(२) दमी. ८ ( सत्याषाढसूत्रेनैतत् )
(३) काश्रौ. २२।१०. (४) काश्रौ. २२।११.
(५) गौध. २१।१६; मभा.; गौमि. २१।१६.

(१) विर. ४९९ ( पूर्वनष्टान्तु यो भूमिमेक एवोद्धरेच्छ्रमात् । यथाभागं लभन्तेऽन्ये दत्त्वांशन्तु तुरीयकम् ॥ ); स्मृसा. ६१ मेक ... ...मात् ( मेकः पूर्वोद्धरेद्यदि ); स्मृचि. ३० मेक ... ...मात् ( मेक उद्धरते यदि ).
(२) सवि. ३७०.
(३) वस्मृ. ११।३६–९ (क) नन्दन्ति (तन्वन्ति) वृष्टै (कृष्टै) (ख) एष नो (अथनो) ऋतुवर्तं (र्तं तृप्यन्तं).
(४) विस्मृ. ५८।१-१२.

शबलोऽसितश्च । शुक्लेनार्थेन यदौर्ध्वदेहिकं करोति तेनास्य देवत्वमासादयति । यच्छबलेन तन्मानुष्यम् । यत्कृष्णेन तत्तिर्यक्त्वम् । स्ववृत्त्युपार्जितं सर्वेषां शुक्लम् । अनन्तरवृत्त्युपात्तं शबलम् । एकान्तरवृत्त्युपात्तं च कृष्णम् ।

क्रमागतं प्रीतिदायः प्राप्तं च सह भार्यया ।
अविशेषेण सर्वेषां धनं शुक्लमुदाहृतम् ॥
उत्कोचशुल्कसंप्राप्तमविक्रेयस्य विक्रयैः ।
कृतोपकारादाप्तं च शबलं समुदाहृतम् ॥
पार्श्विकद्यूतचौर्यार्तप्रतिरूपकसाहसैः ।
व्याजेनोपार्जितं यच्च तत्कृष्णं समुदाहृतम् ॥
यथाविधेन द्रव्येण यत्किञ्चित्कुरुते नरः ।
तथाविधमवाप्नोति स फलं प्रेत्य चेह च ॥

पित्रा कृतः पुत्रो भागहरः, अकृतः स्वस्थानानुसारेण

कृतत्वेन प्रथमं धनपिण्डभागित्वं अकृतत्वेन च स्वस्वस्थाने ।

विभाज्याविभाज्यविवेकः

अपित्र्यं गार्भं धार्मं मैत्रं वैद्यमाकस्मिकमादशाब्दं प्रविभाज्यमत ऊर्ध्वं सर्वमविभाज्यम् ।

अत्राह भारुचिः— अपित्र्यं अविद्यमानपितृद्रव्यम् । एतत् त्रितयविशेषणम् । गार्भं स्त्रीधनम् । धार्मं इष्टापूर्तादिकम् । मैत्रं मित्रसकाशाल्लब्धम् । वैद्यं विद्यातो लब्धम् । आकस्मिकं अकस्माल्लब्धं निध्यादिकं प्रतिग्रहादिना वा लब्धम् । सवि. ४४७

## महाभारतम्

विभागनिन्दा

आसीद्विभावसुर्नाम महर्षिः कोपनो भृशम् ।
भ्राता तस्यानुजश्चासीत्सुप्रतीको महातपाः ॥
स नेच्छति धनं भ्रात्रा सहैकस्थं महामुनिः ।
विभागं कीर्तयत्येव सुप्रतीकोऽथ नित्यशः ॥
अथाब्रवीच्च तं भ्राता सुप्रतीकं विभावसुः ।
विभागं बहवो मोहात्कर्तुमिच्छन्ति नित्यदा ।
ततो विभक्ता अन्योन्यं नाद्रियन्तेऽर्थमोहिताः ॥
ततः स्वार्थपरान् मूढान् पृथग्भूतान् स्वकैर्धनैः ।
विदित्वा भेदयन्त्येतानमित्रा मित्ररूपिणः ॥
विदित्वा चापरे भिन्नानन्तरेषु पतन्त्यथ ।
भिन्नानामतुलो नाशः क्षिप्रमेव प्रवर्तते ॥
तस्माच्चैव विभागार्थं न प्रशंसन्ति पण्डिताः ।
गुरुशास्त्रे निबद्धानामन्योन्यमभिशङ्किनाम् ॥
नियन्तुं न हि शक्यस्त्वं भेदतो धनमिच्छसि ।
यस्मात्तस्मात्सुप्रतीक हस्तित्वं समवाप्स्यसि ॥
शप्तस्त्वेवं सुप्रतीको विभावसुमथाब्रवीत् ।
त्वमप्यन्तर्जलचरः कच्छपः संभविष्यसि ॥

पितृपुत्रोरविभागप्रशंसा

न च पित्रा विभज्यन्ते नरा गुरुहिते रताः ।
युञ्जते धुरि नो गाश्च कृशाः संधुक्षयन्ति च ॥

ज्येष्ठकनिष्ठवृत्तिः । भ्रातॄणां सहवासविधिः । भागानर्हः । भ्रातॄणां भागः । विभाज्याविभाज्ये । मातरि तत्समासु च वृत्तिः ।

युधिष्ठिर उवाच ।
यथा ज्येष्ठः कनिष्ठेषु वर्तेत भरतर्षभ ।
कनिष्ठाश्च यथा ज्येष्ठे वर्तेरंस्तद्ब्रवीहि मे ॥
भीष्म उवाच ।
ज्येष्ठवत्तात वर्तस्व ज्येष्ठोऽसि सततं भवान् ।
गुरोर्गरीयसी वृत्तिर्या च शिष्यस्य भारत ॥
न गुरावकृतप्रज्ञे शक्यं शिष्येण वर्तितुम् ।
गुरोर्हि दीर्घदर्शित्वं यत्तच्छिष्यस्य भारत ॥
अन्धः स्यादन्धवेलायां जडः स्यादपि वा बुधः ।
परिहारेण तद्ब्रूयाद्यस्तेषां स्याद्व्यतिक्रमः ॥
प्रत्यक्षं भिन्नहृदया भेदयेयुः कृतं नराः ।
श्रियाऽभितप्ताः कौन्तेय भेदकामास्तथारयः ॥
ज्येष्ठः कुलं वर्धयति विनाशयति वा पुनः ।
हन्ति सर्वमपि ज्येष्ठः कुलं यत्रावजायते ॥
अथ यो विनिकुर्वीत ज्येष्ठो भ्राता यवीयसः ।
अज्येष्ठः स्यादभागश्च नियम्यो राजभिश्च सः ॥
निकृती हि नरो लोकान्पापान्गच्छत्यसंशयम् ।
विदुलस्येव तत्पुष्पं मोघं जनयितुः स्मृतम् ॥

(१) दमी. ४१.
(२) सवि. ४४७.
(३) भा. ( भाण्डा. ) १।२५।१०-१७.

(१) भा. (भाण्डा.) १।५७।११.
(२) भा. १३।१०५.

सर्वानर्थः कुले यत्र जायते पापपूरुषः ।
अकीर्तिं जनयत्येव कीर्तिमन्तर्दधाति च ॥
सर्वे चापि विकर्मस्था भागं नार्हन्ति सोदराः ।
नाप्रदाय कनिष्ठेभ्यो ज्येष्ठः कुर्वीत यौतकम् ॥
अनुपघ्नन् पितुर्दायं जङ्घाश्रमफलोऽध्वगः ।
स्वयमीहितलब्धं तु नाकामो दातुमर्हति ॥
भ्रातॄणामविभक्तानामुत्थानमपि चेत्सह ।
न पुत्रभागं विषमं पिता दद्यात्कदाचन ॥
न ज्येष्ठो वाऽवमन्येत दुष्कृतः सुकृतोऽपि वा ।
यदि स्त्री यद्यवरजः श्रेयश्चेत्तत्तदाचरेत् ॥
धर्मं हि श्रेय इत्याहुरिति धर्मविदो जनाः ।
दशाचार्यानुपाध्याय उपाध्यायान्पिता दश ॥
दश चैव पितॄन्माता सर्वां वा पृथिवीमपि ।
गौरवेणाभिभवति नास्ति मातृसमो गुरुः ॥
माता गरीयसी यच्च तेनैतां मन्यते जनः ।
ज्येष्ठो भ्राता पितृसमो मृते पितरि भारत ॥
स ह्येषां वृत्तिदाता स्यात्स चैतान्प्रतिपालयेत् ।
कनिष्ठास्तं नमस्येरन् सर्वे छन्दानुवर्तिनः ॥
तमेव चोपजीवेरन् यथैव पितरं तथा ।
शरीरमेतौ सृजतः पिता माता च भारत ॥
आचार्यशास्ता या जातिः सा सत्या साऽजराऽमरा ।
ज्येष्ठा मातृसमा चापि भगिनी भरतर्षभ ॥
भ्रातुर्भार्या च तद्वत्स्याद्यस्या बाल्ये स्तनं पिबेत् ॥

ज्येष्ठमहिमा

[1]ज्येष्ठस्त्राता भवति वै ज्येष्ठो मुञ्चति कृच्छ्रतः ।
ज्येष्ठश्चेन्न प्रजानाति कनीयान् किं करिष्यति ॥

व्यङ्गो ज्येष्ठः राज्यानर्हः । गुणश्रेष्ठ एव राज्यार्हः तत्पुत्रादयश्च ।

[2]ज्येष्ठोऽयमिति राज्ये च स्थापितो विकलोऽपि सन् ।
निर्जित्य परराष्ट्राणि पाण्डुर्मह्यं न्यवेदयत् ॥
कुलधर्मस्थापनाय ज्येष्ठोऽहं ज्येष्ठभाङ्न च ।
बहूनां भ्रातॄणां मध्ये श्रेष्ठो ज्येष्ठो हि श्रेयसा ॥
कनीयानपि स ज्येष्ठः श्रेष्ठः श्रेयान्कुलस्य वै ।
तस्माज्ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च पाण्डुर्धर्मभृतां वरः ॥

(१) भा. (भाण्डा.) १।२२३।४.
(२) भा. (भाण्डा. परिशिष्टं) १।८२।११–१६ (पंक्तिः).

[1]जज्ञे क्रमेण चैतेन तेषां दुर्योधनो नृपः ।
जन्मतस्तु प्रमाणेन ज्येष्ठो राजा युधिष्ठिरः ॥
युधिष्ठिरो राजपुत्रो ज्येष्ठो नः कुलवर्धनः ।
प्राप्तः स्वगुणतो राज्यं न तस्मिन्वाच्यमस्ति नः ॥
अयं त्वनन्तरस्तस्मादपि राजा भविष्यति ।
एतद्धि ब्रूत मे सत्यं यदत्र भविता ध्रुवम् ॥
[2]प्रज्ञाचक्षुरचक्षुष्ट्वाद्धृतराष्ट्रो जनेश्वरः ।
राज्यमप्राप्तवान् पूर्वं स कथं नृपतिर्भवेत् ॥
स एष पाण्डोर्दायाद्यं यदि प्राप्नोति पाण्डवः ।
तस्य पुत्रो ध्रुवं प्राप्तस्तस्य तस्येति चापरः ॥

पुत्रमहिमा

[3]न हि धर्मफलैस्तात न तपोभिः सुसंचितैः ।
तां गतिं प्राप्नुवन्तीह पुत्रिणो यां व्रजन्ति ह ॥
[4]तपो वाप्यथवा यज्ञो यच्चान्यत्पावनं महत् ।
तत्सर्वं न समं तात संतत्येति सतां मतम् ॥
[5]भार्यां पतिः संप्रविश्य स यस्माज्जायते पुनः ।
जायाया इति जायात्वं पुराणाः कवयो विदुः ॥
यदागमवतः पुंसस्तदपत्यं प्रजायते ।
तत्तारयति संतत्या पूर्वप्रेतान्पितामहान् ॥
पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात्पितरं त्रायते सुतः ।
तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयंभुवा ॥
न वाससां न रामाणां नापां स्पर्शस्तथा सुखः ।
शिशोरालिङ्ग्यमानस्य स्पर्शः सूनोर्यथा सुखः ॥
ब्राह्मणो द्विपदां श्रेष्ठो गौर्वरिष्ठा चतुष्पदाम् ।
गुरुर्गरीयसां श्रेष्ठः पुत्रः स्पर्शवतां वरः ॥
स्पृशतु त्वां समाश्लिष्य पुत्रोऽयं प्रियदर्शनः ।
पुत्रस्पर्शात्सुखतरः स्पर्शो लोके न विद्यते ॥
त्रिषु वर्षेषु पूर्णेषु प्रजाताहमरिंदम ।
इमं कुमारं राजेन्द्र तव शोकप्रणाशनम् ॥

(१) भा. (भाण्डा.) १।१०७।२४,२६,२७.
(२) भा. (भाण्डा.) १।१२९।५,१५.
(३) भा. (भाण्डा.) १।१३।२१.
(४) भा. (भाण्डा.) १।४१।२८.
(५) भा. (भाण्डा.) १।६८।३६-३८, ५५-६५.

आहर्ता वाजिमेधस्य शतसंख्यस्य पौरव ।
इति वागन्तरिक्षे मां सूतकेऽभ्यवदत्पुरा ॥
ननु नामाङ्कमारोप्य स्नेहाद्ग्रामान्तरं गताः ।
मूर्ध्नि पुत्रानुपाघ्राय प्रतिनन्दन्ति मानवाः ॥
वेदेष्वपि वदन्तीमं मन्त्रवादं द्विजातयः ।
जातकर्मणि पुत्राणां तवापि विदितं तथा ॥
अङ्गादङ्गात्संभवसि हृदयादभिजायसे ।
आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम् ॥
पोषो हि त्वदधीनो मे संतानमपि चाक्षयम् ।
तस्मात्त्वं जीव मे वत्स सुसुखी शरदां शतम् ॥
त्वदङ्गेभ्यः प्रसूतोऽयं पुरुषात्पुरुषोऽपरः ।
सरसीवामलेऽऽत्मानं द्वितीयं पश्य मे सुतम् ॥
यथा ह्याहवनीयोऽग्निर्गार्हपत्यात्प्रणीयते ।
ततः त्वत्तः प्रसूतोऽयं त्वमेकः सन्द्विधा कृतः ॥

पुत्रमहिमा । पुत्रप्रकारः ।

कुलवंशप्रतिष्ठां हि पितरः पुत्रमब्रुवन् ।
उत्तमं सर्वधर्माणां तस्मात्पुत्रं न संत्यजेत् ॥
स्वपत्नीप्रभवान्पञ्च लब्धान्क्रीतान्विवर्धितान् ।
कृतानन्यासु चोत्पन्नान् पुत्रान्वै मनुरब्रवीत् ॥
धर्मकीर्त्यावहा नृणां मनसः प्रीतिवर्धनाः ।
त्रायन्ते नरकाज्जाताः पुत्रा धर्मप्लवाः पितॄन् ॥
स त्वं नृपतिशार्दूल न पुत्रं त्यक्तुमर्हसि ।
आत्मानं सत्यधर्मौ च पालयानो महीपते ।
नरेन्द्रसिंह कपटं न वोढुं त्वमिहार्हसि ॥
वरं कूपशताद्वापी वरं वापीशतात्क्रतुः ।
वरं क्रतुशतात्पुत्रः सत्यं पुत्रशताद्वरम् ॥
एतावदुक्त्वा वचनं प्रातिष्ठत शकुन्तला ।
अथान्तरिक्षे दुःषन्तं वागुवाचाशरीरिणी ।
ऋत्विक्पुरोहिताचार्यैर्मन्त्रिभिश्चावृतं तदा ॥
भस्त्रा माता पितुः पुत्रो येन जातः स एव सः
भरस्व पुत्रं दुःषन्त मावमंस्थाः शकुन्तलाम् ॥
रेतोधाः पुत्र उन्नयति नरदेव यमक्षयात् ।
त्वं चास्य धाता गर्भस्य सत्यमाह शकुन्तला ॥
जाया जनयते पुत्रमात्मनोऽङ्गं द्विधा कृतम् ।
तस्माद्भरस्व दुःषन्त पुत्रं शाकुन्तलं नृप ॥

अभूतिरेषा कस्त्यज्याज्जीवञ्जीवन्तमात्मजम् ।
शाकुन्तलं महात्मानं दौःषन्तिं भर पौरव ॥
भर्तव्योऽयं त्वया यस्मादस्माकं वचनादपि ।
तस्माद्भवत्वयं नाम्ना भरतो नाम ते सुतः ॥
भृशं दुःखपरीताङ्गी कन्या तावभ्यभाषत ॥
धर्मतोऽहं परित्याज्या युवयोर्नात्र संशयः ।
त्यक्तव्यां मां परित्यज्य त्रातं सर्वं मयैकया ॥
इत्यर्थमिष्यतेऽपत्यं तारयिष्यति मामिति ।
तस्मिन्नुपस्थिते काले तरतं प्लववन्मया ॥
इह वा तारयेद्दुर्गादुत वा प्रेत्य तारयेत् ।
सर्वथा तारयेत्पुत्रः पुत्र इत्युच्यते बुधैः ॥
आकाङ्क्षन्ते च दौहित्रानपि नित्यं पितामहाः ।
तान्स्वयं वै परित्रास्ये रक्षन्ती जीवितं पितुः ॥
आत्मा पुत्रः सखा भार्या कृच्छ्रं तु दुहिता किल ।
स कृच्छ्रान्मोचयात्मानं मां च धर्मेण योजय ॥
वाक्यं चोवाच । स्वचापल्यादिदं प्राप्तवानहम् ।
शृणोमि च नानपत्यस्य लोकाः सन्तीति ॥

पुत्रिका

ताः सर्वास्त्वनवद्याङ्ग्यः कन्याः कमललोचनाः ।
पुत्रिकाः स्थापयामास नष्टपुत्रः प्रजापतिः ॥
ददौ स दश धर्माय सप्तविंशतिमिन्दवे ।
दिव्येन विधिना राजन्कश्यपाय त्रयोदश ॥
ततः पञ्चाशतं कन्याः पुत्रिका अभिसंदधे ।
प्रजापतिः प्रजा दक्षः सिसृक्षुर्जनमेजय ॥
ददौ स दश धर्माय कश्यपाय त्रयोदश ।
कालस्य नयने युक्ताः सप्तविंशतिमिन्दवे ॥
पुत्रो ममेयमिति मे भावना पुरुषोत्तम ।
पुत्रिका हेतुविधिना संज्ञिता भरतर्षभ ॥
एतच्छुल्कं भवत्वस्याः कुलकृज्जायतामिह ।
एतेन समयेनेमां प्रतिगृह्णीष्व पाण्डव ॥

(१) भा. (भाण्डा.) १।६९।१७–२१,२८–३३.

(१) भा. (भाण्डा.) १।१४७।१,३-६,११.

(२) भा. (भाण्डा.) १।९०।६७.

(३) भा. (भाण्डा.) १।६०।११,१२.

(४) भा. (भाण्डा.) १।७०।७,८.

(५) भा. (भाण्डा.) १।२०७।२१–३.

स तथेति प्रतिज्ञाय कन्यां तां प्रतिगृह्य च ।
उवास नगरे तस्मिन्कौन्तेयास्त्रिहिमाः समाः ॥

दौहित्रमहिमा

[१]एवं राजा स महात्मा ह्यतीव
स्वैर्दौहित्रैस्तारितोऽमित्रसाहः ।
त्यक्त्वा महीं परमोदारकर्मा
स्वर्गं गतः कर्मभिर्व्याप्य पृथ्वीम् ॥

नियोगेन त्रिभ्योऽधिका नोत्पाद्याः

[२]नातश्चतुर्थं प्रसवमापत्स्वपि वदन्त्युत ।
अतः परं चारिणी स्यात्पञ्चमे बन्धकी भवेत् ॥
स त्वं विद्वन्धर्ममिमं बुद्धिगम्यं कथं नु माम् ।
अपत्यार्थं समुत्क्रम्य प्रमादादिव भाषसे ॥

पुत्र–पुत्री–परिग्रहः

[३]तयोः पुमांसं जग्राह राजोपरिचरस्तदा ।
स मत्स्यो नाम राजासीद्धार्मिकः सत्यसंगरः ॥
या कन्या दुहिता तस्या मत्स्या मत्स्यसगन्धिनी
राज्ञा दत्ताऽथ दाशाय इयं तव भवत्विति ॥

पुत्रेषु मातृपितृस्वाम्यं समम्

[४]मातापित्रोः प्रजायन्ते पुत्राः साधारणाः कवे ।
तेषां पिता यथा स्वामी तथा माता न संशयः॥

दत्तककन्या

वैशंपायन उवाच ।
[५]शूरो नाम यदुश्रेष्ठो वसुदेवपिताऽभवत् ।
तस्य कन्या पृथा नाम रूपेणासदृशी भुवि ॥
पैतृष्वसेयाय स तामनपत्याय वीर्यवान् ।
अग्र्यमग्रे प्रतिज्ञाय स्वस्यापत्यस्य वीर्यवान् ॥

राज्याधिकारः

[६]सेयं त्वामनुसंप्राप्ता विक्रमेण वसुन्धरा ।
निर्जिताश्च महीपाला विक्रमेण त्वयाऽनघ ॥
तेषां पुराणि राष्ट्राणि गत्वा राजन्सुहृद्वृतः ।
भ्रातॄन्पुत्रांश्च पौत्रांश्च स्वे स्वे राज्येऽभिषेचय ॥
बालानपि च गर्भस्थान् सान्त्वेन समुदाचरन् ।
रञ्जयन् प्रकृतीः सर्वाः परिपाहि वसुन्धराम् ॥

## कौटिलीयमर्थशास्त्रम्

वानप्रस्थाद्याश्रमिरिक्थविभागः

[१]आश्रमिणः पाषण्डा वा महत्यवकाशे परस्परमबाधमाना वसेयुः । अल्पां बाधां सहेरन् । पूर्वागतो वा वासपर्यायं दद्यात् । अप्रदाता निरस्येत ।

वानप्रस्थयतिब्रह्मचारिणामाचार्यशिष्यधर्मभ्रातृसमानतीर्थ्या रिक्थभाजः क्रमेण ।

आश्रमिण इत्यादि । सुबोधम् । अल्पां बाधां सहेरन्निति । अमहति अवकाशे परस्परबाधमल्पं जायमानं क्षमेरन् । पूर्वागतो वा, वासपर्यायं वासवारं, दद्यात् नवागताय । अप्रदाता पूर्वागतः, निरस्येत बहिष्क्रियेत ।

वानप्रस्थयतिब्रह्मचारिणामित्यादि । तत्र धर्मभ्राता सखा, समानतीर्थ्यः समानगुरुकुलवासी । क्रमेण आचार्याभावे शिष्यः शिष्याभावे धर्मभ्रातेत्यादिक्रमेण । शेषं प्रतीतम् ।

श्रीमू.

## मनुः

धनागमाः

[२]श्रुतशौर्यतपःकन्यायाज्यशिष्यान्वयागतम् ।
धनं सप्तविधं शुद्धं उभयोऽप्यस्य तद्विधः * ॥

तत्र श्रुततपसी प्रतिग्रहनिमित्तं, एकोऽपि प्रतिग्रहो निमित्तभेदाद्भेदेनोक्तः । प्रतिग्राह्यगुणा अपि सामर्थ्यात्तत्र द्रष्टव्याः, यदि नात्यन्तदुष्टो दाता भवति तस्मादागतं शुद्धं भवति । याज्यशिष्यशब्दाभ्यां याजनाध्यापने गृह्येते । अन्वयागतं पितृपैतामहादि । कन्यादानकाले श्वशुरगृहाल्लब्धम् । शौर्येण क्षत्रियस्य । कन्यान्वयौ सर्वसाधारणौ ।

मेधा.

[३]कुसीदकृषिवाणिज्यशिल्पसेवानुवृत्तितः ।
कृतोपकारादाप्तं च शबलं समुदाहृतम् ॥

सेवा प्रेष्यकरत्वं, यथेच्छविनियोज्यता अनुवृत्तिः प्रियतानुकूला । तत्र कुसीदकृषिवाणिज्यान्यवैश्यस्य । वैश्यस्य प्रशस्तान्येव । सेवा द्विजातिशुश्रूषा शूद्रस्य

(१) भा. (भाण्डा.) १।८८।२६.
(२) भा. (भाण्डा.) १।११४।६५,६६.
(३) भा. (भाण्डा.) १।५७।५१,५४.
(४) भा. (भाण्डा.) १।९९।२८.
(५) भा. (भाण्डा.) १।१०४।१,२.
(६) भा. १२।३३।४२-४.

* मेधातिथिभाष्ये एतत् श्लोकत्रयं समुपलभ्यते ।
(१) कौ. ३।१६. (२) मस्मृ. ४।२२७.
(३) मस्मृ. ४।२२८.

प्रशस्तैव। अन्या तु तस्य निन्दिता। शबलग्रहणेनाचिरस्थायिता फलस्योच्यते। न[1] यावज्जीवं तत्फलं भवति। मेधा.

[1]पार्श्विकद्यूतचौर्यार्तिप्रातिरूपकसाहसैः।
व्याजेनोपार्जितं यच्च तत्कृष्णं समुदाहृतम्॥

पार्श्विकः पार्श्वस्थः उत्कोचादिना धनमर्जयति। ज्ञात्वा धनागमं कस्यचिदहं ते दापयामि मह्यं त्वया किञ्चिद्दातव्यमिति यो गृह्णाति स पार्श्विकः। न कर्ता कारयिता, तटस्थो न त्वज्ञतया गृह्णाति। यथा च गृहीत्वाऽधमर्णाय प्रतिभूत्वेनावतिष्ठते। प्रतिरूपको दाम्भिकः। कुसुम्भाद्युपहितकुङ्कुमादिविक्रयो व्याजः। आर्तिः परपीडा। प्रच्छन्नहरणं चौर्यम्। प्रसभं साहसम्। ननु चौर्यसाहसाभ्यां स्वाम्यमेव नास्ति तन्निमित्तेष्वपठितत्वात्। 'स्वामी रिक्थक्रयसंविभागपरिग्रहाधिगमेष्वि'ति। तथा 'विद्याशिल्पं भृतिमेवे'त्यादि। तथा 'सप्त वित्तागमा धर्म्याः' इति च। अथास्मादेव वचनात्स्वाम्यकारणत्वमनयोरिति। कथं तर्हि बलाद्भुक्तं न जीर्यतीति।

केचित्तावदाहुः। नैवायं पाठोऽस्ति 'द्यूतचौर्यार्ती'ति। अपि तु वैर्यार्तीति, वैरिणः सकाशाद्यत् गृह्यते संधानकाले, यद्येतावद्ददासि तदा त्वया संधिं करोमि, शक्तिविहीनतया ददाति। साहसमपि न प्रसह्य हरणं, किं तर्हि, यत्प्राणसंदेहेनार्ज्यते पोतया[2]त्रतया, रहसि राजप्रतिषिद्धप्रतिक्रयेण च। अन्ये तु मन्यन्ते। नैव बलादपहरणेन स्वाम्यं भोगेन वा जरणं विरुध्यते, यत्र[3] बलं प्रथममपहारकाले, असत्यपि[4] बले उपेक्षया भोगस्तत्र स्वाम्यम्। यत्र त्वारम्भात्प्रभृति सार्वकालिको बलोपभोगस्तत्र जीर्यतीति कथ्यते। तस्मादुभयमविरुद्धम्। इदं युक्तं, यच्चौर्यसाहसाभ्यां स्वत्वानुत्पत्त्या[5] पाठविभागः कृतः, अन्यैश्च स्मृतिकारैः[6] स्वत्वहेतुष्वपरिगणनात्। मेधा.

ज्येष्ठमहिमा

[2]ज्येष्ठेन जातमात्रेण पुत्री भवति मानवः।
पितॄणामनृणश्चैव स तस्मात्सर्वमर्हति॥
यस्मिन्नृणं संनयति येन चानन्त्यमश्नुते।
स एव धर्मजः पुत्रः कामजानितरान् विदुः*॥

मेधातिथिना तु "उत्पन्नमात्रेण ज्येष्ठेन संस्काररहितेनापि मनुष्यः पुत्रवान् भवति। ततश्च नापुत्रस्य लोकोऽस्तीत्यलोकता परिहृता। तथा 'प्रजया पितृभ्यः' इति श्रुतेः 'पुत्रेण जातमात्रेण पितॄणामनृणश्च' इत्युक्तम्। यस्मिन्नृणमिति तु साधारणम्। अत एव तत्र यस्मिन् जाते ऋणं शोधयति येन जातेनामृतत्वं च प्राप्नोति। तथा च श्रुतिः 'ऋणमस्मिन्नि'ति। स एव पितुर्धर्मेण हेतुना जातः पुत्रो भवति। तेनैकेनैव ऋणापनयनाद्युपकारस्य कृतत्वात्। इतरांस्तु ऐच्छिकान्मुनयो जानन्ति" इति तेनोक्तम्। मेधा. ( बाल. २।१३५ ) [ पृ. २४१ ]

अविभाज्यद्रव्यविशेषाः, स्त्रियोऽविभाज्याः

तण्डुलानि च वस्त्राणि अलङ्कारश्च वाहनम्।
उदकं च स्त्रियश्चापि न विभाज्याः समा अपि॥

## बृहस्पतिः

पुत्रमहिमा

[1]वृषोत्सर्गं गयाश्राद्धमिष्टापूर्तं तथैव च।
पालयिष्यति वार्धक्ये श्राद्धं दास्यति चान्वहम्॥
[2]यथा जलं कुप्लवेन तरन् मज्जति मानवः।
तथा पिता कुपुत्रेण तमस्यन्धे निमज्जति॥

गुणाधिक्ये भागाधिक्यम्

[3]वयोविद्यातपोभिश्च त्र्यंशं हि लभते धनम्॥

## कात्यायनः

विषमविभागहेतुः कर्मानुष्ठानतारतम्यम्

[4]यथा यथा विभागाप्तं धनं यागार्थतामियात्।
तथा तथा विधातव्यं विद्वद्भिर्भागगौरवम्॥

---

(१) मस्मृ. ४।२२९.
(२) मस्मृ. ९।१०६,१०७.

१ (न०). २ यात्रत. ३ यतो ब. ४ त्वस. ५ त्पत्तिपा. ६ गकर्तां अ.

* इदं श्लोकद्वयं पूर्वं दायभागे (पृ. ११९६) समुध्दृतमपि बालम्भट्टयां समुपलब्धमेधातिथिभाष्यस्य समुद्धरणार्थं पुनः समुध्दृतम्।

(१) सवि. ३७२ ( मनुस्मृतौ नोपलभ्यते ).
(२) विर. ५८६.
(३) विर. ५८६; दात. १७२; विच. ८०.
(४) नृप्र. २१८.
(५) स्मृच. २६५ गाप्तं (गाद्य) यागा ( याथा ); पमा. ४९०; नृप्र. ३५; दानि. २ गाप्तं ( गस्थं ); समु. १२८.

तत्रापि कर्मानुष्ठातृत्वतारतम्येन लभ्यधनपरिमाणतारतम्यं भवति न पुनर्विद्यातारतम्येनेति। अत आह कात्यायनः— यथा यथेति। द्रव्यबाहुल्ये सतीति शेषः।

स्मृच. २६५

## वृद्धहारीतः

स्त्रीधनविभागः। अनेकपितृकाणां द्वैमातृकाणां च भागविधिः।

[1]यत्पैतृकं धनं पुत्रा विभजेयुः सुनिर्णयम्।
मातृकं चेद्दुहितरस्तदभावे तु तत्सुतः॥
अविभक्तपितृकाणां पितृतो भागकल्पना॥
द्वैमातृणां मातृतश्च कल्पयेद्वा समोऽपि वा (?)॥

## लघुहारीतः

अविभाज्यम्। पितृप्रसादलब्धमपि स्थावरं न भोक्तव्यम्। सर्वानुमत्या एव स्थावरद्विपदानां व्यवहारः।

[2]अविभाज्यं सगोत्राणामासहस्राद्धनादपि।
यज्ञं क्षेत्रं च पत्रं च कृतान्नमुदकं स्त्रियः॥
पितृप्रसादात् भुज्यन्ते धनानि विविधानि च।
स्थावरं न तु भुज्येत प्रसादे सति पैतृके॥
स्थावरं द्विपदं चैव यद्यपि स्वयमर्जितम्।
असंभूय सुतान् सर्वान्न दानं न च विक्रयः॥

## अग्निपुराणम्

गुणज्येष्ठ एव ज्येष्ठांशभाक्

[3]निवर्तयेरंस्तस्मात्तु ज्येष्ठांशं भाषणादिके।
ज्येष्ठांशं प्राप्नुयाच्चास्य यवीयान् गुणतोऽधिकः॥

पतितस्त्रीणां वृत्तिः

एवमेव विधिं कुर्युर्योषित्सु पतितास्वपि।
वस्त्रान्नपानं देयं तु वसेयुश्च गृहान्तिके॥

(१) वृहास्मृ. ७।२२५, २६०, २६१.

(२) लहास्मृ. ११४, ११६, ११७.

(३) अपु. १७०।५-८.

## शुक्रनीतिः

स्थावरे न पितुः पितामहस्य वा प्रभुत्वम्

[1]मणिमुक्ताप्रवालानां सर्वस्यैव पिता प्रभुः।
स्थावरस्य तु सर्वस्य न पिता न पितामहः॥

स्वत्वार्थागमयोर्विचारः

[2]वर्तते यस्य यद्धस्ते तस्य स्वामी स एव न।
अन्यस्वमन्यहस्तेषु चौर्याद्यैः किं न दृश्यते॥
तस्माच्छास्त्रत एव स्यात्स्वाम्यं नानुभवादपि।
अस्यापहृतमेतेन न युक्तं वक्तुमन्यथा।
विदितोऽर्थागमः शास्त्रे यथावर्णं पृथक् पृथक्॥
शास्ति तच्छास्त्रधर्मं यत् म्लेच्छानामपि तत्सदा।
पूर्वाचार्यैस्तु कथितं लोकानां स्थितिहेतवे॥

पितृकृतो विभागः। अपुत्रमृतरिक्थहराः क्रमेण। अविभाज्यम्।

[3]समानभागिनः कार्याः पुत्राः स्वस्य च वै स्त्रियः।
स्वभागार्धहरा कन्या दौहित्रस्तु तदर्धभाक्॥
मृतेऽधिपेऽपि पुत्राद्या उक्तभागहराः स्मृताः।
मात्रे दद्याच्चतुर्थांशं भगिन्यै मातुरर्धकम्॥
तदर्धं भागिनेयाय शेषं सर्वं हरेत्सुतः।
पुत्रो नप्ता धनं पत्नी हरेत्पुत्री च तत्सुतः॥
माता पिता च भ्राता च पूर्वालाभाच्च तत्सुतः॥
पित्रादिधनसंबन्धहीन यद्यदुपार्जितम्।
येन स काममश्नीयादविभाज्यं धनं हि तत्॥

(१) शुनी. ४।८०३-४.

(२) शुनी. ४।८०५-८. [ एतत्सदृशाः श्लोकाः अस्मिन् प्रकरणे संग्रहकारे निर्दिष्टाः ( पृ. ११४२ )].

(३) शुनी. ४।८०९-१२, ८१४-१५.

## स्मृत्यन्तरम्

शूद्रस्य विप्रवद्वेषधारणे दण्डः

शूद्रस्य विप्रवेषधारिणस्तप्तशलाकया यज्ञोपवीतवद्वपुष्यालिखेत् ।

(१) मिता. २।३०४; अप. २।३०३ यज्ञो... ...लिखेत्

गर्भघातिनी तद्भन्तारश्च दण्ड्याः

या पातयित्वा स्वं गर्भं ब्रूयादहमगर्भिणी ।
तामप्सु प्रक्षिपेद्राजा जारैश्च नरमारिणीम् ॥

( यज्ञोपवीनं दद्याद्वपुष्यपि लिखेत् ); विता. ८२९ लिखेत्+ ( वृत्त्यर्थं तल्लिङ्गधारणे वध एव । ).

(१) विश्व. २।२८२.

# दण्डपारुष्यम्

## वेदाः

यानिनिमित्तकाहिंसा

वृशो वैजानस्त्र्यरुणस्य त्रैधातवस्यैक्ष्वाकस्य पुरोहित आसीत्स ऐक्ष्वाकोऽधावयत् ब्राह्मणकुमारं रथेन व्यच्छिनत्स पुरोहितमब्रवीत्तव मा पुरोधायामिदमीदृगुपागादिति तमेतेन साम्ना समैरयत्तद्वाव स तर्ह्यकामयत कामसनि साम वार्शं काममेवैतेनावरुन्धे ।

विजानस्य पुत्रो वृशो नाम कश्चिदृषिः स ऐक्ष्वाकस्य इक्ष्वाकुकुलजस्य त्रैधातवस्य त्रिधातुः पुत्रस्य त्र्यरुणस्य एतन्नाम्नो राज्ञः पुरोहितः पुरोधा, आसीत् स च ऐक्ष्वाको राजा रथवाहनाश्वानधावयत् शीघ्रं गमयत्, पथो मध्ये व्यवस्थितं कश्चिद्ब्राह्मणकुमारं ब्राह्मणपुत्रं रथेन रथावयवेन चक्रेण व्यच्छिनत् विच्छिन्नावयवमकरोत्, स कुमारः पुरोहितं वृशमब्रवीत् तव पुरोधायां पौरोहित्ये वर्तमाने मां इदानीं ईदृक् एवंरूपं हिंसनं उपागात् प्राप्नोदिति एवमुक्तवन्तं एतेन वार्शेन साम्ना समैरयत् सङ्गतावयवमकरोत् तद्वाव तत् खलु तर्हि तस्मिन् काले स ऋषिरकामयत यस्मादेवं तस्माद्वार्शं साम कामसनि कामप्रदं अतोऽनेन स्तुवन् एतेन साम्ना अभिलषितं सर्वमेव काममेति कामयितव्यं फलं अवरुन्धे लभते । ताब्रा.

(१) ताब्रा. १३।३।१२.

॥ समाप्तं व्यवहारकाण्डम् ॥

# श्लोकार्धानुक्रमणिकायां निर्दिष्टाः संक्षेपाः

| संक्षेप | पूर्ण |
|---|---|
| अङ्गि. | अङ्गिराः |
| अत्रिः | अत्रिः |
| अनि. | अनिर्दिष्टकर्तृकवचनानि |
| अपु. | अग्निपुराणम् |
| आदि. | आदिपुराणम् |
| आप. | आपस्तम्बः |
| आश्व. | आश्वलायनः |
| उत. | उतथ्यः |
| उश. | उशना |
| ऋष्य. | ऋष्यशृङ्गः |
| कण्वः | कण्वः |
| कात्या. | कात्यायनः |
| कार्ष्णा. | कार्ष्णाजिनिः |
| कालि. | कालिकापुराणम् |
| कालौ. | कातीयलौगाक्षिसूत्रम् |
| कौ. | कौटिलीयमर्थशास्त्रम् |
| गरु. | गरुडपुराणम् |
| गार्ग्यः | गार्ग्यः |
| गुप्तः | विष्णुगुप्तः |
| गोभि. | गोभिलः |
| गौत. | गौतमः |
| जातू. | जातूकर्णिः |
| जाबा. | जाबालिः |
| जैमि. | जैमिनीयसूत्रम् |
| दक्षः | दक्षः |
| देव. | देवलः |
| देवी. | देवीपुराणम् |
| नार. | नारदः |
| नि. | निरुक्तम् |
| निघ. | निघण्टुकारः |
| पञ्चा. | पञ्चाध्यायी |
| पद्म. | पद्मपुराणम् |
| परा. | पराशरः |
| परि. | परिशिष्टकारः |
| पार. | पारस्करः |
| पिता. | पितामहः |
| पैठी. | पैठीनसिः |
| प्रचे. | प्रचेताः |
| प्रजा. | प्रजापतिः |
| प्रव. | प्रवराध्यायः |
| बृप. | बृहत्पराशरः |
| बृम. | बृहन्मनुः |
| बृय. | बृहद्यमः |
| बृह. | बृहस्पतिः |
| बौका. | बौधायनकारिका |
| बौधा. | बौधायनः |
| बौशे. | बौधायनगृह्यशेषसूत्रम् |
| ब्रह्म. | ब्रह्मपुराणम् |
| भवि. | भविष्यपुराणम् |
| भा. | महाभारतम् |
| भार. | भारद्वाजः |
| भाष्य. | भाष्यकारः |
| मत्स्य. | मत्स्यपुराणम् |
| मनुः | मनुः |
| मरी. | मरीचिः |
| मार्क. | मार्कण्डेयपुराणम् |
| मासो. | मानसोल्लासः |
| यमः | यमः |
| याज्ञ. | याज्ञवल्क्यः |
| लहा. | लघुहारीतः |
| लिङ्ग. | लिङ्गपुराणम् |
| लौगा. | लौगाक्षिः, लोकाक्षिः |
| वसि. | वसिष्ठः |
| वारा. | वाल्मीकिरामायणम् |
| विध. | विष्णुधर्मः |
| विपु. | विष्णुपुराणम् |
| विरा. | विराट् |
| विष्णुः | विष्णुः |
| वृका. | वृद्धकात्यायनः |
| वृगौ. | वृद्धगौतमः |
| वृप्र. | वृद्धप्रपितामहः |
| वृम. | वृद्धमनुः |
| वृया. | वृद्धयाज्ञवल्क्यः |
| वृव. | वृद्धवसिष्ठः |
| वृशा. | वृद्धशातातपः |
| वृहा. | वृद्धहारीतः |
| वेदाः | वेदाः |
| व्याघ्रः | व्याघ्रः |
| व्यापा. | व्याघ्रपात् |
| व्यासः | व्यासः |
| शंखः | शंखः शंखलिखितौ च |
| शाक. | शाकलः |
| शाता. | शातातपः |
| शुनी. | शुक्रनीतिः |
| शौन. | शौनकः |
| षट्त्रिं. | षट्त्रिंशन्मतम् |
| संग्र. | संग्रहकारः |
| संव. | संवर्तः |
| सुम. | सुमन्तुः |
| सूतः | सूतः |
| स्कन्द. | स्कन्दपुराणम् |
| स्मृत्य. | स्मृत्यन्तरम् |
| हरि. | हरिवंशः |
| हारी. | हारीतः |

* एतच्चिह्नाङ्कितानि वचनानि पाठभेदरूपाणि स्थलादिनिर्देशे द्रष्टव्यानि ।

+ वचनस्योपरि २, ३ इत्याद्यङ्कः तत्पत्रगततद्वचनसंख्याबोधकः ।

× एतच्चिह्नाङ्कितानि निरुक्तवचनानि व्याख्याग्रन्थे समुद्धृतान्यपि श्लोकार्धानुक्रमणिकायां तेषां संग्रहस्यावश्यकत्वात् संगृहीतानि ।

# विवादपदेषु निर्दिष्टश्लोकार्धानुक्रमणिका

# Index of the important *Sanskrit* Words.

अक्रमोढा a woman married not according to the order given in *shāstra* ( e.g. when a *Brāhamana* first marries a *ksatriyā* and then a *Brāhamanī* both these women become *Akramodhās*; since the order laid down by the *shāstra* is violated ) १३५०, १४०३.

अक्रमोढासुत son of an अक्रमोढा १३५०, १४०३.

अक्रिया negligance of duty; improper act ११०६, १५५७.

अक्रीत unbought; not purchased ८२१, १९२८.

अक्ष a die for gambling; axle ६०१, ०२, ०५, ९७९, ९५, १०००, ३१, १२५५, १६१७, १८०७, ९४, ९५, ९६, ९७, ९९, १९०१, ०२, ०३, ०४, ०५, १०, ११, १५, ६८.

अक्षत uninjured; uncrushed १६०९.

अक्षतयोनि ( a maiden ) not deflowered or defiled ७०३, १०१९, २१, ११०३, १७, १३०९, ८४.

अक्षता a virgin; ( a woman ) not enjoyed or defiled १०८८, १२७९, १३३१.

अक्षदेविन् a gambler १९११, १५.

अक्षद्रुग्ध hated by (or unlucky at) dice; injuring with dice ( a sharper ) १६००.

अक्षमाला N. of *Arundhati* (wife of *Vasistha*); a string of beads १०५१, १९१३.

अक्षय exempt from decay; undecaying ८०६, १०३०, १६२२, १९८५.

अक्षया(य्या)(वृद्धिः) unlimited interest ६०९, १०२६.

अक्षरपङ्क्ति containing five syllables १५९६.

अक्षराज a king of dice; the die called *Kali* १८९७, ९८.

अक्षवृत्त anything that happens in gambling ६०१, ०२, ०३, ०५, १९०२.

अक्षशाला office of a superintendent १६८९.

अक्षावपन a dice-board १८९७.

अक्षावाप the keeper or superintendent of gambling table १८९७.

अक्षि the eye १६००, १७७२, १८३२, १९५०.

अक्षेत्र a bad field १२६४.

अक्षेत्रिन् having no fields १०७३, ७४.

अङ्गया कृत wrongly done १२६२.

अखर्व unbaked pot ९९२, १५९९, १९७७.

अखलति not bald-headed ९९५, १५९९.

अगम्य not to be approached ( sexually etc.) १०२०, ३२, ३७, १११८, १८४४.

अगर्भिणी not pregnant १६१९, ३८, १९८९.

अगस्त्य N. of a sage ९६८, ११२०.

अगार a house; home ९३२, १३८४, १६२९, ८५, ८९, ९५, १७१३, २६, ५४, १९२९, ३६, ८१.

अगुप्त unprotected १८४२, ५०, ५९, ६०, ६२, ६४.

अग्नि fire; the god of fire ६००, ०१, ०२, ०४, ०६, ७१५, ३५, ४१, ४८, ८१, ८८, ९०, ८११, ५७, ५९, ७८, ९७१, ८५, ८९, ९१, ९४, ९५, ९७, ९८, १००१, ०२, ०४, ०५, ०६, ११, ३३, ७६, ७७, ९१, ११०९, १०, ११, १६, १८, ९९, ४३, ४४, ५८, ५९, ६२, ८१, १२५३, ५८, ६१, ६२, ७१, १३४८, ५६, ७४, १४२३, ५२, ६४, १५९३, ९६, १६००, १२, १५, १९, २६, ४७, ४८, ५०, ५७, ६४, ७२, ८९, १७२०, २३, ३४, ४२, ४६, ६२, ६६, १८२९, ३८, ४१, ४५, ९३, ९५, ९७, १९००, ०१, २४, ३०, ३१, ३६, ४०, ६४, ६५, ६६, ६७, ७१, ७४, ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८५.

अग्निकार्य duty pertaining to sacred fire; care of the sacred household fire ११०६, १९२३.

अग्निचित् one who has arranged the sacrificial fire ९९५.

अग्निद a fire-giver; incendiary १६०८, ०९, १९, २६, ३८, ५३, ५४, ५५, ७१, १९२९.

अग्निदान performing the last funeral ceremony; supplying fire १५२३, १६१९.

अग्निदायक see अग्निद १६५२.

अग्निदिव्य fire-ordeal १९६६.

अग्निप्रपतन falling in the fire; self-immolation of a widow on her husband's funeral pile १११६.

अग्निप्रवेश entering into the fire; see अग्निप्रपतन १११६.

sister-brother relation ९७७, १८३६.
अजिन hairy skin of an antelope १२६०, १६७१, १७५९, १९७३.
अजीगर्त N. of a *Rishi* १२६०, ७८, १९८१.
अजूर्य not subject to oldage or decay ९२४.
अज्ञातपितृक one whose father is unknown १३४७.
अज्ञातयोनि of unknown origin or birth ८३९.
अज्ञान unconsciousness; ignorance ७५४, ५६, ५७, ५९, ६९, ९३९, ५८, ६०, १६३०, १७१४, १८०६, १९३५, ७२, ७६.
अज्येष्ठ not eldest; not most excellent ११९८, १२३५, ३६, १३९७, १९८३.
अज्येष्ठिनेय the son who is born of a later married wife १२३३.
अञ्चल the border of a garment १८८१.
अञ्जन paint (esp. as a cosmetic) ९९२, १०००, २६, २८, १११७, १२४४, १५९९, १६१८, १७९८, १९७०.
अटन roaming or wandering १०४८, ११०६.
अटवी a forest ८६३, ९४८, १६१९, १८५०.
अण्ड an egg १८४०.
अण्विका a particular measure १९६७, ६८.
अतिक्रम transgression; violation ८४४, ७९, ८८, ९२६, २७, २९, ३०, ४२, १०२०, ३५, ११८५, १४३१, १६१३, ३४, ५०, ५७, ७६,८७, १७७१, १८२४, २७, ३२, ८२, ८३.
अतिक्रमण transgression ८१७, १८८८.
अतिक्रमणी a female transgressor; an unfaithful wife १६०९.
अतिक्रमिन् see अतिक्रामिन् १६०६, १२, ६४.
अतिक्रामिन् a transgressor १६०९, १८४७.
अतिचार transgression; violation of any fixed rule or law १०३६, ३७, १३९२, १४३१, १६२०.
अतिचारिणी transgressing ९२०.
अतिथि a guest ८१४, १०२३, २४, २९, ११८१, १२८५, १५१३, २६, ९४, १६५६, १९३६.
अतिदान an excellent gift ७९२.
अतिप्रलापिन् one who bewails too much १६८५.
अतिप्रसवा a woman whose time for procreation has exceeded १११२.
अतिलब्ध cruelly treated १६१५.
अतिवाद excessive praise १६७६.
अतिवृद्ध very old ७८७, ८०४, ७३.
अतिव्यवहार taking in too great a quantity १६६६.
अतिष्कद्वरी jumping over; transgressing ८४२.
अतिसंधान treachery; betrayal ८६३.
अतिसर्ग dismissal; giving away ७५७, ९२, १२५५, १३८५, १६८३, १९७५.
अतिसांवत्सरी (वृद्धि:) (interest) to be paid longer than a year ६०६, १५.
अतीतव्यवहार one incapable of transacting legal business १३८७.
अतीतशैशव one who has passed his minority १९५१, ६२.
अतीत्वरी a female transgressor; bad woman ८४२.
अतुर not-liberal १८९९.
अतुल (ल्य) unequal (by caste etc.) ७७०, १८४८, १९८३.
अत्यन्तवासिन् a student who perpetually resides with his teacher ६७२.
अत्यय punishment; fine; perishing; passing away ७८४, ८७, ८६१, ६३, १०३१, ३५, ४०, १५६१, १६६८, १७०६, १४, १९२७, ६४, ६५.
अत्रि N. of a sage १२५८.
अथर्ववेदविद् a person acquainted with the rituals of the *Atharvaveda* १९२५.
अथर्वहन्तृ one who kills by spells or magic १६१२.
अदण्ड exempt from punishment ९०५, १७६२.
अदण्डन absence of punishment १८१४.
अदण्ड्य exempt from punishment; not to be punished ७५९, ९०५, ०६, ०७, १९, २०, १०३८, १६१२, २०, २१, ६५, ६८, १८४७, ५१, ९१, १९६९, ७०.
अदत्त invalid gift; not given; not delivered as gift ७४५, ६७, ९८, ८००, ०१, ०२, ०४.

१०९८, ११३१.

अधिक additional; superior ७११, ३४, ६५, ८४, ९०, ९५२, १०२२, ११६९, ७२, ७३, १६४०, १७५०, ५२, ६७, ९०, १८३०, ३१, ४२, ८५, ८६, ९२, १९२७, ३२, ६७, ६८, ७७, ८८.

अधिकरण government department १६८८.

अधिकरणी a stove १६८०.

अधिकर्मकर an overseer; superintendent ८२८.

अधिकर्मकृत् see अधिकर्मकर ८२५.

अधिकवर्ण a higher or superior caste १७७०, ९६.

अधिकार authority; right; capability; appointment १०२४, ८६, १३९०, १४००, ४९, १६०८, १९३६, ४१.

अधिकारिन् possessing authority; an official ११९९, १९६२.

अधिकृत authorised; appointed ६७२, ८२८, १२८८, १३९०, १६३१, ३९, ५४, ९८, १७५६, ६४, ७१, १९२९, ३२, ४२, ६६.

अधिगन्तृ one who attains or acquires; one who goes १६८२, १९४८, ४९.

अधिगम decision; profit; gain; tresspass; adultery; finding ६१९, ९३२, ११२२, १९८८.

अधिदेवन a table or board for gambling १८९६, ९७, १९०३.

अधिप a master; father; owner १९८८.

अधिपति see अधिप १५१८, १९५६, ५७.

अधिराज a king; emperor ११८१.

अधिवाद offensive words १६५६.

अधिवास a neighbour; original place ७२५, १९२२.

अधिविन्नस्त्री a superseded wife; a woman whose husband has married again after her marriage १४४२.

अधिविन्ना a superseded wife १०५७, ८७.

अधिवेत्तव्या (wife) to be superseded १०५६, ५७, ८७.

अधिवेदनिक related to the marrying of an additional wife १०३४, ३५.

अधिवेद्या see अधिवेत्तव्या १०५७.

अधिष्ठातृ a protector; lord ७०८, १४, १९२४.

अधिष्ठान a settlement १६६८.

अधिष्ठित settled; superintended ६३८, ७१५, १६७१, १९१३, ५४.

अधीतवेद one whose studies are finished १३७६.

अधोवर्णगा co-habiting with a member of the lower caste १०१४, १७६९, ९४.

अध्यक्ष a head; chief ८७४, ९०३, १६२०, ७९, ८०, ८८, ८९, ९०, १९०४, २१.

अध्यग्नि (property given to the bride) over the nuptial fire १४३१, ४९, ५२, ६३.

अध्यग्न्युपागत property received by a wife at the wedding १४२८, ४३.

अध्ययन study ८३६, १९४०, ७३, ७४, ७६.

अध्यापक a preceptor; teacher ७७०, १६०८.

अध्यापन teaching १६१६, ९७, १९४०, ७२.

अध्यावाहनिक that part of a wife's property which she receives when led in procession from her father's to her husband's house १४३१, ४९, ५२, ६३.

अध्यासन sitting over (the body of another person) १७०८.

अध्यूढ the son of a woman pregnant before marriage १२८६, ८७.

अध्यूढज see अध्यूढ १२८७, १९८२.

अध्यूढा a wife whose husband has married an additional wife १९६४.

अध्वग a traveller १७२३, १९८४.

अध्वर a sacrifice (esp. the *soma* sacrifice) ९८०, १००१.

अध्वर्यु a priest ६०४, ७७५, ९२, ९७९, १००९ १२५८, १८९६.

अनंश not entitled to a share in the inheritance १३८९, ९१, ९२.

अनंशद not paying the alloted share ८६१.

अनग्नंभावुका not being naked; not disposed to nakedness १००४.

अनग्नि not maintaining sacred fire १९७७.

अनडुह an ox; bull ६११, ७६४, ८४२, १०००, १६०६, १८४०, १९७५.

९६८, १०१८, २६, २७, ३१, ३३, ५२, ६८, ११०२, ०३, १३, २०, ५७, १२४३, ४४, ५३, ५४, ६२, ६३, ६४, ६८, ६९, ७०, ८२, ८३, ८४, ८८, ९४, १३०८, २९, ५५, ५६, ७३, ७६, ८४, ८६, ९१, ९४, १४१६, २९, ४०, ४९, ५०, ५९, ६२, १६३८, १८५०, १९७८, ८४, ८५, ८६.

अपत्यप्राप्ति the manner of raising an offspring १०७५, ११२७.

अपत्यलिप्सु desirous of an offspring १०१२.

अपत्यलोभ greed or avarice for an offspring १०६३.

अपत्यहेतु intention of begetting an offspring १०३१.

अपत्यार्थिन् see अपत्यलिप्सु १२८५.

अपत्योत्पादन begetting of an offspring १२८४.

अपथदायिन् showing or giving a wrong way १६०९.

अपदान circumstances; evil action; offence ७३७, १६८१, ८३, ८७.

अपदिष्ट notorious १६८३.

अपदिष्टक one attributed (wrongly) १६८६.

अपदेश a pretext or excuse ७४२, १६७३, ८२, ८५, ९६, १७५५, ८७, १९२९.

अपध्वंसज a child of mixed or impure caste [(whose father belongs to a higher caste than its mother's) In *Manusmṛti* X 4I, 46 the meaning is—whose father belongs to a lower caste than its mother's] १२८६, ८७.

अपपात्रित an out-caste; not allowed to use vessels for food belonging to caste-people १३९०.

अपमारी having a sudden or accidental death; one who dies before age, accidently or badly ९९२, १५९९.

अपमित्य debt ६०२, ०४.

अपर second; stranger १००१, १७७२, १९७१, ७६, ८३, ८४, ८५.

अपराध offence; fault; transgression; mistake ७३५, ८४०, ९२, १११०, १६०६, १४, १७, १८, ५०, ५२, ८६, ८७, ८९, ९५, १७३७, ४०, ५४, ७०, ९०, ९५, ९६, १८१२, २९, ३१, ३३, ३५, ४७, ६२, ८८, १९२२, २७, २९, ४१, ४६, ७०, ७३, ७४.

अपलापिन् one who conceals, denies or evades १६१०, ३४.

अपवाद abuse; reproach; punishment (by *Ganapatiśāstrī*) १०३९, १६६५, १७८४.

अपवार्य to be warded off ९०५.

अपविद्ध a son abandoned (by his natural fathers) १२६३, ६५, ७०, ७८, ७९, ८३, ८८, १३०६, २०, ३४, ४६, ४८, ५१, ७३, ७४, ७५, ७६.

अपवेध piercing anything in the wrong direction or manner १६३१, १९२९, ३०.

अपव्ययन expenditure; prodigality; concealing fraudulently ७३५, १६१३, २२, १९२२.

अपव्ययमान being denied fraudulently ७१९, ३७, ८४३.

अपशुघ्नी not killing a cattle १००१.

अपसद an out-caste १२८६, ८७.

अपसर्पोपदेश advice of a spy १६८२.

अपसार escape ७५७, १६८४, ८६.

अपसृत gone away; escaped ९०६.

अपहन्तृ a robber १६५५, ९८.

अपहरण appropriation; robbery; theft ९२९, १६७०, ७२, १७१७, ६५, १९२२, ३०.

अपहर्तव्य to be taken away or confiscated १२२३, ३१.

अपहर्तृ an appopriator; one who steals; a thief ७४१, ४३, ८६३, १६५४, ५५, ७०, ८०, ८२, १९२९.

अपहार misappropriation; confiscation; seizure; stealing ७३५, १०३१, ३६, १६११, १२, १७, ४८, ५०, ७०, ७१, ७२, ७४, ७५, ८३, ८७, ८९, १७६१, १९६४.

अपहारिन् see अपहर्तृ ७३५, ८१७, १६१२, १८, ६९, ७०, ९३, १७४५, १९२९.

अपहार्य see अपहर्तव्य ७११, ८४२.

अपहृत mis-appropriated; stolen ७४५, ८३३.

अप्रपन्ना one who does not accept or consent ७१४.

अप्रमत्त attentive १०२८, १११५, १९, १२६७, ७१, १७५७, १९७४.

अप्रसूता having no issue ७०३, १०३०, ११००, ०३, १२, १३७३, १७९८.

अप्रसूतिका (a woman) having no issue १०३१, १११२.

अप्राप्तफला unmatured १८४८.

अप्राप्तवयस् not in age १९७१.

अप्राप्तव्यवहार a minor in law ६९५, ७१०, ८१७, ११९९, १२०१, १६४०, १९२२, ४९, ५०.

अप्राप्ता not full-grown; not in proper age; one who has not attained the age १०४१.

अप्रिय disagreeable १०२०, २४, २९, ५७, ६०, १११९, १७८८, १९३१, ४२.

अप्सरस् a class of female divinities ६०१, ०२, ०३, ०५, १००२, ०३, ०८, ०९, ११११, १८४०, ९८, ९९, १९०१, ०२, ०३.

अप्सस् the hidden part of the body १२५४.

अफला unfruitful १०५२.

अबन्धक (debt) without pledge ७३१.

अबन्धु without kindred ६०३, ०६.

अबन्धुदायाद not kinsmen-heirs १२६५, ८४.

अबान्धव not a relative ७७१.

अबाह्य an outsider; not to be excluded ९२९, १२८३.

अबीज destitute of manly strength; seedless १०५६, १२६४, १३९३, १७०५, १९३०.

अबीजिन् see अबीज ११०२.

अब्द year १९५३, ६२, ८३.

अब्राह्मण not a *Brāhmaṇa* ८१२, १९, ४२, ९९८, १२४३, १६७२, १७४४, ९३, १८१५, ३९, ४५, ५६, १९४८, ४९, ७४.

अब्राह्मणी not being a woman of the *Brāhmaṇa*-caste ८३८, १८८३.

अभक्तद one who does not support or maintain ११०६.

अभक्ष्य not to be eaten; forbidden food १०२५, १६१०, ११, २०, २८, ३६, ५४, ८२, १७८९, १९३२.

अभर्तृका widowed १९४१, ४३.

अभाग not a co-heir; not entitled to a share ११४४, १३८५, ८७, ८९, ९७, १५७०, १९८३.

अभागिन् see अभाग १३८९.

अभार्य without a wife १५२४, ५८, ६०.

अभाषित not asked; not made to accept ६७२.

अभिगन्तृ one who co-habits १७८०.

अभिगम see अभिगमन १८७८.

अभिगमन going; co-habitation १०१३, २३, ३८, १६२०, १८४१, ४६, ४८, ७४.

अभिगामिन् see अभिगन्तृ १६३९, १९४३.

अभिग्रह seizing १८८८.

अभिघात striking; attack १८००, २१.

अभिचार magic; employment of spells for a malevolent purpose (one of the minor crimes) १२८५, ८६, १६२१, ३१, ५५, ८०, १९३०, ७७.

अभिचारिन् enchanting १६५४.

अभिजन noble descent १९६२.

अभिजात born of a high family ८६३.

अभिजिति victory; conquest १००६.

अभिज्ञ learned ७८८, ८९८, १९१३, १५.

अभिज्ञात proved; known १६८०.

अभिज्ञान sign of remembrance; a sign serving as a proof ७३७, ८६३, ९४५, १६८१.

अभित्रास intimidating १७९५, १९७४.

अभिद्रोह malicious assault १७७५, ८८, १८२४, १९२२.

अभिपातिनी assailing १८६६.

अभिपित्व evening (when all come to rest) (by Macdonald & Monier-Williams.); arrival (by *Yāska*) १२५७.

अभिप्रतारण N. of a prince १११४.

अभिप्रधर्षण intimidation १६८९.

अभिप्राप्ति arrival १२५७.

अभिप्रेत intended ११९४.

अभिभव humiliation; disrespect १७६९, ९४.

अभिभू one who surpasses; a superior १००२, १८९६, ९७.

अमण्डयमाना ( a woman ) not celebrating her menstrual discharge by offering herself to her husband १०३५.

अमन्तु ignorant; silly ८१०.

अमन्त्रक unaccompanied by *Vedika Mantras* १५२९.

अमन्त्रा unentitled to *Vedika Mantras* १०४९.

अमर immortal १९८४.

अमर्याद unrestrained; immodest १०३२,१७०१.

अमाजुर् living at home; growing old at home ( as a maiden ) ९७९, १४१५, १९७९.

अमातृक motherless १०३५.

अमात्य a minister; councillor १६१२, ७३, १९३०, ४३, ६९.

अमानुष not human; anything but a man ८१०, १६२१, ९९, १९२९.

अमावास्या new-moon day ( by Macdonald ); last day of the waning-moon fortnight ८४२, ९९२.

अमित unlimited १०७७, १११९.

अमित्र an enemy ८१०, १६१९, १९८३, ८६.

अमुतस् from the other world; from heaven ९६८, ८३.

अमुत्र in the next world ११०२, १९३१.

अमूल्यक्षय without deterioration in value ६३८.

अमृत not dead; immortal; imperishable ६०५, ८४०, ९७४, ७६, ९८, १०००, ०१, ०४, १२५७, ६२, १८३६, १९६६, ७४.

अमृतत्व immortality ६०४, ९७१, १२५३, ५९, ७१, ७९, १९८०.

अमृत्यु immortality १६०१, ०२.

अमेध्य not able or fit for sacrifice; impure; polluted ७९१, ९३९, १००७, १६३१, ४८, १७९८, १८१४, १९२९.

अमोक्ष non-divorce; unlossening; non-liberation १०३६, १८२०.

अमोक्ष्या not to be divorced, freed or liberated १०३६.

अम्बर wearing apparel; garment; clothes ७५०, ८९९, ९४५, ५१, १११९, १५१३, २६, १८८७.

अम्बरीष N. of a king १३२९.

अम्बष्ठ the offspring of a man of *Brāhamaṇa* and a woman of the *vaishya* caste ११०५, ८५, १२८८.

अम्बा mother; a good woman ८४१.

अम्बालिका see अम्बा ८४१.

अम्बिका mother; a good woman; N. of a sister of *Rudra* ८४१, ९९१, १००८, १४१५.

अय a die १८६७, ९८.

अयज्ञ not a sacrifice १००६, १६०२, १९७१.

अयज्यु not sacrificing १९७१.

अयज्वन् see अयज्यु १७२५, २७.

अयत unrestrained १९७४.

अयश्शूल iron-rod १६७६.

अयस् iron; metal; an iron or metal weapon ६०९, ८९२, ११८२, १६०६, १७३३, ३४, ४७, ६७, ७५, ८८.

अयस्संदान iron-fetter १७६२.

अयाचित ( ऋण ) ( debt ) not asked for ( by the creditor ) ६२७.

अयाजिक not to be used for sacrifice १९६९.

अयुक्त improper; unsuitable; unappointed ८७६, १६१५, ३४, ४४, ५०, १९२२.

अयोग्य incapable; not qualified for १६१०, ३४.

अयोनि any place other than the pudendum muliebre ८५१, ९९४, १०१९, १६०३, १८५०, ७९, ९२.

अरण inimical person; foreign; free from debt; strange; disagreeable ८५८, ५९, १२५३, ५४.

अरण्य a foreign land; forest ९०३, ०४, ९२, १२६०, १५९४, ९९, १६१७, ६४, ८२, ९५, १७०२, ५४, १८३२, ५०, ५१, १९२९.

अरण्यचर a forester १९२५.

अरत्नि a cubit of the middle length from the elbow to the tip of the little finger ९२६, ५९.

अर्थविवाद dispute about property ७३२.

अर्थशास्त्र science of governance or polity १०३३, ३४.

अर्थसमुत्थान acquisition of property ११९२.

अर्थसिद्धि recovery of money ७१८.

अर्थस्वामित्व ownership of the property ११२४.

अर्थहर inheriting property; an inheritor of property १२८१, १५६०.

अर्थहरण seizure of property १९७०,

अर्थहारक stealing property १६१२, ५०.

अर्थहीन deprived of wealth; destitute of property; poor १०२९, १९७३.

अर्थागम mode of acquisition of property; the source of property (the source of ownership of property ) ११४२, १९८८.

अर्थादान enjoyment of property ११४६.

अर्थिन् a creditor; plaintiff; one who desires or asks anything ६७६, ९४४, ६४, १२८५, १५२६, १६४८, ७२, १८५०.

अर्थ्यप्रकार ( प्रतीकार ) of desirable or good nature; one who does not refuse to a needful ( person ) १६७३.

अर्धसीतिक a joint-cultivator; serf ६००, ८१७.

अर्धहर entitled to receive half ( the property ) ११७४.

अर्भग youthful ९६४.

अर्य a master; lord; *Vaishya*; man of high-caste ८११, ९०२, १८९५.

अर्यजारा the mistress of a *Vaishya* or high-caste person १३८५, १८३७, ३८.

अर्यमन् a bride-wooer; N. of an *Āditya* ( he is supposed to be the chief of the Manes) ९८१, ८२, ८५, ८६, ९७, १००१, ०२, ०३.

अर्या a *Vaishya*-woman १८३८.

अर्वन् a horse ११५८.

अलंधन having enough property; wealthy ६६५.

अलङ्कार decoration; ornament ९५१, १००६, १२, २६, ३२, ३३, ४२, ४९, ११०६, १९, १२०६ ०७, ०८, ०९, २२, २३, २८, १४१५, २७, १८८७ ९१, १९३५, ८७.

अलङ्कृत decorated १०९८, १२७३, ९४, १७६६, १८४३, ४८, ७५.

अलभ्यमान an absconder १७५७.

अलाबु bottle gourd १९२४.

अलाभ not gain; loss; failure ७७७, १२७२, ८१, १३२१, १९६२, ८८.

अलोकाचरित uncommon practice ( not practised by the people ) १११८.

अल्पबाध causing little annoyance or inconvenience ९४२, ४७.

अल्पनिर्वेश little income १६८२.

अल्पमूल्य of small value १७५०, ५९.

अल्परक्ष्य having little property १५२४.

अवकाश dwelling place; shelter १०३८, १६०९, ८७, १७४२, १८४९, १९२९, ८६.

अवकाशद one who gives shelter ८७६, १६७१, ९७, १८९२, १९२९.

अवकाशदातृ see अवकाशद १७५६.

अवकीर्णिन् one who has violated his vow of chastity १६०३.

अवक्रय a bargain in which the whole price of the commodity is not paid ८९९, ९००, २७, ३०, १६७४, ७९, १७३६, १९०४.

अवक्रयण rent; revenue ९२७.

अवक्रीतक hired property ७३६, १६८४, १९२२.

अवक्षिप्त thrown down १६१४.

अवगूरण assailing with threats १७९१, ९४.

अवगूर्ण assailed with threats १७९८, ९९.

अवगोरण see अवगूरण १७९३, १८२४.

अवग्रह drought १९२४.

अवघोषक one who spreads false or contemptuous rumours १६१८.

अवघोषण proclamation १६८९.

अवचनीय not to be spoken; improper १७७४, ८७.

अवत a well ९२३.

अवदावद having no bad reputation १२६०.

अवध not punishing ( corporally ) ८१५.

अविभक्तपत्नी wife of a co-heir who has not divided his inheritance १५२९.
अविभक्तोपगत acquired by means of undivided (property) ११९९.
अविभाज्य indivisible १२०७, २०, २२, ३१, ३२, ३३, १९८३, ८८.
अविभावित not proved; unperceived ७६२, १७६४.
अविरोध being in agreement with; non-opposition ८७५, ७९, १५८४, १९४२, ८२.
अविरोधिन् not opposed १९४३.
अविवक्षित not being under special agreement ( of yielding interest ) ६२७.
अविवाहिन् not to be married १६२७.
अविवाह्या ineligible for marriage १०९४.
अविशेष without distinction, speciality or discrimination १२३६, ५५, १३८५, १४१५, १६४३.
अविषह्य intolerable ( occurence ) ८७८, ७९, ९३२, ३९.
अवीतक place other than a forest १७४३, ६३.
अवीरा ( a woman ) having no son ९८७.
अवृत्ति want of subsistence १०६०, ११०७, १६५९.
अवृद्धिक not bearing interest ६४६.
अवृध not rendering prosperous or refreshing ( the gods with sacrifices ) १९७१.
अवैद्य unlearned १२०४, २०.
अवैधव्यकाम्या desirous of obtaining non-widow-hood १११०.
अव्यती not longing for copulation; a frigid woman ९८८.
अव्यभि(भी)चार non-failure; non-transgression conjugal-fidelity ७८१, १०५४.
अव्यभिचारिणी not adulterous; faithful १५२१, २७.
अव्यय imperishable १०७७, १६२२.
अव्यवहार्य invalid; unfit for transaction ७९४.
अव्याकृत unexpounded ७४७.
अव्याहत not opposed; unresisted ९२८.

अशक्त incapable; weak १७७२, ८१, ९४, १९२१, ३९, ६२.
अशक्तभर्तृका ( a woman ) whose husband is incompetent १६०९, १८४७,
अशन food १०५३, ७६, ८३, ९९, १११४, १४०१, १५२०, १६९८, १७५२, १९३६.
अशनया hunger १५९६, ९७.
अशनि the thunderbolt ९१८, १८९९, १९०२.
अशरीरिणी not coming from a visible body १९८५,
अशान्तलाभ ( a debt ) the interest of which has not ceased to accrue ६५१.
अशास्त्र unentitled to *S'āstra*; unscriptural १०३३, १९४१.
अशास्य unblamable; not to be punished ९७४.
अशिरस् headless १६०९, २७, १९७०.
अशीतिभाग eighteeth part ६११, १९, २४, ३१, ७३१.
अशुचि impure ७३७, ८२९, ७९, ९२५, १६१०, ७४, १७५४, ९९, १९३९, ४०, ७७,
अशुद्ध impure; guilty १६४८, ८४, १७४०, १९११, ६१, ६७.
अशुभ not fair; inauspicious ८२९, ५३, १११९, १९४३, ६५, ६६.
अशुल्कस्त्रीधना (a woman) having neither nuptial present nor woman's property १०३४, १४३१.
अशुल्कोपनता not obtained for price or nuptial present ११०२, १३४७.
अशुश्रूषा breach of contract of service; neglect of service ८२४, ३४, १०२०, ३५.
अशूद्र not a *S'ūdra* ८४२.
अ( आ )शौच impurity ( caused by death or birth ) ८७९, १३५२, ७४, ९२, १५६८, १६७९.
अश्मक N. of a king (procreated by *Vasiṣṭha* on *Madayantī* by *Niyoga* ) १२८५.
अश्मन् a stone; rock ९२३, ३४, ५०, ६१, १९३१.
अश्मभाण्ड an article of stone १६७१, ७२.

१८२४, ३०, ८७, १९३५, ३६, ६५.

आयुधागार an armoury १६२९, ८९, १७१३, १९२९.

आयुधिन् a warrior ८३५.

आयुधीय a warrior; member af a martial race ८२८, १६१९, १९१९, ३५.

आयोगव a man sprung from a *S'ūdra*-man and *Vaishya*-woman ११०५, ८५.

आरकूट a kind of brass १६७५.

आरक्षक a guard १७५७, ६२.

आरक्षिन् see आरक्षक १६८१.

आरण्य a wild animal; belonging to a forest १५९४, १६०९, १७९९.

आरम्भ beginning १०१८, १६४७, ४९, १८३१, ८७, ८८, १९२५.

आराधन worship ११११, १७, १९, १५२४, १९७९.

आराम a garden ७३१, ८७३, ९२०, २६, २८, ३०, ३७, ३९, ४२, ४५, ५०, ५८, १२०१, १६१३, १७६५, १८८०, १९७६.

आर्त distressed; afflicted ७१०, ९३, ८००, ०४, ०५, ०६, ४३, ४४, ४५, ७८, १०९७, ११०७, ३०, १७०२, २८, ४६, १८३१, ३४, ८८, १९२७, ६३.

आर्तदान help rendered to an afflicted person ८४३.

आर्तना waste ( field ) ९२२.

आर्तव the menstrual discharge १११२, १८४८.

आर्ति disease ११४६, १४६१, १९८७.

आर्त्विज्य the office or business of a sacrificing priest ( ऋत्विज् ) ७८३, १०१०, १२२५, १५९४.

आर्पण entrusting; delivering ६६०.

आर्य a member of the three high castes; lord; a freeman ७२८, ३८, ४७, ८०९, १०, १२, १५, १६, १७, ९५५, १०३३, ४९, १६६४, १७२८, १८४४, १९०३, १४, २७, ६३.

आर्यप्राण an *Ārya* by birth ८१६, १७.

आर्यभाव the privilege or status of an *Ārya* ८१७.

आर्यलिङ्गिन् wearing an emblem of *Ārya* १६९४, १७६४, १९२९.

आर्यवृत्त behaving like an *Ārya* १६९२, १९२९.

आर्यस्त्री wife of an *Ārya*; woman of *Ārya*-caste १८४१.

आर्या woman of *Ārya*-caste १६९०, १८४४, ५०, ७४, १९२२.

आर्यावर्त N. of the country of *Āryas* १९२०, २१.

आर्ष a form of marriage derived from *Rshis* (the father of the bride receiving one or two pairs of kine from the bridegroom) १०३४, ९६, ९८, १२८६, १४३९.

आर्षभ produced by a bull १०७३, ११०२, १२७२.

आलिङ्गन embracing १८८५, ८९.

आवरण a fence; cover ९१९, १११६, १६१९, १९२५.

आवर्तन returning around; circuit ९०२.

आवसथ a house १८९७.

आवाप sowing १९२५.

आवार shelter ८६३.

आवार्यभाग the part to be covered ९२६.

आवासद see अवकाशद १७५५,

आविक woolen cloth ६३२.

आविष्टिता enveloped १६००.

आवेशन a workshop १६९५, १९२९.

आवेष्टन tying १७९८, १८३४.

आशाकारिकवर्ग the class of people that works according to its own wish ८४३.

आशासाना asking, praying or craving for ९९१, १०००.

आशुमृतक suddenly or instantly dead १६१५.

आश्रम a hermitage; a stage in the life of a *Brāhmaṇa* १३७३, ८४, ८९, १९१६, १७, २१, २६, ३५, ४१.

आश्रमिन् a hermit १९३३, ८६.

आश्रय refuge; resort ७६६, ८४, ११३०, ९९, १६२०, ४९, १८८९, १९१४, ३६.

आश्रित depending on; supported ७१५, १७४६, १९२९.

आसज्जन the act of clinging to १७९४.

ईक्षणिक a fortune-teller १०२५, १६९३, १९२९.
ईर्ष्यापण्ड one jealous ( a kind of semi-impotent man ) १०९४, ९५.
ईर्ष्यासमुत्थ having its root in jealousy ११०२.
ईश a lord; master ८१८, १५८३, १९३६.
ईशान a master ११२०, ५८, १४६३, १७६९, ९४.
ईशिनी one who has supremacy; mistress १४६२.
ईश्वर master; lord; N. of a sage ८१३, १४, ६०, १११८, १५५५, ६१, १९२९.
ईहा labour १२११.
उत्तलाभ ( क्रय ) ( a purchase ) where a creditor secures a pledge with the condition that if the lent amount is not recovered in the stipulated time the pledged thing should be understood to have been purchased by him ( the creditor ) for the given amount ८९१, ९८, ९००, ०१.
उक्थ a particular *vaidika* verse १९७९.
उक्षन् an ox or bull ९०६, १६२१, १८११, ३४.
उग्र powerful; ferocious; voilent; warlike; N. of a mixed tribe from ( a *Ks'atriya* father and *S'ūdra* mother ) ६००, ०१, ०२, ०३, ०५, ११०४, ०५, ८५, १२८८, १५९६, ९७, १६००, १८३८, ९५, १९०१, ०२, २१, ६५.
उग्रजित् N. of an *Apsaras* ६०२.
उचित customary; usual ९३१, ११८५.
उच्चैःश्रवस् N. of the horse of *Indra* ८४०.
उच्छास्त्रवर्तिन् transgressor of the law १९३९.
उच्छ्रावणालेख्य the deed of partition १५८४.
उज्जाम debt ७०८.
उञ्छजीविन् a gleaner ९५१.
उञ्छवृत्ति a gleaner ९३७.
उत्कृष्ट excellent; eminent; best १०२६, ४१, ६४, ७०, १६२८, ४८, ५१, १८०२, २८, ३५, ६६, १९३७.
उत्कृष्टकर्म avocation of a higher caste १६२९.
उत्कृष्टमूल्य very valuable १७५०.
उत्कृष्टवर्णा of the highest caste १८४२.

उत्कोच bribery ८००, ०५, ०६, १६९०, १९८३.
उत्कोचक receiving a bribe १६८०, ९३, १७४६, ५८, ६४, १९२९, ४६.
उत्कोचजीविन् see उत्कोचक १६११, ३९, ६९, १७५९, ६१, १९३२, ४२.
उत्क्रोशत् calling for help १७९७.
उत्क्षेपक a pick-pocket १६११, ७०, १७३७, ५८, ६०, ६४, ६५.
उत्तम highest; excellent ८१७, २८, ३५, ६१, ९२०, ३१, ४२, १०१६, ३१, ६२, ७५, १११०, १६१४, १८, १९, २०, २१, ३४, ३७, ४०, ४२, ४३, ४५, ४९, ५२, ५५, ६९, ७०, ८५, ८७, ८८, ८९, ९०, ९२, १७१६, २७, २९ ३०, ३२, ४२, ४४, ४५, ५०, ६६, ६७, ६९, ७०, ७१, ७३, ८०, ८९, ९२, ९६, ९८, १८११, १२, १४, २४, ३१, ३२, ३४, ३५, ४६, ४७, ४८, ४९, ५०, ६६, ७२, ७५, ७६, ८२, ८३, ८५, ८९, १९२२, २९, ३२, ४३, ६७, ६८, ७०, ७५, ८५.
उत्तमदण्ड highest punishment; vide उत्तमसाहस ७९४, ९३२.
उत्तमद्रव्य fine article १६४६.
उत्तमर्ण a creditor; highest or excellent debt ६१०, ३६, ९२, ७१६, १८, २४, २५, ३१, ९००, १४०२.
उत्तमर्णमूल the principal of a creditor ६३५.
उत्तमर्णिक belonging to a creditor; a creditor ७१४, १६, २२.
उत्तमवर्ण a member of the highest caste ८१६, १२७९, १७६९, ७१, ९४.
उत्तमसंग्रह adulterous act of the highest degree १८८९.
उत्तमसाहस the highest of the three fixed mulcts or fines ( a fine of 1000 or of 80,000 *panas*; capital punishment, branding, banishing, confiscation, mutilation and death ) ७९६, ८१६, ९२५, ४६, ५७, ५८, १०७९, १६०९, ११, २७, २८, २९, ३६, ३७, ४३, ४४, ५२, ७०, १७२९, ३०, ३२, ४९, ५०, ६५, ६६, ७०, ८२, ९०, ९८, १८४६, ५९, ८२, १९२९, ९२, ३३, ७५.

उद्वाह marriage ११८४, १९२१, ४३.
उद्वाहाग्नि a marriage-fire १०१५.
उद्वाहिक relating to a marriage १०६७.
उद्वाहिता married ११०१, १६.
उन्नता boundary ( raised ) १४५, ६१.
उन्मत्त insane; mad ६९७, ७०७, ११, १२, ७१, ९३, ८००, ०४, ०५, ८१, ८९, १०२२, ३४, ५६, ९८, १११२, १८, ६४, १२७३, १३८७, ८९, ९१, ९२, ९३, १४०१, ०४, १६०७, २०, ७९, ८६, १८८५.
उन्मत्तक a mad-man १३९८.
उन्मादुक fond of drinking ९९२, १५९९.
उन्मान weight; measure ( of altitude ) १६६८.
उपकरण implement ७८६, ८४९, ६०, १०१५, २९, ११८४, १६१९, ४२, ४६, ८३, ८५, ८६, ८७, ९६, १७४२, ५१, १९०५, २९, ३५.
उपकर्तृ a helper; see उपकारिन् १६५५.
उपकार use; advantage; assistance ७९९, ८०५, ०६, ०७, ९२९, ३०, ३९, १११५, ३०, १८८१, १९८३, ८५.
उपकारिन् a benefactor; doing favour; a helper ७९४, ८००, ०३, ०७, १६२१.
उपक्रोश reproach १७८५.
उपगत a receipt; (the son) who offers himself ६८९, ७०५, ०९, १२८८, १३५२.
उपगम acquisition; blossoms १०३६, ११२६, १६०९.
उपग्रह hoarding; provision १९२४.
उपघात damage; injury ६३५, ३६, ५१, ५८, ७५१, ८४३, ४४, ७१, ९०६, १६१०, १९, ३४, ७७, ७९, ८०, १७९७, १८२४.
उपघातक hurting; injuring १६५२.
उपघातिन् see उपघातक १९२२.
उपचय increase; interest १९४९.
उपचार dealing; preservation; behaviour; decoration; act of courtiousness ६४८, १००९, १२८६, १६९४, १८५२, ८७, १९२९.
उपचारिका a slave-woman ८१७.
उपजापक instigator; conspirator १६९८, १९२९.
उपजीवन livelihood; maintenance ८१८, १९, १२१२, १४५५.
उपजीविन् dependant ८६२, १३७४, १६४९, ६२, १८५४, १९४२, ४४, ६७.
उपजीव्य to be reverenced ६९२, ७१५.
उपदाग्राहक a bribe-taker १६७९.
उपदेश advice; counsel १६८१, ८५, ९६, १७७०, १९१८, १९.
उपदेष्टृ an adviser १६५३, ८४.
उपधा fraud; pretence ७४४, १७५२, १९३६.
उपधान imposition; pretension; १६७८, १८४९, १९०४.
उपधि artful management; fraud; trick ७२५, ६४, ८४०, १४५४, १६७४, ७७, १७४६, १९०४.
उपधिदेविन् a false gambler १६६९, १९०३, ०९.
उपनायित one initiated १२७८.
उपनिधि a deposit ६३८, ७३५, ३६, ३७, ४०, ४७, ४९, ५२, ५४, १४७३, १५२७, १६८४.
उपनिधिभोक्तृ one who enjoyes or uses a deposit ७३५.
उपनिधिहर्तृ one who smuggles a deposit ७४३.
उपनिपात calamity ७३६, ३७, ८७८, ७९, ९३२, १६७३, १९२४.
उपनिषद् secret १९२५.
उपपति a paramour; gallant ९९५.
उपपातक minor sin १७७०, ८२, ८७, ८९.
उपपाप see उपपातक १७९२.
उपप्लवनिमित्त ( ऋण ) ( debt incurred ) for the purpose of ( meeting ) a difficulty or calamity ७१२.
उपभोक्तृ one who makes use of or possesses ( property ) ६३८, ७६४, ९३०.
उपभोग use; enjoyment; possession ६३६, ३७ ७३५, ६२, ८९६, ९३०, ६२, १४२९, १६१६, १७५२, ९८, १८०४, ३४, ५०, ८८, १९४४.
उपभोगफल ( only ) for the sake of enjoyment or use १४२९.
उपमर्द complete violation or destruction १६४९.
उपयमनप्रतिषेध objection to marriage १२५५.

१४०२, ०४, ०५, २२, २४, ३१, ४९, ५४, १५८३, १६०३, १०, १६, १७, १९, ४१, ४८, ५२, ५८, ५९, ६२, ६४, ७३, ७६, ७७, ८०, ८१, ८२, ८३, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०. ९१, ९५, ९६, १७०२, ४०, ४४, ४६, ५१, ६२, ६५, ७०, ७६, १८३३, ३५, ३६, ४७, ४९, ८७, १९०४, १७, १८, २१, २२, २४, २५, २६, २७, २८, २९, ३०, ३१, ३३. ३५, ३७, ४०, ४१, ४२, ४९, ७४, ७५, ७६, ८१, ८२, ८६.

कर्मनिष्ठापन termination of work ८४४.

कर्मनिष्पाक completion of the work ( *Shāmshāstri* ); the result of the previous work ( *Ganapatishāstri* ) ८४४.

कर्मन्यास the giving up of work; leaving one's duties ८४२.

कर्मप्राप्त subject to torture; criminal १६८६.

कर्मफल fruit of labour ६५५.

कर्ममूल regarding the religious duties ११२५.

कर्मयोग performance of work ११२६.

कर्मवध्य one who has committed culpable crime १६८७.

कर्मवेतन wages for work; remuneration ८६१.

कर्मवैषम्य inequality according to work ७७०.

कर्मशुद्ध irreproachable as to the conduct १३४८.

कर्मसंकरनिश्चय conviction regarding the error of religious duties ७७२.

कर्मसंबन्ध relating to work or duty ( agreement etc. ); relation of religious duties ८४३, १०२२.

कर्मसंयुक्ता connected with ( bodily ) labour; ( interest ) to be recovered only by physical labour ६२९.

कर्मस्पर्धा competition in profession १६१५.

कर्मस्वामिन् a master ८४८.

कर्मान्त completion of work; work-shop १९२८.

कर्मापराध mistake in treatment १६७६.

कर्माभिग्रह seizure in ( criminal ) act १६८२, ८५.

कर्मिन् a labourer; workman; performer of an act ७७९, १२२२, ३०, १६५४.

कर्वट a village; market-town; capital of a district ९६२.

कर्शन making thin ( the wealthy by exacting additional revenue ) १९२४.

कर्ष a particular measure; pulling १६७७, १८१६.

कर्षक a cultivator; peasant ६८०, ७२७, २९, ७१, ७९, ८६, ८९, ९०, ८४३, ६१, ९१८, १९, २९, ३२, ६०, १६६१, १९६७, ६८, ८२.

कर्षण tormenting; torture; cultivation; tillage ८६१, ९३२, १७९५.

कलञ्ज the flesh of an animal struck with a poisonous weapon ७९४, १६७०, १९६८.

कलत्र a wife १११५.

कलविङ्क a sparrow १५९७.

कलह strife; quarrel ८६१, ६२, ६३, १६१८, ४०, १८००, १८, १९, ३१, १९७९.

कलाभिज्ञ knowing the craft ७८७, ९०.

कलि N. of the last and worst of the four *yugas* or ages; quarrel; strife; N. of the die or side of a die marked with one dot; the losing die ११०९, १५, १८, १३७३, ७४, ८४, १६५५, १८९७, ९८, १९०१, १४, ३०.

कलियुग N. of the last and worst of the four *yugas* or ages; the present age १११८.

कल्प a sacred precept; law ८१६, १०२४.

कल्पना ascertainment १७७४.

कल्याण happiness; beautitude; agreeable; a festival ८०७, ९२४, २६, ४२, १०५२, ५३, ७६, १३९१, १६२८, १९२७, ७८.

कल्याणी beneficial; a good lady ९७०, ७१, ७९, ९७. १२८४, १८४०.

कवष N. of a sage ८१२, १३.

कव्य oblation offered in *Shrāddha*; offering to Manes ८१९, १२४४, १५१३, २६.

कशङ्की the hinder parts ( originally of beasts of burden ) ९७४.

काम्बोज a native of *kāmboja* ८६२.
काम्य voluntary rite; desirable; lovely, beautiful ८७२, ९८८, १००६, ११२८, ८२, १९७९.
काय body १०५३, १७९८, १८३२.
कायकर्मन् bodily work or labour ६३५.
कायस्थ a particular caste of scribe १९३२.
कायाविरोधिनी ( interest ) paid regularly without diminishing the principal ६२४, ३४.
कायिका ( वृद्धिः ) ( interest ) paid regularly without reducing the principal ६०७, १५, २४, २९, ३०, ३४, ३५.
कार a doer; ( property ) obtained in the shape of taxes ६७४, ७३४, ८८९, ११३१, १६७५.
कारक a doer ८६१, ९४२, १५११, १६३४, ८०, १७६५, १९६५.
कारण cause; reason ६२८, ७१०, ११, ३०, ८०६, ४०, ५५, ९८, १०२८, २९, ५९, ७६, १२८१, ८५, ८६, ८७, १३४८, १५५८, १६१६, १८, २३, ५५, ८४, ८६, १७५३, ५७, ८७, १८३४, ५३, ८५, १९१०, २२, ३६, ४३.
कारणादान possession ( of a holding ) on some reasonable ground ९२९.
कारणापदेश some ( reasonable ) cause; proposition of reason ६११.
कारयितृ a person causing to exceed ( the rate of interest ); see कारक ६११, १६८७, ९०.
कारिता (वृद्धिः) stipulated ( interest ) ६०७, १५, २४, २५, २९, ३१, ३५, १६८३, १९१०.
कारिन् a servant; worker; doer of an act ८११, ४१, १०१४, १११५, १३२९, १६००, १०, १७, ५०, ५३, ९४, १७५७, ८३, ९७, १८२६, ८७, १९२१, २९, ३३, ६७, ७१.
कारु an artizan ७३७, ८४३, ११२१, १६१७, ७६, ७७, ७९, १७३०, ७२, १८५३.
कारुक see कारु १६७३, ९५, १९२९, ३५.
कारुशासितृ a master of artisans १६७३.

कार्तान्तिक an astrologer ८६३, १६७९.
कार्तिक N. of the 8 th month १९७९.
कार्पास cotton ६०९, १०, ३४, ३५, १६७०, १७१८, ३५, ४७, १९३८.
कार्पाससौत्रिक cotton-cloth or thread १७३५.
कार्पासास्थि a cotton seed ९५०.
कार्मार a mechanic ११२१.
कार्मिक an embroider; artisan ७६४, १७३५.
कार्य law-suit; duty; affairs; work; subject of dispute ७५२, ५३, ५४, ५५, ९०, ८००, ०४, ०५, ०६, ०७, ०८, १८, ३८, ४९, ५१, ५६, ६१, ६७, ६८, ७३, ८१, ८९, ९४५, ५२, ५७, १०१५, ६७, ९५, १११२, १६, १९, ८५, ९८, १३२९, ८४, ८५, ९१, ९४, १५७९, १६०३, २१ ३२, ४८, ४९, ५०, ५२, ५३, ५४, ७३, १७१२ १३, १७, ५३, ६७, १८१४, ८७, १९०७, २२, २६, २८, ३०, ४१, ४२, ६५, ६९, ७८.
कार्यकालमिता vide कार्यकालमिति ८५६.
कार्यकालमिति ( wages) stipulated for a certain work to be done in the fixed peried ८५६.
कार्यघातिन् one who spoils work ८०८.
कार्यचिन्तक taking care of a business; manager of a business ८६८, ७३.
कार्यज्ञ prudent ११४७.
कार्यनिर्णय decision of a dispute ९५१.
कार्यप्रसाधन accomplishment or fulfilment of work ८०५.
कार्यप्रसिद्धि vide कार्यप्रसाधन ८०५.
कार्यमाना ( wages ) fixed according to the estimation of work ८५६.
कार्यविपत्ति failure or loss in action or enterprise ७९५.
कार्यसिद्धि fulfilment of the object ७५३, ८९९.
कार्यिक vide कार्यिन् १६३२.
कार्यिन् a party to a suit either as plaintiff or defendant; a doer १६३२, १७०१.
कार्षापण a particular copper coin ९०५, ३९, १४२८, १६०९, १३, ३१, ६८, ७२, १७७०, ७१, ७७, ८७, ९६, ९८, १८४७, १९२९, ४२, ४४, ६८.

कुण्ड son of a woman by another man while the husband is alive १०१४.
कुण्डल an ear-ornament १३६३, ८४, ८५.
कुतप a garment made of goat's hair १९३८.
कुत्स N. of a *Ṛshi* ११६०.
कुनखिन् having bad or diseased nails ९९२, ९५, १५९१, ९२, ९९.
कुन्ती N. of a woman १०२८, १२८४, ८५, १३७६.
कुपित angry; enraged ११५५, १९३०.
कुपुत्र a bad son १३१६, १९८७.
कुप्य base metal ६३०, ३२, ३५, ५०, ८७, ८३५, ९९, १५१३, २६, १६३४, ८२, ८४, ८९.
कुप्लव a bad boat १३१६, १९८७.
कुबन्ध headless body; vagina १८७४.
कुबेर N. of a deity ८६०.
कुब्जक a plant ९३३, ६१.
कुमार a youth; child ७९१, १२५९, ८१, १३७४, १६६६, १८९४, १९८४, ८९.
कुमारक see कुमार ८६२, १००७.
कुमारिन् having youngsters ९७४.
कुमारी a maiden; virgin; daughter ७९१, ८१४, ९७४, ९७, १००८, ०९, ११, १२, २१, ४०, ४२, १२८६, १४२९, ६३, १५२७, १८४३, ४४, ४९ १९४४.
कुमारीदाय inheritance of an unmarried daughter १४२८.
कुमारीपुत्र son of a virgin १९८०.
कुमारीभाग the share of an unmarried daughter १४२९, ३७.
कुमार्य virginity १००१.
कुम्भ a jar; a particular measure ९५०, ६१, ८११, ६३, १३९३, १६०९, २१, ७१, १७१४, ५०, १९८१.
कुम्भी a particular measure ( of grain )
कुम्भीनसि N. of a demon १०३२.
कुम्भीपाक burning in a vessel १८५०.
कुम्भ N. of a demon ९६४.
कुरीर a kind of ornament १०००.
कुरु N. of a people ८६२, १०१०, २७, ३३, १२४३, ४४, ८५, ८६, १३९०, १४२९, १९६७, ८१.
कुल a family; clan; congregation ६४५, ७३१, ८१४, १७, ६१, ६२, ६३, ७४, ९३६, ६३, १०१४, १८, २३, ३०, ३१, ३५, ३६, ३८, ४६, ५२, ५३, ५९, ७६, ९६, ९८, ११०१, ०२, ०६, १६, ९७, ९८, १२२७, ३१, ३२, ६१, ६६, ८३, ८५, १३२९, ५२, ५६, ७३, ७६, ८४, १४०१, ५६, १५२०, ५५, ७५, ८१, १६०८, ४८, ८५, १७८४, ८९, ९१, १९१७, २२, ३१, ३३, ४१, ४३, ४४, ६४, ७७, ८३, ८४, ८५.
कुलघ्न destroying a family १०३३.
कुलज born in a good family ७३८, ४७, १५२१.
कुलजात see कुलज १३७३.
कुलटा an unchaste woman १६५३.
कुलधर्म family custom १२८२, १९१८, २१, २२, ३१, ४२, ८४.
कुलपा the chief of a family or race or tribe; the head of a house ९२४, २६.
कुलपालिका vide कुलयोषित् १५२३.
कुलयोषित् a high-born woman ११११.
कुलवृद्ध the oldest member or head of a family ८६१.
कुलसंकर violation of a family; family-confusion १०१४.
कुलसंतति propagation of a family; a descendant १०६२, ११९३.
कुलसंनिधि the presence of the member of a family ७४४, ५९, १०५७.
कुलसंबन्ध relation of a good family १०३२.
कुलस्त्री a high-born woman १०२६, ३२.
कुलानुबन्ध a family-feud १५८१
कुलाय a receptacle; home १००१.
कुलिक a kinsman १६३४.
कुलीन belonging to a good family ७८४, १०२२, ३२, १३५६, १०६९, ७१, १७११, १९२७.
कुलोद्भव sprung from a good family ८७३.
कुलोपाध्याय family-priest ७११.
कुल्मल the rod of an arrow ९९६, १४६४, १६००.

४८, १४५२, १५८४, १६०१, ७२, ७४, ८३, ८५, ८७, १७०२, १८१३, १९, २९, ३०, ५०, ८५, ९०, ९१, ९४, ९७, ९८, ९९, १९००, ०१, ०३, ०८, ११, १२, १५, २९, ३०, ३३, ३५, ३६, ३९, ४०, ४३, ६६, ८३, ८५.

कृतक one enslaved for a stipulated period; the son made; artificial ८३२, १२८७, ८८, १६८१, १८५०.

कृतकाभियुक्त one under the pretence of having been charged १६८०.

कृतकाल ( a pledge ) deposited for a certain time; appointed time ६५४, ८२४, ३२.

कृतकालोपनेय ( a pledge ) to be redeemed within a certain stipulated period ६४८.

कृतदार married; one who has obtained a wife १०७५, १३९१.

कृतदुर्ग one who has built a fortress १६९२.

कृतपण one on which wager has been laid १९१३.

कृतप्रतिभू one who has furnished a surety ७२८.

कृतभार्य see कृतदार १३७३.

कृतयुग the first and the best of the four *Yugas* or ages ११०९.

कृतलक्षण marked; branded ७३७, ९१९, २०, १६२७, ८१.

कृतवेतन paid ९१२.

कृता an appointed daughter १२९७, १३००, ५०, १५१६.

कृतागस् one who has committed an offence १८२९.

कृताङ्क marked; branded १६०९, १७९६, १८०२, २८, ४७.

कृतान्न prepared food १२०४, ०६, ०९, २२, ३१, ३२, १७४५, ५०, १९८८.

कृतोद्वाह married १३७३.

कृत्तिका a constellation १००८.

कृत्य occupation; festival ६०९, ८६२, १११९, १९३०.

कृत्या a kind of female evil spirit or sorceress; sorcery; magic; enchantment ९८३, १००३, ०४, ३३, ५३, १६२१, ३१, ८०, १९३०.

कृत्रिम artificial; the son made ९२९, १२६३, ६९, ७०, ८०, ८४, ८७, १३०५, २०, ३४, ५१, ५५, ५६, ७३, ७४, ७५, ७६, १७३३, ९९, १९८२.

कृत्रिमक see कृत्रिम १३५२.

कृमि a worm; insect ९०८, १६, १९.

कृषि tillage; agriculture ७८६, ८७, ८१८, १९, ३५, ६३, ९८, ९२४, ४४, ७९, १११९, २४, २७, ३०, ३१, १६१७, १८९५ १९२७, ८५.

कृषीवल a cultivator of the soil; an agriculturist servant ७८७ ८२८, ४९, ९६३, १००१.

कृष्ट ploughed; cultivated ९३०.

कृष्टफल the product of a harvest ९४३.

कृष्टराधि successful in agriculture ९२४.

कृष्टसद see कृष्टफल ९५४.

कृष्ण the god *Kṛṣṇa*; black ( wealth ); a black deer ८६०, ११२९, ३०, १८४०, ४५, १९२०, २१, ७३, ८३, ८७.

कृष्णद्वैपायन N of a sage १२८५.

कृष्णधान्य black-grain ११८४, १३९०

कृष्णमृग a black deer १९२१

कृष्णयोनी black-race ८०९.

कृष्णल a particular coin ८४४, १०५८, १६५४, ५७, ७०, १७१९, ६५, ६६, १८९०, १९६७, ६८, ७५.

कृष्णा ( त्वच् ) black (race); N. of *Draupadī* ८०९, १०२७.

कृष्णायस iron ११८४, १३९०.

केत desire; wish; abode ( *Sāyaṇa* ) ९८८.

केदार a field ९००, ३०, ४४, ४५, ४८, ५८, १०७१, ७२, ११२७, ३१.

केलि amorous sport १८५२, ८१.

केश the hair of the head १६८५, १७९६, ९८, १८०३, १६, २९, ७१, ८७, ९१, १९३८, ७०.

केशव N. of *Viṣṇu* ८६०.

केशाकेशि hand to hand or hair to hair १८५०, ७०, ८९.

केशिन् N. of a people १००३.

९४९.

क्रयविक्रयिन् one who purchases and sells; a trader ७७८, ८४, १७०६, ३१, १९२७.

क्रयसिद्धि validity of purchase ८९६, ९८, ९०१.

क्रयिन् a purchaser ८८८, ९३, ९७, ९९.

क्रव्याद consuming flesh; a carnivorous animal ११६२, १२५९, ८७.

क्राणा willingly ( Monier Williums ); doing; doer ११६०.

क्रिमि a worm; insect १९२५.

क्रिया evidence; transaction; work; duty ६६२, ७०, ७४, ८०, ७०४, ३२, ३३, ३४, ८४, ८६, ८०५, ७२, ७३, ७४, ८२, ८६, ८९, ९४५, १०५५, ११०६, १२, २९, ३०, ९३, १२३४, ८८, १३०५, १४५७, १५८०, ८२, १६१६, ४३, १७१०, ४६, १८५२, ८१, १९०५, ०७, १४, ३०, ४१.

क्रि(क्र)यान्त ( a pledge ) ending in purchase ६३७.

क्रियाभेदाः various claims ६२८, ७३४.

क्रियाभ्युपगम a contract १०७४.

क्रियालोप discontinuance of any of the essential rites १३१०.

क्रियावाद a law-suit १९४१.

क्रियावादिन् claiming judicial investigation ७२७.

क्रियासमूहकर्तृत्व performance of a joint transaction १५८२.

क्रीडा sport; play ८६३, १०२६, ८५.

क्रीत purchased ( a thing; son; slave) ७३२, ३३, ३५ ६४, ६६, ६७, ६८, ८१७, २१, २९, ३२, ८८, ९०, ९४, ९७, १११८, २६, १२६३, ६५, ७०, ७८, ७९, ८३, ८४, ८८, १३२०, ३४, ४६, ४८, ५५, ५६, ५८, ७२, ७३, ७४, ७५, ७६, १५२०, १६११, ८३, १८३७, ८५, ८९, १९२८, ८५

क्रीतक ( the son ) purchased १२६६, १३०८, ५१ ८४.

क्रीता purchased ९९५, १३७७.

क्रीतानुशय rescission of purchase ८९३.

क्रुद्ध enraged ७०३, ८०४, १३, १०७५, १५७३, १६५४, १७०३.

क्रूर a rogue; criminal १६८५, १७१०, १९०७, १४.

क्रेतृ a purchaser ७५७, ६०, ६१, ६३, ६५, ६७, ६८, ६९, ८१७, ७८, ८३, ८५, ८६, ९०, ९१, ९३, ९४, ९६, ९९, ९००, ०१, २८, १६११, ७८, ८०, १७३२, ५५, ५९, ६२.

क्रेय commodity ८९१.

क्रोध wrath; anger ६९५, ७१३, ८००, ०५, १३, १९, ६१, ९५२, १०२०, ४९, १२८४, ८५, १६१६, ४५, ४७, १७८७, ९१, १८३३, ४१, ९९, १९१४, ३१, ३६, ६३, ६४, ६५.

क्रोश a measure of distance १६६४, १७४३.

क्लीब impotent ८०५, ४२, ९९२, १०३४, ५६, ९८, ११००, ०७, १२, १६, १७, १८, ६४, १२६९, ७०, ७३, १३०४, ५०, ८७, ८९, ९१, ९२, ९३, ९४, ९८, १४०४, १५९९, १७७२, १८४०, ८१, ८८.

क्लृप्तांश prescribed share १५२३.

क्लेश pain; torture ९४७, १६१९, ८६.

क्लेशदण्ड painful punishment १६१९. १९७०.

क्लैब्य impotency; imbecility ९५१, १६७२.

क्षत wound; injury ८९३, १११६, १६४७, ४९, ८२, १८२४, ९१.

क्षतयोनि deflowered १०९५.

क्षता ( a woman ) enjoyed; defiled १०८८, १३३१.

क्षत्त (त्ता) see क्षत्तृ ११८५.

क्षत्तृ a chamberlain; the son of a *S'ūdra* man and a *Kṣatriya* woman १००९, ११०५, ८५, १८४०

क्षत्र vide क्षत्रिय ७२९, ८३६, ३७, ११२२, ८५, १४६४, १५१८, १६००, १७६२, ७४, १९३१, ३६, ४३, ६१.

क्षत्रज begotten by a *Kṣatriya* १२४९, ५१.

क्षत्रधर्म the duty of a *Kṣatriya* १६६७.

क्षत्रवृत्ति occupation of a *Kṣatriya* १९३७.

क्षत्रिय a member of the second caste; a member of the warrior-race ८०३, १३, १४, १७, १८, १९, २०, १०२२, ३३, ३९, ९३,

क्षेत्रस्वामिन् owner of a field ९४६, ६०, १२८७.
क्षेत्रहर one who illegally takes possession of a field १६०८, २६.
क्षेत्रहानि damage of a harvest ७८७.
क्षेत्रांश a portion of the arable land १५१९.
क्षेत्राधिकार ownership of land ९४४.
क्षेत्रापहर्तृ see क्षेत्रहर १६५४, ५५.
क्षेत्रिक a land-owner; husband ९०३, ११,२२, ४८, ६०, १०७४, ११०२, ०३, १२८२, १३१८, ४७, ४९, १७१४.
क्षेत्रिन् see क्षेत्रिक ८३९, ९५, ९१४,६१, ६२, १०७०, ७४, १११७, १२७२, ८२, ८८.
क्षेत्रिय an adulterer १३८७.
क्षेप a throw; abuse १६२१, १७६९, ७०, ७९, ८१, ८२, ८९, १९६७.
क्षेम residence १२३३, १६६४, १७६०, ८१.
क्षौणी the earth ६३७.
क्षौम linen १६७३, १९३८.
क्ष्मा the earth १८३७, ४१.
खग a bird १९७८.
खञ्ज lame ७८७, ९२०, १७७०, ७१, ७२, ७७, ८७.
खट्वा a cot १७४५, १८५२, ८१.
खण्डाधि a pledge or security for the specific interest on the amount lent ६३७.
खदिर a kind of tree १९६५.
खनमान a digger ९६८.
खनि a mine ( esp. of precious stones ) १६७५, ८८.
खनित्र a spade; shovel ९६८.
खनित्रिम produced by digging ९२४.
खर an ass; donkey ६९५, ८५४, ९०४, ०५, ०६, १३, १७७१, १८३४, ४५, ६९.
खरपट्ट N. of a book (dealing with robbery) [ by *Gaṇapatishāstri* ]; the baek of an ass ( *Shāmshāstri* ) १६८७.
खरयान a donkey-cart १६७२.
खर्जूर a kind of date १७६१, ६३.
खर्व crippled; a baked pot ( *Sāyaṇa* ); a dwarf ९९२, १५९९.
खर्वट a mountain-village ९१३.
खल threshing-floor; granary ९०६, ३०, १६१९, २९, ८९, १७२६.
खलति bald-headed ९९२, १५९९.
खशजात N. of a people १७०२.
खात digged; ploughed ९२७, ३०, ४८, ११३१, १५९८.
खादक a debtor ६६१.
खादिर made of *khadira* wood १७०२.
खिल a piece of uncultivated or waste land ९४८, ६०.
खिलोपचार expense incurred in tilling the waste piece of land ९४८.
खुर a hoof १९७६.
खेट a village; residence of peasants and farmers ९६२.
खोर old ११८१.
गङ्गा the river Ganges १९२०, २१, २४.
गज an elephant ९०५, १३०९, ६९, १७४५, ९७, १८१०, ३५.
गण a guild; assemblage of kinsmen; flock; tribe; corporation ५९९, ८६१, ६९, ७०, ७१, ७२, ७५, ७६, १०७६, ९८, ११०५, ११, १५२७, १८९५, १९२२, ३२, ३३.
गणक an arithmetician; accountant १७५९, १९१४.
गणद्रव्य goods belonging to a corporation or tribe ८५९, ६७, ७६.
गणन counting; calculation १७६३.
गणनाकुशल an accountant ७२७.
गणभेद division or difference in a tribe ८६१.
गणमुख्य the head of a tribe or guild ८६१.
गणिका a courtezan १०२५, १८४९.
गणिन् member of a community or tribe ९४४, ५१, ५५.
गणिम anything that is computed ८८६, १७५०.
गण्डिका trunk of a tree १९२४.
गण्डूष N. of a son of *S'ūra* १३७६.
गण्य to be calculated १६७७.
गतप्रत्यागता ( a damsel ) who having gone to

गोत्ररिक्थांशभागिन् inheriting the family name and a share in the property १३२५.
गोत्ररिक्थानुग that which follows the family name and the property १३२७.
गोत्रसंबन्ध a relation bearing a common family name १०१३, १४६४.
गोत्रसाधारण joint estate of the family १५६९, ८६.
गोत्रान्तरप्रविष्ट one who has gone into a family of different nomenclature १३५२, ८४.
गोत्रित्व the state of being a member of a family of specific nomenclature १३५८.
गोत्रिन् belonging to the same family १२६६.
गोधूम wheat १७२३.
गोप a herdsman; cow-herd ६०९, ८३, ९९, ७०८, १४, ८४९, ९०२, ०७, १२, १४, १५, १६, १८, ३७, ४०, ४४, ५१, ६२, ८१, ९८, १००१, १६८५, १९७४.
गोपति the lord of cow-herds ९०२, ०३, २१, १६००.
गोपाल see गोप ६७७, ९०३, २१, २९.
गोपालक see गोप ६८०, ८४३, १०३८, १६८२.
गोपीथ see गोपीथ्य ९०३, ९२, १५९९.
गोपीथ्य granting protection (of the earth) ९८९.
गोप्य (a pledge) to be preserved or kept ६४८, ५०, ६०, ७३१.
गोप्याधि a pledge to be kept and preserved ६३५, ३७, ४२, ५४, ५९, ६०, ७३१.
गोप्रचार driving of the cattle; pasture for cattle ९१२, १२२८.
गोमय cow-dung; full of cows १६७०, ६८, ८९, १७१८, ७१, १९८१.
गोमायुलोक the world of jackals १०२२.
गोमिथुन a bull and cow १०९८, १२८६, १३९०.
गोमिन् the owner of cattle or cows ९१४, १७, १८, १९, १०७३, १२७२.
गोमृग the *Gayal* (a species of ox) १५९४.
गोरक्षक see गोप ८७८.
गोरक्ष्य rearing of cattle ११२७, ३१.
गोरस cow-milk १७४९.
गोलक N. of a tree; a widow's bastard ७१५, १०१४.
गोवध the killing of a cow १३८४, १६०६.
गोवाल a cow's hair ९३४, ५०.
गोविकर्त see गोघातिन् १८९७.
गोवीर्य milk of a cow ८४९.
गोवृष a bull ११८१, १२४३, ४६.
गोशकट a carriage drawn by cattle ११८४.
गोष्ठ cow-station १९४२.
गोस्तेय stealing a cow १५९२.
गोस्वामिन् see गोमिन् ९०७.
गोहर्तृ a cow-stealer १७७०.
गौल्मिक a jeweller १९८३.
गौतम N. of a *Ṛṣi* ८१४, १३४८, १७६२, १९३१.
गौतमकुमार N. of a *Ṛṣi* ७९१.
गौतमी a female descendant of ***Gotama*** १०२७.
गौरव importance; gravity १०३०, १७८५, १९६६, ८५, ८७.
ग्रथिन् false १९७१.
ग्रन्थिभेद a purse-cutter; pick-pocket १२१७ १७१३. ३७, ४८, ६०, ६५, १९२९.
ग्रन्थिभेदक see ग्रन्थिभेद १६११, ६९, ७०, १७६४
ग्रन्थिमोचक see ग्रन्थिभेद १७४६.
ग्रह a vessel used for taking up a portion of fluid (esp. of *Soma*;) recovery; confinement; imprisonment; a planet; taking ७३९, ४७, ८६२, ९२५, ११६१, ६३, १३७९, १७१३, ७५, ८८, १८८७, ८९, ९१, १९२९, ७७.
ग्रहण taking a deposit; capture; completion of studies; receipt; adoption; imprisonment; adlutery ७२९, ८९ ९०, ८१५, २६, ३६, ६३, ९२०, ११३०, १२८३, १३७३, १४७०, १५७५, ८०, १६५१, ८१, ८५, ८६, १७५२, ५४, ९४, १८८८, ९१, १९२५, ४३.
ग्रहीतृ one who receives; a depositary; a hirer; one who adopts a child ६५८ ८०, ७४८, ५१, ५३, ५५, ५६, ८५२, १३५६, ७३.

चक्रीवत् driving a carriage १६६३.
चक्षुस् the eye ९८६, १००२, १२, १२८४, १६०६, ६४, ९३, १८३६, ८५, १९०१, २९, ८४.
चणक chickpea १७२३.
चण्ड cruel १८९०.
चण्डाल a man of the lowest and most despised of the mixed tribes ( born from a *S'ūdra* father and *Brāhmaṇa* mother ) १०२९, ३६, ११०५, ८५, १६१६, १७, ३४, १७५४, ९९, १८२७, १९२२.
चण्डालयोनि *chaṇḍāl's* race १५९२.
चतुःशाल a four-squared building ९५३.
चतुष्टोम a particular sacrifice १८९८.
चतुष्पथ a cross way ९४६, ५९, १२८४, १६९५, १७५४, ६५, १९२९.
चतुष्पद् see चतुष्पद ११८२, १९८४.
चतुष्पद a quadruped ८१३, ७९, ९८, ९२१, ४६, ८६, १००३, ११६६, ८४, १२३०, १६२१, ८४, १७५८.
चतुष्पाद see चतुष्पद १८१९, ३७, १९३३.
चतुर्होतृ N. of a litany १००६.
चतूरात्र lasting for four days १२५८.
चन्दन sandal-wood ६३५, १९६६.
चन्द्र glittering or shining as gold; the moon or its deity ९२२, ८४, १००२, ७७ , १९३०, ६४, ६५, ७०.
चन्द्रमस् the moon or its deity १००६.
चर a spy १७४६.
चरण behaviour; wandering ९२१, १५९२, १६७६, १७१३, १९२२, २९.
चरथ going; wandering ( cattle ) ९२२.
चरित evidence of the witness; conduct; behaviour ६५१, १२६६, १३५२, ८४, १६९५, १८४४, १९२९, ७४.
चरित्र character; conduct; nature ६११, १०४६, १९३६, ४२.
चरित्रबन्धक a friendly pledge; merit as a pledge; a pledge received in mutual confidence of good behaviour ( चरित्र ) [ where the pledge is not compatible with the value of the lent amount ] ६४५.
चरु an oblation offered to gods or manes ९९१, १३६४, १८९७, १९२५.
चर्मन् hide; skin ६०९, १०, २६, ३०, ३३, ७८७, ८९९, ९०९, १६७७, १७३३, ४५ ४९, १८०६, १९३८, ७६.
चर्मभाण्ड a leather bag or vessel १६१४, ३०, ७२.
चलन moving on feet (i. e. beasts ) १९१६.
चलस्वभावा ( a woman ) of unsteady or want on nature १०३२.
चला moving; changing ( boundary ) ७६१.
चलित turned off from १९३२.
चाट a cheat; rogue ७१५, ८७२, १९३२.
चाण्डाल see चण्डाल ८३९, १२८७, १६०३, १८६१.
चाण्डालदासता the state of being a slave of a *Chaṇḍāla* ८३९.
चातुर्वर्ण्यपुत्राः sons begotten in the four castes १२४५.
चातुर्वार्षिक lasting for four years ९३०.
चातुर्वैद्य familiar with the four *vedas* ९४...
चान्द्रव्रतिक one who takes upon himself the office of the moon १९३०.
चान्द्रायण (व्रत) the penance or expiation regulated by moon १०२२, ५८, १६०६, १८४६.
चार a spy; conduct; course; wandering ८६१, १६३९, ८२, ९०, ९३, ९५, १७४६, ५४, ५५, ६३, १९२९, ३०, ३२, ४१, ७७, ७८.
चारक a prison; herdsman ७२८, ९१७, १६९०, ९२.
चारण a wandering actor or singer ७१५, १०३८, १६७६, ७९, १८४५, ५४.
चारिणी adulterous ( woman ) १९८६.
चारित्र्य behaviour; conduct १०२५, २६, ११९४.
चार्मिक leathern ७८७, १६३०, १८०६, १९०३.
चिकितुष learned ११५८.
चिकित्सक a physician ८४३, १६७९, ९४, ९९, १७७२, १९२४, २९.
चिकित्स्य curable १०९४.

जीविन् a living being; subsisting ७८७, ९४४, १७५८.

जुङ्गितोपगता co-habited with a member of degraded caste १०२१, ११११.

जूर्यन्ती becoming old ९६५.

जेतृ victorious; gainer १९०४, ०८, १३, १४.

जेन्य genuine १२५७.

जैमिनी N. of a sage ७६४.

जैह्म see जैह्म्य ८८८.

जैह्म्य crookedness; falsehood ७९४, ८४९.

ज्ञातसार ( merchandise ) of known value १६२०.

ज्ञाति kinsman; community; relation; caste ६०६, २७, ६७, ७९, ८२, ८६, ८०३, १७, ६०, ९६, ९८, ९९, ९००, ०१, २८, ८३, ९८, १००६, ०८, ३८, ३९, ८३, ११०२, ४२, १२५२, १३५२, ६३, ७३, ९२, १४३०, ५४, ७१, १५१८, ७५, ७९, ८९, १६२७, १७५५, १८४०, ४१, ६५, १९२९.

ज्ञातिकार्य duty of a kinsman १३९३.

ज्ञातिकुल a group of kinsmen १०३६, ३८.

ज्ञातिजन a relative १०७७.

ज्ञातिधन wealth received from relation १४१५.

ज्ञातिरेतस् a particular son; begotten by a kinsman ( other than husband ) १२८४.

ज्ञातिसंबन्ध a relation १०३२.

ज्ञातृ one who knows; a witness ७६७, ९४१, ४६, ५१.

ज्ञान knowledge; consciousness ७५९, ६९, ८६१, ९३४, १०७१, ११०९, ९३, १२२५, १४०२, १५६९, १६३०, १८०६, १९१०, १३, ६६, ७२, ७४.

ज्यायस् elder ११५९, ९०, ९९, १२३७, ४९, १३४६, १८९१, ९३.

ज्येष्ठ most excellent; eldest ६९५, ९३३, १००५, १०, ६४, ११४६, ४७, ४९, ५९, ६२, ६४, ६५, ६६, ६८, ७०, ८१, ८३, ८४, ८५, ८६, ८९, ९१, ९२, ९३, ९४, ९५, ९६, ९७, ९८, ९९, १२०१, ०८, १०, २४, ३३, ३४, ३६, ३८, ५४, ६०, ६६, ८३, १३२९, ५२, ५५, ८७, ९१, ९७, ९८, १४०१, २१, २२, ६५, १५४३, ८७, ८८, १९७८, ८१, ८२, ८३, ८४, ८७.

ज्येष्ठता seniority १२३६, ९७, १३९२.

ज्येष्ठपुत्र eldest son १२८१, १३२९.

ज्येष्ठभार्या wife of an elder brother ११०१, १३१६.

ज्येष्ठभाव primogenitureship १२३४.

ज्येष्ठवर a chief wooer १०००.

ज्येष्ठवृत्ति behaving like the eldest brother ११९८.

ज्येष्ठांश additional share of the eldest son; the best share ११८३, ८४, ८५, १२३८, ३९, १३७२, ८४, ९१, ९२, १९८८.

ज्येष्ठा eldest १०२३, ९१, ११०९, १२३५, ४४, ७१, १५२६, २७.

ज्येष्ठावाप्य to be received by the eldest १३९२.

ज्यैष्ठिनेय a son of the father's first wife १००५, १०, १२३३.

ज्यैष्ठ्य the right of primogenitureship; the eldest son-ship ६९५, ८६२, १००२, ५३, ९४, ११०९, १२३६, १३५१, १५४१, ४३, ५७.

ज्योतिर्ज्ञान knowledge of the heavenly bodies १७५९.

झष a large fish ९६१.

टङ्क a chisel १६८०.

डामरिक a particular lower caste; a man dead in epidemic (*Shāmshāstri*) १६९०.

डिड्डिक a small mouse १६०६.

डेरिका a musk rat १६०६.

तक्र butter-milk १६७०, १७१८.

तक्षन् a carpenter ११२०.

तटाक a tank ८९६, ९२६, २८, ३०, १९२४.

तटाकवामन emptying a tank of its water ९३०.

तडाग a tank ८७३, ९३४, ३७, ३९, ४७, ४८, ५०, ५५, ५८, ५९, ६०, ६२, १६१३, २९, ३०, ५२, १९२९, ७६.

तण्डुल rice १५२०, १९६७, ६८, ८७.

तत a father ९२२, ११२१.

तत्त्वदार्शिन् perceiving truth; a philosopher

secretly going about १८४०.

तिल sesamum १००१, १११८, १३९०, १५२४, १९३८; ३९, ६७.

तीक्ष्ण sharp; fiery ८६२, ६३, १०३३, १४६४, १६००, ६४, १७११, ६५, १९२९, ३९.

तीर a bank ९५२, १९२७, ४५.

तीर्थ a passage for landing into a river; place of pilgrimage; woman's courses; intercourse ८१४, ९५९, ८१, १००२, ३०, ४०, १११२, १८५१, ८०, १९२४.

तीर्थगमन visiting a place of pilgrimage १०२१, ३८.

तीर्थगूहन concealing the fact of being in menses १०३४.

तीर्थघात violation of sacred institutions १६१७.

तीर्थसमवाय ( of many wives ) being in menses at one and the same time १०३४.

तीर्थसेवा pilgrimage १११९.

तीर्थागमन not having intercourse while in menses १०३४.

तीर्थानुसारिन् a pilgrim १६११, १९४४.

तीर्थोपरोध neglect of intercourse १०४०.

तीव्र strong; severe १११५, १४०१, १६४४, १७८५, ८९, ९१.

तीव्रदण्ड heavy punishment १६४४, १९७०.

तुग्र N. of an enemy of *Indra* ११६०.

तुच्छश्रावण a false claim or suit ६११.

तुज frightful ( to the enemy ) ११५९.

तुन्नवाय a tailor १६७४.

तुर quick; prompt ९०२, १८९९.

तुर्व N. of a hero and ancestor of the *Āryan* race ८१०.

तुर्वसु N. of a son of *yayāti* १३९१.

तुला a balance ६०९, १६७३, ७७, ७८, १७०७, २८, २९, ५०, ६१, ६३, १९६५, ६६, ६७.

तुलामान a balance १६११, १३, ६९, ७१, ७७, १९२७.

तुलित weighed १९६६.

तुलिम weighable ८८६.

तुल्य similar; equal ७३४, ६३, ८६२, ९००, १०३८, ११७५, ८४, १२३८, ४५, ७३, ८७, ८८, १३४८, ५०, १५११, २५, १६२१, ८५, ८७, १७७०, ७१, ७२, ७८, ८६, ९२, १८२७, ४८, ४९, ६६, ६८.

तुल्यवध murder of a person ( equal in caste) १६०६.

तुल्यांश taking equal share १२४५.

तुष the chaff of grain ९३४, ४०, ४४, ५०, ६१, ६२.

तुष्टि satisfaction; compensation ७१३, १६३०, १८०६, ३३.

तूल panicle of a plant or flower ६०८, १९३८.

तृण grass ६०९, ३०, ८५१, ५२, ९१२, १६०९, ५७, ६१, ७०, ७२, १७१८, २२, ४४, ४५, ४९, ६०, ६६, ९८, १८९०, १९३८, ८१.

तृतीयिन् entitled to a third part or share ७७५.

तेजस् splendour; lustre; power ९०३, १२६७, १५९४, १६००, ०५, १२, १९३०, ३१, ३६, ४०, ७०.

तैमात N. of a snake; a species of snake १४६४.

तैल oil ६२६, ३२, ३५, ११०१, १३४८, १६१५, ७०, ८५, १७१८, ४९, ७०, ७६, ८८, १८९१, १९६६.

तोक an offspring १२५५.

तोय water ८०७, ९३०, ४६, १९२७, ३०, ४२, ४६.

तोरण (गृह) arched doorway of a house ९२६, १९१४.

त्यक्त abandoned ७६७, १०९५, १११०, १८, १९, १३०९, १६४८, १८५०.

त्यक्तदार one who has abandoned his wife १८८१, ८८.

त्यक्तप्रव्रज्य one who has abandoned the life of a religious mendicant ८१६.

त्यक्तबान्धव one who has forsaken his relatives १०९८.

त्याग forsaking; abandonment ७५५, ७१, ८३,

१००७.

दुःख trouble; pain १११०, १५, १६१५, ५१, १७९६, ९९, १८००, ०५, १६, १९, २१, २२, ३४, ३५, १९३०, ६४, ७४, ७८, ८१, ८५.

दुःषन्त N. of a king ११८५.

दुकूल fine cloth १६७३.

दुग्ध milk ९०५.

दुच्छुना misfortune; calamity ( personified ) १६००, १८३९.

दुरित sin ६०५, ९९९, १६०१, ०२, १८४५.

दुरेव evil-doer; criminal ९७०.

दुरोकशोचिस् glowing unpleasantly ( too bright or hot ) ९६३.

दुरोण home; abode ९६५, ८१.

दुर्ग a fortress ७३५, १६१२, १७, ८५, ११८१, २४, ४२, ८५.

दुर्गनिवासिन् living in a fort ८७४.

दुर्गनिवेश construction of a fort ९३१.

दुर्गराष्ट्रकोपक one who foments discontent among the people living in a fort १६१९.

दुर्जय a particular name १२८४.

दुर्दृष्ट wrongly decided १९३३.

दुर्बल weak १६८६, १९३६, ३९.

दुर्ब्राह्मण a bad *Brāhmaṇa* १२८५.

दुर्भिक्ष famine; privation ८३१, १११०, १४३०, ४७, १८५०, १९२४.

दुर्य home ९८१, १००१.

दुर्योधन N. of a king ११८४.

दुर्वासस् N. of a sage १२८५.

दुर्विभक्त divided illegally or badly १५७१, ७४.

दुश्चर्मन् afflicted with skin-disease ९९२, १५९९.

दुष्कुल a low-family १०२६.

दुष्कृत wrongly or wickedly done; wicked deed १००२, ०४, ११११, १६०३, ६८, ७१, १९७७, ८४.

दुष्क्रीत badly or dearly bought; a foolish bargain ८९३.

दुष्ट defective; blemish; wicked; severe ८८५, ९७, ९५६, १०१४, ३२, ९७, १११८, १६०९, १७५४, ६६, ८७, ९९, १८४३, ६१, ६९, ९०, १७६०, १९३०, ७०, ७५.

दुष्यन्त N. of a king १२८८.

दुहितृ a daughter ७११, ८०६, १२, ६३, ९८१, ९५, १००३, ०४, ०५, ०६, ०७, ०९, १८, ३४, ४३, १२५५, ६०, ६२, ६८, ७३, ८३, ८६, ८८, ९४, १३३८, ७४, ७६, ८५, १४०७, १५, १६, २३, २५, २७, ३०, ३७ ४१, ४५, ४९, ५०, ६२, ६३, ६६, ७३, ७४, ७९, १५११, १२, १५, २१, २४, २५, २६, २७, २९, ५४, १६८०, १८३६, ३७, ४०, ४१, ४९, ५०, ८२, ९०, १९१९, ७७, ७८, ७९, ८५, ८६, ८८.

दुहितृगामि ( property ) inheritable by daughter १४२८, ७०.

दुहितृदायाद्य daughter's property १२५५.

दुहितृविक्रय sale of a daughter १०४३, ४४.

दूत a messenger ११३०, १६६८, १८३८, ८७.

दूती a female messenger १८८१, ८५, ८९.

दूत्य work of a messenger ११४३.

दूरबहिष्कृत ex-communicated ८३१.

दूरेबान्धव a distant relative १२७३.

दूर्वा a kind of grass ११६७.

दूषक offender; causing dissension; one who spoils १६१२, [illegible], १७६६, १८४७.

दूषण fault; offence; spoiling ११०६, ११, १६१३, ३१, १७८९, १८७६, १९२९.

दूषमाण one who defiles १८९२.

दूषयितृ see दूषक १६१०.

दूषित blamed; spoiled १०३१, ८४, ११०३, १८९१, १९४३.

दृति a leather bag १९२४.

दृष्ट ordained; mentioned; ascertained; applied; visible ६६९, ७१, ७०९, ४९, ८३, ८०७, २५, १०५४, ७७, १११०, १४, १२४४, १६४३, ८६, ८७, १७५३, १९३३, ६२, ७८.

दृष्टलिङ्ग an eyewitness १०३६.

दृष्टान्त standard; example; precedent; promised by *Shāstra* १२४३, ४४, १७९५, १९४१.

दृष्टान्तोपगत promised by *Shāstra*, ordained in the *Veda* १२८७.

१०२७.

द्रुम a tree ९४०, ४४, ६२, १६०९, ९२, १७९८, १८००, २२, २३, १९२९.

द्रुह a foe १५९७.

द्रुह्यु N. of a son of *yayāti* १३९१.

द्रोण a wooden vessel ९२३, १६२१, ७७.

द्रोणमुखपथ road to the end of valley ९३२.

द्रोह enmity ७५१, ८५४, १०४९, १७६१, ७०, १८९३.

द्रौपदी N. of the wife of *pāṇḍavas* ८१९, १०२७.

द्वन्द्वयुद्ध a duel १९०३, १३.

द्वादशवार्षिकी twelve years old १०४३.

द्वापर N. of the third age of the world ११०९, १८९७, ९८, १९३०.

द्वार a gate ७२५, ८२९, ६३, ९२७, ११११, १६३०, ८१, ८५, १९१४, ३०, ६५.

द्विगति having two ways १९६३.

द्विगुण double; twofold ६०७, ०८, ०९, १०, ११, २१, २६, ३०, ३१, ३२, ३५, ३६, ४३, ४५, ४७, ५४, ५६, ५८, ६१, ६२, ६७; ७०, ७२, ७७, ७१५, २०, २६, २९, ३१, ३२, ५४, ५६, ६५, ६८, ८९, ८०३, ४३, ४६, ४९, ५०, ५१, ५३, ५५, ६१, ७९, ८५, ८७, ८८, ८९, ९३, ९४, ९००, ०५, ०६, १३, १७, २१, ३०, ५७, १०२४, ३५, ३६, ३७, ३९, ११००, १२, १२४३, १६०९, १२, १४, १७, २१, २८, ३३, ४६, ५४, ५७, ७०, ७३, ७४, ७५, ७७, ८९, ९०, १७१८, २१, ५७, ५८, ५९, ६०, ६२, ६३, ६५, ६६, ६७, ७०, ७२, ७४, ८०, ८४, ८७, ८९, ९०, ९२, ९७, ९८, ९९, १८००, १४, १६, १८, २०, २२, २३, ३०, ३१, ३२, ४८, ४९, ५०, ६१, ६८, ७९, १९०४, २१, २७, ३३, ४३, ४४, ६७, ६८, ६९, ७०, ७१, ७५, ७६, ७८.

द्विगुणाधि pledge equal to double the amount of debt ६३७.

द्विगुणीभूत that which has become double ६४७, ५२, ५८, ७२६, ३२.

द्विगोत्र belonging to two families; having two family names १२६९, ८८.

द्विज a twice-born (the three main castes) ७०४, ८९, ८१९, २०, ३९, ९१२, १०२३, ३३, ५३, ६८, १११०, १२४४, ८४, १३५५, ६३, ७७, १६२८, ३६, ४८, ५५, १७०२, २३, ८८, १८३५, ८४, ९०, १९२७, ३२, ४०, ४१, ४२, ४३, ५६, ६०, ६२, ६८, ६९, ७६.

द्विजकर्म duties of a twice-born १०१६.

द्विजन्मज a twice-born; bird ८४०.

द्विजन्मन् vide द्विज ८१९, ३९, ११०९, १२३६, ४९, १३८४, १९२७.

द्विजलिङ्गिन् wearing the marks of a twice-born १९०६.

द्विजस्त्री wife of a twice-born १११९.

द्विजाग्र्य first among the twice-born; a *Brāhmaṇa* १६५५.

द्विजाति see द्विज ७३१, ८४, ८०३, १८, ३७, १०२३, ६६, ७५, १२४०, ४३, ५१, ५२, ८५, १५८८, १६२३, १७०१, ६८, ७४, ७५, ८७, ८८, ९४, १८३१, ३५, १९२६, ३१, ७०, ८५,

द्विजातिप्रवर see द्विजाग्र्य १२७०.

द्विजातिशुश्रूषा service of a twice-born man ८१६.

द्विजानि having two wives ९८९.

द्विजोत्तम a *Brāhmaṇa* ८३६, १०२८, १३६४, १९६२, ६९.

द्विट् an enemy ६००, १८३९, १९३६.

द्विट्सेविन् serving an enemy; a traitor १६३२.

द्विदार having two wives १११५.

द्विदेवत्या relating or belonging to two deities १५९६.

द्विपटवान weaving cloth with double fibre १६७३.

द्विपद् see द्विपद १९३६, ८४.

द्विपद biped; man ८१३, ७९, ९४, ९८, ९८६, १००३, ११६६, ८३, १५८७, १७५८, १९८८.

द्विपात् biped १८३७.

निर्धमन banishment १६०६.
निर्धूत ex-communicated ८०४.
निर्नमस्कार not to be saluted; offering no homage ( e. g. to the gods ) १०७५, १६२७.
निर्बन्धु having no relative ११००.
निर्बीज childless १५५२, ६०.
निर्भक्त excluded from participation ११४४.
निर्भाज्य to be excluded from participation १२१२.
निर्मन्थ्य to be stirred by friction (as fire) १०१९.
निर्मर्यादा unrestrained १४२८.
निर्यास juice or exudation of trees or plants १५९८.
निर्यूह a peg projecting from a wall ९५३.
निर्वाप offering १२६५.
निर्वास ex-communication; banishment ८७३, १६४३, ४४.
निर्वास्य to be banished ८७४, १४००, ०४, १६९८, १७५९, ६०, ९६, १८०२, २८, १९०९, १४, २९.
निर्विषय to be banished from the country or realm १६२०, २८, ५२, ८७.
निर्विष्ट gained by labour ११२३.
निर्वीर्य impotent; powerless ९९५, १२५८.
निर्वेश wages; remuneration ७८७, ९०.
निर्वेष penance ( prescribed ) १८४४, १९१८.
निर्हार setting aside or accumulation of a private store; selling; extracting from १४३२, १६६८, ७१.
निवार्य to be restrained ११०६.
निवास habitation १६१६, ८५, ८६. १७५३, ६४, १८४६, १९२२, ४२.
निविष्ट married; founded १४३०, १९२९.
निविष्टदेश one who has cultivated ( a country ) १६९२.
निवृत्तवृद्धिक ( debt ) free from interest ६११, ३८.
निवृत्ति cassation; disappearance ७६७, १०१३, १२०१; १६१५, ४६, १७९५, १८६८, १९७४.
निवेश dwelling place; abode; entrance ९५९, १०१९, ५७, १२७३, १९७९.
निवेशकाल the time of foundation; the occasion of marriage ९४९, ५२, १४३०.
निवेशसमय see निवेशकाल ९५९.
निशा night १७६१, १८३२, १९२४.
निश्चय fixed opinion; a settled rule ६६०, ७६, ७१५, ८०४, ८९, ९४४, १०३३, १११०, ११, १२८७, १५८१, १६३४, १७७९, १९१५, ४२, ६६, ६९, ७८.
निश्रेणि a ladder ९२७.
निषाद an out-caste ( esp. the son of a *Brăhamaṇa* by a *S'ūdra* woman ) ११०४, ०५. १२५१, ५२, ७०, ७१, ८८.
निषिद्ध prohibited ११०९, १६११, १७२३, १८५४, १९१३.
निषूदन killing; slaughter १६५३.
निषेद्धव्य see निषेध्य ७२४.
निषेध्य to be hindered or prohibited ९४२.
निषेध prohibition १८७२.
निष्क a particular coin; a golden ornament for the neck or breast ८१४, ६४, ७३, ११२१, १८०३, २९, ४०, १९६७, ६८.
निष्कर exempt from tax १९४४.
निष्कालक tonsured १६६८.
निष्काश egress; gate ९५८.
निष्कासिनी not restrained by her master १८८३.
निष्किञ्चन poor; having nothing १२०७.
निष्किनी wearing an ornament १००९.
निष्कुट pleasure-grove ( near a house ) ( *Ganapatis'ăstri* ); mountainous tract ( *Shăms'ăstri* ) १६८२.
निष्कुला one whose family is extinct १९५१, ६२.
निष्कृत a fixed place १८९४.
निष्कृति compensation; expiation; escaping ६४०, ७९५, १०१६, २२, ३०, ३१, ५० १११८, १६५१, १८३१, ८७, १९४१.

नैवेशनिक marriage cost or expenditure; relating to marriage १२००, १४१७, १९५०.

नैवेशिक reunited; having common habitation or house १५६१.

नैर्हारिक deduction ( in the shape of taxes) ? १६६८.

नैषादी belonging to a *Nishāda* ११८५.

नौ a ship; boat ७६४, १६१७, १८३६, १९२४, २७, ४६.

नौका see नौ ७६४.

नौयायिन् a boat-passanger १९२७, ४६.

नौवत् a boat-man १६६३.

न्यक्ता anointed १००२.

न्यग्रोध the Indian fig–tree ९३३.

न्यङ्ग invective; insinuation; sarcastic language ८६२, १७८४, ८५, ९.१, १७७०.

न्ययन entry; gathering place; receptacle ९०२.

न्यस्त deposited ७४२.

न्यस्तिका a kind of plant ९९७.

न्याय law; reason; rule; justice ७२७, ३२, ८६३, ९५२, १०९७, १२०१, १३९०, १७०१, १९१६, ३३, ४३, ६९, ७०.

न्यायतत्त्वज्ञ expert in jurisprudence; lawyer ७३०.

न्यायवादिन् claiming judicial investigation ७२८.

न्यायविद् acquainted with the interpretation of law ११६६.

न्यायवृत्त well-behaved ११९३, १४७६.

न्यायशास्त्र the science of rules of interpretation; law-book १९४२.

न्यायस्थान seat of justice १७६४, १९४२.

न्यायापेत unjust १९३५.

न्यायोपगता ( a woman ) justly taken under protection; ( a woman ) who according to the law goes to her brother-in-law १४३०.

न्याय्य reasonable; lawful; proper; customary १११८, १३९३, १९४२.

न्यास a deposit ६२७, ५१, ७३४, ३९, ४५, ४६, ४९, ५०, ५१, ५४, ५५, ६४, ६८, ८०२, ०७, १०२९, ६९, १५७३, ८१, १९७०, ७१.

न्यासदोष defect of a deposit ७५५.

न्यासद्रव्य deposited sum property or article ७५१, ५२.

न्यासधारिन् the holder of a deposit ७४४.

न्यून less; euphem; vulva ७६५, ८४, ८५, ९०, ९९४, ११६९, ७२, ७३, १६७२, १७५०, ६७, ७९, ८९, ९०.

न्योचनी a kind of ornament ८११, १०००.

पक्थ the day of cooking the oblation ११६०.

पक्वान्न dainty; cooked food १६१४, ७०, १७१८, ५०.

पक्ष the half of a lunar month; wing; side; the shoulder ८६०, ६२, ६३, ९८, ९९८, १०३६, १६१५, १८, १७०७, १९१४, २७.

पक्षद्वयावसान extinction of the two wings ( families ) १५५५.

पक्षपण्ड ( an impotent ) capable of approaching a woman only once in every half month ( पक्ष ) १०९४, ९५.

पक्षिन् a bird ८४०, १६०९, १७, ७०, १७१८, ९७, १८१०, ३४, १९१४, २५.

पङ्क्ति company (e. g. of persons eating together thereby denoting their one caste) ८७६, १५९६, १६०१, ०३.

पङ्क्त्यर्हक eligible for assembly ( i. e. fit for eating together ) १०१७.

पङ्गु lame १३९८, १४०१.

पच्छेद cutting of a foot १७६०.

पञ्चकुली a group of five house-holds ८६३.

पञ्चगव्य the five products of the cow ( a purifactory drink) ७९४.

पञ्चग्रामिन् a group of five villages ९२९, १६२०, १७४३.

पञ्चचूडा N. of an *Apsaras* १०३२.

पञ्चबन्ध five-times ( the value of the pledge)

परस्वत्व ownership of another person ७९४.
परस्वादायिन् taking or seizing another's property १२८६, १६३१.
पराक a particular expiatory rite १८८७.
पराची bashful; shy ( woman ) ९९१, १५९९.
पराजय defeat १८९७, १९०४, ११, १४.
पराजित defeated ७२४, ८१८, ४०, १९०३, ०४, ३३, ६९.
पराधीनत्व obedience; dependence १०३१.
पराभव defeat ८६१.
परायण final end; last resort ८५१, ९०२, १०२६, ११११, १५१२, २४.
परार्घ्य very valuable १६७४.
परावत् a distant place ९९०, ११५९.
परावृक्त rejected; cast off १९७९.
परावृज् an exile ९६९.
परावृत्ति returning, restoration of property; exchange ८९१.
परावृद्धि highest rate of interest ६१०.
परिक्रय purchase ७७०.
परिक्रीत the son purchased [ ( रेतो-मूल्य-दानेन तस्यामेव ( भार्यायां ) जनितः ) according to नीलकण्ठ ] १२८४, ८८.
परिक्लेश hardship; torture १६१८, ५२, ९०.
परिक्षीण vanished ७२३, १५५५, १९३१, ७६.
परिखा a trench ९६२, १६३०, १९३०.
परिगधिता surrounded; embraced ९६६.
परिग्रह acceptance; wife; marriage; seizure; servant ७०३, ३४, १०६३, ९३, ११२२, १२८२, १३७१, ७२, ८३, १४०४, १५८०, १६६७, ८१, ८७, १७२४, ५२, १८९१, १९२२, २४, ३६.
परिग्रहीतृ a husband; an adoptive father १०४०, १३८४.
परिचर a servant ८१४, १९८६.
परिचरन्ती attending १११९.
परिचर्या service ८१५, १६, १८, १९.
परिचारक a servant; attendant ८१७, १९, ३८, ४३, १६१५, ८५, १८५०.
परिचारिन् a servant ८१८.
परिच्छद furniture, attendants etc.; goods and chattles; personal property १०५६, १३९३, १६१६, २७, ९८, १९२७, ३९, ४५.
परिजन servant; attendant; subordinate person १०३२.
परिज्ञातृ a judge १९३२.
परिणीता married ८१६, १११७.
परित्यक्त ( क्ता ) abandoned १२७९, १३०८.
परित्यक्तव्या to be allowed to go; to be abandoned १११७.
परित्यक्तृ one who abandons ११११.
परित्याग the act of abandoning; deserting; ८७४, ९७, १०१६, ७५, १३८४, ८७.
परित्याज्य to be abandoned १०२१, ५१, ११११, १२, १३९३, १९७८, ८५.
परित्राण protection १६२३.
परिधान a garment १३८५.
परिधानीया a particular concluding verse १००५.
परिपन्थिन् an adversary १५१४, २६.
परिपाण protection; guarding १६०१, १२.
परिपाल्य to be kept or protected ६५१, ७५०.
परिपूत husked; winnowed १७१९, ६६.
परिप्लुत overwhelmed ९१५.
परिभाण्ड articles of household use ११६५, १४१५.
परिभाषण admonition; reprimand ९३९, १६१९, ३१, १९२९.
परिभाषित stipulated ( fee ); contracted ८३५.
परिभुक्त used up ८९४.
परिभोग possession १६८४.
परिमाणी a particular measure १६७७.
परिरम्भण embrace १८९१.
परिवर्तन exchange; barter; return ७३५, ८९१, ९७, ९९, ९०१, २५, २६, १६७३, ७४, १७६४.
परिवाद reproach १०२६, ११८४, १३९०.
परिवाप see परिभाण्ड १०३५, ११८४, १३९१.
परिवार्य roof of a house १६२०.
परिवाह a water course or drain to carry off excess of waters ९३०.
परिवित्त elder brother married after his

पृथक्पिण्ड separate offering of *S'rāddha* oblation १३७४, १५८८.

पृथक्श्राद्ध separate performance of *S'rāddha* १५८८.

पृथक्स्थ living separately १५६०.

पृथक्स्थानस्थित living in separate places १५७५.

पृथक्स्थित see पृथक्स्थ १५६०.

पृथग्गोत्र belonging to different families १३७४.

पृथग्ग्राम living in different towns १५८९.

पृथग्धन separate property १५८१.

पृथग्धर्म (performing) separate religious duties १५८१, ८२, ८३.

पृथग्भूत separated ७८८, १९८३.

पृथग्वंशकर founder of a different family १३७४.

पृथा N. of a daughter of the king *S'ūra* १२८४, १३७६, १९८६.

पृथिवी the earth ७९१, ९२, ८६०, ९२४, १००१, ०४, ३१, ७२, ११२२, ४३, ४४, १२५९, १५९८, १६०३, २७, १८३६, ३९, १९३०, ३६, ६५, ७९, ८०, ८४, ८६.

पृथिवीक्षित् a king १९०५.

पृथिवीपति a lord of the earth; king ८६४, ९११, १३७७, ९१, १६५३, १७२७, १९३६, ५२, ६२.

पृथिवीपाल a king १९३६.

पृथिवीश see पृथिवीपति १३७३.

पृथीवैन्य N. of a king ९२४.

पृथु N. of a king १०७२.

पृथुकीर्ति N. of a daughter of the king *S'ūra* १३७६.

पृथुष्टु having a broad tuft of hair ९८७.

पृदाकू N. of a snake १६००.

पृष्ठ N. of a particular arrangement of *Sāmans*; the back side (of a document) ६८९, ११२०, ४४, ५९, १८१२, १९७४.

पेपिशाना shining ९९३.

पेशल decorated १००७.

पेशस्वती decorated ९९५.

पैजवन a patronymic of *Sudas* and several other men ८११.

पैतामह belonging to a grandfather ६७६, ९१, ७०७, ०९, १०, ८०७, ११७३, ७५, १२२१, ३०, १३८९, १५६९, ८९.

पैतृक belonging to a father; paternal ६७२, ७५, ७९, ८५, ९५, ७१०, १५, ८२१, १११६, २६, ४२, ४९, ८०, ९४, ९५, १२०५, १३१९, २०, २१, २९, ३२, ३३, ४०, ८०, १३२२, २४, ९६, १४०२, २२, ५९, ६२, ७३, १५२७, ८२, ८४, ८६, ८७, ८८, १९२८, ५०, ८८.

पैतृकधन paternal property ११२५.

पैतृमेध sacrifice to the *Pitṛs* १३५५.

पैतृष्वसेय a son of the father's sister १९८६.

पैत्र्य relating or belonging to a father १२४१.

पैशाच the eighth or lowest form of marriage १०३४, ९६, ९८, १४३०.

पैशुन(न्य) see पिशुन १०२९, १११९, १६५५.

पोगण्ड not full grown or adult; young ६९५, ७४९, ९५०.

पोष nourishment; prosperity १८३७, ३८, १९८५.

पोषण nourishment १०२९.

पोषणीया see पोष्य १६१२.

पोषिता nourished; maintained १३७६.

पोष्य to be nourished or protected; causing prosperity ८५६, १००१.

पौंश्चल्य harlotry १०४८.

पौगण्ड adult; young १२००.

पौतवापचार fraud in weights and measures १६७७.

पौतुद्रव relating to the tree *Putudrava* १६०२.

पौत्र a grandson ६६२, ७२, ७५, ७६, ७८, ७९, ८४, ९१, ७०९, १५, ८०७, १०००, ३१, ७९, ११९९, १२५५, ६२, ६४, ६५, ७१, ७२, ७९, ८१, ८२, ८९, ९७, १३००, ०२, ४८, ५०, ५५, ५६, १४६७, ६९, ७०, ७१, ७४, १५७०, ८९, १९८६.

प्रतिषेद्धव्य to be forbidden ९०६.

प्रतिषेध obstruction; prohibition १०३७, ३८, १६१३, २०, ९५, १८४१, ७२, १९२४, २९.

प्रतिष्ठमान ( a debtor ) going out ७१६.

प्रतिष्ठा stability ८१४, १८९६, १९८५.

प्रतिसंस्कार reestablishment; repairing १६१३.

प्रतीकार requital; counteraction ९०६, १४३०, १६८२, १८००, १९२४, २५, ७३.

प्रतीघात prevention; breach १९०६, ३३.

प्रतीमान see प्रतिमान १६७१, १७०७, ६१, १९२७.

प्रतीची west १२०१, ५४.

प्रत्ता offered; presented; married ११५२, १४६३.

प्रत्यक्ष visible; direct knowledge ९१७, १६७२, १७०७, १९२७, ६६, ८३.

प्रत्यनन्तर next; adjoining ७४०, ४७, ५१.

प्रत्यभिलेख्यविरोध dispute or difference regarding the documentary evidence ९२५.

प्रत्यय evidence; ( surety for ) assurance; ascertainment; understanding; dependence ६३८, ६१, ६२, ६५, ६९, ७१, ७३, ७६, ७७, ९९, ७४७, ७२, ८६३, ९६, ९२५, ४५, १२६०, १७६६, १९१४, ६५.

प्रत्ययाधि a kind of deposit ( which prevents the accruing of interest and diminishes the principal ) ६५८, ६०, ६१.

प्रत्ययितपुरुष a reliable man १६७१.

प्रत्यर्थिन् a defendant ९४४.

प्रत्यवाय sin १२६७, १६०५.

प्रत्यादान revoking १९०४.

प्रत्यादेश determent १७२०.

प्रत्यापत्ति confession १६४४.

प्रथम first १३०२, १६१७, ३६, ४२, ४३, ४५, ६९, ७४, ९९, १७१३, ३२, ४८, ४९, ७०, ८२, ८९, ९०, १८१५, २०, ३०, ३१, ३८, ८५, ८९, ९५, ९७, १९००, २९, ३२, ३३, ३६, ७०, ८३.

प्रथमसाहस first amercement ७९४, ९४६, १६१०, ३१, ५४, १७८२, ९०, ९६, १८९२, १९३०.

प्रदर्शन ( surety for ) appearance; showing ६३१, ८७७.

प्रदातृ a creditor; giver ६११, ८०८, ८१, ११९९, १३५५, १६१०, १७९०, १९७३, ८६.

प्रदान a gift; donation; giving; granting ६३८, ५४, ७९४, ८०७, ०८, ६१, ९८, १०११, ५९, ८३, १२२२, ७३, १३५६, ८४, ८५, ९२, १९३३.

प्रदुष्ट corrupt; imitated; wicked; sinful८८८, ९५५, १८८८.

प्रदेष्टृ one who pronounces judgement १६१८, ७३, ७९, ८५, ८८.

प्रद्राणक very needy or poor १०१०.

प्रधन property or wealth in general ६५७.

प्रधना wealthy ७११.

प्रधर्षक violating (the wife of another) १६१९.

प्रधान the most important or essential; principal ८६०, ६१, ११८४, १२४३, ४६, १३१७, १९७७.

प्रधानांश a principal share ११८४, १२३४.

प्रनष्ट lost ९२०, २९, १६८४, १७५३, १९५८, ८२.

प्रनष्टस्वामिक holding for which no claimant is forthcoming ९२९, १९४७, ४९, ५३, ६२.

प्रनष्टाधिगत ( property ) lost and which is afterwords found १९५४, ५८.

प्रपद the fore part of the foot ९९९.

प्रपन्न acknowledged ( as a claim ) ७२१.

प्रपलायिन् running away ७८७.

प्रपा spring; a place for watering cattle ८७३, ९०३, ९८, १००२, १६९५, १७१८, ५४, १९२९, ४४.

प्रपितामह paternal great grandfather १२८१, १३५०, ५१, १४६७, १५३०, १९८२.

प्रपितामहसंतति paternal-great-grandfather's progeny १५३०.

प्रपौत्र a great-grand son १०७९, १४६७.

प्रफर्वी a wanton woman ९८२.

प्रभक्षित used up ( eaten ) ७५४.

प्रभर्तव्य to be supported or nourished १४००.

प्रभव source; prominent १०२४, १७७५, ८८, १९८५.

प्रभविष्णु a lord; ruler ८०५, १४५८.

१६१९, १८८८.

प्रवेश entrance ६३६, ९३२, १६१७, २०, ८५, ८६, १८००, ४७, ४८, १९३६.

प्रवेशकाल the placing (of a deposit) in a person's house or hand ६६०.

प्रवेशन return; giving back ६६०, १९२२.

प्रव्रजन see प्रव्राजन १०३६.

प्रव्रजित one who has turned a recluse; a religious mendicant or ascetic ६७२, ७८, ८३१, १०१३, २५, ४०, ११०७, १२, १७, १५६१, १६१०, ३४, ६८, ७९, १८५०, ५५, ७९, ८२, १९२२, २७, ४४, ४६, ७८.

प्रव्रज्या the order of a religious mendicant ७३७, ११११, १७, १९, १९२३.

प्रव्रज्यावसित a religious mendicant who has renounced his order; an apostate from asceticism ८२४, ३०, ३१, ३७, १४०३.

प्रव्रज्योपनिवृत्त vide प्रव्रज्यावसित ८३१.

प्रव्राजन banishment १६८९.

प्रव्राजित one who is forcibly made an ascetic १०७६.

प्रश्न judicial inquiry; query १२२५, १९१८, ६३, ६४.

प्रसङ्ग occasion; contingency; possibility ७६७, १६४६, १८६८, ९०, १९१३.

प्रसभ forcibly; violently १६१८, ५५, ९१.

प्रसभकर्मन् an offence with force १६१३, २२, ५५.

प्रसभहरण violent seizure ८६३, १६३३.

प्रसर्पण the act of following (to detect) १७५५.

प्रसव procreation; offspring १०६९, ७४, १३१८, १४१६, २७, १९८६.

प्रसह्य violently; forcibly ८६३, १७३६, १८४९, ५०, ७८, ८८, ९०, १९१४, २२, २९.

प्रसह्यतस्कर a robber; brigand १६०९, ७१.

प्रसह्यहरण violent seizure १६४८, १७६१.

प्रसह्यादान see प्रसह्यहरण ९२९, १०३४.

प्रसाद favour; grace ८३०, ३७, १२१९, २०, २७, ३२, ३३, ८५, ८६, १९७०, ८८.

प्रसाधन decoration; toilet and its requisites १०२८, ११०७, १२४४.

प्रसाधिका a female attendant who dresses her master १११९.

प्रसिति missile १००१.

प्रसूत procreated; begotten ७०३, ८३७, ९१९, १०२४, ३०, ३१, ११०३, १२, १२६९, १३५०, ७३, १४२८, ४५, १६८४, १८३३, १९४२, ८५.

प्रसूति procreation १०४६, ५१, ७०, १९१६.

प्रसृतज N. of a particular class of sons; a son by a paramour; a son rejected by his natural begetter and adopted by a stranger १२८६.

प्रसृष्टस्त्रीक one whose wife is allowed to travel with another man १०३८.

प्रस्थ a particular measure १५२०.

प्रस्थापन sending out; dispatch १८८१.

प्रस्नुषा grand-daughter-in-law ७०४.

प्रस्रवण a well or spring ९२६, ३४.

प्रस्वापनमन्त्र the chant causing sleep १६८१.

प्रहरण a weapon; beating १६८७, १८३०.

प्रहवण feast; combined performance of any sacrifice ७३७, ८६१, ६२, १६८२.

प्रहा a good throw at dice; advantage १८९८, १९००.

प्रहार a stroke; blow १०३६, १६१८, ३४, ४७, ५२, ७६, १७९६, ९८.

प्रहीण standing alone (i.e. having no relatives); cast off; destitute of a relative ७७१.

प्रहीणद्रव्य property for which there is no claimant १९४९.

प्रहीणस्वामिक (property) of which the owners are perished १९५०.

प्रहृत beaten १८०५, ३४.

प्रह्लाद N. of an *Asura* king १९६४.

प्रह्लादि an attendant of the *Asura Prahlāda* १६०३.

प्राकामिन् one who fulfils his desire १८४८.

प्राकाम्य liberty; choice; independence ७७२,

७५, ७६.

बलात्कार force; compulsion ६३७, ७२५, १८८५, ९०, ९१.

बलाद्गृहीत a particular son ( who is forcibly taken ) १३५५.

बलाद्दासीकृत forcibly made a slave; captured by force ८२३.

बलि tribute; tax; N. of a *Daitya* ६०१, ०२, ७८३, १०३२, १६७१, ९२, १७०१, १९२४, २९, ४०.

बलिदान offering of tax १६६१.

बलिभैक्ष tribute and alms १०२९.

बलीवर्द a bull ८९१, १०२९.

बल्वज a kind of grass १००२, १६८७.

बस्ति the lower belly ९०९, १९७६.

बहिःसद् a dicer; one who sits outside १८९८.

बहिर्बाधा annoyance to outsiders ९२७.

बहिर्वर्ण an out-caste; having no caste ११९४.

बहिर्वेदि the space outside the sacrificial altar १००५.

बहिश्चर an outsider १७५४.

बहिष्कार्य to be excommunicated १०१६.

बहिष्कृत excommunicated १६२७.

बहुपत्नीकृत् one who has married several wives १९७८.

बहुपशु rich in cattle १६६०, १७२३.

बहुभार्य having many wives ११०९.

बहुमूल्य valuable १७५९.

बहुरक्ष्य wealthy; opulent १५२४.

बहुश्रुत well versed in the *Vedas*; very learned १६१२, २४, ५५, १९१६.

बहुसंस्कृता ( a wife ) who is married many times १११८.

बहुसूवरी bearing many children ९६९, ९३.

बाण an arrow १६२१, १९६७.

बाध destruction; obstruction ७३५, ८७८, ९०५, २७, १७३०.

बाधक injurious; a robber ८७१, ९५१, १८९०.

बाधा annoyance; nuisance ९२७.

बाध्य punishable १६६५, १८४३, १९२२, ८६.

बान्धव a relative; kinsman; cognate ६८० ७०३, ०४, ८२७, ९०१, १०९५, ९६, ११०३ १९, २९, ७३, ७८, १३२०, ७४, ९१, ९२, १४०३, ३०, ४४, ५९, ६३, १५१२, १४, १८, २६, २७, ६१, १६४०, ४७, ५१, १७५५, १९२९, ५२, ६२, ७६.

बान्धवगामि ( property ) inheritable by a cognate १४७१.

बाभ्रव belonging to *Babhru* १२६०, १९८१.

बाल a minor in law; hair on the body ६११, ३१, ८०, ९५, ७१०, ११, ३७, ९३, ८००, ०४, १७, ३८, ७३, ७५, ९०५, १६, ३९, ५०, ११०६, १४, १८, १५२७, १६०७, १२, २१, २४, ३१, ५३, ८६, १७०१, २८, ६१, १९२२, २७, २९, ४४, ५०, ६६, ६९, ७१, ७६, ८६.

बालक a child १०२५, १७५८.

बालकलह a small strife ८६२.

बालघातिन् see बालघ्न १६०९, ७१.

बालघ्न a child-murderer १६३२.

बालदाय property of a minor १९५१, ६२.

बालधन see बालदाय १४७३, १५२७, १९४८, ४९, ५०.

बालपुत्र having sons who are minors १२०१, १९६२.

बालपुत्राविधि rule about a woman having a minor son ७११.

बालप्रातिभाव्य surety of a minor ६६२.

बालविधवा a child-widow १११८.

बाला a young woman; girl १०२१, ५८, ९५, १२८३, ८५, ८७, १४७३.

बालापत्या ( a woman ) having infants ११०६.

बालिका a maiden १३८४.

बाल्य infancy; childhood १०२३, ५९, १९८४.

बाहु the arm ९६९, ८७, १६२१, ९२, १७८१, ९६, १८१७, १९, ३६, १९२९, ३३, ४४.

बाह्य an outsider ९२८, १६८५, ८९.

बिडाल a cat १६७२.

बिन्दु a woman who bears only a dead child १०३४, १४३१.

बिम्ब a chameleon १६१७, ८०.

बिस the fibre of lotus १५९४, १६५६, १८४०.

भर्तृदाय husband's gift; husband's inheritance १४४९, ५६, १५२०.

भर्तृलोक husband's heaven १०५३, ६०, ६४.

भर्तृवध murder of a husband १०२१, ८६; ९९.

भर्तृव्रत an act of austirity concerning a husband १०२९.

भर्तृसात्कृता a girl given under husband's control १४००.

भर्तृहार्यधन one whose property could be taken away by the master by right ८१८, २३, ३९.

भर्तृहिंसिका a woman who murders her husband १६५३.

भर्तृहीना a widow १३५२, १५२६.

भर्त्रंश husband's share १५२३.

भर्त्सन reproach १७७१, १९७०.

भर्मण्या wages; maintenance १०३५.

भर्मन् maintenance १०३५, ३८, ४०, १४३० १६८४.

भवन house १३९३, १९४३.

भस्त्रा a leathern bottle or vessel १२८८, १६८०, १९८५,

भस्मन् ashes ९३४, ५०, ५१, १६७०, ८०, ८९, १७१८, ९८, १८१४, २४, ३०, ३४, १९६६.

भाक्तिक regularly fed by another; dependant ८१६.

भाग a part; share; inheritance; fate ६११, ३१, ३४, ७१६, १८, ३२, ३४, ७८, ८३, ८८, ८४३, ४७, ४९, ५०, ५२, ५७, ६०, ७९, ८९, ९१, ९२, ९७, ९८, ९२७, ३०, ४८, ६०, ६२, ८२, ९१, १००२, ५१, ७५, ७६, ७७, ११०२, १७, २२, ४३, ४४, ४९, ५१, ५२, ८१, ८२, १२०७, २२, ३७, ३८, ४४, ८३, ८५, १३२९, ६२, ७४, ७५, ९०, ९१, ९५, १४०४, ०७, १३, १५, १६, १७, २१, ६२, ७३, १५४४, ५२, ५४, ५८, ६२, ७०, ८३, ८८, ९७, १६०१, ६१, ७१, ७४, ७५, ७७, ७८, ८९, १७००, १४, ३५, ४८, १८९७, १९०१, ०८, ०९, ११, १८, ४०, ४१, ४३, ५४, ५५, ६१, ६२, ६५, ७६; ७९, ८२, ८३, ८४, ८७, ८८.

भागकल्पना the allotment of shares ११८४, १२००, ८०, १९८८.

भागद्वय a couple of shares; double share १२३१.

भागधेय portion; share ८५८, ११४४, १५९४.

भागनिर्णय settlement of shares १३५५.

भागभागिन् taking a share १२७७.

भागभाज् taking a share १५६८, ६९, १७००.

भागभृत a servant for a share of the gain ८३५.

भागभोग enjoyment of a share ९३०.

भागलेख्य a deed of partition १५७९.

भागविशेष a special share १२३४.

भागहर entitled to a share १३४७, १५६९, १९८८.

भागहारिणी see भागहर १४०७, १६, १५१३, २४.

भागहारिन् see भागहर १३८९, ९९, १७०१.

भागार्ह see भागहर १३७६, ८६.

भागिक relating to a part ९०६.

भागिन् see भागहर १०७४, ११४४, १२३१, ४९, ५१, ८३, ८८, १३२१, २५, ३८, ४८, ५०, ७४, ८७, १५२९, ६०, ७०.

भागिनी see भागहारिणी १३९१, १५२२.

भागिनेय a sister's son १९२२, ८८.

भागिनेयी a sister's daughter १०२०, १३५५, ६५.

भाग्य fortune ७८४, ९५२.

भाजन a pot; sharing ८६३, १३४९, ९०, १९६७.

भाट hire; rent ८५५.

भाटक see भाट ८५४, ५५.

भाण्ड a pot; merchandise; commodity ७९३, ८१, ८२, ८६, ८९, ८४६, ५०, ५२, ५४, ५५, १०२३, २५, १६१४, ३०, ७०, ७१, ७२, ७४, ७७, ८२, ८४, ८६, ८९, ९७, १७१८, ३३, ४९, ५५, ६२, १८००, ०६, १९२७, २९, ४५.

भाण्डवत् a merchant ८५०.

भाण्डवाहक one who carries goods १९७५.

राजपुरुष a royal servant or minister ६८०, १०३९, १६४७, १७३२.

राजपूरुष see राजपुरुष ७६६, ६८, ६९, ८६, १७५९, ६०.

राजप्रताप royal edict १८५०.

राजप्रसविनी begetting a royal offspring; bringing forth a son destined to be a king ८६३.

राजप्रसाद royal favour ८७५, ९४९.

राजभय danger or fear from a king ७५५.

राजभाग king's share ८७५, १७५९, १९१३, १४.

राजभार्यागमन intercourse with a king's wife १८५०.

राजमन्त्रभेदक one who insults king's council १६१९.

राजमार्ग a royal or public road ९२६, २७, ३९, ५९, १६१६, ३१, १८४८, १९२९.

राजयक्ष्मन् a dangerous disease (esp. consumption ) ९९२, १११८.

राजयोग्य befitting a king; suitable for royalty ७७८.

राजर्षि a royal sage १०६८, १२८६.

राजवचन royal decree १६८७.

राजवन a royal forest; a good forest १८००.

राजवृत्ति royal avocation १६४९, १९४२.

राजवृद्धि king's interest १९१३.

राजशब्दिन् vide राजशब्दोपजीविन् ८६३.

राजशब्दोपजीविन् living by the title of a *Rājan* ८६२.

राजशासन royal order or decree ८७५, ७६, ९४४, १६१३, १८, ४०, १९३२, ३५, ३६, ४२.

राजसर्षप a particular measure ११६८.

राजसूय N. of a sacrifice १८९७.

राजस्व king's property ९२५.

राजादेश royal order १८८८.

राजाधिदेवी N. of a daughter of *S'ūra* १३७६.

राजार्थ royal property १६४९.

राज्जुदाल made of the *Rajju-dala*-tree १६०२.

राज्ञी a queen १२८६, १८८२.

राज्य kingdom ६८०, ७४५, ८६०, १०६८, १२४४, १३६४, ७३, ७६, ७७, ९१, १६०९, १९, ४६, १८९६, १९०५, ३०, ३१, ७०, ८४, ८५.

राज्यभाज् kingdom-possessor १३७७.

राज्यविभ्रम disturbance in the kingdom ६८०.

रात्र night १७०७, १९२५, २७, ४३, ७७.

रात्रि night ८६३, १६८६, ८७, १७११,६४, १८३६, ४०, ९७, १९२३, २४, ६४, ६५, ६७, ७६.

रात्रिसंचारिन् moving at night; a night-guard १७५४.

राधस् wealth ११५८.

राम N. of the king of *Ayodhyā* १०७५, ७६, ७७, १३२९.

रामा a charming woman; courtesan ८१४, ९९४, १०२७, १९८४.

राष्ट्र country; kingdom ७९२, ८६४, ६७, ९२०, ३२, ९९, १००८, १४६४, १६०१, १२, २७, ३९, ४६, ५३, ६३, ८२, ९२, ९३, ९८, ९९, १७१०, ३९, ५६, ५७, ६०, १८३९, ४०, ९०, १९०५, ०७, १३, २१, २९, ३०, ३२, ४३, ६५, ७०, ८६.

राष्ट्रभृत् a tributary prince ६०१, ०३, ०५, १९०२.

राष्ट्रविलोप invasion of a country; destruction of a country part ७३७.

राष्ट्रसंबाध national calamity; contry-wide danger ७१५.

राष्ट्रान्तर a foreign country ८९८.

राष्ट्रिक a country-man १७५७.

रासभ an ass १२८३.

रिक्थ inheritance; legacy ६७९, ९८, ७१५, १०२२, ११२२, ४४, ३७, ४८, ४९, ५१, ९५, १२०१, ०७, ५४, ५५, ६१, ६९, ७२, ७८, ८०, ८२, ८३, ८६, ८८, ९५, १३२१, २२, २६, २७, ४७, ५६, ८४, ९०, ९६, १४०३, १६, २९, ३२, ६२, ६३, ६४, ६५, ७३, ७४, ७५, १५२७, १९४९, ५०, ५३, ७८.

विनेय punished or instructed ७२७, ८३, ९०, ८७१, ९४५, ४६, १०९७, ११७३, १७५९, १८८४.

विन्ध्य N. of the mountain १९२१.

विन्न ( the son ) acquired १३३४.

विन्ना a married woman १०८३.

विपणि traffic; sale ११२७.

विपत्ति adversity; misfortune ६७१, ८०७, १६७३, ७६, १७९९.

विपथ a kind of choriot ८४२.

विपरीत acting in a con trary manner; unequal unjustly ८६७, ९९, ९२९, ३८, ११४७,; ४८, १६३९, ८२, १९१८, ३२, ६८.

विपर्यय transposition; alteration ६४८, ७३, ७२४, ४७, ६३, ९३४, ११३१, ८५, १६८५, १८४७, ८२, १९३३.

विप्र a *Brāhmin*; a member of the first and highest caste ७१५, २७, ८१९, ३५, ३६, ३७, ३९, ७२, १०१६, ६२; ७२, ११११, १३, १६, १२४६, ४७, ५१. ८८, १३७४, ७६, ७७, १५२४, ३०, १६०७, २३, २८, ३७, ५२, ५४, ५५, १७०२, ६१, ६२, ७१, ७४, ७६, ९०, ९२, १८१५, ९१, १९२२, २७, ३१, ३३, ४३, ६१, ६५, ७४, ८९.

विप्रकार bad behaviour; offence १०३६, ३८, १६१५.

विप्रतिपत्ति dispute; contrariety १९१९.

विप्रतिपन्न being mistaken १९१८.

विप्रदुष्टा deflowered woman; a bad woman ( procuress of abortion ) १०४१, ५८, १६३८, १९७९.

विप्रधन property of a *Vipra* १६४६.

विप्रयोग separation १०४४.

विप्रलुम्पक rapacious १७०१.

विप्रवाद varied statements १२८६.

विप्रसुता daughter of a *Brāhmin* १०२३.

विप्रस्व property of a *Brāhmin* ९२५, १२५२.

विप्रा a *Brāhmaṇa* woman १११३, १८५८.

विप्रासुत a son by a *Brāhmaṇa* wife १२५१.

विप्लव distress; calamity; confusion offence ७७७, ९२०, ११०१, १०, १६२३.

विप्लुत one who has committed offence १०२५, १८६४.

विभक्त separated; divided; one who has received his share ६७९, ८०, ९०, ९६, ७१४, ८०३, १०३५, ११४१, ४२, ६९, ७२, ९९, १२०३; ४०, ४१, १५१८, २२, २६, ४१, ४३, ५६, ५७, ६१, ६५, ६७, ६८, ७२, ७४, ८०, ८१, ८२, ८४, ८५, ८७, ८८, १९८३.

विभक्तज a son bron after partition १५६२, ६७, ६८.

विभक्तदायाद sharer of a divided] oblation १४६८.

विभक्तव्य to be divided ८७५, ११४२, १२२१, ३७.

विभक्तृ one who distributes; an apportioner ११५८.

विभजनीय to be divided १२२२.

विभजमान a distributer ११४४.

विभजिष्यमाण being divided or distributed ११८३, १२६५.

विभज्यमान being divided ११९४, १४१६, २८.

विभाग partition; division; distribution ८९९, ११२४, २५, ३२, ४२, ५५, ५७, ६८, ७३, ८१, ८४, ८५. ९२, ९४, ९९, १२०१, ०४, ०७, ११, २४, २५, २७, २९, ३०, ३२, ३४, ३५, ३८, ४०, ४३, ४४, ४५, ४६, ९७, १३१६, ४७, ५५, ८७, १४०४, ०५, १३, १४, १६, २७, ५७, ५९, १५४१, ४३, ६३, ६५, ६७, ६९, ७१, ७२, ७९, ८१, ८२, ८४, १६८६, १९०५, २१, ५०, ७५, ८३, ८७.

विभागकाल the time of effecting partition १२२९, ३१.

विभागधर्मसंदेह the fact of a legal partition called into question १५७९, ८२.

विभागनिह्नव doubt or suspicion regarding partition; denial or concealment of partition १५७५.

विभागभाज् a sharer १५६५.

विभागभावना ascertainment of share

३०, ४१, ५९, १०५३, ५८, १११२, १९, १२४६, १६१८, १९, २०, ३९, ८१, ८३, ८५, ८९, १७२४, १८००, ३२, ४०, १९७९.

वेश्या a prostitute ८५१, ५५, १७६४, १८७९, ८३, ८४, ८९, ९०, १९४३, ७५.

वेश्यागामिन् one who visits prostitutes १८८४.

वेश्यास्त्री a prostitute १९३५.

वेष a dress ९२९, १६१६, ८६, १९८९.

वैक्रान्तक mercury १६७५.

वैजान a descendent of the *Ṛshi vijāna* १९८९.

वैण (ण्य) a particular mixed caste ११८५.

वैणव made of bamboo १७१८, ४९.

वैतस peculiar to reed ९८८.

वैतहव्य a patronymic १४६४, १६००.

वैदिक embodied in the *Vedas*; relating to *veda* ७४१, १४०४. १५८८, १६५२.

वैदेह belonging to the country of *videhas* १९८१.

वैदेहक a merchant; a man belonging to the *vaideha* caste ७३७, ७१, ८४३, ७८, १०३८, ११०५, ८५, १६२०, ७७, ७८, ७९.

वैदेहिका a woman of the *vaideha* caste ११८५.

वैदेही N. of *Sitā* १०७५, ७७.

वैद्य versed in science; learned; a physician ( accounted as a mixed caste ) ७१५, १२०४, २०, २७, ८७, १७५८, १९८३.

वैधव्य widow-hood १०३०, १११७.

वैनासिकी having no nose (*Smṛtichandrikā*); causing destruction ( वैनाशिकी ) १०२४.

वैन्य ( पृथी ) N. of a king ९२४.

वैभाज्य divisible ८७७.

वैभीतक made of the terminalia Bellerica १९०३.

वैयापृत्य commerce; trade ७३६, ३७, १६१९, ८४, ८६.

वैयावृत्य see वैयापृत्य ६९६.

वैर enmity ८६२, १५९७, १६४७, ८३, ८६, १७७३, १९०६.

वैरदेय wergild ९७२, १५९५, ९६.

वैरनिर्यातन requital of enmity १६०६.

वैरहत्य murder १५९६, ९७.

वैरिन् an enemy १६१६.

वैरूप्य deformity १०५८, ८३, १११३.

वैवस्वत coming from or belonging to the sun १७५१, १९३६, ७०.

वैवाहिक relating to marriage ( debt, nuptial present; property ) ७१२, ८०३, १०२६, ११२९, १२२८, १४१६, २२, २८, ६३.

वैशंपायन N. of a *Ṛshi* १२८४, ८५, ८६, १९८६.

वैशेषिक peculiar ११३१.

वैश्य a *vaishya*; a man of the third caste; an agriculturist ६२७, ८०३, १७, १८, १९, २०, २३, ३६, ९९९, १०२४, ३९, ९३, ११०५, २३, २४, ३१, ४३, ८४, ८५, १२४०, ४३, ४५, ८७, ८८, १३६४, ६५, ७४, १५३०, १६०६, ०८, १०, १२, २०, २८, ३६, ७०, ७२, १७२१, २३, ५२, ६६, ६९, ७१, ७२, ७३, ७४, ८८, ९०, ९२, १८३९, ४५, ४६, ४८, ५०, ५९, ६०, ६३, ६४, ९०, ९१, ९६, १९२१, २७, २८, ३२, ३६, ५०, ६५, ७६.

वैश्यजात the entire *vaishya* caste १३६५.

वैश्यवृत्ति profession of a trader ७५२, १९३७, ३८.

वैश्ययोनि the *vaishya* caste १५९२.

वैश्यस्व property of a *vaishya* १२४४.

वैश्या a *vaishya* woman १०२२, २३, ११००, ०५, १२, १२३९, ४३, ४४, ८७, ८८, १८५९, ६०.

वैश्यागम co-habitation with a woman of *vaishya* caste १८९१.

वैश्याज a son of a *vaishyā* १२४६.

वैश्याजात a son by a *vaishya* wife १२५१.

वैश्यापुत्र see वैश्याजात ११०५, १२३८, ४०, ४४, ४५, ४७.

वैश्वदेव a daily sacrifice १११९, ४२, १५८८, ८९, १८९६.

वैश्वानर consisting of all men ६०२, ०३, ०५, ८१४, १५९६.

श्वेतकेतु N. of a *Ṛshi* १०२७, १२८४, ८५.

षड्ढोतृ relating to six *Hotṛs* १००६.

षण्ड flower-garden ९०६, ३०.

षण्ढ an impotent man १०९४, १४०१, १९२१.

षाड्गुण्य six measures or acts of royal policy ८६०.

ष्ठीविका spittle १७९८.

संकर confusion; sweepings ९५४, ५९, १०६८, ११०५, ०६, १५, १८, १३५१, १६०७, ६६, १९१६, ४३.

संकल्पकुल्मला an arrow whose neck is formed by desire ९९८.

संकेत compact ८७२, १९४१.

संक्रम a bridge १६१३, ३०, ५४, १९२९.

संख्या a number; sum; calculation ७४७, ५०, १२३७, ३८, १७०६, १९२७, ५३, ६२.

संगम union; intercourse ८४३, १०३३, ७६, १२५५.

संगर vow; strife ६०३, ०५, ७९१, ९२, १६२३.

संगृहीता taken possession of; enjoyed ९००, १६१७, १८४९.

संग्रह accumulation; taking; adultery १०४०, ४७, ७६, ११०६, १२८७, १७०१, ५५, १८४४, ८५, ८७, ८९, १९२३, २४.

संग्रहण adultery ९२७, १०३८, ११०६, १८४५, ४६, ५०, ५१, ५२, ५३, ५६, ७०, ७२, ८०, ८१, ८४, ८५, ८७, ८८, ८९.

संग्राम war ११२२, १२२७, १३७४, १९२१, ४१.

संघ corporation ७७१, ८४४, ६०, ६२, ६३, ६४, ११८५, १२२९, १६८१, १७७३.

संघग्राह a rapacious animal living in group १९२५.

संघात corporation ८६१, ७१.

संज्ञान unanimity; agreement ८५८, ५९, ९०२.

संतति progeny; offspring; succession ६१०, २१, २६, ३५, ६८, १११२, १८, १३५०, ८४, १५२९, १९८४.

संतान see संतति १०२३, ५५, ६५, ११०१, १४, १८, ९४, १२५४, ५५, ५९, ७३, ८२, १३४८, ८४, १४७१, १५११, १९८२.

संदंश the index finger १६१७, १९, ६९, ८०, १७३७, ६०, ६५, १९०३.

संदातृ one who ties up or fetters १७११.

संदिग्धि doubt ९५१, १२४५, १७५३, १९१४, ४१, ६७.

संदित bound; detained १७११.

संदिष्ट promised; assigned ८२६, १६३४, १९२२.

संदेह doubt १५७५, ८१, १९१८.

संधातृ one who holds together १००३.

संधान union; the act of joining १५८२, १६८४, ८६.

संधि agreement; boundary line; horizon; joint; explosion ८७४, ९९, ९०१, ३४, १००३, १५८२, १६८५. १७११, १९२९, ७५.

संधिच्छिद् a house-breaker १७५८.

संधिच्छेत्तृ see संधिच्छिद् १७६५.

संधिच्छेदकृत् see संधिच्छिद् १७६०.

संधिच्छेदिका ( a woman ) who cuts off any of the bodily joints ( *Shāmshāstri* ); ( a woman ) who breaks the joints ( of a house ) for commission of theft ( *Gaṇapatishāstri* ) १६१९.

संधिभेत्तृ see संधिच्छिद् १६७०, १७६४.

संध्या a particular religious daily duty १६४८, १९६४, ६५.

संनिकृष्ट proximate; near १६२०, १७७२.

संनिधान nearness ६११, ३८.

संनिधातृ one who is near at hand; receiver of stolen goods १६९७, १९२९.

संनिधि nearness; presence ७४२, ८९६, ९३६, १०७७, १४५२, १६८५, १८८७, ९१, १९६६.

संनिपात encounter; mixture; sexual intercourse with १६८२, ८६, १८४३, १९३९.

संनियन्तृ one who restrains or chastises १९३१.

संनियोज्या ( a widow ) to be appointed to bear children for her deceased husband १०२०.

संनिरोध confinement; imprisonment १८४७.

संनिरोद्धव्या to be confined १०५७.

११४३, ८१, १२९४, १३६४, ८५, १४६४, १५९७, १६००, ०१, ०३, १८३८, ३९, ४५, ९३, १९२०, ३०, ३६, ३८, ७०, ७८.

सोमप drinking or entitled to drink *Soma*-juice ८०३, १६६०, १७२३.

सोमपान the drinking of *Soma*-juice १५९७.

सोमपीथ a draught of *Soma* १००५.

सोमविक्रय the sale of *Soma*-juice ७७२.

सोमारण्य a forest of *Soma*-plants ९३०.

सोमेश्वर N. of a person १३७६.

सोम्य N. of a *Ṛshi* १६५६, १९८२.

सौति a patronymic ८४०.

सौत्रामणीयाग a particular sacrifice in honour of *Indra* १६१३.

सौदायिक that which is given to woman at her marriage by her father or mother or any relative and therefore becomes her property; a marriage gift ८०३, १२३१, १४२८, ५३, ५५, ६०.

सौदास N. of a king of the solar race १२८५.

सौबल a patronymic of *S'akuni* ८१९.

सौभग auspicious ९८५, ९७, १००२, ०६.

सौभाग्य welfare; happiness (esp. conjugal felicity) ९८४, ९१, १०००, ०२, ११०९, १०.

सौभिक a juggler ८६३.

सौयवसि a patronymic १२६०, ७८, १९८१.

सौर vide सौरिक ७०८.

सौरिक due for spirituous liquor (as money) ६६३, ७८, ८०.

सौवर्ण golden ९२१, १३७३.

स्कन्ध the shoulder; back ८६३, १६६७, १७०२, १८००, २२.

स्कन्धवाह्य capable of being carried on one's own back ७८४, १९२२.

स्तन the female breast १७९४, १८७१, १९८४.

स्तनयित्नु thunder ८४२.

स्तम्भ a post; pillar १६२०, १९६६.

स्तम्भक stopping; arresting १९६५.

स्तुतिनिन्दा ironical praise १७७२.

स्तेन a thief ६४५, ७५८, ६४, ७२, ८४३, ९०३, ३२, ९२, १०४२, १५९२, ९३, ९४, ९९, १६०२, ०३, १७, १८, १९, ४५, ५१, ५६, ५८, ६४, ६५, ६६, ६७, ६८, ७१, ७२, ८३, ९०, ९३, ९५, ९७, ९९, १७०२, ०३, २०, ४९, ५१, ५४, ५५, ५७, ६०, ९१, १८६९, १९२९, ३०, ४३, ५६, ६१.

स्तेननिग्रह restraining or punishing of thieves १७२७.

स्तेय theft ६११, ७६३, ७२, ९५, ८०६, ९२७, १००१, १११९, १४०५, ३०, १६०३, ०६, ०८, ०९, १३, १७, १९, २७, ४१, ४८, ५६, ६४, ६५, ७०, ८७, ९१, १७०२, २१, ४४, ४५, ५०, ५१, ५२, ६१, १८४८, १९२३, ७०.

स्तेयदण्ड punishment for theft ७३७, ५७, ९४, ९२०, २९, १६७४, ८४, १९०४.

स्तेयिन् a thief १६२७, १७६०, ६४.

स्तोम a *vaidika* song of praise ६२९, ३४, ८१४, ५१, ५२, ९०२, ७५, १०००, १८९८, १९००.

स्त्री a woman; female slave; wife ६१०, २१, २६, ३१, ३५, ५४, ६८, ७७, ७९, ८०, ८३, ९२, ९६, ९८, ९९, ७००, ०२, ०३ ०८, ११, १२, १३, १४, १५, ६४, ९२, ९९, ८०३, ०७, १७, ५१, ६३, ७५, ९२, ९७१, ७३, ७४, ८६, ९२, ९४, ९५, ९८, १००५, ०६, ०७, ०८, ०९, १०, १२, १८, २०, २३, २४, २५, २७, २९, ३०, ३१, ३२, ३३, ३४, ३५, ३६, ३७, ३८, ४०, ४४, ४५, ४६, ४७, ४९, ५०, ५३, ५४, ५५, ५८, ५९, ६०, ६३, ६४, ६५, ६८, ७५, ७६, ७७, ७९, ८०, ८१, ८३, ८४, ८८, ९१, ९२, ९३, ९५, ९८, ९९, ११००, ०१, ०२, ०३, ०६, ०७, ०९, १०, ११, १२, १३, १४, १५, १६, १७, १८, १९, २७, १२०४, ०६, ०८, ०९, २३, ३१, ३२, ३६, ३९, ४५, ४६, ५५, ५८, ५९, ६७, ७१, ७३, ८२, ८४, ८५, ९७, १३१८, २३, ७३, ८४, ८५, ८७, ८८, ८९, ९२, १४००, ०२, ०७, १५, २४, २७, २८, २९, ३०, ३१, ३२, ४०, ४७, ४८, ४९, ५२, ५३, ५४, ५५, ५६, ५७, ५८, ५९, ६०, ६१, ६२, ६३, ६४, ६९, ७३, ७६, १५१२, १३, १८, २०, २२, २४, ५३, ५५, ६१, ९९, १६०७, ०९, १४, १५, १६, १७, १८, १९, २३, २७, ३८, ४६, ५३.

# शुद्धिपत्रम्

| पृष्ठं | स्तम्भः | पंक्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|---|---|---|---|---|
| ७ | २ | २६ | प्रत्युत्त | पत्युत्त |
| ११ | १ | १८ | ,, | ,, |
| १८ | २ | २,७ | ,, | ,, |
| २० | १ | ३१ | *सज्ञः | संज्ञः |
| ३९ | ,, | २१ | दिर्निंयो | दिर्निंयो |
| ,, | २ | १६ | पुथक् | पृथक् |
| ६१ | १ | २४ | त्तकार्ये | त्तत्कार्ये |
| ६२ | २ | ६ | दण्डयो | दण्ड्यो |
| ६३ | १ | १३ | ङ्खल प्र | ङ्खलप्र |
| ७४ | २ | ७ | नस्त | न स्त |
| ७९ | ,, | १९ | विर्ध | वर्ध |
| ८४ | १ | ३१ | प्रश्य | प्रश |
| १०८ | २ | ६ | बष्ट | वष्ट |
| १११ | १ | ४ | धार्मो | धर्मो |
| ११७ | ,, | १० | निर्णो | निर्णे |
| १२८ | २ | ४ | अह्वा | आह्वा |
| १५५ | १ | २३ | दुर | दूर |
| १६० | ,, | १ | यत्पु | यत्पू |
| १६३ | २ | १० | मर्ष | मर्श |
| १७९ | १ | ३० | तरं | त्तरं |
| १८२ | २ | १३ | विश | विंश |
| १९१ | १ | ७ | युजित | युञ्जीत |
| २०३ | ,, | ४ | कीं | किं |
| २०९ | ,, | १३ | तीं | तां |
| ,, | २ | ६ | तो | तौ |
| २१३ | ,, | ३०,३१ | स्वरुप | स्वरूप |
| २१८ | १ | ११ | दिन्ध | दिग्ध |
| ,, | ,, | १२ | द्विनि | द्विर्नि |
| २२८ | २ | १२ | रुपण | रूपण |

| पृष्ठं | स्तम्भः | पंक्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|---|---|---|---|---|
| २४२ | २ | ९ | आर्थि | आर्धि |
| २५२ | १ | ८ | बिभ्यन्ति | बिभ्यति |
| २६४ | ,, | २ | ब्रुही | ब्रूही |
| २६५ | २ | ८ | तरं | तरद् |
| २७७ | ,, | ३३ | शुद्र | शूद्र |
| २८४ | १ | २२ | धुञ् | धूञ् |
| २९१ | २ | १७ | टास्यु | टाः स्यु |
| ३४४ | ,, | १२ | लक्षी | लक्ष्मी |
| ३४७ | १ | २२ | भदाः | भेदाः |
| ३६५ | ,, | १३ | विष्टा | विष्ठा |
| ३६९ | ,, | ,, | प्रप्ति | प्राप्ति |
| ३७१ | २ | १९ | वादि | वादी |
| ३९९ | १ | ३३ | भूक्ति | भुक्ति |
| ४१८ | २ | २ | विद्या | विद्य |
| ४२२ | १ | १३ | स्वनि | स्वामि |
| ४२७ | २ | ३ | त अन्य | तोऽन्य |
| ४३० | ,, | १६ | श्रियते | श्रीयते |
| ४५६ | १ | १३ | शेत | शते |
| ४६२ | २ | ४ | शड् | शङ् |
| ४८१ | ,, | १६ | ऊभ | उभ |
| ४९२ | ,, | २ | मत्रणं | मन्त्रणं |
| ४९३ | ,, | ,, | यया | यथा |
| ५३२ | ,, | १४ | लीपि | लिपि |
| ५३९ | १ | २० | जनीते | जानीते |
| ५५१ | ,, | १ | लुण्टन | लुण्ठन |
| ५५७ | ,, | ,, | वणिक | वणिक् |
| ५६९ | ,, | १९ | श्वितेषु | श्वित्तेषु |
| ६०१ | ,, | १२ | नापक | नापाक |
| ,, | ,, | २० | णापक | णापाक |

* एतच्चिह्नाङ्किता अशुद्धिः केषुचित्पुस्तकेषु ज्ञेया ।

| पृष्ठं | स्तम्भः | पंक्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|---|---|---|---|---|
| ६०१ | १ | २७ | न्मत्रे | न्मन्त्रे |
| ,, | ,, | ३० | रज्वा | रज्ज्वा |
| ,, | ,, | ३१ | विधते | विधत्ते |
| ६०२ | २ | २ | त्वप्र | त्वत्प्र |
| ६०३ | ,, | ४ | रिप्यन् | रिष्यन् |
| ,, | ,, | २१ | पाशब | पाशव |
| ६०५ | १ | ३० | म्याशाम् | म्याशाम् |
| ,, | ,, | ३२ | शुद्ध | शुद्धि |
| ,, | २ | २ | वाम्भ्या | वाम्या |
| ,, | ,, | १६ | दि प्रका | दिप्रका |
| ६०७ | १ | २८ | ८।१५२ | +८।१५१ |
| ६०८ | २ | २ | भदिति | भूदिति |
| ,, | ,, | २० | चार्तुव | चातुर्वे |
| ६०९ | ,, | ६ | *रीतीना | रीतीनां |
| ६१० | ,, | १० | ष्यादिनां | ष्यादीनां |
| ६१२ | १ | ३४ | पुर्वे | पूर्वे |
| ६१४ | ,, | ८ | स्मृतिर | स्मृतिरि |
| ,, | २ | ४ | मुल्य | मूल्य |
| ६१७ | १ | ५ | वृद्धिरा | वृद्धीरा |
| ,, | २ | १४ | षेध्यते | षिध्यते |
| ६१९ | ,, | ६ | ऊह्य | उह्य |
| ,, | ,, | २० | मूह्य | मुह्य |
| ,, | ,, | २८ | स्वरुप | स्वरूप |
| ६२१ | ,, | २० | क्षीण | क्षीर |
| ६३४ | १ | २० | षाष्ठो | षाष्टो [एतत्पाठानुसारेण पाठभेदा अपि कल्पनीयाः] |
| ,, | ,, | २२ | षष्ठि | षष्टि |
| ६३५ | ,, | ११ | शास्त्रद | शास्त्राद |
| ,, | २ | १० | कार्य | काय |
| ६३७ | १ | ३३ | क्रियत | क्रीयत |
| ६३८ | २ | २७ | तिष्ट | तिष्ठ |
| ,, | ,, | २८ | गोणी | गौणौ |
| ६३९ | ,, | ३० | ताधौ' | ताधौ, |
| ६४१ | १ | १२ | स्वत्त्व | स्वत्व |
| ६४२ | २ | ३ | भोगस्यो | भोग्यस्यो |
| ६४३ | १ | २५ | रूप | रुप |
| ६४४ | २ | ११ | वृत्तो | वृत्ते |
| ६४७ | ,, | ३१ | *निक्षे | [१]निक्षे |
| ६४९ | ,, | ३ | विर्धि | विधि |
| ६५१ | १ | १ | *ऋण | ऋणं |
| ६५२ | ,, | १६ | रुपा | रुप |
| ६५३ | ,, | ११ | त्यादिपरि | त्यादि परि |
| ,, | २ | २३ | स्विति | स्त्विति |
| ६५६ | १ | १४ | द्धिक | द्धिकं |
| ६५९ | ,, | ३२ | विक्रि | विक्र |
| ,, | २ | १९ | दिगु | द्विगु |
| ,, | ,, | २७ | धनी- | धनी |
| ६६० | १ | २ | धो ऋ | ध ऋ |
| ६६१ | २ | २० | त्यादि दा | त्यादिदा |
| ६६६ | १ | २५ | स्तीति | स्तीति। |
| ,, | २ | ८ | *स्वध ला | स्वधनला |
| ६६७ | ,, | २१ | मुपैत्य | मुपेत्य |
| ६६९ | १ | १० | णवत्वा | णत्वा |
| ,, | २ | १४ | गामि ष | गामिष |
| ६७० | १ | १८ | *दश | दर्श |
| ६७४ | ,, | ३१ | त्तत्त | +त्तत्तु |
| ,, | २ | १४ | *प्रतिभः | प्रतिभूः |
| ६७५ | १ | १८ | तःसो | तः सो |
| ६७६ | ,, | २५ | पतिभू | प्रतिभू |
| ६७८ | ,, | ५ | चेत्य : | चेत्यर्थः |
| ,, | ,, | १९ | यावत् स्थि | यावत्स्थि |
| ६७९ | ,, | १३ | तिष्टत | तिष्ठत |
| ६८० | २ | १४ | व्यादि | व्यादिः |
| ६८३ | १ | २६ | अन्थथा | अन्यथा |
| ६८४ | २ | १३ | पोत्र | पौत्रै |
| ,, | ,, | २२ | भक्ता श्वे | भक्ताश्वे |
| ६८५ | १ | १० | मवस्थे | मस्वस्थे |
| ,, | २ | १२ | रुढ | रूढ |
| ६८८ | ,, | ३२ | थैव' च | थैव च' |
| ६९१ | ,, | ७ | ऋणा | ऋण |
| ६९४ | ,, | ३ | वुत्तौ | वृत्तौ |
| ६९५ | ,, | २४ | वरमेनि | +वेरमनि |

+ एतच्चिह्नाङ्किता शुद्धिः पादटिप्पण्यां द्रष्टव्या।

| पृष्ठं | स्तम्भः | पंक्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|---|---|---|---|---|
| ६९८ | १ | १ | कुत | कृत |
| ६९९ | ,, | २९ | निस्वा | निःस्वा |
| ,, | २ | ७ | अभा. ३० | अभा. ३९ |
| ७०२ | ,, | ६ | द्राह | द्ग्राह |
| ,, | ,, | ३२ | अववत् | +अपवत् |
| ७०७ | १ | २८ | त्यभि | त्याभि |
| ७०८ | ,, | १६ | गृहीमात्र | गृहिमात्र |
| ७०९ | २ | १३ | गेंही | गेंही |
| ७११ | ,, | ३५,३७ | शात् ( शत् ) | +विंशात् (विंशत्) |
| ७१५ | ,, | ३५ | चार | +चाट |
| ७१६ | ,, | २७ | त्तद्वि | +तद्वि |
| ७१७ | १ | १७ | मत्त्व | मत्व |
| ,, | २ | २३ | द्धयशं | द्धयंशं |
| ७१९ | १ | १२ | स्वत्त्व | स्वत्व |
| ७२१ | २ | २६ | ग्रह | गृह |
| ७२४ | १ | ४ | तच्चऋ | तच्च ऋ |
| ७२६ | ,, | १ | सुह्य | सुहृ |
| ,, | ,, | २६ | त्रणी | +त्रर्णी |
| ,, | ,, | २७,२८ | (यत्रर्णी दाप्यतेऽर्थं स्वं ) | +( यत्रर्णिको दाप्यतेऽर्थं ) |
| ,, | २ | ४ | परी | परि |
| ७२७ | १ | ७ | न्मुखी | न्मुखी- |
| ७२८ | ,, | २९ | ( त्त ) | +( तु ) |
| ७२९ | २ | ३६ | विर. | +विर. ७९ |
| ७३० | १ | १० | पूर्वाक्त | पूर्वोक्त |
| ७३३ | ,, | १३ | नुपपत्तेः | नुत्पत्तेः |
| ,, | २ | १७ | प्राति | प्रति |
| ,, | ,, | २१ | ग्रही | गृही |
| ७४२ | ,, | ४ | रैहि | रैहिं |
| ७४३ | ,, | ३३ | तत्स मंदा | +तत्समं दा |
| ७४६ | १ | १० | रेण च | रेण लाभानुसारेण च |
| ,, | २ | १ | मार्णाय | र्माणाय |
| ,, | ,, | १८ | कारो | करो |
| ७४८ | १ | २१ | भूंते | भूंते निक्षेपे |
| ,, | ,, | ३२ | चेत्तजैहृम्य | +चेत्तजिह्म |
| ,, | २ | ३ | वृतं | वृत्तं |
| ७५० | १ | १३ | निधय | निधयः |
| ,, | ,, | १५ | यथा क | यथाक्र |
| ७५० | १ | २९ | न प्र | +नप्र |
| ७५२ | २ | ८ | त्यादि ध | त्यादिध |
| ७५३ | १ | ३१ | अन्यस्मिन् | +अमुष्मिन् |
| ७५४ | २ | २९-३० | सवि. २६८ वरदराजः; समु. ८८ र्थश्च ( र्धं च ) पोऽप ( पाप ) | +सवि. २६८ करा ( क्या ) पाप ( पोऽप ) वरदराजः; समु. ८८ र्थश्च ( र्धं च ) |
| ,, | ,, | ३६ | नप्रा | +अप्रा |
| ७५८ | १ | २३ | सार्वा | सर्वा |
| ,, | २ | २९ | स्तद्र | स्तद्द्र |
| ७५९ | ,, | ३५ | दण्डो ( दण्ड्यो ) | +दण्ड्यो (दण्डो) |
| ७६० | ,, | २३ | तदा | तथा |
| ७६६ | १ | १० | ज्ञानाता | ज्ञाता |
| ,, | २ | ८ | शुध्यो | शुद्धयो |
| ७६८ | ,, | १० | क्रमा | क्रया |
| ७६९ | १ | २० | तया | ताया |
| ७७१ | ,, | २ | तत्र चे | 'तत्र चे |
| ७७२ | २ | २५ | तत्तक | तत्तत्क |
| ७७४ | १ | ११ | त्विज्जो | त्विजो |
| ७७५ | ,, | १ | क्षिणा | क्षिणाः |
| ,, | ,, | १० | सोमापा | सोमोपा |
| ७७६ | २ | ११ | १७८ | १८७ |
| ७७७ | ,, | ४ | रुपा | रूपा |
| ७८० | १ | २० | करोति | न करोति |
| ७८३ | ,, | १,२ | उध्वं | ऊर्ध्वं |
| ,, | ,, | १८ | दार्वि | दार्विं |
| ७८९ | ,, | ७ | धन | धनं |
| ७९० | २ | १३ | चर्वि | चर्विं |
| ७९१ | ,, | २८ | यथा समु | यथासमु |
| ७९४ | १ | २ | स्वत्त्वा | स्वत्वा |
| ,, | २ | ३ | प्रदा | दा |
| ७९६ | १ | ३२ | शुनि. | +शुनी. |
| ,, | ,, | ,, | तावुभौ (उभौ तौ) | उभौ तौ (तावुभौ) |
| ७९७ | ,, | १६-१७ | न... ...न्यस्मै। | प्रतिश्रुतमन्यस्मै न देयम्। |
| ८०० | २ | ३७ | धर्म सं | धर्मसं |

| पृष्ठं | स्तम्भः | पंक्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|---|---|---|---|---|
| ८०७ | २ | १ | स्वाति | स्वस्ति |
| ८०८ | १ | १५ | तार्थप्रदा | तार्थादा |
| ८१० | २ | ,, | द्वाह्यः | द्वाह्यः |
| ८१२ | ,, | १६ | दास्या- | दास्याः |
| ८१४ | ,, | २८ | वैत | वैत- |
| ८१५ | १ | २५ | सर्वानि | सर्वानि- |
| ,, | २ | ३ | गुरू | गुरु |
| ,, | ,, | १२ | स्तत्रतत्र | स्तत्र तत्र |
| ८१८ | ,, | ८ | स्तं वक्ष्या | स्तं ते वक्ष्या |
| ८१९ | ,, | १९ | शूद्रा | शूद्रौ |
| ८२० | १ | १ | निया | निय |
| ८२१ | ,, | १७ | भावि- | भावि |
| ८२२ | २ | २० | दारयो | दासयो |
| ८२३ | १ | ३५ | हीयते वि | हीयतेऽतो वि |
| ८२४ | २ | १८ | अन्वासीते | अन्तेवासी |
| ८२६ | ,, | ११ | मित्यर्थः। | मित्यर्थः। अभा. ८९ |
| ८३२ | ,, | ६ | मुच्यते। | मुच्यन्ते। |
| ८३४ | १ | २८ | किंचन- | किंचन |
| ,, | २ | २ | रुपतः | रूपतः |
| ,, | ,, | १४ | कर्मकङ्क | कर्म कङ्क |
| ,, | ,, | २० | ( त्वभि ); | +( त्वभि ) कामा ( कर्मा ); |
| ८३५ | १ | ६ | महत्व | महत्त्व |
| ,, | ,, | १६ | ,, | ,, |
| ८३८ | ,, | २० | स्वत्त्वे | स्वत्वे |
| ८४० | ,, | ३ | किं वर्णो | किंवर्णो |
| ८४१ | २ | ७ | धारा, | धाराः, |
| ८४२ | १ | ५ | इर्ष्य | ईर्ष्य |
| ८४४ | ,, | १३ | दण्ड्यत | दण्ड्येत |
| ,, | २ | २६ | उर्ध्व | +ऊर्ध्वं |
| ८४५ | १ | ६ | णिग्न्या | णिङ्न्या |
| ,, | ,, | १३ | कर्मा | 'कर्मा |
| ८४८ | ,, | २२ | यथा तं | यथाश्रुतं |
| ८५३ | ,, | ६ | लाङ्गूल | लाङ्गल |
| ,, | ,, | १० | स्मृच. २२० | स्मृच. २०२ |
| ८५४ | २ | १६ | त्तकर्म | त्तत्कर्म |
| ८६० | ,, | ७ | महत्वं | महत्त्वं |
| ८६१ | ,, | २१ | रुप | रूप |
| ८६२ | १ | ४ | निम | निय |
| ,, | ,, | ५ | अशं | अंशं |
| ,, | २ | १८ | मल्ल | मल्लक |
| ८६३ | ,, | १३ | व्यञ्चनो | व्यञ्जनो |
| ८६४ | १ | २२ | बन्धतां | बध्नतां |
| ,, | २ | २१ | जितव्यः | जयितव्यः |
| ८६७ | १ | ६ | समुह | समूह्‌ |
| ८७३ | २ | ७ | मत | मन्त |
| ८७४ | ,, | २९ | (बन्धिन) | +( बन्धिनः ) |
| ८७६ | ,, | २६ | (अकु | +अकु |
| ८८० | १ | ६ | क्रेतृ | [1]क्रेतृ |
| ८८२ | ,, | २३ | महत्वा | महत्त्वा |
| ८८३ | ,, | १७ | एष | इष |
| ,, | २ | १८ | ववा | वैवा |
| ,, | ,, | २२ | न्यात्त्व | न्यात्व |
| ८८४ | ,, | २० | अर्ध | अर्घ |
| ८८५ | ,, | १३ | स्यार्थः | स्यार्थ |
| ८८६ | १ | २३ | दीयेत | +दीयते |
| ८८८ | ,, | ४ | त्वात् | त्त्वात् |
| ८८९ | २ | २७ | हातु | हात्तु |
| ८९० | १ | २ | दुसृष्टं | दुत्सृष्टं |
| ८९१ | ,, | ७ | त्मकं | त्मकद्रव्यं |
| ,, | ,, | २७ | सीमोल | सीमोल्ल |
| ,, | २ | १५ | ३२२ | ३२१ |
| ,, | ,, | १८ | ३२१ | ३२२ |
| ८९८ | १ | ३२ | ( क्रयः ) | +( ऋण ) |
| ८९९ | ,, | २२ | कल्पिात् | कल्पितात् |
| ,, | ,, | २५ | काला | त्काला |
| ९०० | ,, | ८ | अर्थ | अर्घ |
| ,, | ,, | १० | नन्वर्थ | नन्वर्घ |
| ,, | ,, | १३ | अर्थ | अर्घ |
| ,, | २ | ३ | बन्धः | वन्धं |
| ९०३ | ,, | २० | स पाल | सपाल |
| ९०७ | १ | २१ | तथा | यथा |
| ९१० | २ | ४ | किभि | किमि |
| ९१७ | ,, | ७ | मूल | मूल्य |
| ९२३ | १ | ६ | कूल्यादिकु | कुल्यादिकु |
| ९२४ | ,, | २९ | संचर | संक्षर |
| ९२८ | २ | १९ | स्थान | स्थानं |

| पृष्ठं | स्तम्भः | पंक्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|---|---|---|---|---|
| ९२९ | १ | ३३ | उर्ध्वं | ऊर्ध्वं |
| ,, | २ | ३४ | दय | दयः |
| ,, | ,, | ३६ | विपि | विप |
| ९३७ | ,, | २५ | स्वग्वि | स्रग्वि |
| ९४२ | ,, | २२ | बहुद | बहूद |
| ९५० | १ | ५ | स्रोतः शर | स्रोतःशर |
| ९५१ | ,, | ३६ | चिह्वा | चिह्न |
| ९५६ | ,, | १ | चतु | चत |
| ९६३ | १ | ११ | पल्त्य | पल्य |
| ९६५ | २ | १७ | पिता | पीता |
| ९६६ | १ | २८ | यो ज | या ज |
| ,, | २ | १५ | यमी | हमी |
| ९६८ | ,, | ८ | काल | कल |
| ,, | ,, | २५ | रुपां | रूपां |
| ९७१ | ,, | २० | इन्द्रं | इन्द्र |
| ९७२ | १ | १ | द्वयसी | द्वयसी |
| ९७३ | ,, | १४ | जार्या | जांया |
| ,, | ,, | २४ | प्रोष्टे | प्रोष्ठे |
| ,, | २ | २१ | दम्पति | दम्पती |
| ९८१ | ,, | १७ | कूर्वा | कुर्वा |
| ९८४ | १ | २५ | मां | मा |
| ९८६ | २ | १३,१८ | श्रुतरा | श्रुतरा |
| ९८७ | १ | १ | प्याति | ष्याति |
| ९८८ | २ | ११ | कायमत | कामयत |
| ९८९ | ,, | १६ | सस्ने | स्वस्ने |
| ९९० | ,, | २२ | त्वप्र | त्वत्प्र |
| ९९१ | ,, | ४ | प्रति | पति |
| ९९२ | १ | १६ | लद्वा | लब्द्धा |
| ,, | ,, | १९ | या । | या |
| ,, | ,, | ३० | मुदि | मुद्दि |
| ९९९ | २ | ३२ | पश्चो | पश्चौ |
| १००० | १ | २६,२७ | वध्वः | वध्वाः |
| १००१ | ,, | ५,२१ | ,, | ,, |
| १००४ | २ | ३० | १०।१७।१ | +१०।१७।२ |
| १००५ | १ | ९ | स्माँल्लो | स्मालो |
| १००६ | ,, | १ | वध | वर्ध |
| ,, | ,, | ९ | चतुः शि | चतुःशि |
| ,, | २ | १४ | *सु र्ति | सुष्टुर्ति |
| १००७ | १ | २६ | तर्न्वे | न्तर्वे |

| पृष्ठं | स्तम्भः | पंक्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|---|---|---|---|---|
| १०१० | १ | १२ | तस्मा द | तस्माद |
| ,, | ,, | २० | यस्तु | यस्तु |
| १०१४ | २ | २७ | कर्री वि | कर्री वि |
| १०१८ | ,, | १५ | भतृ | भर्तृ |
| १०१९ | १ | १ | तऽने | तेऽने |
| १०२४ | २ | २ | २४२ | २४१ |
| ,, | ,, | १६ | तमति | तामति |
| १०२६ | ,, | ३२ | दुखै | दुःखै |
| १०२७ | १ | २७ | दष्ट्वा | दृष्ट्वा |
| १०२८ | ,, | २ | भ्रातृ | भ्रातॄ |
| ,, | २ | १ | पैशून्ये | पैशुन्ये |
| ,, | ,, | १२ | बेहू | बेहु |
| १०२९ | १ | १८ | चारेत् | चरेत् |
| १०३५ | ,, | ५ | वर्णा | वर्षा |
| १०३८ | २ | ७ | द्वाभ्यां | द्वाभ्यां |
| १०४४ | १ | १४ | त्येनेन | त्यनेन |
| १०४८ | ,, | १६ | रुद्धाऽप्य | रुद्धा अप्य |
| १०५० | २ | ४ | त्रबहु | त्र बहु |
| १०५१ | ,, | ११ | द्युप | ध्युप |
| १०५४ | ,, | ३० | वित्या | वित्त्या |
| १०५७ | ,, | २० | संनिधा | संनिधौ |
| १०६२ | ,, | १४ | ब्रह्मचय | ब्रह्मचर्य |
| १०६५ | ,, | ३ | प्सित श | प्सितश |
| १०६६ | ,, | २७ | षोडशी | षोडशि |
| १०६८ | १ | १५ | मान श | मानश |
| ,, | २ | ८ | भ्रात | भ्रातृ |
| १०७८ | १ | २२ | दुश्लि | दुःश्लि |
| १०८० | २ | ४ | वज | वर्ज |
| १०८१ | १ | १९ | तस्मै | त्वस्मै |
| ,, | ,, | ३० | दिक्।' | दिक्। |
| ,, | ,, | ३५ | स्निनध | स्निग्ध |
| ,, | ,, | ३६ | स्त्रियः | स्त्रियाः |
| १०८२ | ,, | १० | षजते | षज्यते |
| ,, | ,, | २४,२५ | यक्ष्यते | यक्षते |
| ,, | २ | १७ | 'हि | हि' |
| ,, | ,, | २३ | *भ्रण | भ्रूण |
| ,, | ,, | ३१ | मे दृष्टं | मेऽदृष्टं |
| १०८३ | १ | ३२ | त्रिका | त्रिकाः |
| १०८४ | २ | ३५ | दौशी | दौःशी |

| पृष्ठं | स्तम्भः | पंक्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|---|---|---|---|---|
| १०८५ | १ | २० | णामि | णमि |
| ,, | २ | ३ | दीना | दिना |
| १०८८ | १ | २० | रिति | रपि |
| १०८९ | ,, | १३ | पूनर्भू | पुनर्भु |
| ,, | २ | ४ | दुश्लि | दुःश्लि |
| १०९१ | १ | ५ | ह्मणे नै | ह्मणेनै |
| १०९६ | २ | ८ | वृत्त रज | वृत्ते रज |
| ११०३ | ,, | ५ | पूनर्भूः | पुनर्भूः |
| ११०५ | ,, | २२ | तद्दृद्धौ | तद्वद्धौ |
| ,, | १ | १६ | लोमजा | लोमजौ |
| १११० | ,, | ११ | ग्यवै | ग्यमवै |
| १११२ | ,, | १८, ३१,३४ | परवेश्या | परवेश्मा |
| ,, | २ | ३५ | विभ. ३०. | +विभ. ३० षतोऽप्रसू (षतः प्रसू). |
| ,, | ,, | ३६ | षतोऽप्रसू (षतः प्रसू) | +omit |
| १११४ | ,, | २६ | स्त्र्यैव | स्त्र्येव |
| १११६ | १ | ७ | रणां | राणां |
| ११२३ | ,, | १७,१९ | इत्या | इत्य |
| ११३१ | २ | २० | याज्य | याज्या |
| ११३५ | ,, | २३ | पितु | पित |
| ११३६ | ,, | ७ | अनैवं | अनेवं |
| ११३८ | ,, | १८ | तरौ | तरौ । |
| ११४६ | १ | २७ | श्व | त्व |
| ,, | २ | २२ | सायन्ति | साययन्ति |
| ११४८ | ,, | १९ | उद्र्व | ऊर्ध्वं |
| ११५१ | ,, | २२ | कल्पः न | कल्पः । न |
| ११५२ | १ | ९ | तद्भ्रातृ | तद्भ्रातृ |
| ११५६ | २ | २३ | मंरणा | भंरणा |
| ११५७ | ,, | ,, | एवा | एव |
| ११५८ | ,, | १८ | नन् | नूनं |
| ११६१ | ,, | ५ | मूही | ब्रूहि |
| ११६२ | १ | ४ | बंहि | वंहिः |
| ,, | २ | १४ | वस्तुभाग | वस्तु भाग |
| ११६४ | १ | १९ | ष्वर्ये | ष्वर्ये |
| ११७१ | ,, | २३ | पितमहा | पितामह |
| ११७४ | २ | १९ | षश्च | षष्ठ्य |
| ११७८ | २ | २५ | दुभयाभावो | भावो |
| ११८१ | १ | ३६ | १६।४।४।३,४. | +१६।४।३,४. |
| ,, | २ | १० | त्विन् | त्विन |
| ११८२ | १ | २४ | कनीष्ठा | कनिष्ठा |
| ११८३ | २ | २० | माणऋक्थ | माण ऋक्थ |
| ११८५ | ,, | २१ | शान् मा | शान्मा |
| ११८७ | ,, | २४ | भजे | भज |
| ११९० | ,, | २ | बोध | बोद्ध |
| ११९१ | ,, | १५ | पादा | पदा |
| ११९४ | १ | १० | ष्ठत | ष्ठित |
| १२०३ | ,, | ३३ | यार्थ | +यार्थस्य |
| १२०६ | २ | १४ | भित्या | भित्त्या |
| १२०७ | १ | २५ | ( अन्नद ) | +( अन्नोद ) |
| १२०८ | ,, | ३१ | तु विषमं ( सैक | +कं तु विषमं ( कं सैक |
| १२०९ | ,, | १७ | दीना | दिना |
| १२१० | ,, | ,, | चनस्मृति | चन स्मृति |
| १२१५ | २ | ३० | द्रव्यावि | द्रव्यवि |
| १२१६ | १ | १९ | इति श्रमे | इति । श्रमे |
| १२२२ | २ | ३३ | अनु | +त्वनु |
| १२२४ | १ | ६ | मदूदूर्ध्वंभिति | मदूर्ध्वमिति |
| १२२६ | २ | ,, | तार्थ | त्तार्थ |
| १२२८ | १ | ५ | मित्यर्थ | मित्यर्थः |
| १२३० | ,, | १४ | मतिन्तरे | मतिमन्तरे |
| १२३३ | ,, | ३२ | यक्सी | यसी |
| १२३६ | ,, | २ | तोऽशं | तोंऽश |
| १२४१ | २ | ३ | त्यादि बृह | त्यादिबृह |
| १२४५ | १ | १४ | वासन्न- | वासन्नः |
| १२५० | ,, | २४ | पूर्वाक्त | पूर्वोक्त |
| १२५७ | २ | ४ | पत्नी | पत्नि |
| १२५८ | १ | १६ | मुखी | मुखी- |
| १२६१ | ,, | १७ | न्वतो | वन्तो |
| ,, | ,, | २८ | प्रात्स्यति | प्राप्स्यति |
| १२६२ | २ | १५ | हानन्तरं | हान्तरं |
| १२६५ | १ | १६ | स्योद | स्यादे |
| १२६६ | ,, | ३७ | कर्म ( धर्म ) | +कर्मभिः ( धर्माभि ) |
| ,, | २ | २३ | वत्त्या | वत्या |
| १२७६ | ,, | ३४ | त्वात् | त्वात् |

| पृष्ठं | स्तम्भः | पंक्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|---|---|---|---|---|
| १२८० | १ | ८ | यते पद | यतेपद |
| १२८४ | २ | १ | श्रेष्ठां | श्रेष्ठं |
| १२८६ | ,, | २५ | पुथक् | पृथक् |
| १२९० | १ | ३६ | तेनैव ); | +तेनैव )]; |
| १२९१ | २ | ३० | दुरा | दूरा |
| १२९३ | १ | २४ | सपिण्डा | सापिण्ड |
| १२९७ | ,, | ५ | दोहि | दौहि |
| ,, | ,, | १२ | दुहितृदौहित्र्या | दुहितृदौहित्र-दौहित्र्या |
| १३०० | ,, | २४ | दोहित्रो | दौहित्रो |
| ,, | २ | १ | न- | न |
| ,, | ,, | २० | दोहि | दौहि |
| १३०५ | १ | ३० | गुत्रीभव | पुत्री भव |
| ,, | ,, | ३५ | जलक | जल |
| ,, | २ | ३३ | णक्षम् | +क्षणम् |
| १३१० | ,, | १५ | *सपाद्यः | संपाद्यः |
| १३१२ | १ | ६ | मिते | मि ते |
| ,, | ,, | ३५ | धिन्तव्या | धिगन्तव्या |
| १३१३ | ,, | २८ | देवो | देवी |
| १३१४ | २ | ३ | दत्येवं | इत्येवं |
| ,, | ,, | २८ | द्भ्रात्रा | भ्रात्रा |
| १३२१ | १ | २५ | वोढा | होढा |
| १३२५ | २ | २२ | यादा | यादाः |
| १३२७ | ,, | २६ | ममु. | +समु. |
| १३३१ | ,, | १२ | या | वा |
| १३३७ | ,, | २१ | स्त्वोर | स्त्वौर |
| १३३९ | ,, | २३ | नाधि | नधि |
| १३४१ | १ | २९ | कर | प्रकर |
| १३४४ | ,, | २५ | दुरा | दूरा |
| ,, | २ | २ | कामं त | कामं तु |
| १३४६ | ,, | ९ | आद्या | आद्याः |
| १३५५ | १ | १८ | स्त्वेक | स्त्वैक |
| १३५६ | २ | २२ | द्दते | द्दत्ते |
| १३५७ | ,, | १६ | पार्वणकरण | करणपार्वण |
| १३५९ | ,, | ३२ | चानि | चानि |
| १३६० | ,, | ६ | द्वये न | द्वयेन |
| १३६४ | १ | २४ | विरूद्ध | विरुद्ध |
| १३६७ | २ | १५ | जस्तुः | जस्तु |
| १३७२ | १ | ११ | कुलिना | कुलीना |
| १३७३ | १ | २९,३३ | वृत्तौ | वृतो |
| १३७५ | २ | २ | हारि | हारी |
| १३७७ | ,, | १९ | ब्यामो | ब्यावो |
| १३८३ | ,, | ८ | त्वेतद् | स्त्वेतद् |
| १३८४ | १ | ३७ | (६) | +(७) |
| ,, | ,, | ३८ | (७) | +(६) |
| १३९२ | ,, | १८ | धनखा | धनाखा |
| १३९३ | २ | १४ | दार्याह | दायार्हं |
| ,, | ,, | १९ | उन्मन्तं | उन्मत्तं |
| १३९४ | १ | २१ | तत् पु | तत्पु |
| १३९५ | २ | १४ | या | याः |
| १३९७ | १ | ,, | द्राय पु | द्रापु |
| १३९८ | २ | १३ | *दुवृत्त | दुर्वृत्त |
| १४०६ | १ | २० | विंप्रे | विंप्र |
| १४०९ | २ | ४ | नादै | दनादै |
| ,, | ,, | ५ | वेता सा | वे तासा |
| १४१३ | ,, | ३२ | राव्या | +रोव्या |
| १४१४ | १ | २६ | भाज | भज |
| ,, | ,, | ३५ | राव्या | +रोव्या |
| १४१५ | ,, | २२ | उभयोर्भ्रातृ-भगिन्योः | निरुक्तम् उभयोर्भ्रातृ-भगिन्योः |
| ,, | २ | ८ |  | [ 'आपस्तम्बः' इत्यारभ्य 'वसिष्ठः' इत्य-वधिर्ग्रन्थः १४०७ पत्रे १ स्तम्भे 'वसिष्ठः' इत्यस्य प्राक् अपकृष्य बोद्धव्यः । ] |
| १४१७ | १ | २७ | वाच्यतो | वाच्यो |
| १४१९ | २ | १२ | निवृत्तिः | निर्वृत्तिः |
| १४२० | १ | १३ | क्षत्रिय | क्षत्रिया |
| ,, | २ | २८ | शक | श |
| १४३० | १ | २० | कटु | कुटु |
| १४३१ | २ | ३३ | १३३५ | +१०३५ |
| १४३६ | ,, | ७,९ | विधि | विधी |
| १४४० | ,, | ६ | या कन्या | याकन्या |

| पृष्ठं | स्तम्भः | पंक्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|---|---|---|---|---|
| १४४१ | १ | ६ | त्वाश्च | त्र्यश्च |
| १४४४ | ,, | १५ | जंवा | जंना |
| ,, | ,, | १८ | कृता | कृदा |
| १४५२ | ,, | ४ | त्रस्यादौ | त्रस्य। दौ |
| १४५३ | ,, | ३२ | उत्तरार्धे | +पूर्वार्धे |
| १४५६ | २ | ३० | चेत्सद्वि (यदि चेद्वि) | +चेत्स द्वि ( यदि चेद्द्वि ) |
| १४६० | १ | ६ | दत्तं | इत्तं |
| १४६५ | ,, | ३४,३६ | * | × |
| ,, | २ | १० | रस्य | रत्र |
| १४६७ | ,, | ८ | सत्य | सत्य |
| १४७० | ,, | १३ | द्विणुः | +द्विष्णुः |
| १४७६ | १ | २६ | भ्रातरौ | भ्रातरो |
| १४७७ | ,, | १ | रत्नृत्वि | रत्नृत्वि |
| ,, | २ | १९ | बन्धम् | बद्धम् |
| १४८७ | १ | ३२ | यन्ते न | यन्तेन |
| ,, | २ | १६ | प्रवासा | प्रसवा |
| १४८९ | ,, | ४ | सर्गो | सर्गौ |
| १४९० | ,, | ४ | त्राशय | त्रा शय |
| १४९२ | १ | ११ | इति नायं, | इति, नायं |
| ,, | २ | १ | त्रार्थे | त्रर्थ |
| १४९८ | ,, | २५ | धर्मे | धर्म्य |
| १५०९ | १ | १० | रुचिर्दे | रुचिं द |
| १५१४ | २ | १४ | सह वा | सहवा |
| १५१६ | ,, | २० | पत्न्य | पत्न्या |
| १५१७ | ,, | ३३ | १३५ | +१३५ सुत ( सुता ) |
| ,, | ,, | ,, | १४१ | +१४१ सुत ( सुता ) शेषं |
| १५१९ | १ | १ | मतन्रेण | मन्तरेण |
| ,, | ,, | ३२ | स्वार्जे | स्वार्जि |
| १५२२ | २ | ३ | कर्मकाम्यं | कर्म काम्यं |
| १५२३ | ,, | १७ | नुज्ञा- | नुज्ञा |
| १५२८ | १ | ३१ | लभेत् | लभेत |
| ,, | २ | १९ | द्धात्रा | भ्रात्रा |
| १५३१ | १ | १७ | रयेः | रयोः |
| १५३८ | २ | १४ | रस्य सं | रसं |
| १५४० | १ | १८ | स्तपु | स्तत्पु |
| १५४५ | ,, | १९ | द्धातृ | भ्रातृ |

| पृष्ठं | स्तम्भः | पंक्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|---|---|---|---|---|
| १५४५ | २ | १ | संहि | साहि |
| १५४६ | ,, | ३८ | सृष्टी | +सृष्टो |
| १५४८ | ,, | ३१ | *संस | संसृ |
| १५५१ | ,, | २८ | *धन | धनं |
| १५५२ | १ | ३ | *संसर्गे | संसर्गो |
| १५५५ | ,, | ३८ | थश्श्रु | +थश्च्यु |
| १५५६ | ,, | २३ | तत् सं | +तत्सं |
| १५५७ | २ | ४ | पितां | पित्रा |
| ,, | ,, | २४ | माद्धा | मात्रा |
| १५७७ | ,, | १२ | रित्य | रि'त्य |
| १५८१ | १ | २६ | वसु | वसे |
| ,, | २ | ३१ | च | +च ये |
| १५८४ | ,, | २२ | स्तका | स्तत्का |
| १५८७ | १ | १ | विभक्ता | [1]विभक्ता |
| ,, | २ | १२ | विभक्तानां | अविभक्तानां |
| ,, | ,, | ३३ | लेपो: | +लोपो |
| १५८९ | १ | १० | दिर्दे | दि दे |
| १५९२ | २ | १६ | प्रियस्त्व | प्रियस्त्वे |
| १५९७ | ,, | १२ | *सख्या | संख्या |
| १६०६ | ,, | २९ | ख्यातौ। | +( ख्यातौ। |
| १६०७ | ,, | १४ | *दार्श | दार्शि |
| १६०९ | १ | १० | कर्तृ | कर्तॄ |
| १६१२ | २ | २५ | *समन्तु | +सुमन्तु |
| १६१३ | १ | १ | *प्रा_या | प्राप्नुया |
| ,, | २ | १३ | *ख्यात | ख्यातं |
| १६१९ | १ | २८ | वा त्वक्शि | वात्वक्शि |
| ,, | २ | २१ | स्तैत्र | स्तत्रे |
| १६२१ | १ | १३ | *चय | चयं |
| १६२२ | २ | २ | बलमा | बलमात्रमा |
| ,, | ,, | १७ | ऐन्द्र | ऐन्द्र |
| ,, | ,, | २० | नोप | नोपे |
| १६२७ | ,, | ११ | *पमान् | पुमान् |
| १६३१ | ,, | ३६ | *लादिद्वे | +लादि वि |
| १६३४ | १ | २ | चर्तुगु+ | चतुर्गु |
| १६४४ | २ | १६ | *कृत | कृतं |
| १६५४ | १ | ९ | वाग्दड | वाग्दण्ड |
| ,, | ,, | २१ | रुप्य | रुप्य |
| १६६१ | ,, | ३५ | करणे दोः | +करणेऽदोषः |
| ,, | २ | २८ | नित्यं | +नित्य |

| पृष्ठं | स्तम्भः | पंक्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|---|---|---|---|---|
| १६६१ | २ | २९ | गोमि. | +गौमि. |
| १६७४ | ,, | १४,३० | पराध्यां | पराध्यां |
| १६७८ | ,, | १ | त्यन | त्येन |
| १६८४ | १ | १८ | पृछेत् | पृच्छेत् |
| ,, | २ | ८ | प्रीत | प्रति |
| १६८५ | १ | २२ | *गात्र | गात्रं |
| १६८६ | ,, | ८ | वाक्या | वाक्य |
| १६८७ | २ | २४ | लालाटे | ललाटे |
| १६९१ | १ | २७ | यनि | +यन्नि |
| १६९४ | ,, | ३ | *इद | इदं |
| १६९८ | २ | ३६ | *राज्ञ | राज्ञः |
| १७०० | १ | २२ | प्रछ | प्रच्छ |
| १७०१ | २ | १२ | रुढा | रूढा |
| १७०२ | १ | २८ | शश्व | +शश्व |
| १७१० | ,, | १० | कर्तृन् | कर्तॄन् |
| ,, | ,, | ३६ | *करान् | क्रूरान् |
| १७१३ | २ | २० | रक्ताः | रिक्ताः |
| १७१४ | ,, | १३ | विशतिः | विंशतिः |
| १७२१ | ,, | ३ | *गुण | गुणं |
| १७२२ | ,, | २२ | जात | ज्जात |
| १७३२ | ,, | १४ | ङ्नतु | ङ्मनु |
| १७३३ | ,, | ३६ | विश्ववत् | +omit |
| १७३४ | १ | २८,२९ | | |
| १७३३ | २ | ३६ | पमा. ४५८ | +पमा. ४५८ मुद्र ( मुद्र ) |
| १७३४ | १ | २९ | विता. ७६९ | +विता. ७६९ मुद्र ( मुद्र ) |
| १७४८ | ,, | ५ | सुक्र | सक्र |
| १७५७ | ,, | २ | सामान्ता | सामन्ता |
| १७६१ | ,, | २४ | परूक | रूपक |
| १७७१ | ,, | ३३ | ष्टातिक्रमे+(च) | +( च० ) |
| १७७३ | २ | १ | *सख्य | संख्य |
| ,, | ,, | १३ | वचिके | वाचिके |
| १७८२ | ,, | २५ | विविक्षितः | विवक्षितः |
| १७८७ | १ | ११ | दितीयं | द्वितीयं |
| १७९३ | २ | १५ | *वश्य | वैश्य |
| १७९६ | १ | २६ | निष्टीव्यो | +निष्ठीव्यो |
| १७९७ | ,, | १५ | बहुनां | +बहूनां |
| ,, | ,, | २२ | मुक्त | +मुक्ता |

| पृष्ठं | स्तम्भः | पंक्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|---|---|---|---|---|
| १७९८ | २ | २९ | पुप्पो | +पुष्पो |
| १७९९ | ,, | १२ | *गूण | गूर्णे |
| १८०३ | १ | ४ | श्रावः | स्रावः |
| १८०८ | ,, | ,, | धात् | न्धात् |
| १८१५ | २ | २१ | *मढ्र | मेढ्र |
| १८२० | ,, | १४ | मिमित्तं | निमित्तं |
| १८३० | ,, | १७ | *सयोज्यः | संयोज्यः |
| १८३५ | १ | १ | प्रक्ष | प्रक्षे |
| १८३९ | ,, | १९ | *दवाः | देवाः |
| १८४१ | ,, | १७ | जहु | जुहु |
| ,, | ,, | २९ | त्रिषि | निषि |
| १८४६ | ,, | ३ | वनपं | +वपनं |
| १८६७ | २ | ३७ | छेत्तेव्य | +छेत्तव्ये |
| १८६८ | १ | २४ | दुष | +दूष |
| १८७४ | ,, | १० | *ध्रव | ध्रुव |
| १९०० | ,, | १२ | देवनां | देवानां |
| १९०३ | २ | ३ | महिपान् | महिषान् |
| १९०५ | १ | १४ | क्षत्रे | क्षेत्र |
| १९०६ | ,, | ३१ | यस्तु | +यस्तु |
| १९१२ | ,, | ६ | ससभि | सभि |
| ,, | २ | ९ | मध्य | मध्य- |
| १९१७ | ,, | २८ | ध्यनादि | ध्ययनादि |
| १९१८ | १ | ३८ | स्मृच. १० | +स्मृच. १० ( आचारः ) |
| १९१९ | ,, | ३०,३१, ३२,३४, ३५ | ,, ,, | + ,, |
| ,, | २ | ३४ | ,, | + ,, |
| १९२३ | १ | २५ | कल | कुल |
| १९२४ | ,, | ३० | हार | हार- |
| १९२६ | २ | २७ | त्तप्र | त्तत्प्र |
| १९२७ | ,, | २२ | कुसीद | कुसीदं |
| ,, | ,, | २४ | कर्मणां | कर्मणा |
| १९३२ | १ | १३ | *लख्य | लेख्य |
| १९३४ | २ | २९ | नरति | तरति |
| १९३८ | १ | १९ | प्रतिसिद्ध | प्रतिषिद्ध |
| ,, | २ | २ | संततत | संतत |
| १९३९ | ,, | २६ | शतिंम् | शतिम् |
| १९४० | १ | ३२ | कारा ( करा ) | +प्रकारा(त्र करा) |

| पृष्ठं | स्तम्भः | पंक्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|---|---|---|---|---|
| १९४२ | २ | ४ | मयैध | मयैर्ध |
| ,, | ,, | ३३ | स्मृच. १०. | +स्मृच. १० ( आचारः ). |
| १९४३ | १ | ३६ | स्मृच. १०-११. | +स्मृच. १०-११ ( आचारः ). |
| १९४४ | २ | २५ | बाहुभ्य | +बाहुभ्यां |
| १९४५ | २ | ८ | षादिनि | षादीनि |
| १९४६ | १ | ११ | ग्राह्यम् | ग्राह्यम् । |
| ,, | २ | १२ | *तत्स्थान | तस्थानं |
| १९५० | १ | ९ | ब्रूवं | ब्रुवं |
| १९५० | १ | ११ | *सव | सर्वे |
| १९५४ | २ | ७ | *योपक्षो | यापेक्षो |
| १९६७ | १ | ३ | *सादिग्धं | संदिग्धं |
| १९७३ | ,, | ५ | *किञ्चिद | किञ्चिद् |
| १९७७ | ,, | २१ | ह्यद्धि | हद्धि |
| १९८२ | ,, | ९ | पुत्रात् | पुत्रात् |
| १९८३ | २ | ११ | पुत्रोर | पुत्रयोर |
| १९८४ | १ | २९ | मेर्ह्यं | मेह्यं |
| १९८७ | ,, | ३५ | यावृत | यात्रत |
| १९८८ | २ | २१ | हीन | हीनं |